श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य-विरचित
नाट्यशास्त्र-विवृति

अभिनवभारती

के

तीन अध्याय

[प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ]

पाठानुसन्धान

पाठसमीक्षा

हिन्दी-अनुवाद

विशद व्याख्या

सुचारु सम्पादन

आदि से युक्त

अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्य

मुद्रकस्य कराघातै खिन्ना चेन्मम भारती ।
कह्लाम्बुजामृतस्पर्शैः सन्त ! सञ्जीवयन्तु ताम् ॥"

हिन्दी

अभिनवभारती

अभिनवगुप्त-विरचित नाट्यशास्त्रविवृति
अभिनवभारतीके १,२, और ६ अध्याय

का

पाठानुसंधान, पाठसमीक्षा

हिन्दी-अनुवाद एवं विशद व्याख्या सहित

अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्य

प्रधान सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक तथा भाष्यकार

वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक
दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के
सम्मान्य सदस्य

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी अभिनवभारती' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का तेईसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की सस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यत दो उद्देश्य हैं, हिन्दी-वाड्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फल-स्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के है—एक तो वे, जिनमे प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनो पक्षो के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी-काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी-अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) तथा (८) सौन्दर्य-तत्त्व। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रिया, (२) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय . सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम कवि और आचार्य तथा (११) आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य सिद्धान्त। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का नवम प्रकाशन है। वास्तव में इस दुर्लभ ग्रन्थ को हिन्दी-पाठको की सेवा मे अर्पित करते हुए हम एक प्रकार के सात्विक गर्व का अनुभव कर रहे हैं। अभिनवगुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य हैं और अभिनवभारती उनकी साहित्यिक-दार्शनिक प्रतिभा की प्रौढतम अभिव्यक्ति है परवर्ती सस्कृत काव्यशास्त्र और उसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो पर—विशेष रूप से रस-सिद्धान्त पर उसका गहरा प्रभाव है। अभिनवभारती का केवल एक ही सस्करण प्राप्त है और वह भी अत्यन्त त्रुटित है। हमें प्रसन्नता है कि हमारे अनुरोध पर सस्कृत वाड्मय के उद्भट विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर अभिनवभारती के तीन प्रमुख अध्यायो का प्रामाणिक एव विशद भाष्य प्रस्तुत कर सर्वथा दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिया है। यो तो यह समस्त ग्रन्थ ही भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु इसके प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायो का विशेष महत्त्व है। इसीलिए आरम्भ में हमने इन तीन की ही हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया

है। पूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन, भाष्य तथा प्रकाशन के लिए अत्यधिक श्रम, समय और व्यय की अपेक्षा है और उसकी व्यवस्था न जाने कब तक सम्भव हो, अत हमारे लिए अभी तो 'अर्ध त्यजति पण्डित' की ही नीति का अवलम्ब लेना अनिवार्य हो गया है। भविष्य में साधन और सुविधा होने पर शेष ग्रन्थ का अनुवाद भी हम यथासमय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आर्थिक सहायता देकर हमे उपकृत किया है, अनेक प्राविधिक बाधाओ को दूर करने मे विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति डाक्टर वी०के०आर०वी० राव का प्रेरणाप्रद योगदान हमारा सम्बल रहा है—और सम्पादक-मण्डल के सदस्यो से हमें समय समय पर अभीष्ट परामर्श एव मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इन सब के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

नगेन्द्र
प्रधान सम्पादक

श्रावण शुक्ला तृतीया, सवत् २०१७

भूमिका

नाटयशास्त्रका काल और कर्ता—

भरतमुनि-विरचित 'नाटयशास्त्र' भारतीय सस्कृत-साहित्यका एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचना-काल विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी तक माना जाता है अर्थात् कुछ विद्वान् विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीमे इसकी रचना मानते हैं और दूसरे विद्वान् इसे विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीकी कृति मानते हैं। ठीक रचना कालका निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यह निश्चित बात है कि उसकी रचना विक्रम-सम्वत्सरके आरम्भ होनेके पूर्व ही हो चुकी थी। इस लिए वह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है।

नाटयशास्त्रके काल-निर्णयके समान ही उसके रचयिताका निश्चय भी विशेष प्रयत्न-साध्य और विवादग्रस्त है। यो तो इसके रचयिता भरतमुनि माने जाते हैं। और इसमें कोई सन्देह नही है कि भरतमुनि ही इसके रचयिता हो सकते हैं, दूसरा कोई व्यक्ति नही। किन्तु भारतीय साहित्यमे भरत नामके कई व्यक्ति पाए जाते हैं। इस-लिए थोडा-सा सन्देह उत्पन्न होता है कि किस भरतको नाटयशास्त्रका कर्ता माना जाय। किन्तु यह सन्देह केवल नाम मात्रका सन्देह है, इसमें कुछ तत्त्व नही है। भरत नामसे सबसे प्रथम रामचन्द्रजीके भाई और दशरथके पुत्र भरत का परिचय हमको मिलता है किन्तु उनके साथ नाटयशास्त्रका कोई सम्बन्ध किसी रूपमे कही नही पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वे नाटयशास्त्रके निर्माता नही हैं। भरत नामके दूसरे व्यक्ति दुष्यन्तके पुत्र भरत मिलते हैं और तीसरे इसी भरत नामके व्यक्ति मान्धाताके प्रपौत्रके रूप में पाए जाते हैं। किन्तु ये दोनो राजा या राजपुत्र हैं, मुनि नही। नाटयशास्त्रके निर्माता भरत 'मुनि' हैं, इसलिए ये दोनो भी नाटयशास्त्रके निर्माता नही कहे जा सकते हैं। इन तीन भरत व्यक्तियोके अतिरिक्त 'आदि भरत' 'वृद्ध भरत' और 'जड भरत' नामसे तीन भरतोका उल्लेख सस्कृत साहित्यमे और पाया जाता है। इन्हीमेसे किसी एक या इन तीनोको नाटयशास्त्रका निर्माता मानना होगा। तीनोको इसलिए कि वर्तमान नाटयशास्त्र जिस रूपमे आज उपलब्ध हो रहा है वह उसका आदि रूप नही है। उसका कई बार सम्पादन हुआ है। उसके दो सस्करणोका उल्लेख तो श्री शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमे किया है जिसमे प्रथम सस्करणका रचयिता 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' को और द्वितीय सस्करणका रचयिता 'भरत' को बतलाया है। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाट्यशास्त्र अपने कलेवरकी दृष्टिसे वर्तमान नाटयशास्त्र की अपेक्षा दुगुना बडा था। उसका परिमाण बारह सहस्र श्लोकोका था। इसलिए उसको 'द्वादश-साहस्री सहिता' कहते है। वर्तमान नाटयशास्त्रका परिमाण छह सहस्र श्लोको का है। इसलिए इसे 'षट्-साहस्री-सहिता' कहते हैं। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाटयशास्त्र बारह

सहस्र श्लोकोका अत्यन्त दीर्घकाय महाग्रन्थ था। भरतमुनिने उसका सक्षेप करके छह सहस्र श्लोको का यह लघु-सस्करण प्रस्तुत किया है। यह इन दोनो सहिताओका भेद है। इन दोनोका उल्लेख करते हुए शारदातनयने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमे लिखा है—

''एव द्वादश-साहस्रै श्लोकैरेक, तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्योनाटचवेदस्य सग्रह ॥''
(भावप्रकाशन, पृष्ठ २८७।)

इससे यह अनुमान सरलतापूर्वक किया जा सकता है कि नाटचशास्त्रकी द्वादश-साहस्री-सहिताका निर्माण जिन्होने किया था उनका आदि-भरत या वृद्ध-भरतके नामसे तथा षट्साहस्री-सहिताके रचयिताका केवल 'भरत' या भरतमुनिके नामसे उल्लेख किया गया है। इन दोनो सहिताओके निर्माता 'भरत' नामके व्यक्ति ही हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाटच-शास्त्रके निर्माताके रूपमें जिस 'भरत' नामका प्रयोग होता है वह किसी एक व्यक्तिका नाम न हो कर एक प्रकारकी उपाधि है। जैसे आज भी शङ्कराचार्यके मठोमें उनकी गद्दीपर बैठने वाले व्यक्तियोका अपना व्यक्तिगत मूल नाम लुप्तप्राय हो जाता है और गद्दीके नामसे ही उन सबको शङ्कराचार्य कहा जाने लगता है। इसी प्रकार 'भरत' नाम कदाचित् व्यक्तिगत नाम न हो कर कोई उपाधि या गद्दी हो जो अपने समयके प्रधान नाटचाचार्यको प्राप्त होती हो। उसके कारण उसका मुख्य नाम लुप्त हो कर उसे 'भरत' नामसे ही जाना जाता हो। इसी लिए कुछ विद्वान् 'भरत' नाम को कल्पित नाम मानते हैं।

नाटचशास्त्रका परिमाण—

जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है। नाटचशास्त्रकी द्वादशसाहस्री और षट्साहस्री दो प्रकारकी सहिताओका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोमे पाया जाता है। किन्तु द्वादशसाहस्री-सहिता आज उपलब्ध नही है। इस समय जो नाटचशास्त्र उपलब्ध है वह षट्साहस्री-सहिता हैं। अर्थात् उसका परिमाण छह सहस्र श्लोकोका है। इस समय नाटचशास्त्रके दो प्रकारके सस्करण पाए जाते हैं। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला सिरीजमे जो सस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें ३७ अध्याय हैं। इसके विपरीत वाराणसीसे चौखम्बा सस्कृत सिरीजमें जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ३६ अध्याय हैं। नाटचशास्त्रके प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने नाटचशास्त्रमें ३६ अध्याय ही माने हैं, ३७ नही। इस लिए ३६ अध्याय वाला विभाजन ही ठीक प्रतीत होता है। ३७ अध्याय वाला विभाजन ठीक नही है। अभिनवगुप्तने अपनी टीकाके प्रारम्भिक श्लोकोमें नाटचशास्त्रको 'षट्त्रिंशक भरतसूत्रम्' लिखा है। सैंतीस अध्याय वाले सस्करण मे ३६वें अध्याय के ही कुछ भागको ३७ वे अध्यायके रूपमें पृथक् कर दिया गया है। विषयकी दृष्टिसे ३६ और ३७ अध्यायो वाले सस्करणोमें अन्तर नही है।

नाटचशास्त्रका विषय—

यो तो 'नाटचशास्त्र' नामसे ही प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ मे केवल नाटचके नियमादिका वर्णन होगा, किन्तु वस्तुत इस ग्रन्थमें केवल नाटच-नियमोका ही प्रतिपादन न हो कर नाटचसे साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाली सारी कलाओंका वर्णन किया गया है।

'उद्दिष्ट' आदि छन्द शास्त्र-सम्बन्धी नियमोका विवेचन किया गया है। पन्द्रहवें अध्यायमे वृत्तलक्षणो का वर्णन है। इनमें वर्णिक और मात्रिक सभी प्रकारके वृत्तोके लक्षण दिए गए हैं। सोलहवें अध्यायमें काव्यके गुण, दोष तथा अलकार आदिका वर्णन किया गया है। भरतके छन्दोविधान में वर्णित छन्द आदि और गुण, दोष, अलकार आदिमे, प्रचलित छन्दोविधान और अलकार आदि से कुछ भिन्नता है। सत्रहवे अध्यायमें भाषाओका वर्णन है। प्राकृत आदि भाषाओके स्वरूप, उनमें होने वाले वर्ण-परिवर्तनके प्रकार, उनके बोलनेके नियम, कहाँ विराम किया जाय, 'काकु' का प्रयोग कहाँ और कैसे किया जाय, देश भेदसे भाषामें नकारबहुला, चकारबहुला, ओकारबहुला, लकारबहुला आदि भेद दिखलाए गए हैं।

अठारहवे अध्यायका नाम 'दशरूपकलक्षणाध्याय' है। इसमें 'नाटक सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसन डिम। ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्य-लक्षणे' (१८ २-३) इन दस रूपकोका वर्णन किया गया है। रूपकोका निरूपण, जो नाट्य-शास्त्रका मुख्य विषय है, यहाँसे प्रारम्भ होता है। उन्नीसवें अध्यायका नाम 'सन्धिनिरूपणाध्याय' है। इसमे नाटकके आधिकारिक और प्रासगिक द्विविध वृत्त, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा आदि पाँच अवस्था बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी, आदि पञ्च, अर्थ-प्रकृति, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण रूप पञ्च-सन्धि, सन्धियोके अङ्गोपाङ्ग आदिका विस्तृत विवरण है। उत्तरवर्ती दशरूपक आदि ग्रन्थोमे मुख्यत नाटचशास्त्रके अठारहवें और उन्नीसवे अध्यायमे प्रतिपादित विषयोका ही विवेचन किया गया है। बीसवे अध्यायमे भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियोंका विवेचन है। इक्कीसवें अध्यायमे आहार्य अर्थात् वेशभूषादि-सम्बन्धी अभिनयका वर्णन है। बाईसवे अध्यायका नाम 'सामान्याभिनयाध्याय' है। यह अपेक्षाकृत बहुत बडा अध्याय है। इसमे ३३२ श्लोक हैं। वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक तीन प्रकारका सामान्याभिनय होता है। इनमें सात्त्विक अभिनय अर्थात् मनोभावोका अभिनय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मुख्य अभिनय है। हाव, भाव, हेला आदि तथा स्त्रियो और पुरुषोके स्वाभाविक अलङ्कारोका वर्णन किया गया है। शृङ्गारके निरूपणमे स्त्रियोको सुखका मूल मान कर उनके देवशीला, आसुरी, गन्धर्वसत्त्वा, व्यालशीला, वानरसत्त्वा, महिषसत्त्वा आदि अनेक भेद किए हैं। वेश्या और कुलजाके मदनातुरत्व, कामकी दश अवस्थाओ, आठ प्रकारके नायिकाभेद, नायकोके भेद, नायिकाओके मानके कारण आदिका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अगले तेईसवें अध्यायमे वेश्या और वैशिक लोगो का वर्णन है। उसमे प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ-यौवना चार प्रकारकी वेश्याओ और पाँच प्रकारके वैशिक पुरुषोका विवेचन किया गया है। बाईसवे और तेईसवे अध्यायोका सम्बन्ध वस्तुतः नाटच-शास्त्रसे उतना नही है जितना कामशास्त्रसे है। चौबीसवे अध्यायमे उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारकी प्रकृतिके पात्रोका वर्णन है। पच्चीसवें अध्यायका नाम 'चित्राभिनय' है। अङ्गादि अभिनयकी जो बाते कही-कही छूट गई है उनका ही इसमें विवेचन किया गया है। 'अङ्गाद्यभिनय-स्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित्। अनुक्त उच्यते चित्र स चित्राभिनय स्मृत'। छब्बीसवें अध्याय का नाम 'विकृतिविकल्पाध्याय' है। इसमे बहुत हाथ-पैर वाले, अनेक मुख वाले या हाथी-घोडे आदिके विकृत मुख वाले या इसी प्रकारके विकृत आकारोका अभिनय करनेका वर्णन किया है। सत्ताईसवें अध्यायका नाम 'सिद्धिव्यञ्जकाध्याय' है। उसमें अभिनयकी सिद्धियो और उनमें आने वाले विघ्नो तथा उनके निराकरणके प्रकार आदिका वर्णन किया गया है। अट्ठाईसवें से लेकर

तेतीसवें अध्याय तक सङ्गीत शास्त्रका विषय प्रतिपादित हैं। जिनमे क्रमश विविध वाद्यो आदिका वर्णन पाया जाता है। चौंतीसवे अध्यायमें स्त्री-पुरुष पात्रोकी प्रकृति तथा पैंतीसवेंमे सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विदूषक आदिका वर्णन है।

छत्तीसवाँ अध्याय अन्तिम है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस उपसहारात्मक अध्यायमें भी प्रथमाध्यायके समान मुनियोने भरतमुनिसे कुछ प्रश्न पूछे हैं जिनमे मुख्य प्रश्न यह है कि नाटचका स्वर्गसे पृथिवीपर किस प्रकार अवतरण हुआ ? प्रथमाध्यायमे किए हुए वर्णनके अनुसार देवताओकी प्रार्थनापर ब्रह्मा जीने नाटचवेद तथा उसके अनुसार देवासुर-सग्रामकी आख्यान-वस्तुको लेकर आदि-नाटककी रचना की थी। और भरत मुनि द्वारा देवताओकी सभामें उसका अभिनय कराया गया था। यह सब तो स्वर्गलोककी बात है। बीचके अध्यायोमे उपर्युक्त विवरण के अनुसार नाटच-सम्बन्धी विषयोका सविस्तर वर्णन हो जानेके बाद भी यह जिज्ञासा तो मनमें रह ही जाती है कि स्वर्गलोकमे बनाए गए नाटचका इस भूतलपर किस प्रकार अवतरण हुआ ! इसलिए इस अन्तिम अध्यायमें प्रथमाध्यायमें कहे हुए मुनिगणोने भरतमुनिसे इस प्रश्नको पूछ ही लिया। इस प्रश्नके उत्तरमे भरतमुनिने दो कथाएँ सुनाई हैं जो बडी मनोरञ्जक हैं। पहली कथा के अनुसार अपने उत्तम अभिनयके कारण देवताओसे पुरस्कार-सत्कार आदि प्राप्त करनेपर भरतपुत्रोको अपने अभिनय-कौशलपर बडा गर्व हो गया और उस अभिमानके आवेशमे उन्होने एक बार मुनियोका अपमान कर डाला। उनके इस भयकर अभिमान और अपने अपमानसे क्रुद्ध होकर मुनियोने भरतपुत्रोको शाप दे डाला कि तुम ब्राह्मणोका आचरण छोड कर शूद्र हो जाओगे। तुम्हारा वश और उसमें उत्पन्न होने वाले सब शूद्र और नर्तक कहलावेगे। दूसरोकी सेवा करना ही तुम्हारा कार्य होगा। देवताओको जब इस शापका पता चला तो उन्हे बडा दुःख हुआ। नटोके अभावमें जिस नाटचको उन्होने इतने प्रयत्नके बाद प्राप्त किया था उसका ही नाश हो जायगा यह देख कर उनको बडी चिन्ता तथा दु ख हुआ। इस लिए उन्होने मुनियोसे भरतपुत्रोको क्षमा कर देनेकी प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मुनियोने अपने शापमें इतना सशोधन कर दिया कि नाटचका नाश तो नही होगा किन्तु शेष शाप ज्योका त्यो रहेगा। इस शापके अनुसार भरतपुत्र भूलोकपर शूद्रोके रूपमें आए और यहाँ वे शूद्रोंके रूपमे ही नर्तक कहला कर नाटचका अभिनय आदि करते हैं। यह नाटचके भूलोकमे अवतरणकी एक कथा है।

एक दूसरी कथा भी इस विषयमे है जो राजा नहुषसे सम्बन्ध रखती है। भूलोकके राजा नहुष अपने पुण्यके बलसे कुछ समयके लिए देवराज इन्द्रके पदपर आसीन हुए। उन्होने देवलोकके दिव्य गान्धर्व और नाटचको देख कर देवताओसे कहा कि अप्सराओका यह नाटच भूलोकमें हमारे घरपर होना चाहिए। तब बृहस्पति आदि देवताओने राजा नहुषको समझाया कि अप्सराओका तो मानवोके साथ कोई सम्बन्ध नही बन सकता है। हाँ, यह हो सकता है आचार्य भरतमुनि अपने पुत्रोके साथ आपके यहाँ जाकर आपका प्रिय कार्य कर दें। तब राजा नहुषने भरतमुनिसे ही प्रार्थना की कि भगवन् आप इस नाटचको पृथिवीपर प्रतिष्ठित करनेकी कृपा करें जिससे विशिष्ट अवसरो पर वहाँ इसका अभिनय किया जा सके। भरतमुनिने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अपने पुत्रोको भूलोकमे जाकर नाटकका प्रचार करनेका आदेश दिया और उसका सम्यक् प्रयोग करनेपर शापसे मुक्त करनेका आश्वासन भी दिया। इस प्रकार स्वर्गसे भूतलपर नाटचका अवतरण हुआ। 'नाटचावतरण' की इन कथाओके कारण ही इस अध्यायका नाम 'नाटचावतरण'

अध्याय' है ।

नाटयशास्त्रके जिन सस्करणोमें ३७ अध्याय माने गए हैं उनमे नहुष वाली कथा ३७ वे अध्यायमे रखी गई है ।

नाटयशास्त्रका सम्पादन और प्रकाशन—

भारतवर्षमें नाटयशास्त्रका मुद्रित सस्करण सबसे पहिले सन् १८६४ में सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकता । यह सस्करण काव्यमाला सीरीजमें निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हुआ था । इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री प० शिवदत्त और काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परबने किया था । इसमे ३७ अध्याय थे । इसका द्वितीय सस्करण सन् १९४३ मे फिर निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सशोधित रूपमें प्रकाशित हुआ है । इसमे इस बीचमें प्रकाशित नाटयशास्त्रके अन्य सस्करणोका भी उपयोग किया गया है । इस लिए उसमे ३६ अध्याय रखे गए हैं और पाठोमें भी सुधार हुआ है ।

निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे नाट्यशास्त्रके प्रकाशनके बाद गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज, बडोदासे अभिनवगुप्त-विरचित प्रसिद्ध टीका 'अभिनवभारती' के सहित नाटयशास्त्र प्रकाशित हुआ है । किन्तु अभी तक अपूर्ण है । इसका प्रथम भाग जिसमें केवल सात अध्याय थे सन् १९२६ मे प्रकाशित हुआ था । इसका द्वितीय सशोधित सस्करण तीस वर्ष बाद १९५६ में बडोदासे ही प्रकाशित हुआ । अभिनवभारतीयुक्त नाटयशास्त्रका द्वितीय भाग (८-२० अध्याय) सन् १९३४ में और तृतीय भाग (२१-२७ अध्याय) सन् १९५४ में बडौदासे ही प्रकाशित हो चुके हैं । शेष २८ से लेकर ३६ वे अध्याय तकके नौ अध्यायोका प्रकाशन अभी शेष है । जो २७ अध्याय अब तक प्रकाशित हुए है उनमें भी सप्तम तथा अष्टम अध्यायोकी अभिनवभारती अब तक मिली ही नही है । इस लिए उन्हे केवल मूल रूपमें ही इन सस्करणोमें छापा गया है । इनमेंसे प्रथम सस्करणमे नाट्यशास्त्रके मूल भागका सम्पादन ४० हस्तलिखित पाण्डुलिपियोके आधारपर और द्वितीय सस्करणका ४४ पाण्डुलिपियोके आधारपर किया गया है । इस लिए नीचे पाद-टिप्पणीमे बहुत अधिक पाठभेद दिए गए हैं ।

बम्बई तथा बडौदासे प्रकाशित इन दो सस्करणोके अतिरिक्त मूल नाटयशास्त्रका एक और सस्करण सन् १९२९ में काशी सस्कृत सिरीज, बनारसमें प्रकाशित हुआ है । इसका सम्पादन हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके प्राध्यापक श्री बटुकनाथ शर्मा साहित्योपाध्याय एम० ए० तथा श्री बलदेव उपाध्याय एम०ए० साहित्यशास्त्रीने सरस्वतीभवन पुस्तक भण्डार बनारसमे सुरक्षित दो पाण्डुलिपियोके आधारपर किया है । ये दोनो पाण्डुलिपियाँ उनसे भिन्न हैं जिनके आधारपर निर्णयसागर तथा बडौदा वाले सस्करणोका सम्पादन हुआ है ।

इनके साथ नाटयशास्त्रके दो अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं । एक मराठी भाषामें और दूसरा अग्रेजी भाषामे । मराठी अनुवाद प्रो० भानुने किया है और १-२७ अध्याय तकका अग्रेजी अनुवाद श्री मनमोहन घोष एम०ए० पी०एच०डी० ने किया है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी बगाल (कलकत्ता) से १९५० में प्रकाशित हुआ है । हिन्दीमें नाटयशास्त्रके अनुवादका यत्न तो हो रहा है पर अभी तक प्रकाशित नही हुआ ।

नाट्यशास्त्रपर विदेशी विद्वानोका कार्य—

सन १८९४ मे निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे जो नाट्यशास्त्रका प्रकाशन हुआ था उसके लगभग ७० वर्ष पहले यूरोपमे नाट्यशास्त्रकी चर्चा आरम्भ हुई थी। विलियम जोन्स नामक विद्वान्ने सबसे पहिले सन १७८९ मे कालिदासके प्रसिद्ध शकुन्तला नाटकका अग्रेजीमें अनुवाद प्रकाशित कराया। इस अनुवादने सबसे पहिले यूरोपीय विद्वानोको सस्कृत साहित्यके अध्ययन के प्रति विशेष रूपसे प्रेरित किया। भरत-नाट्यशास्त्रकी चर्चा सबसे पहिले एच० एच० विल्सन नामक विद्वानने अपने 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ दि थियेटर आफ हिन्दूज' (तीन भाग, कलकत्ता १८२६-२७) नामक ग्रन्थमे उठाई थी। सन १८२६ मे अपने ग्रन्थके प्रथम भागको प्रकाशित करते समय उन्होने यह लिखा था कि—'दि नाट्यशास्त्र मेन्शन्ड एड कोटेड इन सेवरल कमेन्ट्रीज एण्ड अदर वर्क्स हैड बीन लास्ट फार एवर' अर्थात् नाट्यशास्त्र जिसके उद्धरण अनेक टीकाओ और अन्य ग्रन्थोमें पाए जाते हैं सदाके लिए लुप्त हो गया है'। यूरोपीय विद्वानोमें नाट्यशास्त्र के विषयमें यह पहिली चर्चा थी जो नितान्त निराशाजनक थी। इसके लगभग चालीस वर्ष बाद १८६५ में एफ० हाल नामक विद्वान्ने धनञ्जयके दशरूपकका अग्रेजी अनुवाद (कलकत्ता १८६१-१८६५) प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थके प्रकाशनमे कई वर्ष लगे। किन्तु लगभग समाप्ति तक पहुँचनेपर 'हाल' को नाट्यशास्त्रकी एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसका कुछ अश उन्होने दशरूपक के अन्तमे परिशिष्ट रूपमे मुद्रित भी कराया। हाल महोदय ने दशरूपकके प्रकाशनके बाद इस नाट्यशास्त्रका सुसम्पादित सस्करण प्रकाशित करनेका विचार भी किया। किन्तु उनको एक ही प्रति मिली थी और वह अत्यन्त अशुद्ध और स्थल-स्थलपर खण्डित थी। उसके आधारपर सुसम्पादित सस्करणका प्रस्तुत किया जाना असम्भव था। इसलिए उनको अपना विचार त्याग देना पडा। इस प्रकार नाट्यशास्त्रके प्रकाशनका यह प्रथम प्रयास विफल हो गया।

परन्तु इस विफलतासे विद्वान् लोग निराश नही हुए। इस विफल प्रयाससे भी उनको बडा लाभ हुआ। ४० वर्ष पहिले विल्सनके नाट्यशास्त्र-विषयक निश्चयने जो एक निराशावादी भावना उत्पन्न कर दी थी उसकी समाप्ति हो गई। इसलिए विद्वान अनुसन्धानकर्ता विशेष उत्साह के साथ इस ग्रन्थरत्नके उद्धारकेलिए तत्पर होने लगे। इसी बीचमे सन १८७४ मे जर्मनके प्रसिद्ध विद्वान् 'हेमान' ने तब तककी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर भरत-नाट्यशास्त्रका विवरण देते हुए एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया। इस विद्वत्तापूर्ण लेखने भरत-नाट्यशास्त्रके अध्ययन और अनुसन्धानकेलिए विद्वानोमें और भी अधिक अभिरुचि एव उत्साह उत्पन्न किया। 'गोटिंगन' नगरकी राजकीय वैज्ञानिक परिषद्की विवरण-पत्रिकामे प्रकाशित 'हेमान' के उस लेखके प्रकाशित होनेके ६ वर्ष बाद 'रैग्नो' नामक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वानने १८८० में नाट्यशास्त्रके सत्रहवे अध्याय का और उसके बाद १८८४ में पन्द्रहवे-सोलहवे अध्याय तथा उसके बाद छठे-सातवे अध्यायका प्रकाशन कराया। इस प्रकार अपूर्ण रूपमें ही सही, भरत-नाट्यशास्त्रका यह सबसे पहला सस्करण प्रकाशित हुआ।

'रैग्नो' के बाद उनके शिष्य 'ग्रोसे' ने १८८८ में नाट्यशास्त्रके सगीत-सम्बन्धी २८वे अध्यायको प्रकाशित किया। और फिर १८९८ में नाट्यशास्त्रके प्रथम चौदह अध्यायोका एक सुसम्पादित सस्करण 'ग्रोसे' ने प्रकाशित कराया। इस प्रकार 'रैग्नो' तथा उनके शिष्य 'ग्रोसे' इन

दोनो फ्रेंच विद्वानोको ही नाटयशास्त्रके प्रकाशनका श्रेय दिया जा सकता है। इनके द्वारा मिला-कर नाटयशास्त्रके अठारह अध्यायोका—प्रारम्भसे १७ वे अध्याय तक क्रमबद्ध तथा २८ वे अध्याय का—प्रकाशन किया गया। कलेवरकी दृष्टिसे यद्यपि यह आधा नाटयशास्त्र ही बनता है फिर भी जिन कठिन परिस्थितियोमें उन्होने यह कार्य किया उनको देखते हुए यह बहुत बडा कार्य कहा जा सकता है।

तीसरे फ्रेंच विद्वान् 'सिल्वा लेवी' हैं जिन्होने भरत-नाट्यशास्त्रके विषयमें कुछ कार्य किया है। 'सिल्वा लेवी' ने भारतीय रङ्गमञ्चके विषयमें 'थियेटर इण्डियन' नामक अपना ग्रन्थ १८९० मे प्रकाशित किया। उन्होने केवल १८ से २२ तक तथा ३४ इन पाँच अध्ययोका ही कुछ विवेचन अपने ग्रन्थमे दिया है। परन्तु वह भी न अनुवाद ही है और न मूलका सम्पादन ही। इस लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता है।

१८२६ से लेकर १९६० तक पिछले १३४ वर्षोंमे नाटयशास्त्रके सम्पादन और प्रकाशन के क्षेत्रमें देशी और विदेशी विद्वानोने मिल कर जो प्रयत्न किया है उसका यही सक्षिप्त विवरण है।

भरतके पूर्ववर्ती आचार्य—

नाट्यकला-विषयक उपलब्ध समस्त ग्रन्थोमे यद्यपि वर्तमान भरत-नाटयशास्त्र सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है किन्तु जिस प्रकार 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी' की रचनाके पहिले भी व्याकरणके अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख स्वय पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है इसी प्रकार भरत-नाटयशास्त्रके पूर्ववर्ती अनेक नाटयाचार्योंका उल्लेख भरतमुनिने स्वय किया है। भरतमुनिके उल्लेखके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नाटय-विषयक ग्रन्थ और उनके प्रणेता अनेक आचार्य भरतमुनिके पहिले हो चुके थे। इनमे से 'शिलालिन' और 'कृशाश्व' नामक नटसूत्रोके रचयिता दो आचार्योका उल्लेख पाणिनिकी 'अष्टा-ध्यायी' में 'पाराशर्य-शिलालिभ्या भिक्षु-नटसूत्रयो' (४-३-११०) तथा 'कर्मन्द-कृशाश्वादिनि' (४-३-१११) इन सूत्रोमे किया गया है। ये नटसूत्र नाटयशास्त्रके मौलिक सूत्र रहे होंगे। भरतके नाट्यशास्त्रके बन जानेपर उनका भी लोप हो गया यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

कोहल— शिलालिन और कृशाश्वके बाद श्री 'कोहल' भरतके पूर्ववर्ती तीसरे प्रसिद्ध नाटयाचार्य हैं। भरत-नाट्यशास्त्रमें उनका उल्लेख कई जगह आता है। नाटयशास्त्रके अन्तिम अध्यायमे कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल इन चार प्राचीन नाटयाचार्योंका एक साथ उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य शाण्डिल्य-धूर्तिलै।
एतच्छास्त्र प्रयुक्त तु नराणा बुद्धिवर्धनम्॥"

अभिनवगुप्तने अपनी टीकामे अनेक जगह कोहलाचार्यके मतका उल्लेख किया है। जैसे प्रथमाध्यायमें [पृ० १३७] नान्दीका विवेचन करते हुए 'इत्येषा•••कोहलप्रदर्शिता नान्दी उपपन्ना भवति' दिया है। छठे अध्यायमे [पृ० ४१६] दशम श्लोकमे नाटयके रस, भाव आदि ग्यारह अङ्ग

गिनाए गए हैं। अभिनवगुप्तका मत है कि ये ग्यारह अङ्ग भरतके मतसे नही अपितु कोहलके मतसे दिखलाए गए हैं। उन्होने लिखा है—

"अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते।"

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलोपर अभिनवगुप्तने भरतमुनिके मतसे कोहलाचार्यके मत की भिन्नता दिखलाते हुए कोहलाचार्यके नामका उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरतमुनिके पूर्ववर्ती कोहलाचार्यका अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था उसीके आधारपर अभिनवगुप्तने उनके मतका इतना स्पष्ट और इतना अधिक उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है।

अभिनवगुप्तने केवल कोहलके मतका अपने शब्दोमें ही उल्लेख किया हो सो बात नही है बल्कि स्वय कोहलाचार्यके श्लोकोको उन्होने कई जगह उद्धृत किया है। जैसे चतुर्थ अध्यायमे बडौदा वाले सस्करणके पृष्ठ १८० पर—'तदुक्त कोहलेन'—लिख कर दो श्लोक, और पृष्ठ १८१ पर 'तदुक्त चिरन्तनै' से फिर ८ श्लोक तथा अगले १८२ पृष्ठपर फिर—'यथोक्त कोहलेन'—लिख कर एक श्लोक स्पष्ट रूपमे कोहलके नामसे उद्धृत किया है। इस प्रकार नाटचशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें मिला कर आठ स्थानोपर कोहलके नामका उल्लेख है।

धूर्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य—

नाटचशास्त्रके अन्तिम अध्यायका जो श्लोक हम ऊपर [पृ० ६ पर] उद्धृत कर आए हैं उसमे कोहलके साथ धूर्तिल, शाण्डिल्य तथा वात्स्य इन तीन आचार्योंके नामका उल्लेख भी भरतके श्लोकमें पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनो भी भरतके पूर्ववर्ती आचार्य हैं। कोहलाचार्यके समान (बडौदा स० पृ० २०३) दत्तिलाचार्यके श्लोकको भी अभिनवगुप्तने नामग्राह-पूर्वक उद्धृत किया है। सङ्गीत वाले अध्यायमे लगभग १४ बार दत्तिलके मतका उल्लेख और उसके उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि कोहलके समान दत्तिल भी नाटच-शास्त्रके भरतके पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्य हैं। वात्स्य और शाण्डिल्य का उल्लेख भरतमुनिके ऊपर उद्धृत किए हुए अन्तिम अध्याय वाले श्लोकमें किया गया है। पर अभिनवगुप्तने उनका कोई उद्धरण आदि नही दिया है। इसलिए यह नही कहा जा सकता है कि उन्होने कोई ग्रन्थ लिखा था या नही।

नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट—इन दोनो नामोकी गणना नाटचशास्त्रके प्रथमाध्यायमें गिनाए हुए भरतमुनिके सौ पुत्रोके नामोमे की गई है (श्लोक ३३)। इनके समान ही कोहल दत्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य की गणना भी सौ पुत्रोके नामोमे की गई है (श्लोक २६)। परन्तु जैसे कोहल और दत्तिलके उद्धरण अभिनवभारती आदिमे पाए जाते हैं इसी प्रकार 'नखकुट्ट' और 'अश्मकुट्ट' के उद्धरण अन्य ग्रन्थोमे पाए जाते हैं। ये दोनो व्यक्ति समकालीन और एक ही स्थान के रहने वाले प्रतीत होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने (सा० द० २९४ पृष्ठ) नखकुट्ट का उद्धरण दिया है। और 'सागरनन्दी' ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक अपने ग्रन्थमे अश्मकुट्टके उद्धरण (पृ० ८३, ४३७, २७६६, २७६७, २७७४-२७७५) दिए हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनो भी नाटचशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं।

बादरायण—भरतपुत्रोकी सूचीमें ३२ वें श्लोकमें बादरायण नाम भी आया है। 'सागरनन्दी'ने अपने 'नाटचलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थमें (१९९२-१९९४ तथा २७७०-२७७१) दो स्थानो

पर बादराण या बादरिके नामसे उद्धरण दिए हैं। उन उद्धरणोसे यह प्रतीत होता है कि बादरायण या 'बादरि' ने भी नाटचके विषयमें कोई ग्रन्थ लिखा होगा।

शातकर्णी—'सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स' (पृष्ठ १९१-२०७) के अनुसार विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पश्चात् प्रथम शताब्दी तकके शिलालेखोमे 'शातकर्णी' का नाम पाया जाता है। 'सागरनन्दी' के 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में (११०१-११०३) तथा उसकी रुचिपति-कृत टीका (पृ० ७) में शातकर्णीके उद्धरण पाए जाते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि ये नाटचशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं। और इन्होने नाटचके विषयमे कोई ग्रन्थ भी लिखा था। शिलालेखोमें नाम होनेसे यह प्रतीत होता है कि शातकर्णी सम्भवत कोई राजा रहे हो और उन्होने नाटचपर कोई ग्रन्थ भी लिखा हो। इधर कालिदासने रघुवशके त्रयोदश सर्गके ३८-४० श्लोकोमे शातकर्णि मुनिका उल्लेख किया है जो इन्द्रकी भेजी हुई अप्सराओके जालमें फँस गए थे। इनके आश्रमसे उठी हुई सङ्गीतकी ध्वनि रामचन्द्र जीके पुष्पक विमान तक पहुँच रही थी। भरत-नाटचशास्त्रमे श्लोक स० २८ मे 'शालिकर्ण' नाम आया है। सम्भव है उसका इस 'शातकर्णि' नामके साथ कुछ सम्बन्ध हो।

मध्यवर्ती नाटचकार—

नन्दी [नन्दिकेश्वर], तुम्बरु, विशाखिल और चारायण—ऊपर दिए हुए नाट्यकारोके अतिरिक्त अभिनवगुप्त तथा शारदातनयने नन्दी या नन्दिकेश्वर नामके नाटचकारका भी उल्लेख किया है। अभिनवगुप्तने चतुर्थ अध्याय पृ० १६६ पर नन्दिमतका उल्लेख किया है। ये नन्दिकेश्वर तथा 'अभिनयदर्पण' के रचयिता नन्दिकेश्वर सम्भवत एक ही व्यक्ति हो। अभिनवगुप्तने पृ० १६३ पर 'तुम्बुरुणोदमुक्तम्'—लिख कर आगे 'तुम्बरु' का भी उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पृ० १९७ पर 'विशाखिल' का उल्लेख भी किया है और 'सागरनन्दी' ने अपने 'नाटक-लक्षण' मे (श्लोक० ३६२-३६३ मे) एक जगह 'चारायण' आचार्यका उल्लेख किया है। इन सब उद्धरणोसे प्रतीत होता है कि ये मध्यकालीन नाट्याचार्य थे और इन्होने कोई ग्रन्थ भी लिखे थे।

सदाशिव पद्मभू, द्रौहिणि, व्यास तथा आञ्जनेय—शारदातनयने 'सदाशिव' का (भावप्रकाशन १५२) तथा दशरूपककार धनञ्जयने (४, ३७-३८ मे) 'सदाशिव' का उल्लेख किया है। अभिनवभारतीमे भी (पृष्ठ ६ पर) सदाशिवके मतका उल्लेख किया गया है। शारदातनयने 'भावप्रकाशन' में सदाशिवके अतिरिक्त पद्मभू (पृ० ४७), द्रौहिणि (पृ० २३९) व्यास (पृ० २५१) तथा आञ्जनेय (पृ० २५१) का भी नाट्यकारके रूपमें उल्लेख किया है। परन्तु उनके किसी ग्रन्थके उद्धरण आदि नही दिए गए हैं। इस लिए यह नही कहा जा सकता है कि उन्होने वस्तुतः किन्ही ग्रन्थोकी रचना की थी या नही।

कात्यायन, राहुल तथा गर्ग—अभिनवगुप्तने अध्याय १४ पृ० २४५-२४६ पर "यथोक्त कात्यायनेन—

> वीरस्य भुजदण्डाना वर्णने स्रग्धरा भवेत।
> नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम्॥
> शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे। इत्यादि"

यह कात्यायनका वचन उद्धृत किया है । इससे प्रतीत होता है कि कात्यायनने नाटचशास्त्र तथा छन्द शास्त्रके विषय में कोई ग्रन्थ लिखा था । सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षणरत्नकोश' (श्लोक १४८४-१४८५) में कात्यायनका उल्लेख किया है ।

अभिनवभारतीमे चतुर्थ अध्यायमें (पृ० ११३ पर अभिनवगुप्तने राहुलके उद्धरण तथा १७० पर 'यथोक्त राहुलेन तथा 'ते च यथाह—राहुल,' लिखकर प्रस्तुत किए हैं ।

इन वचनोसे प्रतीत होता है कि राहुलने भी नाटचके विषयमे कोई ग्रन्थ लिखा था । सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षणरत्नकोश' मे (श्लोक २८७३-२१७५) राहुलका उल्लेख किया है । सागरनन्दीने (ना० ल० ३२२६ मे) एक बार 'गर्ग' का भी नाटचकारके रूपमें उल्लेख किया है । पर उनका कोई उद्धरण नही दिया गया है । सम्भव है इन्होने भी कोई ग्रन्थ लिखा हो ।

शकलीगर्भ और घण्टक—अभिनवभारतीके द्वितीय भागमे पृ० ४५२ पर अभिनवगुप्तने 'शकलीगर्भ' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख किया है । और उसी द्वितीय भागमे पृष्ठ ४३६ पर 'घण्टकादयस्त्वाहु' लिख कर 'घण्टक' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख भी किया है । इससे प्रतीत होता है कि मध्यकालीन नाट्याचार्यों मे 'शकलीगर्भ' तथा 'घण्टक' ने भी नाटक विषयपर उत्तम ग्रन्थोकी रचना की थी ।

वार्तिकार—अभिनवगुप्तने प्रथमभागके पृष्ठ १७० 'वार्तिककृताप्युक्तम्' पृष्ठ १७२ पर 'यद्वार्तिकम्', पृष्ठ २०६ पर 'श्रीहर्षस्तु', पृष्ठ २१० पर 'उक्त च वार्तिके' आदि शब्दोसे अनेक बार और अनेक प्रकारसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। सागरनन्दी (ना० ल० ३२२५ श्लोक) तथा शारदातनय (भावप्रकाशन २३८) ने हर्ष-विक्रम नामसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि हर्ष अथवा हर्षविक्रम नामके कोई विद्वान् इस वार्तिकके रचयिता थे। यह वार्तिक नाट्यशास्त्रकी व्याख्या-रूप न होकर कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा—ऐसा विद्वानोका मत है। इसी लिए हमने उन्हे भरतके टीकाकारोमे स्थान न देकर मध्यवर्ती नाट्याचार्य इस शीर्षकके अन्तर्गत रखा है। 'राजतरङ्गिणी' मे हर्षविक्रमादित्य नामक राजाका और उनके द्वारा कवि मातृगुप्तको सिहासन पर प्रतिष्ठित किए जानेका वर्णन मिलता है । सम्भव है हर्षवार्तिक के रचयिता ये ही हर्षविक्रमादित्य रहे हो ।

मातृगुप्ताचार्य—हर्षविक्रमादित्यके साथ मातृगुप्त कविका उल्लेख 'राजतरङ्गिणी' मे पाया जाता है । इधर अभिज्ञान-शाकुन्तलकी टीकामे राघवभट्टने मातृगुप्ताचार्यके नामसे अनेक पद्योको उद्धृत किया है। ये पद्य नाटकके पारिभाषिक शब्दोकी व्याख्याके प्रसङ्गमे उद्धृत किए गए हैं : जैसे पृष्ठ पाँचपर सूत्रधारका लक्षण, पृष्ठ चारपर नान्दीका लक्षण, पृष्ठ नौपर नाटक-लक्षण, और पृष्ठ २७ पर यवनिकाके लक्षणके अवसरपर राघवभट्टने मातृगुप्तके ही श्लोक लक्षण रूपमें उद्धृत किए हैं। राघवभट्टने पृष्ठ पन्द्रहपर भरतके आरम्भ तथा बीज वाले पद्योको उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

"अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्त—
क्वचित कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम् ।"

इन सब उद्धरणोसे प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्यने नाट्यशास्त्रके विषयमें कोई

ग्रन्थ अवश्य लिखा था। वह नाटचशास्त्रकी टीका-रूपमें था या स्वतन्त्र ग्रन्थ था—यह ठीक तरह से नही कहा जा सकता। किन्तु सुन्दरमित्र ने अपने नाटचप्रदीप नामक ग्रन्थ (जिसका रचना-काल १६१३ ई० है) मे भरत-नाटचशास्त्रके पञ्चमाध्याय के २५ तथा २८ सख्या वाले दो श्लोकोके अनुसार 'नान्दी' का लक्षण उद्धृत और उस पद्यकी व्याख्याके प्रसगमें मातृगुप्ताचार्यके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशाङ्घ्रिपदापीयमुदाहृता।'

इस सबसे यह प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्य भरत-नाट्यशास्त्रके व्याख्याता हैं किन्तु राघवभट्ट ने जिस रूपमें मातृगुप्ताचार्यके पद्योको उद्धृत किया है उससे प्रतीत होता है कि उन्होने कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस विषयपर लिखा होगा।

वार्तिककार हर्ष यदि राजतरङ्गिणीमे वर्णित काश्मीरके राजा हर्षविक्रमादित्य ही हैं और यदि यह मातृगुप्त उनके समकालीन राजतरङ्गिणीमे वर्णित मातृगुप्त ही हैं तो इन दोनोका काल चतुर्थ शताब्दीके अन्त और पाँचवी शताब्दीके प्रारम्भमे रखा जा सकता है।

सुबन्धु—शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' पृ० २३८ पर नाट्य-विषयपर ग्रन्थकार 'सुबन्धु' का उल्लेख किया है। ये सुबन्धु कौन हैं यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता है। किन्तु 'सुबन्धु' नामसे 'वासवदत्ता' के रचयिता महाकवि सुबन्धुका स्मरण हो आता है। यही सुबन्धु यदि शारदातनयके अभिप्रेत सुबन्धु हैं तो उनका समय पञ्चम शताब्दीमें समझना चाहिए।

अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर—'अग्निपुराण' मे नाट्य, नृत्य और रस आदिका विवेचन बहुत विस्तारके साथ किया गया है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरमें भी नाट्य, नृत्य, अभिनय आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। किन्तु यह सब विवेचन भरत-नाट्यशास्त्रपर आधारित है। स्वतन्त्र रचना नही है। अनेक स्थानोपर भरतके पद्य ज्योके त्यो उद्धृत कर दिए गए हैं। अग्निपुराणका काल प्रायः दण्डीके बाद सप्तम शताब्दीमे निर्धारित किया जाता है।

भरत-नाटचशास्त्रके व्याख्याता—

यद्यपि इस समय भरत-नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तकी 'अभिनवभारती' को छोड पर और कोई व्याख्या या टीका उपलब्ध नही होती है किन्तु अभिनवगुप्तके पूर्व भी भट्ट लोल्लट, भट्ट शकुक, भट्टनायक, आदि अनेक विद्वानोने भरत-नाट्यशास्त्रपर टीकाएँ लिखी थी। अभिनवभारतीमें इन सब टीकाकारोके नाम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त काव्य-प्रकाशकारने भरत के रससूत्रकी जो व्याख्या दी है उसमें भी उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त इन पाँच व्याख्याकारोके मत दिखलाए हैं। इससे प्रतीत होता है कि भरत-नाट्यशास्त्रपर कमसे कम पाँच टीकाएँ अवश्य लिखी गई है। 'शार्ङ्गदेव' ने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' मे—

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भट-शकुका।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपर॥"

लिख कर स्पष्ट रूपसे नाट्यशास्त्रके व्याख्याकारोके नाम गिनाए है। इनमे भट्टनायकका नाम न दे कर उसके स्थानपर कीर्तिधरका नया नाम और आगया है। अभिनवभारतीमे इनके अतिरिक्त

भट्टनायक और उनके साथ भट्टयन्त्र, वार्तिककार, और भाष्यकारका उल्लेख और किया है। भाष्यके रचयिता नान्यदेव हैं।

आचार्य कीर्तिधर तथा भाष्यकार नान्यदेव—कीर्तिधरका उल्लेख अभिनवभारती मे केवल एक जगह चतुर्थ अध्यायके अन्तमें पृ० २०६ पर पाया जाता है। किन्तु इनके नामके साथ अभिनवगुप्तने विशेष सम्मान सूचक 'आचार्य' पदका प्रयोग किया है। 'इति कीर्त्तिधराचार्या'। इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक उल्लेख किए जानेसे यह प्रतीत होता है कि कीर्तिधराचार्य कदाचित् अन्य व्याख्याकारोसे अधिक प्राचीन और प्रतिष्ठित व्याख्याकार रहे है। यदि वे इन सब टीकाकारो में सबसे अधिक प्राचीन हैं तो उद्भटके भी पूर्ववर्ती होनेके कारण उनका समय सम्भवत सप्तम शताब्दीमे मानना होगा। नान्यदेव नामके एक राजा मिथिलामे हुए हैं। किन्तु ये नाटचशास्त्रके भाष्यकार नान्यदेव उन राजा नान्यदेवसे निश्चय ही भिन्न हैं क्योकि राजा नान्यदेवका काल अभिनवगुप्तके बाद १२ वी शताब्दीमे पडता है। इसलिए उनका उल्लेख अभिनवभारतीमे नही हो सकता है। ये भाष्यकार नान्यदेव अन्य व्यक्ति ही हैं। 'उक्त नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये' (व० स० पृ० २९३) लिख कर नान्यदेवको अभिनवगुप्तने भरतके भाष्यकारके रूपमे स्मरण किया है।

भट्ट उद्भट—भट्ट उद्भटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीके षष्ठाध्यायकी दशम कारिकाकी व्याख्यामे पृ० २६४ पर 'निर्देशे चैततक्रमव्यत्यासनादित्यौद्भटा.' इस रूपमें किया है। रससूत्रकी व्याख्या देते हुए मम्मटाचार्यने इनको रससूत्रका व्याख्याकार माना है और उनका मत भी दिया है। और शार्ङ्गदेवने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में इनको नाटचशास्त्रके व्याख्याताओमें गिनाया है। 'सङ्गीतरत्नाकर' का श्लोक हम अभी पृ० १३ पर ऊपर दे चुके हैं। इन सबसे प्रतीत होता है कि भट्ट उद्भट नाटचशास्त्रके व्याख्याकार हैं। अभिनवभारतीमें इसी स्थलपर 'नैतदिति भट्ट लोल्लट' लिखा है। इस प्रकारके विवरणके अनुसार भट्ट उद्भटकी व्याख्याका भट्ट लोल्लटने खण्डन किया है। इसलिए उद्भटको लोल्लटका पूर्ववर्ती मानना होगा। लोल्लटका समय विद्वानो ने सप्तम शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा अष्टम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग माना है। इसलिए भट्ट उद्भटका समय सप्तम शताब्दीका मध्यकाल माना होगा।

भट्ट लोल्लट—'अभिनवभारती' मे भट्ट लोल्लटके नामको दस बार उद्धृत किया गया है। प्रथम भागमे चार बार (पृ० २०६, २६४, २७७ और २९८) इसी प्रकार द्वितीय भागमें (पृ० १३४, १९६, ४१५, ४२३, ४३६ और ४४२ पृष्ठो पर छह बार)—कुल मिला कर दस बार भट्टलोल्लटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीमे पाया जाता है। इनका समय आठवी शताब्दीमें निर्धारित किया जाता है। रसके प्रसङ्गमे इनका सिद्धान्त उत्पत्तिवादी है। ये मीमासक और व्यञ्जना-विरोधी हैं। दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापारसे ही व्यंग्य कहलाने वाले अर्थकी प्रतीति मानने वाले हैं। काव्यप्रकाश आदिमें 'सोऽमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो ऽभिधाव्यापार.' से इन्हीके मतका उल्लेख किया गया है।

श्री शंकुक—अभिनवभारतीमे श्री शकुकके मतका उल्लेख १५ बार किया गया है। (प्रथम भाग प्रथम सस्करणके अनुसार पृष्ठ ७४, २१७, २७४, २८५, २९३, २९८, ३१८। द्वितीय भाग पृ० ४११ और ४३६। तथा एस. के. डे महोदयके पासकी पाण्डुलिपि में पृ० ४०३,

४१३, ४३७, ४४१, ४४८, ४६९) । ये काश्मीरके राजा अजितापीड के समय में ८१३ के लगभग हुए हैं। राजतरङ्गिणीमें अजितापीडके वर्णनके प्रसङ्गमे इनका नाम निम्न श्लोकमें पाया जाता है।

"कविर्बुधमन सिन्धु शशाक शकुकाभिध ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्य भुवनाम्युदयाभिधम् ।।" राज० ४, ७०४ ।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि शकुकने अजितापीडकी स्तुतिमें 'भुवनाभ्युदय' नाम का काव्य भी लिखा था। 'शार्ङ्गधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' में शकुकको मयूरका पुत्र बतलाया गया है। और उनके नामसे निम्न पद्य उद्धृत किया गया है—

"दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुक।
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणा कुल निर्मलम् ।।
स्त्रीत्व धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत्काल कृतान्तोऽक्षमः ।
नो सख्यश्चतुराः कथ नु विरहो सोटव्य इत्थ शठ ।।"

भट्टनायक—भरत-नाटचशास्त्र के व्याख्याताओमे चौथे प्रमुख व्याख्याता भट्टनायक है। अभिनवभारतीमें भट्टनायकके नामका उल्लेख ६ स्थानोपर किया गया है। (प्रथम भाग, प्रथम सस्करण पृ० ४, २६, २७८, द्वितीय भाग पृ० २९८ तथा डे पाण्डुलिपि पृ० ५०६, ५०८)। अभिनवगुप्तके अतिरिक्त जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यकने भी भट्टनायकका उल्लेख किया हे। भट्टनायक भी ध्वनिविरोधी आचार्य थे। इन्होने 'हृदयदर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा था। महिमभट्टने भी व्यक्तिविवेकके आरम्भमें 'अदृष्टदर्पणा मम धीः' आदिसे बडे सुन्दर रूपमें इस ग्रन्थका स्मरण किया है। ये सम्भवत. आनन्दवर्धनके समकालीन और उनके आश्रयदाता काश्मीर-राज अवन्तिवर्मा (८५५-८८४) के राजकविके रूपमें उपस्थित थे।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारतीमे प्रथमभाग पृ० २०८ पर केवल एक बार भट्टयन्त्रके नाम का उल्लेख पाया जाता है। उसीसे यह अनुमान होता है कि सम्भवतः इन्होने भी नाटचशास्त्र पर कोई टीका लिखी हो। इसके अतिरिक्त इनका और कोई परिचय कही उपलब्ध नही होता।

अभिनवगुप्त—नाटचशास्त्रके सबसे प्रमुख व्याख्याकार जिनकी व्याख्या आज भी पाई जाती है अभिनवगुप्त है। इनके विषय मे हम आगे लिखेगे। इसलिए इस समय कुछ नही लिख रहे हैं।

उत्तरवर्ती नाटच-साहित्यकार—

अब तक हमने (१) नाटचशास्त्रके पूर्ववर्ती आचार्यों का, जिनका कि उल्लेख नाटच-शास्त्रमें पाया जाता है, (२) मध्यवर्ती ग्रन्थकारो का और (३) नाटचशास्त्रके टीकाकारोका परिचय देनेका यत्न किया है। अब आगे हम नाटच-साहित्यपर लिखने वाले (४) उत्तरवर्ती साहित्यकारोका परिचय देनेका यत्न करेंगे। इन सब साहित्यकारोने यद्यपि स्वतन्त्र रूपसे नाटचसाहित्यके विषय में अपने ग्रन्थोकी रचना की है किन्तु वास्तवमे वे सब नाटचशास्त्रके ऋणी हैं। नाटचशास्त्रके आधारपर ही उसके किसी एक अशको लेकर इन्होने अपने ग्रन्थोकी रचना की है। इन ग्रन्थो मे १. धनञ्जयका दशरूपक, २ सागरनन्दीका नाटच-लक्षणरत्नकोश, ३. रामचन्द्र गुणचन्द्र

का नाट्यदर्पण, ४ शारदातनयका भावप्रकाशन, ५ शिङ्गभूपालकी नाटकपरिभाषा (अप्राप्य) तथा ६ रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका ये मुख्य ग्रन्थ हैं जो स्वतन्त्र रूपसे केवल नाट्य विषयक विवेचनाके लिए लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रीय यशोभूषण' तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' तथा शिङ्गभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' इस प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनकी रचना केवल नाट्य सम्बन्धी विषयके निरूपणके लिए नहीं हुई है किन्तु उनके किसी एक भागमें नाटक सम्बन्धी विवेचन भी किया गया है। इन ग्रन्थकारोका थोडा सा परिचय हम आगे दे रहे हैं।

धनञ्जय—स्वतन्त्र रूपसे नाट्य विवेचनके लिए लिखे गए ग्रन्थोमे दशरूपक सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता धनञ्जय हैं। धनञ्जयने अपने ग्रन्थके अन्तमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'विष्णो सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतु ।
आविष्कृत मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत ।।"

इससे प्रतीत होता है कि ये मालवाके परमार वशके राजा मुञ्ज (या वाक्पतिराज द्वितीय) की सभाके राजकवि थे। इसलिए इनका समय ९७४ से ९९५ के बीच निर्धारित किया जाता है। इसी श्लोकसे यह भी प्रतीत होता है कि इनके पिताका नाम विष्णु था। इन्होने नाट्यशास्त्रके आधारपर ही अपने ग्रन्थकी रचना की है किन्तु उसके सारे व्यापक विषयोको छोड कर केवल नाट्य विषयसे सम्बन्ध रखने वाले विषयोका ही वर्णन अपने ग्रन्थमे किया है। इसीलिए ग्रन्थके आरम्भमें चतुर्थ श्लोकमे उन्होने स्पष्ट ही लिख दिया है कि—

"नाट्याना किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि ।"

धनञ्जयने अपना ग्रन्थ कारिका रूपमें लिखा है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं जिनमें वस्तु विभाग, पाच अर्थप्रकृति, अवस्थाओ तथा सन्धियोके अङ्गोका विभाजन अर्थोपक्षेपकोका वर्णन नायक नायिका भेदका मनोवैज्ञानिक आधारपर विवेचन, उनके सहकारियोका वर्णन और रस-निरूपण आदि अत्यन्त सुन्दर रूपमें प्रस्तुत किए गए हैं। इनकी इस रचनाका उत्तरवर्ती साहित्य की रचनापर बहुत अधिक प्रभाव पडा है।

धनिक—इन्ही धनञ्जयके छोटे भाई धनिकने दशरूपकके ऊपर 'दशरूपकावलोक' नामक उच्चकोटिकी टीका लिखी है। इसी टीकाके चतुर्थ प्रकाशमें इन्होने 'यथाऽवोचाम काव्य निर्णये' लिख कर यह सूचना दी है कि इन्होने 'काव्य निर्णय' नामका कोई दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था। ये स्वय कवि भी थे और 'अवलोक टीका' में कई जगह अपने पद्य उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किए हैं।

धनिकके 'अवलोक' के अतिरिक्त दशरूपकपर और भी कई टीकाग्रन्थ लिखे गए हैं। बहुरूपभट्ट नृसिंहभट्ट, देवपाणि, क्षोणीधर मिश्र और कूरवीराम ये सब दशरूपक के टीकाकारके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। किन्तु इनमें सबसे अधिक ख्याति तथा मान धनिक और उनकी टीका 'अवलोक' को ही मिला है।

सागरनन्दी—सन् १९२२ में स्व० 'सिलवा लेवी' ने नेपालमें 'नाटचलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्त की और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक' १९२२ पृ० २१० पर प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाटच साहित्य में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटचलक्षणरत्नकोश' के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोमे मिलते थे किन्तु इनके ग्रन्थका पता नही था। उसके बाद १८३७ में श्री एम०डिलन ने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया है। 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में भरतमुनिके अतिरिक्त १ 'हृषवार्तिकम् २ 'मातृगुप्त' ३ गर्ग, ४ अश्मकुट्ट, ५ नखकुट्ट, ६ बादरि का भी उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्यों के ग्रन्थोके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु इन सबमे अधिक नाटचशास्त्रका आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोपर भरतके श्लोको को ज्यो का त्यो उतार दिया गया है। दशरूपक के समान यह ग्रन्थ भी कारिका रूपमें ही लिखा गया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—कालकी दृष्टिसे धनञ्जय तथा सागरनन्दीके बाद तीसरा स्थान रामचन्द्र गुणचन्द्र का आता है। जिन्होंने नाटच साहित्यपर 'नाटच दर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। रामचन्द्र गुणचन्द्र दो अलग अलग विद्वान् हैं। इन दोनोने मिल कर 'नाटचदर्पण' की रचना की है। ये दोनो जैन हैं और प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इनका समय १२वी शताब्दीमें निर्धारित किया गया है। 'नाटचदर्पण' कारिका रूपमें लिखा गया है। उसके ऊपर इन्ही दोनो विद्वानोने स्वय अपनी वृत्ति भी लिखी है। इन दोनों विद्वानोमेंसे रामचन्द्र ने अलग स्वतन्त्र रूपसे लगभग सौ ग्रन्थोकी—जिनमें अधिकाश नाटक हैं—रचना की है। गुणचन्द्रका अलग कोई ग्रन्थ नही पाया जाता है। इन लोगोने अपनी वृत्तिमे पूर्ववर्ती अनेक आचार्योंके मतोका खण्डन किया है। इनमेसे दशरूपककार धनञ्जयका स्थान मुख्य है। धनञ्जय के मतकी रामचन्द्र गुणचन्द्रने अनेक स्थानोपर आलोचना की है।

रुय्यक—अन्य साहित्यिक विद्वानोके समान 'रुय्यक' भी एक काश्मीरी विद्वान् हैं। इन्होने महिमभट्टके 'व्यक्तिविवेक' के ऊपर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। उसी टीकासे यह पता चलता है कि इन्होने 'नाटकमीमासा' नामका कोई ग्रन्थ नाट्य साहित्यपर भी लिखा था। किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

शारदातनय—धनञ्जय, सागरनन्दी, और रामचन्द्र गुणचन्द्रके बाद अगला स्थान शारदातनय का आता है। शारदातनयका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' है। यह ग्रन्थ आकारमें दशरूपक, नाटचदर्पण, आदिसे बहुत अधिक बडा और लगभग नाटचशास्त्रके बराबरका है। इसमें नाटच सम्बन्धी सभी विषयोका विस्तारके साथ निवेचन किया गया है। ग्रन्थ श्लोकबद्ध है। उसके दश प्रकरणोमें रूपको और उपरूपकोका उदाहरणोके सहित विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज़, बडौदासे प्रकाशित हो चुका है। उसके ऊपर टीका भी लिखी गई थी किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नही हुई है। यह १२ और १३वी शताब्दीके बीच की रचना प्रतीत होती है। इसमें बहुतसे ऐसे नाटकोके नाम आते हैं जो इस समय उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

शिङ्गभूपाल—शिङ्गभूपालका समय १४वी शताब्दीमें आता है। इनके दो ग्रन्थ हैं एक 'नाटकपरिभाषा' और दूसरा 'रसार्णवसुधाकर'। 'नाटकपरिभाषा' के नामसे ही प्रतीत

होता है कि वह मुख्य रूपसे नाटकके विषयके प्रतिपादनकेलिए ही लिखा गया था। किन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नही हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' नाटक विषयपर नही अपितु साधारणत साहित्य विषयपर लिखा गया है। किन्तु उसके अन्तिम भागमे नाटकका विवेचन भी किया गया है।

रूप गोस्वामी—रूपगोस्वामी प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। उनका समय १५वी शताब्दी के आस पास निर्धारित किया जाता है। उनका 'नाटकचन्द्रिका' ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपालके 'रसार्णव सुधाकर' के आधारपर लिखा गया है। इसमे मुख्य रूपसे नाटक सम्बन्धी विषयका ही विवेचन किया गया है। उसकी मुख्य विशेषता यह है कि उसमें उदाहरण प्राय वैष्णव ग्रन्थोसे ही लिए गए हैं। रूपगोस्वामीकी दूसरी रचना 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' है। वह इससे कही अधिक प्रसिद्ध और कही अधिक महत्त्वपूर्ण कृति है।

राजा भोज—राजा भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' ग्रन्थ भारतीय साहित्य शास्त्रका कदाचित् सबसे अधिक विशाल ग्रन्थ है। यह ३६ प्रकाशोमे विभक्त है। किन्तु इसका ३६ वा प्रकाश अभी तक मिला ही नही है। इसके १२वे प्रकाशमें नाट्यका वर्णन हुआ है। शेष भागोमें साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्य विषयोका विवेचन किया गया है। ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपमे प्रकाशित नही हो पाया है। इन्ही राजा भोजका दूसरा ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। इसके पाचवे परिच्छेदमे नाटक सम्बन्धी विषयोका प्रतिपादन किया गया है।

विद्यानाथ—विद्यानाथ भी १४ वी शताब्दीके लेखक हैं। इनका ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' इनके आश्रयदाता काकतीय वशके राजा प्रतापरुद्रदेव की स्तुतिके रूपमें लिखा गया है। इसमें ९ प्रकरण हैं। तीसरे प्रकरणमें नाटक सम्बन्धी विषयका विवेचन किया गया है। लक्षणोके उदाहरण दिखलानेकेलिए विद्यानाथने अपने आश्रयदाताकी प्रशसामें 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक नाटककी भी रचना की है।

विश्वनाथ—कविराज विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ साहित्य शास्त्रका बडा सम्मानित ग्रन्थ है। पाठ्यग्रन्थोमें उसका सर्वत्र सन्निवेश किया गया है। इसके छठे परिच्छेदमें नाटक सम्बन्धी विषयका विवेचन भरत नाट्यशास्त्रके आधारपर किया गया है।

सस्कृत भाषामें लिखे गए नाट्य साहित्यकी यह सक्षिप्त रूपरेखा है। भरतसे लेकर अब तक नाट्य साहित्यपर हुए कार्यका विवरण इसमे देने का यत्न किया गया है।

अभिनवगुप्त द्वय—

ऊपर हम नाट्यशास्त्रके टीकाकारोमे अभिनवगुप्तके नामका उल्लेख कर चुके हैं। अन्य प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थकारोकी अपेक्षा अभिनवगुप्तका परिचय कुछ सुलभ है क्योकि उन्होने अपने ग्रन्थोमें प्राय अपने पूर्वजो और ग्रन्थोके लिखे जानेके समयादिका उल्लेख कर दिया है। इसके आधारपर उनके कालका निर्धारण और कुछ सामान्य परिचय सरलतासे मिल जाता है। फिर भी उनके सम्बन्धमें एक समस्या उत्पन्न हो गई है और उस समस्याको उत्पन्न करनेका कारण है 'माधव' का 'शकरदिग्विजय' ग्रन्थ। शकरदिग्विजय में वेदान्तसूत्रोपर शाक्त सम्प्रदायके मतानु-

सार भाष्य करने वाले अभिनवगुप्त नामक एक शाक्त भाष्यकारका उल्लेख किया गया है। ये शाक्त भाष्यकार कामरूप आसामके निवासी हैं और अपने समयके महान् विद्वान् तथा दार्शनिक माने जाते हैं। 'शकरदिग्विजय' मे उनके साथ शास्त्राथ करके शकराचायने उनको परास्त किया था इसका वणन पाया जाता है। 'शकरदिग्विजय का वह श्लोक जिसमे कि इस घटनाका उल्लेख किया गया है निम्न प्रकार है—

'तदन तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ।
अजयत किल शाक्तभाष्यकार स च भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥"

(शकर दिग्विजय १५ १५८)

"स च भग्नोऽभिनवगुप्ताचार्यो मनसा इद वक्ष्यमाण विचारयामास।"

(शकरदिग्विजय टीका १५ १५८)

'शकरदिग्विजय' और उसकी टीकाके उपर्युक्त उद्धरणोसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कामरूप अर्थात आसाममे पहुँच कर शङ्कराचायने अभिनवगुप्तके साथ शास्त्राथ किया और उनको पराजित किया। उस शास्त्राथमे पराजित हो जानेके बाद अभिनवगुप्तने अपने मनमें यह विचार किया कि—

आगे अभिनवगुप्तके विचारोका लम्बा वणन 'शङ्करदिग्विजय में किया गया है। किन्तु उस सबसे हमें कोई प्रयोजन नही है। हमारा अभिप्राय तो यहाँ केवल इतनेसे ही है कि शङ्कर दिग्विजयकारके अनुसार अभिनवगुप्तके साथ शङ्कराचायका शास्त्राथ हुआ था और उस शास्त्राथमें अभिनवगुप्त पराजित हो गए थे। यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यही अभिनवगुप्त नाटयशास्त्रके टीकाकार अभिनवगुप्त हैं? अथवा ये दोनो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। इस प्रश्नकी मीमासा किए बिना अभिनवगुप्तका ठीक परिचय नही दिया जा सकता है। इसलिए यहाँ इस विषयमें थोडी विवेचना कर देना आवश्यक है।

डा० आफरेचटने अपने 'कैटेलागस कटेलागरम' नामक स्व सम्पादित, प्रकाशित ग्र थोके सूचीपत्रमे 'शङ्करदिग्विजय' का नाम कुछ थोडे परिवतनसे 'सूक्ष्मशङ्करविजय' करके दिया है। उसके साथ ही ऊपर उद्धत किए हुए श्लोकके आधारपर उन्होने अभिनवगुप्तके विषयमें भी कुछ पक्तिया लिखी हैं। यहाँ तक तो कोई बात नही थी। हम इन अभिनवगुप्तको नाट्यशास्त्र तथा ध्व यालोकके टीकाकार अभिनवगु तसे भिन्न मान सकते थे। कि तु कठिनाई वहाँसे आरम्भ हो जाती है जब कि डाक्टर महोदय नाटयशास्त्र तथा ध्व यालोकके टीकाकार प्रसिद्ध अभिनवगुप्त के ग्र थोमें उपयु क्त श्लोकमें वर्णित शाक्तभाष्यको भी सम्मिलित कर लेते ह। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि डा० आफरेचट शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त और अभिनवभारतीकार अभिनव गुप्त दोनोको एक ही व्यक्ति मानते हैं। पर तु यह बात उचित नही है। सम्भव है मूल ग्र थकार माधवाचायके मनमे भी यह बात रही हो। अभिनवगुप्त अपने समयके सबसे बडे विद्वान् और महान् दाशनिक माने जाते थे। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्के साथ शास्त्राथ और उसमे शङ्कराचायके द्वारा उनकी पराजयके दिखलाए बिना शङ्करकी दिग्विजय पूण नही होती। इसलिए कदाचित् ग्रन्थकार ने भी इन्हीं अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्तकी पराजयका वणन इस श्लोकमे किया हो। कि तु

यह बात ठीक नही है । इसके दो कारण हैं । पहली बात तो यह है कि हमारे प्रसिद्ध अभिनव भारतीकार अभिनवगुप्त शैव हैं शाक्त नही । दूसरी बात यह है कि ये काश्मीरके निवासी हैं। और शङ्करदिग्विजय वाले अभिनवगुप्त कामरूपके निवासी हैं। काश्मीर निवासी अभिनवगुप्त भी कामरूपमे पहुँच सकते हैं और शव तथा शाक्तका भेद भी दृष्टिसे ओझल किया जा सकता है किन्तु सबसे बडी बात यह है कि शङ्कराचाय और प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तके कालके बीच लगभग दो सौ वष का व्यवधान पडता है । उसको तो किसी भी प्रकार दूर नही किया जा सकता । शङ्कराचायका ज म-काल ७८८ और मृत्युकाल ८२० माना जाता है । ३२ वष की स्वल्प आयुमें ही उनका देहावसान हो गया था । पर तु काश्मीरी अभिनवगुप्तका समय उनके लगभग २०० वष बाद आता है । 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' तथा बृहती विमर्शिणी' आदि ग्र थोके लिखे जानेका जो समय अभिनवगुप्तने दिया है उसके अनुसार इनका काल दशम शताब्दीके उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवी शताब्दीके आरम्भमें पडता है। और शङ्कराचायका मृत्युकाल नवम शताब्दीके आरम्भमें पडता है। इस प्रकार इन दोनोके कालमे जो लगभग दो सौ वर्षोंका व्यवधान आता है इससे स्पष्ट है कि ये दोनो अभिनवगुप्त व्यक्ति एक नही हो सकते हैं। वास्तवमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति था ही नही। माधवाचायने केवल अपने चरित्र नायक शङ्कराचायके द्वारा प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्तकी पराजय दिखलाने और उसके द्वारा अपने चरित्र नायकका गौरव बढ़ानेकेलिए काल क्रम आदिका विचार किए बिना ही अभिनवगुप्तकी पराजयकी यह कथा अपने ग्र थमें लिख दी है। वह सब अयथाथ और कल्पना मात्र है। और यदि ग्र थकारके गौरवकी रक्षाकेलिए थोडी देरके लिए यह मान भी लिया जाय कि कोई शाक्त भाष्यकार अभिनवगुप्त भी थे और उनको शङ्कराचायने शास्त्राथमे पराजित किया था तो यह निश्चय है कि वे अभिनवगुप्त प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तसे अवश्य ही भिन्न व्यक्ति रहे होगे। इसलिए डा० आफरेचटने जो काश्मीरी अभिनवगुप्त के निर्मित ग्र थोकी सूचीमें शाक्त भाष्यको भी सम्मिलित कर लिया है वह अप्रामाणिक और असङ्गत है।

अभिनवगुप्त द्वारा कालका निर्देश—

अभिनवगुप्तने अपने तीन ग्र थोमे उनके लिखे जानेके कालका उल्लेख किया है।

(१) सबसे पहिले 'क्रम स्तोत्र' की रचना उ होने मागशीष कृष्ण ९ सप्तर्षि सवत्सर ६६ में की थी। इसके विषयमे उ होने लिखा है—

"षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि ।
मयाभिनवगुप्तेन मागशीर्षे स्तुत शिवः ॥"

अर्थात् सम्वत् ६६ में मागशीष कृष्ण नवमीको मंने (इस क्रमस्तोत्रके रूपमे) शिव की स्तुति की है।

(२) इसी प्रकार भैरव स्तोत्रके अ तमे उसका रचना-काल इस प्रकार दिया गया है—

'वसुरस पौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्त स्तवमिममकरोत्' ॥

वसु पद आठ सख्याका और रस पद ६ सख्याका बोधक है। 'अङ्काना वामतो गति' इस सिद्धान्तके

अनुसार पहिले ६ और बाद को ८ लिखने पर सम्वत् ६८ निकलता है। उस सम्वत् ६८ के पौष मासकी कृष्णा दशमीको अभिनवगुप्तने इस 'भैरवस्तोत्र' की रचना की यह इस श्लोक का अर्थ है।

(३) इसी प्रकार 'बृहती विमर्शिणी' तीसरा ग्रन्थ है जिसमें अभिनवगुप्तने उसके बनाए जानेके कालका निर्देश निम्न प्रकार किया है—

"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरित शम्भुपादैः॥"

अर्थात् आचार्य शम्भुपादकी प्रेरणासे जगत्को पूर्ण बोध प्रदान करने वाली सारी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की अन्त्य युगांश अर्थात् कलिसम्वत्के तिथि अर्थात् १५, शशि अर्थात् १ और जलधि अर्थात् चार 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार उलटे क्रमसे लिखनेपर ४११५ सम्वत्सर बीत जानेके बाद ९० सम्वतसरमें मार्गशीर्षके अन्तमें मैंने सम्पूर्ण 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' की यह व्याख्या की है।

इस श्लोकमें कलिसम्वत्सर के ४११५ वर्ष बीत जानेके बाद ९० सम्वत्सरमें इस ग्रन्थकी रचना की यह काल दिया गया है। इसमे जो ९० सम्वत्सर दिया है वह काश्मीरका प्रसिद्ध सप्तर्षि सम्वत्सर है। और ४११५ कलि सम्वत्सरके साथ उसका सम्बन्ध भी इस श्लोकमें दिखलाया गया हैं। सम्वत्सर-विशेषज्ञोके अनुसार सप्तर्षि सम्वतका आरम्भ कलि सम्वत्सरके २५ वर्ष बाद हुआ है अर्थात् जिस समय ४११५ कलिसम्वत्सर चल रहा था उस समय उसके २५ वर्ष बाद आरम्भ होने वाले सप्तर्षि सम्वत्सरका ४११५—२५=४०९० वाँ वर्ष चल रहा था। इसी ४०९० सप्तर्षि सम्वत्को यहाँ ग्रन्थकारने 'नवतितमेऽस्मिन्' सम्वत ९० कहा है।

यह तो कलि सम्वत्सर तथा सप्तर्षि सम्वत्सरके अनुसार अभिनवगुप्तकी बृहती विमर्शिणी' का रचना काल हुआ। परन्तु इसका सम्बन्ध वर्तमान सम्वत्सरसे कैसे जोड़ा जाय इसके लिए हमें वर्तमान कलि सम्वत्को देखना चाहिए। आज सम्वत् २०१६ के पञ्चाङ्गमे कलि सम्वत् ५०६० दिया हुआ है। अर्थात् विक्रम सम्वत् तथा कलिसम्वत्मे ३०४४ वर्षोंका अन्तर है। अर्थात् कलिसम्वत्मेसे ३०४४ वर्ष घटानेसे विक्रम सम्वत्की गणना प्राप्त होती है। 'बृहती विमर्शिणी' की रचना ४११५ कलिसम्वत्में हुई थी। इसमेंसे ३०४४ वर्षोंको कम कर देनेपर (४११५ ३०४४=) १०७१ विक्रम सम्वत्सरमें 'बृहती विमर्शिणी' की रचना अभिनवगुप्तने की यह अर्थ निकलता है।

जब इस विक्रम सम्वत्सरको ईसवी सन्में परिवर्तित करना चाहे तो इसमेसे ५७ वर्ष कम करने होंगे। क्योंकि विक्रम सम्वत्सर ईसवी सम्वत्सरसे ५७ वर्ष पुराना है। इस प्रकार जब 'बृहती विमर्शिणी' की रचना १०७१ विक्रम सम्वत्में हुई तो ईसवी सन्के अनुसार उसका रचना काल १०७१ ५७=१०१४ ई० पड़ता है। अर्थात् 'बृहती विमर्शिणी' की रचना ग्यारहवी शताब्दीके आरम्भमें हुई।

बहृती विमर्शिणी' का यह रचना काल जब निर्धारित हो गया तो भैरवस्तोत्र' तथा 'क्रमस्तोत्र' का रचना काल भी निकल आता है। क्रमस्तोत्र' की रचना सप्तर्षि सम्वत् ६६ में अर्थात् 'बहृती विमर्शिणी' से २४ वष पूव तथा भरव स्तोत्र' की रचना उससे दो वष बाद अर्थात् 'बहृती विमर्शिणी' से २२ वष पूव हुई।

इस विवरणके अनुसार अभिनवगुप्तने जिन तीन ग्रन्थोका रचनाकाल दिया है उनमेंसे सबसे प्रथम बनने वाले 'क्रमस्तोत्र' का रचना काल ९९० ई० है और सबसे अन्तमे बनने वाली 'बहृती बिमर्शिणी' का रचना काल १०१४ ई० है। अर्थात् इन दोनो रचनाओके बीचमें २४ वषका व्यवधान है। आगे चल कर हम देखेंगे कि अभिनवगुप्तने छोटे बडे सब मिला कर ४१ ग्रन्थ लिखे हैं। जब ४१ ग्रन्थोके इस विशालकाय साहित्यकी रचना केवल इन २४ वर्षोंमें सम्भव नही है इस लिए क्रमस्तोत्रके पहिले भी उन्होने कुछ रचनाएँ की होगी और 'बहृती-विमर्शिणी' के बाद भी उनका रचनाक्रम चलता रहा होगा। इसलिए क्रमस्तोत्रकी रचनाके समय हम अभिनवगुप्तकी आयु यदि ४० वषकी मान लें तो इसका अथ यह हुआ कि उनका जन्मकाल ९५० ई० बैठता है। और 'बहृती विमर्शिणी' के बाद १० ११ वष बाद तक उनका जीवनकाल १०२५ तक मान लेनेसे उनकी ७५ वषकी अवस्था होती है। इस ७५ वषके जीवन कालमें लगभग ४० वषका काल उनके साहित्यिक रचना कायका काल माना जा सकता है। इस ४० वषके साहित्यिक रचनाकालमे अभिनवगुप्तने सब मिलाकर ४० ग्रन्थोकी रचना की है। इस प्रकार अभिनवगुप्तके अपने लेखोके आधारपर उनका काल ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक बनता है।

अभिनवगुप्तके नामका रहस्य—

नाट्यशास्त्रके टीकाकार यह अभिनवगुप्त जिस 'अभिनवगुप्त' नामसे प्रसिद्ध हैं वह कदाचित् उनका असली जन्मका नाम नही है। उनका जन्मका नाम कुछ और था। यह नाम उनके गुरुजीने उनके गुणोके आधारपर रखा है ऐसा पूववर्ती विद्वानोंका मत है और, अभिनवगुप्त के लेखोसे भी उसकी पुष्टि सी होती है। अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनव गुप्तपाद' है। और उसके साथ सम्मानसूचक आचाय पद लगाया जाता है। इसलिए उनको सम्मानके साथ अभिनवगुप्तपादाचाय' कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचायने काव्यप्रकाशके चतुथ उल्लास में भरतमुनिके रस सूत्रकी विवेचनाके प्रसङ्गोमें जहाँ भट्ट लोल्लट, शकुक और भट्टनायकके मत दिखलाए हैं उनके साथ ही 'इनि अभिनवगुप्तपादाचार्या लिख कर अभिनवगुप्तके मतका भी उल्लेख किया है। इस स्थलपर काव्यप्रकाशकी 'बालबोधिनी' टीकामे वामनाचायने अभिनवगुप्तपाद नामका रहस्य प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'इदमत्र रहस्य पुरा किल क्वचिद्वलभौ पठता बहूना ब्राह्मणबालकानामध्ययनशाला सीत्। तत्र पठन् कश्चिद् गौडबालोऽति सौवुद्धया मुखरत्वाच्च निखिलाना बालाना भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्ट। स चाचायतामुपगत इति सकलरहस्याभिज्ञ श्री वाग्देवतावतारो [मम्मट] गुढ तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' इति वेदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।"

इन पक्तियोके अनुसार अभिनव गुप्तपाद इस नाममें 'अभिनव' पद नवीन अर्थात् शिशु या बाल अथका, और 'गुप्तपाद' यह सप या भुजङ्ग अथका व्यञ्जक है। सपके पैर बाहर दिखलाई

नही देते हैं वह अपनी छातीकी हड्डियोके बलसे ही आगे सरकता या चलता है इसलिए उसको 'गुप्तपाद' कहते हं। सप जिस प्रकार लोगोको भयभीतकर देने वाला होता है इसी प्रकार अपनी बाल्यावस्थामे अभिनवगुप्त बहुत शरारती और अपने साथके विद्यार्थियोको सदा भयभीत करने वाले थे इसी लिए इनके गुरुजीने बालकोके लिए भुजङ्गके समान त्रास दायक होने कारण इनका नाम 'अभिनव गुप्तपाद' रख दिया था। यह काव्यप्रकाशके टीकाकार वामनाचायके मतमे अभिनव गुप्तपाद नामका रहस्य है।

वामनाचायके इस उपाख्यानमें कहाँ तक सत्यता है यह नही कहा जा सकता है पर एक बात तो उसमें यह खटकती है कि इन पक्तियोमें इन अभिनवगुप्तको उन्होने 'गौड बाल' कहा है। अभिनवगुप्त तो काश्मीरी बालक थे उनके लिए 'गौड बाल' शब्दका प्रयोग उचित प्रतीत नही होता है। परन्तु इस कथाका सार भाग इतना ही है कि अभिनव गुप्तपाद यह नाम अभिनवगुप्तका निजी राशिनाम न हो कर गुरुप्रदत्त नाम था। इस बातकी पुष्टि अभिनवगुप्तके लेखसे भी होती है। तन्त्रालोक [१-१५०] में अभिनवगुप्तने लिखा है—

"अभिनवगुप्तस्य कृति सेय यस्योदिता गुरुभिराख्या।"

अर्थात् यह उस अभिनवगुप्तकी कृति है जिसका यह अभिनवगुप्तपाद नाम गुरुओने रखा है। जब ग्रन्थकार स्वय यह मानते हैं कि उनका अभिनव गुप्तपाद यह नाम गुरुओने रखा है तब वामनाचायने जो इसका कारण दिखलाया है वह भी ठीक ही होगा। बाल्यकालमे अभिनवगुप्तकी शरारतोको देख कर ही गुरुजनोने उसका यह नाम रख दिया होगा।

अभिनवगुप्तपाद नामका दूसरा रहस्य—

दक्षिण भारतमें भरत नाटयम्का बहुत अधिक प्रचार है। वहाके नत्यकार भरत नाटयशास्त्रके प्रतिपादित नियमोका कडाईके साथ पालन करते हुए ही नृत्य करते हैं। भरतमुनि ने नाटयशास्त्रके चतुथ अध्यायमे नृत्यके प्रसगमे जिस प्रकारके 'अङ्गहारो' और 'करणो' आदिका वणन किया है उन सबका ये लोग पूण रूपसे पालन करते हैं। भरतमुनिके प्रतिपादित १०८ प्रकारके करणोके चित्र भी वहाँ मन्दिरोमें प्रस्तर मूर्तियोके रूपमें अङ्कित किए गए ह। इन 'भरत नाटयम्' के अभिनेताओमें अभिनवगुप्तको शेषावतार माना जाता है। अभिनव गुप्तपाद नाम उनके शेषावतार होनेका सूचक है ऐसी दक्षिणी विचारधारा है।

अभिनवगुप्तके पूवज—

अभिनवगुप्तने अपने ग्रन्थोमें अपना और अपने पूवजोका परिचय काफी विस्तारके साथ दिया है। उसके देखनेसे विदित होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्त काश्मीरके निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज मूल रूपसे काश्मीर निवासी नही थे। वे वतमान उत्तर प्रदेशके कन्नौज नगरके, जो कि किसी समय एक प्रमुख राज्य था, निवासी थे। अभिनवगुप्तके जन्मसे लगभग २०० वष पूर्व आठवी शताब्दीमें इनके पूवज अत्रिगुप्त कन्नौजमे जाकर काश्मीरमें बसे थे। अत्रिगुप्तका काश्मीर प्रवास कोई सामान्य घटना नही है अपितु उसके पीछे एक विशेष इतिहास है। आठवीं शताब्दीमें कन्नौजमें यशोवर्मा नामके राजा राज्य करते थ। उनका समय (७३० ७४० के लगभग है) और काश्मीरमें उसी समयमें (७२५ ७६१) ललितादित्य नामक राजा राज्य करते

थे। इन ललितादित्यका यशोवर्माके साथ युद्ध हुआ और उस युद्धमे कन्नोजपति यशोवर्मा पराजित हो गए । इस युद्धका वर्णन काश्मीरके इतिहास ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' में विस्तारपूर्वक पाया जाता है। राजा ललितादित्यके कानो तक अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ता और ब्राह्मणोचित समस्त गुणोकी ख्याति पहिले ही पहुँच चुकी थी। उस समयके राजा महाराजा लोग विद्वानो का मान करने वाले और गुणग्राही होते थे। उनका ध्यान रत्न सम्पत्तिका सग्रह करनेकी ओर नही होता था। वे विद्वानोका सग्रह करनेमें विशेष आनन्द और गौरवका अनुभव करते थे। यही बात काश्मीर राज ललितादित्यके सम्बन्धमे थी । जब अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ताका समाचार उनको मिला तो उन्होने स्वय अत्रिगुप्तको काश्मीर पधारनेके लिए निमन्त्रित किया और राजकीय सम्मानके साथ उनको कन्नौजसे लाकर काश्मीरमें बसाया। और उनकी जीविका के लिए एक बडी भूसम्पत्ति उनको प्रदान कर दी। अभिनवगुप्तने इस घटनाका उल्लेख बहुत विस्तारके साथ किया है। भारतभूमिमे गगा जमुनाके बीचका जो प्रदेश है उसको 'अन्तर्वेदी' कहा जाता है। कन्नौजका राज्य भी इसी अन्तर्वेदीके भीतर था जहाँ कि अत्रिगुप्तकी जन्मभूमि थी। अत्रिगुप्त इस अन्तर्वेदीके रहने वाले थे और यहीसे जाकर काश्मीरमें बसे थे इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे लिखा है—

"अन्तर्वेद्यामात्रिगुप्ताभिधान प्राप्योत्पत्ति प्राविशत प्राग्रजन्मा।
श्री काश्मीराश्चन्द्रचूडणावतार निःसख्याकै पावितोपान्तभागान ॥"
(परात्रिंशिका विवरण २८० ।)

इस श्लोकमे तो सामान्य रूपसे यह कहा है कि अत्रिगुप्त अन्तर्वेदीमें उत्पन्न होकर बादको काश्मरी में जाकर बस गए थे। उनके काश्मीर जानेके कारण और उसकी सम्मान सूचक कथाका इस श्लोकमे कोई उल्लेख नही है। किन्तु 'तन्त्रालोक' में उन्होने उस कथाका भी सकेत करते हुए अत्रिगुप्तके काश्मीर प्रवासका वर्णन इस प्रकार किया है।

"निःशेषशास्त्रसदन किल मध्यदेश,
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्र,
शास्त्राब्धिचवर्णकलोद्यदगस्त्यगोत्र ॥
तमथ ललितादित्यो राजा स्वक पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्य हिमालयमूर्धगम् ॥"
(तन्त्रालोक अ० २७ ।)

इन श्लोकोका अर्थ यह है कि मध्यदेश अर्थात् अन्तर्वेदीका भाग सकल शास्त्रोके निष्णात विद्वानोकी खान है। उसमें सकल शास्त्र रूप समुद्रका पान कर जाने वाले अगस्त्यगोत्रमें अत्रिगुप्त नामके गुणवान् विद्वान् ब्राह्मण उत्पन्न हुए। काश्मीरके राजा ललितादित्य उनको अत्यन्त प्रेमपूर्वक हिमालयके शिखरपर स्थित अपने काश्मीर राज्यको लिवा ले गए।

अत्रिगुप्तको आदर पूर्वक काश्मीर ले जानेके बाद वहाँ राजा ललितादित्यने उनके लिए क्या व्यवस्था की इसका वर्णन भी अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में किया है। उससे

उन्होंने लिखा है—

"तस्मिन् कुबेरपुरचारु सितांशुमौलि—
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभागे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे,
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूमिसम्पत् ॥"

अर्थात् अत्रिगुप्तको काश्मीर ले जाकर राजा ललितादित्यने वहां सितांशुमौलि शिवजीके प्रसिद्ध मंदिरके सामने होनेसे जिसकी पवित्रता और भी अधिक बढ़ जाती है इस प्रकारकी वितस्ता (झेलम) नदीके किनारेपर इन अत्रिगुप्तकेलिए अत्यंत सुंदर (कुबेरपुरचारु) निवास भवनका निर्माण कराया और उनको एक बडी जागीर देकर वहाँ आदरपूर्वक बसा दिया ।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने अपने लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती पूर्वज अत्रिगुप्तके काश्मीर जानेकी कथाका वर्णन विस्तारके साथ किया है । उसके बाद बीचके बहुत काल का वृत्तान्त छोड कर फिर अपने बाबा 'वराहगुप्त' से इस इतिहासका सूत्र चालू किया है । इस सूत्रमें अपने बाबा वराहगुप्त, अपने पिता नरसिंहगुप्त और अपने चचा, भाई, आदिका वर्णन किया है । इसमें अपने बाबाका वर्णन करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"तस्या वये महति कोऽपि वराहगुप्त—
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले ।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा—
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥"

अपने बाबा वराहगुप्तका उल्लेख करनेके बाद अपने पिताका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"तस्यात्मज चुलुखकेति जने प्रसिद्ध—
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।
य सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्त
माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्ति ॥"

अर्थात अत्रिगुप्तके वंशमें वराहगुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके बाबा थे । वराहगुप्तके पुत्र नरसिंह गुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके पिता थे । उनको लोग 'चुलुखक' नामसे भी पुकारते थे । यही उनका अधिक प्रसिद्ध नाम था । उनके चाचाका नाम वामनगुप्त था । अभिनवभारतीमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तका एक श्लोक विशेष रूपसे उद्धृत किया है । जिससे प्रतीत होता है कि वे एक अच्छे कवि भी थे । श्लोक वामनगुप्तके नाम सहित निम्न प्रकारसे उद्धृत किया गया है—

"तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—
लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष,
सम्म यते यदि किमङ्ग वदाम नाम ।
यत्वत्र हासमुखरस्त्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥"

इस उद्धरणमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तको अपना पितृव्य [चाचा] बतलाया है । अगले श्लोकमें उन्होंने अपने अन्य सम्बन्धियोंमें अपने पाँच चचेरे भाइयोंके नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

"अन्ये पितृ यतनया शिवभक्तिशुभ्रा क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ता ।
ते सम्पद तृणमसत शम्भुसेवा सम्पूरित स्वहृदय हृदि भावयन्त ।।"

अर्थात् १ क्षेमगुप्त, २ उत्पलगुप्त, ३ अभिनवगुप्त ४ चक्रकगुप्त और ५ पदमगुप्त ये पाँच चचेरे भाई थे जो शिवकी भक्तिके सामने सम्पत्तिको तृणके समान त्याज्य समझते थे ।

श्री कौल महोदयकी भ्रान्ति—

अभिनवगुप्तके माता पिता और अन्य सम्बन्धियोका जो उल्लेख ऊपर किया गया है वह स्वय अभिनवगुप्तके लेखोके आधारपर ही किया गया है । किन्तु काश्मीर रिसर्च विभागके श्री मधुसूदन कौल महोदयने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी' की भूमिकामे पृ० ७ पर यह लिखा है—

"अभिनवगुप्तने प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका अध्ययन अपने पिता लक्ष्मणगुप्तसे किया जो लक्ष्मण गुप्त नरसिंहगुप्तके पुत्र और उत्पलके शिष्य थे ।"

कौल महोदयका यह लेख सर्वथा अशुद्ध असगत एव प्रमादपूर्ण है । लक्ष्मणगुप्त अभिनवगुप्त के गुरु तो अवश्य हैं किन्तु उनके पिता नही हैं । लक्ष्मणगुप्तने अभिनवगुप्तको प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी शिक्षा दी थी इसलिए—

"तद्दृष्टिसमृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिन ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वच ।।" मालिनी विजय वार्तिक २

इस श्लोकमें प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका उपदेश करने वाले लक्ष्मणगुप्तको अभिनवगुप्तने गुरुके रूपमे स्मरण अवश्य किया है किन्तु यहाँ गुरु शब्द गुरुका ही वाचक है पिताका बोधक नही है । और न वे लक्ष्मणगुप्तके पुत्र ही हैं । कौल महोदयका यह सारा लेख ही भ्रान्तिपूर्ण है ।

अभिनवगुप्तके गुरु—

अभिनवगुप्तके मनमें विद्योपार्जनकी बडी प्रबल उत्कण्ठा थी । वे प्रत्येक विषयका पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना चाहते थे इसलिए जिस विषयका जो सबसे प्रमुख विद्वान् उस समय माना जाता था उस विषयका अध्ययन उन्होने उसी विद्वान्की सेवामें उपस्थित होकर किया । इसलिए उनके गुरुओंकी सूची बहुत लम्बी हो गई है । अपने ग्रन्थोमे इन्होने अपने इन सब गुरुओका उल्लेख बडी श्रद्धाके साथ किया है और यह भी लिखा है कि किस गुरुसे विशेष रूपसे किस विषयका अध्ययन किया है । इस प्रकार विषयोंके नामोंके सहित सात गुरुओका उल्लेख अभिनवगुप्तने किया है । उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१ नरसिंहगुप्त [ग्रन्थकारके पिता]	व्याकरण शास्त्रके गुरु
२ वामनाथ	द्वैताद्वैत तन्त्रके गुरु
३ भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैव सम्प्रदायके गुरु
४ लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शनके गुरु
५ इन्दुराज	ध्वनि सिद्धान्तके गुरु
६ भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७ भट्टतोत	नाटयशास्त्रके गुरु

इनके अतिरिक्त १३ गुरुओके नाम और भी दिए हु जिनसे इ होने किसी न किसी विषयका अध्ययन किया था। कि तु उनमें किससे किस विषयका अध्ययन किया था इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। इस तरहके विद्वानोके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ श्रीच द	२ भक्तिविलास
३ योगान द	४ च द्रवर
५ अभिन द	६ शिवभक्त
७ विचित्रनाथ	८ धर्मानि द
६ शिव	१० वामन
११ उद्भट	१२ भूतीश
	१३ भास्कर

इस प्रकार अभिनवगुप्तके गुरुओकी सख्या २० हो जाती है। इन सबका वरान प्राय 'त त्रालोक' में किया गया है। इनके आधारभूत श्लोक हमने अपने अभिनवभारतीकी व्याख्यामें आगे उद्धत कर दिए हु इस लिए यहाँ दुबारा नही दे रहे हु।

अभिनवगुप्तका जीवनवृत्त—

अभिनवगुप्तके परिवारका जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है उसके देखनेसे विदित होता है कि उनके पिता एक प्रकाण्ड विद्वान् और परम शिव भक्त थे। उनकी माता भी उसी प्रकार परम धमशीला थी। और अभिनवगुप्त उन दोनोके विशेष रूपमे 'योगिनीभू' पुत्र थे। इस लिए एक 'योगिनीभू पुत्र' में जो गुण आने चाहिए वे सब उनमें पाए जाते थे। 'योगिनीभूः पुत्र मे पाए जाने वाले गुणोका उल्लेख अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार किया है—

"रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्य प्रतिष्ठित ।
सति तस्मिश्च चिन्हानि तस्यैतानि विलक्षयेत ॥
तत्रैतत् प्रथम चि ह रुद्रे भक्ति सुनिश्चला ।
द्वितीय म त्रसिद्धि स्यात सद्य प्रत्ययकारिका ॥
सर्वतत्वशिवत्व च ततीय लक्षण स्मतम् ।
प्रारब्धकायनिष्पत्तिरिच ह्माहुश्चतुथकम् ॥
कवित्व पचम ज्ञेय सालकार मनोहरम् ।
सवशास्त्राथवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥"

त त्रालोक टीका ८ १३७।

ये सारेके सारे चि ह अभिनवगुप्तके भीतर पाए जाते थे इसका उल्लेख त त्रालोककी टीकामें जयरथने निम्न प्रकारसे किया है—

"समस्तं चेद चिह्नजातमस्मि नेव ग्र थकारे प्रादुरभूदिति प्रसिद्धि ।"

इस प्रकारके अत्यन्त उत्कृष्ट वातावरणमें रहने और स्वय इतने उत्कृष्ट चरित्रके व्यक्ति होनेपर भी अभिनवगुप्तका जीवन एक सुखी जीवन नहीं कहा जा सकता है। उसमें कही माधुय नही है। आदिसे अन्त तक एकदम शुष्क, एकदम नीरस था उनका जीवन। इसका कारण था उनका

बाल्यावस्थामें ही माता पिताकी स्निग्ध मधुर छत्र छायासे विलग हो जाना। जीवनका माधुर्य और सरसता दो ही जगह पाई जाती है या तो माताकी मीठी गोदमें, या फिर पत्नीके प्रेमालिङ्गन में। पर बिचारे अभिनवगुप्तको इन दोनोमेसे किसीका सुख नही मिल सका। माताकी मीठी गोद तो मिली किन्तु बहुत थोडे समयकेलिए। बाल्यपनमें माता उनको छोड कर चली गई। 'माता व्ययूयुजदमु किल बाल्य एव'। बाल्यकालमें ही माताके स्नेह से वञ्चित बालकका जीवनका एक दम शुष्क और नीरस हो जाना स्वाभाविक है। यह शुष्कता एव नीरसता मनुष्यको दार्शनिकताकी ओर प्रेरित करती है। अभिनवगुप्तके मातवियोगने भी उनको दार्शनिक मार्गका पथिक बना दिया। उन्होने इस मातवियोग जैसी घटनाको भी एक दार्शनिककी भांति भावी कल्याणके सूचकके रूपमें ग्रहण किया। और उसे अपने भावी जीवनका संस्काराधायक मान कर उसपर संतोष व्यक्त करते हुए लिखा है—

'माता व्ययूयुजदमु किल बाल्य एव
दवो हि भावि परिकर्मणि संस्करोति।'' तन्त्रालोक ३७।

पर यह दार्शनिक सन्तोष तो केवल संतोषका मार्ग है। वह स्नेहकी मधुर स्मृतियोको थोडे समयके लिए भुला सकता है, दबा सकता है पर सदाकेलिए नही। अभिनवगुप्त भी अपनी माताको भुला नही सके। वह जीवनव्यापी दर्द उन्हे सदा बना रहा है। और तन्त्रालोकमें अपने मातस्नेहको बडे वेदनामय शब्दोमें व्यक्त करते हुए लिखा है—

''माता पर बन्धुरिति प्रवाद
स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।'' तन्त्रालोक ३७।

इन शब्दोके भीतरसे अभिनवगुप्तकी मातवियोगकी वेदना फूटी सी पड रही है। मातवियोगका दुःख स्वयं ही एक महान् विपत्ति हैं किन्तु बालक अभिनवगुप्तके ऊपर तो इसीके साथ पितृ वियोग का भी वज्रपात हो गया। अभिनवगुप्तके पिता अपनी पत्नीको बहुत प्रेम करते थे। उसके देहावसानके बाद 'जगज्जीर्णारण्य भवति कलत्रेऽप्युपरते'—नरसिंह गुप्तकेलिए यह सारा जगत ही शून्य और 'जीर्णारण्य' बन गया। पुत्रका प्रेम भी उनको अधिक काल तक रोक नही सका और पत्नीके देहान्तके कुछ समय बाद वे घरको छोड कर चले गए। यद्यपि इस समय उनकी अवस्थाका जो वर्णन अभिनवगुप्तने किया है उसमे उसे 'तारुण्यसागरतरङ्गभङ्गोसे पूर्ण' कहा है। परन्तु अपने उस तारुण्य और अपने पुत्र प्रेम दोनोंको दबा कर वे हठात विरक्त हो कर घरसे चले गए। अभिनवगुप्तने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

''तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढ हठेन॥'' तन्त्रालोक ३७।

माताके बाद थोडा सा सहारा था पिताका। पर जब पिता भी छोड कर चले गए तो अभिनवगुप्त को भी अपने जीवनकी धारामे परिवर्तन करना पडा। जब तक माता पिताकी छत्रच्छायामें थे तब तक उनका सारा जीवन सरस और सुखद था। इस लिए उस कालमे उनकी बुद्धि भी साहित्य जैसे सरस और सुखद विषयके अध्ययनमें लगी हुई थी। किन्तु माता पिताके वियोगजन्य तीव्र तापने जब जीवनकी सरसता और स्नेहके स्रोतको ही सुखा डाला तब अभिनवगुप्तका चित्त

साहित्यके अध्ययनकी ओरसे विरक्त हो गया। और उनकी सरस कोमल भावनाओंके स्थानपर शिवके प्रति भक्तिकी भावनाने अपना अधिकार जमा लिया। अभिनवगुप्त अ य सब सांसारिक विषयोसे विरक्त होकर शिवकी उपासना और उसके साधनभूत आगमोके अध्ययनमें प्रवृत्त हो गए। उ होने अपनी जीवन धाराके इस परिवतनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

> "साहित्यसा द्ररसभोगपरो महेश—
> भक्त्या स्वयग्रहणदुमदया गृहीत ।
> स त मयीभूय न लोकवतनी—
> मजीगणत् कामपि केवल पुन ॥
> तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा
> करोति दास्य गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥'

यो तो इस डेढ़ श्लोकमें अभिनवगुप्तने अपने वैराग्यका वणन किया है। पर आखिर तो कवि ठहरे, उस वैराग्य वणनमे भी उ होने शृङ्गारका मधुर पुट लगा ही दिया है। अभिनवगुप्तको साहित्यके 'रस भोग' में लगा हुआ देख कर महेश भक्ति रूप नायिका उ मत्त हो उठी और उसने स्वय जाकर अभिनवगुप्तको पकड लिया। दुमद नायिकाके स्वयग्रहणके बाद और होना ही क्या था अभिनव गुप्त भी सब कुछ भूल कर 'स त मयीभूय'—'तन्मय हो कर',—'न लोकवतनीमजीगणत् कामपि' लोक लाज और लोक व्यवहार सबको भुला बैठे। और उसके साथ अर्थात् महेशभक्ति रूप नायिका के साथ अधिकाधिक भोग करने केलिए गुरुओके घरोपर दास्य कम भी स्वीकार किया। अर्थात् गुरुओके यहाँ सेवा-काय करके आगमोका अध्ययन करने लगे। यह वराग्यका कितना सु दर और सरस वणन है। वैराग्यका इससे अधिक और सरस वणन क्या होगा।

पर यह सरसता रही मानसिक कल्पना। असली 'रस भोग' तो उनके भाग्यमें था नही तब इस मानसिक सम्भोगसे ही उ होने स तोष करने का यत्न किया है। माता और पिताके प्रेमसे वञ्चित होनेके बाद पत्नीका प्रेम रह जाता है जो जीवनको सरस बना देता है। पर अभिनवगुप्त केलिए अब उसका भी अवसर नही रहा था। भक्ति नायिकाके ब धनमें फस जानेके बाद अब किसी दूसरी नायिकाके लिए उनके हृदयमें स्थान कहाँ निकल सकता था। इसलिए विवाहका प्रश्न यावज्जीवन उनके सामने नहीं आया। और इस प्रकार माता पिताके वियोगने अभिनवगुप्त के जीवनकी सारी सरसताको सुखा कर 'दारा सुतप्रभृतिब धुकथामनाप्त' पत्नी पुत्रादि सम्ब धियो की चर्चासे रहित होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारीके रूपमे सारा जीवन एकाकी यतीत करनेकेलिए बाधित कर दिया। इन दु खमय परिस्थितियोंने ही साहित्यिक अभिनवगुप्तके जीवनमें महान् परिवतन करके दाशनिक अभिनवगुप्तकी सृष्टि की है।

अभिनवगुप्तके ग्र थ—

अभिनवगुप्तके गुरुओंके समान उनके ग्र थोकी सूची भी बहुत लम्बी है। ससारके अ य कार्योंसे विरक्त हो जानेके बाद अब एक अध्ययन और दूसरा ग्र थोकी रचना—ये दोनो उनके साधनभूत व्यापार थे, और मुख्य साध्य थी शिव भक्ति। शिवकी भक्ति या उपासनासे जितना भी समय बचता था, वह इ ही दोनो कार्यों में व्यय होता था। जहाँ कही उ हे किसी विषयके

उद्भट विद्वान या किसी उच्च कोटिके साधकका पता लगता था वे उसके पास पहुँच कर जो कुछ भी विद्या या साधना उपलब्ध हो सकती थी उसको ग्रहण करनेमें नही चूकते थे। काश्मीर और काश्मीरके बाहर भी जाकर उन्होने विभिन्न विशिष्ट विद्वानोसे विद्या ग्रहण की और उस विशाल ज्ञान राशिके आधारपर उन्होने विशाल साहित्यका निर्माण किया। उनकी छोटी बडी सब मिलाकर ४१ कृतिया पाई जाती हैं।

अभिनवगुप्तकी ४१ कृतियोमेसे ११ कृतियाँ ग्रन्थ रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके रचना क्रमका निर्धारण भी इस आधारपर किया जा सकता है कि उन्होने अपने ग्रन्थोके उद्धरण अपने दूसरे ग्रन्थोमे दिए हैं। अत एक ग्रन्थ जिसका कि उद्धरण या उल्लेख दूसरे ग्रन्थमे पाया जाता है वह निश्चय ही दूसरे ग्रन्थके पूर्व लिखा गया है। जैसे 'बोधपञ्चदशिकामध्ये मया स्फुटमुक्तम्' इन शब्दोमें 'मालिनीविजयतन्त्र' में 'बोधपञ्चदशिका' उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि बोधपञ्चदशिका की रचना 'मालिनीविजयतन्त्र' के पहिले हुई है। इसी प्रकार 'मालिनीविजयवार्तिक तथा 'परात्रीशिका', जिसका कि दूसरा नाम 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' भी है, का उल्लेख 'तन्त्रालोक' में पाया जाता है इसलिए ये दोनो ग्रन्थ तन्त्रालोक' की रचनाके पूव लिखे गए हैं। तन्त्रालोकमें मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"मयैतत् स्रोतसा रूप अनुत्तरपदाद ध्रुवात्।
आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके॥" तन्त्रालोक ३७।

इसी प्रकार 'परात्रीशिका' या 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' का उल्लेख भी तन्त्रालोकमे निम्न प्रकारसे किया गया है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियाया वैतत्येऽन प्रदर्शितम्।
एतत् तस्मात् तथा पश्येत् विस्तरार्थी विवेचक॥" तन्त्रालोक ६–२४९

इस श्लोककी टीकामे जयरथने 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियायामिति परात्रीशिकाविवरणादावित्यथ।"

इस प्रकार 'तन्त्रालोक' में 'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिकाविवरण' दोनो का उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों ग्रन्थोकी रचना 'तन्त्रालोक' की रचनाके पूव हुई है।

'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिका विवरण' में से किसीका उल्लेख एक दूसरे ग्रन्थमें नही पाया जाता है। इसलिए इस आधारपर तो उनके रचना-क्रमका निर्धारण नही किया जा सकता फिर भी 'मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख 'तन्त्रालोक' के ऊपर उद्धत जिस श्लोकमें किया गया है उसमे जो अनुत्तरपदाद ध्रुवात आरभ्य विस्तरेणोक्त मालिनीश्लोकवार्तिके' यह लिखा है इसमें 'अनुत्तरपदसे आरम्भ करके' इस पदसे यह सूचित होता है कि अनुत्तरपद प्रक्रिया' का वर्णन करने वाले 'परात्रीशिका विवरण' की रचना मालिनीविजयवार्तिक' के पहिले हुई थी। यद्यपि अन्य विद्वानोने 'मालिनीविजयवार्तिक' को 'परात्रीशिका विवरण' के पहले स्थान दिया है किन्तु इस विषयमे उन्होने जो युक्तियाँ दी हैं उनमें कोई सार दिखलाई नही देता है। इसलिए वह मत ठीक नही है।

इस प्रकार उत्तरग्र थमे पूव ग्र थके उल्लेख रूप निर्धा त प्रमाणके आधारपर अभिनव-गुप्तके ११ प्रकाशित ग्र थोके रचना क्रमका निर्धारण करके ही अब आगे हम उसी क्रमसे इन ११ प्रकाशित ग्र थोका थोडा थोडा परिचय दे देना चाहते हैं।

१ बोधपञ्चदशिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्र थोमे बोधपञ्चदशिका' सबसे पहिला ग्र थ है। जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह शैवसम्प्रदायके मतानुसार शिव और शक्तिके स्वरूप, उनके सम्ब ध, उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति ब धके कारण, तथा उनके स्वरूप मोक्षोपाय तथा मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए लिखा गया १५ श्लोकोका ग्र थ है। वैसे ग्र थमे सोलह श्लोक हैं। कि तु मुख्य विषयके प्रतिपादक १५ श्लोक ही हं। सोलहवें श्लोकमे ग्र थके निर्माणका प्रयोजन निम्न प्रकार दिखलाया गया है—

सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोका पञ्चदशोदिता॥"

अर्थात सुकुमारमति वाले शिष्योको शैव सिद्धा तका सरलतासे बोध करानेकेलिए अभिन गुप्तने इन प द्रह श्लोकोकी रचना की है।

२ परात्रीशिका विवरण—

यह ग्र थ त त्रशास्त्रसे सम्ब ध रखने वाला ग्र थ है। वैदिक विद्वान् जैसे वेदोंको अपौरुषेय और नित्य मानते हैं इसी प्रकार ता त्रिक त त्रग्र थोको भी अनादि मानते हैं। वेदा त दशनके समान त त्रोमें भी द्वैतवादी, अद्वैतवादी और द्वैताद्वैतवादी तीन प्रकारके त त्र पाए जाते हैं। द्वैतवादी १० त त्र द्वैताद्वैतवादी १८ त त्र तथा अद्वैतवादी ६४ त त्र माने जाते हैं। अद्वैतवादी ६४ त त्रो को आठ आठ त त्र करके आठ वर्गोमें विभक्त किया गया है। इनके प्रत्येक वगके अलग अलग नाम हैं। इन अद्वैतवादी त त्रोके द्वितीय वगका नाम यामल त त्र' है। यामल वगके त त्रोमे जिन आठ त त्रोका समावेश किया जाता है उनमे सातवें त त्रका नाम रुद्र त त्र' है। इस 'रुद्रत त्र' का अ तिमभाग परात्रीशिका' कहलाता है। इसका शुद्ध नाम परात्रीशिका' है कि तु अनेक विद्वान् इसे परात्रिंशिका' भी कहते है। 'बोधपञ्चदशिका' में जसे १५ श्लोक है इसी प्रकार इस परात्रिंशिका' नामसे यह प्रतीत होता है कि इस ग्र थमें ३० श्लोक होंगे। पर तु यह बात नहीं है। इस ग्र थमें ३० से कही अधिक श्लाक है। अभिनवगुप्तने जब परात्रीशिका' पर अपना यह विवरण ग्र थ लिखा तो इसके नामका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता विशेष रूपसे अनुभव हुई। पहिले उ होने परात्रीशिका इस नामकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"त्रीशिका इति तिसृणा शक्तीना इच्छा ज्ञान क्रियाणा ईशिका च ईश्वरी।"

अर्थात् परा शक्तिकी इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियोका प्रतिपादन होनेसे यह 'परात्रीशिका' नाम रखा गया है। इस प्रकार 'त्रीशिका' नामकी व्याख्याके बाद त्रिंशिका' नाम पर भी टिप्पणी की है—

त्रिंशिका' इत्यपि गुरव पठन्ति, अक्षरवादसाम्यात् न तु त्रिंशत् श्लोक योगात् त्रिंशिका।

अर्थात गुरुजन इस ग्र थको 'परात्रिशिका' भी कहते हैं। किन्तु यह 'त्रिशिका' पद केवल अक्षरोके उच्चारणकी समानताके कारण प्रयुक्त होता है। तीस श्लोकोके सम्ब धके कारण इसको 'त्रिशिका' नही कहा जाता है। इस 'परात्रिशिका' को 'त्रिकसूत्र भी कहा जाता है। तन्त्रालोक' की टीकामे जयरथने लिखा है—

"उक्त श्री त्रिकसूत्रे च—
श्री त्रिकसूत्रे इति त्रिक प्रमेयसूचिकाया परात्रीशिकायामित्यथ ।"

अर्थात् 'त्रिक सूत्र' शब्दसे त्रिक-दशनके प्रमेयोका वणन करने वाले 'परात्रीशिका' ग्र थका ग्रहण करना चाहिए। जयरथकी इस व्याख्यासे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस 'परात्रीशिका' ग्र थमे 'त्रिक दशन' के प्रमेय पदार्थोंका ही वणन किया गया है।

यह 'परात्रीशिका' ग्र थ अद्वैतवादी यामल तन्त्रो'के वगमे आए हुए 'रुद्रत त्र'का अ तिम भाग है, जैसे यजुर्वेदका अ तिम अध्याय 'ईशोपनिषद' कहलाता है। इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या रूपमें अभिनवगुप्तने अपने 'परात्रीशिका विवरण' नामक इस ग्र थकी रचना की है। मूल 'परात्रीशिका' ग्र थ बहुत कालसे वि०ानोमें समादृत था और उसपर अनेक शैव विद्वानोने टीकाएँ लिखी थी। इनमेसे कुछ टीकाओका अभिनवगुप्तने बडे आदरके साथ इस प्रकार उल्लेख किया है—

"श्रीसोमानन्दकल्याण भवभूतिपुरोगमा ।
तथा हि त्रीशिकाशास्त्र विवतौ तेऽभ्यधु बुधा ॥"

'त्रीशिका' के इन तीन प्राचीन टीकाकारोमे सोमान द तथा कल्याणके साथ साथ भवभूतिका नाम भी पाया जाता है। इन तीनो टीकाकारोका उल्लेख तो अभिनवगुप्तने आदरके साथ किया है। किन्तु उनके अतिरिक्त 'परात्रीशिका' की कुछ और टीकाएँ भी की गई थी। अभिनवगुप्तने उनका उल्लेख बडे अनादरके साथ करते हुए उनके टीकाकारोको पदवाक्यसस्कार विहीन कहा है और उनकी चर्चा करनेमें भी अपनी अरुचि दिखलाते हुए लिखा है—

'इतीदृग व्याख्यान त्यक्त्वा यदन्यैर्व्याख्यातम्। यद्यपि पदवाक्यसस्कारविहीन सह गोष्ठी कृता भवति'।

'परात्रीशिका' की रचना भैरव तथा भैरवीके बीच सवादके रूपमें हुई है। भैरवी प्रश्न करती है और भैरव उत्तर देते हैं। भैरवीने 'अनुत्तरतत्त्व' के विषयमे भैरवसे प्रश्न किया है—

"अनुत्तर कथ देव सद्य. कौलिकसिद्धिदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमता व्रजेत ॥"

इसके उत्तरमें जो कुछ कहा गया है उसका भाव वही है जो वेदान्त ग्रन्थोमे 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' के शब्दोमें व्यक्त किया जाता है।

३ मालिनीविजयवार्तिक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमें तीसरा ग्रन्थ 'मालिनीविजयवार्तिक' है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है यह 'मालिनीविजय' नामक त त्र ग्रन्थके ऊपर वार्तिक या व्याख्यके

रूपमें लिखा गया है । 'मालिनीविजयत त्र' को श्रीपूवशास्त्र भी कहते ह । इस ग्र थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने म द्र तथा करण नाम दो शिष्यो के अत्य त आग्रहसे प्रेरित हो कर की हैं—इस बात का उल्लेख उ होने इस ग्र थ के आरम्भमें इस प्रकार किया है—

सच्छिष्य-करण म द्रभ्या चोदितोऽह पुन पुन ।
वाक्याथ कथये श्रीम मालि या यत् क्वचित क्वचित ।।

'मालिनीविजयत त्र' कोई बहुत बडा ग्र थ मालूम होता है । उसके सम्पूरण ग्र थपर व्याख्या करनेका विचार भी अभिनवगुप्तका नही जान पडता है । इसी लिए यहा ऊपरके श्लोकमें क्वचित् क्वचित' का प्रयोग किया है । मालिनीविजयवार्तिक' का जो भाग मुद्रित हुआ है उसमें केवल दो अध्याय हैं । उन दो अध्यायोमे भी केवल एक श्लोक की व्याख्या की गई है । इस ग्र थकी रचना अभिनव गुप्तने अपने म द्र नामक शिष्यके आग्रहसे की है । यह म द्र नामक शिष्य अभिनवगुप्तका बडा प्रिय शिष्य था । माता पिताके वियोगके बाद अभिनवगुप्त अपना मानसिक स तुलन खो बैठे थे और कुछ विक्षिप्त रहने लगे थे । उस समय—

विक्षिप्तभावपरिहारमसौ चिकीषन्
म द्र स्वके पुरवरे स्थिततिमस्य चक्रे ।

म द्र नामक यह शिष्य अभिनवगुप्त को उनके घरसे हटा कर अपने 'प्रवरपुर' नगरमें ले गए और वही उनके रहने का प्रब ध कर दिया । वही 'प्रवरपुर' नामक नगरके पूव भाग में रह कर अभिनवगुप्तने इस मालिनीविजय के प्रथम श्लोकको व्यारया रूप 'मालिनीविजयवार्तिक' ग्र थ की रचना की—

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्त ।
मालि यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ।।

यद्यपि 'मालिनीविजयत त्री' के एक ही श्लोक पर यह वार्तिक लिखा गया है और उसके दो ही अध्याय प्रकाशित हुए हैं कि तु इसके १८ वे अध्याय का उल्लेख अभिनवगुप्तने इसी ग्र थमे कई बार किया है—

एतदष्टादशे तत्क्माधिकरे भविष्यति । मा० वि० वा० ५८
अष्टादशे तत्पटले तत्व सम्यग् विभाव्यते । मा० वि० वा० १०४

आदि विविध उल्लेखोसे ज्ञात होता है कि वे इस १८ अध्याय तक तो लिखना ही चाहते थे कि तु ऐसा विदित होता है कि बहुत विस्तत ग्र थ हो जाने के भयसे वे आगे उसको लिख नही सके । दो अध्याय तक जो लिखा जा सका था, वह प्रकाशित हो गया ।

४ तन्त्रालोक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित् ग्र थोमें चौथा ग्र थ त त्रालोक है । यह उनका सबसे अधिक महत्त्वपूरण और सबसे बडा ग्र थ है । अद्वतवादी ६४ त त्रोका उल्लेख पहिले किया जा चुका है—उन सबके विषयोका प्रतिपादन इसमें विस्तारपूवक किया गया है । इस ग्र थ की रचना मुख्य रूपसे कौल सिद्धा त और त त्र सिद्धा त इन दो के वणनके लिए ही की गई है कि तु इनके अतिरिक्त क्रम सिद्धा त, प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त आदि अन्य विषयोपर भी उसमें अनेक स्थानोपर

प्रामाणिक रूपसे चर्चा की गई है। इस विशेषता को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

वक्ष्यमाणस्य कुल-त न्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—
'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'

इत्यादिदृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शितम्।

'सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता' से अभिनवगुप्तने सर्वशास्त्रों पर अपने अधिकार को सूचित किया है इस लिए इसमें उन्होंने किसी भी विषयपर जो कुछ लिखा है वह उस उस शास्त्र के विशेष आचार्योंके वचनोंके समान ही प्रामाणिक है यह बात सूचित की है। तन्त्रालोक की प्रशंसामें अभिनवगुप्त ने लिखा है—

इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः।
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षात् भैरवो भवेत्॥ १ १२८।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३७ आह्निक हैं किन्तु अभी तक इसके केवल १४ आह्निक प्रकाशित हुए हैं। उनके ऊपर जयरथकी टीका भी प्रकाशित हुई है। जयरथकी टीका सहित तन्त्रालोकके १४ आह्निक आठ बडी-बडी जिल्दोंमें प्रकाशित हो सके हैं। इससे ग्रन्थके विशाल आकारका अनुमान किया जा सकता है। २३ आह्निक और शेष हैं। इसी हिसाबसे यदि शेष आह्निकोंका भी कलेवर हुआ तो लगभग २० भागोंमें उसकी समाप्ति हो सकेगी। तन्त्रालोकके जो १४ आह्निक अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमेंसे आदिके पाँच, नवम तथा त्रयोदश आह्निक दार्शनिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अभिनवभारतीके आरम्भके मङ्गल श्लोकमें 'षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' आदिमें अभिनवगुप्तने शैव दर्शनके जिन ३६ तत्त्वोंकी ओर संकेत किया है उनका प्रतिपादन नवम, आह्निकमें किया गया है इस लिए उस आह्निकका और भी अधिक महत्व है। इस ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' क्यों रखा है इसका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः स्वयं सञ्चरति क्रियासु।'

अर्थात् इसका आलोक पाकर लोक सारे व्यापार उचित रीतिसे सरलतापूर्वक कर सकता है इस लिए इसका नाम 'तन्त्रालोक' अन्वर्थ ही है। 'मालिनीविजयवार्तिक'के समान इस ग्रन्थकी रचना भी उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मन्द्र, मनोरथ तथा अन्य शिव-भक्तोंके आग्रहसे प्रेरितकी है।

५ ६ तन्त्रसार तथा तन्त्रवटधानिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमेंसे अगले दो ग्रन्थ हैं तन्त्रसार तथा तन्त्रवटधानिका'। इनके नाम से ही इनके विषयका अनुमान किया जा सकता है। 'तन्त्रसार', 'तन्त्रालोक'का संक्षिप्त रूप है। और 'तन्त्रवटधानिका' तन्त्र-रूप वट-वृक्षके बीजके समान—उससे भी कहीं अधिक छोटा रूप। सिद्धान्तकौमुदी मध्यकौमुदी और लघुकौमुदीके समान 'तन्त्रालोक' के ये तीन रूप हैं। विशाल ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' है, उसका मध्यवर्ती संक्षिप्त रूप 'तन्त्रसार' है और उसका अत्यन्त संक्षिप्त लघुतम रूप 'तन्त्रवटधानिका' है।

७ ८ ध्व यालोकलोचन तथा अभिनवभारती—

अब तक जिन प्रकाशित ६ ग्र थोका उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब शैव दर्शनसे सम्ब ध रखने वाले दार्शनिक ग्र थ हैं। अगले दो ग्र थ ध्व यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' साहित्यशास्त्रसे सम्ब ध रखने वाले अत्य त महत्वपूर्ण ग्र थ हैं। अभिनवके दार्शनिक ग्र थोका परिचय लोगोको कम है कि तु उनके ध्व यालोक लोचन तथा अभिनवभारतीका परिचय उनकी अपेक्षा कही अधिक है विशेष रूपसे ध्व यालोक-लोचनके द्वारा ही उनको साहित्यिक जगत्में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। ध्व यालोक आन दवर्धनाचार्यका ध्वनि विषयक प्रसिद्ध ग्र थ है। उसपर अभिनवगुप्तने लोचन' नामक टीका लिखी है। उसका नाम 'ध्व यालोकलोचन' है। इसी प्रकार भरतमुनिके नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है उसका नाम 'अभिनवभारती' है।

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम् [अभि० ३३४ व० स०] —लिख कर ग्र थकारने जिस सहृदयालोकलोचनका उल्लेख किया है वह 'ध्व यालोकलोचन का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अभिनवभारतीमें ध्वन्यालोकलोचनका उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि 'ध्व यालोकलोचन' की रचना 'अभिनवभारती' के पहिले हुई है। और ध्व यालोकलोचनमें पृष्ठ १ पर 'त त्रालोकग्र थे विचार्य' इन शब्दोमें 'त त्रालोक' का उल्लेख मिलता है इस लिए इन दोनो साहित्य ग्र थोकी रचना त त्रालोकके बाद हुई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अभिनवभारतीके विषयमें हम आगे लिखेंगे।

९ भगवद्गीतार्थसग्रह—

अभिनवगुप्तके पिछले दार्शनिक ग्र थोकी रचना शव ग्र थोकी व्याख्याके रूपमें हुई थी। 'भगवद्गीतार्थसग्रह' ऐसा ग्र थ है जो शव ग्र थ नही है कि तु इसपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है वह शवदृष्टिकोणसे ही लिखी है। यद्यपि शैवागमोकी उत्पत्ति तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई है कि तु शैव विद्वान् उनको वेदोके समान ही अनादि मानते हैं। इस लिए उनकी दृष्टिमें शैवागम कृष्णकी गीतासे भी कही अधिक प्राचीन हैं। हरिवश पुराणके अनुसार कृष्णने ६४ अद्वैतवादी त त्रोका अध्ययन दुर्वासा मुनिसे किया था इसी प्रकार महाभारतके मोक्षपर्वमे कृष्णने द्वैतवादी १० तथा अद्वैतवादी १८ कुल मिलाकर २८ शैवागमोका अध्ययन उपम युसे किया था। इस लिए शैव लोग कृष्णको त्रिक सिद्धा तका आचार्य मानते हैं। इसीलिए कृष्णकी गीतापर वसुगुप्तसे लेकर अभिनवगुप्त तक अनेक शव विद्वानोने टीकाएँ की हैं—

> तास्व यै प्राक्तनैर्व्याख्या कृता यद्यपि भूयसा।
> याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशक ॥ भगवद्गीतार्थसग्रह १–५।

इसीलिए शैव आचार्य कृष्णको अपना गुरु मानते हैं और त त्रालोक १–१६२ में 'गुरुवाक्य' कह कर गीता वाक्यको उद्धृत किया गया है। इस प्रकार शैव सम्प्रदायमें भी गीताका विशेष महत्व होनेसे अभिनवगुप्तने भट्टे दुराजसे गीताका अध्ययन कर शैव सिद्धान्तोके अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

> भटटे दुराजादाम्नाय विविच्य च चिर धिया।
> कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽय गीतार्थसग्रह ॥ १–६।

अभिनवगुप्तने इस टीकाकी रचना किसी लोटक नामक सद्विप्रके आग्रहसे की है—

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यधात् ।
अभिनवगुप्तः सद्द्विजलोटककृतचोदनावशतः ।। अंतिम श्लोक २ ।

१० परमार्थसार—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रंथोंमें दसवां ग्रंथ 'परमार्थसार' है। यह ग्रंथ १०५ आर्या पद्योंमें लिखा गया है। यद्यपि अभिनवगुप्तने—

आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम् ।

—इसे १०० आर्यामें लिखा हुआ ही बतलाया है। किंतु यह आर्याशतका प्रयोग मुख्य विषयके प्रतिपादक १०० पद्योंकी दृष्टिसे किया गया है। वैसे इसमें १०५ श्लोक हैं।

यह परामार्थसार शेष मुनि कृत 'आधारकारिका' नामक प्राचीन ग्रंथका संक्षिप्त संस्करण है। शेष मुनिको आधार भगवान् या अनंतनाथ भी कहा जाता है और उनकी आधार-कारिका' का दूसरा नाम 'परमार्थसार' भी है। इस आधारकारिकामें मुख्य रूपसे सांख्य सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है। उसीके अनुसार प्रकृति पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थसार' में उसको शैवागमके अनुसार अपने ढांचेमें ढाल लिया है।

अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' को छोड़ कर इसी नामसे तीन ग्रंथ और पाए जाते हैं। एकका पाठ 'शब्दकल्पद्रुम' में दिया गया है। दूसरा 'त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज' में प्रकाशित हुआ है। और तीसरा मद्राससे १९०७ में तेलुगु भाषामें दिए भावार्थके सहित प्रकाशित हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के परमार्थसारकी अंतिम पंक्तिमें उसकी श्लोक संख्या ८५ दी गई है। त्रिवेंद्रमसे प्रकाशित संस्करणमें भी ८५ श्लोक हैं। परंतु मद्रास वाले संस्करण में ७९ श्लोक हैं। इन सबमें अधिकांश श्लोक अभिनवगुप्तके परामार्थसारसे मिलते जुलते हैं। कहीं कुछ भेद भी है और कुल संख्याके विषयमें तो भेद है ही। अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' में १०० या १०५ श्लोक हैं अन्योंमें ८५ या ७९। अभिनवगुप्तके परमार्थसारको छोड़ कर मुख्यरूपसे मद्रास वाला संस्करण वैष्णव भावनाओंके अनुकूल है। इस लिए डा० बर्नेट आदि कुछ विद्वान उसको ही मूल ग्रंथ मानते हैं उनका कहना है कि अभिनवगुप्तने उसीके आधारपर अपने ग्रंथकी रचना की है। जिस प्रकार भगवद्गीतार्थसंग्रहमें भगवद्गीतापर शैव सम्प्रदायका रंग चढानेका यत्न किया गया है इसी प्रकार इस वैष्णव-परमार्थसारको उन्होंने शैव परमार्थसारका रूप देनेका यत्न किया है। परंतु दूसरे विद्वान् इस मतसे सहमत नहीं हैं।

११ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रंथोंमें ११ वां ग्रंथ 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' है। यह ग्रन्थ श्री उत्पलपादाचार्य विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा सूत्र' की वृत्ति रूपमें लिखा गया है। इसको लघ्वी विमर्शिणी' भी कहा जाता है क्योंकि इसी ग्रंथपर दूसरी बृहती विमर्शिणी' भी अभिनव गुप्तने लिखी है। उत्पलपादाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' लिखनेके बाद स्वयं ही उसपर विवृति भी लिखी थी। अभिनवगुप्तने मूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' तथा उसकी विवृति दोनों पर 'विमर्शिणी' नामक टीका लिखी है। मूल सूत्रपर लिखी टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' कहलाती है और उसकी विवृतिपर लिखी हुई टीका ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिणी' कहलाती है। प्राचीन काल

में ग्रंथका परिमाण श्लोकोसे मापा जाता है। अनुष्टुप श्लोकमे ३२ अक्षर होते हैं। यदि कोई गद्यात्मक ग्रंथ है तो उसके भी ३२ अक्षरोका एक श्लोक मान कर उसके परिमाणका निर्धारण किया जाता था। इस प्रक्रियाके अनुसार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' चार सहस्र श्लोकोका ग्रंथ है। और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिणी' १८ सहस्र श्लोकोका ग्रंथ है। इस लिए पहिलीको 'चतु साहस्री' अथवा लघ्वी विमर्शिणी' तथा दूसरीको 'अष्टादशसाहस्री' अथवा 'बहती विमर्शिणी' भी कहा जाता है।

१२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिणी—

ऊपरके ११ ग्रंथ अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रंथ हं। यह बारहवा ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नही हुआ है किंतु यह अभिनवगुप्तके ग्रंथोमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है यह ग्रंथ यद्यपि 'उत्पलपादाचाय' की स्वविरचित विवृतिके ऊपर टीका रूपमें लिखा गया है किन्तु वह विवृतिग्रंथ अभी तक उपलब्ध नही है। केवल उसकी यह टीका उपलब्ध है। सो वह भी अभी प्रकाशित नही हुई है। इस टीकाके प्रारम्भमे अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचायका प्रशिष्य कह कर अपना परिचय देते हुए लिखा है—

> श्रीमल्लक्ष्मणगु तदर्शितपथ श्री प्रत्यभिज्ञाविधौ।
> टीकाथप्रविमर्शिणी रचयते वृत्ति प्रशिष्यो गुरो ॥

१३-२० तेरहसे बीस तक आठ रचनाए—

इन बारह ग्रंथोके बाद अभिनवगुप्त की आठ छोटी छोटी रचनाए डा० कांतिचंद्र जी पाण्डेयके अभिनवगुप्त विषयक शोधप्रबंधके साथ परिशिष्ट रूपमें छप चुकी हं। इनमे चार तो स्तोत्रात्मक रचनाएँ हैं और चार प्रचारात्मक। स्तोत्रात्मक चार रचनाओके नाम और उनका आकार निम्न प्रकार है—

१	क्रमस्तोत्र	३० श्लोक
२	भैरवस्तोत्र	१० श्लोक
३	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	१५ श्लोक
४	अनुभवनिवेदन	४ श्लोक

इस प्रकार ५९ श्लोकोमें चार रचनाए समाप्त हो जाती हैं। अगली चारो प्रचारात्मक रचनाओके नाम तथा आकार निम्न प्रकार हैं —

१	अनुत्तराष्टिका	८ श्लोक
२	परमाथ द्वादशिका	१३ श्लोक
३	परमाथ चर्चा	८ श्लोक
४	महोपदेशविंशतिकम्	२० श्लोक

इस प्रकार ४९ श्लोकोमें ये चार सिद्धांत प्रचारात्मक रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इनको मिला कर यहा तक अभिनवगुप्त की २० रचनाओका परिचय हुआ जिनमेसे १९ प्रकाशित

हो चुकी है। पहले जो ११ प्रकाशित ग्रंथोका उल्लेख किया था वह ग्रंथोकी दृष्टिसे किया था। इन छोटी छोटी आठ फुटकर रचनाओ का समावेश उन ग्रन्थोमे नही किया गया था।

२१ तन्त्रोच्चय—

'तन्त्रालोक' के 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' नामके दो संक्षिप्त संस्करणोकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। उसी प्रकारका तीसरा संक्षेप 'तन्त्रोच्चय' है। यह 'तन्त्रसार' की अपेक्षा छोटा तथा 'तन्त्रवटधानिका' की अपेक्षा कुछ बडा है। इसके आदि तथा अन्तके पद्योमे इसको अभिनवगुप्तकी ही रचना कहा गया है किन्तु कुछ विद्वानोको इसकी भाषादिको देखते हुए इसके अभिनवगुप्त विरचित होनेमें सन्देह है।

२२ घटकपरकुलक विवृति—

जसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह 'घटकपरकुलक' नामक ग्रन्थ की विवृति या टीका है। 'घटकपर' एक छोटासा सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। इसमें कुल २० श्लोक हैं। उसकी रचना मेघदूत' के समान विरही प्रेमियोकी कथा को लेकर हुई है। किन्तु दोनोकी रचनामें इतना अन्तर है कि मेघदूतमें सब पदोका वक्ता प्रेमी यक्ष है और इसमे सारे पद्य प्रेमिकाके द्वारा कहे गए हैं। घटकपरविवृतिमें अभिनवगुप्तने—'अत्र कर्ता महाकवि कालिदास इत्यनुश्रुतमस्मनाभि' लिख कर इसका रचयिता कालिदासको माना है। यह बीसो पद्य यमकालङ्कारसे विभूषित है। इसके लेखकको यह गर्व है कि कोई उससे बढ कर यमक रचना नही कर सकता है। इसलिए उसने ग्रन्थके अन्तिम उपसंहारात्मक २१ मे श्लोकमें सारे कवियोको आह्वान करते हुए लिखा है—

"जीयेय येन कविना यमकै परेण।
तस्मै वहेयमुदक घटकपरेण॥"

अर्थात् यदि कोई दूसरा कवि यमक रचनामें मुझे जीत ले, तो मैं उसका दास्य स्वीकार कर घटके कपर अर्थात्) घडेके खण्डमें (अत्यन्त कष्टपूर्वक) पानी भरने को तैयार हूँ। कुछ लोगोका विचार है कि इस अन्तिम पद्यमे आए हुए 'घटकपर शब्दके आधारपर ही इसका नाम 'घटकपर' रखा गया है। कुछ लोगोका विचार यह है कि विक्रमकी राज सभा में कालिदास के साथी दूसरे महाकवि 'घटकपर' ने कदाचित् इसकी रचना की है। और ऊपरके श्लोकमें दिया हुआ आह्वान कदाचित् कालिदासको लक्ष्यमें रख कर दिया गया है।

नवीन विद्वान् रामचरित शर्मा कृत टीका सहित इस ग्रन्थका प्रकाशन हो चुका है। उनके अनुसार इसके सारे पद्य नायिकाके ही कहे हुए हैं किन्तु अभिनवगुप्तने जो इसका विवरण दिया है उसमें लिखा है—

'तत्र किञ्चित् कविनिबद्धप्रमदारूपवक्तृक, किञ्चित कविनिबद्धतत्सखीभाषित, किञ्चित कविनिबद्धदूतीभाषितम्'।

अर्थात कुछ नायिकाका कहा हुआ है, कुछ उसकी सखीका और कुछ दूतीका। किन्तु मुद्रित संस्करणमे सबका वक्तृत्व नायिकामें ही रखा गया है। इस काव्यकी प्रशंसा करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

'न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कमुत्प्रेक्षितव त्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदया । तस्मात् प्राक्तन एव समाप्तिश्लोक'।

अर्थात् अभिनवगुप्तके अनुसार यह काव्य सवथा निर्दोष है । इसकी समाप्ति २१वे श्लोकपर ही होती है । अंतिम २१ वाँ श्लोक मूल काव्यका ही है । वह प्रक्षिप्त नही है । इस निर्दोष और उत्तम काव्यकी टीका आरम्भ करनेके पूव अभिनवगुप्तने अपने मनको भी निर्दोष और शुद्ध बना लेनेकी आवश्यकता अनुभव करके ही लिखा है—

तत्परामशधवलमना कोकनदो मनाक ।
काव्येऽभिनवगुप्ताख्यो विवर्ति समरीरचत् ॥

२३–३५ अभिनवगुप्तके स्वग्रथोंमे उल्लिखित तेरह ग्रथ—

अभिनवके आगेके तेरह ग्रथ ऐसे हैं जो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्ध नही है किन्तु अभिनवगुप्तके अय ग्रथोमें उनका उल्लेख पाया जाता है । उसी उल्लेख के आधारपर यह अनुमान होता है कि इन ग्रथोकी रचना भी अभिनवगुप्तने की थी ।

१ क्रमकेलि—इन तेरह ग्रथोमें सबसे पहिला स्थान 'क्रमकेलि' नामक ग्रथका है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमाथत्रीशिका— विवरण' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'व्याख्यात चतत मया तट्टीकाया क्रमकेलौ विस्तरत'।

यह क्रमकेलि क्रमस्तोत्र की टीका थी । यह क्रमस्तोत्र जिसकी टीका 'क्रमकेलि' है, अभिनवगुप्तके अपने रचे हुए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न कोई और प्राचीन ग्रथ था । क्योकि 'महाथ-मञ्जरी' की टीकामें महेश्वरानन्दने उसके उद्धरण बहुत दिए हैं । और वे उद्धरण अभिनवगुप्त वाले क्रमस्तोत्रमे नही मिलते हैं । इसलिए क्रम सिद्धातोका प्रतिपादन करने वाला यह 'क्रमस्तोत्र' जिसपर अभिनवगुप्तने 'क्रमकेलि' टीका लिखी थी, उनके अपने बनाए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न ही ग्रथ रहा होगा ।

२ शिवदृष्टयालोचन—'शिवदृष्टि' त्रिक दशनके परमाचाय सोमानन्दका प्रसिद्ध गन्थ है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवतिविमर्शिणी' में, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचायका प्रशिष्य कहा था । सोमानद उन उत्पलपादाचायके भी गुरु थे इसलिए वे अभिनवगुतके परम-प्रगुरु हुए । उनके शिवदृष्टि' ग्रथके ऊपर अभिनवगुप्तने 'शिवदृष्टयालोचन' टीका लिखी थी । किन्तु वह किसी रूपमे उपलब्ध नही हो रही है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमाथ-त्रीशिकाविवरण' मे उसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'यथोक्त मयैव शिवदृष्टयालोचने—
योऽपि स भवेद यस्य शक्नता नाम विद्यते । प० त्री० ११६ ।

३ पूवपञ्चिका—'मालिनीविजयतन्त्र'का दूसरा नाम 'पूवशास्त्र' भी है । इस 'मालिनी विजय' के आदि वाक्य अर्थात् केवल प्रथम श्लोकके ऊपर अभिनवगुप्तने 'मालिनीविजयवार्तिक' लिखा था । उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । इसी 'पूवशास्त्र' के ऊपर दूसरा व्याख्या ग्रथ 'पूव पञ्चिका' नामसे भी अभिनवगुप्तने लिखा था । इस प्रकारकी पञ्चिका या टीकाएँ

उ होने ग्र य तन्त्र ग्रथोपर भी लिखी थी। इनका उल्लेख भी अभिनवगुप्तने 'परात्रींशिका विवरण' मे निम्न प्रकार किया है–

'निर्णीत चतन्मयव पूवप्रभतिपञ्चिकासु। प० त्री० १४७।

४ पदार्थप्रवेशनिर्णय टीका—इसके नामसे प्रतीत होता है कि त्रिक दशनके अभिमत ३६ पदार्थोंका वर्णन इस ग्र थमे किया गया होगा। इसका उल्लेख भी 'परात्रींशिका विवरण' मे इस प्रकार किया गया है—

वितत्य च विचारित मयैतत पदाथप्रवेशनिर्णयटीकायाम'।

पर तु आज न तो 'पदाथप्रवेश' ग्र थ मिलता है और न उसकी यह टीका ही मिलती है।

५ प्रकीर्णकविवरण—त त्रालोक ७–३३ मे अभिनवगुप्तने लिखा है—'इत्य जडे सम्ब धे न मुख्यण्यथसगति। आस्ता, अ यत्र विततमेतद विस्तरतो मया'। इसके ऊपर टीका करते हुए जयरथने लिखा है—

अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवरणादौ।'

६ प्रकरणविवरण—यह प्रकरणस्तोत्र की टीका है और त त्रसार' श्लोक ३१ में उसका उल्लेख किया गया है।

७ काव्यकौतुकविवरण—अभिनवगुप्तके गुरु भट्टतौतने अलङ्कार शास्त्रके विषयमें 'काव्य कौतुक' ग्र थ लिखा था। उसीकी टीका रूपमें अभिनवगुप्तने इस का यकौतुक विवरण' की रचना की थी। अभिनवगुप्तने अपने ध्व यालोकलोचन' मे भट्टतौतके 'काव्यकौतुक' ग्र थ और उसपर अपने विवरणका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'स स्वयमस्मदुपाध्याय– भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृत निर्णय पूवपक्षसिद्धा त। इत्यल बहुना''। ध्व यालोकलोचन १७८

८ कथामुखतिलकम्—इस ग्रथका उल्लेख अभिनवगुप्तने अपनी 'बहती विमर्शिणी'में स्वकृत ग्रथके रूपमे किया है। कि तु उसका विषय क्या था यह कहना कठिन है।

९ लघ्वीप्रक्रिया—यह कोई भक्तिपूर्ण स्तोत्र है। भगवदगीताथसग्रहमे इसका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"यथा च मयैव लघ्व्या प्रक्रियायामुक्तम्—
न भोग्य व्यतिरिक्त हि भोक्तुस्तत्त्व विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्य भोक्त भाग्ययो" ॥

१० भेदवादविवरण—इस ग्रन्थका उल्लेख 'भगवद्गीताथसग्रह' तथा 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' दोनो ग्र थोमें पाया जाता है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' मे लिखा है—

"कृतप्रतानश्चाय प्रकृत्यथ-ण्यर्थविवेको मयैव भेदवादविवरणे इति तत एवा वेष्य'।
ई० प्र० वि० २।१५८।

११ देवीस्तोत्र विवरण—भगवद्गीतार्थसंग्रह अ० ६ श्लो० ३० की व्याख्यामें इस ग्रंथका उल्लेख अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

"विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे, देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीत"। आनंदवर्धनाचार्यके देवीस्तोत्रके ऊपर यह टीकाग्रंथ प्रतीत होता है।

१२ तत्त्वाध्वप्रकाशिका—इस ग्रंथमें कदाचित् त्रिक दर्शनके ३६ तत्त्वोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया होगा। तन्त्रालोककी टीकामें जयरथने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"ग्रंथकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र तत्त्वालम्बनमेव कृतम्"।

तन्त्रालोक ११ १६।

१३ शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र—'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में १५वें अध्यायके १९वें श्लोककी व्याख्यामें ग्रंथकारने इस ग्रंथका नाम दिया है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है इसमें शिव और शक्तिके अभेदका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने उनकी स्तुति की है।

इस प्रकार २२ ग्रंथ पहिले दिखलाए गए थे जिनमेंसे २१ किसी न किसी रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। उसके बाद १३ ग्रंथ इस प्रकारके दिखलाए गए हैं जिनकी आज प्रकाशित अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्धि नहीं हो रही है किंतु स्वयं अभिनवगुप्तके ग्रन्थोंमें उनका स्वकृत ग्रंथके रूपमें उल्लेख पाया जाता है। इन दोनोंको मिला कर अब तक अभिनवगुप्त के ३५ ग्रंथोंका परिचय हो चुका है। शेष ग्रंथोंका परिचय आगे देते हैं। ये शेष ६ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल आधुनिक सूचीपत्रोंमें अभिनवगुप्तके ग्रंथोंके रूपमें पाया जाता है।

आधुनिक सूचीपत्रोंमें उल्लिखित ६ ग्रंथ—

३६ बिम्बप्रतिबिम्बवाद—इसका उल्लेख डा० ब्हूलरके काश्मीर कैटेलाग तथा डा० भण्डारकर की १८७५ ७६ में संगृहीत ग्रंथों की सूचीमें पाया जाता है। इसकी प्रति भी मिलती है। किंतु उसके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है अपितु 'तन्त्रालोक' के तृतीय आह्निकमें नैयायिकोंके सिद्धान्तके खण्डनके प्रसंगमें 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' का खण्डन किया गया है। उसीको किसीने अलगसे उतार कर यह पाण्डुलिपि तयार की है। इसके अंतमें 'श्री तन्त्रालोके बिम्बप्रतिवाद सम्पूर्ण' लिख कर जो इसकी समाप्ति की गई है उससे भी यही सिद्ध होता है कि यह 'तन्त्रालोक' का ही एक भाग है। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

३७ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणी वृत्ति—तंजौरके पुस्तकालयमें इसकी दो प्रतियाँ मिलती हैं। उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह 'परात्रीशिका' के ऊपर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई संक्षिप्त वृत्ति है।

इन ३७ कृतियोंके अतिरिक्त ३८ नाटयालोचन, ३९ परमार्थसंग्रह और ४० अनुत्तरशतक का भी अभिनवगुप्तके ग्रंथोंके रूपमें नवीन सूचीपत्रोंमें उल्लेख पाया जाता है। किंतु वे अभिनवगुप्त के ही ग्रंथ हैं इस बातको निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

अभिनवगुप्तके जिन ४० ग्रंथों या रचनाओंका विवरण ऊपर दिया गया है उनको हम विषयकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। १ दार्शनिक, २ साहित्यिक तथा ३ तान्त्रिक।

उनकी रचनाओंका सबसे बडा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक साहित्यमें उनके मुख्यत तीन ग्रन्थ आते हैं। इनमें से दो प्रत्यभिज्ञा दर्शनके सम्बन्धमें लिखे गए हैं और एक गीताके सम्बन्धमे। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' और ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' ये दोनो प्रत्यभिज्ञा दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं और 'भगवद्गीतार्थसग्रह' गीतासे सम्बन्ध रखने वाला ग्रथ है। इसको भी हम अभिनवगुप्तकी दार्शनिक कृतियोमें मान सकते हैं। उनकी रचनाओ का दूसरा भाग साहित्य शास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। इसमें ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' ये दो मुख्य ग्रथ आते हैं। घटकर्पर विवरण को भी कथञ्चित इस वर्गमे सम्मिलित किया जा सकता है। अभिनवगुप्तकी शेष प्राय ३४ रचनाएँ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं।

अभिनवगुप्तके जीवनका पटाक्षेप—

अभिनवगुप्तका जीवन एक धार्मिक और साधनामय जीवन था। उनकी साधना तान्त्रिक साधना थी। तान्त्रिक साहित्यका जितना गम्भीर अध्ययन और विवेचन उन्होने किया उतना ही उन सिद्धान्तोको अपने जीवनमे चरितार्थ करनेका यत्न भी किया था। इसलिए उनका जीवन तान्त्रिक साधनाओंका मूर्त रूप बन गया था। ऐसे महान और आदर्श जीवनका पटाक्षेप भी स्वाभाविक रूपसे वैसा ही महान् और सुन्दर होना चाहिए था। और हुआ भी वैसा ही। काश्मीरमे श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीच मगम नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव कन्दरा' नामकी एक गुफा आज भी पाई जाती है। इस गुफाके पास एक छोटा सा गाँव भी है। उसका नाम भैरवगाव है। और उसके पास एक सुन्दर छोटी नदी बहती है। उसका भी नाम भैरव नदी है। इस प्रकार भैरव गाव भैरवनदी, और भैरवगुफा तीनोने एक स्थानपर मिल कर इस स्थानको भैरव भक्तोके लिए विशेष आकर्षणका केन्द्र बना दिया है। इसलिए अभिनवगुप्तने अपने जीवन की सन्ध्यावेलाको इस स्थानपर ही व्यतीत करने का निश्चय किया। और अन्तिम समयमे वही आकर अपनी साधना करने लगे थे। भैरवगुफा उनका बडा प्रिय स्थान था। इस गुफाका मुख पहाडके ऊपरी भागमे है। गुफा बहुत बडी है। उसमे अनेक स्थान ऐसे हैं जिनमें चालीस पचास आदमी एक साथ बैठ सकते हैं, और शान्त भावसे अपनी साधना कर सकते हैं। एक दो आदमियो के बैठने और एकान्त सेवा योग्य तो सकडो स्थान उस गुफाके भीतर सहज सुलभ हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि अभिनवगुप्तने इसी भैरवगुफाके भीतर अपनी अन्तिम समाधि ग्रहण की। यद्यपि इस विषयमें कोई लिखित प्रमाण तो उपलब्ध नही है किन्तु काश्मीरके लोगोमे और विशेष रूपमे इस भैरवके न्द्रके आस पास रहने वाले लोगोमे यह बात प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम समयमें अभिनवगुप्त अपने बारह सौ शिष्योंके साथ इस गुफाके भीतर चले गए और फिर वापस नही आए। बारह सौ शिष्यो वाली बातमे सम्भव है कुछ अत्युक्ति हो या बारह सौ शिष्य सम्भव है उनकी अन्तिम समाधिको देखने आए हो। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तने इस गुफामें समाधिस्थ होकर ही अपनी जीवन लीला सवरण की हो।

अभिनवभारती—

अभिनवगुप्त भारतके महान विद्वान, महान् दार्शनिक और महान साहित्याचार्य हैं। हम उनकी तान्त्रिक विचारधारासे भले ही सहमत न हो किन्तु उन्होने सस्कृत साहित्य की जो अपूर्व सेवा की है उसके लिए भारत चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा। उनकी साहित्य-विषयक

दो मुख्य कृतिया हैं एक 'ध्व यालोक लोचन और दूसरी अभिनवभारती'। यो कहनेको दोनो टीका ग्र थ हैं। 'ध्व यालोकलोचन' आन दवधनाचायके 'ध्व यालोक' ग्र थकी टीका है और 'अभिनवभारती' भरतमुनिके 'नाटचशास्त्र' की टीका है। कि तु इन टीका ग्र थोके सामने सैकडो मौलिक ग्र थ 'तस्मै वहेयमुदक घटकपरेण'—घटकपर में पानी भरते नजर आते हैं। अभिनवगुप्तके इन टीकाग्र थोने भारतीय विद्व मण्डलीमे जो असाधारण आदर और मा यता प्राप्तकी है उसका शतांश भी इ ही विषयोपर मौलिक कहे जाने वाले ग्र थोको प्राप्त नही हुआ है। अभिनवगुप्तने इन टीकाग्र थोमे जो कुछ लिख दिया है वह उस विषयपर अ तिम प्रमाण है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यिक और सारे आचाय उसीके आधारपर अपने अपने पाण्डित्यका प्रदशन करते रहे हैं।' 'तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते'।

ऐसे महापुरुष हैं ये अभिनवगुप्त। वे काश्मीरके निवासी हैं। उस काश्मीरके जो भारतकी साहित्यिक प्रवत्तियोका एकमात्र के द्र और एकमात्र मूलस्रोत है। भारतीय अलकारशास्त्र की तरङ्गिणीका उद्‌गमस्रोत भामहके काव्यलकारमे पाया जाता है और वे काश्मीरी ह। रीति सम्प्रदायके प्रवतक वामन अलङ्कार सम्प्रदायके उदभट, ध्वनि सम्प्रदायके आचाय आन दवधन, वक्रोक्ति सम्प्रदायके प्रवतक आचार्य कुन्तक भी तो काश्मीरी हैं। इनके अतिरिक्त भट्टतौत वामन गुप्त, महिमभट्ट रुद्र, क्षेमे द्र रुद्रट राजानक, मम्मट, मखक जयरथ आदि साहित्य शास्त्रके सभी प्रमुख आचाय काश्मीरमें उत्पन्न हुए। काश्मीरकी इ ही महान विभूतियोमे आचाय अभिनवगुप्त भी एक महान विभूति है। काश्मीर भारतका मूध य प्रदेश है। अभिनवगुप्त काश्मीरके मूध य विद्वान् है। और अभिनवभारती अभिनवगुप्तकी कृतियोमें मूध य कृति है।

अभिनवभारतीकी रचनाके प्रेरक तत्त्व—

यो तो नाट्यशास्त्रकी इस अभिनवभारती टीकाकी रचना अभिनवगुप्तने की है कि तु उ होने उसे अपनी व्यारया न मान कर गुरुपरम्परागत व्याख्या माना है। अभिनवगुप्तके नाट्यशास्त्र गुरु भट्टतौत थे। वे अपने कालके नाट्यशास्त्रके सबसे प्रमुख आचाय माने जाते थे। उनका काम केवल अध्यापन करना था। ग्र थ लेखनकी ओर उनकी प्रवत्ति नही थी। वे भरत नाटचशास्त्र का अध्यापन करते समय उसकी जो सु दर व्यारया करते थे उसको सुन कर शिष्यगण मुग्ध हो जाते थे। उनके पूव उद्‌भट, लोल्लट, भट्टनायक आदिने भी नाटचशास्त्रकी व्याख्या की थी। भट्टतौत अपने अध्यापनके समय उन सब पूववर्ती व्यारयाकारोकी युक्तियुक्त आलोचना करते जाते थे जिससे उनकी अध्यापन शैली और भी अधिक सरस एव आकषक बन जाती थी। जिन लोगोको उस व्यारयाके सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता था वे तो अपने आपको ध य मानते ही थे कि तु अ य दूर दूरके लोग भी उनकी व्याख्या सुननेके लिए लालायित रहते थे। अभिनवगुप्त भट्टतौतके प्रति भाशाली और लेखनीके धनी शिष्य थे। उ होने अपने गुरुकी इन अद्‌भुत व्याख्याओको सुरक्षित रखने और दूरस्थ लोगोको भी उनसे लाभ उठानेका अवसर मिल सके इस दृष्टिसे उन सबको लिपिबद्ध करनेका निश्चय किया। और उसके फलस्वरूप ही इस 'अभिनवभारती' ग्र थकी रचना हुई है। भट्टतौतकी व्याख्या अभिनवभारतीका मूल आधार है और दूरस्थ विद्वानोकी उन व्यारयाओका ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता इसका प्रेरक तत्त्व है। इन दो मौलिक तत्त्वोके योगसे ही अभिनव भारतीकी रचना हुई है इस तथ्यको अभिनवगुप्तने अभिनवभारतीके आरम्भमें निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

' सद्विप्रतोतवदनोदितनाटयवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ
सक्षिप्त वत्तिविधिना विशदीकरोति ॥१४॥"

'सद्विप्रतोतवदनोदितनाटयवेदतत्त्वार्थम्' सद्विप्र भट्टतोतने नाटयवेदके जिस तत्त्वार्थको लिखित रूपसे नही केवल वदनोदित'—मौखिक रूपसे कहा था उसको अभिनवगुप्तने 'सक्षिप्तवत्तिविधिना विशदीकरोति' सक्षिप्त वत्तिकी रचना द्वारा स्पष्ट करनेका यह यत्न किया है। किसके लिए कि 'अर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो अर्थिजनो अर्थात् जो भट्टतौतकी इन व्याख्याओके जिज्ञासु हैं उन अर्थिजनोके मनोरथकी पूर्तिकेलिए अभिनवगुप्तने इस सक्षित वत्तिके रूपमे इस ग्र थकी रचना की है। यह इस श्लोकका भाव है।

ये अर्थिजन जिनकी मनोरथकी सिद्धिकेलिए इस ग्र थकी रचना की कौन थे—यह प्रश्न हो सकता है। हमारा अनुमान है कि ये लोग दक्षिण भारतके सुदूरवर्ती भरतनाट्यके प्रेमी कलाकार और विद्वान थे। दक्षिण भारतमे 'भरतनाट्यम्' का बहुत अधिक प्रचार रहा है। आज भी वहाँ इसका बहुत अधिक प्रचार है और बहुत पुराने समयसे वहा उसके प्रेमी बहुत बडी सख्या में रहे हैं। 'भरतनाटयम्' के साथ उनका विशेष प्रेम होनेके कारण ही उसपर जब भट्टतौतकी विशद व्याख्याओका समाचार उनको मिला तो वे उनके जाननेके लिए अधीर हो उठे। इतने अधीर कि अभिनवगुप्तने उनको अर्थिजन' याचक व द कह कर सकेतित किया है। हमने जो यह अनुमान किया है कि ये अर्थिजन' दक्षिण भारत के ही लोग थे इस के दो कारण हैं —

१ हमारे अनुमानका पहला आधार तो यह है कि आजके इस नवीन युगमें अभिनवभारतीकी जो पाण्डुलिपि मिली हैं वह ठेठ दक्षिण भारतके मलाबार प्रा तमे प्राप्त हुई हैं। भारतके और किसी भागमें अब तक अभिनवभारतीकी कोई पाण्डुलिपि प्राप्त नही हुई। काश्मीरमे जिस अभिनवभारतीकी रचना हुई है वह यदि क्रमश प्रचार और प्रसिद्धि प्राप्त करते करते दक्षिण भारत तक पहुँचती तो भारतके इस विशाल मध्यवर्ती भागमें कही अभिनवभारतीकी एक दो पाण्डुलिपियाँ तो उपलब्ध होती। भारतके मध्यवर्ती विशाल क्षेत्रमें एक भी पाण्डुलिपिका न मिलना और ठेठ दक्षिण भारतमें उनका मिलना यह सूचित करता है कि अभिनवभारती काश्मीर से सीधे दक्षिण भारत पहुँची है। अभिनवगुप्तके और बहुतसे ऐसे ग्र थ है जिनके नाम और उनके उद्धरण अभिनवगुप्तने अपने अ य ग्र थोमें दिए हैं कि तु वे मूल ग्रन्थ जिनके कि उद्धरण दिए गए हैं आज उपलब्ध नही हो रहे हैं। इसी प्रकार अभिनवभारतीकी मूल प्रतिका काश्मीरमे भी अभी तक पता नही चल सका है किन्तु नाटयशास्त्र और अभिनवगुप्तके प्रेमी उसकी जो प्रतिलिपि अपने साथ दक्षिण भारत ले गए थे वहाँ सुरक्षित रही। और दक्षिण भारतके नाट्य प्रेमियोके प्रयत्नसे ही आज हमे इस महान् ग्रन्थरत्नकी पुन प्राप्ति हो सकी है।

२ दूसरी बात यह है कि दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नगरमे आज भी नटराजका मन्दिर विद्यमान है जो दक्षिण भारत के राजाओके भरतनाटयके प्रति अपूर्व प्रेमका सूचक है। दक्षिण भारतके चोल राजाओने तेरहवी शताब्दीमें इस मन्दिरकी रचना करवाई थी। इस मन्दिर के द्वारो पर भरत नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायमें जिन १०८ प्रकार करणोका वर्णन किया गया

उन सबके ज्यो के त्यो चित्र पत्थरके ऊपर खुदवा कर बनवाए गए थे। प्रत्येक चित्रके नीचे उसका आधारभूत भरतमुनिका श्लोक भी खुदा हुआ है। इन १०८ चित्रोमेंसे ८५ चित्र तो बिल्कुल उसी क्रमसे दिए गए हैं जिस क्रमसे कि भरत नाटयशास्त्रमे उन करणोका वर्णन किया गया है। शेष १५ चित्रोमें किसी कारणवश उस क्रमको नही निबाहा जा सका है। कि तु सख्या १०८ पूरी है। इस मदिरका नाम और उसकी रचना दक्षिण भारतके चोल राजाओके अदभुत नाटय प्रेम की परिचायक है। मदिरकी रचना यद्यपि बादमें १२वी १३वी शताब्दीमे हुई है पर तु यह निश्चित है कि वहाँके लोगोका नाटयके प्रति अगाध प्रेम उससे पूर्व अभिनवगुप्तके समयमें भी विद्यमान था। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्तने 'अर्थिजन' की ऐसी कोई व्याख्या नही की है कि तु फिर भी दक्षिण भारतके लोगोका नाटयके प्रति अगाध प्रेम और अभिनवभारतीकी प्रति की केवल दक्षिण भारतमें प्राप्तिके आधारपर यह अनुमान करना असगत नही होगा कि अभिनवगुप्त ने इ ही 'अर्थिजनो' के 'वाञ्छितकी सिद्धिकेलिए' इस ग्र थकी रचनाकी थी। और उन अर्थिजनो'ने भी ११वी शताब्दीसे लेकर २०वी शताब्दी तक उस अमूल्य निधि 'अभिनवभारती' को अपने यहा सुरक्षित रख कर अपने 'अर्थिजन' होने का यथार्थ परिचय दिया है।

अभिनवभारतीकी उपलब्धि कसे हुई—

भारतीय साहित्य एव पुरातत्त्वकी रक्षा एव अनुस धानके लिए ब्रिटिश शासन कालमे बडा काम किया गया। आज इस दिशामें कदाचित् उतनी सलग्नताके साथ काय नही हो रहा है। भारत सरकार और प्रा तीय सरकारोके अनेक अ वेषक दल हस्तलिखित ग्र थोकी खोजमें घूम घूम कर जहाँ कही किसी हस्तलिखित पुस्तकका पता लगता वहाँ जाकर जिस किसी रूपमें भी सम्भव होता दुलभ ग्र थोका सग्रह करनेका यत्न करते थे। मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे ही अ वेषक दल के प्रयत्नसे अभिनवभारती' की पाण्डुलिपिकी प्राप्ति हुई थी। मद्रास सरकारके इस अ वेषक दलने मलाबारमे मलयालम लिपिमें लिखी हुई अभिनवभारतीकी पाण्डुलिपिको तीन खण्डोमे, तीन अलग अलग स्थानोपर व्यक्तिगत सम्पत्तिके रूपमें लोगोके पाससे प्राप्त किया था। इन तीनो भागोमें मिल कर ३१ वें अध्याय तककी अभिनवभारती आ गई थी। ये पाण्डुलिपिया ताडपत्र पर अकित थी। मद्रासमे 'गवनमेन्ट ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' नामक सस्था इस प्रकार हस्तलिखित ग्र थोका सग्रह आदिका काय करती है। मलयालम लिपिमें ताडपत्रपर अकित उक्त पाण्डुलिपियाँ उक्त पुस्तकालयमें लाई गई। इस पुस्तकालयके प्रारम्भिक सूचीपत्रमे ये तीनो पाण्डुलिपिया क्रमश २४७८, २७८५ तथा २७७४ सख्यापर अकित की गई हैं।

२४७८ न० की पाण्डुलिपि चेलापुरम कालीकटके श्री अम्बपालकट करबकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। इसमें मूल नाटयशास्त्रके साथ १९ वे अध्याय तककी अभिनवभारती टीका दी गई थी। सन १९१७ १८ में ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तयार करवाई गई।

न० २७८५ वाली दूसरी पाण्डुलिपि कडलूर मननरारी तिरताल डि० मलाबार के श्री नारायण नम्बूदरीपादके पाससे प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपिमे मूल नाटयशास्त्रका अश नही था केवल अभिनवभारती के २० से लेकर २८ अध्याय तककी अभिनवभारती टीका मात्र

ही थी । सन् १६१८ १६ मैं ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे देवनागरी लिपिमे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई ।

२७७४ सख्या वाली तीसरी पाण्डुलिपि भी उसी कडलूर डि० मलाबारके निवासी श्री नारायण नम्बूदरीपादके यहासे प्राप्त हुई थी । इसने केवल २६ ३१ तकके तीन अध्यायोकी नाट्यशास्त्र रहित केवल अभिनवभारती थी । इसकी भी दूसरी प्रतिलिपि उसी वष अर्थात् १६१८ १९ मे तयार करा ली गई है ।

दक्षिणभारतके मलाबार जिलेसे अभिनवभारतीकी तीन भागोमे यह एक प्रति प्राप्त हो सकी जिसमे १ ३१ अध्याय तककी अभिनवभारती का पाठ आ गया था। मूल पाण्डुलिपि मलयालम लिपिमे लिखी गई थी । उससे देवनागरी लिपिमे दूसरी प्रतिलिपि तैयार कराई गई । ये प्रतिलिपिया मद्रास सरकारकी 'ओरिए टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' मे सरक्षित है ।

अभिनवभारती की दूसरी प्रति तिरुवाकुरके महाराजाके निजी पुस्तकालयमें प्राप्त हुई । इन दो प्रतियोके अतिरिक्त अभी तक और कोई प्रति कही उपलब्ध नही हुई है ।

मद्रास पुस्तकालय तथा तिरुवाकुर पुस्तकालयमे अभिनवभारतीकी जो प्रतिया पाई गई वे दोनो किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई थी । यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि एक प्रतिमें जो भाग अनुपलब्ध है वह भाग दूसरी प्रतिमे भी अनुपलब्ध है—जसे सप्तम अष्टम अध्यायोकी अभिनवभारती दोनो ही प्रतियोमे नही मिलती है । इसलिए ये दोनो प्रतियाँ किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई प्रतीत होती हैं । फिर भी कही लिपिकारके प्रमादसे, कही कीडा लग जाने या अ य कारणोसे पर्याप्त अ तर हो गया है । अभिनवभारतीके द्वितीय सस्करणके सम्पादक महोदयने अपनी भूमिका के पृ० २० पर इस भेदको दिखलाते हुए लिखा है—

"दो दीज टू सेटस आफ मनस्क्रिप्टस सीम टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम वन ओरिजिनल सोस, दे शोड सो मच डाइवरजेन्स इन देयर क टेन्टस ड्यू टु दि स्क्राइबल एररस, ब्रोकेन पीसेज, माथ ईटेन लीव्स एण्ड अदर नेचुरल डिकेज, दैट दे एपीयड टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम आलटुगैदर डिफरै ट मैनस्क्रिप्टस ।"[1]

अर्थात् मद्रास पुस्तकालय वाली तथा तिरवाकुर पुस्तकालय वाली ये दोनो प्रतियाँ यद्यपि किसी एक ही प्रतिके आधारपर तैयार की गई हैं कि तु कही लिपिकारके प्रमादसे, कही ताडपत्रके टूट जानेसे या कीडा लग जाने अथवा अ य प्रकारके प्राकृतिक विकार हो जानेके कारण उनके लेखमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि मानो उन्हे बिल्कुल भिन्न आधारोपरसे

---

1 Though these two sets of manuscripts seem to have been copied out from one original source, they showed so much divergence in their contents due to the scribal errors, broken pieces, moth eaten leaves and other natural decays, that they appeared to have been copied out from altogether different manuscripts

तैयार किया गया हो। प्रथम सस्करणके सम्पादक महोदयने भी इस विषयमे अपने विचार इस प्रकार (भूमिका पष्ठ ६२ द्वितीय सस्करण) दिए हैं—

'दीज टू सेटस डिफर इन रीडिंग्स बट दि डिफरेसेज आर डयू टु दि एरेनियस डिसाइफरिंग आफ ए स्क्राइब आर टु एन इ टेलीजे ट सजशन आफ ए मिसिंग वड आर लेटर ह्वेयर इ सक्टस हैड डमेज्ड दी लीफ"।

जब अभिनवभारती की इन प्रतियोकी प्राप्ति की सूचना प्रकाशित हुई तो अनेक विद्वानोने उसके विषयमे अपनी अभिरुचि प्रकट की और उसकी प्रतिलिपि अपने लिए प्राप्त करनेका यत्न किया। तदनुसार जिन लोगोने माग की उनको उनके व्यय पर उक्त पाण्डुलिपियोकी प्रतिलिपियाँ अकित करवा कर भेज दी गई।

तिरवाकुर महाराजाके राजपुस्तकालय वाली अभिनवभारतीकी एक प्रतिलिपि सरस्वतीभवन पुस्तकालय बनारसकेलिए तैयार कराई गई। बनारस वाली प्रतिलिपिसे भण्डारकर रिसच इस्टीटयूट पूना के लिए एक और प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और इसको फिर मद्रास सरकारके पुस्तकालय वाली प्रतिके साथ मिलान किया गया। पूना वाली यह प्रति पूनाके पुस्तक सग्रह सूची में ३४३ सख्या पर अकित की गई है। इस प्रतिलिपि में भी उतना ही भाग और उसी रूपमें था जितना कि मद्रास पुस्तकालय वाली प्रतिलिपि मे था। इससे यह अनुमान किया गया है कि ये दोनो प्रतिया किसी एक ही आधार पर तैयार की गई थी।

अर्थात् यद्यपि इन दोनो पाण्डुलिपियो में पाठ भेद पाया जाता है पर तु वे पाठा तर या तो लिपिकारके अशुद्ध लेखनके कारण अथवा जहांपर कोडोने पष्ठके किसी स्थानको क्षत कर दिया है उस स्थानपर किसी विलुप्त शब्द अथवा अक्षरकी पूर्तिके सु दर सुझावके कारण हुए हैं[1]।

अभिनवभारतीका सम्पादन और प्रकाशन —

अभिनवभारती टीका सहित नाटयशास्त्रके अब तक दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है। ये दोनो ही सस्करण गायकवाड ओरिए टल सिरीज, बडौदासे प्रकाशित हुए हैं। प्रथम सस्करण सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इस सस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने किया था। जिन दिनों 'अभिनवभारती' की मालाबार और तिरुवाकुर वाली दोनो पाण्डुलिपिया प्राप्त हुई थी उन दिनो श्री रामकृष्ण कवि महोदय मद्रास सरकारके हस्तलिखित पुस्तकोके पुस्तकालयमें काम कर रहे थे। इसलिए उन्हे इस नव आविष्कृत ग्र थ रत्नके सम्पादनमें बडी अभिरुचि थी और उन्होने मुख्यत मद्रास पुस्तकालयमे सगृहीत मालाबार वाली पाण्डुलिपिके आधार पर अभिनव भारती' का सम्पादन कर सन् १९२६ मे बडौदासे प्रकाशित करवाया। यह केवल प्रथम भाग था। जिसमे सात अध्याय प्रकाशित हुए थे। इन सात अध्यायोंमेंसे भी सप्तम अध्यायपर अभिनवभारती नही थी। इन अध्यायो वाली मालाबारमें उपलब्ध ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे सन्

1 These two sets differ in readings, but the differences are due to the erroneous deciphering of a scribe or to an intelligent suggestion of a missing word or a letter where insects had damaged the leaf

१९१७ १८ में मद्रास पुस्तकालयके लिए प्रति तयार कर ली गई थी। उस प्रतिके आधारपर उसके केवल सात अध्यायोके सम्पादन और प्रकाशनमे लगभग आठ वषका समय लग गया। पाण्डुलिपियो के अत्य त अशुद्ध होनेके कारण रामकृष्ण कवि महोदयको इसका सम्पादन करने तथा प्रेस कापी तैय्यार करनेमे बडी कठिनाइयोका सामना करना पडा। अपनी इन कठिनाइयोका उल्लेख करते हुए उ होने भूमिकामें (द्वितीय सस्करण प० ६३ पर) लिखा है—

'नेवरदिलेस दि प्रिपरेशन आफ दि प्रेसकापी, एस्पेशली फार दि फस्ट एण्ड दि लास्ट वाल्यूम्स हैज टक्सड आल माइ रिसोर्सेज। दि ओरिजिनल्स आर सो इनकरेक्ट दट ए स्कालर फ्रड आफ माइन इज प्राबेब्ली जस्टीफाइड इन सेइग दैट—इवन इफ अभिनवगुप्त डिसडिड फ्राम हैवन एण्ड सा दि मनिस्क्रिप्ट ही वुड नाट इजिली रेस्टोर हिज ओरिजिनल रीडिंग[1]'।

अर्थात् इस अभिनवभारतीके प्रथम तथा अ तिम भागोकी प्रेस कापी तयार करनेमे सम्पादक महोदयको अत्यधिक कठिनाइयोका सामना करना पडा क्योकि मूल पाण्डुलिपियोका पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि जिसको देख कर सम्पादक महोदयके एक विद्वान मित्रने यह मत व्यक्त किया था यदि एक बार स्वय अभिनवगुप्त भी स्वर्गसे उतर आवे तो वे इन पाण्डुलिपियोको देख कर अपने शुद्ध पाठका उद्धार नही कर सकेंगे।

यह है 'अभिनवभारती' के पाठोकी दुरवस्थाका एक चित्र। ऐसी निराशाजनक स्थिति मे प्रथम और द्वितीय सस्करणोके सम्पादकोने जो कुछ काय किया है वह बडा श्रम साध्य एव श्लाघ्य काय है।

पाठ सुधार और उसके आधार—

'अभिनवभारती' के पाठोकी इस शोचनीय स्थितिका अनुभव उसके सम्पकमें आने वाले सभी विद्वानोने किया है और उसके सुधारका यथासाध्य यत्न भी अनेक विद्वानोने किया है। अब तक पाठसशोधनकी दिशामे जो कुछ काय हुआ है उसका आधार कुछ प्राचीन ग्र थ हैं। ये ग्र थ इस प्रकारके हैं जि होने भरत नाटयशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर विषयका कुछ स्वतन्त्र रूपसे प्रतिपादन किया गया है। (१) सम्पादक महोदय श्री रामकृष्ण कविके पास अभिनवभारतीके प्रारम्भसे लेकर छठे अध्याय तकका कोई सक्षिप्त सार ग्र थ था उसके द्वारा उनको विषयको समझनेमे पर्याप्त सहायता मिली थी। इस सक्षेप सारका उल्लेख रामकृष्ण कविने भूमिका (पृ० ६२ पर) मे इस प्रकार किया है—

देअर इज ऐन ऐपीटोम फार दिस कमें टरी फ्राम दि बिगिनिंग टु दि मिडिल आफ दि सिक्स्थ चैप्टर, ह्विच वाज प्राबेब्ली रिटिन बाइ पूण सरस्वती, दि वेल नोन कमे टेटर आन मेघ स देश एण्ड मालती माधव एण्ड आल्सो दि आथर आफ ए पोयम एण्ड ए ड्रामा। बट

---

[1] Nevertheless the preparation of the press copy, especially for the first and the last volumes, has taxed all my resources The originals are so incorrect that a scholar friend of mine is probably justified in saying that even if Abhinavagupta descended from heaven and saw this mss he would not easily restore his original reading

रूपमें लिखा गया है। 'मालिनीविजयत त्र' को श्रीपूर्वशास्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने म द्र तथा कर्ण नाम दो शिष्यो के अत्य त आग्रहसे प्रेरित हो कर की है— इस बात का उल्लेख उ होने इस ग्र थ के आरम्भमें इस प्रकार किया है—

सच्छिष्य-कर्ण म द्रभ्या चोदितोऽह पुन पुन ।
वाक्यार्थ कथये श्रीमन्मालि या यत क्वचित क्वचित ।।

'मालिनीविजयत त्र' कोई बहुत बडा ग्र थ मालूम होता है। उसके सम्पूर्ण ग्र थपर व्याख्या करनेका विचार भी अभिनवगुप्तका नही जान पडता है। इसी लिए यहाँ ऊपरके श्लोकमें क्वचित क्वचित' का प्रयोग किया है। मालिनीविजयवार्तिक' का जो भाग मुद्रित हुआ है उसमें केवल दो अध्याय हैं। उन दो अध्यायोमें भी केवल एक श्लोक की व्याख्या की गई है। इस ग्र थकी रचना अभिनव गुप्तने अपने म द्र नामक शिष्यके आग्रहसे की है। यह म द्र नामक शिष्य अभिनवगुप्तका बडा प्रिय शिष्य था। माता पिताके वियोगके बाद अभिनवगुप्त अपना मानसिक स तुलन खो बैठे थे और कुछ विक्षिप्त रहने लगे थे। उस समय—

विक्षिप्तभावपरिहारमसौ चिकीर्षन्
म द्र स्वके पुरवरे स्थिततिमस्य चक्रे ।

म द्र नामक यह शिष्य अभिनवगुप्त को उनके घरसे हटा कर अपने प्रवरपुर' नगरमें ले गए और वही उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया। वही 'प्रवरपुर' नामक नगरके पूर्व भाग में रह कर अभिनवगुप्तने इस मालिनीविजय के प्रथम श्लोककी व्याख्या रूप 'मालिनीविजयवार्तिक' ग्र थ की रचना की—

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्त ।
मालि यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ।।

यद्यपि 'मालिनीविजयत त्री' के एक ही श्लोक पर यह वार्तिक लिखा गया है और उसके दो ही अध्याय प्रकाशित हुए हैं कि तु इसके १८ वे अध्याय का उल्लेख अभिनवगुप्तने इसी ग्र थमे कई बार किया है—

एतदष्टादशे तत्वमाधिकरे भविष्यति । मा० वि० वा० ५८
अष्टादशे तत्पटले तत्व सम्यग् विभाव्यते । मा० वि० वा० १०४

आदि विविध उल्लेखोसे ज्ञात होता है कि वे इस १८ अध्याय तक तो लिखना ही चाहते थे कि तु ऐसा विदित होता है कि बहुत विस्तत ग्र थ हो जाने के भयसे वे आगे उसको लिख नही सके। दो अध्याय तक जो लिखा जा सका था, वह प्रकाशित हो गया।

४ तन्त्रालोक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमे चौथा ग्रन्थ त त्रालोक है। यह उनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे बडा ग्र थ है। अद्वैतवादी ६४ तन्त्रोका उल्लेख पहिले किया जा चुका है—उन सबके विषयोका प्रतिपादन इसमे विस्तारपूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना मुख्य रूपसे कौल सिद्धान्त और तन्त्र सिद्धा त इन दो के वर्णनके लिए ही की गई है कि तु इसके अतिरिक्त क्रम सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त आदि अन्य विषयोपर भी उसमें अनेक स्थानोपर

प्रामाणिक रूपसे चर्चा की गई है । इस विशेषता को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

वक्ष्यमाणस्य कुल-तन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—
'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'

इत्यादिदृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शितम् ।

'सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता' से अभिनवगुप्तने सर्वशास्त्रों पर अपने अधिकार को सूचित किया है इस लिए इसमें उन्होंने किसी भी विषयपर जो कुछ लिखा है वह उस उस शास्त्र के विशेष आचार्योंके वचनोंके समान ही प्रामाणिक है यह बात सूचित की है । तन्त्रालोक की प्रशंसामें अभिनवगुप्त ने लिखा है—

इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः ।
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षात् भैरवो भवेत् ॥ १ । १२८ ।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३७ आह्निक हैं किन्तु अभी तक इसके केवल १४ आह्निक प्रकाशित हुए हैं । उनके ऊपर जयरथकी टीका भी प्रकाशित हुई है । जयरथकी टीका सहित तन्त्रालोकके १४ आह्निक आठ बड़ी बड़ी जिल्दोंमें प्रकाशित हो सके हैं । इससे ग्रन्थके विशाल आकारका अनुमान किया जा सकता है । २३ आह्निक और शेष हैं । इसी हिसाबसे यदि शेष आह्निकोंका भी कलेवर हुआ तो लगभग २० भागोंमें उसकी समाप्ति हो सकेगी । तन्त्रालोकके जो १४ आह्निक अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमेंसे आदिके पांच, नवम तथा त्रयोदश आह्निक दार्शनिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । अभिनवभारतीके आरम्भके मङ्गल श्लोकमें 'षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' आदिमें अभिनवगुप्तने शैव दर्शनके जिन ३६ तत्त्वोंकी ओर संकेत किया है उनका प्रतिपादन नवम, आह्निकमें किया गया है इस लिए उस आन्हिकका और भी अधिक महत्व है । इस ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' क्यों रखा है इसका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'आलोकमासाद्य यदीयमेष लोकः स्वयं सञ्चरति क्रियासु ।'

अर्थात् इसका आलोक पाकर लोक सारे व्यापार उचित रीतिसे सरलतापूर्वक कर सकता है इस लिए इसका नाम 'तन्त्रालोक' अन्वर्थ ही है । 'मालिनीविजयवार्तिक'के समान इस ग्रन्थकी रचना भी उन्होंने अपने प्रिय शिष्य मन्द्र, मनोरथ तथा अन्य शिव-भक्तोंके आग्रहसे प्रेरितकी है ।

५ ६ तन्त्रसार तथा तन्त्रवटधानिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमेंसे अगले दो ग्रन्थ हैं 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' । इनके नाम से ही इनके विषयका अनुमान किया जा सकता है । 'तन्त्रसार', 'तन्त्रालोक'का संक्षिप्त रूप है । और 'तन्त्रवटधानिका' तन्त्र रूप वट-वृक्षके बीजके समान—उससे भी कहीं अधिक छोटा रूप । सिद्धान्तकौमुदी मध्यकौमुदी और लघुकौमुदीके समान 'तन्त्रालोक' के ये तीन रूप हैं । विशाल ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' है, उसका मध्यवर्ती संक्षिप्त रूप 'तन्त्रसार' है और उसका अत्यन्त संक्षिप्त लघुतम रूप 'तन्त्रवटधानिका' है ।

७ ८ ध्व॑यालोकलोचन तथा अभिनवभारती—

अब तक जिन प्रकाशित ६ ग्र थोका उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब शैव दर्शनसे सम्ब॑ध रखने वाले दार्शनिक ग्र॑थ हैं। अगले दो ग्र थ 'ध्व यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' साहित्यशास्त्रसे सम्ब ध रखने वाले अत्य॑त महत्वपूर्ण ग्र थ हैं। अभिनवके दार्शनिक ग्र थोका परिचय लोगोको कम है कि॑तु उनके ध्व यालोक लोचन तथा अभिनवभारतीका परिचय उनकी अपेक्षा कही अधिक है विशेष रूपसे ध्व॑यालोक-लोचनके द्वारा ही उनको साहित्यिक जगत्में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। ध्व यालोक, आन॑दवर्धनाचार्यका ध्वनि विषयक प्रसिद्ध ग्र॑थ है। उसपर अभिनवगुप्तने लोचन' नामक टीका लिखी है। उसका नाम 'ध्व यालोकलोचन' है। इसी प्रकार भरतमुनिके नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है उसका नाम 'अभिनवभारती' है।

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम् [अभि० ३३४ व० स०] --लिख कर ग्र थकारने जिस सहृदयालोकलोचनका उल्लेख किया है वह 'ध्व॑यालोकलोचन का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अभिनवभारतीमें ध्वन्यालोकलोचनका उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि 'ध्व॑यालोकलोचन' की रचना 'अभिनवभारती' के पहिले हुई है। और ध्व यालोकलोचनमें पृष्ठ १ पर 'त त्रालोकग्र॑थे विचार्य' इन शब्दोमें 'त त्रालोक' का उल्लेख मिलता है इस लिए इन दोनो साहित्य ग्र॑थोकी रचना त॑त्रालोकके बाद हुई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अभिनवभारतीके विषयमें हम आगे लिखेंगे।

९ भगवद्गीतार्थसग्रह—

अभिनवगुप्तके पिछले दार्शनिक ग्र थोकी रचना शैव ग्र॑थोकी व्याख्याके रूपमे हुई थी। 'भगवद्गीतार्थसग्रह' ऐसा ग्र थ है जो शैव ग्र थ नही है कि॑तु इसपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है वह शैवदृष्टिकोणसे ही लिखी है। यद्यपि शैवागमोकी उत्पत्ति तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई है कि तु शैव विद्वान् उनको वेदाके समान ही अनादि मानते हैं। इस लिए उनकी दृष्टिमें शैवागम कृष्णकी गीतासे भी कही अधिक प्राचीन हैं। हरिवश पुराणके अनुसार कृष्णने ६४ अद्वैतवादी त॑त्रोका अध्ययन दुर्वासा मुनिसे किया था इसी प्रकार महाभारतके मोक्षपर्वमें कृष्णने द्वैतवादी १० तथा अद्वैतवादी १८ कुल मिलाकर २८ शैवागमोका अध्ययन उपमन्युसे किया था। इस लिए शैव लोग कृष्णको त्रिक सिद्धा॑तका आचार्य मानते हैं। इसीलिए कृष्णकी गीतापर वसुगुप्तसे लेकर अभिनवगुप्त तक अनेक शैव विद्वानोने टीकाए की हैं—

> तास्व॑र्यै प्राक्तनैर्व्याख्या कृता यद्यपि भूयसा।
> ॑याख्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशक ॥ भगवद्गीतार्थसग्रह १–५।

इसीलिए शैव आचार्य कृष्णको अपना गुरु मानते हैं और त त्रालोक १–१६२ मे 'गुरुवाक्य' कह कर गीता वाक्यको उद्धृत किया गया है। इस प्रकार शैव सम्प्रदायमे भी गीताका विशेष महत्व होनेसे अभिनवगुप्तने भट्टे॑दुराजसे गीताका अध्ययन कर शैव सिद्धा॑तोके अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

> भट्टे दुराजादाम्नाय विविच्य च चिर धिया।
> कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽय गीतार्थसग्रह ॥ १–६।

अभिनवगुप्तने इस टीकाकी रचना किसी लोटक नामक सद्विप्रके आग्रहसे की है—

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यधात् ।
अभिनवगुप्त सद्द्विजलोटककृतचोदनावशतः ।। अंतिम श्लोक २ ।

१० परमार्थसार—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रंथोंमें दसवां ग्रंथ परमार्थसार' है। यह ग्रन्थ १०५ आर्या पद्योंमें लिखा गया है। यद्यपि अभिनवगुप्तने—

आर्याशतेन तदिदं संक्षिप्तं शास्त्रसारमतिगूढम्।

—इसे १०० आर्यामें लिखा हुआ ही बतलाया है। किंतु यह आर्याशतका प्रयोग मुख्य विषयके प्रतिपादक १०० पद्योंकी दृष्टिसे किया गया है। वैसे इसमें १०५ श्लोक हैं।

यह परामार्थसार शेष मुनि कृत 'आधारकारिका' नामक प्राचीन ग्रन्थका संक्षिप्त संस्करण है। शेष मुनिको आधार भगवान् या अनन्तनाथ भी कहा जाता है और उनकी आधार कारिका' का दूसरा नाम 'परमार्थसार' भी है। इस आधारकारिकामें मुख्य रूपसे सांख्य सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है। उसीके अनुसार प्रकृति पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थसार' में उसको शैवागमके अनुसार अपने ढांचेमें ढाल लिया है।

अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' को छोड़ कर इसी नामसे तीन ग्रन्थ और पाए जाते हैं। एकका पाठ 'शब्दकल्पद्रुम' में दिया गया है। दूसरा 'त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज' में प्रकाशित हुआ है। और तीसरा मद्राससे १९०७ में तेलुगु भाषामें दिए भावार्थके सहित प्रकाशित हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के परमार्थसारकी अंतिम पंक्तिमें उसकी श्लोक संख्या ८५ दी गई है। त्रिवेंद्रमसे प्रकाशित संस्करणमें भी ८५ श्लोक हैं। परन्तु मद्रास वाले संस्करण में ७९ श्लोक हैं। इन सबमें अधिकांश श्लोक अभिनवगुप्तके परामार्थसारसे मिलते जुलते हैं। कहीं कुछ भेद भी है और कुल संख्याके विषयमें तो भेद है ही। अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' में १०० या १०५ श्लोक हैं अन्योंमें ८५ या ७९। अभिनवगुप्तके परमार्थसारको छोड़ कर मुख्यरूपसे मद्रास वाला संस्करण वैष्णव भावनाओंके अनुकूल है। इस लिए डा० बर्नेट आदि कुछ विद्वान उसको ही मूल ग्रंथ मानते हैं उनका कहना है कि अभिनवगुप्तने उसीके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। जिस प्रकार भगवद्गीतार्थसंग्रहमें भगवद्गीतापर शैव सम्प्रदायका रंग चढ़ानेका यत्न किया गया है इसी प्रकार इस वैष्णव परमार्थसारको उ होने शैव परमार्थसारका रूप देनेका यत्न किया है। परंतु दूसरे विद्वान् इस मतसे सहमत नहीं हैं।

११ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें ११ वां ग्रंथ 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' है। यह ग्रन्थ श्री उत्पलपादाचार्य विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा सूत्र' की वृत्ति रूपमें लिखा गया है। इसको 'लघ्वी विमर्शिणी' भी कहा जाता है क्योंकि इसी ग्रंथपर दूसरी बृहती विमर्शिणी' भी अभिनवगुप्तने लिखी है। उत्पलपादाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' लिखनेके बाद स्वयं ही उसपर विवृति भी लिखी थी। अभिनवगुप्तने मूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' तथा उसकी विवृति दोनों पर 'विमर्शिणी' नामक टीका लिखी है। मूल सूत्रपर लिखी टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' कहलाती है और उसकी विवृतिपर लिखी हुई टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिणी' कहलाती है। प्राचीन काल

में ग्र थका परिमाण श्लोकोसे मापा जाता है। अनुष्टुप श्लोकमे ३२ अक्षर होते हं। यदि कोई गद्यात्मक ग्र थ है तो उसके भी ३२ अक्षरोका एक श्लोक मान कर उसके परिमाणका निर्धारण किया जाता था। इस प्रक्रियाके अनुसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' चार सहस्र श्लोकोका ग्र थ है। और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिणी' १८ सहस्र श्लोकोका ग्र थ है। इस लिए पहिलीको 'चतु साहस्री' अथवा लघ्वी विमर्शिणी' तथा दूसरीको 'अष्टादशसाहस्री' अथवा बहती विमर्शिणी' भी कहा जाता है।

१२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिणी—

ऊपरके ११ ग्र थ अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्र थ हैं। यह बारहवाँ ग्र थ अभी तक प्रकाशित नही हुआ है कि तु यह अभिनवगुप्तके ग्र थोमें अत्य त महत्त्वपूर्ण ग्र थ है यह ग्र थ यद्यपि 'उत्पलपादाचाय' की स्वविरचित विवृतिके ऊपर टीका रूपमें लिखा गया है किन्तु वह विवृतिग्र थ अभी तक उपलब्ध नही है। केवल उसकी यह टीका उपलब्ध है। सो वह भी अभी प्रकाशित नही हुई है। इस टीकाके प्रारम्भमे अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचायका प्रशिष्य कह कर अपना परिचय देते हुए लिखा है—

श्रीमल्लक्ष्मणगु प्तदर्शितपथ श्री प्रत्यभिज्ञाविधौ।
टीकाथप्रविमर्शिणी रचयते वृत्ति प्रशिष्यो गुरो ॥

१३ २० तेरहसे बीस तक आठ रचनाएँ—

इन बारह ग्र थोके बाद अभिनवगुप्त की आठ छोटी छोटी रचनाए डा० का तिच द्र जी पाण्डेयके अभिनवगुप्त विषयक शोधप्रब धके साथ परिशिष्ट रूपमें छप चुकी हैं। इनमे चार तो स्तोत्रात्मक रचनाएँ हैं और चार प्रचारात्मक। स्तोत्रात्मक चार रचनाओके नाम और उनका आकार निम्न प्रकार है—

१	क्रमस्तोत्र	३० श्लोक
२	भरवस्तोत्र	१० श्लोक
३	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	१५ श्लोक
४	अनुभवनिवेदन	४ श्लोक

इस प्रकार ५९ श्लोकोमें चार रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अगली चारो प्रचारात्मक रचनाओंके नाम तथा आकार निम्न प्रकार हं —

१	अनुत्तराष्टिका	८ श्लोक
२	परमाथ द्वादशिका	१३ श्लोक
३	परमाथ चर्चा	८ श्लोक
४	महोपदेशविशतिकम्	२० श्लोक

इस प्रकार ४९ श्लोकोंमें ये चार सिद्धा त प्रचारात्मक रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इनको मिला कर यहा तक अभिनवगुप्त की २० रचनाओका परिचय हुआ जिनमेंसे १९ प्रकाशित

हो चुकी है। पहले जो ११ प्रकाशित ग्र थोका उल्लेख किया था वह ग्र थोकी दृष्टिसे किया था। इन छोटी छोटी आठ फुटकर रचनाओ का समावेश उन ग्र थोमे नही किया गया था।

२१ तन्त्रोच्चय—

'त त्रालोक' के त त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' नामके दो सक्षिप्त सस्करणोकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। उसी प्रकारका तीसरा सक्षेप 'त त्रोच्चय' है। यह त त्रसार' की अपेक्षा छोटा तथा 'त त्रवटधानिका' की अपेक्षा कुछ बडा है। इसके आदि तथा अ तके पद्योमे इसको अभिनवगुप्तकी ही रचना कहा गया है कि तु कुछ विद्वानोको इसकी भाषादिको देखते हुए इसके अभिनवगुप्त विरचित होनेमें स देह है।

२२ घटकपरकुलक विवृति—

जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह 'घटकपरकुलक' नामक ग्र थ की विवृति या टीका है। 'घटकपर' एक छोटासा सु दर काव्य ग्र थ है। इसमें कुल २० श्लोक है। उसकी रचना मेघदूत' के समान विरही प्रेमियोकी कथा को लेकर हुई है। कि तु दोनोकी रचनामें इतना अ तर है कि मेघदूतमें सब पदोका वक्ता प्रेमी यक्ष है और इसमे सारे पद्य प्रेमिकाके द्वारा कहे गए हैं। घटकपरविवृतिमें अभिनवगुप्तने—'अत्र कर्ता महाकवि कालिदास इत्यनुश्रुतमस्मनाभि' लिख कर इसका रचयिता कालिदासको माना है। यह बीसो पद्य यमकालङ्कारसे विभूषित है। इसके लेखकको यह गव है कि कोई उससे बढ कर यमक-रचना नही कर सकता है। इसलिए उसने ग्र थके अ तिम उपसहारात्मक २१ मे श्लोकमें सारे कवियोको आह्वान करते हुए लिखा है—

"जीयेय येन कविना यमकै परेण।
तस्मै वहेयमुदक घटकपरेण ॥"

अर्थात् यदि कोई दूसरा कवि यमक रचनामें मुझे जीत ले, तो मैं उसका दास्य स्वीकार कर घटके कपर अर्थात्) घडेके खप्पडमें (अत्य त कष्टपूवक) पानी भरने को तैयार हूँ। कुछ लोगोका विचार है कि इस अ तिम पद्यमें आए हुए 'घटकपर शब्दके आधारपर ही इसका नाम 'घटकपर' रखा गया है। कुछ लोगोका विचार यह है कि विक्रमकी राज सभा में कालिदास के साथी दूसरे महाकवि 'घटकपर' ने कदाचित् इसकी रचना की है। और ऊपरके श्लोकमे दिया हुआ आह्वान कदाचित् कालिदासको लक्ष्यमें रख कर दिया गया है।

नवीन विद्वान् रामचरित शर्मा कृत टीका सहित इस ग्र थका प्रकाशन हो चुका है। उनके अनुसार इसके सारे पद्य नायिकाके ही कहे हुए हैं कि तु अभिनवगुप्तने जो इसका विवरण दिया है उसमें लिखा है—

तत्र किञ्चित कविनिबद्धप्रमदारूपवक्तक किञ्चित कविनिबद्धतत्सखीभाषित, किञ्चित कविनिबद्धदूतीभाषितम्'।

अर्थात कुछ नायिकाका कहा हुआ है, कुछ उसकी सखीका और कुछ दूतीका। कि तु मुद्रित सस्करणमे सबका वक्तृत्व नायिकामें ही रखा गया है। इस काव्यकी प्रशसा करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

'न चास्य काव्ये तणमात्रमपि कलङ्कमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदया । तस्मात् प्राक्तन एव समाप्तिश्लोक'।

अर्थात् अभिनवगुप्तके अनुसार यह का य सवथा निर्दोष है । इसकी समाप्ति २१वे श्लोकपर ही होती है । अतिम २१ वा श्लोक मूल काव्यका ही है । वह प्रक्षिप्त नही है । इस निर्दोष और उत्तम काव्यकी टीका आरम्भ करनेके पूव अभिनवगुप्तने अपने मनको भी निर्दोष और शुद्ध बना लेनेकी आवश्यकता अनुभव करके ही लिखा है—

तत्परामशघवलमना कोकनदो मनाक ।
काव्येऽभिनवगुप्ताख्यो विवर्ति समरीरचत् ।।

२३–३५ अभिनवगुप्तके स्वग्रन्थोंमे उल्लिखित तेरह ग्र थ—

अभिनवके आगेके तेरह ग्र थ ऐसे हैं जो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्ध नही है कि तु अभिनवगुप्तके अ य ग्र थोमें उनका उल्लेख पाया जाता है । उसी उल्लेख के आधारपर यह अनुमान होता है कि इन ग्र थोकी रचना भी अभिनवगुप्तने की थी ।

१ क्रमकेलि—इन तेरह ग्रथोमें सबसे पहिला स्थान 'क्रमकेलि' नामक ग्रथका है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमाथत्रीशिका— विवरण' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'व्याख्यात चैतत् मया तट्टीकाया क्रमकेलौ विस्तरत'।

यह क्रमकेलि क्रमस्तोत्र की टीका थी । यह क्रमस्तोत्र जिसकी टीका 'क्रमकेलि' है अभिनवगुप्तके अपने रचे हुए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न कोई और प्राचीन ग्र थ था । क्योकि 'महाथ-मञ्जरी' की टीकामे महेश्वरान दने उसके उद्धरण बहुत दिए हैं । और वे उद्धरण अभिनवगुप्त वाले क्रमस्तोत्रमें नही मिलते हैं । इसलिए क्रम सिद्धातोका प्रतिपादन करने वाला यह 'क्रमस्तोत्र' जिसपर अभिनवगुप्तने क्रमकेलि' टीका लिखी थी, उनके अपने बनाए क्रमस्तोत्र' से भिन्न ही ग्र थ रहा होगा ।

२ शिवदृष्टयालोचन—'शिवदृष्टि' त्रिक दशनके परमाचाय सोमानन्दका प्रसिद्ध ग थ है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' में, जसा कि पहिले कहा जा चुका है अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचायका प्रशिष्य कहा था । सोमान द उन उत्पलपादाचायके भी गुरु थे इसलिए वे अभिनवगुप्तके परम-प्रगुरु हुए । उनके शिवदृष्टि' ग्रन्थके ऊपर अभिनवगुप्तने 'शिवदृष्टयालोचन' टीका लिखी थी । कि तु वह किसी रूपमे उपलब्ध नही हो रही है । अभिनवगुप्तने अपने 'परमाथ त्रीशिकाविवरण' मे उसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'यथोक्त मयैव शिवदृष्टयालोचने—
योऽपि स भवेद यस्य शक्तता नाम विद्यते । प० त्री० ११६ ।

३ पूवपञ्चिका—'मालिनीविजयत त्र'का दूसरा नाम 'पूवशास्त्र' भी है । इस 'मालिनी विजय' के आदि वाक्य अर्थात् केवल प्रथम श्लोकके ऊपर अभिनवगुप्तने 'मालिनीविजयवार्तिक' लिखा था । उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । इसी 'पूवशास्त्र' के ऊपर दूसरा व्याख्या ग्र थ 'पूर्व पञ्चिका' नामसे भी अभिनवगुप्तने लिखा था । इस प्रकारकी पञ्चिका या टीकाएँ

उ होंने अ य तंत्र ग्रथोपर भी लिखी थी । इनका उल्लेख भी अभिनवगुप्तने 'परात्रीशिका विवरण' मे निम्न प्रकार किया है—

'निर्णीत चैत मयैव पूवप्रभतिपञ्चिकासु । प० त्री० १४७ ।

४ पदाथप्रवेशनिणय टीका—इसके नामसे प्रतीत होता है कि त्रिक दशनके अभिमत ३६ पदार्थोंका वणन इस ग्र थमे किया गया होगा । इसका उल्लेख भी 'परात्रीशिका विवरण' मे इस प्रकार किया गया है—

वितत्य च विचारित मयतत पदाथप्रवेशनिणयटीकायाम' ।

पर तु आज न तो 'पदाथप्रवेश' ग्र थ मिलता हे और न उसकी यह टीका ही मिलती है ।

५ प्रकीणकविवरण—त त्रालोक ७–३३ मे अभिनवगुप्तने लिखा है—'इत्य जडे सम्ब धे न मुख्यण्यथसगति । आस्ता, अ यत्र विततमेतद विस्तरतो मया' । इसके ऊपर टीका करते हुए जयरथने लिखा है—

अ यत्रेति प्रकीणक विवरणादौ ।'

६ प्रकरणविवरण—यह प्रकरणस्तोत्र की टीका है और त त्रसार' श्लोक ३१ में उसका उल्लेख किया गया है ।

७ काव्यकौतुकविवरण—अभिनवगुप्तके गुरु भट्टतौनने अलङ्कार शास्त्रके विषयमें 'का य कौतुक' ग्र थ लिखा था । उसीकी टीका रूपमें अभिनवगुप्तने इस का यकौतुक विवरण' की रचना की थी । अभिनवगुप्तने अपने ध्व यालोकलोचन' मे भट्टतौतके 'काव्यकौतुक' ग्र थ और उसपर अपने विवरणका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'स स्वयमस्मदुपाध्याय—भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृत निणय पूवपक्षसिद्धा त । इत्यल बहुना' '। ध्व यालोकलोचन १७८

८ कथामुखतिलकम्—इस ग्रथका उल्लेख अभिनवगुप्तने अपनी 'बहती विमर्शिणी'में स्वकृत ग्रथके रूपमे किया है । कि तु उसका विषय क्या था यह कहना कठिन है ।

९ लघ्वीप्रक्रिया—यह कोई भक्तिपूर्ण स्तोत्र है । भगवदगीताथसग्रहमे इसका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

'यथा च मयव लघ्व्या प्रक्रियायामुक्तम्—
न भोग्य व्यतिरिक्त हि भोक्तुस्तत्त्व विभाव्यते ।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्य भोक्त भाग्ययो " ।।

१० भेदवादविवरण—इस ग्रन्थका उल्लेख 'भगवद्गीताथसग्रह' तथा 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' दोनो ग्रन्थोंमें पाया जाता है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' मे लिखा है—

''कृतप्रतानश्चाय प्रकृत्यथ ण्यथविवेको मयैव भेदवादविवरणे इति तत एवान्वेष्य ' ।
ई० प्र० वि० २-१५८ ।

११ देवीस्तोत्र विवरण—भगवद्गीतार्थसग्रह् अ० ६ श्लो० ३० की व्याख्यामें इस ग्रन्थका उल्लेख अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

'विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे देवीस्तोत्रविवरणे च मयव निर्णीत"। आन द वधनाचायके देवीस्तोत्रके ऊपर यह टीकाग्र थ प्रतीत होता है।

१२ तत्त्वाध्वप्रकाशिका—इस ग्र थमे कदाचित् त्रिक दशनके २६ तत्त्वोका सक्षेपमे वणन किया गया होगा। त न्त्रालोककी टीकामें जयरथने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र त त्वालम्बनमेव कृतम्"।

तन्त्रालोक ११-१६।

१३ शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र—'भगवद्गीतार्थसग्रह' में १५वे अध्यायके १९वे श्लोक की व्याख्यामें ग्र थकारने इस ग्र थका नाम दिया है। जसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है इसमें शिव और शक्तिके अभेदका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने उनकी स्तुति की है।

इस प्रकार २२ ग्रन्थ पहिले दिखलाए गए थे जिनमेंसे २१ किसी न किसी रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। उसके बाद १३ ग्रन्थ इस प्रकारके दिखलाए गए हैं जिनकी आज प्रकाशित अप्रकाशित किसी रूपमे उपलब्धि नही हो रही है कि तु स्वय अभिनवगुप्तके ग्र थोमें उनका स्वकृत ग्र थके रूपमें उल्लेख पाया जाता है। इन दोनोको मिला कर अब तक अभिनवगुप्त के ३५ ग्र थो का परिचय हो चुका है। शेष ग्र थोका परिचय आगे देते हैं। ये शष ६ ग्र थ ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल आधुनिक सूचोपत्रोमें अभिनवगुप्तके ग्र थोके रूपमें पाया जाता है।

आधुनिक सूचीपत्रोंमे उल्लिखित ६ ग्रन्थ—

३६ बिम्बप्रतिबिम्बवाद—इसका उल्लेख डा० ह्यूलरके काश्मार कटेलाग तथा डा० भण्डारकर की १८७५ ७६ में सगृहीत ग्र थो की सूचीमे पाया जाता है। इसकी प्रति भी मिलती है। किन्तु उसके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह कोई स्वत त्र ग्र थ नही है अपितु त न्त्रालोक' के तृतीय आह्निकमें नैयायिकोके सिद्धा तके खण्डनके प्रसगमें बिम्बप्रतिबिम्बवाद' का खण्डन किया गया है। उसीको किसीने अलगसे उतार कर यह पाण्डुलिपि तैयार की है। इसके अ तमें 'श्री त न्त्रालोके बिम्बप्रतिवाद सम्पूर्ण लिख कर जो इसकी समाप्ति की गई है उससे भी वही सिद्ध होता है कि यह त न्त्रालोक' का ही एक भाग है। स्वत त्र ग्र थ नही है।

३७ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणी वृत्ति—तजौरके पुस्तकालयमे इसकी दो प्रतिया मिलती हैं। उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह 'परात्रीशिका' के ऊपर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई सक्षिप्त वृत्ति है।

इन ३७ कृतियोके अतिरिक्त ३८ नाटयालोचन ३९ परमाथसग्रह और ४० अनुत्तर-शतक का भी अभिनवगुप्तके ग्र थोके रूपमें नवीन सूचीपत्रोमे उल्लेख पाया जाता है। कि तु वे अभिनवगुप्त के ही ग्र थ हं इस बातको निश्चयपूवक नही कहा जा सकता है।

अभिनवगुप्तके जिन ४० ग्र थो या रचनाओका विवरण ऊपर दिया गया है उनको हम विषयकी दृष्टिसे तीन भागोमें विभक्त कर सकते हैं। १ दाशनिक २ साहित्यिक तथा ३ तान्त्रिक।

उनकी रचनाओका सबसे बडा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तोसे सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक साहित्यमें उनके मुख्यत तीन ग्रन्थ आते हैं। इनमें से दो प्रत्यभिज्ञा दर्शनके सम्बन्धमें लिखे गए हैं और एक गीताके सम्बन्धमे। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' और ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' ये दोनो प्रत्यभिज्ञा दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ है और 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' गीतासे सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है। इसको भी हम अभिनवगुप्तकी दार्शनिक कृतियोमें मान सकते हैं। उनकी रचनाओ का दूसरा भाग साहित्य शास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। इसमें ध्वन्यालोकलोचन' तथा अभिनवभारती' ये दो मुख्य ग्रन्थ आते हैं। घटकर्पर विवरण' को भी कथञ्चित इस वर्गमे सम्मिलित किया जा सकता है। अभिनवगुप्तकी शेष प्राय ३४ रचनाएँ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं।

अभिनवगुप्तके जीवनका पटाक्षेप—

अभिनवगुप्तका जीवन एक धार्मिक और साधनामय जीवन था। उनकी साधना तान्त्रिक साधना थी। तान्त्रिक साहित्यका जितना गम्भीर अध्ययन और विवेचन उन्होंने किया उतना ही उन सिद्धान्तोको अपने जीवनमे चरितार्थ करनेका यत्न भी किया था। इसलिए उनका जीवन तान्त्रिक साधनाओका मूर्त रूप बन गया था। ऐसे महान और आदर्श जीवनका पटाक्षेप भी स्वाभाविक रूपसे वैसा ही महान् और सुन्दर होना चाहिए था। और हुआ भी वैसा ही। काश्मीरमे श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीच मगम नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव कन्दरा' नामकी एक गुफा आज भी पाई जाती है। इस गुफाके पास एक छोटा सा गाव भी है। उसका नाम भैरवगाव है। और उसके पास एक सुन्दर छोटी नदी बहती है। उसका भी नाम भैरव नदी है। इस प्रकार भैरव गाव, भैरवनदी, और भैरवगुफा तीनोंने एक स्थानपर मिल कर इस स्थानको भैरव भक्तोके लिए विशेष आकर्षणका केन्द्र बना दिया है। इसलिए अभिनवगुप्तने अपने जीवन की सन्ध्यावेलाको इस स्थानपर ही व्यतीत करने का निश्चय किया। और अन्तिम समयमें वही आकर अपनी साधना करने लगे थे। भैरवगुफा उनका बडा प्रिय स्थान था। इस गुफाका मुख पहाडके ऊपरी भागमे है। गुफा बहुत बडी है। उसमे अनेक स्थान ऐसे हैं जिनमें चालीस पचास आदमी एक साथ बैठ सकते हैं, और शान्त भावसे अपनी साधना कर सकते हैं। एक दो आदमियो के बैठने और एकान्त सेवा योग्य तो सकडो स्थान उस गुफाके भीतर सहज सुलभ हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि अभिनवगुप्तने इसी भैरवगुफाके भीतर अपनी अन्तिम समाधि ग्रहण की। यद्यपि इस विषयमें कोई लिखित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु काश्मीरके लोगोमे और विशेष रूपसे इस भैरवकेन्द्रके आस पास रहने वाले लोगोमे यह बात प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम समयमे अभिनवगुप्त अपने बारह सौ शिष्योके साथ इस गुफाके भीतर चले गए और फिर वापस नही आए। बारह सौ शिष्यो वाली बातमे सम्भव है कुछ अत्युक्ति हो या बारह सौ शिष्य सम्भव है उनकी अन्तिम समाधिको देखने आए हो। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तने इस गुफामें समाधिस्थ होकर ही अपनी जीवन लीला सवरण की हो।

अभिनवभारती—

अभिनवगुप्त भारतके महान विद्वान, महान् दार्शनिक और महान साहित्याचार्य हैं। हम उनकी तान्त्रिक विचारधारासे भले ही सहमत न हो किन्तु उन्होने सस्कृत साहित्य की जो अपूर्व सेवा की है उसके लिए भारत चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा। उनकी साहित्य विषयक

दो मुख्य कृतिया हैं एक 'ध्व यालोक लोचन और दूसरी 'अभिनवभारती । यो कहनेको दोनो टीका ग्र थ हैं। ध्व यालोकलोचन' आन दवध नाचायके 'ध्व यालोक' ग्र थकी टीका है और 'अभिनवभारती' भरतमुनिके 'नाटयशास्त्र' की टीका है। कि तु इन टीका ग्र थोके सामने सैकडो मौलिक ग्र थ 'तस्मै वहेयमुदक घटकपरेण'—घटकपर मे पानी भरते नजर आते हैं। अभिनवगुप्तके इन टीकाग्र थोने भारतीय विद्व मण्डलीमे जो असाधारण आदर और मा यता प्राप्तकी है उसका शताश भी इ ही विषयोपर मौलिक कहे जाने वाले ग्र थोको प्राप्त नही हुआ है। अभिनवगुप्तने इन टीकाग्र थोमे जो कुछ लिख दिया है वह उस विषयपर अ तिम प्रमाण है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यिक और सारे आचाय उसीके आधारपर अपने अपने पाण्डित्यका प्रदशन करते रहे हैं।' 'तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते'।

ऐसे महापुरुष हैं ये अभिनवगुप्त। वे काश्मीरके निवासी हैं। उस काश्मीरके जो भारतकी साहित्यिक प्रवत्तियोंका एकमात्र के द्र और एकमात्र मूलस्रोत है। भारतीय अलकारशास्त्र की तरङ्गिणीका उद्गमस्रोत भामहके काव्यलकारमें पाया जाता है और वे काश्मीरी हैं। रीति सम्प्रदायके प्रवतक वामन, अलङ्कार सम्प्रदायके उदभट, ध्वनि सम्प्रदायके आचाय आन दवधन, वक्रोक्ति सम्प्रदायके प्रवतक आचाय कु तक भी तो काश्मीरी हैं। इनके अतिरिक्त भट्टतौत वामन गुप्त, महिमभट्ट, रुद्र, क्षमे द्र रुद्रट राजानक, मम्मट, मखक, जयरथ आदि साहित्य शास्त्रके सभी प्रमुख आचाय काश्मीरमें उत्पन्न हुए। काश्मीरकी इ ही महान विभूतियोमें आचाय अभिनवगुप्त भी एक महान विभूति है। काश्मीर भारतका मूध य प्रदेश है। अभिनवगुप्त काश्मीरके मूध य विद्वान् है। और अभिनवभारती अभिनवगुप्तकी कृतियोमें मूध य कृति है।

अभिनवभारतीकी रचनाके प्रेरक तत्त्व—

यो तो नाट्यशास्त्रकी इस अभिनवभारती टीकाकी रचना अभिनवगुप्तने की है कि तु उ होने उसे अपनी व्याख्या न मान कर गुरुपरम्परागत व्याख्या माना है। अभिनवगुप्तके नाट्यशास्त्र गुरु भट्टतौत थे। वे अपने कालके नाट्यशास्त्रके सबसे प्रमुख आचाय माने जाते थे। उनका काम केवल अध्यापन करना था। ग्र थ लेखनकी ओर उनकी प्रवत्ति नही थी। वे भरत नाटयशास्त्र का अध्यापन करते समय उसकी जो सु दर व्याख्या करते थे उसको सुन कर शिष्यगण मुग्ध हो जाते थे। उनके पूव उदभट लोल्लट, भट्टनायक आदिने भी नाटयशास्त्रकी व्याख्या की थी। भट्टतौत अपने अध्यापनके समय उन सब पूववर्ती व्याख्याकारोकी युक्तियुक्त आलोचना करते जाते थे जिससे उनकी अध्यापन शैली और भी अधिक सरस एव आकषक बन जाती थी। जिन लोगोको उस व्याख्याके सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता था वे तो अपने आपको ध य मानते ही थे कि तु अ य दूर दूरके लोग भी उनकी व्याख्या सुननेके लिए लालायित रहते थे। अभिनवगुप्त भट्टतौतके प्रति भाशाली और लेखनीके धनी शिष्य थे। उ होने अपने गुरुकी इन अद्भुत व्याख्याओको सुरक्षित रखने और दूरस्थ लोगोको भी उनसे लाभ उठानेका अवसर मिल सके इस दृष्टिसे उन सबको लिपिबद्ध करनेका निश्चय किया। और उसके फलस्वरूप ही इस अभिनवभारती' ग्र थकी रचना हुई है। भट्टतौतकी व्याख्या अभिनवभारतीका मूल आधार है और दूरस्थ विद्वानोकी उन व्याख्याओका ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता इसका प्रेरक तत्त्व है। इन दो मौलिक तत्त्वोके योगसे ही अभिनव-भारतीकी रचना हुई है इस तथ्यको अभिनवगुप्तने अभिनवभारतीके आरम्भमें निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ
सक्षिप्त वत्तिविधिना विशदीकरोति ।।१४।।"

'सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थम्' सद्विप्र भट्टतोतने नाट्यवेदके जिस तत्त्वार्थको लिखित रूपसे नही केवल वदनोदित'—मौखिक रूपसे कहा था उसको अभिनवगुप्तने 'सक्षिप्तवत्तिविधिना विशदीकरोति' सक्षिप्त वत्तिकी रचना द्वारा स्पष्ट करनेका यह यत्न किया है। किसके लिए, कि 'अर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो अर्थिजनो अर्थात् जो भट्टतौतकी इन व्याख्याओके जिज्ञासु ह उन अर्थिजनोके मनोरथकी पूर्तिकेलिए अभिनवगुप्तने इस सक्षित वत्तिके रूपमे इस ग्र थकी रचना की है। यह इस श्लोकका भाव है।

ये अर्थिजन जिनकी मनोरथकी सिद्धिकेलिए इस ग्र थकी रचना की कौन थे—यह प्रश्न हो सकता है। हमारा अनुमान है कि ये लोग दक्षिण भारतके सुदूरवर्ती भरतनाट्यके प्रेमी कलाकार और विद्वान थे। दक्षिण भारतमे 'भरतनाट्यम्' का बहुत अधिक प्रचार रहा है। आज भी वहाँ इसका बहुत अधिक प्रचार है और बहुत पुराने समयसे वहा उसके प्रेमी बहुत बडी सख्या में रहे हैं। 'भरतनाटचम्' के साथ उनका विशेष प्रेम होनेके कारण ही उसपर जब भट्टतौतकी विशद व्याख्याओका समाचार उनको मिला तो वे उनके जाननेके लिए अधीर हो उठे। इतने अधीर कि अभिनवगुप्तने उनको अर्थिजन याचक व द कह कर सकेतित किया है। हमने जो यह अनुमान किया है कि ये अर्थिजन' दक्षिण भारत के ही लोग थे इस के दो कारण ह —

१ हमारे अनुमानका पहला आधार तो यह है कि आजके इस नवीन युगमें अभिनवभारतीकी जो पाण्डुलिपि मिली हैं वह ठेठ दक्षिण भारतके मलाबार प्रा तमे प्राप्त हुई हैं। भारतके और किसी भागमें अब तक अभिनवभारतीकी कोई पाण्डुलिपि प्राप्त नही हुई। काश्मारमे जिस अभिनवभारतीकी रचना हुई है वह यदि क्रमश प्रचार और प्रसिद्धि प्राप्त करते करते दक्षिण भारत तक पहुँचती तो भारतके इस विशाल मध्यवर्ती भागमें कही अभिनवभारतीकी एक दो पाण्डुलिपियाँ तो उपलब्ध होती। भारतके मध्यवर्ती विशाल क्षेत्रमे एक भी पाण्डुलिपिका न मिलना और ठेठ दक्षिण भारतमें उनका मिलना यह सूचित करता है कि अभिनवभारती काश्मीर से सीधे दक्षिण भारत पहुँची है। अभिनवगुप्तके और बहुतसे ऐसे ग्र थ है जिनके नाम और उनके उद्धरण अभिनवगुप्तने अपने अ य ग्र थोमे दिए हैं कि तु वे मूल ग्र थ जिनके कि उद्धरण दिए गए हैं आज उपलब्ध नही हो रहे हैं। इसी प्रकार अभिनवभारतीकी मूल प्रतिका काश्मीरमे भी अभी तक पता नही चल सका है कि तु नाटयशास्त्र और अभिनवगुप्तके प्रेमी उसकी जो प्रतिलिपि अपने साथ दक्षिण भारत ले गए थे वहाँ सुरक्षित रही। और दक्षिण भारतके नाट्य प्रेमियोके प्रयत्नसे ही आज हमे इस महान् ग्र थरत्नकी पुन प्राप्ति हो सकी है।

२ दूसरी बात यह है कि दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नगरमे आज भी नटराजका म दिर विद्यमान है जो दक्षिण भारत के राजाओके भरतनाटयके प्रति अपूर्व प्रेमका सूचक है। दक्षिण भारतके चोल राजाओने तेरहवी शताब्दीमें इस म दिरकी रचना करवाई थी। इस मन्दिर के द्वारो पर भरत नाट्यशास्त्रके चतुथ अध्यायमे जिन १०८ प्रकार करणोका वणन किया गया

उन सबके ज्या के त्यो चित्र पत्थरके ऊपर खुदवा कर बनवाए गए थे। प्रत्येक चित्रके नीचे उसका आधारभूत भरतमुनिका श्लोक भी खुदा हुआ है। इन १०८ चित्रोमेंसे ८५ चित्र तो बिल्कुल उसी क्रमसे दिए गए हैं जिस क्रमसे कि भरत नाटयशास्त्रमें उन करणोका वर्णन किया गया है। शेष १५ चित्रोमें किसी कारणवश उस क्रमको नही निबाहा जा सका है। किन्तु सख्या १०८ पूरी है। इस मन्दिरका नाम और उसकी रचना दक्षिण भारतके चोल राजाओके अदभुत नाटय प्रेम की परिचायक है। मन्दिरकी रचना यद्यपि बादमें १२वी १३वी शताब्दीमे हुई है परन्तु यह निश्चित है कि वहाके लोगोका नाटयके प्रति अगाध प्रेम उससे पूर्व अभिनवगुप्तके समयमे भी विद्यमान था। इससे यह अनुमान होता हे कि यद्यपि अभिनवगुप्तने 'अर्थिजन' की ऐसी कोई व्याख्या नही की है किन्तु फिर भी दक्षिण भारतके लोगोका नाटयके प्रति अगाध प्रेम और अभिनवभारतीकी प्रति की केवल दक्षिण भारतमें प्राप्तिके आधारपर यह अनुमान करना असगत नही होगा कि अभिनवगुप्त ने इन्ही 'अर्थिजनो' के 'वाञ्छितकी सिद्धिकेलिए' इस ग्रन्थकी रचनाकी थी। और उन 'अर्थिजनो'ने भी ११वी शताब्दीसे लेकर २०वी शताब्दी तक उस अमूल्य निधि 'अभिनवभारती' को अपने यहा सुरक्षित रख कर अपने 'अर्थिजन' होने का यथार्थ परिचय दिया है।

अभिनवभारतीकी उपलब्धि कसे हुई—

भारतीय साहित्य एव पुरातत्त्वकी रक्षा एव अनुसन्धानके लिए ब्रिटिश शासन कालमे बडा काम किया गया। आज इस दिशामें कदाचित् उतनी सलग्नताके साथ काय नही हो रहा है। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारोके अनेक अन्वेषक दल हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोजमें घूम घूम कर जहाँ कही किसी हस्तलिखित पुस्तकका पता लगता वहाँ जाकर जिस किसी रूपमें भी सम्भव होता दुर्लभ ग्रन्थोका सग्रह करनेका यत्न करते थे। मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे ही अन्वेषक दल के प्रयत्नसे अभिनवभारती' की पाण्डुलिपिकी प्राप्ति हुई थी। मद्रास सरकारके इस अन्वेषक दलने मलाबारमें मलयालम लिपिमें लिखी हुई अभिनवभारतीकी पाण्डुलिपिको तीन खण्डोमे तीन अलग अलग स्थानोपर व्यक्तिगत सम्पत्तिके रूपमे लोगोके पाससे प्राप्त किया था। इन तीनो भागोमें मिल कर ३१ वें अध्याय तककी अभिनवभारती आ गई थी। ये पाण्डुलिपियाँ ताडपत्र पर अकित थी। मद्रासमें 'गवनमेन्ट ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' नामक सस्था इस प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थोका सग्रह आदिका काय करती है। मलयालम लिपिमे ताडपत्रपर अकित उक्त पाण्डुलिपिया उक्त पुस्तकालयमे लाई गई। इस पुस्तकालयके प्रारम्भिक सूचीपत्रमे ये तीनो पाण्डुलिपियाँ क्रमश २४७८, २७८५ तथा २७७४ सख्यापर अकित की गई हैं।

२४७८ न० की पाण्डुलिपि चेलापुरम कालीकटके श्री अम्बपालकट करबकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। इसमे मूल नाटचशास्त्रके साथ १९ वे अध्याय तककी अभिनवभारती टीका दी गई थी। सन १९१७ १८ मे ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

न० २७८५ वाली दूसरी पाण्डुलिपि कडलूर मननरारी तिरताल डि० मलाबार के श्री नारायण नम्बूदरीपादके पाससे प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपिमे मूल नाटयशास्त्रका अश नही था केवल अभिनवभारती के २० से लेकर २८ अध्याय तककी अभिनवभारती टीका मात्र

ही थी। सन् १९१८ १९ मे ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे देवनागरी लिपिमे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

२७७४ सख्या वाली तीसरी पाण्डुलिपि भी उसी कडलूर डि० मलाबारके निवासी श्री नारायण नम्बूदरीपादके यहासे प्राप्त हुई थी। इसने केवल २९ ३१ तकके तीन अध्यायोकी नाटयशास्त्र रहित केवल अभिनवभारती थी। इसकी भी दूसरी प्रतिलिपि उसी वष अर्थात् १९१८ १९ में तैयार करा ली गई है।

दक्षिणभारतके मलाबार जिलेसे अभिनवभारतीकी तीन भागोमे यह एक प्रति प्राप्त हो सकी जिसमे १-३१ अध्याय तककी अभिनवभारती का पाठ आ गया था। मूल पाण्डुलिपि मलयालम लिपिमे लिखी गई थी। उससे देवनागरी लिपिमे दूसरी प्रतिलिपि तयार कराई गई। ये प्रतिलिपिया मद्रास सरकारकी 'ओरिए टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' मे सरक्षित है।

अभिनवभारती की दूसरी प्रति तिरुवाकुरके महाराजाके निजी पुस्तकालयमें प्राप्त हुई। इन दो प्रतियोके अतिरिक्त अभी तक और कोई प्रति कही उपलब्ध नही हुई है।

मद्रास पुस्तकालय तथा तिरुवाकुर पुस्तकालयमे अभिनवभारतीकी जो प्रतियाँ पाई गई वे दोनो किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तयार की गई थी। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि एक प्रतिमें जो भाग अनुपलब्ध है वह भाग दूसरी प्रतिमे भी अनुपलब्ध है—जसे सप्तम अष्टम अध्यायोकी अभिनवभारती दोनो ही प्रतियोमे नही मिलती है। इसलिए ये दोनो प्रतियाँ किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई प्रतीत होती हैं। फिर भी कही लिपिकारके प्रमादसे, कही कीडा लग जाने या अ य कारणोसे पर्याप्त अ तर हो गया है। अभिनवभारतीके द्वितीय सस्करणके सम्पादक महोदयने अपनी भूमिका के पृ० २० पर इस भेदको दिखलाते हुए लिखा है—

"दो दीज़ टू सेटस आफ मनस्क्रिप्टस सीम टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम वन ओरिजिनल सोस, दे शोड सो मच डाइवरजेंस इन देयर क टैंटस ड्यू टु दि स्क्राइबल एररस, ब्रोकेन पीसेज, माथ ईटेन लीव्स एण्ड अदर नैचुरल डिकेज़, दैट दे एपीयड टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम आलटुगैदर डिफरै ट मैनस्क्रिप्टस।"[1]

अर्थात् मद्रास पुस्तकालय वाली तथा तिरवाकुर पुस्तकालय वाली ये दोनो प्रतिया यद्यपि किसी एक ही प्रतिके आधारपर तैयार की गई हैं कि तु कही लिपिकारके प्रमादसे कही ताडपत्रके टूट जानेसे या कीडा लग जाने अथवा अ य प्रकारके प्राकृतिक विकार हो जानेके कारण उनके लेखमे इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि मानो उ हे बिल्कुल भिन्न आधारोपरसे

1 Though these two sets of manuscripts seem to have been copied out from one original source, they showed so much divergence in their contents due to the scribal errors, broken pieces, moth-eaten leaves and other natural decays, that they appeared to have been copied out from altogether different manuscripts

तयार किया गया हो। प्रथम सस्करणके सम्पादक महोदयने भी इस विषयमे अपने विचार इस प्रकार (भूमिका पष्ठ ६२ द्वितीय सस्करण) दिए हैं—

"दीज टू सेटस डिफर इन रीडिंग्स, बट दि डिफरेंसेज आर डयू टु दि एरेनियस डिसाइफरिग आफ ए स्क्राइब आर टु एन इटेलीज ट सजैशन आफ ए मिसिग वड आर लेटर ह्वेयर इ सक्टस हैड डैमेज्ड दी लीफ[१]"।

जब अभिनवभारती की इन प्रतियोकी प्राप्ति की सूचना प्रकाशित हुई तो अनेक विद्वानोने उसके विषयमे अपनी अभिरुचि प्रकट की और उसकी प्रतिलिपि अपने लिए प्राप्त करनेका यत्न किया। तदनुसार जिन लोगोने माग की उनको उनके व्यय पर उक्त पाण्डुलिपियोकी प्रतिलिपियाँ अकित करवा कर भेज दी गई।

तिरवाकुर महाराजाके राजपुस्तकालय वाली अभिनवभारतीकी एक प्रतिलिपि सरस्वतीभवन पुस्तकालय बनारसकेलिए तैयार कराई गई। बनारस वाली प्रतिलिपिसे भण्डारकर रिसच इस्टीटयूट पूना के लिए एक और प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और इसको फिर मद्रास सरकारके पुस्तकालय वाली प्रतिके साथ मिलान किया गया। पूना वाली यह प्रति पूनाके पुस्तक सग्रह सूची में ३४३ सख्या पर अकित की गई है। इस प्रतिलिपि में भी उतना ही भाग और उसी रूपमे था जितना कि मद्रास पुस्तकालय वाली प्रतिलिपि में था। इससे यह अनुमान किया गया है कि ये दोनो प्रतिया किसी एक ही आधार पर तैयार की गई थी।

अर्थात् यद्यपि इन दोनो पाण्डुलिपियो में पाठ भेद पाया जाता है पर तु वे पाठा तर या तो लिपिकारके अशुद्ध लेखनके कारण अथवा जहाँपर कीडोने पृष्ठके किसी स्थानको क्षत कर दिया है उस स्थानपर किसी विलुप्त शब्द अथवा अक्षरकी पूर्तिके सु दर सुझावके कारण हुए हैं।

अभिनवभारतीका सम्पादन और प्रकाशन —

अभिनवभारती टीका सहित नाटयशास्त्रके अब तक दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनो ही सस्करण गायकवाड ओरिएटल सिरीज, बडौदासे प्रकाशित हुए हैं। प्रथम सस्करण सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इस सस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने किया था। जिन दिनो 'अभिनवभारती' की मालाबार और तिरुवाकुर वाली दोनो पाण्डुलिपिया प्राप्त हुई थी उन दिनो श्री रामकृष्ण कवि महोदय मद्रास सरकारके हस्तलिखित पुस्तकोके पुस्तकालयमें काम कर रहे थे। इसलिए उन्हे इस नव आविष्कृत ग्रन्थ रत्नके सम्पादनमें बडी अभिरुचि थी और उन्होने मुख्यत मद्रास पुस्तकालयमें सगृहीत मालाबार वाली पाण्डुलिपिके आधार पर अभिनव भारती' का सम्पादन कर सन् १९२६ में बडौदासे प्रकाशित करवाया। यह केवल प्रथम भाग था। जिसमे सात अध्याय प्रकाशित हुए थे। इन सात अध्यायोमेसे भी सप्तम अध्यायपर अभिनवभारती नही थी। इन अध्यायो वाली मालाबारमें उपलब्ध ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे सन्

१ These two sets differ in readings, but the differences are due to the erroneous deciphering of a scribe or to an intelligent suggestion of a missing word or a letter where insects had damaged the leaf

१९१७ १८ मे मद्रास पुस्तकालयकेलिए प्रति तयार कर ली गई थी। उस प्रतिके आधारपर उसके केवल सात अध्यायोके सम्पादन और प्रकाशनमे लगभग आठ वषका समय लग गया। पाण्डुलिपियो के अत्य त अशुद्व होनेके कारण रामकृष्ण कवि महोदयको इसका सम्पादन करने तथा प्रेस कापी तैय्यार करनेमे बडी कठिनाइयोका सामना करना पडा। अपनी इन कठिनाइयोका उल्लेख करते हुए उ होने भूमिकामें (द्वितीय सस्करण पृ० ६३ पर) लिखा है—

'नेवरदिलेस दि प्रिपरेशन आफ दि प्रेसकापी, एस्पेशली फार दि फस्ट एण्ड दि लास्ट वाल्यूम्स हैज टक्सड आल माइ रिसोर्सेज। दि ओरिजिनल्स आर सो इनकरेक्ट दट ए स्कालर फ्रेड आफ माइन इज प्राबेब्ली जस्टीफाइड इन सेइग दैट—इवन इफ अभिनवगुप्त डिसडिड फ्राम हैवन एण्ड सा दि मनिस्क्रिप्ट ही वुड नाट इजिली रस्टोर हिज ओरिजिनल रीडिंग'[1]।

अर्थात् इस अभिनवभारतीके प्रथम तथा अतिम भागोकी प्रेस कापी तयार करनेमे सम्पादक महोदयको अत्यधिक कठिनाइयोका सामना करना पडा क्योकि मूल पाण्डुलिपियोका पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि जिसको देख कर सम्पादक महोदयके एक विद्वान मित्रने यह मत व्यक्त किया था यदि एक बार स्वय अभिनवगुप्त भी स्वगसे उतर आवे तो वे इन पाण्डुलिपियोको देख कर अपने शुद्ध पाठका उद्धार नही कर सकेंगे।

यह है 'अभिनवभारती' के पाठोकी दुरवस्थाका एक चित्र। ऐसी निराशाजनक स्थिति मे प्रथम और द्वितीय सस्करणोके सम्पादकोने जो कुछ काय किया है वह बडा श्रम साध्य एव श्लाघ्य काय है।

पाठ सुधार और उसके आधार—

'अभिनवभारती' के पाठोकी इस शोचनीय स्थितिका अनुभव उसके सम्पकमें आने वाले सभी विद्वानोने किया है और उसके सुधारका यथासाध्य यत्न भी अनेक विद्वानोने किया है। अब तक पाठसशोधनकी दिशामें जो कुछ काय हुआ है उसका आधार कुछ प्राचीन ग्र थ हैं। ये ग्र थ इस प्रकारके हैं जि होने भरत नाटयशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर विषयका कुछ स्वतन्त्र रूपसे प्रतिपादन किया गया हे। (१) सम्पादक महोदय श्री रामकृष्ण कविके पास अभिनवभारतीके प्रारम्भसे लेकर छठे अध्याय तकका कोई सक्षिप्त सार ग्र थ था उसके द्वारा उनको विषयको समझनेमें पर्याप्त सहायता मिली थी। इस सक्षेप सारका उल्लेख रामकृष्ण कविने भूमिका (पृ० ६२ पर) मे इस प्रकार किया है—

'देअर इज ऐन ऐपीटोम फार दिस कमेंटरी फ्राम दि बिगिनिग टु दि मिडिल आफ दि सिक्स्थ चैप्टर, ह्विच वाज प्राबेब्ली रिटिन बाइ पूरण सरस्वती, दि वेल नोन कमेंटेटर आन मेघ स देश एण्ड मालती माधव एण्ड आलसो दि आथर आफ ए पोयम एण्ड ए ड्रामा। बट

---

1 Nevertheless the preparation of the press copy especially for the first and the last volumes, has taxed all my resources The originals are so incorrect that a scholar friend of mine is probably justified in saying that even if Abhinavagupta descended from heaven and saw this mss he would not easily restore his original reading

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिता

अभिनवभारती

[नाट्यशास्त्र-विवृति]

प्रथमोऽध्यायः

श्रीमदाचायविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचित
अभिनवभारती-सञ्जीवन भाष्यम्

उदीरय कवितम कवीनामुनत्तनमभि मध्वा घतेन ।
स नो वसूनि प्रयता हितानि च द्राणि देव सविता सुवाति ।।
ऋग्वेद ५-४२-२ ।

जगन्नाट्यमिद येन तत नित्य प्रवतते ।
नाट्यवेदादिमूलाय तस्मै विश्वात्मने नम ।।
भरतमुनिकृत यन्नाटचशास्त्र प्रसिद्ध
विवतिरभिनवाख्या भारती या च तस्य ।
द्वयमिदमिह मूल सवसाहित्यशास्त्रे
इति कृतमतिरेने भाषया स तनोमि ।।

नामकरण—

अभिनवभारती' भरतमुनि प्रणीत 'नाटचशास्त्र' पर सबसे अधिक महत्वपूण एव प्रसिद्ध प्राचीन टीका ग्र थ है। यद्यपि इस ग्र थमे स्वय ग्र थकारने अनेक प्राचीन टीकाकारोके द्वारा लिखी गई टीकाओका उल्लेख और उनके मतोकी आलोचना आदि की है पर तु आज उनमेसे कोई भी टीका उपल ध नही होरही है। भरतमुनिके नाटचशास्त्रका मम समझनेके लिए केवल यही एकमात्र साधन उपलब्ध है। इस अनुपम टीकाग्र थकी रचनाके बाद प्राचीन सभी टीकाए इसके सामने निष्प्रभ होकर मानो विलीन होगई है। पर तु भरतसूत्रोकी अनुपम अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करनेके लिए यह अकेली ही पर्याप्त है। इसकी इसी अपूव विशेषता को इसके अभिनवभारती' नामसे व्यक्त किया गया है। इसके साथ ही ग्र थकारने इस नामकरणमे अपने तथा भरतमुनि दोनोके नामाशोका समावेश करके उसमें एक अपूव चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इस प्रकार अपनी दुहरी उपयोगिताके कारण ग्र थका यह नामकरण बहुत ही सु दर एव साथक बन पडा है। वह जहां एक ओर इस ग्र थ और उसमें प्रस्तुत व्याख्या शैलीकी अपूवताको व्यक्त करता है वहाँ दूसरी ओर मूलग्र थकार भरतमुनि तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनोका एक साथ स्मरण कराते हुए उनके सम्ब धको भी सूचित करता है। यह इस 'अभिनवभारती' नामकी एक बडी महत्त्व पूण विशेषता है।

यस्तन्मयान् हृदयसवदनक्रमेण
द्राक् चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी ।
हर्षोल्लसत्परविकारजुष करोति
वन्देतमा तमहमिन्दुकलावतसम् ॥१॥

ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण—

प्रत्येक शुभ कायके प्रारम्भमे भगवानका स्मरण करना आस्तिक जनोका एक स्वाभाविक काय है। ग्र थकार जब अपने ग्र थनिर्माण रूप शुभ कायको प्रारम्भ करता है तो अपने ग्र थकी निर्विघ्न समाप्तिकी कामनासे भगवानका स्मरण करता है और शिष्योके शिक्षणकेलिए उसको अपने ग्र थके आरम्भमें अङ्कित भी कर देता है। इस प्रकारकी स्वस्थ परम्परा आस्तिक ग्रन्थकारो मे पाई जाती है। इसीको मङ्गलाचरण कहते है। इसी परम्पराके अनुसार श्री अभिनवगुप्त भी अपने इस ग्र थके आरम्भमे मङ्गलाचरणके रूपमें अपने अराध्यदेव शिवका स्मरण करते हुए उनकी व दनामें प्रथम श्लोक इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियोको [भूमिविभाग अर्थात्] मर्यादाके अनुसार धारण करने वाले जो [शिव, अपनी आराधनामे] तन्मय हुए भक्तोको उनके हृदयकी तल्लीनताके अनुसार तत्क्षण ही आनन्दातिरेकसे समुदभूत] रोमाञ्च आदि रूप) विकारोसे परिपूर्ण कर देते है उन चन्द्रकला धारी शिवको मै अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करता हू।१।

इस श्लोकमे शिवको चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी अर्थात नाना प्रकारकी शक्तियोसे युक्त कहा है। परमेश्वरके अन तशक्तियोसे युक्त होनेपर भी 'प्रत्यभिज्ञा दशन' में उनकी पाच शक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। इनको वहा १ चित शक्ति २ आन दशक्ति ३ इच्छाशक्ति, ४ ज्ञानशक्ति और ५ क्रियाशक्ति नामसे कहा गया है। चित शक्ति प्रकाशरूपा हे। उसीके कारण परमेश्वर शिव स्वयम्प्रकाश रूप माने जाते हैं। वह शक्ति जिसके द्वारा कि वे वाह्य वस्तुओकी अपेक्षा किए बिना स्वत त्र रूपसे आन दका अनुभव करते ह 'आन दशक्ति' कहलाती है। 'त त्रसार' मे आन द शक्तिका स्वरूप यह बतलाया है कि 'आन द स्वात त्र्यम। स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लाद प्राधान्यात'। 'अप्रतिहत इच्छासम्पन्नता इच्छाशक्ति' कहलाती है। 'ज्ञानशक्ति' 'आमष रूपा' मानी गई है। 'आमष ईषत्तया वेद्यो मुखता' अर्थात वेद्य पदार्थोका साधारण ज्ञान होना 'आमष' कहलाता है। और 'सर्वाकारयोनित्व क्रियाशक्ति' अर्थात समस्त आकार धारण करनेकी क्षमता 'क्रियाशक्ति' है। इ ही शक्तियोके द्वारा शिव अ य उपादान आदिके बिना ही इस सृष्टिकी रचना करते हैं। इसी बातको 'आचाय वसुगुप्त' ने इस प्रकार लिखा है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव त वते ।
जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

परिचय—

इस ग्र थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तपादाचाय भारतीय साहित्यशास्त्रके आधार स्तम्भ एव प्रसिद्ध आचाय हैं। न केवल साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें ही अपितु दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमे भी उनका बडा महत्त्व पूर्ण स्थान है। वे काश्मीरके निवासी और शैवमतके अनुयायी थे। काश्मीर देश प्राचीन-

कालसे ही भारतका एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। वह जहा एक ओर अपने अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्यकेलिए विश्वमें विख्यात है वहा दूसरी ओर अपने बौद्धिक सौन्दर्यकेलिए भी उतना ही विख्यात रहा है। संस्कृतसाहित्य और दर्शनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी रचना काश्मीरकी पुण्यभूमिमे हुई है। कैयट जैयट जैसे महान वैयाकरण, आनन्दवर्धन मम्मट लोल्लट जैसे विख्यात साहित्यशास्त्री, उत्पलपाद और अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिकोकी जन्मभूमि काश्मीर दीर्घकाल तक भारतीय विद्याका प्रधान केन्द्र और विद्वानोके आकर्षणका क्षेत्र रहा है।

प्रकृत 'अभिनवभारती' ग्रन्थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तने इसी पुण्यभूमिमें जन्म लिया था। काश्मीरका अपना विशेष दर्शनशास्त्र है जो 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' या 'त्रिक दर्शन' के नामसे विख्यात है। यह दर्शन शैवमतका अनुयायी है। त्रिक दर्शन' के मूल प्रवर्तक 'आचार्य वसुगुप्त' [८०० विक्रमीके आस पास] हैं। अभिनवगुप्तके शिष्य क्षेमराज [९७५ १०२५] ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' नामक अपने ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है कि स्वयं भगवान श्रीकण्ठने आचार्य वसुगुप्तको स्वप्नमें महादेवगिरिके शिवोपल नामक एक विशाल शिला खण्डपर लिखे गए शिवसूत्रो का उद्धार तथा प्रचार करनेका आदेश दिया था। वसुगुप्तको स्वप्नमें निर्दिष्ट शिवोपलपर खुदे हुए ७७ सूत्र मिले थे। ये ही ७७ सूत्र इस त्रिक दर्शनके मूल आधार हैं। वसुगुप्तने इन शिवसूत्रोकी व्याख्यामें ही ५२ कारिकाओ वाले अपने 'स्पन्द कारिका' नामक ग्रन्थकी रचना की है। वसुगुप्तके दो शिष्य थे १ कल्लट और २ सोमानन्द। कल्लटकी सबसे प्रमुख रचना 'स्पन्द सर्वस्व' है जो वसुगुप्तकी 'स्पन्द कारिका' की व्याख्या रूपमे लिखी गई है। सोमानन्दने 'शिवदृष्टि' तथा 'परा त्रिंशिका विवृति' नामके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोकी रचना की है। सोमानन्दके प्रमुख शिष्य श्री उत्पलपादाचार्य [९०० वि०] हैं। वे 'त्रिक दर्शन' के संस्थापक आचार्य वसुगुप्त के प्रशिष्य और हमारे चरित्र नायक अभिनवगुप्तके परम गुरु हैं। इनका ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस दर्शनका सबसे मुख्य ग्रन्थ है। इसीके आधारपर इस दर्शनका नाम 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' पडा है। इस ग्रन्थमें अन्य मतोका विस्तार पूर्वक खण्डन करके अद्वैतवादकी स्थापना बडी विद्वत्ताके साथ की गई है। उत्पलपादाचार्यके शिष्य लक्ष्मणगुप्त और उनके शिष्य अर्थात् उत्पलपादाचार्यके प्रशिष्य अभिनवगुप्त [९५० १००० वि०] हैं। १ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, २ तन्त्रालोक, ३ तन्त्रसार, ४ मालिनीविजयवार्तिक, ५ परमार्थसार ६ परात्रिंशिकाविवृति आदि इनके त्रिक दर्शन विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोने त्रिक दर्शनके इतिहासमें अभिनवगुप्तके नामको अमर बना दिया है। त्रिक दर्शनके समान ही साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें भी आचार्य अभिनवगुप्तका नाम अमर हो गया है। ध्वन्यालोकके ऊपर 'लोचन' तथा भरत नाट्यशास्त्रके ऊपर 'अभिनव भारती' इन दोनो टीकाग्रन्थोकी रचना कर उन्होने साहित्यशास्त्रकी जो सेवा की है वह यावच्चन्द्र दिवाकरौ' अमर रहेगी और उनके नामको सदा अमर बनाए रखेगी।

यहाँ उनका इतना परिचय देने की आवश्यकता इसलिए पडी कि इस अभिनव भारती ग्रन्थका प्रारम्भ शैवमत और प्रत्यभिज्ञा दर्शनके सिद्धान्तोसे ही होता है। इसलिए इस पृष्ठभूमिके परिज्ञानके बिना उसके प्रारम्भिक श्लोकोके भावको हृदयङ्गम करना सम्भव या सुकर नही होगा। अत उसको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेकेलिए इस बातका परिज्ञान आवश्यक समझ कर ही यहाँ उसका निर्देश किया गया है।

[1]षट्त्रिंशकात्मक-जगद्गगनावभास—
संविन्मरीचिचयचुम्बित[2]बिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं श्रुति-तदर्थविवेकि[3]धाम ॥२॥

व्याख्या ग्रन्थोंका महत्त्व—

यों तो मौलिक ग्रन्थकारोंका महत्त्व अधिक समझा जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्यके बहुसंख्यक विद्वानोंने मौलिक ग्रन्थकार बननेकी अपेक्षा व्याख्याकार बननेको ही अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो अधिकांश संस्कृत साहित्य टीकात्मक या व्याख्या रूप ही है। शङ्कराचार्यका वेदान्तभाष्य, वात्स्यायनका न्यायभाष्य और उद्योतकराचार्यका न्यायवार्तिक सब व्याख्याग्रन्थ ही हैं। प्रसिद्ध काव्य-टीकाकार मल्लिनाथ टीकाकारके रूपमें ही हमारे सामने आते हैं। श्री वाचस्पतिमिश्र षड्दर्शन टीकाकारके रूपमें ही इस क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए हैं। इसी प्रकार श्री अभिनवगुप्त भी प्रधान रूपसे एक टीकाकारकी भूमिकामें ही हमारे सामने आते हैं। उनका सुप्रसिद्ध 'लोचन' आनन्दवर्धनके ध्वन्यालोक की टीका है। मालिनी विजय वार्तिक' 'मालिनीतन्त्र'की टीका है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी' उत्पलपादाचार्यके 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' की व्याख्यामात्र है। और यह अभिनवभारती भी 'भरतनाट्यशास्त्र' की टीका ही है। परन्तु इन सब टीका ग्रन्थोंका महत्त्व किसी मौलिक ग्रन्थसे कम नहीं है। इन टीकाग्रन्थोंने ही उनके निर्माताओंका नाम अमर कर दिया है और मूलग्रन्थकारोंके गौरवमें चार चाँद लगा दिए हैं।

नाट्यशास्त्र और प्रत्यभिज्ञादर्शन—

प्रथम मङ्गल श्लोकमें ग्रन्थकारने सामान्य रूपसे अनन्तशक्तिमय, एवं भक्तोंको आनन्दमय बनाने वाले अपने आराध्यदेव शिवका स्मरण किया है। उन्हींकी वन्दनामें वे मङ्गलाचरणका अगला दूसरा श्लोक भी लिख रहे हैं। परन्तु इसमें वे शिवकी वन्दनाके साथ साथ अपने प्रत्यभिज्ञा दर्शन और भरतनाट्यशास्त्रके साम्यकी एक झलक भी दिखला देना चाहते हैं। इस दृष्टिसे मङ्गलाचरणका यह दूसरा श्लोक विशेष महत्त्वपूर्ण है।

भरत नाट्यशास्त्रके अध्यायोंकी संख्याके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें ३७ अध्याय पाए जाते हैं। और बनारससे प्रकाशित संस्करणमें ३६ अध्याय पाए जाते हैं। अभिनवगुप्तने इसमें ३६ अध्याय ही माने हैं। इसी ३६ संख्याके आधार पर उन्होंने प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा भरतनाट्यशास्त्रकी समानताका निर्देश अपने इस द्वितीय मङ्गल श्लोकमें किया है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार इस जगतमें छत्तीस तत्त्व हैं। और भरत नाट्यशास्त्रमें ३६ अध्याय हैं। इसलिए छत्तीस अध्यायवाले इस नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते समय वे 'षट्त्रिंशकात्मक जगद्गगन' को प्रकाशित करनेवाले शिवकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—छत्तीस अध्यायवाले इस भरत सूत्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए मैं, छत्तीस तत्त्वोंसे युक्त जगदाकाशको प्रकाशित करने वाली ज्ञान ज्योतिकी रश्मियोंसे सुशोभित वेद तथा उसके अर्थ-ज्ञानके आश्रय, तेज स्वरूप शिवको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

---

१ षड्विंश। २ म चुम्बि। ३ म विवेक।

प्रत्यभिज्ञादशनके छत्तीस तत्त्व—

षटत्रिंशकात्मक जगतके जिन ३६ तत्त्वोकी ओर यहा ग्र थकारने सकेत किया है वे यद्यपि मुरय रूपसे प्रत्यभिज्ञा दशनमे प्रतिपादित तत्त्व ही हैं। और उसी दृष्टिसे ग्र थकारने यहाँ उनका सकेत किया हे। पर तु उसमेसे अधिकाश अर्थात २६ तत्त्वोका वणन अ य शास्त्रोमें भी पाया जाता है। इनमें साख्यके पच्चीस तत्त्वोका ज्याका त्यो समावेश होगया है। वे २५ तत्त्व जो साख्य तथा प्रत्यभिज्ञा दशन दोनोमे माने गए हैं निम्न प्रकार हं—

१ प्रकृति २ महत तत्त्व ३ अहङ्कार ५ ८ पञ्च त मात्राए, ९ १९ मन सहित ग्यारह इ द्रिया २० २४ पञ्च स्थूल भूत, २५ पुरुष।

इन साख्योक्त २५ तत्त्वोके अतिरिक्त एक माया तत्त्व अद्वैत वेदा तसे लिया गया प्रतीत होता है। शेष दश तत्त्व प्रत्यभिज्ञा दशनके अपने विशेष तत्त्व हं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ शिव २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ अविद्या
६ कला, ७ विद्या, ८ राग, ९ काल, १० नियति।

इन दस तत्त्वोके साथ साख्योक्त पच्चीस तत्त्वो तथा मायाको मिलाकर प्रत्यभिज्ञा दशनमे कुल छत्तीस तत्त्व माने गए हं। इन सबमे मुख्य सबको प्रकाशित करने वाले शिव हैं। इसलिए ३६ अध्याय वाले नाट्यशास्त्रकी व्याख्याके आरम्भमें ३६ तत्त्वोसे युक्त जगतको प्रकाशित करने वाले शिवकी जो व दना की है उससे इस रचनामें विशेष सौ दय आ गया है।

प्रत्यभिज्ञा दशनके मा य छत्तीस तत्त्व तो ये ही हैं कि तु वहा उनका विभाजन कुछ भिन्न प्रकारसे किया गया है। सबसे पहिले उ होने १ शिवतत्त्व, २ विद्यातत्त्व और ३ आत्मतत्त्व ये तीन मौलिक तत्त्व माने हैं। इनमे से शिवतत्त्वके भीतर शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व इन दो तत्त्वोका समावेश होता है। शिवके भीतर जब सिसृक्षा' सृष्टिको उत्पन्न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तो उनके दो रूप हो जाते हैं। एक शिवतत्त्व और दूसरा शक्तितत्त्व। यह शक्तितत्त्व सृष्टिकी रचनाके कालमें विश्वाकार, सृष्टिकी स्थितिके समय विश्वप्रकाश-रूप और सहारकालमें विश्व-सहरण रूप होता है। प्रत्यभिज्ञा दशनमे इस शक्तितत्त्वका बडा महत्त्व माना गया है। जिस प्रकार राजा निमल दपणमे अपने प्रतिबिम्बको देखकर ही अपने विशुद्ध सौ दयको जान पाता है इसी प्रकार शिव भी अपनी इस स्वाधीन स्वात्मभूता शक्तिके द्वारा ही अपने परिपूण अह ता और प्रकाशमय स्वरूपको जानते है। उसके बिना नही। मधुमे मिठास है कि तु वह अपने मिठासको स्वय नही जानता है। मद्यमें मादकता है कि तु वह स्वय अपने उस गुणसे अनभिज्ञ ही रहता है। इसी प्रकार बिना शक्तिके शिवको भी अपने प्रकाशमय स्वरूपका ज्ञान नही होता है। बिना शक्ति शिव शव' शक्तिके बिना चेतन स्वरूप शिव भी शबके समान निर्जीव अचेतन सदृश माने गए हैं।

प्रत्यभिज्ञा दशनका दूसरा मौलिक तत्त्व 'विद्यातत्त्व है। इस विद्यातत्त्वके भीतर १ सदाशिव २ ईश्वर और ३ शुद्धविद्या इन तीन तत्त्वोका समावेश माना है। शिव शक्तितत्त्वके आ तर निमेषका नाम सदाशिव' और वाह्य उ मेषका नाम ईश्वर' है। सदाशिव तत्त्वमे अहम' अशकी प्रधानता रहती है। अहम [चेतन] अश [अचेतन जगत रूप] 'इदम अशको आच्छादित-अभिभूत किए रहता है। इसलिए उस दशामे जगतकी प्रतीति व्यक्त रूपसे नही होती है। अव्यक्त रूपसे ही उसकी स्थिति रहती है।

विकासो मुख ज्ञानकी तीसरी अवस्था ईश्वर है। यह ईश्वरतत्त्व सदाशिवका वाह्य रूप है। इसमें 'इदम' अशकी प्रधानता हो जाती है। इसमें 'अहम' अश स्पष्ट रूपसे 'इदम' अशका अनुभव करता है। कि तु वह अनुभव आत्मासे अभिन्न रूपमें ही होता है।

इस वगके अ तगत तीसरा तत्त्व शुद्ध विद्या' या सद्विद्यातत्त्व' है। ज्ञानकी इस स्थितिमे 'अहम' और 'इदम' चेतन और अचेतन दोनोकी पूरा रूपसे समानता हो जाती है। दोनोका महत्त्व एक सा बन जाता है। शिव सारे जगतको अपना विभव मानने लगते हैं।

अ–शिवतत्त्वके भीतर १ शिवतत्त्व २ शक्तितत्त्व, तथा ब–विद्यातत्त्वके अ तगत ३ सदाशिवतत्त्व, ४ ईश्वरतत्त्व और ५ शुद्ध विद्या तत्त्व इस प्रकार पाच तत्त्वो का समावेश हो जाता है। तीसरा स–आत्मतत्त्व है। इस आत्मतत्त्वके भीतर शेष ३१ तत्त्वोका समावेश माना जाता है।

पाचवें सद्विद्या तत्त्वके बाद ही छठे माया तत्त्वका काय प्रारम्भ होता है। माया अहम' और 'इदम' चेतन और अचेतन दोनो अभिन्न अशोको अलग कर देती है। चेतन अहम' अश पुरुष बन जाता है और अचेतन 'इदम अश प्रकृति कहलाने लगता है। यहासे सारयकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। कि तु मायाके प्रभावसे शिवतत्त्वको पुरुषरूपमें लानेके लिए बीचमे पाच उपाधिया काम करती हैं। वे उपाधिया शिवतत्त्वके यथाथ स्वरूपको आच्छादित कर उसमे पुरुषत्व या जीवत्वकी प्रतीति कराती है इसलिए शिवके स्वरूपके अच्छादक होनके कारण उनको 'पञ्च कञ्चुक' नामसे कहा जाता है। ये पाच कञ्चुक' क्रमश ७ कला, ८ विद्या, ९ राग १० काल और ११ नियति तत्त्व कहलाते हैं। शिवके स्वरूपको आच्छादनमें उनका काय निम्न प्रकार है—

७ कला—शिवकी सवकत त्व शक्तिको आच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुकका नाम 'कला है। इसके द्वारा सव शक्तिमत्ताके आच्छादित होजानेके कारण सवशक्तिमान शिव अल्पशक्तिमान जीव या पुरुष बन जाते हैं।

८ विद्या—शिवतत्त्वकी सवज्ञताको अच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुक 'विद्या' कहलाती है। इसके द्वारा सवज्ञत्त्वका आवरण होजानेके कारण सवज्ञ शिव अल्पज्ञ जीव या पुरुष बन जाते हैं।

९ राग—रागतत्त्व तीसरा कञ्चुक है। यह शिवके नित्यतप्तत्व गुणका आच्छादन कर लेता है। नित्य तप्त शिव विषयानुरक्त जीव या पुरुष बन जाते हैं।

१० काल—शिवतत्त्वके नित्यत्व गुणको आच्छादित करने वाला चौथा कञ्चुक 'कालतत्त्व' है। इस कञ्चुकके प्रभावसे नित्यत्वका आच्छादन होजाने पर देहादिसे सम्बद्ध जीव अपनेको अनित्य मानने लगता है।

१० नियति—शिवकी स्वात त्र्यशक्तिका आवरण करने वाला पाचवा कञ्चुक 'नियति' है। वह परम स्वत त्र शिवको ब धनमें डालकर जीव या पुरुष बना देता है।

इस प्रकार यहाँ तक आत्म तत्त्वके अ तगत एक माया और पञ्च कञ्चुक मिला कर छ तत्त्व आ गए। इसके पूव शिवतत्त्व तथा सद्विद्या तत्त्वके अ तगत २+३ तत्त्वो को मिलाकर पाच तत्त्वोका निरूपण किया जा चुका था। इसलिए यहाँ तक ५+६ = ११ मौलिक तत्त्वोके स्वरूपका निरूपण होगया। ये ११ तत्त्व ही वस्तुत प्रत्यभिज्ञा दशनके अपने मौलिक तत्त्व हैं। इसके बाद जो २५ तत्त्व बचते हैं वे सब साख्य दशनके प्रतिपादित तत्त्व ही यहा ले लिए गए हैं।

विश्वबीजप्ररोहार्थं मूलाधारतथा स्थितम् ।
'धर्त्तृशक्तिमय वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् ।।३।।

माया जब पञ्च कञ्चुकोके द्वारा 'अहम्' अश और 'इदम् अशको अलग अलग कर देती है तो 'अहम्' अश पुरुष नाम से, और इदम् अश प्रकृति नामसे कहलाने लगता है। यहासे आगे सारयकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इस प्रकार प्रत्यभज्ञा दशनमे जगत्को छत्तीस तत्त्वो वाला 'षट त्रिशकात्मक' माना है। शिव इस षर्टात्रशकात्मक जगद् गगन को प्रकाशित करने वाले हैं। इस लिए छत्तीस अध्याय वाले नाटचशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करनेके पूव अभिनवगुप्तने इन दोनो षट त्रिशकोका समन्वय करते हुए जो यह सुदर मङ्गलाचरण लिखा है वह उनकी प्रतिभाके अनुरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव अत्यन्त हृदयाकषक बन गया है ।।२।।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

ऊपर दो श्लोकोमे ग्रन्थाकारने शिवकी वन्दना करते हुए जो मङ्गलाचरण किया है वह ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण है। अगला तीसरा श्लोक भी वे मङ्गलाचरणके रूपमें ही लिख रहे हैं। परन्तु इसकी स्थिति उन दोनो श्लोकोसे भिन्न है। वे दोनो ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरण ह और यह अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण है। ऐसा भेद करनेका कारण यह है कि इस श्लोकमें अन्य दोनो श्लोकोसे कुछ विशेषता पाई जाती है। पहिले दोनो श्लोकोमें साक्षात शिवकी वन्दना की गई है परन्तु इसमें उनकी साक्षात वदना न करके उनके धरणीरूपकी वदना की गई है। प्रत्यभिज्ञा दशनमे तथा पुराण आदिमें भी १ पथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश ६ सूय ७ चन्द्रमा, तथा ८ आत्मा इन आठको शिवके प्रत्यक्ष होनेवाले स्वरूपाके रूपमें माना गया है। महाकवि कालिदासने भी अपने अभिज्ञान शाकुतल नाटकके प्रारम्भ इन्ही अष्टमूर्तिवाले शिवका स्मरण करते हुए लिखा है—

> या सष्टि स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुत या हवि या च होत्री
> ये द्वे काल विधत्त श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम।
> यामाहु सवबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवन्त
> प्रत्यक्षाभि प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश ।। शाकुन्तल १ १।

अभिनवगुप्तने भी इन आठो मूर्तियोको क्रमश वन्दना करनेकी एक योजना बनाई है जिसके अनुसार वे प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें इनमेसे एक एक स्वरूपकी वन्दना करेंगे। इस शृखला का यह पहिला श्लोक है। इसलिए इसकी स्थिति पहिले दो मङ्गलाचरणके श्लोकोसे भिन्न है। इसी दृष्टिसे हमने इन दोनोमें यह भेद किया है कि पहिले दोनो श्लोकोको ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण माना है और इस तीसरे श्लोकको अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणके रूपमें माना है। इस योजनाके अनुसार ग्रन्थकार श्री अभिनवगुप्त इस प्रथमाध्यायके आरम्भमे अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण करने के लिए शिवके पथिवी रूपकी वदना करते हुए लिखते है कि—

अभिनव०—विश्व [रूप वृक्ष] के बीजके उत्पन्न होनेकेलिए मूल आधार रूपसे स्थित, और धारण करनेकी शक्तिसे युक्त पृथिवी रूप परमेश्वर [शिव] को मै नमस्कार करता हूँ ।।३।।

---

१ म अ धातृ, खा-सव—

सद्विप्र-'तोत-वदनोदित-नाटचवेद-
तत्त्वाथमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ
सक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ।।४।।

ग्रन्थका आधार—

इस प्रकार ग्रन्थारम्भ और अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणोके बाद और प्रकृत ग्रन्थको आरम्भ करनके पूव ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने ग्रन्थके मूल आधार तथा अपने ग्रन्थकी रचना शैलीके विषयमें कुछ परिचय देना चाहते हैं। इनमे से भी पहिले अपने ग्रन्थके मूल आधारका परिचय वे इस चौथे श्लोकम दे रहे ह । उनका कहना यह है कि भरतमुनिके नाट्यशास्त्रकी जो यह बिवति मैं लिखने जा रहा हूँ वह मेरी अपनी कल्पना नही है । अपितु अपने साहित्यशास्त्रके गुरु श्री 'भट्ट तोत' के मुखसे इस ग्रन्थकी जो कुछ व्याख्या मैंने सुनी है उसीको लेखबद्ध कर रहा हूँ। श्री भट्ट तोत' के द्वारा की गई नाट्यशास्त्रकी व्याख्या ही मेरे इस ग्रन्थका मूल आधार है । अनेक विद्वान श्री 'भट्ट तोत' की, की हुई व्याख्याको जानना चाहते हैं। इसलिए उन अर्थिजनो अर्थात जिज्ञासुओकी मनोरथ सिद्धिकेलिए म इस व्याख्याको ग्रन्थ रूपमे प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

अभिनव०—उच्चकोटिके विद्वान् [सद्विप्र] श्री 'भट्ट तोत' के मुखारविन्दसे कथित नाट्यशास्त्रके रहस्य [तत्त्वाथ] को, जिज्ञासु जनोके मनोरथकी सिद्धिकेलिए महेश्वर—शिव—का उपासक, अभिनवगुप्त नामसे प्रसिद्ध यह [ग्रन्थकार] सक्षिप्त वृत्ति [ग्रन्थकी रचना] के द्वारा स्पष्ट [करने का प्रयत्न प्रारम्भ] करता है ।।४।।

ग्रन्थकारके गुरुवृन्दका परिचय—

इस श्लोकमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरुके रूपमें श्री भट्ट तोत' का उल्लेख किया है। ये उनके साहित्यशास्त्रके गुरु थे। अभिनवगुप्तने विभिन्न शास्त्रोका अध्ययन उस समयके उस उस शास्त्रके प्रसिद्ध प्रसिद्ध आचार्योंके पास जाकर किया था। अपनी अत्युत्कट ज्ञान पिपासाके कारण न केवल काश्मीरमें ही अपितु काश्मीरके बाहर और न केवल अपने धमके आचार्योंसे ही अपितु अन्य धर्मोंके आचार्योंसे, यहा तक कि नास्तिक आचार्योंके पास जाकर भी उन्होने ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था। उनकी इस उत्कट ज्ञान पिपासा अपूव विद्या प्रेम एव सेवा भक्तिकी भावनासे प्रसन्न होकर सभी आचार्योंने उन्मुक्त हृदयसे अपनी सारी ज्ञान सम्पत्ति उनको समर्पित कर दनेमें अपूव आनन्दका अनुभव किया था। अपने ज्ञानोपाजनकी इस कथाको उन्होने अपने 'तन्त्रालोक' नामक विशाल ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है—

[2]अहमप्यत एवाध शास्त्रदृष्टिकुतूहलात ।
नास्तिकाहतबौद्धादीनुपाध्यायानसेविषम ।।

[3]एते सेवारसविरचितानुग्रहा शास्त्रसार
प्रौढादेशप्रकटसुभग स्वाधिकार किलास्मै ।
यत सम्प्रादु —

---

१ म कोक । २ तन्त्रालोक अ० ८,२०६ ।
३ तन्त्रालोक अ० ३७ ।

१—अभिनवगुप्तके इन अनेक गुरुओमें सबसे पहिले गुरु उनके अपने पिता श्री 'नरसिंह गुप्त ही थे। इनसे अभिनवगुप्तने व्याकरणशास्त्रका अध्ययन किया था। 'त त्रालोक' में पित्रा स शब्दगहने कृतसप्रवेश लिखकर उ होने इस बातका सकेत किया है। इनके पिता श्री नरसिंहगुप्त का दूसरा नाम चुखुलक था। यही नाम लोकमे अधिक प्रसिद्ध था। इनका परिचय देते हुए अभिनवगुप्तने त त्रालोक' में ही लिखा है—

[1]'तस्यात्मज चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्च द्रावदातधिषणो नरसिहगुप्त ।
य सवशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्त माहेश्वरी परमलकुरते स्म भक्ति ॥

२—कौलमतके अनुयायी श्री 'शम्भुनाथ' इनके त त्रशास्त्रके गुरु थे उनके उपदेशसे ही इनको तात्रिक सिद्धियोकी प्राप्ति हुई थी। श्री शम्भुनाथ जाल धरके निवासी थे। उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने त त्रालोक मे लिखा है—

[2]श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसङ्कोचम ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजम—

अर्थात श्रीशम्भुनाथ रूप सूयके चरणोके सम्पकसे अभिनवगुप्तके अर्थात मेरे हृत्कमलका विकास हुआ। इनका परिचय अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार दिया है—

[3]कश्चिद दक्षिणभूमिपीठवसति श्रीमान विभुर्भैरव
पञ्चस्रोतसि सातिमागविभवे शास्त्रे विधाता च य ।
तस्याभूत सुमतिस्तत समुदभूत तस्यैव शिष्याग्रणी
श्रीमान शम्भुरिति प्रसिद्धिमलभज जाल धरात पीठत ॥

३—अभिनवगुप्तके तीसरे गुरु श्री भूतिराज थे। इनसे अभिनवगुप्तने ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदा तशास्त्रका अध्ययन किया था। 'त त्रालोक' मे ही श्री भूतिराजको अपना ब्रह्मविद्याका गुरु बतलाते हुए अभिनवगुप्तने निम्न श्लोक लिखा है—

[4]अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्य प्रत्ययदायिनी ।
शिव श्री भूतिराजो यामस्मभ्य प्रत्यपादयत ॥

इ ही भूतिराजके पुत्रसे अभिनवगुप्तने द्वतवादी शैव ग्र थोको पढा था।

४—अभिनवगुप्तने त्रिकदशन' अथात 'प्रत्यभिज्ञा दशन' और शवसम्प्रदायके परिज्ञानके लिए श्री 'सोमान द श्री उत्पलपादाचाय तथा श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ' तीनोको अपना गुरु माना है। ये तीनो एक कालके व्यक्ति नही थे। सोमान द प्रत्यभिज्ञादशन' के आदि सस्थापक थे। उत्पलपादाचाय उनके शिष्य थे। और श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ उत्पलपादाचायके शिष्य थे। अभिनवगुप्तके त्रिकदशनके साक्षात गुरु लक्ष्मणगुप्तनाथ थे। पर तु उ होने इस विषयमे इन तीनोको अपना गुरु बतलाते हुए लिखा है—

[5]त्रैयम्बकप्रसरसागरवीचि सोमान दात्मजोत्पल लक्ष्मणगुप्तनाथा ।
[6]देवीत्रिशतिकेऽपि अस्य श्री सोमान दपादेभ्य प्रभति त्रिकदशनवदेव गुरव ।

---

१ त त्रालोक अ० ३७। २ त त्रालोक अ० १,५१।
३ त त्रालोक टी० १ २३६। ४ त त्रालोक टी० ३,१९४।
५ त त्रालोक टी० अ० ३७। ६ तन्त्रालोक टी० ३,१९४।

उपादेयस्य सम्पाठ तदन्यस्य प्रतीकनम् ।
स्फुट-¹व्याख्या विरोधाना परिहार सुपूर्णता ॥५॥
लक्ष्यानुसरण श्लिष्ट-²वक्तव्यांशविवेचनम् ।
सङ्गति पौनरुक्त्याना समाधानसमाकुलम् ॥६॥
सग्रहश्चेत्यय व्याख्या प्रकारोऽत्र समाश्रित ॥७॥

ध्वनि सिद्धा नका अध्ययन अभिनवगुप्तने श्री 'भट्ट इन्दुराज से किया था । ध्वन्या लोकमे उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

³भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास—
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानोसे भी उन्होने अपने ज्ञानोपाजनमें सहायता प्राप्त की थी उन सबका तन्त्रालोक' के एक श्लोकमे उन्होने इस प्रकार उल्लेख किया है—

⁴श्रीचन्द्र चन्द्रवर भक्तिविलास-योगा–
नन्दाभिनन्द शिवभक्ति विचित्रनाथा ।
अन्येऽपि धम शिव वामनकोद्भट श्री–
भूतीश भास्करमुखप्रमुखा महान्त ॥

रचना व्याख्या-शलीका निर्देश—

इस प्रकार अपने इस ग्रन्थके मूल आधारका प्रतिपादन करनेके बाद अगले ढाई श्लोकोमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने इस ग्रन्थकी रचना शली या अपनी व्याख्या शलीका परिचय निम्न प्रकारसे देते हैं—

अभिनव०—१ उपादेय [पाठ] का ग्रहण करना, २ उससे भिन्न [अशुद्ध पाठो] का परित्याग करना [अर्थात् पाठोका सशोधन करना और उसके बाद], ३ स्पष्ट व्याख्या करना, ४ [ग्रन्थमे प्रतीत होने वाले] विरोधोका परिहार करना और ५ [विषयकी] पूर्णता [का प्रतिपादन करना]—

अभिनव०—६ उदाहरणोका अनुसरण करना [अर्थात् उचित स्थानोपर उदाहरण देना], ७ उनसे सम्बद्ध वक्तव्य अशकी विवेचना करना [अर्थात उदाहरणो-की सङ्गति दिखलाना] ८ और [ग्रन्थमे प्रतीत होने वाली] पुनरुक्तियोके समाधान पूवक उसकी सङ्गति लगाना—

अभिनव०—९ [विस्तृत व्याख्यामे कहे हुए विषयका सक्षेप रूपमे श्लोको द्वारा] सग्रह करना, इस [नौ विशेषताओसे युक्त] व्याख्या-शैलीका यहा [इस ग्रन्थ मे] अवलम्बन किया गया है । ५-७ ।

इस प्रकार इन ढाई श्लोकोमे ग्रन्थकारने अपनी रचना शलीका परिचय दिया है । इन नौ विशेषताओका प्रत्येक कारिकाकी व्याख्यामें एकत्र देखनेका यत्न करना उचित नही होगा । उनका प्रयोग स्थान स्थानपर आवश्यकतानुसार ही किया गया है ॥५ ७॥

---

१ म० वाक्य । २ म० वक्तव्याङ्क । ३ ध्वन्यालोक लोचन । ४ तन्त्रालोक अ० ३७ ।

भरतमुनिरुचितदेवतानमस्कारपूर्वक अभिधेयगुणीभावेन प्रयोजन मुख्यया वृत्त्या प्रतिजानानो, विशेषणद्वारेण गुरुपूर्वक्रम, अर्थाक्षिप्ततया च अभिधेय-प्रयोजन-तत्सम्बन्धान् दर्शयति 'प्रणम्य' इत्यादिना—

भरत०—प्रणम्य शिरसा देवौ पितामह-परमेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥१॥

भरतमुनिका मङ्गलाचरण एव अनुबन्ध निरूपण—

पिछली पक्तियोमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने इस ग्रन्थमें प्रयुक्तकी जाने वाली अपनी रचना शैलीका परिचय दिया था। अब वे अपना मुख्य काय अर्थात नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। नाट्यशास्त्रकी प्रथम कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हुए वे उसकी अवतरणिका निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—भरतमुनि [अपने नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमे मङ्गलाचारणके लिए] उचित देवताओ [अर्थात् पितामह और महेश्वर] को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विषयको [कुछ देरकेलिए] गौण बना कर, [और अपनी वतमान प्रवृत्ति के] प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, विशेषणोके द्वारा [नाट्यशास्त्र की] गुरु परम्पराको तथा अर्थापत्ति द्वारा आक्षिप्त रूपसे १ विषय २ प्रयोजन तथा उनके ३ सम्बन्धो [अर्थात ४ अधिकारी-सहित अनुबन्ध चतुष्टय] को 'प्रणम्य' इत्यादि [प्रथम कारिका] से दिखलाते हैं।

भरत०—पितामह [ब्रह्मा] और महेश्वर [शिव] इन दोनों देवोंको शिरसे [अर्थात् सिर झुकाकर] नमस्कार करनेके उपरात, मैं उस नाट्यशास्त्रका निरूपण करूगा जिसको ब्रह्माने [वेदोंसे] उत्पन्न किया था।१।

यह भरत नाट्यशास्त्र की पहिली कारिका है। वत्तिकारकी अवतरणिकाके अनुसार इस कारिकामें सबसे पहिले १ उचित देवताओ अर्थात नाट्यशास्त्रके प्रवतक ब्रह्मा तथा उसके नृत्य रूप अङ्गके प्रवतक शिव इन दोनो देवताओको नमस्कार किया गया है। उसके बाद विषय प्रतिपादनको प्रारम्भ न करके 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' पदोसे अपनी वतमान प्रवत्तिके २ प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, ३ पितामह और महेश्वर इन विशेषण परक नामोके द्वारा नाट्यशास्त्रकी गुरु-परम्पराको दिखलानेका यत्न किया है। इन तीन बातोके बाद ४ अर्थाक्षिप्त रूपसे अर्थात गौण रूपसे अभिधेय प्रयोजन और उनके सम्बन्ध रूप अनुबन्धोको दिखलाया गया है। इस प्रकार इस कारिकामे भरतमुनिने चार बातोका प्रदशन किया है।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्ध श्रोतु श्रोता प्रवतते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्य सम्बन्ध सप्रयोजन ॥

इस नियमके अनुसार प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें १ विषय, २ प्रयोजन, ३ अधिकारी तथा ४ सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टयके निरूपण किए जानेकी परम्परा सस्कृत साहित्यमे पाई जाती है। इसी परम्पराके अनुसार वत्तिकारने भरतमुनिकी नाट्यशास्त्रकी इस प्रथम कारिकामे भी इन अनुबन्धोको अर्थाक्षिप्त रूपसे दिखलानेका प्रयत्न किया है।

---

१ यदुवीरितम् ।

'पितामहोऽत्र न पितु पिता, महेश्वरश्च न राजादिरिति देव-शब्द ।' एतच्च नाशङ्कनीयम्, प्रसिद्धे ।

तदनुसार 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इन शब्दोमे यह बात अथत निकल आती है कि १ नाटच अर्थात नाटचकलाका प्रतिपादन इस शास्त्र या ग्र थका प्रतिपाद्य विषय है। २ नाटचका मनोविनोदके साथ साथ कतव्याकतव्य की शिक्षा प्रदान करना रूप जो प्रयोजन 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद भवेत' इत्यादि इसी अध्यायकी ११वी कारिकामे बतलाया जायगा वह भी यहा अर्थाक्षिप्त रूपसे प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रके जिज्ञासु व्यक्ति अर्थात इस शास्त्रके अधिकारी तथा ग्र थके साथ विषयका प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्ब ध भी अर्थाक्षिप्ततया सूचित होता है।

कारिकाके पूर्वार्द्ध की व्याख्या—

इस कारिकाकी व्याख्या वत्तिकारने बहुत विस्तारके साथ की है। इसको तीन भागोमे विभक्त किया जा सकता है। पहिल भागमें कारिकाके प्रथम द्वितीय दोनो चरणोकी अर्थात कारिकाके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या एक साथ की गई है। इसलिए प्रथम भागमे कारिकाके पूवार्द्ध भागकी व्याख्याको समझना चाहिए। शेष तीसरे तथा चौथे चरणोकी व्यारया अलग अलग की गई है वे दोनो व्यारयाके शेष दो भाग हैं।

देवशब्दकी पूव व्याख्याका खण्डन—

पूर्वार्द्धकी व्याख्याको ग्र थकारने प्राचीन टीकाकारोकी व्याख्याके खण्डनसे प्रारम्भ किया है। किसी प्राचीन टीकाकारने कारिकामे पितामह महेश्वरौ' के विशेषण रूपमे प्रयुक्त 'देवौ पदका यह प्रयोजन बतलाया था कि पितामह' शब्दसे 'बाबा' का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न कर लिया जाय इसलिए उनके साथ 'देवौ' यह विशेषण दिया गया है। परन्तु ग्र थकार अभिनवगुप्त इससे सहमत नही हैं। उनका कहना है कि पितामह' शब्द 'ब्रह्मा' के अथमे और 'महेश्वर' शब्द शिवके अथमें अत्य त प्रसिद्ध है अत यहा न तो इस प्रकारकी शङ्का ही हो सकती है और न उसके निवारणाथ देवौ इस विशेषणका प्रयोग ही किया गया है। इस बातको प्रथम अनुच्छेद मे वे इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—यहा 'पितामह' शब्दसे पिताके-पिता [अर्थात् बाबा] का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न हो इस लिए [देवौ इस विशेषणके रूपमे उनके साथ] 'देव' शब्द [प्रयुक्त हुआ] है। यह शङ्का [और उसका समाधान आदि जो किसी पूववर्ती टीकाकारने किया है वह इन शब्दोके ब्रह्मा तथा शिवके अर्थमे अत्यन्त] प्रसिद्ध होनेके कारण नही करनी चाहिए।

अभिनवगुप्त कृत व्याख्या—

इस प्रकार अ य टीकाकारोके द्वारा दिखलाए हुए 'देव' शब्दके प्रयोगके प्रयोजनका खण्डन करके अब ग्र थकार अभिनवगुप्त अपनी दृष्टिसे 'देव' पदकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें करते हैं। उसका भाव यह है कि 'देव शब्द 'दिवु क्रीडा-विजिगीषा मोद मद स्वप्न का त गतिषु' इस धातुसे सिद्ध होता है। इनमेसे ब्रह्माकेलिए, विजिगीषा' अथको लेकर, और शिवकेलिए 'क्रीडा' अथको लेकर 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी बातको वे आगे लिखते हैं—

एको विजिगीषु र्नाटचवेद प्रवतयिता इति देव । भगवाश्चान दनिभरतया क्रीडाशील सन्ध्यादौ नत्यतीति । नाटचे तदुपस्कारिणि च नृत्ते तदुपज्ञ' प्रवृत्तिरिति तावेवात्राधिदैवत गुरू चेति नमस्कार्यौ ।

अभिनव० एक [अर्थात् ब्रह्मा, नाटचवेद रूप पञ्चम वेदकी रचना द्वारा अन्य सबको] विजय करनेकी इच्छासे नाटचवेदके प्रवतक होने है इस लिए [दिवु-धातुके 'विजिगीषा' रूप अथको लेकर] 'देव' [कहलाते] है। और भगवान् [शिव] तो आनन्द प्रधान होनेसे क्रीडाशील ही है तथा सन्ध्या काल आदिमे [आनन्दमग्न हो कर] नाचते है इस लिए [दिव धातुके क्रीडा 'मोद मद' आदि अर्थोको लेकर 'देव' कहलाते है] । नाटचमे और उसको अलकृत करने वाले 'नृत्त' मे उन दोनो [अर्थात् ब्रह्मा और शिव] से ही [क्रमश] प्रवृत्ति [आरम्भ] हुई है इसलिए वे दोनो ही यहा [अर्थात् नाटचके विषयमे] 'मुख्य देवता' और 'गुरु' होनेसे नमस्कार करने योग्य हे । [इसलिए भरतमुनिने उन दोनोको इस प्रथम कारिकामे नमस्कार किया है । यह अभिनव गुप्त का अपना सिद्धान्त मत है] ।

नाटच, नृत्य और नृत्तका भेद—

इस अनुच्छेदमे नाटचके उपस्कार' अर्थात् उसको अलकृत करने वाले नृत्त' का उल्लेख किया गया है। 'नृत्त के साथ उससे मिलता जुलता एक और शब्द 'नृत्य भी है जो नृत्त' की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। नाटच, नृत्य' और नृत्त' इन तीनो शब्दोके अथमें कुछ भेद है। 'नाटच रसाश्रित और वाक्यभिनयात्मक होता हे। नृत्य' भावाश्रित एव पदार्थाभिनयात्मक और नृत्त ताल लयाश्रित एव भावाभिनय शून्य होता है। धनञ्जयने अपन दशरूपक के प्रारम्भ मे इनके विषयमें अच्छा विवेचन किया है। रूपकके नाटक आदि दस भेदोका निर्देश करनके बाद उन्होने यह प्रश्न उठाया है कि डोम्बी श्रीगदित आदि नामक 'नृत्य के भी सात भेद होते हैं। उनकी गणना भी रूपक भेदोके साथ की जानी चाहिए। फिर आपने रूपकके दस ही भेद कसे माने हैं। इस प्रश्नका समाधान करते समय 'नृत्य' और नत्त' का भेद प्रतिपादन करते हुए धनञ्जयने लिखा है—

अन्यद भावाश्रय नत्य नृत्त ताललयाश्रितम्' । दशरूपक १ ९ ।

अर्थात् रसाश्रित नाटचसे भावाश्रित नृत्य अलग ही है। और ताल लयाश्रित 'नृत्त' 'नृत्य' से भी भिन्न होता है। अत नृत्यके भेदोकी गणना नाटचके दस भेदोमें नही की जा सकती है। इस प्रकार नाटच और नत्यके भेदका प्रतिपादन करनके बाद कारिकाके द्वितीय चरणमें उन्होने 'नत्य से नृत्त का भेद भी प्रसङ्गत दिखला दिया है। और वह भेद यह है कि 'नृत्य' भावाश्रित होता है और नृत्त ताल लयाश्रित होता है। धनिकने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"रसाश्रयान्नाटचाद भावाश्रयमिति विषयभेदात, नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपाथत्वेन आङ्गिक बाहुल्यात, तत्कारिषु च नतकव्यपदेशात, लोकेऽपि च अत्र प्रेक्षणीयकम' इति व्यवहारात नाटकादेरन्यन्नृत्यम। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्ति । नाटकादि च रसविषयम । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिससर्गात्मकवाक्याथहेतुकत्वाद वाक्यार्थाभिनयात्मकत्व रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् ।"

---

१ य क पमज्ञ ताण्डव प्रवृत्ति, ख भाण्ड प्रवृत्ति ।

लक्ष्मीपतिस्तु यद्यपि वृत्तीना निर्माता तथापि पितामहवदसौ [1]स्वकतव्यमात्र-निष्ठस्तथाचरन नात्र नाट्चे लोकवदुपजीवित इति गुरुत्वाभावान्न नमस्कृत ।

[2]एतदपि [3]अ-नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वादसत् ।

"नाटचमिति च नट अवस्प दन इति । नटे किञ्चिच्चलनाथत्वात् सात्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नट यपदेश । यथा गात्रविक्षेपाथत्वे समानऽपि अनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्य नृत्यम् । तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान नाटचात पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नत्यमिति । तालश्चञ्चत्पुटादि, लयो द्रुतादि । त मात्रापेक्षो गात्रविक्षेषो अभिनयशून्यो नत्तमित्ति ।"

इसका अभिप्राय यह है कि एक तो नाटचके रसाश्रित और नत्यके भावाश्रित होनेके कारण 'नत्य' नाटचसे भिन्न ही है । दूसरी बात यह है कि नाटच शब्द 'नट अवस्प दने' धातुसे बनता है जिसका अथ 'किंचिच्चलन' होता है । इससे नाटचमें सात्विक भावोका बाहुल्य सूचित होता है। और नत्य शब्द नती गात्रविक्षेपे धातुसे बनता है। उसमे गात्रविक्षप अर्थात आङ्गिक अभिनयका प्राधा य रहता है । नत्यम गात्रविक्षप द्वारा ही भावाभिव्यञ्जना होती है । उदयशङ्कर भट्टके भाव नत्य इसके उदाहरण हैं । और नृत्तमें नत्यके समान गात्र विक्षप तो होता है कि तु भावो का अभिनय नही होता है । इसलिए ताल लयाश्रित गात्रविक्षेप रूप नत्त' भावोके अभिनयसे शून्य होनेसे नत्यसे भिन्न ही है ।

विष्णुको नमस्कार न करनेके विषयमे पूवमत—

अभिनव—लक्ष्मीपति [विष्णु] तो यद्यपि [वेष-विन्यासात्मक कैशिकी आदि] वृत्तियोके निर्माता है फिर भी पितामह आदिके समान केवल अपने कत्तव्य मात्रके पालनमे निरत होकर उस प्रकार [वृत्तियोके निर्माणका काप] करते हुए, लोकमे जसे अनुकरणीय हुए है, इस प्रकार यहा नाट्यमे उनका अनुकरण नहीं किया गया है इसलिए [नाट्यमे] गुरु न होनेके कारण [यहाँ] उनको नमस्कार नहीं किया गया है ।

पूव टीकाकारके मतका खण्डन—

यह बात किन्ही प्राचीन टीकाकारने लिखी है । पर तु वृत्तिकार उससे सहमत नही है । इसलिए वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—[किसी देवताको] नमस्कार न किए जानेके कारणकी विवेचनाके अनुचित होनेसे [पूर्व व्याख्याकारका] यह [लिखना] भी ठीक नही है ।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामें ब्रह्मा विष्णु और महेश इन त्रिमूर्तियोमेसे केवल ब्रह्मा तथा महेश्वरको ही नमस्कार किया है। विष्णुको छोड दिया है । इसके कारणकी विवेचना किसी पूववर्ती टीकाकारने की है। परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि किसीको नमस्कार न करनेके कारणकी विवेचनामे उसकी किसी न्यूनता आदिका निर्देश करना होगा इसलिए नमस्कार न करनेके कारणका अनुसन्धान करना अनुचित है।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारतीके दो पूवसस्करण जो बडौदासे प्रकाशित हुए हैं उसमें 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह पाठ छपा था । परन्तु यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

१ म कर्तव्य । २ म इत्येतदपि । ३. म. भ. नमस्कार ।

[1]तस्मात् प्रणमन प्रह्वीभाव कायेन वाचा मनसा च । आद्य 'शिरसा' इति दर्शित । द्वितीयो 'देवौ' इत्यनेन । प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्[2] प्रथम 'देवौ' इत्युक्तम् । [3]अभिनयप्राधान्याच्चाङ्गिक 'शिरसा' इति वाचिकश्च 'देवौ' इत्यादिना वाक्याभिनयो दर्शित[4] ।

नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नही उचित ही होता है । स्वय वत्तिकारने इसके पूवके अनुच्छदमें पितामह तथा महेश्वर' के नमस्कार किए जानेका हेतु उनका गुरु और नाटचवेदका 'अधिदवत होना बतलाया है । पितामह नाटचवेदके प्रवतक हैं इसलिए गुरु होनसे नमस्कार करने योग्य है । और महेश्वर नत्यके प्रवतक है । नाटचोपयोगी नत्यकी शिक्षा महेश्वर अर्थात शिवजीसे ही प्राप्त होती है । इसलिए वे भी नाटचवेदमें गुरुवत पूज्य है । अत उनको भी नमस्कार करना उचित ही है । इस प्रकार वत्तिकारने इससे पूवके अनुच्छेदमे स्वय नमस्कारके हेतुका निरूपण किया है । इसके अतिरिक्त इस कारिकाकी अवतरणिकामे भी उ होने 'उचितदेवतानमस्कारपूवक' यह पक्ति लिखी थी । उसमें उचित' पदसे नमस्कार योग्यता या नमस्कार हेतुको सूचित किया है । इसलिए वत्तिकारकी दृष्टिमें नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नही है । अपितु नमस्कार न करने अनमस्कार के हेतुका निरूपण करना अनुचित हे । क्योकि अनमस्कार अर्थात नमस्कार न किए जानेके हेतुका अनुस धान करनेमें जिसको नमस्कार नही किया जा रहा है उसके किसी दोष या यूनता आदिका निर्देश करना आवश्यक हो जाता है । अत अ नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित है । इस दृष्टिसे पूव सस्करणोमे 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वान' यह जो पाठ छपा था वह अशुद्ध प्रतीत होता है । उसके स्थान पर अ नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात' यह पाठ होना चाहिए था । अत एव हमने सशोधित रूपमें यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

नमस्कार द्वारा विविध अभिनयोकी सूचना—

अभिनव०—इस लिए प्रणामका अथ नम्रता प्रदशन होता है । और वह १ शरीरके द्वारा २ वाणीके द्वारा और, ३ मनके द्वारा [तीन प्रकारसे] होता है । उनमेसे पहिली तरहका [आङ्गिक विनम्रता प्रदर्शन] 'शिरसा' इस पदसे दिखलाया गया है । और दूसरी प्रकारका [अर्थात् वाचिक नम्रताका प्रदशन] 'देवौ' इस [पद] के द्वारा [दिखलाया गया है ।] ['देवौ' इस पदका प्रयोजन जहाँ वाचिक नम्रताका प्रदशन करना है वहाँ उसकेसाथ ही उसका दूसरा प्रयोजन यह भी है कि—] नमस्कार करने योग्य [पूज्य-पुरुष] का उपाधि-रहित नाम लेना अनुचित होनेसे [नाम लेनेके] पहिले [उपाधि रूप] 'देवौ' यह [पद] कहा गया है । [नाट्य मे] अभिनय की प्रधानता होनेसे [पहिले] 'शिरसा' इससे आङ्गिक [अभिनय] और 'देवौ' इत्यादिसे वाक्याभिनय रूप वाचिक [अभिनय] दिखलाया है ।

पाठसमीक्षा— इस अनुच्छेदका भी जो पाठ पूव सस्करणोमें छपा है वह शुद्ध नही है । उसमें 'प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात तेन प्रथम देवौ इत्युक्तम' इस प्रकारका पाठ

१ म प्रणाम कायादीना प्रह्वीभाव । कायिक शिरसेति दर्शित । तस्मात् ।
२ म० भ० तेन इत्यधिक पाठ । ३ अभिधेय । अभिनेय ।
४ म० च दर्शित क्रमादेतावङ्गिकवाचिकाभिनयौ ।

लोकसिद्धो ह्ययमभिनयो न च **नाट्यधर्मिरूप चतुर्भुजादावध्वादिभिन्न इवेत्यन-भिनेयोऽपि** दर्शनीय एव ।

पूर्व संस्करणोमे छपा था। परन्तु इसमे 'तेन' यह पाठ अधिक छप गया है । उसकी आवश्यकता प्रतीत नही होती है । उसका प्रयोग हेतुताके सूचनार्थ ही हो सकता है । परन्तु उसके पूर्व निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात इस पञ्चम्यन्त पदसे ही हेतुताका सूचन हो जाता है इसलिए उसके बाद तेन' पदकी आवश्यकता नही रहती है । यदि हेतुता सूचनकेलिए तेन' पदको रखा जाय तो उधर 'नामग्रहणानौचित्यात' मे पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग न करके नामग्रहणानौचित्यम' इस प्रकार प्रथमान्त पदका प्रयोग किया जाना चाहिए था । किन्तु उधर पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है इसलिए यहा 'तेन' पद अधिक मुद्रित हो गया है । ऐसा मानकर हमने उसे हटाकर टिप्पणीमें कर दिया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें आङ्गिक अभिनय शिरसा' पदसे और वाचिक अभिनय 'देवौ' पदसे प्रदर्शित किया गया है । यह बात दो बार आई है । इसलिए इस अनुच्छेदमें अभिनय प्राधा याच्चाङ्गिक शिरसा इति वाचिकश्च देवौ इत्यादिना च वाक्याभिनयो दर्शित' । इतना पाठ पुनरुक्तिग्रस्त सा प्रतीत होता है । किन्तु अभिप्राय भेदसे दुबारा पठित होनेके कारण वस्तुत पुनरुक्त नही है । अभिप्रायभेदका आशय यह है कि पहिली बार प्रणाम या प्रह्वीभावके भेद दिखलाकर उनके दोनो उदाहरण दिए गए थे । और दूसरी बारमे अभिनयके भेदोकी दृष्टिसे ये दोनो उदाहरण दिए गए है । अत एव अभिप्राय भेदके कारण उनमें पुनरुक्ति नही है ।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी द्विविध अभिनय—

अभिनव०—यह ['शिरसा' तथा 'देवौ' पदोके द्वारा सूचित आङ्गिक तथा वाचिक] अभिनय चतुर्भुज आदि रूपके अभिनयमे [नई बढाई गई कृत्रिम] ऊपर उठी भुजा आदिसे भिन्न [नीचे लटकने वाली वास्तविक भुजाओ] के समान लोकसिद्ध अभिनय है, नाट्यधर्मी रूप नही । इसलिए [नाट्यधर्मीके समान] अभिनेय न होने पर भी देखने योग्य [अथवा दिखलाने योग्य] ही है ।

इस अनुच्छेदमे लोकसिद्ध या 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी दो प्रकारके अभिनयोका उल्लेख किया गया है । स्वाभाविक या अकृत्रिम रूपसे जो किसीके अनुकरण आदिको प्रदर्शित किया जाता है वह लोकसिद्ध होनेसे 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है । जसे यहा शिरसा प्रणम्य' इन पदोको बोलकर वास्तवमे सिर झुकानेका जो अभिनय किया जाता है वह स्वाभाविक अकृत्रिम रूप किया जाता है इसलिए वह 'लोकसिद्ध' या 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है । और जहा कृत्रिम रूपसे स्त्री पुरुषका रूप आदि धारण करके अभिनय किया जाता है वह नाट्यधर्मी' अभिनय कहलाता है । जसे नाटकमे नट सीता राम आदिका अथवा चतुर्भुज आदिका रूप धारण करके अवास्तविक रूपसे अभिनय करता है वह 'नाट्यधर्मी' अभिनय माना जाता है । उन लोकधर्मी और नाट्यधर्मी अभिनयोका लक्षण दशरूपकमें इस प्रकार है—

'स्वभावाभिनयोपेत नास्त्रीपुरुषाश्रय नाट्य लोकधर्मि ।
स्वरालङ्कारसयुक्त अस्वस्थपुरुषाश्रय नाट्य नाट्यधर्मि ।

---

१ चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इत्यभिनेयोऽपि ।

मानसा तु प्रह्वता वाक कायव्यापारगम्येति नासौ पथगुक्ता ।

'पितामह सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनात **तस्य प्रथम**, चरमसस्कारस्य च महेश्वरस्य **पश्चात स्मरणमिति** 'पितामह महेश्वरौ' इति क्रम आश्रित । छेकानुप्रासपरिपोषेण सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयता दशयितुम ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका जो पाठ पूव सस्करणोमे छपा था वह भी अशुद्ध था। 'चतुर इव भुजादावूध्वादिभिन्न इस पाठकी कोई सङ्गति नही लगती है। इस भागमे वत्तिकार नाटचधर्मी अभिनयके उदाहरण रूपमें चतुभु ज रूपको प्रस्तुत करते प्रतीत होते ह। पर तु जिस रूपमे यह पाठ पूव सस्करणोमे छपा है उससे यह अथ नही निकलता है। और न उसकी कोई सङ्गति ही लगती है। अभीष्ट अथकी प्राप्तिकेलिए उसका निकटतम शुद्ध पाठ 'चतुभु जादा वूर्ध्वादिभिन्न इव हो सकता है। इस सशोधनमे केवल 'चतुर शब्दके अ तके रकारको हल त कर दिया गया है और इव' को 'चतुर' के आगेसे हटाकर भिन्न के बाद रख दिया गया है।

इसी प्रकार पूव सस्करणोमे इत्यभिनेयोऽपि दशनीय एव' यह पाठ भी इस अनुच्छेदमें छपा था। वह भी अशुद्ध था। ग्र थकार यह कह रहे हैं कि यहा शिरसा पदसे जो नमस्कार प्रदर्शित किया गया है वह लोकसिद्ध है नाटचधर्मी रूप नही है। नाटचधर्मीके समान उसका अभिनय नही किया जाता है। इसलिए नाटचधर्मीके समान अभिनय न होने पर भी दशनीय है। इस अथकी दृष्टिसे इत्यभिनेयोऽपि के स्थान पर 'इत्यनभिनयोऽपि यह पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। इसलिए हमने सशोधित रूपमे यही पाठ प्रस्तुत किया है। पुराने पाठको पाद टिप्पणीमे कर दिया है।

अभिनव०—मानसी विनम्रता तो वाचिक तथा कायिक व्यापारसे ही सूचित हो जाती है इसलिए उसको अलग नही कहा गया है।

नमस्कारके क्रमका उपपादन—

अभिनव०—पितामह [बाबा] का सस्कार बुद्धिमे पहिले पडता है इसलिए उन [पितामह अर्थात् ब्रह्मा] का पहिले स्मरण होता है। और बादमे जिनका सस्कार [मनपर] होता है उन महेश्वरका बादको स्मरण होता है इस कारण [मूलकारिकामे] 'पितामह महेश्वरौ' इस क्रमको ग्रहण किया गया है। और ['पितामह महेश्वरौ' पदमे मह मह इस व्यञ्जन-समुदायकी उसी क्रमसे आवृत्ति रूप] छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यकी [वाचिक] अभिनेयताको दिखलानेकेलिए भी [इस क्रमको ग्रहण किया गया है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ प्रथम सस्करणमें अत्य त अशुद्ध रूपमें छपा था। 'सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनाच्चरमसस्कारस्य पितामहमहेश्वराविति क्रम आश्रित' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे दिया गया था। पर तु इस पाठका कोई अथ नही निकलता है। केवल इतना

---

१ भ० पितामहमहेश्वराविति क्रम छेकानुप्रासाथ । सालङ्कारस्य च वाक्यभिनयता दशयितुम् । सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्व च दशयितुम् । पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितषित्वमुक्तम् । नाटचशास्त्रमिति ।

म० सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनाच्चरमसस्कारस्य । पितामह महेश्वराविति क्रम आश्रित ।

प्रतीत होता है कि ग्र थकार पितामह महेश्वरौ इस रूपमें नमस्कार करनेके कारणका निरूपण कर रहे हैं। और वह सस्कारोके पौर्वापर्यके आधारपर इस क्रमको निर्धारित करना चाहते हं। यह अभिप्राय उस पाठसे आभासितमात्र होता है स्पष्ट रूपसे प्रतीत नही होता है। इस अस्पष्टताका कारण बीचमेसे कुछ पाठका लुप्त हो जाना ही है। ग्र थकारके अनुसार पितामह' का पहिले ग्रहण किए जानेका कारण पितामहके सस्कारका बुद्धिमे पहिले पडना है। और महेश्वर विषयक सस्कारके बादमे पडनके कारण उनका बादको स्मरण होता है। इसलिए सस्कार और तज्ज य स्मरणके क्रमसे ही यहा उन दोनोके नमस्कारका क्रम रखा गया है। यह ग्र थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस अभिप्रायको स्पष्ट रूपसे बोधित करनेकेलिए हमने अपनी विवेकाश्रित सम्पादन पद्धतिसे प्रसङ्गानुकूल विलुप्त पाठकी कल्पना की है। इसके अनुसार इस अनुच्छेदके प्रारम्भिक वाक्यका पाठ पितामह सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनात तस्य प्रथम, चरमसस्कारस्य च महेश्वरस्य पश्चात स्मरणमिति पितामह महेश्वराविति क्रम आश्रित इस प्रकारका होना चाहिए था। इसमे 'पितामह', तस्य प्रथम' और महेश्वरस्य च पश्चात स्मरणमिति' इन शब्दोका समावेश किया गया है। इन पदोके समावेशके बिना इस वाक्यका कोई अथ नही निकलता था। इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपने बढाए शब्दोको काले टाइपमे दिया है।

द्वितीय सस्करणके पाठ सशोधनकी समीक्षा—

अभिनवभारती युक्त नाटचशास्त्रका प्रथम सस्करण ओरिए टल इस्टीटयूट बडौदासे १९२६ मे प्रकाशित हुआ था। उसीके आधारपर हमने अपने इस सस्करणका पाठ दिया है। उसमें इस स्थलका पाठ अशुद्ध और असङ्गत था उसको हमने सशोधित करके ऊपर यथा सम्भव निकटतम शुद्ध पाठ देनेका यत्न किया हे। इसके बाद अभिनवभारती युक्त नाटचशास्त्रके इसी प्रथम भागका दूसरा सस्करण १९५६ मे फिर बडौदासे प्रकाशित हुआ है। इस सस्करणमे इस स्थलके पाठको सशोधित करके दूसरे रूपमे छापा गया है। पर तु इस सशोधनसे पाठकी स्थिति सुधरनेके स्थानपर और अधिक बिगड गई हे। नए द्वितीय सस्करणमे सशोधित पाठ इस प्रकार दिया गया है—

पितामह महेश्वराविति क्रम छेकानुप्रासाथ। सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयता दशयितुम। सालङ्कारस्य दवतापरितोषहेतुत्व च दशयितुम। पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम्।

इस द्वितीय सस्करण वाले पाठ और प्रथम सस्करण वाले पाठ दोनोके मूल्योमें बडा अन्तर है। प्रथम सस्करण वाले पाठके अशुद्ध और असङ्गत होनेपर भी उसके सामने यह द्वितोय सस्करण वाला सशोधित पाठ अत्य त निम्न श्रणीका, हेय, और सवथा उपेक्षणीय है। अभिनवगुप्त ने यहाँ एक महत्वपूण प्रश्न उठाया है कि पितामह महेश्वर इस क्रमसे ही यहा देवताओको नमस्कार क्यो किया गया है। अभिनवगुप्त परम माहेश्वर है। शिवके परम भक्त हैं। उनकी दृष्टि से तो पहिले महेश्वरको नमस्कार होना चाहिए और उसके बाद किसी औरको। इसके विपरीत भरतमुनिने पहिले पितामहको और बादमे महेश्वरको नमस्कार किया है। इसलिए उनके सामने इस प्रश्नका आना स्वाभाविक था। उ होने इस प्रश्नको उठा कर उसका जो समाधान किया है वह बडा सुन्दर है। पितामहका अथ बाबा भी होता है। उस बाबाका ज्ञान और सस्कार बच्चे के ऊपर बाल्यकालमे ही पड जाता है। महेश्वरका अथ परमात्मा है। उसका सस्कार बहुत बड़े

होने के पश्चात बनता है। नमस्कार करते समय सस्कारके इस क्रमका विशेष महत्व ग्र थकार ने दिखलाया है। सस्कारमात्रज य ज्ञान स्मृति इस लक्षणके अनुसार स्मरणके प्रति सस्कार ही कारण होता हे। अत जिसका सस्कार पहिले बना उसका स्मरण पहिले और जिसका सस्कार बादको बना उसका स्मरण बादको हुआ। इसीलिए सस्कारके पौर्वापयके क्रमसे यहाँ नमस्कार का पौर्वापय रखा गया हे यह ग्र थकारका अभिप्राय है। इस और केवल इसी दृष्टिकोणको उपस्थित करनेके लिए ग्र थकारने यहा इस प्रश्नको उठाया है। यही इस प्रसङ्गका प्राण है। इसके अतिरिक्त छेकानुप्रासका परिपोषण तथा सालङ्कार वाक्यका देवता परितोषहेतुत्व आदि अ य जो बात यहा दिखलाई ह वे सब अत्य त गौण ह। केवल प्रसङ्गत ही उनका निर्देश कर दिया है। उन पर विशेष बल नही है। वे इस प्रसङ्गका प्राण नही, शरीर हैं। सस्कारका पौर्वापय ही इस प्रसङ्गका प्राण है। पर तु द्वितीय सस्करणमें जो पाठ दिया गया है उसने इस प्राणतत्वको निकाल कर अलग फेक दिया हैं और केवल शरीरको सजानेका य प्रयास किया है पितामह महेश्वराविति क्रम छेकानुप्रासाथ इस समाधान में कोई सार नही है कोई जीवन और प्रतिभा नही है। सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनात' वाले समाधानमें एक प्रतिभा और जीवन की ज्योति दिखलाई देती हे। वही समाधान ग्र थकारका अभिमत समाधान है। उसीकेलिए अभिनवगुप्तने इस प्रसङ्गको उठाया है। इसलिए उसको निकाल कर जो पाठ द्वितीय सस्करणमें छापा गया है वह ग्र थकारके अभिप्रायसे एक दम परे होनके कारण निता त अनुचित और उपेक्षणीय है।

यह पाठदोष क्यो हुआ—

इस पाठदोषका कारण पाण्डुलिपिकी भ्रष्टता है। अभिनवभारतीकी रचना भारतके ठेठ उत्तरीय भाग काश्मीरमें हुई। पर तु चिरकाल तक लुप्तप्राय रहनेके बाद उसकी केवल मात्र दो पाण्डुलिपियोकी प्राप्ति भारतके ठेठ दक्षिण भाग मलाबार टावनकोरमे हुई। इनमेंसे एक ताडपत्र पर लिखी हुई प्रति कालीकटके चेलापुरम स्थानके निवासी श्री अम्पालकट करुणाकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। उससे मद्रासके राजकीय पुस्तकालयके लिए १६१८ १९ में प्रतिलिपि तयार करवाई गई। दूसरी पाण्डुलिपि तिरवाकुर [ट्रावनकोर] के महाराजाके निजी पुस्तकालयमें मिली थी। ये दोनो प्रतिया लगभग एक सी ह। और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ही मूल पुस्तकसे उन दोनोकी प्रतिलिपि की गई है। तिरवाकुर वाली प्रतिसे बाराणसीके राजकीय पुस्तकालय सरस्वतीभवनके लिए एक प्रतिलिपि तयार कराई गई। और उससे फिर पूनाके भण्डारकर रिसच इस्टीटयूट' केलिए एक प्रति तयार कराई गई। दूसरी मद्रास वाली प्रतिसे 'ओरिए टल इस्टीटचूट बडौदा' केलिए एक प्रति तैयार कराई गई। इसीके आधारपर बडौदासे अभिनवभारती युक्त नाटचशास्त्रका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था। द्वितीय सस्करणमें इस स्थलपर जो पाठा तर दिया गया है वह तिरवाकुरवाली पाण्डुलिपिके आधारपर प्रस्तुत 'भण्डारकर रिसच इ स्टीटयूट पूनावाली प्रतिके आधारपर दिया गया है। इन दोनो पाण्डुलिपियो का केवल इसी स्थानपर मुख्य पाठभेद पाया जाता है। शेष भाग दोनोमें प्राय एक जसी ही है। साधारण पाठा तर होने पर भी कोई विशेष महत्वपूण पाठभेद उनमे नही पाया जाता है। इसलिए बडोदा वाले द्वितीय सस्करणमें भी महत्वपूण स्थलोके पाठदोष ज्योके त्यो बने हुए हैं।

ऐसा अनुमान होता है कि जिस मूल प्रतिसे चेलापुरमकी मेनन वाली प्रतिलिपि तैयार की गई थी उसीसे तिरवाकुरके महाराजाके पुस्तकालय वाली प्रति भी तैयार की गई थी। ताड़पत्र

पर लिखी हुई इस मूल पाण्डुलिपिमें अनेक स्थानोपर कीडे लग गए थे और उनके कारण स्थान स्थानपर बीचका पाठ लुप्त हो गया था। प्रकृत स्थल उसी प्रकारके कीटदष्ट स्थलोमेंसे एक था। इससे जो उपयु क्त दो प्रतिया तयार की गई उनके लेखकोन अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार इस स्थलपर भिन्न भिन्न प्रकारकी नीतिसे काम लिया है। चेलापुरम वाली प्रतिके लेखकने बीचके लुप्त पाठोकी उपेक्षा कर जो कुछ पाट उपलब्ध था और पढने में आ सका उसको ज्या का त्यो अङ्कित कर दिया। उसके अनुसार मद्रास वाली प्रति तयार हुई और उसीके आधार पर बडौदाका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ। मूल प्रतिमे सस्कारस्य पूव बुद्धौ निपतनात म पहिले 'पितामह शब्द को कीडे खा गए थे, इसलिए वह पाठ लुप्त हो गया था। इसी प्रकार उसके आगे तस्य प्रथम और 'चरमसस्कारस्य के बाद 'महेश्वरस्य च पश्चात स्मरणम इस भागके कीडोके पेटमे चले जाने से यह सब अनथ हा गया।

चेलापुरम वाली प्रतिके लेखक कोई साधारण यक्ति थे इसलिए उ होने उपलब्ध पाठको ज्यो का त्यो अङ्कित कर लिया। कि तु तिरवाकुरके महाराजा साहबके पुस्तकालयकेलिए जि होने प्रतिलिपि तयार की थी वे कोई अच्छे पण्डित रहे होगे। इसलिए जब उनके सामने यह अशुद्ध असङ्गत और अटपटा सा पाठ अङ्कित करनके लिए आया तो वे उसे ज्यो का त्यो अङ्कित न कर सके। देखते भालते जीती मक्खी वे नही निगल सके। इसलिए उ होने पाठको सशोधित और सुसङ्गत बना कर ही अङ्कित करनेका यत्न किया। उनके इसी प्रयत्नके फलस्वरूप तिरवाकुर वाली प्रतिमे इस स्थलपर यह पाठा तर जो हमने ऊपर उद्धत किया है उपलब्ध हुआ। इसमें स देह नही कि इस सशोधनसे पाठकी असङ्गति दूर हो गई और एक सम्बद्ध सा पाठ सामन आ गया। परन्तु वह वस्तुत ग्र थकारके अभिप्रायके अनुकूल नही था। इसलिए उससे ग्र थका गौरव बढा नही, घटा ही। पर उस समय वही बहुत था। कीडा के पेटमें समाए हुए वास्तविक पाठका उद्धार कर सकना तो उनके बशकी बात न थी। उसके लिए तो शुक्राचायकी सञ्जीवनी विद्याकी आवश्यकता थी।

पाठदोष के अ य कारण—

अभिनवभारतीके पूव सस्करणोका पाठ अत्य त अशुद्ध रूपमें छपा है, इसका यह एक उदाहरण है। यहा पर पाण्डुलिपिको कीडो द्वारा खण्डित कर दिए जानके कारण पाठ भ्रष्ट हो गया है। पर इसके अतिरिक्त अ य भी कई कारण ह जि होने अभिनवभारतीके पाठको अत्य त भ्रष्ट कर दिया है। कही कही ऐसा हुआ है कि पुरानी शैलीकी पत्राकार प्रतिमे किसीने पढते समय एक पन्ना उठाकर भूलसे किसी अ य स्थल पर रख दिया है। सम्पादन और मुद्रणके समय वह भाग वही अ स्थान पर छप गया है। इस प्रकारके उदाहरण आगे अनेक स्थानो पर मिलेगे। विशेष रूपसे इसी कारिकामें पृ० २८ ३० तक तथा १६वी कारिकाकी व्याख्यामें इस प्रकारके उदाहरण देखनेको मिलेंगे।

कुछ स्थलोपर लिपिकारका प्रमाद ही पाठोको दूषित करनेका कारण है। जसे दूसरे श्लोकमे 'षटत्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' मे लिपिकारने षटत्रिंश' के स्थानपर 'षडविंश' पद लिख दिया था जिसके कारण पाठ अशुद्ध हो गया। अभी पिछले पष्ठ पर 'चतुभु जादावूर्ध्वादिभिन्न इव' के स्थान पर 'चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न लिख दिया गया जिसके कारण पाठको समझना कटिन हो गया। अगले पृष्ठ २२ पर 'पूणता च तद् गतम' के स्थानपर 'पूणताया च तद्गतत्वम्' लिख

यद्वक्ष्यति—

'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्द-
युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगा ।

इति । सालङ्कारस्य च दवतापरितोषहेतुत्व दर्शित भवति ।

दिया गया था। ये सब लिपिकारके प्रमादकृत दोष ह। उनके कारण ग्र थका समझना कठिन हो गया है। इन सब कारणोने मिलकर अभिनवभारतीके पाठको इतना अधिक अशुद्ध और भ्रष्ट बना दिया कि मारा ग्र थ अत्य त दुरूह और दुर्ज्ञेय बन गया है। कि ही कि ही विद्वानोका तो यहा तक कहना है कि यदि स्वय अभिनवगुप्त भी उतर आवे तो अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ इस समय उपलब्द हो रहा है उसको देखकर व स्वय भी अपने अभिप्रायको नही समझ सकेगे। ऐसी अवस्थामें अभिनवभारतीकी विशद व्याख्या प्रस्तुत करना कितना कठिन काय है इसका अनुमान किया जा सकता है। फिर भी हमने इस दिशामें प्रयत्न किया है। विषम स्थलोपर अभिनवगुप्तके अभिप्रायको समझने और उसके अनुमार पाठ सशोधन करनेका यत्न किया है। ग्र थकारके मूल पाठको अक्षरश शुद्ध रूपमें ज्यो का त्यो उपस्थित कर देना तो सम्भव ही नही है पर तु फिर भी ग्र थकारके अभिप्रायके निकटतम पहुचनेका यत्न किया गया है। उससे और कुछ नही तो ग्र थ सुसङ्गत और सुबोध अवश्य बन गया है। इस समय इतना भी बहुत है।

सालङ्कार वाक्यके प्रयोगका समथन—

पितामह महेश्वरौ' इस क्रमके रखे जानेका एक कारण तो यह बतलाया है कि पितामह अर्थात बाबाके निकट सम्ब धी होनसे बालकके मन पर उनका सस्कार पहिले और महेश्वर अर्थात शिव या ईश्वरका सस्कार बहुत बादको होनेसे स्मरण भी इसी क्रमसे होता है। अत इसी क्रमसे नमस्कार किया गया है।

दूसरा कारण छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यके नाटकमें प्रयोगका समथन है। इसकी पुष्टिके लिए ग्र थकार भरतमुनिके वचनको ही आगे नाट्यशास्त्रके १६वें अध्याय से उद्धत करते हैं—

अभिनव०—जसा कि [भरतमुनि स्वय १६वें अध्यायमे] कहेगे—

अभिनव०—'चेक्रीडित' आदि जैसे [क्लिष्ट] एव [यड लुगन्त प्रक्रिया आदि के द्वारा] विकृत शब्दोसे युक्त नाटकोके प्रयोग सुन्दर नही लगते है।

अभिनव०—यह। और अलङ्कार युक्त [वाक्य अथवा नाटक] देवताओके परितोषका कारण होता है इस बातको भी दिखलाया गया है।

पाठसमीक्षा—वत्तिकारने चेक्रीडित इत्यादि आधा श्लोक ही यहा उद्धत किया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'चेक्रीडितप्रभतिभिर्विकृतैश्च शब्द—
युक्ता न भा ति ललिता भरतप्रयोगा ।
यज्ञक्रिया रुरुचमधर घ ताक्तै—
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलु दण्डहस्तै ।।

---

१ ना० शा० १६ १२७।

'प्रजा प्रति हितैषित्वेन नाटचप्रवतकत्वम् । कतव्यान्तरबैकल्येन 'पूर्णता च तद्गतम् । इति नाम्नोरभिप्राय ।

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार मृगचमको धारण किए हुए और घत चुपडे हुए अर्थात विकृत वेषधारी व्यक्तियोके यज्ञवेदीपर आबैठनेसे यज्ञक्रिया शोभित नही होती है और जिस प्रकार दण्ड कमण्डुल धारी ब्राह्मणोके समीप आ बैठनेसे वेश्या शोभित नही होती है इसी प्रकार चेक्रीडित आदि जसे क्लिष्ट एव विकृत शब्दोके प्रयोगसे नाटचकला शोभित नही होती है ।

पाठसमीक्षा—वत्तिकार अभिनवगुप्तने इस श्लोकको अलङ्कार युक्त वाक्य ही वाचिक अभिनयके योग्य अर्थात् नाटकमें प्रयोगके योग्य होते हैं इस बातके समथनकेलिए उद्धत किया है । परन्तु इस श्लोकसे यह अथ सीधी तरहमे नही अपितु अर्थापत्तिसे निकलता है । इसलिए यह श्लोक प्रसङ्गके अनुरूप सुश्लिष्ट नही हुआ है । भरत नाटचशास्त्रके इसी अध्यायमें जहासे यह चेक्रीडित' इत्यादि श्लोक लिया गया है उसके समीप ही दूसरा श्लोक भी पाया जाता है जो इस अभिप्रायको बिल्कुल ठीक ढगसे व्यक्त कर रहा है । उसी श्लोकको यदि यहा उद्धत किया जाता तो अधिक अच्छा होता । वह श्लोक निम्न प्रकार है—

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान
नाटचाश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कतु म ।
त भूषिता भुवि विभाति हि काव्यबन्धा
पद्माकरा विकसिता इव राजहसैं ।। ना०शा० १६ १२१ ।।

पितामह और महेश्वर नामोके प्रयोगका प्रयोजन—

भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामे ब्रह्मा तथा शिवको नमस्कार करते हुए क्रमश पितामह और महेश्वर शब्दोका प्रयोग किया है । इन दोनो देवताओके इन नामोके अतिरिक्त और भी बहुतसे नाम प्रचलित हैं । उन सबको छोड कर इन विशेष नामोका ही प्रयोग मुनिने क्यो किया है इस बातको वत्तिकार अगले अनुच्छेदमे दिखलाते ह । उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा प्रजाओके पितामह है इसलिए अपनी सन्तानोके प्रति हितषी होनेसे उ होने नाटचवेदकी रचनामे भरतमुनिको प्रवृत्त किया । इस प्रकार उनकी कृपासे नाटचशास्त्रकी रचना प्रारम्भ हुई । और महश्वर पूर्णकाम हं उन्हे और कोई काम करना शेष नही है । उनकी कृपासे भरतमुनिको भी अन्य सब कार्योसे निश्चिन्त होकर इस ग्रन्थको पूण करनेका अवसर मिला । इसलिए उनकी कृपासे उसकी समाप्ति हो सकी । इस प्रकार ग्रन्थके आरम्भ और समाप्तिकी सूचनाकेलिए इन नामोका प्रयोग किया गया है । इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—प्रजाओके प्रति हितकामनासे [ब्रह्मा स्वय] नाट्यके प्रवतक बने [अर्थात् उन्होने प्रारम्भमे स्वय नाट्यकी उत्पत्ति कर भरतमुनिको नाट्यशास्त्रकी रचनामे प्रवृत्त किया । इस प्रकार 'पितामह' पदसे नाट्यशास्त्रकी रचनाके आरम्भको सूचित किया है] और [पूर्णकाम शिवजीकी कृपासे भरतमुनिको भी] अन्य काम न होनेसे [अर्थात् अन्य कार्योसे अवकाश मिल जानेके कारण] वह [नाट्यशास्त्र ग्रन्थ] पूर्णताको प्राप्त हुआ यह [पितामह तथा महेश्वर] नामोका अभिप्राय है ।

---

१ म० पितामहमहेश्वराविल्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम् ।
२ म० भ० पूर्णताया च ततस्तद्गतत्वम् ।

[1]नाटचशास्त्रमिति नाटचस्य नटवृत्तस्य शास्त्र शासनोपाय ग्रन्थ प्रवक्ष्यामीति केचित्[2] ।

नैतदित्यन्ये । नाटचवेदो नाटचशास्त्रमिति हि पर्यायौ । तत्र नाटचशास्त्र शब्देन चेदिह ग्रन्थ, तद्ग्रन्थस्येदानी करण न तु प्रवचनम् । तद्धि व्याख्यानरूप करणाद् भिन्नम् । 'कठेन प्रोक्तम' इति यथा । ग्रन्थस्य च नाटचवेदत्वे उत्पत्त्यादिपञ्चकस्य तद्गतस्य अन्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासङ्गति । उत्तरग्रन्थस्य चानुपपत्ति । 'दृश्य श्रव्य च यद् भवेत [१-११] 'जग्राह पाठचमग्वेदात्' [१-१७] इत्यादे ग्रन्थ प्रत्यसङ्गतत्वात ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे पूव सस्करणोमें 'कतन्या तरवकल्येन पूणताया च ततस्तद गतत्वम' यह पाठ छपा था । परन्तु उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है । उसके स्थान पर'कत या नरवैकल्येन पूणता च तद गतम' यह पाठ होना चाहिए । तभी उससे विवक्षित अथ निकल सकता है । इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको काले टाइपमे प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार यहा तक वत्तिकारने मुख्य रूपसे चार बातोका निरूपण किया है—

१— पितामह पदसे 'बाबा और महेश्वर' पदसे 'राजा' आदिका ग्रहण न हो इसके निवारणकेलिए 'देवौ' शब्दका प्रयोग किया गया है । इस मतका खण्डन ।

२—लक्ष्मीपति विष्णुको नमस्कार न करनेका कारणका खण्डन ।

३—पितामह महेश्वर इस क्रमसे नमस्कार करनेके तीन प्रयोजन ।

४—अन्य नामोको छोडकर पितामह और महेश्वर इन विशेष नामोके प्रयोगका प्रयोजन ।

अब आगे वत्तिकार अभिनवगुप्त कारिकाके ततीय चरणकी याख्या आरम्भ करते हैं । इसमें पहिले नाटचशास्त्र शब्दके अथके विषयमें पूवटीकाकारोके दो मतोका निराकरण करके सिद्धान्त रूपसे अपने गुरु भट्ट तोतके मतका प्रतिपादन करेगे ।

ग्रन्थपरक प्रथम व्याख्या और उसका खण्डन—

अभिनव०—'नाठ्यशास्त्रम्' इसमे नाट्य अर्थात नट-व्यवहारके 'शास्त्र' अर्थात् 'शासनके उपायभूत ग्रन्थ' को प्रकृष्ट रूपसे कहूगा यह [अथ] कोई करते हैं ।

अभिनव०—दूसरोका [अर्थात् दूसरे टीकाकारोका] कहना यह है कि यह अर्थ ठीक नही है । क्योकि नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र शब्द समानार्थक हे । इसलिए नाट्यशास्त्र शब्दसे यहा यदि ग्रन्थका ग्रहण किया जाय तो [पहिला दोष यह होगा कि] उस ग्रन्थकी तो इस समय रचना हो रही है, [प्रवक्ष्यामि पदसे सूचित होने वाला] 'प्रवचन' नही । क्योकि वह [प्रवचन] व्याख्यान रूप और रचनासे भिन्न होता है । जैसे 'कठके द्वारा प्रोक्त' [काठक-शाखा कठकी बनाई हुई नहीं अपितु कठके द्वारा प्रोक्त मानी जाती है] । और ग्रन्थको ही नाट्यवेद मानने पर [दूसरा दोष यह होगा कि] उसकी उत्पत्ति आदि पाचो बातोके अन्य ग्रन्थोके समान ही होनेसे [तद्विषयक] प्रश्नोकी सङ्गति नहीं लगती है । और [तीसरा दोष यह भी होगा कि] अगला ग्रन्थ भी असङ्गत हो जाता है । क्योंकि 'जो दृश्य और श्रव्य हो' तथा 'ऋग्वेदसे पाठ्य को ग्रहण किया' इत्यादिकी ग्रन्थके प्रति कोई सङ्गति नही होती है ।

---

१ तत्र नाटचस्य । २ 'केचित्' इत्यस्मदीय पाठ ।

तस्मात्, नाटय च तच्छास्त्र व्युत्पत्तिप्रदत्वात । प्रवक्ष्यामि व्यरयास्ये । नाटचारय वेद लक्षणतो निरूपयिष्ये इत्यथ ।

एतदप्यमनोहरम् । शब्यात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात् । नाटचस्य चाशब्दात्मकत्वात् । निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्ते । नाटचस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकवाह्यस्वरूपनिरासलाभे शास्त्रशब्दानाथक्यप्रसङ्गात । 'य इम शृणुयात प्रोक्त नाटचवेदम' इति शास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्ते । शब्दविषयताव्यतिरेकेण 'शृणुयात्' इत्यस्य अवाचकत्वात ।

'नाटच शब्दकी दूसरी व्याख्या—

इस प्रकार पूव टीकाकारोमेसे जिस प्रथम टीकाकारने नाटचशास्त्र शब्दसे इस ग्र थका ग्रहण किया था उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे तीन दोष दिखलाकर उसके मतका खण्डन अभिनवगुप्तके पूववर्ती दूसरे टीकाकारने कर दिया । अब वह अपन मतका प्रतिपादन करता हे । उसके मतमे नाटच शास्त्र शब्दसे केवल नाटच या नाटच कलाका ही ग्रहण होता है । और उसको ही कत याकत यकी शिक्षा देने वाला होनेमे शास्त्र शब्दसे कहा जाता है । पूव टीकाकारके इस मतका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए नाट्य रूप जो, 'शास्त्र' शिक्षाप्रद होने से, उसको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा अर्थात् उसकी व्याख्या करूगा । अर्थात नाट्य नामक वेदको लक्षणके अनुसार निरूपण करूगा । यह [दूसरे टीकाकारके अनुसार] अथ है ।

इस दूसरी व्याख्याका खण्डन—

इसमे नाटचकलाको ही कतव्याकतव्यकी शिक्षा देने वाला हानेसे 'शास्त्र' माना है । परन्तु वत्तिकार अभिनवगुप्तकी दृष्टिमे यह अथ भी सङ्गत नही है । इसलिए वे अगले अनुच्छेदमें इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह [कथन या अथ] भी अच्छा नही है । क्योकि [उसमे पहिला दोष यह होगा कि यह नाट्य पदसे जिस नाट्यकलाका ग्रहण कर रहे है वह शब्द रूप तो है नहीं, अत] शब्दरूपताके बिना 'प्रवचन' [मुखसे कथन] नही हो सकता है । और [आपका अभिमत कला रूप] नाट्य शब्दात्मक नही हे । [अत यह अथ ठीक नही है] । और [दूसरा दोष यह है कि] यदि केवल निरूपण करनेको ही 'प्रवचन' कहा जाय तो ग्रन्थका भी 'प्रवचन' हो सकता है [फिर पहिली व्याख्या का खण्डन आप क्यो कर रहे हे । तीसरी बात यह भी है कि] नाट्यके प्रकृष्ट रूप से [अर्थात् शास्त्रीय रूपसे] निरूपित होनेसे ही अशास्त्रीय वाह्य स्वरूपो अर्थात् भाडोके नाच-गान आदिका निराकरण हो जाता है इसलिए [नाट्य पदके साथ] 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जाता है । [इस व्याख्यामे चौथा दोष यह भी आता है कि—] इस शास्त्रके अन्तमे [३६वे अध्यायमे] जो यह कहा जायगा कि 'जो कोई इस कहे हुए नाट्यवेद को सुनेगा' [उसको अमुक फलकी प्राप्ति होगी] उसकी भी असङ्गति हो जावेगी । क्योकि [नाटचके] शब्द रूप हुए बिना 'सुनेगा' यह [पद] उसका वाचक नही हो सकता है । [इसलिए यह अर्थ ठीक नही है] ।

तस्मादित्थमिति मद्गुरव । सकलहितकरणप्रवत्ते[1], उत्साहसम्पदुपेत, तदभिवद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूप[2] **सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वर-विषया** स्मत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादिलक्षणा [3]**व्यभिचारिसरणि** वाह्यकरणीयविषय च जडतावहित्थाप्रभतिभावगण पुरस्सरीकृत्य धमवीरानुप्रविष्ट तदुचिताङ्गिकवाचिकानु-भावप्रकटनपूर्व स्वप्रवत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति[4]। प्रयोजनस्यैव प्रवतकत्वात। यदाहु —

[5]यमथमधिकृत्य प्रवतते तत प्रयोजनम्। इति।

भट्ट तोत कृत ततीय सिद्धान्तभूत व्याख्या—

इस प्रकार पूववर्ती दो टीकाकारोके द्वारा की गई ततीय चरणकी व्याख्याका खण्डन करनेके बाद आगे वत्तिकार अभिनवगुप्त अपने गुरु श्री भट्टतोत कृत व्याख्याको प्रस्तुत करते हं। यह व्याख्या केवल ततीय चरणकी ही नही है अपितु उसके साथ ही शेष सारी कारिका की भी भट्ट तोत कृत व्याख्या यहा दे रहे हैं। उसका भाव यह है कि— नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि इस ततीय चरणमें भरतमुनिने अपनी वतमान कालमे हो रही प्रवत्तिका प्रयोजन बतलाया है। और वह प्रयोजन नाटचशास्त्रका प्रवचन अर्थात प्रकृष्ट रूपसे कथन करना है। इसके पूव कारिकाके पूर्वाद्ध अर्थात प्रथम द्वितीय चरणोमें भरतमुनिने सबके हितसाधन विषयक इस प्रवत्तिके प्रति जो उनका उत्साह है उसकी वद्धि एव उसके मागमें आनेवाले विघ्नोके निराकरणकेलिए धमवीर रससे अनुप्राणित होकर अपने ज्ञानमे क्रमसे उपारूढ गुरु रूप पितामह और महेश्वर अर्थात ब्रह्मा और शिवको नमस्कार किया है। इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रथकारने अपने गुरु श्री भट्टतोत द्वारा प्रतिपादित इस कारिकाके तीन चरणोकी व्याख्या निम्न प्रकारसे प्रस्तुतकी है—

अभिनव०—इसलिए हमारे गुरु [भट्टतोत] के मतमे इसकी व्याख्या इस प्रकार है कि—सब लोगोके हितसाधनकी प्रवृत्तिके होनेसे, उत्साह-सम्पत्तिसे परिपूर्ण, [भरतमुनि] उसकी वृद्धि, और उसके विघ्नोके निराकरणकी इच्छासे, अपने विज्ञानमे [अर्थात बुद्धिमे पूव निर्दिष्ट विधिके अनुसार] क्रमसे उपारूढ, गुरु रूप सबके अधिपति [पितामह] ब्रह्मा तथा महेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, धृति, मति आदि व्यभिचारि-भावोको, और बाह्य विषयोमे अप्रवृत्ति रूप जडता, अवहित्था आदि भाव-गणोके-साथ, धमवीर रससे अनुप्राणित होकर [भरतमुनि कारिकाके प्रथम द्वितीय चरणोमे] उस [धमवीर रस] के अनुरूप [नमस्कार द्वारा शिरोनमन आदि रूप] आङ्गिक तथा वाचिक अनुभावोको प्रकट करते हुए [इतनी पूर्वाद्धकी व्याख्या हुई। उसके बाद इस कारिकाके तृतीय चरणमे] अपनी प्रवृत्तिके [नाटच शास्त्रके प्रवचन रूप] प्रयोजनको ही दिखलाते है। क्योकि प्रयोजन ही [प्रत्येक व्यक्तिका] प्रयोजक होता है। जसा कि [न्यायदशन १-१-२४ मे] कहा गया है—

अभिनव०—'जिस अथको लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन कहलाता है'।

---

१ म० प्रवृत्त उत्साह। [द्वि० स०]
२ सव ब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषयाम्।
३ व्यभिचारसरणिम।
४ म० निरूपितवान्।
५ न्याय सूत्रम १ १ २४।

तस्मात्, नाट्य च तच्छास्त्र व्युत्पत्तिप्रदत्वात । प्रवक्ष्यामि व्यख्यास्ये । नाट्याख्य वेद लक्षणतो निरूपयिष्ये इत्यर्थ ।

एतदप्यमनोहरम् । शब्यात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात । नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात् । निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्ते । नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकवाह्यस्वरूपनिरासलाभे शास्त्रशब्दानाथक्यप्रसङ्गात । 'य इम शृणुयात् प्रोक्त नाट्यवेदम्' इति शास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्ते । शब्दविषयताव्यतिरेकेण 'शृणुयात' इत्यस्य अवाचकत्वात ।

'नाट्य शब्दकी दूसरी व्याख्या—

इस प्रकार पूव टीकाकारोमेसे जिस प्रथम टीकाकारने नाट्यशास्त्र शब्दसे इस ग्र थका ग्रहण किया था उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे तीन दोष दिखलाकर उसके मतका खण्डन अभिनवगुप्तके पूववर्ती दूसरे टीकाकारने कर दिया। अब वह अपने मतका प्रतिपादन करता है । उसके मतमें नाट्य शास्त्र शब्दसे केवल नाट्य या नाट्य कलाका ही ग्रहण होता है । और उसको ही कत याकतव्यकी शिक्षा देने वाला होनेमे शास्त्र' शब्दसे कहा जाता है । पूव टीकाकारके इस मतका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए नाट्य रूप जो, 'शास्त्र' शिक्षाप्रद होने से, उसको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा अर्थात् उसकी व्याख्या करूगा । अर्थात नाट्य नामक वेदको लक्षणके अनुसार निरूपण करूगा । यह [दूसरे टीकाकारके अनुसार] अथ है ।

इस दूसरी व्याख्याका खण्डन—

इसमे नाट्यकलाको ही कत याकतव्यकी शिक्षा देने वाला होनेसे 'शास्त्र' माना है । परंतु वत्तिकार अभिनवगुप्तकी दृष्टिमे यह अथ भी सङ्गत नही है । इसलिए वे अगले अनुच्छेदमें इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह [कथन या अथ] भी अच्छा नही है । क्योकि [उसमे पहिला दोष यह होगा कि यह नाट्य पदसे जिस नाट्यकलाका ग्रहण कर रहे है वह शब्द रूप तो है नही, अत] शब्दरूपताके बिना 'प्रवचन' [मुखसे कथन] नही हो सकता है । और [आपका अभिमत कला रूप] नाट्य शब्दात्मक नही हे । [अत यह अर्थ ठीक नही है] । और [दूसरा दोष यह है कि] यदि केवल निरूपण करनेको ही 'प्रवचन' कहा जाय तो ग्रन्थका भी 'प्रवचन' हो सकता है [फिर पहिली व्याख्या का खण्डन आप क्यो कर रहे है । तीसरी बात यह भी है कि] नाट्यके प्रकृष्ट रूप से [अर्थात् शास्त्रीय रूपसे] निरूपित होनेसे ही अशास्त्रीय वाह्य स्वरूपो अर्थात् भाडोके नाच-गान आदिका निराकरण हो जाता है इसलिए [नाट्य पदके साथ] 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग निरथक हो जाता है । [इस व्याख्यामे चौथा दोष यह भी आता है कि—] इस शास्त्रके अन्तमे [३६वें अध्यायमे] जो यह कहा जायगा कि 'जो कोई इस कहे हुए नाट्यवेद को सुनेगा' [उसको अमुक फलकी प्राप्ति होगी] उसकी भी असङ्गति हो जावेगी । क्योकि [नाट्यके] शब्द रूप हुए बिना 'सुनेगा' यह [पद] उसका वाचक नही हो सकता है । [इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है] ।

तस्मादित्थमिति मदगुरव । सकलहितकरणप्रवृत्ते[1], उत्साहसम्पदुपेत, तदभिवद्धये तत्प्रत्यूहापसिसारयिषया स्वज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूप[2]-**सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वर-विषया** स्मत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादिलक्षणा [3]**व्यभिचारिसरणि** वाह्यकरणीयविषय च जडतावहित्थाप्रभतिभावगण पुरस्सरीकृत्य धमवीरानुप्रविष्ट तदुचिताङ्गिकवाचिकानु-भावप्रकटनपूर्व स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति[4]। प्रयोजनस्यैव प्रवतकत्वात्। यदाहु —

[5]यमथमधिकृत्य प्रवतते तत प्रयोजनम्। इति।

भट्ट तोत कृत ततीय सिद्धातभूत व्यारया—

इस प्रकार पूववर्ती दो टीकाकारोके द्वारा की गई ततीय चरणकी व्याख्याका खण्डन करनेके बाद आगे वत्तिकार अभिनवगुप्त अपने गुरु श्री भट्टतोत कृत व्यारयाको प्रस्तुत करते हैं। यह व्या या केवल ततीय चरणकी ही नही है अपितु उसके साथ ही शेष सारी कारिका की भी भट्ट तोत कृत व्यारया यहा दे रहे हैं। उसका भाव यह है कि—'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस ततीय चरणमें भरतमुनिने अपनी वतमान कालमें हो रही प्रवत्तिका प्रयोजन बतलाया है। और वह प्रयोजन नाटचशास्त्रका प्रवचन अर्थात प्रकृष्ट रूपसे कथन करना है। इसके पूव कारिकाके पूर्वाद्ध अर्थात प्रथम द्वितीय चरणोमें भरतमुनिने सबके हितसाधन विषयक इस प्रवत्तिके प्रति जो उनका उत्साह है उसकी वद्धि एव उसके मागमें आनेवाले विघ्नोके निराकरणकेलिए धमवीर रससे अनुप्राणित होकर अपने ज्ञानमे क्रमसे उपारूढ गुरु रूप पितामह और महेश्वर अर्थात ब्रह्मा और शिवको नमस्कार किया है। इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्र थकारने अपने गुरु श्री भट्टतोत द्वारा प्रतिपादित इस कारिकाके तीन चरणोकी व्याख्या निम्न प्रकारसे प्रस्तुतकी है—

अभिनव०—इसलिए हमारे गुरु [भट्टतोत] के मतमे इसकी व्याख्या इस प्रकार है कि—सब लोगोके हितसाधनकी प्रवृत्तिके होनेसे, उत्साह सम्पत्तिसे परिपूर्ण, [भरतमुनि] उसकी वृद्धि, और उसके विघ्नोके निराकरणकी इच्छासे, अपने विज्ञानमे [अर्थात् बुद्धिमे पूव निर्दिष्ट विधिके अनुसार] क्रमसे उपारूढ, गुरु रूप सबके अधिपति [पितामह] ब्रह्मा तथा महेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, धृति, मति आदि व्याभिचारि-भावोको, और वाह्य विषयोमे अप्रवृत्ति रूप जडता, अवहित्था आदि भाव-गणोके-साथ, धमवीर रससे अनुप्राणित होकर [भरतमुनि कारिकाके प्रथम द्वितीय चरणोमे] उस [धमवीर-रस] के अनुरूप [नमस्कार द्वारा शिरोनमन आदि रूप] आङ्गिक तथा वाचिक अनुभावोको प्रकट करते हुए [इतनी पूर्वार्द्धकी व्याख्या हुई। उसके बाद इस कारिकाके तृतीय चरणमे] अपनी प्रवृत्तिके [नाटच शास्त्रके प्रवचन रूप] प्रयोजनको ही दिखलाते हे। क्योकि प्रयोजन ही [प्रत्येक व्यक्तिका] प्रयोजक होता है। जैसा कि [न्यायदशन १-१-२४ मे] कहा गया है—

अभिनव०—'जिस अथको लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन कहलाता है'।

---

१ म० प्रवृत्त उत्साह। [द्वि० स०]　　२ सर्व ब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषयाम्।
३ व्यभिचारसरणिम।　　४ म० निरूपितवान्।
५ न्याय सूत्रम १ १ २४।

तत्र नाटच नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्त तदनुकार-प्रतिबिम्ब-आलेख्य-सादृश्य-आरोप-अध्यवसाय उत्प्रेक्षा स्वप्न माया-इन्द्रजालादिविलक्षण, तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञान भ्रान्ति-सशय अनवधारण अनध्यवसायविज्ञानभिन्न तथा आस्वादनरूपसवेदन-सवेद्य वस्तु 'रसस्वभावमिति वक्ष्याम'[1] ।

तस्य शास्त्र शासन वाह्यभाण्डनाटचादिवैलक्षण्येन सम्यक् तत्स्वरूपावगमो-पायम, प्रकर्षेण अपरब्रह्मशिष्योदीरितानुपयोगिविकासभावसाधनेन[2] वक्ष्यामि ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूव सस्करणस्थ पाठ दो जगह अशुद्ध छपा था । परन्तु वे अशुद्धिया विशेष महत्त्व की नही हैं । पहिली जगह 'सवब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषया' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसके स्थानपर सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वरविषया' इस प्रकारका पाठ उचित प्रतीत होता है । दूसरी जगह 'व्यभिचारसरणि पाठ छपा था उसके स्थान पर 'व्यभिचारि सरणि' पाठ होना चाहिए था । इसलिए हमने सशोधित रूपमें वे ही पाठ प्रस्तुत किए हैं । और अपने सशोधित पाठोको काले टाइपमें तथा पूव पाठोको पाद टिप्पणीमे कर दिया है ।

भट्टतोतके मतसे नाटचका अलौकिक रूप—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें सामा य रूपसे कारिकाके तीनो चरणोका भट्टतोताभिमत भाव प्रदर्शित करके अब अगले अनुच्छेदमें विशेष रूपसे विवादास्पद नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि इस ततीय चरणकी व्याख्या करनेकेलिए 'नाटच, 'शास्त्र' तथा 'प्रवचन' तीनो पदोके अर्थोंका निरूपण करते हैं—

अभिनव०—उसमे नाटच, लौकिक पदार्थसे भिन्न हे उसके १ अनुकरण २ प्रतिबिम्ब, ३ चित्र, ४ सादृश्य, ५ आरोप, ६ अध्यवसाय, ७ उत्प्रेक्षा, ८ स्वप्न, ९ माया, और १० इन्द्रजाल आदि [दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियो] से विलक्षण, [होनेसे] और उसके [ग्राहक अर्थात्] ज्ञानके [भी] १ यथार्थज्ञान, २ मिथ्याज्ञान ३ सशय, ४ अनवधारण, तथा ५ अनध्यवसायात्मक [पाचो प्रकारके लौकिक] ज्ञानसे भिन्न प्रकारका होनेके कारण, वह नाटच, आस्वादरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे ग्राह्य, रसात्मक [अलौकिक] वस्तु है यह बात हम आगे कहेगे। [यहाँ तक' नाटच' शब्दका अथ किया] ।

उस [अलौकिक रसात्मक नाटच] के 'शास्त्र' अर्थात् शासन अर्थात भाँड आदिके अशास्त्रीय नाटच [अर्थात् स्वाग आदि] से भिन्न प्रकारसे, उसके स्वरूपको, भली प्रकार समझनेके उपायको, प्रकृष्ट रूपसे अर्थात् ब्रह्माके अन्य शिष्योके द्वारा कहे गए [मार्ग या] उपायके अनुपयोगी विस्तारमात्रको सिद्ध करके कहूगा । [यह 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणकी व्याख्या हुई] ।

इस अनुच्छेदमें नाटचको अलौकिक रसात्मक वस्तु बतलाया है । और उसकी अलौकिकताकी सिद्धिकेलिए उसे अनुकरण, प्रतिबिम्ब आदि दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियोंसे भिन्न माना है । इसका अभिप्राय यह है कि नाटचमें जो नट, राम आदिका रूप धारण करके अभिनय

---

१ म स्वभावेति । म० रसस्वभा इति ।

२ भ, विकासावधानेन । भ० रितोनुपयोगिविकासत्वाधानेन ।

करता है उसमें नाटक देखते समय सामाजिकको यह अनुभव नही होता है कि १ यह रामका अनुकरण है या २ प्रतिबिम्ब है या ३ रामका चित्र देख रहा है, या ४ रामके सदृश व्यक्ति को, ५, आरोप या ६ अध्यवसाय, या ७ उत्प्रेक्षा, या ८ माया, या ९ स्वप्न, या १० इन्द्रजाल आदिको देख रहा है। यदि इस प्रकारका अनुभव हो तो उसे रसास्वाद ही नही होगा। इसलिए जितने प्रकारकी लौकिक प्रतीतियाँ हो सकती है नाट्यके राम आदिका ज्ञान उन सबसे भिन्न प्रकारका होता है। इसी प्रकार समस्त प्रकारके लौकिक ज्ञानोसे भिन्न उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। इसलिए नाट्य लौकिक पदार्थोंसे भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उसके 'शास्त्र' अर्थात शासन अर्थात् उसके स्वरूपको सम्यक प्रकारसे समझनेके उपायको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा। अर्थात अन्य लोगोने जो उपाय कहे हैं वे अनुपयोगी विस्तारमात्र हैं इस बातको सिद्ध करते हुए उनकी अपेक्षा—उत्कृष्ट रूपसे मैं उनका निरूपण करूगा। यह भट्ट तोतके मतानुसार ततीय चरणका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे हमने केवल एक सशोधन नाममात्रका किया है। पूव सस्करणोमे 'तदग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसशयानवधारणानध्यवसायविज्ञानभिन्नास्वादनरूपसवेदन सवेद्य वस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्याम' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु यह पाठ शुद्ध नही है। यदि 'तदग्राहकस्य' यह पद न होता तो तब तो अनध्यवसायविज्ञानभिन्न आस्वादनरूपसवेदनसवेद्य वस्तु' इस पाठकी सङ्गति लग सकती थी। पर 'तदग्राहकस्य' इस पदके प्रयोगके होनेपर भिन्न पदसे अथ नही निकल सकता है। 'भिन्न' पदके साथ 'तया' जोड कर 'भिन्नतया' इस प्रकारका पाठ मानने पर ही अथकी सङ्गति होती है। अन्यथा नही। बडोदा वाले द्वितीय सस्करणमें 'भिन्न' के आगे 'वत्ता त' पद बढाकर 'भिन्नवत्ता त' पाठ छापा गया है। परन्तु वह भी ठीक नही बनता है। उसमें भी यह दोष ज्योका त्यो बना रहता है। अत हमने इस तया' का समावेश आवश्यक मान कर उसी प्रकार भिन्नतया' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

सशय अनध्यवसाय और अनवधारण ज्ञानका भेद—

इसी पक्तिमें सशय—अनवधारण—अनध्यवसाय इन तीन पदोका प्रयोग किया गया है। इनमें 'सशय' और 'अनध्यवसाय' ज्ञानका भेद तो वशेषिक दशनमे किया गया है। किन्तु 'अनध्यवसाय' तथा 'अनवधारण' ज्ञानका भेद वहा भी नही किया गया है। पर उनके अर्थोंमे निम्न प्रकार का सूक्ष्य भेद है। १ सशयमे दो कोटिया होती है। २ अनध्यवसाय सवथा अपरिचित वस्तुके विषयमें होता है। और ३ अनवधारण परिचित बस्तुसे सम्बन्ध रखता है।

सशय और अध्यवसाय इन दोनो ज्ञानोको वैशेषिक दशनके प्रशस्तपाद भाष्यमें अविद्याके चार प्रकारके भेदोके अन्तगत माना गया है। 'अविद्यापि चतुर्विधा सशय विपयय स्वप्न अनध्यवसाय लक्षणा। इस प्रकार अविद्याके चार भेदोमें सशय तथा अनध्यवसाय दोनोको अलग अलग गिनाया गया है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह सशयका उदाहरण है। उसमे स्थाणु और पुरुष दो कोटियाँ होती है। उन दोनो कोटियोको स्पश करनेवाला ज्ञान 'सशय' कहलाता है। अनवधारण तथा अनध्यवसाय ज्ञानोमें दो कोटिया नही होती है। किसी सवथा अपरिचित प्रथम वार सम्मुख आई वस्तुको, देखकर यह निश्चय न कर सकना कि यह क्या है 'अनध्यवसाय कहलाता है। जैसे जिसने ऊटको कभी नही देखा है वह अकस्मात ऊटके सामने आजानेपर उसका निणय नही कर सकता है। इसे ही वैशेषिक दशनमें 'अनध्यवसाय' ज्ञान कहा गया है। किन्तु कभी कभी सुपरिचित वस्तुके देखने पर भी उसके पूण रूपसे सामने न आने पर उसका निणय नही हो पाता है। उसको अनवधारण' कहा गया है यह इनका सूक्ष्म भेद है।

[¹यद्वक्ष्यति—

य इम शृणुयात् प्रोक्त नाटचवेद स्वयम्भुवा ।
कुर्यात प्रयोग यश्चन तथाधीयीत वा नर ।।
या गतिर्वेदविदुषा या गतियज्ञवेदिनाम् ।
या गतिर्दानशीलाना ता गतिं प्राप्नुयात् तु स ।। [ना०शा०अ० ३६]

एतेन 'कामजो दशको गण' [मनु ७-४७] इति वर्जनीयत्वेन नाटचस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे तदयुक्तीकृतम । याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशसाभूयस्त्वश्रवणात् । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात ।

एतत तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनाथमभिधीयते नाम] ।

बाईस पक्तियोके अस्थान पाठका उदाहरण—

ऊपर हमने दिखलाया था कि 'अभिनवभारती के पूव मुद्रित सस्करणोमें अनेक प्रकारके पाठ दोष पाए जाते हैं । उनमेंसे अस्थान पाठका दोष भी एक मुख्य दोष है । अस्थान पाठका अभिप्राय यह है कि किसी अ य स्थानपरका पाठ अपने उचित स्थानको छोड कर किसी अन्य अनुचित स्थानपर छाप दिया गया है । इस दोषके आनेके भी कई कारण हो सकते हैं । उनमेसे एक मुख्य कारण यह है कि प्राचीन शलीकी बहुत सी पाण्डुलिपियोमे पष्ठ सख्या भी नही पडी रहती है । केवल उनके पष्ठ क्रमसे लगे रहते हैं । यदि कभी किसीने पढते समय एक पष्ठको उठा कर भूलसे इधर-उधर रख दिया तो उसे फिर उचित स्थानपर पहुचाना बडा कठिन, प्रतिभा और परिश्रमसे साध्य काय हो जाता है । ऐसी दशामे मुद्रण होते समय पाठोका इधरसे उधर मुद्रित हो जाना बहुत साधारण सी बात है । कु तकके 'वक्रोक्तिजीवितम' मे भी अनेक स्थानोपर इस दोषका अनुभव हुआ था । हमने 'वक्रोक्तिजीवित के अपने सम्पादित सस्करणमे इस प्रकारके अस्थान पाठोका उद्धार कर उनको यथोचित स्थान पर मुद्रित करनेका यत्न किया था । उसी प्रकारकी स्थिति 'अभिनवभारती' में भी अनेक स्थानोपर पाई जाती है । उनमेंसे एक अत्य त महत्त्वपूण स्थल यह है जो इस २८ वे पष्ठ के 'यद्वक्ष्यति' से आरम्भ होकर अगले दो पष्ठो तक अर्थात् ३०वें पृष्ठ के 'करोतीति वक्ष्याम ' तक गया है । यह सब पाठ इस स्थलका पाठ नही है । उसका उचित स्थान आगे पष्ठ ३८ ४३ पर आवेगा । वहा हम इस पाठको काले टाइप में पुन मुद्रित करेगे । और वही इसकी व्याख्या करेगे ।

हम इसको अस्थान पाठ क्यो मानते हैं—

२८ से ३० पष्ठ तक तीन पष्ठोमें मुद्रित इन २२ पक्तियोके पाठको हमने अस्थान पाठ माना है इसके कई कारण हं । पर इसका सबसे मुख्य कारण यह है कि इन २२ पक्तियोमे जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है उसकी इनके पहिलेके तथा इनके बाद वाले प्रकरणके साथ कोई सङ्गति नही लगती है । अथ और विषय दोनोकी दृष्टिसे जब हम इन पक्तियोकी स्थिति पर विचार करते हैं तो तुर त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पक्तिया यहाँपर अप्रासङ्गिक रूपसे व्यथ आगई है । उनकी यहा पर न कोई आवश्यकता है और न कोई सङ्गति ही लगती है । इन पक्तियोकी अप्रासङ्गिकताको समझनेकेलिए इन पक्तियोके पूर्वापर प्रकरण और स्वय इन पक्तियोके विषयकी विवेचना करना आवश्यक है । इन दोनो बातोकी विवेचनासे ही उनकी स्थितिका निश्चय हो सकेगा इसलिए पहिले हम इन पक्तियोके पूर्वापर प्रकरणकी विवेचना करते हैं ।

१ यह सब अस्थान पाठ है । अत कोष्ठमे दिया है और यहाँ अनुवाद भी नहीं दिया है ।

[[1]तथाहि—नटाना तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतया अनुष्ठेयमेव। न चास्माक तच्चेष्टित विचार्यम्। सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य न तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगत-कृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्त। न चाप्यस्योपदिश्यते 'गायेत्, नृत्येत्', इति। किन्तु प्रथम नाट्यावसरक्रमप्रवृत्तविरिञ्चवचनप्रवर्तक-भरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरि-चयागत-अद्यतनकालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्। अत एव तद्गत-सिद्धसदुपायोपदेशनपरमिद शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते त प्रति उपकारादते]।

[[2]कवेरपि स्वहृदयायातनसततोदित-प्रतिभाभिधान-परवाग्देवतानुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिन प्रजापतेरिव कामजनितजगत।]

यहा प्रणम्य शिरसा देवौ से लेकर 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' तक भरतमुनिकी प्रथम कारिकाके तीन चरणोकी भट्ट तोतकृत व्याख्या चल रही है। उसमे नाट्यशास्त्र शब्दसे किसका ग्रहण होता है इस विषयमें एक व्याख्याकारका यह मत दिया था कि नाट्यवेद शब्दसे इस नाट्यशास्त्र ग्रन्थका ग्रहण होता है।' परन्तु इस मतका खण्डन कर दिया गया है। उसके बाद 'नाट्य या नाट्य कला ही नाट्यवेद है' यह दूसरा मत दिया गया था और उसका भी खण्डन किया जा चुका है। इन दोनो मतोके खण्डनके बाद ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्ट तोतका मत दिया है। उसी प्रसङ्गमें इन २२ पक्तियोके अस्थान पाठके पूर्व 'भट्ट तोत' के मतानुसार नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस भागकी व्याख्या चल रही है। और इन २२ पक्तियोके बाद भी इसी विषयमें भट्ट तोतका मत दिया गया है। इन पक्तियोसे पहिले भट्ट तोतका यह मत दिया गया है कि नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि में नाट्य पदसे रसस्वरूप अलौकिक वस्तुका ग्रहण करना चाहिए। उसके शास्त्र अर्थात शासनके उपायको प्रकर्षसे अर्थात ब्रह्माके अन्य नाट्य शिष्योके व्याख्यानोकी अनुपयोगिता दिखलाते हुए कहूँगा। यह 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि की व्याख्या होती है। इस व्याख्या पर होनेवाली शङ्काका समाधान इन २२ पक्तियोके बाद किया गया है।

इस व्याख्यामे यह शङ्का हो सकती है कि जब 'नाट्य' शब्दसे अलौकिक रसात्मक नाट्य वस्तुका ग्रहण होता है तो आगे चल कर नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न कस्य वा कृते' इत्यादि इसी अध्यायकी चौथी कारिकामे नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न किए गए है उनकी इस अर्थमे सङ्गति कसे लगेगी। इस शङ्काका उत्तर इन अस्थान-पठित २२ पक्तियोके बाद आई हुई—

'उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्याख्यवेदविषया न तु नाट्यशास्त्रविषया अतो 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मन [ना० शा० १ ४] इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्याख्यास्याम'।

इन पक्तियोमें दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न आगे पूछे जावेगे वे नाट्यशास्त्रकी उत्पत्तिके विषयमें नही किन्तु नाट्यवेद अर्थात नाट्यविद्या, नाट्यकलाकी प्रारम्भिक उत्पत्ति आदिके विषयमें समझने चाहिए। ये पक्तिया भी भट्ट-तोतके मतको ही प्रस्तुत कर रही हैं। इसका अर्थ यह निकला कि जिन २२ पक्तियोके पाठको हम अस्थान पाठ कह रहे हैं उनके पहिलेकी पक्तियोमें जिस भट्ट तोतके मतको दिया जा रहा था वही प्रकरण इन २२ पक्तियोके बादकी पक्तियोमें भी चल रहा है। इसलिए पूर्वापर प्रकरणके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दोनो भागोका पाठ अव्यवधानसे एक

१-२ यह अस्थान पाठ है। अत कोष्ठमे दिया है और यहाँ इसका अनुवाद नहीं दिया है।

[[1]पर प्रत्याशङ्का यदि परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकार । तस्यापि तु नैव 'गायेत् नत्येत् वादयेत् तन्निरतो वा भवेत्' इत्युपदेश क्रियते । अपि तु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवत्तस्य अत एव वेदशास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य त मनोज्ञवस्तु-मध्ये तादृगिद वस्त्वनुप्रवेशित यद्बलादेव पुमर्थपायावगति करोतीति वक्ष्याम] ।

उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्यारयवेदविषया न तु [2]**नाट्यशास्त्र-विषया** । [3]**अतो** '[4]नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्' इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्यारयास्याम ।

साथ होना चाहिए । बीचमें इन २२ पक्तियोके मुद्रित हो जानसे उस पाठके बीचमे व्यवधान पड गया है । इससे उन दोनोका परस्पर सम्ब ध विच्छिन्न हो जाता है और उनकी सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है । इस प्रकार पूर्वापर प्रकरणकी विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पृष्ठ २८ के 'वद्वक्ष्यति' से लेकर पृष्ठ ३० के 'करोतीति वक्ष्याम ' तक की २२ पक्तिया यहा अ स्थान पठित हैं।

अ-स्थान पाठ माननेका दूसरा कारण—

इसके अतिरिक्त स्वय इन २२ पक्तियोके विषयकी विवेचनासे भी इसी परिणामकी पुष्टि होती है । इन पक्तियोमे नाटचकी उपादेयता अनुपादेयता पर विचार किया गया हे । कुछ प्राचीन टीकाकारोने 'कामजो दशको गण ' इत्यादि मनुस्मृतिके वचनके आधारपर नाटचकी अनुपादेयताकी शङ्का उठाकर नाटचशास्त्रके अ तमें आए हुए य इम शृणुयात' इत्यादि श्लोकोके द्वारा उस शङ्काका खण्डन करनेका यत्न किया है । कि तु अभिनवगुप्त इस प्रकारकी शङ्का और उसके समाधान करनेके प्रयत्न, दोनोको ही अनुचित और अनावश्यक मानते हैं । उनके मतमें न नटके लिए, न कविकेलिए और न सामाजिककेलिए, किसीकेलिए भी नाटच अनुपादेय नही हो सकता है । इसलिए यह शङ्का समाधान सवथा यथ है । यह अभिनवगुप्तका मत है । इसी मतका इन अस्थान पठित २२ पक्तियोमें प्रतिपादन किया गया है । नाटचकी उपादेयता अनुपादेयताके विवेचनका यह विषय बिल्कुल नया विषय है । उसके विवेचनका स्थान कारिकाकी सामा य व्यारया समाप्त हो जानेके बाद हीं आसकता है । अभी तो ततीय चरणकी ही व्यारया चल रही है उसके बाद चतुथ चरणकी व्याख्या आवेगी । इस पद व्यारया या अक्षराथके प्रसङ्गमें उसका कोई अवसर नही है यहाँ कारिकाके ततीय चरणकी पद व्यारयाके विषयमे भट्ट तोतका मत दिया जा रहा है उसके बीचमें नाटचकी उपादेयता अनुपादेयता विषयक प्रकरण तरको देनेकी कोई सङ्गति नही लग सकती है । इसलिए हमने इसको अस्थान पाठ मानकर यहाँसे अलग कर दिया है और कारिकाकी पद व्याख्याके बाद पृष्ठ ३८ ४३ तक उसका स्थान निर्धारित किया है ।

प्रकृत प्रसङ्गका अनुसरण—

अभिनव०—उत्पत्त्यादि विषयक जो प्रश्न आगे होंगे वे नाटचवेदके विषयमे होंगे, [इस] नाटचशास्त्रके विषयमे नही । इसी लिए 'हे ब्रह्मन् नाटचवेद कैसे' [उत्पन्न हुआ] इस [चौथी कारिका] मे नाटचरूप जो वेद [वह कैसे उत्पन्न हुआ] इस प्रकारकी व्याख्या हम करेंगे ।

---

१ म० भ० यह अस्थान पाठ है अत कोष्ठमे दिया है और यहाँ उसका अनुवाद नहीं दिया है । आगे यथास्थान पृष्ठ० ३८ से ४३ तक इसको पुन मुद्रित कर इसकी व्याख्या की है ।

२ म० भ० नाटचवेदशास्त्रविषया यतो । ३ यतो । ४ ना० शा० १-४ ।

एतच्च 'नाट्यशास्त्र 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' मह्यमुक्तम् । यद्वक्ष्यते—

[2]आज्ञापितो विदित्वाह नाट्यवेद पितामहात् ।

पुत्रानध्यापयामास—

इति । अत्र तु नाट्यस्य वेद शास्त्रमिति समास । अन्यथाध्यापनासम्भवात् । तेन ब्रह्मप्रोक्तमेव मया यथापरिपाटि निरूप्यत इति यावत ।

नाट्य च ब्रह्मणा उद्धृत्य **वेदेभ्योऽङ्गानि** आहृतमिति तद्विषय शास्त्रमपि 'उदाहृत' इत्युक्तम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें हमने दो सशोधन किए हैं। एक तो 'नाट्य वेदशास्त्रविषया' इस प्रकारका पाठ पूव सम्करणोमें छपा था उसके स्थानपर 'नाट्यवेदविषया' यह पाठ किया है । और दूसरा पूवमुद्रित यतो' पदके स्थान पर अतो' पाठ दिया है। प्रकरणके अनुसार उन स्थानोपर इसी प्रकारके पाठ होने चाहिए । अत हमने सशोधित रूपमें इ ही पाठोको और अपने सशोधन होनेके कारण काले टाइपमें प्रस्तुत किया है । पूव पाठोको पादटिप्पणीमे कर दिया है ।

चतुथ चरणकी प्रथम व्याख्या—

यहा तक ग्र थकारने अपन गुरु श्री भट्टतोतके मतानुसार कारिकाके आदिके तीन चरणोकी व्याख्या प्रस्तुत की है । अब आगे वे उ हीके मतानुसार इसके चतुथ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—और इस नाट्यशात्रको ब्रह्माने 'उदाहृत' किया अर्थात् मुझको बतलाया। जसा कि आगे [इसी अध्यायकी २५वी कारिका] मे कहेगे कि—

अभिनव०— [इन्द्रके द्वारा] 'आज्ञा मिलने पर मैने [अर्थात् भरतमुनिने] ब्रह्मास नाट्यवेदको सीख कर अपने पुत्रोको पढाया ।'

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् 'विदित्वाह नाट्यवेद पितामहात्' इस कारिकामे आए हुए 'नाट्यवेद' पदमे] नाट्यका वेद अर्थात् शास्त्र यह समास [नाट्यवेद पदमे] है । अ यथा [यदि नाट्यवेद पदसे नाट्यशास्त्रका ग्रहण न किया जाय तो उसका] अध्यापन भी सम्भव नही होगा । इसलिए ब्रह्माके द्वारा उपदिष्ट [नाट्यशास्त्र] को ही म परम्पराके अनुसार [या यथोचित रीतिसे] यहा निरूपण कर रहा हू यह [भरतमुनिका] अभिप्राय है । ['ब्रह्मणा उदाहृतम्' का यह एक अथ हुआ । दूसरा अथ आगे देते है] ।

चतुथ चरणकी द्वितीय व्याख्या—

अभिनव०—और ब्रह्माने वेदोसे [पाठ्य, गीत, अभिनय और रस रूप] अङ्गोको निकाल कर नाट्यका उद्धार किया [अर्थात् नाट्यका निर्माण या प्रकाश किया] इसलिए तद्विषयक शास्त्र [अर्थात् नाट्यशास्त्र] को भी 'उदाहृत' कहा गया है । [यह 'उदाहृतम्' का दूसरा अथ हुआ] ।

---

१ म नाट्यवेदशास्त्रम् । २ नाट्यशास्त्र १ २५ । ३ म भ वेदाङ्गानि ।

यदि हि नाटचस्य वेदन, सत्ता, लाभो, विचारश्च यत्र '**स नाट्यवेद इति,** तन्नाटचवेदशब्देन नाटचाश्रयरूप [2]दशरूपकमुच्यते । [3]**अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम्' प्रदर्शि-तोदाहरण कृतनिदशनम् दत्यथ । यद्वक्ष्यति 'इतिहासो मया सृष्ट' इति ।**

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें ब्रह्मणा उद्धृत्य वेदाङ्ग याहृतम इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है । वह पाठ कुछ भ्रामक हो सकता है । ऊपरसे देखने पर उसका यह अथ प्रतीत होता है कि ब्रह्माने वेदाङ्गोको निकाल कर उद्धार किया । पर तु यह अथ ठीक नही है । ग थकारका अभिप्राय यह है वेदोसे पाठ्य गीत अभिनय और रस आदि अङ्गोको ग्रहण करके ब्रह्माने नाटचवेदकी रचना की है । इस प्रकारका वणन 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च' इत्यादि इसी अध्यायकी १७वी कारिकामे किया गया है । उसीकी ओर सकेत करते हुए 'उद्धृत्य वेदाङ्गा याहृतम' यह लिखा गया है । पर तु इस अथको स्पष्ट रूपसे बोध करानेकेलिए वेदाङ्गानि' इस समस्त पदके स्थान पर वेदोभ्याऽङ्गानि' यह व्यस्त पदोका प्रयोग किया जाना चाहिए था । समस्त पद अथ प्रतीतिमें बाधक बन जाता है । अत हमने उसको सशाधित करके यही पाठ प्रस्तुत किया है । और अपना सशोधन होनेसे उसे काले टाइपमे दिया है ।

चतुथ चरणकी ततीय व्याख्या—

नाटचवेद पदमें आया हुआ वेद शब्द व्याकरणके अनुसार अदादिगणकी विद ज्ञाने' अथवा दिवादिगणकी विद सत्तायाम अथवा तुदादिगणकी 'विदलृ लाभे अथवा रुधादिगणकी 'विद विचारणे इन चार धातुओसे सिद्ध हो सकता है । इनमेसे किसी अथको लेकर यदि नाटचवेद शब्दकी व्याख्या की जाय तो उससे दशरूपकोका ग्रहण होगा । और उस दशा में ब्रह्मणा उदाहृतम' का अथ यह होगा कि 'ब्रह्माने जिसको उदाहरण रूपमे प्रस्तुत किया है' । इसी अध्यायमे नाटचवेदका इतिहास बतलाते हुए कहेगे कि सबसे पहिले ब्रह्माने नाटकका निर्माण करके देवताओ के द्वारा अभिनय करानेकेलिए दिया था । इसी बातको ग थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—यदि नाटचका ज्ञान [विद ज्ञाने], सत्ता [विद सत्तायाम्], लाभ [विदलृ लाभे], अथवा विचार [विद विचारणे], जिसमे किया जाय, वह नाटचवेद कहलाता है [यह नाटचवेद शब्दका अथ किया जाय] तो नाटचवेद शब्दसे दशरूपक [अर्थात् रूपकके दस प्रकारके भेदो] का ग्रहण होगा । और इस पक्षमे 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अथ 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण दिखलाया था' अर्थात् [सबसे प्रथम नाटकका निर्माण करके ब्रह्माने] दृष्टान्त प्रस्तुत किया था यह होगा । जैसा कि [इसी अध्यायके १९वी कारिकामे] आगे कहेगे कि—'मैंने [अभिनयके लिए] इतिहास [अर्थात् आख्यान वस्तु अथवा नाटक] की रचना कर दी है' [अब आप देवताओके द्वारा उसका अभिनय करावे] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमे कुछ अस्त व्यस्त सा छपा है । 'तन्नाटचवेदशब्देन नाटचाश्रयरूप दशरूपमित्युच्यते । यद्वक्ष्यति इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे ब्रह्मणोदाहृत प्रदर्शितोदाहरण कृतनिर्देशनमित्यथ ' इस प्रकारका पाठ पूव-सस्करणोमे पाया जाता है । वह कई स्थानो पर अशुद्ध है । १—इसमे दृष्ट' के स्थान पर 'सृष्ट' पाठ होना चाहिए । क्योंकि

१ अस्मदीय पाठ । २ भ ग दशरूपमित्युच्यते । ३ यद्वक्ष्यति इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृत' प्रदर्शितोदाहरण कृतनिर्देशनमित्यर्थ. । ४. ना०शा० १ १९ ।

अन्ये तु–नटनीय [1]अनुकरणीय दशरूपकमेव नाटचम्। तस्येद शास्त्रम। दशरूपकलक्षणमेव हीदम। एव च नटनीयमिति ग्रन्थतात्पर्याद् रसादीना तत्रव [2]पयवसानम्। तच्च ब्रह्मणोदाहृत कृतनिदशनम्[3]।

जिस १६वी कारिकाका यह भाग यहा उद्धत किया गया है उसके मूल पाठमें उन सस्करणोमे भी 'दृष्ट' के स्थान पर सृष्ट' पाठ ही छपा है। इसलिए यहा पर 'दृष्ट' पाठ अशुद्ध हे। उसके स्थान पर 'सृष्ट' पाठ ही होना चाहिए। (२) इसी प्रकार पूव सस्करणोमे मुद्रित 'कृतनिर्देशनम' यह पाठ भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'कृतनिदशनम्' पाठ होना चाहिए। क्योकि यह पद 'उदाहृत' की व्याख्या रूपमे लिखा गया है। 'उदाहृत' का इसके पूव प्रदर्शितोदाहरण' यह अथ किया गया है और उसीका दूसरा पर्याय कृतनिदशन' दिया गया है। इसलिए यहा उदाहरणाथक 'निदशन' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। 'निर्देशन' शब्द उदाहरणाथक नही इसलिए उसका प्रयोग अशुद्ध है। द्वितीय सस्करणमें भी यह सशोधन कर दिया गया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें ये दो तो सामान्य अशुद्धिया हैं। परन्तु विशेष विचारणीय स्थल तो यद्वक्ष्यति इतिहासो मया सष्ट' इस भागकी स्थिति है। ब्रह्मणा उदाहृत' का जब 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था' यह अथ करते हैं तब इस बातके समथनकेलिए यद्वक्ष्यति–'इतिहासो मया सृष्ट' इत्यादि वाक्यको उद्धत किया गया है। इसलिए नियमानुसार उसकी स्थिति 'अत्र पक्षे ब्रह्मणा उदाहृत प्रदर्शितोदाहरण कृतनिदशनमित्यथ' इसके बाद होनी चाहिए जसा कि हमने उसे मुद्रित किया है। परन्तु पूव सस्करणामे 'यद्वक्ष्यति—इतिहासो मया दृष्ट इति। अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम' प्रदर्शितोदाहरण, कृतनिर्देशनमित्यथ'। इस रूपमें यह पाठ जिसके समथनकेलिए उसे उद्धत किया गया है उसका उल्लेख किए बिना ही अ स्थान में इसके पूव छापा गया है। वहा उसकी स्थिति निता त असङ्गत है। इसलिए हमने सशोधित रूपमे नया पाठ काले टाइपमे प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा— नाटचस्य विचारश्च यत्र त नाटचवेदशब्देन दशरूपकमित्युच्यते' यह पाठ भी कुछ अटपटा सा प्रतीत होता है। 'दशरूपक' के बाद 'इति' न होता तो अधिक अच्छा रहता। और 'यत्र' के बाद 'स नाटचवेद इति' और जुडा होता तो अथ अधिक स्पष्ट हो जाता। अत इन स्थानोपर भी हमने सशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है।

चतुथ व्याख्या—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो यह कहते है कि नटनीय अर्थात् अनुकरणीय [होनेसे नाटक आदि] दशरूपक ही नाटच है। उसका यह शास्त्र [नाटचशास्त्र हुआ]। इस प्रकार [दशरूपक का लक्षण रूप या] दशरूपक-स्वरूप ही यह [नाटचशास्त्र] है। और इस प्रकार अनुकरण करने योग्य इससे [नाटक रूप] ग्रन्थका तात्पय होने से [पहिले जो नाटकको रसात्मक-वस्तु कहा गया था] उन रस आदिका इसीमे पर्यवसान हो जाता है। [अभिनवगुप्तके गुरु अर्थात् भट्टतोतने जो नाटचशास्त्र शब्दकी व्याख्या की थी उसका इससे विरोध नहीं होता है]। और ब्रह्माने उसको उदाहृत किया है अर्थात् उसका उदाहरण दिया है।

१ म भ अनुकरणम्। २ म भ पयवसानात्। ३ कृत निर्देशनम्

अन्ये तु–'ब्रह्मणा वेदाख्येन भगवता शब्दराशिना' 'उदाहृत' निरूपित त्याज्यानुष्ठेयरूप आयदागच्छद् व्युत्पाद्यतया स्वीकुर्वन् नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामीति प्रयोजनमनेनैव स्वीकृतमित्याहु ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पूर्वसस्करणोमे 'नटनीय' के पर्यायवाचक शब्दके रूपमें अनुकरण पाठ छपा था । परन्तु वह शुद्ध नही जान पडता है । उसके स्थान पर उसके अनुरूप अनीयर प्रत्ययान्त अनुकरणीय' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार अनुच्छेदके अन्तमें पर्यवसानात' पाठ पूर्व सस्करणोमे छपा था उसके स्थानपर पर्यवसानम' पाठ होना चाहिए । हमने सशोधित रूपमें ये ही पाठ काले टाइपमे प्रस्तुत किए हैं ।

यहा तक ग्रन्थकारने 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम की चार प्रकारकी व्याख्याए प्रस्तुत की हं । पहिली व्याख्याके अनुसार 'उदाहृत का अर्थ 'मह्यमुक्तम मुझे बतलाया यह होता है । दूसरी व्याख्याके अनुसार ब्रह्माने वेदोसे अङ्गोको निकाल कर इसकी रचना की है इसलिए उसको उदाहृत' कहा गया है यह अर्थ होता है । तीसरी व्याख्यामे ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था यह ब्रह्मणा उदाहृतम' का अर्थ होता है । चौथी व्याख्यामे नाटचका अर्थ नटनीय अर्थात दशरूपक किया गया है ।

पञ्चम व्याख्या—

इसके बाद अगले अनुच्छेदमें 'ब्रह्मणायदुदाहृतम' की अन्य प्रकारसे व्याख्या दिखलाते हैं । यह व्याख्या इन सब व्याख्याओसे विलक्षण है । इस व्याख्यामें 'ब्रह्मणा यद उदाहृत इस प्रकारका पदच्छेद न करके 'ब्रह्मणा आयद उदाहृतम' इस प्रकारका पदच्छेद किया गया है । और 'ब्रह्म' का अर्थ वेद' ही माना गया है । उसके अनुसार वेदके द्वारा उदाहृत' अर्थात 'निरूपित' और उससे आने वाले विधि और प्रतिषेधोकी शिक्षा देनेके सिद्धान्तको स्वीकार करके नाटचशास्त्रको कहूगा यह अर्थ होता है । इस अर्थके द्वारा नाटचशास्त्रका प्रयोजन विधि प्रतिषेध या कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देना है, यह बात सिद्ध होती है । इसी बातको वृत्तिकार अगली पक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इसका यह अर्थ करते है कि]—ब्रह्म अर्थात् शब्दराशि रूप वेद-भगवान्के द्वारा निरूपित और [वेदसे] 'आयद' अर्थात् आने वाले [अर्थात् प्राप्त होने वाले] जो त्याज्य और अनुष्ठेय [अर्थात् विधि तथा प्रतिषेधका शिक्षण] उसको [नाटचके द्वारा] शिक्षणीय मान कर मै [भरतमुनि] नाटचशास्त्रको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा । इस प्रकार [नाटचशास्त्रका विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देना रूप] प्रयोजन इसीके द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है यह कहते हं ।

इस पञ्चम व्याख्यामें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहा पद विन्यासकी दृष्टिसे तो 'ब्रह्मणा' पदका 'आयद' पदके साथ सम्बन्ध माना गया है, किन्तु वाक्य रचनामें ब्रह्मणा' का सम्बन्ध 'आयद्' के साथ न मान कर 'उदाहृतम' के साथ माना गया है । और 'ब्रह्मणा उदाहृतम' वेदके द्वारा निरूपित यह अर्थ किया गया है । 'आयद्'के साथ सम्बन्ध करना हो तो 'ब्रह्मणा' इस तृतीयान्त पदके स्थान पर 'ब्रह्मण' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग करना होगा । उस दशामें कारिकामे 'ब्रह्मणायद' पाठ न होकर सन्धिके नियमोके अनुसार 'ब्रह्मण आयद्' पाठ होना चाहिए था । अत 'आयद् पदका समन्वय करनेकेलिए उस टीकाकारको अध्याहार आदि द्वारा विशेष प्रयास करना पडा है ।

भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृत' अविद्याविरचित निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृत तन्नाटचम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसार तत एवानवस्थितैकरूप क्षणेन कल्पनाशतसहस्त्रसह स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरा हृदयग्रहनिदान, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचित रामरावणादिचेष्टित असत्य कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्या भाति। तथा भासमानमपि च 'पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मक, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमथप्रापकमिति लोकोत्तरपरमपुरुषाथसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽय भविष्यति—

स्व स्व निमित्तमासाद्य'शान्तादुत्पद्यते रस। इति

तदनेन पारमार्थिक प्रयोजनमुक्तम्' इति व्याख्यान'सहृदयदपणे' पयग्रहीत।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने गुरु भट्टतौत तथा अय व्याख्याकारो द्वारा प्रस्तुत की गई 'ब्रह्मणा यदुदाहृत' इस कारिका भागकी पाच व्याख्याए यहाँ तक उपस्थित की हैं। आगे भट्टनायक द्वारा की गई छठे प्रकारकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार देते हैं—

भट्टनायक कृत षष्ठ व्याख्या—

अभिनव०—भट्टनायक तो [इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है कि—] ब्रह्म अर्थात् परमात्माने जिसको उदाहरण रूपमे प्रस्तुत किया अर्थात् अविद्या कल्पित निस्सार [जगद् रूप] भेदके ग्रहण करनेमे जिसको उदाहरण बनाया है वह नाटच है। उसका म वणन करूगा। [इसका अभिप्राय यह है कि—] जसे [नाटकमे राम रावण आदिका चरित] केवल कल्पनात्मक, इसीलिए एक रूपसे स्थिर न रहने वाला, क्षणभरमे सैकडो सहस्त्रो परिवतनोको सहन करनेवाला, तथा स्वप्नादिसे विलक्षण होते हुए भी हृदयको सुन्दर रूपसे आकृष्ट करनेवाला, और स्वावलम्बन करनेवाले ब्रह्म सदृश नटके द्वारा प्रस्तुत किया गया, राम-रावण आदिका व्यापार किसी अद्भुत रूपसे प्रतीत होता है। और उस रूपमे भासित हो कर भी पुरुषार्थ [अर्थात् धम आदि] का साधन बन जाता है। इसी प्रकार यह जगत भी असत्य नाम रूप प्रपञ्चात्मक है। फिर भी श्रवण-मनन आदिके द्वारा पुरुषार्थका प्राप्त करानेवाला होता है। इस प्रकार लोकोत्तर [मोक्षरूप] परम पुरुषाथकी सूचना द्वारा यह शान्त रसका भी आक्षेप करानेवाला होता है [अर्थात् नाटकमे शान्तरसकी प्रधानता भी हो सकती है यह बात इस 'ब्रह्मणा यदुदाहृत' पदसे सूचित होती है। [जैसा कि कहा है]—

अभिनव०—अपने अपने कारणोको प्राप्तकर शान्तरससे [ही अन्य सब] रस उत्पन्न होता है।

अभिनव०—इसलिए ['ब्रह्मणा यदुदाहृतम्'] इससे [नाट्यका मोक्षसाधन रूप] परम-प्रयोजन भी बतलाया गया है यह व्याख्या [भट्टनायकने अपने] 'सहृदयदपण' [नामक ग्रन्थ] मे की है।

---

१ म अकृताकृतवृत्या। २ म पुरुषार्थोपदेशाय। ३ म शान्तमुत्पद्यते। ४ म हृदयदर्पणे।

यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यत ।
प्रतिक्षण जगन्नाटचप्रयोगरसिको जन ।। इति ।

एव नाटचशास्त्रप्रवचन प्रयोजनमुक्तम् । तत्प्रयोजन तु दर्शितमेव । अभिधेयश्च नाटचवेद । व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षणश्च सम्बन्ध ।

[1]यच्च शास्त्र यो जिज्ञासते स तावत् तदवसरे तच्छास्त्रप्रणेतरि प्रसिद्धे[2] सिद्धवदेव[3]प्रामाण्यमभिमन्यत इति[4]तद्वचनोक्ताय सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनाय तदैव निर्विशङ्क प्रवतते । परस्त्वधिगतसकलशास्त्रार्थो बहुमन्यते न वेति तदिदमन्यत ।

अभिनव०—जैसा कि [भट्टनायकने अपने उक्त ग्रन्थके आरम्भमे] कहा है—

अभिनव०—त्रैलोक्य [रूप नाटक] का निर्माण करनेवाले महाकवि शङ्करको नमस्कार है क्योकि ससारके लोग प्रतिक्षण [उनके बिरचित] इस जगत् रूप नाटक के प्रयोगमे रसास्वादनका अनुभव करते है ।

अनुब धनिर्देश—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यशास्त्रका प्रवचन करना [भरतमुनिकी प्रवृत्ति का] प्रयोजन है । और उसका [अर्थात नाट्यशास्त्रका मनोविनोदके साथ साथ कर्तव्याकतव्य या विधि प्रतिषेधकी शिक्षा देना, अथवा भट्टनायकके अनुसार शान्तरसके आक्षेप द्वारा मोक्षरूप परम पुरुषाथकी सिद्धिरूप मुख्य] प्रयोजन [पिछली व्याख्यामे] दिखला ही चुके है । [इस ग्रन्थका अभिधेय अर्थात्] प्रतिपाद्य विषय नाटचवेद है । और [इस शास्त्रके साथ उस विषयका] प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है ।

शास्त्रमे अधिकारीकी प्रवत्ति—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमे प्रयोजन, विषय तथा सम्ब‍घ रूप तीन अनुब घोका निर्देश किया है । अनुब‍घ चतुष्टयमेसे अधिकारी रूप चौथा अनुब घ शेष रह जाता है । उसका निर्देश करते हुए शास्त्रमे उसकी प्रवृत्तिका उपपादन अगले अनुच्छेदमे करगे । जो जिस शास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उस शास्त्रका अधिकारी होता है । इसलिए जो नाटचशास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उसका अधिकारी है । इस प्रकार अधिकारीका ग्रहण स्वय हो जाता है । इसलिए पृथक रूपसे उसका निर्देश नही किया गया है । फिर भी उसके सम्ब धमे जो विवेचना अगले अनुच्छेदमें करते हैं उससे अधिकारीका ग्रहण भी हो जाता है—

अभिनव०—जिस शास्त्रको जो जानना चाहता है [वही उस शास्त्रका अधिकारी है । और] वह उस समय उस शास्त्रके प्रसिद्ध निर्माताके विषयमे प्रमाणिकताको निश्चित ही मानता है इसलिए उस [शास्त्रकार] के वचन [अर्थात् शास्त्र] द्वारा कहे गए सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन [की सिद्धि] केलिए निर्विशङ्क होकर उसी समय प्रवृत्त हो जाता है । अन्य सब शास्त्रोके अर्थको समझनेवाला दूसरा व्यक्ति उसको आदरकी दृष्टि से देखता है या नही यह बात अलग है ।

---

१ म० यञ्च शास्त्राथम् । २ म० सिद्धयेव । ३ म० प्रमाणम् । ४ म० तद्वचनोक्तात् ।

प्रथम तावत्[1] **प्रयुक्त** आदिवाक्य [2]**प्रवतकमेव** इति स्वानुभव[3]**सिद्धम्**[4]। तेन अथसशय-तक-कौतुक[5]**जनकादि** वाक्य [6]प्रवतकमिति किमनेन ।

इसका अभिप्राय यह है कि अन्य लोग किसी शास्त्र विशेषको भले ही प्रामाणिक न माने परन्तु जो व्यक्ति जिस शास्त्रका जिज्ञासु है वह उसको प्रमाण मान कर तदनुसार अभीष्ट फल आदिकी प्राप्तिकेलिए काय करता ही है। इस लिए अन्य लोग नाटचशास्त्रके कर्त्ता भरतमुनिको प्रमाण माने या न माने परन्तु नाटचशास्त्रका जिज्ञासु तो भरतमुनिको परम प्रमाण मान कर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए उनके निर्देशानुसार प्रवत होगा ही।

शास्त्रके आदिवाक्यका प्रवतकत्व—

इसपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि न्यायदशनमें सशयको अनुमान आदिकी प्रवृत्तिका कारण माना गया है। 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्याय प्रवतते, किं तर्हि सशयितेऽर्थे।' लिख कर न्यायके भाष्यकार वात्स्यायनने सशयको प्रवत्तिका कारण माना है। और लोगोमें किसीने कही तकजनक वाक्यको और कही कौतुक जनक वाक्यको भी प्रवत्तिका प्रयोजक माना है। परन्तु यहा नाटचशास्त्रमें अथसशय या तक या कौतुक जनक वाक्योमें से कोई भी वाक्य नही पाया जाता है तब इसमे प्रवत्ति कसे हो सकती है। इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कर रहे हैं। उसका साराश यह है कि सवत्र सशय या तक या कौतुक जनक वाक्य ही प्रवतक हो ऐसा कोई नियम नही है। किसी शास्त्रका प्रारम्भिक वाक्य ही उस शास्त्रमें जिज्ञासु जनोको प्रवत्त कराने वाला होता है यह बात अनुभव सिद्ध है। इसलिए यहाँ सशय, तक या कौतुक जनक वाक्य के न होनेपर भी प्रथम प्रयुक्त हुआ वाक्य ही प्रवतक हो सकता है। इसलिए यहा प्रवत्तिमे कोई बाधा नही है। इसी बातको अगली पक्तियोमे इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—[किसी शास्त्रके] आरम्भमे प्रयुक्त आदिवाक्य [उस शास्त्रके जिज्ञासु जनोको उस विषयमे] प्रवृत्त करानेवाला ही होता है। यह बात [हम सब को] अपने अनुभवसे सिद्ध है। इस लिए [केवल] अथसशय या तक या कौतुक आदिके जनक वाक्य [ही] प्रवतक होते है, इसके कहनेसे क्या लाभ है।

अर्थात् यदि आप अन्य स्थलोपर सशयजनक तक अथवा कौतुक जनक वाक्योको प्रवत्तिका प्रयोजक माननेके आधारपर, उनके बिना यहा प्रवृत्ति नही हो सकती है यह कहना चाहे तो वह उचित नही है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूव सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा था। यद्यपि अशुद्धि बहुत साधारण सी है परन्तु उससे अनुच्छेदका अथ बिल्कुल अस्पष्ट हो जाता है इसलिए उसका सशोधन आवश्यक है। उसमें सबसे पहिले 'प्रथम तावत प्रवृत्तमादिवाक्य प्रयुक्तमेव' यह पाठ छपा था। परन्तु इसका अथ स्पष्ट नहीं होता है। इस स्थलके प्रसङ्गके अनुसार—इसमें जहाँ 'प्रवृत्त' शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ 'प्रयुक्त' पदका और जहाँ 'प्रयुक्त' पदका प्रयोग किया गया है वहा 'प्रवतक' पदका प्रयोग होना चाहिए था। इसी प्रकार 'प्रसिद्ध' के स्थानपर केवल 'सिद्ध' तथा 'कौतुकजनादि' के स्थानपर 'कौतुकजनकादि' पदोका प्रयोग होना चाहिए था। अत हमने सशोधित रूपमे इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है। और अपने सशोधित पदोको काले टाइपमें दिया है।

---

१ म प्रवृत्त। २ म प्रयुक्तमेव। ३ म प्रसिद्धम्। ४ प्रथम तावत् प्रवृत्तमादिवाक्य प्रयुक्तमेवेति स्वानुभवप्रसिद्धम्। ५ म कौतुकजनादि। ६ म न प्रवतकमिति।

[1]यद्वक्ष्यति—

> य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा ।
> कुर्यात् प्रयोगं यश्चैनं तथाधीयीत वा नरः ।।
> या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम् ।
> या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तु सः ।। इति ।

नाट्यकी उपादेयताका विचार—

पाठसमीक्षा—यहा तक प्रथम कारिकाके चारो चरणोकी व्याख्या समाप्त हो जाती है और उसके साथ ही अनुबन्ध चतुष्टयका निर्देश भी जो कि प्रथम कारिकाकी व्याख्याकेसाथ होना आवश्यक है पूर्ण हो जाता है। अब आगे ग्रन्थकार इसी कारिकाकी व्याख्याके अंश रूपमे नाट्यशास्त्रकी उपादेयताके विषयमे जो किन्ही पूर्व टीकाकारोने शङ्का उठाकर उसका निरास करनेका प्रयत्न किया है उसकी व्यर्थताको दिखलाते हुए नाट्यवेदकी उपादेयताका प्रतिपादन करेंगे। इस विषयकी चर्चा करनेका उपयुक्त स्थान यहापर है। पूर्व सस्करणोमें इस विषयकी चर्चा करनेवाले भागके पाठको तृतीय चरणकी अधूरी व्याख्याके बीचमें मुद्रित कर दिया गया था। वहा उसके मुद्रित करनेका अवसर नही था। इसलिए वहा जो उसका समावेश पूर्व सस्करणोमे किया गया था वह प्रमादवश ही हुआ था इसका निर्देश हम पृष्ठ २८ पर कर चुके हैं। वहा हमने यह भी लिख दिया था कि इस पाठको हम यहाँसे हटाकर इस कारिकाकी व्याख्याके अन्तमें जहा कि उसका उपयुक्त स्थान है समाविष्ट करेंगे। वह उपयुक्त स्थान अब आगया है। इसलिए हम उस अस्थानपतित पाठको वहाँसे हटाकर यहा मुद्रित कर रहे हैं। यहासे लेकर पृष्ठ ४३ तक जहा इस कारिकाकी अभिनवभारतीकी समाप्तिका सूचक १ अक पडा है वहा तक यही पाठ गया है।

इस भरतमुनिके वचनको उद्धृत कर किसी पूर्व टीकाकारने नाट्यशास्त्रकी उपादेयताके विषयमे उठाई जाने वाली शङ्काके निराकरण करनेका प्रयत्न किया था। अभिनवगुप्त उस प्रयत्न को व्यर्थ समझते हैं। उनका कहना यह है कि नाट्यशास्त्रका सम्बन्ध नट, कवि तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोसे हो सकता है। उनमेंसे किसीकेलिए भी नाट्यशास्त्र अनुपादेय नही है। अपितु सबहीकेलिए वह अत्यन्त उपादेय है। इसलिए जो लोग उसकी उपादेयताके विषयमें शङ्का करते हैं और जो उस शङ्काका निवारण करनेका यत्न करते हैं वे दोनो ही व्यर्थका कार्य करते हैं। इसी बातकी विवेचना ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें प्रारम्भ करते हैं—

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रकी समाप्तिके समय अन्तमे भरतमुनि] जो [यह] कहेंगे [कि]—

'जो कोई ब्रह्माके द्वारा कहे गए इस नाट्यवेदका श्रवण करेगा, इसका प्रयोग करेगा अथवा जो मनुष्य इसका अध्ययन करेगा—

वेदके विद्वानोकी जो [उत्तम] गति होती है, यज्ञके जानने वालोकी जो [उत्तम] गति होती है और दानशील व्यक्तिकी जो [उत्तम] गति प्राप्त होती है उसी [स्वर्गादि-प्राप्ति रूप उत्तम] गतिको [इस नाट्यशास्त्रका श्रवण प्रयोग अथवा अध्ययन करनेवाला] वह व्यक्ति भी प्राप्त करेगा।

---

१ हमने इस पाठको यहा स्थानान्तरित किया है अत काले टाइपमे दुबारा मुद्रित किया है।

एतेन 'कामजो 'दशको गण' इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे, तदयुक्तीकृतम् । याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशसाभूयस्त्वश्रवणात । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात ।

अभिनव०—इससे [अर्थात् ऊपर उद्धृत किए गए नाट्यशास्त्रके अन्तिम दोनो श्लोकोमे जो नाटचशास्त्रके फलका वर्णन किया गया है उससे] 'कामजो दशको गण' इस [मनुस्मृतिके वचन] के द्वारा वर्जनीय होनेसे नाटचशास्त्रकी अनुपादेयता की शङ्का जो किन्होने उठाई थी वह खण्डित हो जाती है। क्योकि भरतमुनिके इन दोनो श्लोकोमे नाटचविद्याकी अत्यन्त प्रशसा की है। इसके अतिरिक्त] याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण आदिमे भी इस [नाटचविद्या] की अत्यन्त प्रशसा पाई जाती है। आगमके बिना [नाटचादिमे मोक्षजनकत्व रूप] धर्म केवल अनुमानसे नहीं जाना जा सकता है [इसलिए भरतमुनिने जो नाटचविद्याको यज्ञादि क्रियाके तुल्य फलवाला माना है वह आगमके आधारपर ही माना है] ।

मनुस्मृतिमें राजधर्मके प्रसङ्गमे कामज क्रोधज गणोकी वर्जनीयताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपति ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्या क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ मनु ७—४५ ।

अर्थात् जो राजा 'कामजवर्ग' में कथित दुर्व्यसनोमे फस जाता है वह धर्म और अर्थसे वञ्चित हो जाता है। और 'क्रोधज वर्ग' के व्यसनोमे फसा हुआ राजा स्वय अपना ही सर्वनाश कर लेता है। अत राजाको इन दोनो प्रकारके व्यसनोसे बचना चाहिए ।

कामज वर्गका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

मृगयाक्षो दिवास्वप्न परिवाद स्त्रियो मद ।
तौर्यत्रिक वृथाटचा च कामजो दशको गण ॥ मनु ७ ४७ ।

इसमें तौर्यत्रिकसे नृत्य, गीत तथा वाद्यका ग्रहण होता है। इनकी वर्जनीयतासे नाट्यविद्याकी वर्जनीयताकी शङ्का कुछ लोगोको हो सकती है। उसके निराकरणकेलिए पूर्व टीकाकारोने नाट्यशास्त्रके पूर्वोद्धृत दोनो श्लोको और याज्ञवल्क्य स्मृति आदिमें पाई जानेवाली उनकी प्रशसाका उल्लेख कर उनकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। याज्ञवल्क्य स्मृतिमे गान आदिकी प्रशसाके रूपमें निम्नाङ्कित श्लोक पाए जाते है—

यथाविधानेन पठन सामगानमविच्युतम ।
सावधानस्तदभ्यासात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रक मकरी तथा ।
औवेणक सरोविन्दुमुत्तर गीतकानि च ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत तदभ्यासकरणात मोक्षसज्ञितम ॥
वीणावादनतत्त्वज्ञ श्रुतिजातिविशारद ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग नियच्छति ॥

---

१ म देशको ।

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नाति परम पदम ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३—श्लो० ११२ १६

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिके जिन स्थलोकी ओर सङ्केत किया है उनको हमने ऊपर उद्धृत कर दिया है। इनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्ब ध साक्षात नाट्यकी नि दा या प्रशसासे नही है। मनुस्मृतिने जो तौयत्रिकके अ तगत नत्य गीत वाद्यको वजनीय बतलाया है उसका सम्ब ध भी सवसाधारणसे नही है अपितु राजधमके अ तगत होनेसे उसका मुख्य रूपसे राजासे ही सम्ब ध है। और उसका भी अतियोग या अत्य त प्रसक्तिका निषेध किया गया है । नाट्यकी साक्षात् नि दा या वजनीयताका प्रतिपादन उसके आधारपर नही किया जा सकता है। इसलिए जो लोग मनुस्मृतिके इस श्लोकके आधार पर नाट्यकी वजनीयताकी आशङ्का करते हैं उनकी वह शङ्का उचित नही है यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

इसी प्रकार इस शङ्काका जो निराकरण पूववर्ती टीकाकारोने किया है वह भी उचित नही है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके जो श्लोक ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जो गानकी प्रशसा की गई है वह सामगान आदि वदिक गानसे ही सम्ब घ रखती है। लौकिक तौयत्रिक अर्थात नृत्य गीत वाद्य आदिसे उसका सम्ब घ नही है। इसलिए उन श्लोकोके आधारपर तौयत्रिक या नाट्यके प्रयोगका समथन करना भी युक्तिसङ्गत नही प्रतीत होता है। अत एव पूव टीकाकारोने जो मनुस्मृतिके उपयु क्त श्लोकके आधारपर नाट्यकी वजनीयता की शङ्का उठाई है और याज्ञवल्क्य स्मृतिके श्लोकोके आधारपर जो उसका समाधान करनेका यत्न किया है वे दोनो ही बातें सुश्लिष्ट नही हुई है। इसलिए वह शङ्का समाधान ग्रन्थकारको रुचिकर नही है। इसी दृष्टिकोणसे ग्र थकार उसका आगे खण्डन करेंगे।

खण्डन करनेमें ग्रन्थकारकी मुख्य युक्ति यह है कि नाट्यविद्याका कवि, नट तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोसे मुख्य रूपसे सम्ब ध है। यदि उसे वजनीय माना जाय तो इन्ही तीनोके प्रति अथवा उनमेसे किसी एकके प्रति वजनीय माना जा सकता है। पर तु वास्तविक दृष्टिसे विचार करे तो इनमेंसे किसीके प्रति भी उसको वजनीय नही ठहराया जा सकता है। नाट्यका प्रदशन नटोका अपना धम है। उस क्रियाके द्वारा वे अपने धमका ही पालन करते हैं। इस लिए उनकेलिए उसे वजनीय माननेकी कोई सम्भावना ही नही हैं। इसी प्रकार नाट्यके निर्माता कविके लिए भी उसमे वजनीयताकी कोई बात नही है। क्योकि कवि तो नाट्यकी रचना करता है। वह नृत्य गीत आदिका स्वय प्रयोग नही करता है।

तीसरा सम्बद्ध व्यक्ति सामाजिक रह जाता है। उसकेलिए भी नाचने गाने बजाने का उपदेश नही दिया गया है। और न वह इन कार्योंको करता है। अत उसकेलिए भी नाट्यको वजनीय नही माना जा सकता है। इसके विपरीत नाट्यमें राम-रावण आदिके कार्यों और उनके फलोको देखकर उसको उत्तम शिक्षा ही प्राप्त होती है। जिससे वह अपने जीवनको सुधार सकता है। इसलिए सामाजिककेलिए भी नाट्यको वजनीय नही माना जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

एतत तु वृथैवास्थानभीरून प्रति शङ्काशमनाथमभिधीयेत[1] नाम । तथाहि—

[2]नटाना तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतयानुष्ठेयमेव । न चास्माक तच्चेष्टित विचायम् । सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य[3] न [4]तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्त ।

न चाप्यस्योपदिश्यते गायेन्नृत्येदिति । कि तु प्रथमनाटचावसरक्रमप्रवत्त विरिञ्चि[5]—वचनप्रवर्तकभरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरिचयागताद्यतनकालावधि-महानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्, [6]अत एव तद्गत-सिद्धसदुपायोपदेशपरमिद शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते त प्रति उपकाराहते[7] ।

अभिनव०—यह तो व्यथ ही बिना बातके भयभीत हो जाने वालोके प्रति शङ्काके निवारणकेलिए भले ही कह लिया जाय [परन्तु वास्तवमे तो न नाटचकी वजनीयताकी शङ्का ही उठाई जा सकती है और न उसका समाधान करनेकी ही आवश्यकता है । क्योकि नट, कवि तथा सामाजिक तीनोमेसे नाटच किसीकेलिए भी वर्जनीय नही कहा जा सकता है] । जसे कि—

नटोके लिए नाटच की अवजनीयता—

अभिनव०—नटोकेलिए तो यह अपने धर्मका आम्नाय रूप [वेदरूप] है । अत [उनको तो] उसका अवश्य पालन करना ही चाहिए । और हमारेलिए उनके इस आचरणपर विचार करना उचित नही है । जैसे सोम क्रय करनेका उपदेश करनेवाले वाक्य [के अनुसार सोमका क्रय करनेवाले ब्राह्मण] का, उसका विक्रय करनेवाले दूसरे ब्राह्मणके धम अधमके विचारका उद्योग उपयुक्त नही होता है ।

अभिनव०—और इस [नट] को भी गावे, नाचे, इस प्रकारका उपदेश नही दिया जा रहा है । अपितु सबसे पहले नाटक [प्रस्तुत किए जाने] के अवसरपर कहे गए ब्रह्माके वचनोका अनुष्ठान करानेवाले भरतमुनिकी आज्ञामे रहनेवाले शिष्योकी परम्पराके अभ्याससे आज तक चली आनेवाली महान् नटजनोकी अपनी प्रवृतिका उपदेश परक [यह शास्त्र] है, इसलिए यह उस विषयके सिद्ध उपायोका उपदेश करने वाला शास्त्र है । इस दृष्टिसे यह नटको उसके [अपने परम्परागत धमके बतलाने रूप] उपकारके अतिरिक्त और कुछ [नाचो आवो आदि रूप] उपदेश नही देता है । [इसलिए नटोकेलिए यह शास्त्र किसी प्रकार भी वजनीय नही कहा जा सकता हे अपितु सवथा उपादेय ही है] ।

नटोकी दृष्टिसे नाटच वजनीय नही है इस बातका प्रतिपादन ग्रन्थकारने विगत दो अनुच्छेदोमे किया है । इस विवेचनमें यह प्रश्न अथत उपस्थित हो सकता है कि नाटच नटोका अपना धम होनेसे उनकेलिए तो वजनीय नही होता है । पर तु उसके देखने वाले अ य लोगोको

---

१ अभिधीयते । २ म नटस्य नाटच तावदे । ३ म विधिवाक्यस्य ।
४ म ताद्दक्रेष्यद । ५ म भ विरिंच । ६ म परमतद्गततसिद्धिसम्पत्तिसदु ।
७ यह पाठ हमने स्थनान्तरित किया है अत काले टाइपमे दुबारा मुद्रित किया है ।

न कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वार्थ[1] निर्माणशक्तिशालिन प्रजापतेरिव[2] कामजनितजगत ।

तो उसका देखना मनुस्मृति के अनुसार वर्जित होनेसे पापजनक हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए ग्र थकारने सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यकी दृष्टिमें उसका विक्रय करने वाले ब्राह्मण विषयक धम अधमके विवेचनकी अनुपयोगिताका उल्लेख किया है। यह विषय मीमासा दर्शनसे सम्ब-ध रखता है। सस्कृत साहित्यमें पद विवेचनाकेलिए व्याकरणशास्त्र, प्रमाण विवेचनाके विषयमे याय शास्त्र तथा वाक्य विवेचनाकेलिए मीमासा शास्त्र प्रसिद्ध है। इन सब शास्त्रोके विशिष्ट विद्वानोके नामके आगे प्रयुक्त होने वाला 'पद वाक्य प्रमाणज्ञ' विशेषण इसी अभिप्रायको व्यक्त करता है। इसलिए 'सोमक्रयोपदेशक वाक्य और उसका निषेध करने वाले वाक्योके अथकी विवेचना मीमासा पद्धतिके अनुसार जिस प्रकार की जाती है उसकी ओर ही यहा ग्र थकारने सङ्केत किया है।

'सोमयाग' प्रकरणमें 'अरुणया एकहाय-या गवा सोम क्रीणाति' यह एक वाक्य आता है। इसके अनुमार लाल रगकी एक वषकी बछिया देकर सोमयागकेलिए सोमका क्रय किया जाता है। दूसरी ओर मनुस्मृतिके दशम अध्यायके ८८ वें श्लोकमे 'अय शस्त्र विष मास सोम ग धाश्च सवश आदि लिख कर सोमके विक्रयका निषेध किया गया है। जब एक सोमका क्रय करेगा तो जिससे वह क्रय करेगा वह दूसरा व्यक्ति सोमका विक्रय करने वाला होगा। उक्त वचनो के अनुसार जब क्रय करने वाला अपने धमका पालन कर रहा है उसी समय उसका विक्रय करने वाला अधमका भागी बन रहा है। इसलिए ये दोनो वाक्य आपातत परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु मीमासक विद्वान् ऐसे प्रसङ्गोमें विरुद्धयो प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थया अविरोधापादन मर्थापत्त विषय' इस प्रकारके लक्षण वाले अर्थापत्ति प्रमाणके आधारपर उन दोनो प्रमाणोकी विषय व्यवस्था करके उनके अविरोधका उपपादन करते हैं। विषय व्यवस्थाका अभिप्राय यह है कि सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यका विषय या क्षेत्र केवल सोमयागका प्रदेश है और सोमविक्रयका निषेध करने वाले वाक्यका क्षेत्र या विषय सोमयागसे व्यतिरिक्त देश है। इन वाक्योका क्षेत्र या विषय अलग अलग होनेसे उनमे कोई विरोध नही है। इसलिए सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यके अनुमार आचरण करने वाले व्यक्तिको सोम विक्रय करने वाले दूसरे व्यक्तिको इस कायसे धम होगा या अधम होगा इस बातकी चि ता नही करनी चाहिए। इसी प्रकार नाटचरूप स्वधमका पालन करने वाले नटोके व्यापारसे किसी अ यको अधम होगा इसकी चि ता भी नही करनी चाहिए। अर्थात् नटोकेलिए तो नाट्य वर्जनीय है ही नही। कि तु विषय व्यवस्था नियमके अनुसार अ योकेलिए भी उसकी उपदेयताका प्रतिपादन किया जा सकता है। यह ग्र थकारकी इस चर्चा का अभिप्राय है।

कविकेलिए नाटचकी अवर्जनीयता—

अभिनव०—अपने हृदय मन्दिरमे निरन्तर प्रकाशमान प्रतिभा रूप वाग्देवता के अनुग्रहसे प्राप्त, नाना प्रकारके लोकोत्तर [अपूर्व] अर्थोकी रचना करनेकी शक्ति रखनेवाले, और प्रजापति [ब्रह्मा] के समान अपनी इच्छाके अनुसार [स्वतन्त्र रूपसे अपने काव्य] जगत्की रचना करने वाले कविकेलिए भी [नाटचकी वर्जनीयता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है]।

१ म विचित्रापूवनिर्माण। २ म वा कामजनितजगत।

'पर प्रत्याशङ्का यदि, परोऽत्रावशिष्यते 'व्युत्पाद्यो वराक । तस्यापि तु 'ेह गायेत, नृत्येत्, वादयेत, तन्निरतो वा भवेदित्युपदेश क्रियते । अपितु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्य, अत एव वेद-शास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तुमध्ये तादृगिद वस्त्वन्‌प्रवेशित यद्बलादेव पुमर्थोपायावगति करोति इति वक्ष्याम ॥ १ ॥

सामाजिककेलिए नाट्यकी अवजनीयता—

इस प्रकार नाट्य न तो नटोकेलिए वजनीय हो सकता है और न कवियोकेलिए। यह बात यहा तक कही है। अब अगले अनुच्छेद मे यह दिखलाते हैं कि सामाजिककेलिए भी यह वजनीय नही कहा जा सकता है।

अभिनव—यदि [नट तथा कवि दोनोसे भिन्न] किसी अन्यके प्रति [नाट्यकी वजनीयताकी] आशङ्का हो तो वह दूसरा केवल बिचारा सामाजिक [व्युत्पाद्य] ही रह जाता है। [परन्तु] उसकेलिए भी यहा गावे, नाचे अथवा बजावे या उनमे आसक्त हो इस प्रकारका उपदेश नही किया गया है। अपितु स्वभावत ही सुन्दर विषयोके रसास्वादनमे प्रवृत्त और इसी कारणसे वेद-शास्त्र पुराण आदि [रूक्ष साधनो] से डरने वाले [सामाजिक] केलिए, उसके मनको मुग्ध करने वाली वस्तुके बीचमे [नाट्य रूप] इस ऐसी वस्तुका समावेश कर दिया गया है कि जिसके द्वारा ही [मनोविनोदके साथ साथ अविज्ञात रूपसे] पुरुषार्थके साधनो [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष-प्राप्तिके उपायो] का ज्ञान भी [वह] प्राप्त कर लेता है। यह बात हम आगे कहेगे।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि नट तथा कविकेलिए जिस प्रकार नाट्यको वजनीय नही कहा जा सकता है इसी प्रकार सामाजिककेलिए भी उसको वजनीय नही ठहराया जा सकता है। क्योकि इसमें सामाजिकको नाचने गाने आदिमें प्रवृत्त नही किया जाता है। इसके विपरीत वह स्वभावत सुदर वस्तुओके देखने सुननेका रसिक होता है। वेद शास्त्र आदिमे उसकी प्रवत्ति नही हाती है। इसलिए वेदादिके द्वारा अपने कतव्याकतव्यका ज्ञान प्राप्त करनेका अवसर उसे नही मिलता है। इस कमीकी पूर्तिकेलिए और उसकी स्वाभाविक मनोज्ञ वस्तु विषयक प्रवृत्ति की तप्तिकेलिए इस नाट्यके द्वारा एक अत्यन्त उपयोगी एव सुदर वस्तुको प्रस्तुत किया गया है। इससे जहा एक ओर उसकी रसास्वादनकी प्रवृत्ति पूण होती है वहा उसके साथ ही उसे राम आदिके समान आचरण करना चाहिए रावण आदिके समान नही। यह शिक्षा भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है। अत सामाजिककेलिए भी नाट्य वजनीय नही आपितु अत्यन्त उपादेय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूवसस्करणोमे 'परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकार' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु वह पाठ शुद्ध नही था। उसके स्थानपर यहा 'परोऽत्रावशिष्यते व्युत्पाद्यो वराक' यह पाठ होना चाहिए था। इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपना ससोधन होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके [सफेद] टाइपमें दिया है।

इस प्रकार यहा तक प्रथम कारिकाकी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

१ म भ परमप्रत्या। २ म परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकार । म व्यतेवराक।
३ इस पाठको भी हमने यहा स्थानान्तरित किया है अत काले टाइपमे दुबारा मुद्रित किया है।

अथ मुनिरात्मानमेव परत्वेन कल्पयन् 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' इत्येतदेव पुराकल्प प्रदर्शनेन निश्चाययति 'समाप्तजप्यम्' इत्यादिना श्लोकद्वयेन-

भरत०—समाप्तजप्य व्रतिन [1]स्वसुतै परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित् तु[2] भरत नाटचकोविदम् ।।२।।
मुनय पर्युपास्यैन आत्रेयप्रमुखा पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो [3]नियतेन्द्रियबुद्धय ।।३।।

सुताना अनुरागित्व नाटचवेदयोग्यता । नाटचस्यादृष्टता[4] विनोदहेतुता सुज्ञानत्व चेति प्रश्नावसरलाभयोग । प्रसिद्धत्व चाचार्ययोग्यता । शिष्ट-प्रामाणिकत्व, नियम-पूर्वशास्त्रग्रहण,[5] प्रसिद्धादरण, अनुमेयोपादेयत्वप्रकटन इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता ऊहापोहपाटव च शिष्याणा ग्रहणयोग्यता इति क्रमेण पदाना तात्पर्यमपुनरुक्तम ।। २-३ ।।

नाटच शास्त्रकी उत्पत्तिका इतिहास—

अभिनव०—अब भरतमुनि अपने आपको ही अपनेसे भिन्न मान कर 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम' जिस [नाट्यवेद] को ब्रह्माने कहा [यह बात जो प्रथम कारिकामे लिखी गई थी] इसी बातको [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] इतिहासको दिखलाते हुए 'समाप्तजप्यम्' इत्यादि [अगले] दो श्लोकोसे निश्चय करवाते है—

भरत०—[सन्ध्योपासनादि] रूप जपको समाप्त कर चुकनेवाले, व्रतधारी और अपने पुत्रोसे घिरे हुए नाटय विद्याके विशेषज्ञ भरतमुनिसे, कभी अनध्यायके दिन महात्मा एव जितेन्द्रिय आत्रेय आदि मुनियोंने उनके समीप बठकर विनयपूवक यह पूछा कि– । २–३ ।

अभिनव०—[मुनिको घेर कर बैठने वाले] पुत्रोका अनुरागित्व [ही उनकी] नाट्यवेद विषयक योग्यता है । नाट्यका [पहले कभी] न देखा होना, उसका मनो-विनोदका कारण होना, सुबोध होना इन कारणोसे प्रश्न पूछनेका अवसर प्राप्त हुआ है । [भरतमुनिकी नाट्य-विद्या-विषयक] प्रसिद्धि ही आचार्यकी योग्यता [की सूचक] है । [भरतमुनि-सदृश] शिष्ट-पुरुषोपर विश्वास करना [उनको प्रामाणिक मानना, उनसे] नियम-पूवक शास्त्रका अध्ययन करना, [उस शास्त्रके अन्य] प्रसिद्ध व्यक्तियोका आदर करना, प्रतिपाद्य-विषय [अनुमेय] की उपदेयताको स्वीकार करना, इसी विषयमे मुख्य रूपसे प्रवृत्त होना [इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता अर्थात् सर्वात्मना अपने विषयके अध्ययनमे प्रवृत्त होना] और ऊहा-पोह [अर्थात् तक-वितक द्वारा विषयको ग्रहण करने] की पटुता शिष्योकी [नाट्यविद्याके] ग्रहण करने की योग्यता है । यह [श्लोकके 'स्वसुतै परिवारित', 'नाट्यकोविद' आदि] पदोका पुनरुक्ति रहित तात्पर्य है ।

---

१ प स्वशिष्य । २ ग भ कदचित्तम । ३ न भ त नाटचवेदसमुद्भवम् ।
४ ब नाटचस्यादृष्टता । ५ म भ प्रसिद्धादरणानुमेयोपादेयत्वप्रकटनमनिद प्राथम्यप्रवृत्तता ।
६ म भ शिष्याणामूहापोहपाटव ग्रहणयोग्यता ।

किं पप्रच्छुरिति दर्शयति—

भरत०—योऽयं भगवता सम्यग् ग्रथितो वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥४॥

भगवता तत्रभवता गुरुणा इति भरतमुनिरेवैवमुक्तः । तेन भरतमुनिना यो ग्रथितः सुन्दरतमवस्तुसमाहरणयोजनया गुम्फितः कोऽप्ययं वस्तुविशेषः, स तावत् प्रयोगसमयेऽस्माभिर्दृष्ट इति प्रत्यक्षत्वेन 'अयम्' इति परामर्शः । अविदितान्तस्सारतया चास्माकं प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्षकल्प इति यच्छब्देनानिर्वाच्यविशेषत्वमुक्तम् । अत एव न तच्छब्दसङ्गतिरत्र मृग्यते । यथा 'यत्किञ्चिद्वदति' इति ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें सुताना' और चेति पद हमने बढाए है। अन्तिम वाक्यमे क्रमका सशोधन भी किया है। क्योकि उनके बिना अर्थकी सङ्गति पूर्ण नही होती है ॥ २-३ ॥

नाट्यवेदकी उत्पत्ति विषयक दो प्रश्न—

पिछली दो कारिकाओमें यह कहा गया था कि आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिके पास जाकर नाट्यवेदके विषयमें पूछा। क्या पूछा यह बात अगली दो कारिकाओमे दिलावगे। इन दोनो कारिकाओमें मिलाकर कुल पाँच प्रश्न भरतमुनिसे पूछे गए हैं। उनमेंसे पहिले दो प्रश्न इस चौथी कारिकामे पूछे गए हैं।

भरत०—हे ब्रह्मन आपने वेदके सदृश जो यह नाट्यवेद बनाया है वह १ क्यो [अथवा कैसे] उत्पन्न हुआ, और २ किसकेलिए उत्पन्न हुआ। ४।

अभिनव०—'भगवता' का अर्थ पूजनीय गुरुदेवने [अर्थात आपने] है। इससे भरतमुनिको ही इस प्रकार ['भगवता' पद] से कहा गया है। इस लिए भरतमुनिने जिसको [पुष्पमालाके समान सुन्दरताके साथ] गूथा अर्थात [पुष्पोके सदृश] सुन्दर वस्तुओको जुटा कर और क्रम बद्ध करके जिसकी रचना की, उस अपूर्व वस्तुविशेषको सबसे पहले अभिनयके समय देखा था इसलिए उसका 'अयम्' इस पदसे प्रत्यक्ष रूपसे निर्देश किया गया है। किन्तु उसका मर्म न समझनेके कारण प्रत्यक्ष-सदृश होनेपर भी हमारे लिए वह अप्रत्यक्ष तुल्य ही है इसलिए 'यत्' शब्दसे उसकी विशेष रूपसे अनिवचनीयता सूचित की गई है। इस लिए यहाँ ['यत्' शब्दके साथ] 'तत्' शब्दकी सङ्गति खोजनेकी आवश्यकता नही होती है। जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस [प्रयोग] मे।

'यत्तदो नित्यसम्बन्ध ' इस नियमके अनुसार जहाँ जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग होता है वहाँ वहाँ उसके साथ तत्' शब्दका प्रयोग अवश्य किया जाता है। इस दृष्टिसे 'योऽय' में जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी आकाक्षा निवत्तिके लिए 'तत' शब्दका प्रयोग भी होना चाहिए था। परन्तु यहा 'तत' शब्दका प्रयोग नही किया गया है। इसका कारण यह है कि जहा 'यत्' शब्दका प्रयोग अनिर्वाच्यताके सूचनार्थ होता है वहा 'यत शब्दके साथ 'तत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नही होती है। जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस प्रयोगमें 'यत्किञ्चित' का अर्थ, 'समझ में न आने वाली, न जाने क्या बात कहता है' यह होता है। इसलिए इसमें 'यत्' शब्दका प्रयोग

---

१ क कथितो, ज सम्यग रचितो। २ न विस्तर, प सम्मत। ३ म दृश्यते।

स चाय परीक्षणीयतत्त्वो' यतो वेद सम्मित, तुल्य । तथाहि धीरोदात्त धीरललित-धीरोद्धत धीरप्रशा ताना पूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकाना, अतादृगुपायाश्रयेण[2] प्रतिनायकाना च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाण वीराद्भु ताभ्या, वीरशृ ङ्गार-हास्यै, वीर रौद्र-भयानक करुणै, वीर बीभत्स शान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतै, हृदयानुप्रवेश विदध॰, धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधिय, अधर्मादिभ्यश्च निर्वात्ति निर्विशङ्क विधत्त इत्यस्माकमधिगतश्रु तितत्त्वानामपि प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् ।

होने पर भी उसके साथ 'तत शब्दका प्रयोग नही होता है। इसी प्रकार कारिकामे आया हुआ 'अय' सहित 'यत' शब्द जो 'योऽयम' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है वह अनिर्वाच्यताका सूचक है इसलिए उसके साथ भी तत' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नही है। यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

यत्' शब्दका उत्तर वाक्यमे प्रयोग भी इसी प्रकारके अपवादोमें गिना जाता है। जहा 'यत्' श॰॰का प्रयोग पहिले वाक्यमें न करके बादके वाक्यमे किया जाय वहा पूववाक्यमे 'तत' शब्द अथत आक्षिप्त हो जाता है। उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नही होती है। जैसे—

'साधु च द्रमसि पुष्करै कृत मीलित यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठित पुन' ॥

इसका भाव यह है कि अपनेसे अधिक सु दर च द्रमाके उदय होने पर कमल जो ब द हो गए सो उ होंने यह ठीक ही किया। पर तु अपनेसे भी अधिक सु दर कामनीके मुखके समक्ष उदय होकर च द्रमाने अत्य त अनुचित काय किया है। यहाँ दूसरे वाक्य मे 'यत्' शब्द आया है। अत पूवके प्रथम वाक्यमें 'तत' शब्दका प्रयोग नही किया गया है।

नाट्यशास्त्रकी वेदतुल्यता—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] क्योकि वेदोके तुल्य [कत्तव्याकत्तव्यका उपदेश देने वाला] है इसलिए इसके विषयपर विचार करना उचित ही है। [नाट्य-वेद भी वेदोके समान कत्तव्याकत्तव्यकी शिक्षा देने वाला है इस बातका उपपादन अगली पक्तियोमे करते है] जसे कि—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त आदि, वैध [पूर्ण] उपायोका अवलम्बन करके प्रवृत्त होने वाले [नाटकोके चार प्रकार के] नायकोके और उससे भिन्न [अवैध एव अपूर्ण] उपायोका आश्रय लेनेवाले प्रतिनायकोके [क्रमश] सफल एव असफल रूपसे साक्षात् किए जानेवाले चरित्र, प्रतिनायकगत अन्य रसोसे बीच बीचमे व्यवहित होकर, १ वीर और अद्भुत, २ अथवा वीर, शृङ्गार और हास्य, ३ अथवा वीर, रौद्र, भयानक और करुण, ४ अथवा वीर, बीभत्स तथा शान्त रूप अतिशय चमत्कारजनक [नाटकके मुख्य] रसोके द्वारा हृदयमे प्रविष्ट होते हुए-से धम [अर्थात् धम, अर्थ, काम और मोक्ष] आदि चारो [पुरुषार्थो] के उपायोमे उपादेयता-बुद्धि [अर्थात् प्रवृत्ति] को, और अधम आदि से निवृत्तिको निश्चित रूपसे उत्पन्न करता है यह बात वेदोके मर्मको समझने वाले हम-जैसोको भी प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है।

१ भ परीक्षणीयो। २ म भ तदुपायाश्रसाश्रयेण।

इस प्रकार नाट्य भी वेदोके समान धम आदिमे प्रवत्ति तथा अधम आदिग निवत्तिका करानेवाला होनेसे वेदके समान ही माना जाता है। इसीलिए वेदके समान विधि प्रतिषेधकी शिक्षा देनेवाला होनसे उसको नाटचवेद कहा जाता है यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

इस अनुच्छेदका विषय कुछ क्लिष्ट हे और विशष व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। भरत मुनिने नाचवेदको वेदसम्मित' वेदके तुल्य' कहा है। अभिनवगुप्तने उसकी वेद तुल्यताका उपपादन करनेकेलिए यह युक्ति प्रस्तुत की है कि— नायकाना प्रतिनायकना च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाण हृदयानुप्रवश विदधद धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधिय अधर्मादिभ्यश्च निवृत्ति निर्विशङ्क विधत्ते' अर्थात् नाट्यमे नायक और प्रतिनायकका क्रमश सफल और असफल रूपसे दिखलाई देने वाला चरित्र हृदयके भीतर जम कर धर्मादिके उपायोका अवलम्बन करानेवाला तथा अधर्मादिसे निवृत्ति करानेवाला बन जाता है इस लिए वह वेदके तुल्य होता है। वेद भी विधि निषेधका प्रतिपादक होता है और नाटच भी धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति कराने वाला होता है यही उन दोनोकी समानता है। इसीके कारण भरतमुनिने नाट्यवेदको वेदसम्मित' कहा है।

परन्तु वेदकी अपेक्षा नाटचमे कुछ और अधिक विशेषता यह है कि वह जो धर्मादिमें प्रवृत्ति या अधर्मादिसे निवृत्ति कराता है वह राजाज्ञाके समान बलात् नही अपितु सरसता पूवक कराता है। वेदके द्वारा कराई जाने वाली प्रवृत्ति निवृत्ति राजाज्ञाके समान है। उसमे सरसता नही है कि तु नाटचमें राजाज्ञाकी कठोरता के स्थान पर सरसताका प्राधान्य होता है। इसी बातको ग्र थकारने 'सातिशयचमत्कारगोचर [रस] हृदयानुप्रवेश विदधद् नायकाना प्रतिनायकाना च चरितम्' इन शब्दोके द्वारा कहा है। इनका अथ यह है कि नाटकमे अत्यन्त चमत्कारजनक रसाके द्वारा हृदयके भीतर प्रविष्ट हो जाने वाला नायक प्रतिनायकोका चरित्र धर्मादिमे प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति निश्चित रूपसे कराता है। यह नाटचकी एक बडी विशेषता है। वेदकी विधि निषेधात्मक आज्ञाओका मनुष्य उल्लङ्घन कर सकता है और प्रतिदिन करता है किन्तु नाटक उसी बातको मनुष्यके हृदयमे सरसता पूवक ऐसे जमा देता है कि उसके अनुसार आचरण करनेमे उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। वेदकी अपेक्षा नाटकके द्वारा सरलतासे उत्तम कार्योमे प्रवृत्ति तथा बुरे कार्योसे निवृत्ति कराई जा सकती है यह वेदकी अपेक्षा नाटचकी मुख्य विशेषता ग्र थकारने यहा सूचित की है।

इस अनुच्छेदका इतना विषय तो स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इन पक्तियोके बीचमें 'वीराद्भुताभ्या, वीरशृङ्गारहास्यै, वीर रौद्र भयानक करुण, वीर बीभत्स शान्तश्च प्रतिनायकगत रसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतै यह भाग तनिक क्लिष्ट सा है। इसमे अभिनवगुप्त ने कुछ रसोके नाम दिए हैं और उनको प्रतिनायकगतरसान्तरसा तरतया सातिशयचमत्कारगोचरी भूत' कहा हे। अर्थात वे रस प्रतिनायकगत अन्य रसोसे व्यवहित होकर सातिशयचमत्कारके विषय बन जाते हं। ये पक्तिया वस्तुत रसोके विरोध अविरोधके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखती हं। अत एव विषयके स्पष्टीकरणकेलिए उस सिद्धान्तको सक्षेपमे यहा दे देना आवश्यक है।

साहित्यशस्त्रमें जिन शृङ्गारादि नौ रसोका प्रतिपादन किया गया हे इनमे कुछ रसोका परस्पर विरोध माना जाता है। यह विरोध तीन प्रकारका हे। एक आलम्बनक्येन विरोध, दूसरा आश्रयैक्येन विरोध और तीसरा नैरन्तर्येण विरोध। कुछ रस ऐसे हैं जिनका आलम्बन क्येन विरोध है। जसे वीर और शृङ्गाररसोका आलम्बनक्येन विरोध है। एक ही आलम्बनको लेकर एक साथ वीर और शृङ्गारका वणन नही करना चाहिए। जिसको देख कर हमारे मनमें

प्रम या रतिकी उत्पत्ति होती है उसीको लेकर वीररसके स्थायिभाव उत्साहकी अभिव्यक्ति नही हो सकती है। यही आलम्बनक्येन विरोधका अभिप्राय है। इसी प्रकार हास्य रौद्र और वीभत्सके साथ सम्भोग शृङ्गारका तथा वीर रौद्र भयानक और करुणरसोके साथ विप्रलम्भ शृङ्गारका आलम्बनैक्येन विरोध है। शा त और शृङ्गाररसोका भी आलम्बनक्यमे विरोध हे। जिसको देख कर रतिकी उत्पत्ति हो रही हे उसी को देख कर वराग्य या शमकी उत्पत्ति हो वह स्वाभाविक नही है। ये सब आलम्बनक्यमे विरोधके उदाहरण है।

वीर तथा भयानकरसोका आश्रयक्यमे विरोध है। आश्रयैक्यका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्तिमें वीररस या उत्साहकी अभि यक्ति हो रही है उसी व्यक्तिमें उसी समय भयकी उत्पत्ति हो यह बात सम्भव नही है। एक ही आश्रयमें भय और उत्साह या वीर तथा भयानक रस एक साथ उत्पन्न नही हो सकते ह। इस लिए वीर तथा भयानक रस आश्रयैक्येन विरोधी रस माने गए हैं।

शा त और शृङ्गारका आलम्बनक्य तथा नैर तय दोनो रूपसे विरोध है। अत शा त और शृङ्गारका एक साथ निर तर अर्थात व्यवधानके बिना वरान नही करना चाहिए। और एक आलम्बनको लेकर भी उन दोनोका वरान नही करना चाहिए।

इस प्रकार यह विरोधी रसो या शत्रु रसोकी बात हुई। पर इस विरोध पक्षके अतिरिक्त दूसरा अविरोध पक्ष भी हे। कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार भी विरोध नही होता है। जैसे वीरका अद्भुत और रौद्ररसके साथ न आलम्बनक्येन विरोध हे न आश्रयक्येन और न नैर तर्येण। इसी प्रकार शृङ्गारका अद्भुतके साथ और भयानकका वीभत्सके साथ तीनो प्रकारोमें से किसी भी प्रकारका विरोध नही हे। ये अविरोधी रस या मित्र रस कहे जा सकते हैं।

मित्र-रसोका वरान तो बिना किसी कठिनाईके जहाँ और जिस रूपमे आवश्यकता हो उस रूप निश्शङ्क भावसे किया जा सकता है। कि तु विरोधी रसोके वरानमें कविको विशेष सावधानताका उपयोग करना होता है। क्योकि रसोका परस्पर विराध हो जानेपर तो काव्य या नाटकका सारा स्वरूप ही विकृत हो जाता है। इस लिए रसोमे किसी प्रकारका विरोध न आने पावे इस बातकेलिए कविको विशेष रूपसे जागरूक रहना होता है। इस विरोधको बचानेका सीधा सा माग यह बतलाया गया है कि जहा आलम्बनैक्यमे विरोध माना गया है वहा दोनो रसोके आलम्बनका भेद कर देनेसे विरोधका परिहार हो जाता है। जसे—

> कपोले जानक्या करिकलभद तद्युतिमुषि
> स्मरस्मेरस्फारोडडमरपुलक ववत्रममलम्।
> मुहु पश्यन, श्रण्वन रजनिचरसेनाकलकल
> जटाजूटग्रथि द्रढयति रघूरणा परिवृढ।

इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागमें सीताको देख कर रामके भीतर उदय होने वाली रतिका या शृङ्गाररसका वरान किया गया है और उसीके उत्तरार्द्ध भागमें वीररसका वरान किया गया है। परन्तु उससें यहा कोई दोष नही आता हैं। वीर और शृङ्गारका आलम्बन ऐक्यमे विरोध माना गया है। यहाँ कविने दोनोके आलम्बनका भेद कर दिया है। शृङ्गाररसका आलम्बन-विभाव सीता है और वीररसका आलम्बनविभाव यहाँ रजनिचरसेना है। इस प्रकार आलम्बनका भेद हो जानेसे शृङ्गार तथा वीररसोके एक साथ वर्णित होने पर भी दोष नही होता है।

इसी प्रकार जिन रसोका आश्रयैक्यमें विरोध माना गया है उनका यदि एक साथ वरान करना हो तो उनमे आश्रयका भेद कर देना चाहिए। जैसे वीर तथा भयानक रसोका आश्रयैक्य

में विरोध माना गया है। यदि नायकगत वीररसके साथ प्रतिनायकगत भयानक रसका वर्णन कर दिया जाय तो आश्रयभेद हो जानेसे वहा न केवल वह विरोध ही समाप्त हो जाता है अपितु उससे नायकगत वीररसका परिपोषणातिशय हो जाता है। शत्रुगत भयसे नायकका वीररस और अधिक चमत्कृत हो उठता है।

इसी प्रकार जिन रसोका नरतर्येण विरोध माना गया है उनके बीचमे किसी अय अविरोधी रसका समावश कर देनसे उनके विरोधका परिहार हो जाता है। जसे शात और शृङ्गार रसका नरतर्येण विरोध माना गया है। यदि उन दोनोके बीचमे किसी ऐसे रसका जो न शातका विरोधी हो और न शृङ्गारका, समावेश कर दिया जाय तो उनका विरोध समाप्त हो जाता है। जसे नागानद नाटकमें शात रसके आश्रय जीमूतवाहनके मलयवतीके प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है किंतु शात तथा शृङ्गारके बीचमे 'अहो गीत अहो वादित्रम्' आदिसे अद्भुत रसको प्रस्तुत कर उस विरोधका परिहार कर दिया गया है। इस प्रकारके उपायोके अवलम्बन करनेसे न केवल रसोके विरोधका ही परिहार हो जाता है अपितु उनसे काव्य या नाटकमे चमत्कारातिशयकी सृष्टि होती है।

प्रकृतका अनुसरण—

यहा अभिनवगुप्तने इसी दृष्टिसे १ वीराद्भुताभ्याम्, २ वीरशृङ्गारहास्यै, ३ वीररौद्र-भयानककरुणै और ४ वीरवीभत्स शातश्च इन चार वर्गोमे विभिन्न रसोके नाम गिना कर उनको 'प्रतिनायकगतरसा तरसा तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतै' कहा है। इनमेसे प्रथम वर्गमे वीर और अद्भुत रसका यद्यपि परस्पर किसी प्रकारका विरोध नही है, वे दोनो मित्ररस हैं फिर भी उनके नायक और प्रतिनायक रूप भिन्नाश्रयगतत्वेन वर्णन करनेसे उनमे चमत्कारातिशय आ जाता है। नायककी वीरताको देख कर यदि प्रतिनायक भी आश्चर्यमुग्ध होकर साधुवाद देने लगे तो उससे नायककी वीरता द्विगुणित चमत्कारजनक हो उठती है। जैसे उत्तररामचरितमे लव और चद्रकेतुके युद्धके वर्णनमें लवके युद्धकौशलको देख कर चन्द्रकेतु बार बार विस्मित हो उठते हैं। और उनके मुखसे बलात साधुवाद निकल पडता है। इससे लवकी वीरताका अत्यत परिपोष होता है। इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने यहा नायक प्रतिनायकगत रूपमें उनका उल्लेख किया है।

दूसरे वर्गमे अभिनवगुप्तने वीर शृङ्गार हास्यै' वीर शृङ्गार और हास्य इन तीन रसो का वर्णन किया है। इनमेसे वीर और शृङ्गारका आलम्बनक्यमें विरोध माना गया है। पर यहाँ ग्रथकारने उनके नायक प्रतिनायकगत वर्णन द्वारा उनमे चमत्कारातिशयके परिपोषणकी चर्चा की है। जब एक ओर युद्धकी रणभेरी बज रही हो तब दूसरी ओर प्रेमालाप चल रहा हो या हास्यका प्रवाह बह रहा हो यह स्थिति अच्छी तो नही है पर उससे भी कदाचित मुख्य वीर रसका परिपोष होता है ऐसा अभिनवगुप्तका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी लिए उन्होने यहा नायकगत वीर और प्रतिनागकगत शृङ्गार तथा हास्यके द्वारा चमत्कारातिशयकी चर्चा की है। इस प्रकार का वर्णन वेणीसहार नाटकमे आया है। उसमें प्रथमाङ्कके मध्यमें 'केनास्मत्सिहनादप्रतिरसितसख दुदुभिस्ताडितोऽयम्' इस भीमवचनके द्वारा रणभेरी बजनेकी सूचना दी गई है। उसके बाद ही दूसरे अकमें दुर्योधनकी भानुमतीके साथ रतिक्रीडाका वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। साहित्य-ग्रन्थोमें इस प्रकरणको 'अकाण्डे प्रथनम्' नामक रसदोषके उदाहरण रूपमें प्राय प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि वहाँ शृङ्गार वर्णनकी अति कर दी गई है।

'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद । प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसज्ञा[2] विदिता । एव च जिज्ञास्यतत्त्व एवायम् ।

साराका सारा दूसरा अङ्क शृङ्गार वर्णनमें ही लगा दिया गया है। इस लिए वह 'अकाण्डे प्रथनम्' दोषका उदाहरण बन गया है। यदि इस प्रकारका वर्णन थोडा सा हो तो अभिनवगुप्तके मतमे कदाचित् वह दोष नही अपितु वीररसका चमत्काराधायक ही होगा। इस दृष्टिसे यहा उन्होने नायकगत वीर तथा प्रतिनायकगत शृङ्गार अथवा हास्यको चमत्कारातिशयका परिपोषक माना है।

तीसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीररौद्र भयानककरुणै' इन चार रसोका एक साथ उल्लेख किया है। अर्थ करते समय इनको दो भागोमें विभक्त कर लेना चाहिए। इनमेसे वीर और रौद्रका सम्बन्ध नायकसे तथा भयानक और करुणका सम्बन्ध प्रतिनायकसे है। उनका भी सम्बन्ध यथाक्रम करना है। नायकमें वीररसके होनेपर प्रतिनायकमें भयानकका होना वीररसके चमत्कारका अभिवर्धक होता है। इसी प्रकार नायकके भीतर रौद्ररसके होनेपर प्रतिनायकगत करुणरसके वर्णनसे प्रकृत मुख्य रौद्ररसका चमत्कार बढता है। इसलिए नायकगत वीर तथा रौद्रके साथ प्रतिनायकगत भयानक तथा करुणको अभिनवगुप्तने चमत्कारातिशयका कारण माना है।

चौथे वर्गमें 'वीर वीभत्सशा तश्च' इन तीन रसोकी एक साथ चर्चा की गई है। इनमें नायकगत वीरके साथ प्रतिनायकगत वीभत्स और शान्तरसका सम्बन्ध दिखलाया गया है और उससे रसप्रतीतिको सातिशयचमत्कारयुक्त कहा गया है। नायकगत वीरसे प्रतिनायकमें भयानककी उत्पत्तिसे जिस प्रकार वीररसका परिपोषातिशय होता है इसी प्रकार नायकगत वीरसे यदि प्रतिनायकमे जुगुप्सा या वैराग्य [शम] की उत्पत्ति होती है तो वह भी वीरके चमत्कारातिशयकी जनक होती है। इस अभिप्रायसे अभिनवगुप्तने यहाँ इन तीन रसोका समावेश किया है।

नाटचवेदके वेदत्वका उपसहार—

इस प्रकार इन पक्तियोमें अभिनवगुप्तने यह दिखलाया कि नाटचके द्वारा वेदादिकी अपेक्षा अधिक सरलता एव सरसतासे कर्तव्याकर्तव्य—विधि निषेध—की शिक्षा मिल सकती है। इसीलिए उसको 'वेद' कहा जाता है। इसी दृष्टिसे अगली पक्तिमे 'अत एव उपदेशहेतुत्वाद्वेद प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसज्ञा' यह बात अभिनवगुप्तने लिखी है। न केवल भरतमुनिने ही यहाँ इसको वेद कहा है अपितु सामान्य रूपसे सर्वत्र ही उसकी 'नाटचवेद' सज्ञा प्रसिद्ध है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने नाटचके वेदत्वको सिद्ध करनेका यत्न किया है।

अभिनव—इसीलिए [वेदोंके समान कर्तव्याकर्तव्यके] उपदेशका देनेवाला [हेतु] होनेके कारण [नाटचवेद भी] 'वेद' [कहलाता] है। और इसकी नाट्यवेद यह सज्ञा प्रसिद्ध मानी जाती है। इस प्रकार इसके रहस्यकी जिज्ञासा [विवेचना] करनी ही चाहिए [यह बात सिद्ध होती है]।

पाठसमीक्षा—पूर्व सस्करणोमे इस अनुच्छेदके प्रथम वाक्य [अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद] तथा द्वितीय वाक्य [प्रसिद्धा चास्य नाटचवेद सज्ञा विदिता] का क्रम इससे विपरीत था। अर्थात् द्वितीय वाक्यको पहिले और प्रथम वाक्यको पीछे रखा गया था। किन्तु वह क्रम अधिक अच्छा नही था। क्योकि 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद' इस द्वितीय वाक्यका सम्बन्ध गत अनुच्छेदके साथ ठीक बठता है। गत अनुच्छेदमें यह कहा गया था कि नाटचमें प्रत्यक्ष होने वाले नायक प्रतिनायकोके चरित्रासे धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादि से निवृत्तिकी शिक्षा स्पष्ट रूपसे प्राप्त होती है।

---

१ म प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसज्ञा विदिता। अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद ।　२ नाटचसज्ञा।

स 'कथमुत्पन्न' केन प्रयोजनप्रकारेणोत्पन्न । तत्प्रयोजनस्य वेदेभ्य एव सिद्धे ।

'उत्पन्न' इति यदि पूर्वमेव [1]वेदेवदपदार्थ स्यात् तत्कथ नामाय पर्यनुयुज्येत श्रुतिचष्टयवदेव इत्यर्थ ।

अथ यस्य वेदेभ्यो नोपदेश सिद्ध । स कस्तादृगित्याह कस्याधिकारिण कृते, प्रयोजनकरणाय । कि वेदाधिकृत एवात्राधिकारी उत तदन्योऽपि । इत्याधिकारि विषयोऽय प्रश्न । पूर्वस्तु सिद्धसाध्यतया निष्प्रयोजनत्वेनाक्षेपाय[2] प्रश्न ॥४॥

इसीके आगे 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वद' इस वाक्यका आना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। इसलिए हमने यहा इन दोनो वाक्योके क्रममे परिवर्तन करके 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वद । प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसज्ञा विदिता।' इस क्रमसे मुद्रित किया है। इस प्रकार दोनो वाक्योको हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है इसलिए उसको भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है।

प्रथम प्रश्न—

इस प्रकार नाट्यशास्त्रके वेदत्वका उपपादन करके नाट्यशास्त्रकी उत्पत्ति आदिके विषयमे जिन पाच प्रश्नोको पूछने जा रहे है उनमेसे दो प्रश्न इस कारिकामें निम्न प्रकारसे पूछते हैं—

अभिनव०—और वह किसलिए उत्पन्न हुआ अर्थात् किस प्रयोजनकेलिए उत्पन्न हुआ [यह पहिला प्रश्न है। 'कथ' का अर्थ कसे भी होता है परन्तु यहाँ उसका किसलिए ही अर्थ करना चाहिए। 'किं' शब्दसे प्रकार अर्थ मे 'किमश्च' ५ ३-२५ सूत्र से थमु प्रत्यय हो कर 'कथ' पद बनता है इसलिए वृत्तिकारने 'केन प्रयोजनप्रकारेण' यह 'कथ' पदकी वृत्ति लिखी है] क्योकि उस [नाट्य] का प्रयोजन वेदोसे ही सिद्ध हो जाता है [इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नही रहती है। फिर वह किसलिए उत्पन्न हुआ यह इस प्रश्नका अभिप्राय है]।

द्वितीय प्रश्न —

और 'उत्पन्न हुआ' इससे [यह प्रतीत होता है कि वह पहिले नही था, सो] यदि वह [नित्य] वेदोके समान पहिले [न पदार्थ अपदार्थ। अपदार्थ अर्थात्] विद्यमान नही था तो वह 'चारो वेदोके समान है' यह कैसे कहा जा सकता है।

यदि यह कहो कि जिसको वेदोके द्वारा उपदेश सिद्ध नही होता है [उसके लिए नाट्यवेद बना है]। तो उस प्रकारका वह कौन [व्यक्ति] है, इस अभिप्रायसे 'किस अधिकारीकेलिए' अर्थात् [किस अधिकारीके] प्रयोजन सम्पादनके निमित्त। [उत्पन्न हुआ यह दूसरा प्रश्न है]। क्या जिसका वेदमे अधिकार हे वह [त्रैवर्णिक] ही इसका अधिकारी है अथवा उससे भिन्न [शूद्रादि] भी। इस प्रकार यह अधिकारि-विषयक [द्वितीय] प्रश्न है। पहिला [प्रश्न] तो [वेदो द्वारा] सिद्ध [प्रयोजन] का साधन-मात्र होनेसे [नाट्य निष्प्रयोजन है इस प्रकारका] आक्षेप करनेकेलिए [ही प्रश्न] है ॥ ४ ॥

---

१ म भ वेदवदपदार्थस्य तत्तथा कथमनेन पर्यनुयुञ्जीत। २ म, आक्षेपोऽयम्।

भरत०—'कत्यङ्गं किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृश ।
सर्वमेतद् यथातत्त्व भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

कत्यङ्ग इति–यद्यस्य सुबहू यङ्गानि तद्‌दुरवधारतयाऽशक्यनिणय । तथा परिदृश्यमानगीतातोद्याभिनयादिमध्य कत्यस्याङ्गानि । किञ्च तदङ्गिरूप उत अङ्गसमुदायमात्र नाटचमिति ततीय प्रश्न ।

अगले तीन प्रश्न—

पिछली कारिकामे आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिसे नाटचवद विपयक दो प्रश्न पूछे थे । इस कारिकामें उसी सम्बन्धमे तीन प्रश्न और पूछ रहे हैं । इस प्रकार सम्प्रति भरतमुनिसे पूछे जाने वाले कुल पाच प्रश्न हो जाते हैं । उनमेंसे ३ ४ ५ तीन प्रश्न इस कारिका में पूछते हं—

भरत०—[इस नाटचके] कितने अङ्ग है [यह तीसरा प्रश्न हे उसके विषय मे] क्या प्रमाण है [अथवा उसका कितना परिमाण है । यह चौथा प्रश्न हे ।] और उसका प्रयोग कसे होता हैं [यह पाचवाँ प्रश्न है] । हे भगवन इस सबको आप ठीक ठीक बतलानेकी कृपा करे । ५ ।

ततीय प्रश्नके तीन रूप—

अभिनव०—कितने अङ्ग है इस [प्रश्न] का अभिप्राय यह है कि—यदि इस [नाटच] के बहुत अधिक अङ्ग है तो [उनकी निश्चित सख्याका] अवधारण करना कठिन होनेसे उनका निर्णय असम्भव होगा [यह इस तृतीय प्रश्नका पहिला भाग है] । और [इसी प्रश्नका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि] दिखलाई देने वाले गीत वाद्य तथा अभिनय आदिमेंसे कितने इस [नाटच] के अङ्ग है । [इसी प्रश्नका तीसरा अभिप्राय यह भी है कि] और वह [नाटच] क्या [अङ्गोसे भिन्न] अङ्गी रूप है अथवा केवल अङ्गोका समुदाय मात्र ही नाटच हे यह [सब] तृतीय प्रश्न [का अभिप्राय] है । [अर्थात् तृतीय प्रश्नके तीन अवान्तर भाग बन जाते है] ।

इस प्रकार वत्तिकारने 'कत्यङ्ग' इस ततीय प्रश्नके अ तगत भी तीन अवा तर प्रश्न निकाल लिए हैं । इनमे से 'किमङ्गिरूपमुताङ्गसमुदायमात्र नाटचम् यह जो तीसरा अवा तर प्रश्न वत्तिकारने निकाला है वह नैयायिको तथा बौद्ध दाशनिकोके 'अवयवी विषयक मतभेदके आधारपर उठाया गया है । बौद्ध लोग क्षणभङ्गवादी हैं । वे किसी भी स्थिर वस्तुकी सत्ता नही मानते हैं । इसलिए वे घट आदि सभी पदार्थोंको अवयव समुदायमात्र मानते हैं । अवयवीकी अलग सत्ता नही मानते हैं । इसके विपरीत नैयायिक लोग घट आदिको केवल अवयव समुदायमात्र ही नही मानते हं अपितु अवयव समुदायसे भिन्न 'अवयवी' की अलग सत्ता मानते हैं । उनका कहना यह है कि यदि 'अवयवी' की अलग सत्ता न मानी जाय और सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष तथा अनेक परमाणुओके समुदाय को ही घट माना जाय तो परमाणुओके सूक्ष्म होनेसे 'स्थूल घट' यह प्रतीति नही बन सकती है । इसी प्रकार परमाणुओके अप्रत्यक्ष होनेसे 'प्रत्यक्ष घट' और परमाणुओके अनेक होनेसे 'एक घट' यह प्रतीति नही बन सकती है । परमाणुओसे भिन्न घटादि अवयवीकी अलग सत्ता माननेपर वह 'अवयवी' ही एक, स्थूल, प्रत्यक्ष आदि प्रतीतियोका विषय होता है । इसलिए 'अवयवी' की सत्ता अलग माननी चाहिए यह नयायिकोका मत हैं । इसी आधार पर यहाँ वत्तिकारने 'किमङ्गिरूप उताङ्गसमुदायमात्र नाटचम्' यह प्रश्न उठाया है ।

---

१ ज म कत्यङ्ग । २ तदवधारणतया ।

किम्प्रमाणश्चेति । ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्व तावन्नाटचस्य । यद्वक्ष्यति—'दश्य श्रव्य च यत्' [ना० शा० १-११] इति । श्रेय प्राप्त्युपायज्ञापकत्वमपि मुनीना स्वसवेदनसिद्धम् । अन्यथा तु विचार्यत्वमेवास्य न स्यादित्युक्तम् । तत्कोऽय प्रश्न ।

सत्यम् । किन्तु यान्यङ्गानि कानिचित् तानि यदि विज्ञेयानि, केन प्रमाणेन । [1]किमङ्गिता ज्ञायते तेन, कि वाङ्गभाव इति । तथा केन प्रमाणेन अङ्गाङ्गिभाव नियमोऽत्र ज्ञेय । प्रमाणमत्र निश्चयजनकम् ।

अन्ये तु नाटचगताना रूपकादीना पाठच-अभिनय रस—गीताना च कि प्रमाण—का सख्या— इति विभागविषयोऽय[2]प्रश्न इत्याचक्षते ।

चतुथ प्रश्नके चार रूप—

अभिनव—'इसमे क्या प्रमाण है' [यह चौथा प्रश्न पूछा गया है । इस पर सिद्धान्त पक्षसे यह कहा जा सकता है कि—] नाट्य तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही गृहीत हो जाता है । जैसा कि आगे [११ वी कारिकामे हम] कहेगे कि—'जो दृश्य तथा श्रव्य हो' । [इस प्रकार नाट्यका ग्रहण तो चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा श्रावण प्रत्यक्षसे ही हो जाता है इसलिए यह प्रश्न व्यथ है । यह इस प्रश्नका प्रथम भाग है] । और [नाटच धम, अथ, काम, मोक्ष आदि रूप] श्रेय प्राप्तिके उपायोका बोधक होता है यह बात भी मुनियोके अनुभवसे सिद्ध है [इसलिए उसको बतलानेकेलिए भी नाट्य आदि किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नही है] । तब यह [प्रमाण विषयक] प्रश्न क्यो किया गया है [अर्थात 'किम्प्रमाणश्च' यह जो प्रश्न पूछा गया है वह बिल्कुल व्यथ है । इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमे देते हैं । इस उत्तरमे इस द्वितीय भागके तीन अवान्तर विभाग हो जावेगें उसके साथ प्रथम भागको जोडकर चतुथ प्रश्नके चार रूप बन जाते है] ।

अभिनव०—[आपका कथन] ठीक है । किन्तु [मुनियोके इस प्रश्न पूछनेका अभिप्राय यह है कि—इस नाट्यके] जो कोई भी अङ्ग है उनका यदि ज्ञान करना हो तो किस प्रमाणसे [उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह इस प्रश्नका एक अभिप्राय है । उसका दूसरा अभिप्राय यह है कि—] उस [प्रमाण] से क्या [नाट्य की] अङ्गिताका ज्ञान होता है अथवा [केवल] अङ्गभावका । [और इसी प्रश्नका तीसरा भाग यह है कि—] इसमे अङ्ग अङ्गि भावकाका नियम किस प्रमाणकेद्वारा ज्ञात होता है । यहा [अर्थात इस व्याख्यामे] 'प्रमाण' पद निश्चयके जनक [प्रमाण साधन] का ग्राहक है ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो—नाट्यगत रूपकादि [भेदो] तथा पाठ्य, अभिनय, रस एव गीत [आदि अङ्गो] का कितना परिमाण अर्थात्—कितनी सख्या है—इस प्रकार यह विभाग विषयक प्रश्न है यह व्याख्या करते हैं ।

---

१ म भ किमङ्गता ज्ञायते । तेन कि प्रमाणाङ्ग इति । २ म भ विभागविषयो वायम् ।

अस्येति नाटचस्य, कीदृक् प्रयोग । यदि युगपदङ्गानि प्रयुज्यन्ते तद्भिन्ना-क्षग्राह्येषु युगपत् सवेदनाभावात कथ 'एक नाटचम' इति प्रतिपत्ति । क्रमप्रयोगेऽपि नतराम[1] । तस्मात् कथ प्रयोग इति । तथा कि नियतेनैव अङ्ग-अङ्गिभावेन प्रयोग उतानियतेनेति नाटचाङ्गप्रयोगद्वारेण सामान्याभिनय चित्राभिनय-नाटकादिरूपक-वैचित्र्यविषय प्रश्न पञ्चम ।

पाठसमीक्षा—इन तीन अनुच्छेदोमेसे बीचके अनुच्छेदका पाठ पूवसकरणमे अशुद्ध छपा था। 'किमङ्गता ज्ञायते ? तेन किं प्रमाणाङ्ग इति इस पूव पाठकी कोई सङ्गति नही लगती है। उसके स्थानपर 'किमङ्गिता ज्ञायते तेन किं वाङ्गभाव इति' ऐसा पाठ रखनेपर ही सङ्गति लग सकती है। इसलिए हमने सशोधित रूपसे इसी पाठको काले टाइपमें प्रस्तुत किया है।

पञ्चम प्रश्नके पाच रूप—

अभिनव०—['प्रयोगश्चास्य कीदृश' यह पाचवां प्रश्न पूछा गया है। इसमे आए हुए] 'अस्य' इसका, अर्थात नाट्यका, प्रयोग किस प्रकारका होता है। [यह पाचवा प्रश्न है। इसके पूछनेका कारण यह है कि—] यदि [अभिनय और पाठ्य गीत आदि] अङ्गोका एक-साथ प्रयोग किया जाता है तो [चक्षु तथा श्रोत्र रूप] भिन्न भिन्न इन्द्रियोसे ग्राह्य उन सबकी एक साथ प्रतीति सम्भव न होनेसे 'यह एक नाटच है' इस प्रकारकी प्रतीति कैसे हो सकेगी ? [अर्थात् 'यह एक नाटच है' इस प्रकारकी प्रतीति कभी नहीं हो सकेगी। यह इस प्रश्नका प्रथम भाग हुआ]। और [विभिन्न अङ्गोका] क्रमसे [अलग-अलग] प्रयोग होनेपर तो ['एक नाटच' यह प्रतीति] और भी नही हो सकेगी। इसलिए [इस नाट्यका] प्रयोग किस प्रकार होता हैं [यह प्रश्न किया गया है।] यह [इस प्रश्नका दूसरा अभिप्राय हुआ। इस प्रश्नका तीसरा और चौथा अभिप्राय यह भी है कि] क्या किसी निश्चित अङ्ग-अङ्गिभावसे प्रयोग होता है अथवा अनिश्चित [अङ्गाङ्गि भाव] से [प्रयोग होता है]। इस प्रकार नाटचके प्रयोग [विषयक प्रश्न] के द्वारा सामान्याभिनय चित्राभिनय और नाटकादि रूपकोके वचित्र्यके विषयमे यह पाचवा प्रश्न [किया गया] है। [यह इस प्रश्नका पाचवा भाग है।]

इस अनुच्छेदमे 'भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत् सवेदनाभावात कथमेक नाटचमिति प्रतीति'। यह बात जो कही गई है वह न्याय दशनके 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति मनसो लिङ्गम्'[2] इस न्यायसूत्रके आधारपर कही गई है। इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि एक साथ दो इन्द्रियोके विषयोका ज्ञान उत्पन्न नही होता है, यही बात मनकी सत्ताकी साधक होती है। मन अणु परिमाण वाला माना जाता है, इसलिए एक समयमें उसका एक ही इन्द्रियकेसाथ सम्बन्ध हो सकता है। जिस समय जिस इन्द्रियकेसाथ मनका सम्बन्ध होता है उस समय उसीके विषयका ग्रहण होता है। इसलिए एक समयमें चक्षुके विषय अभिनय तथा श्रोत्रके विषय पाठ्य या गीत आदि दोनोका ग्रहण एक-साथ नही हो सकता है। यह प्रश्नकर्ताका अभिप्राय है।

---

१ नितराम। २ न्याय दशन १, १, १६।

एव प्रश्नपञ्चकात् कवि-प्रयोक्त्रोरुपदेशपर शास्त्रमिति लक्ष्यते ।

तेन 'यदिह–'तस्मात् कर्तु द्रष्टु प्रयोक्तुरुपदेशपरमिद शास्त्रम्' इति । तत्र 'द्रष्टु' इत्यसत्। न ह्यनेन सामाजिको विनीयते, अयोग्यत्वात्। श्रुति-स्मति-इतिहासा-दिष्विवात्रापि न च तदुपदेश[२] श्रूयते ।

सामा याभिनय और चित्राभिनय' की चर्चा भी इस अनुच्छेदमें आई है। नाटचशास्त्र के २२ वे तथा २४ वें अध्यायोमें 'सामा याभिनय तथा २५ वें अध्यायमें 'चित्राभिनय' का वर्णन किया गया है। वहा उनके लक्षण निम्न प्रकार किए गए हैं—

> सामा याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वज ।
> तत्र काय प्रयत्नस्तु नाटचे सत्त्व प्रतिष्ठितम् ।। २२ १ ।
> अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेष क्वचित क्वचित ।
> अनुक्त उच्यते चित्र स चित्राभिनय स्मृत ।। २५ १ ।।

इस शास्त्रके उपदेश्य कवि और नट हैं—

जसा कि पहिले कहा जा चुका है कवि नट तथा सामाजिक इन तीन वगके लोगोके साथ इस शास्त्रका सम्बन्ध हो सकता है। इसलिए पूववर्ती टीकाकारोका यह सिद्धान्त है कि इन तीनोकी शिक्षाकेलिए इस शास्त्रकी रचना की गई है। कवि प्रयोक्ता और सामाजिक तीनो ही इस शास्त्रके उपदेश्य है। परन्तु वत्तिकार अभिनवगुप्त इस मतको नही मानते हैं। वे केवल कवि और प्रयोक्ता अर्थात् नट इन दोको ही इस शास्त्रका उपदेश्य मानते हैं सामाजिकको नही। अर्थात वत्तिकारके मतसे केवल कवि तथा प्रयोक्ता अर्थात नट इन दोको उनके कायकी शिक्षा देनेके लिए ही इस शास्त्रकी रचना की गई है। सामाजिककी शिक्षाकेलिए नही। इसी बातकी विवेचना वत्तिकार अगले अनुच्छेदो मे करते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार इन पाचो प्रश्नो [के विवेचन] से, यह शास्त्र कवि [अर्थात नाटककार] तथा प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन दोनो] को [उनके कत्तव्यकी] शिक्षा देनेकेलिए ही है यह बात सूचित होती है। [यह अभिनवगुप्तका अपना सिद्धान्त हे]।

सामाजिक इस शास्त्रका उपदेश्य नहीं है—

अभिनव०—इसलिए इस प्रसङ्गमे जो [पूववर्ती किसी टीकाकारने] यह कहा है कि—'इस कारण कर्ता [अर्थात् नाटककार कवि], द्रष्टा [अर्थात् सामाजिक] और प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन तीनो] को उपदेश देने वाला यह शास्त्र है'। उसमे 'द्रष्टाका' [अर्थात् सामाजिकका उपदेश परक है] यह [कथन] अनुचित है। क्योकि इस [नाट्यशास्त्र] केद्वारा सामाजिकको शिक्षा नही दी जाती है। उसके [इस प्रकारकी शिक्षाके] अयोग्य होनेसे। श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिके समान यहा भी उसके उपदेशका वर्णन नही मिलता है। [अर्थात् नाट्यशास्त्र सामाजिकको भी शिक्षा देनेकेलिए है इस बातकी चर्चा न श्रुति, स्मृति इतिहासादिमे ही पाई जाती है। और न यहा नाट्यशास्त्रमे ही कही उसका उल्लेख है]।

---

१ म भ यदा हि। २ न तदुपदेशोऽत्र।

द्रष्टा तु यदि प्रेक्षाप्रवतक उच्यते, तदा तस्यापि न प्रबन्धेनोपदेशोऽपितु क्वचिदेव 'नतकोऽथपतिर्वा' इत्यादो। एव चोपदेश्यत्वे स्थपति-मालाकारप्रभति विश्व-मपीहोपदेश्य स्यादित्यलमनेन।

यथातत्त्वमिति। नात्र क्रम प्रति भरोऽस्माकम। नापि इयत्ता प्रति। अज्ञा हि वयमत्र प्रष्टार। अत एवोपेयपरत्वेनैव[1] मुख्यतया प्रश्ना। यथा बालक आह– 'दु ख [2]मे शमय' इति। [3]न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति कुतोऽन्न लभ्यते इति। तेनापेयमुखेन[4]प्रवत्त मिद शास्त्रम्। उत्तरदानोपनत वस्त्वन्तरोपेयप्रश्नक्रमेण तदुपेयोपायादिप्रबन्धेन स्थित-मिति मन्तव्यम्।

अभिनव०—और यदि द्रष्टासे नाटचके प्रवतक [राजा आदि] को लिया जाय तो उसको भी [प्रबन्धसे अर्थात्] सारे ग्रन्थसे उपदेश नही दिया गया है अपितु 'नतक अथवा अथपति' आदि जसे कही कही [के वचनोमे] ही [उपदेश दिया गया है]। और इस प्रकार [कही कही थोडा सा उपदेश होनेपर भी उनको] उपदेश्य मानने पर तो [नाटचमण्डप बनाने वाले] राज [स्थपित] और माली आदि सारा जगत ही इसका उपदेश्य बन जायगा [क्योकि कही-कही उनकी भी चर्चा की गई है]। इसलिए यह सब बात नही कहनी चाहिए।

प्रश्नक्रमसे ही उत्तरका आग्रह नहीं—

अभिनव०—'यथातत्त्व' यह [कारिकाका प्रतीक भाग है जिसकी व्याख्या आगे करते है]। यहा [अर्थात् ये जो पाँच प्रश्न पूछे गए हे उनके उत्तरके विषय मे, इसी क्रमसे हमारे प्रश्नोका उत्तर मिलना चाहिए इस प्रकारके] क्रमपर हमारा बल नही है। और न इयत्ताके प्रति [हमारा आग्रह है। अर्थात् इतने ही प्रश्नोका उत्तर मिलना चाहिए यह भी हमारा आग्रह नही है]। क्योकि हम [प्रश्न पूछने वाले] इस विषयको नहीं जानते है। इसलिए मुख्य रूपसे [उपेय अर्थात] विषय की प्रधानताकी दृष्टिसे ही प्रश्न किए गए है। जैसे, कोई बालक कहता है कि 'मेरे [भूखके] दु खको दूर करो'। [वह केवल अपने भूखके कष्टके निवारण करनेकी प्राथना करता है]। उस वस्तुके उपायको नहीं पूछता हे कि [मेरी भूखके निवारण के लिए] अन्न कहाँसे मिलेगा। [इसी प्रकार हम अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकेलिए ये प्रश्न पूछ रहे हैं। उनका उत्तर आप किस प्रकार और किस क्रमसे दें इसपर हमारा कोई आग्रह नही है]। इसलिए यह शास्त्र उपेयमुखसे प्रवृत्त हुआ है। [उपाय को प्रधान मान कर प्रवृत्त नहीं हुआ है]। और उत्तर देते समय [प्रसङ्गत] प्राप्त होने वाले अन्य वस्तु रूप उपेय [लक्ष्य] के विषयमे प्रश्न आदिके क्रमसे उस उपेय के उपाय आदिकी परम्परासे [यह शास्त्र] स्थित है यह समझना चाहिए।

---

१ म उपायपरत्वेनैव मुख्यतया प्रश्न। २ भ मेव।
३ न तज्ज्ञस्तूपाय प्रश्नयति। ४ म तेनोपायमुखेन।

तेन यादृशा क्रमेण रूपणयोग्य, 'तथा अप्रश्नितमपि यदि किञ्चिदस्ति तदपि स्वयमेव निरूपय इति । तत्त्वानतिक्रमेण 'तत्त्वयोग्य चेति यथातत्त्व निरूपणीयम् । एतदिति लक्षणपरीक्षापर्यन्तमेतत् ॥ ५ ॥

अभिनव०—इसलिए जिस क्रमसे [इन विषयोका] निरूपण करना उचित हो [उसी क्रमसे] तथा यदि कोई बात बिना पूछे रह गई हो तो उसको भी स्वय ही बतलानेकी कृपा करें। [यह सब बात 'यथातत्त्व' के भीतर आ जाती है। क्योकि] 'तत्त्वको छोडे बिना' और [बिना पूछे हुए भी कहने योग्य] 'तत्त्वयोग्य' [ये दोनो] 'यथातत्त्व' [कहलाते] हैं। उन [दोनो] का निरूपण करना चाहिए। 'एतत' इस [पद] से यह [निरूपण केवल उद्देश-रूप नहीं अपितु] लक्षण और परीक्षा पर्यन्त है [यह समझना चाहिए]।

उद्देश लक्षण और परीक्षा—

यहाँ उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा शब्द आए हैं। ये तीनो शब्द न्यायदर्शनके पारिभाषिक शब्द हैं और वहीसे लिए गए हैं। न्यायदर्शनमे शास्त्रप्रवृत्तिके तीन प्रकार दिखलाए हैं। त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति, उद्देशो लक्षण परीक्षा चेति। उनमें 'नाममात्रेण वस्तुसकीर्तन उद्देश' वस्तुके नाममात्रके कथन करनेको उद्देश' कहते हैं। 'लक्षण तु असाधारणधर्मवचनम्' अर्थात वस्तुके असाधारण धर्मके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं और लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचार परीक्षा' जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नही इसके विचारको 'परीक्षा कहते हैं। भरतमुनिने भी नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें इन तीनोकी चर्चा की है। परन्तु उन्होने इनकेलिए क्रमश 'सग्रह, कारिका तथा निरुक्त' शब्दोंका प्रयोग किया है। इन तीनोके द्वारा ही किसी विषयका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन सम्भव होता है। इसीलिए यहा परीक्षा पर्यन्त निरूपण करनेकी प्रार्थना की गई है। अर्थात केवल 'उद्देश' या नाम मात्रसे कथन कर देनेसे विषय समझमे नही आ सकेगा। अत एव लक्षण और परीक्षा द्वारा पूर्णतया विषयको स्पष्ट करनेकी कृपा करे यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—बडोदा वाले प्रथम सस्करणमें 'तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ छपा था। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर सशोधन करके 'तज्ज्ञस्तूपाय प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ दिया गया है। परन्तु वे दोनो पाठ ठीक नही है। प्रश्नकर्ता मुनि यहा अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकी प्रार्थना कर रहे हैं। वह किस उपायसे होगी इसपर उनका बल नही है। इसका सोचना तो उत्तर देने वालेका काम है। वे तो 'उपेय' फलको प्राप्त करना चाहते हैं उपाय से उनको मतलब नही है। जसे बालक अपनी बुभुक्षानिवृत्तिकी प्रार्थना करता है उसके उपायको नही पूछता है। यही स्थिति प्रश्नकर्ता मुनियोकी है। यह बात ग्रन्थकार यहाँ कह रहे हैं। इस स्थितिमे 'न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' यह पाठ यहाँका एकमात्र शुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार निकटतम पाठ है। पूर्ववर्ती दोनो पाठ इसके बिल्कुल विपरीत और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे अत्यन्त दूरवर्ती होनेके कारण त्याज्य हैं। अत हमने उनको छोडकर न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' इसी पाठको सशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है।

---

१ म तथाप्यप्रश्नितमपि। २ म तत्त्वयोग्य तत्त्व च।

यदि त एव पप्रच्छु भरतमुनि किमकार्षीदित्याह तेषामिति—

भरत०—तेषा तु वचन श्रुत्वा मुनीना भरतो मुनि ।

प्रत्युवाच ततो वाक्य नाट्यवेदकथा प्रति ॥ ६ ॥

तुरवधारणे, श्रुत्वैव न तु विलम्ब्येति । पौर्वकाल्यमात्रे क्त्वा ल्यपोर्विधानात ।

तत इति, यत स तत्त्वविन्मुनि, ते च तदुपदेशयोग्या, तस्माद्धेतो । कथाग्रहण 'यथातत्त्वम्' इत्यस्यैवार्थं स्फुटीकरोति ।

भरतमुनिने क्या किया—

अभिनव०—यदि उन [आत्रेय आदि मुनियो] ने इस प्रकारके प्रश्न किए तो [उनके समाधानकेलिए] भरतमुनिने क्या किया इस [बात] को 'तेषां तु' इत्यादि [अगली कारिका] से बतलाते हैं—

भरत०—उन [आत्रेय आदि मुनियों] के वचनोंको सुन कर नाट्यवेदकी [विस्तार पूवक कथा अर्थात्] चर्चा करनेकेलिए भरतमुनि [निम्न प्रकारसे उनका] उत्तर देने लगे ।६।

अभिनव०—'तु' शब्द अवधारण [एव] के अथमे है । 'सुनते ही' न कि विलम्ब करके [यह उसका अभिप्राय है] । पूवकालता मात्रमे 'क्त्वा' और 'ल्यप्' [प्रत्ययो] का विधान होनेसे ['श्रुत्वा' का यही अर्थ यहाँ उचित है] ।

इसका अभिप्राय यह है कि कारिकामे आया हुआ 'श्रुत्वा' पद श्रु धातुसे क्त्वा प्रत्यय करके बना है । [2]'समानकतृ कयो पूवकाले क्त्वा' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार समानकतृ क अर्थात एक ही व्यक्ति द्वारा की जाने वाली श्रवण तथा प्रतिवचन रूप दो क्रियाओमेसे श्रवण क्रियाकी पूवकालता ही श्रुत्वा' पदमें आए हुए क्त्वा प्रत्ययसे सूचित होती है । यह पूवकालता तो श्रवण तथा प्रतिवचन दोनोके भीतर बहुत व्यवधान रहते हुए भी बन सकती है । भरतमुनिको यहाँ इस प्रकारकी व्यवहित पूवकालता अभिप्रेत नही है । अपितु 'सुनते ही बोले' यह अ यवहित पूवकालता अपेक्षित है । इसीलिए यहाँ एवकारके अथमे तु शब्दका प्रयोग किया है ।

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'तत' इस पदसे [हेतुता सूचित होती है], क्योकि वे [भरत] मुनि [नाट्यवेदके] तत्त्वको जानने वाले हैं और वे [आत्रेय आदि मुनि] उनके उपदेश [को ग्रहण करने] के योग्य है । इस कारण से [भरतमुनि बोले यह अभिप्राय है] । 'कथा' पदका ग्रहण 'यथातत्त्वम्' के ही अर्थको स्पष्ट करने वाला है ।

पूव टीकाकारका खण्डन—

इसका यह अभिप्राय है कि आत्रेय आदि मुनियोने जो प्रश्न पूछे थे उनके बाद यह प्रार्थना भरतमुनिसे की है कि इस सबको 'यथातत्त्वं' अर्थात उचित रीतिसे विस्तार पूवक समझा कर कहे । इस प्राथनाके अनुसार भरतमुनि भी उस विषयकी विस्तार पूवक चर्चा करने जा रहे हैं । इसी बातको सूचित करनेकेलिए यहाँ 'कथा' पदका प्रयोग किया गया है । यह वत्तिकारका अपना मत है । किसी अन्य टीकाकारने इस 'कथा' पदके ग्रहणका दूसरा ही प्रयोजन माना है । अगले अनुच्छेदमें वृत्तिकार उन पूववर्ती टीकाकारके मतका खण्डन निम्न प्रकारसे करते हैं—

---

१ क तद्वचनम् । २ अष्टाध्यायी ३,४,२१ ।

यत्तु–'प्रयोगप्रश्ने प्रत्यक्षरण प्रयोगप्रकटनमुत्तर स्यादित्याशङ्का परिहतु कथा ग्रहणम्' इति । तत्त्वसत् । 'वक्तुमर्हसि' इत्युक्ते तस्या कोऽवसर ।

एव भरतमुनि परवदात्मान प्रकल्प्येयन्त ग्रन्थमभिहितवान् ।

अन्ये तु—"इयन्त ग्रन्थ कश्चिच्छिष्यो व्यरीरचत् । तत्र 'ब्रह्मरणा' इति भरतमुनि प्रथमश्लोके निर्दिष्ट, 'कथ ब्रह्मन् उत्पन्न' इत्येतदेवमेकवाक्यत्वेन निवहति । तदनन्तर तु 'भवद्भि शुचिभि' इत्यादिभरतमुनिविरचितो ग्रन्थ । मध्येऽत्र षट्त्रिंशदध्याय्या यानि प्रश्न-प्रतिवचन-[1]योजनावचनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येव" इत्याहु ।

अभिनव०—[पूववर्ती किसी टीकाकारने] जो यह कहा है कि—"प्रयोग विषयक [पञ्चम] प्रश्नमे प्रत्यक्ष रूपसे प्रयोगको करके दिखलाना ही उत्तर हो सकता है [शब्दोके द्वारा कह कर उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है] इस आशङ्काके निवारण करनेकेलिए 'कथा' पदका ग्रहण किया गया है" । वह [कथन] तो [अत्यन्त] अनुचित है । क्योकि [पूछने वालोने ही जब उस प्रयोग विषयक प्रश्नका उत्तर भी 'वक्तुमर्हसि' कह कर शब्द रूपमें बतलानेकी प्राथना की है तब] 'वक्तुमर्हसि' ऐसा कहे जानेपर उसका [अर्थात् प्रश्नका प्रयोग द्वारा ही उत्तर दिया जाना चाहिए इस आशङ्का का] अवसर ही कहाँ है । [अत समाधान भी व्यथ ही है] ।

यह अवतरणिका भी भरतकृत है—

अभिनव०—इस प्रकार [इस ग्रन्थके रचयिता] भरतमुनिने अपनेको [ही] दूसरेके समान कल्पना करके ['उनके वचनको सुनकर भरतमुनि बोले' इत्यादि रूप] यहाँ तकके ग्रन्थको कहा है ।

अर्थात यहा तक जो छ श्लोक लिखे गए हैं वे भी भरतमुनिके ही बनाए हुए हैं । उनमें 'भरतमुनि बोले' इस प्रकारका उल्लेख देखकर उन्हे किसी अन्यका बनाया हुआ नही समझना चाहिए । यह वृत्तिकारका अपना सिद्धान्त पक्ष है ।

अन्योके मतका अनुवाद और खण्डन—

अभिनव०—दूसरे [पूर्ववर्ती टीकाकार] तो [यह कहते हैं कि]—"यहा तक के ग्रन्थकी रचना किसी शिष्यने की है । और उसमे प्रथम श्लोक मे 'ब्रह्मरणा' पद से भरतमुनिका निर्देश किया गया है । इसलिए [चौथे श्लोकमें आए हुए] 'कथ ब्रह्मन उत्पन्न' इसकी [अर्थात् इस 'ब्रह्मन्' पदकी, प्रथम श्लोकके 'ब्रह्मा' पदकेसाथ दोनोके भरतमुनि परक होनेसे] एकवाक्यताके द्वारा सङ्गति ठीक लग जाती है । और उसके बाद [अर्थात् छठे श्लोकके बाद] 'भवद्भि शुचिभि' इत्यादि [सातवें श्लोक] से भरतमुनि-विरचित ग्रन्थ [प्रारम्भ होता] है । और इस ३६ अध्याय वाले [शेष] ग्रन्थके बीच बीचमे जो प्रश्न-उत्तर [आदि] की योजनाका वरणन मिलता है वे [भी] उनके शिष्योके ही वचन है" ऐसा कहते है ।

---

१ प्रयोजनवचनानि ।

तच्चासत । एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात । स्वपरव्यवहारेण पूर्वोत्तरपक्षादीना श्रुति-स्मति-व्याकरण तर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात ।

एतेन—'सदाशिव-ब्रह्म-भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मत-त्रयीसारासारविवेचनपर[1] तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिद शास्त्र, न तु मुनिविरचितम' इति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम । सर्वानिपन्ह्वनीयाबाधितशब्दलोकप्रसिद्धि-विरोधाच्च ।

इसका यह अभिप्राय है कि इस ग्रन्थके प्रारम्भिक इन छ श्लोकोमें आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिके पास जाकर पूछा' और 'उनके वचन सुनकर भरतमुनि बोले' इस प्रकारका जो उल्लेख पाया जाता है। इससे कि हीके मनमे यह शङ्का उठ सकती है इन श्लोकोकी रचना भरतमुनिने नही की है। अपितु इन श्लोकोका निर्माता उनका कोई शिष्य है। किसी पूव टीकाकारन इस बातका प्रतिपादन भी किया है। पर तु वत्तिकार अभिनवगुप्तके मतमे एक ग्र थके अनेक निर्माता माननेमें कोई युक्ति न होनेसे यहा यह शङ्का नही की जा मकती है। अर्थात ये ६ श्लोक भी किसी शिष्यके नही स्वय भरतमुनिके ही बनाए हुए हैं। यही आगे लिखते हैं—

अभिनव०—वह भी ठीक नही है। क्योकि एक ग्रन्थको अनेक वक्ताओके वचनोका सग्रह रूप माननेमे कोई युक्ति [प्रमाण] नही है। [जिन प्रश्न-प्रतिवचन आदिको देख कर इस ग्रन्थके अनेक कर्ता माननेका प्रयत्न पूर्व टीकाकारोने किया है उस प्रकारके] प्रश्न प्रतिवचन अथवा पूवपक्ष तथा उत्तरपक्ष तो [एक ही ग्रन्थकारके ग्रन्थमे] अपने और पराए [अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनो] के व्यवहार [की कल्पना] केद्वारा श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तकशास्त्र आदि [के] एक व्यक्ति द्वारा रचित [ग्रन्थो] मे भी पाए जानेसे [उनके आधार पर किसी ग्रन्थके अनेक कर्ता मानना उचित नही है]।

गुरुमतका खण्डन—

अभिनव०—इस [युक्ति] से जो नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय [अर्थात् अभिनवगुप्तके नास्तिक गुरु] यह कहते हैं कि—"सदाशिव, ब्रह्मा और भरतके मतोके विवेचन-द्वारा ब्रह्माके मतकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनकेलिए तीनो मतोके सार असारका विवेचन करने वाला यह शास्त्र उन [तीनो] के ग्रन्थोके भागोको मिलाकर बना है, भरतमुनिका बनाया हुआ नही है" उसका भी खण्डन हो जाता है। [इस युक्तिके अतिरिक्त] जिसका कोई भी निषेध न कर सके इस प्रकारकी अबाधित शास्त्र तथा लोक दोनोकी प्रसिद्धिके विरोधके कारण भी [नास्तिक शिरोमणि उपाध्याय महोदयके इस मतका खण्डन हो जाता है]।

अभिनवगुप्त स्वय 'परम माहेश्वर' परम आस्तिक विचारधाराके व्यक्ति थे। पर तु उनके गुरुओमें एक परम-नास्तिक गुरु भी थे। इसका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है। उनका मत यह था कि यह नाट्यशास्त्र वस्तुत कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है अपितु केवल एक सग्रह ग्रन्थ

---

१ विवेचनम् ।

अत्र केचिदाहु —'प्रश्नपञ्चकमत्रैवाध्याये तावन्निर्णीयते । उद्देशस्थितया तद्विभाग-लक्षरण-परीक्षापरारिण चाव्यायान्तरारणीति' ।

अन्ये त्वाहु —'पञ्चभिरध्याय पूवरङ्गविधानपयन्त प्रश्नद्वय निर्णीतम । सामान्याभिनय-चित्राभिनया त शिष्टैस्तु प्रश्नद्वयमिति' ।

वय तु ब्रूम —नात्र क्रम कश्चित् । अपितु यथावसर महावाक्यात्मना षट्सहस्त्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्व निर्णीयते । न तु क्रम कश्चित् । एतच्च ग्रन्थव्याख्यानप्रसङ्ग एव स्फुटीकरिष्याम ।। ६ ।।

है । सदाशिव ब्रह्मा तथा वृद्धभरत आदिके नाटचशास्त्र विषयक अनेक पूव प्रचलित ग्र थोके विशेष विशेष भागोको सङ्कलित करके इस सग्रहात्मक नाटचशास्त्रकी रचना हुई है । यह अभिनव गुप्तके इन नास्तिक गुरु महोदयका मत था । पर तु अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नही । उनके मतमें यह नाटचशास्त्र सग्रह ग्र थ नही अपितु पूरण रूपसे भरतमुनि-विरचित स्वत त्र ग्र थ है । इसलिए इस अनुच्छेदमे ग्र थकारने इन 'नास्तिक शिरोमणि, उपाध्याय के मतका खण्डन किया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें मतत्रयीसारासारविवेचन तदग्र थखण्डप्रक्षपेण विहितमिद शास्त्रम्' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा था । पर तु यह पाठ अशुद्ध था । इसमे विवेचन' के स्थान पर 'विवेचनपर' पाठ होना चाहिए था । क्योकि यह पद शास्त्र' का विशेषण पद है । इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

ग्र थका विभाजन—

पिछले श्लोकोमे मुनियोने भरतमुनिसे नाटचशास्त्र विषयक जो पाच प्रश्न पूछे ह उनके समाधानकेलिए ही इस ग्र थकी रचना हुई है । अर्थात् इस सारे ग्र थमे उ ही प्रश्नोके उत्तर विस्तार पूवक प्रस्तुत किए गए हैं । कि तु ग्र थकारने इस विषयके प्रतिपादनकी दृष्टिसे अपने ग्र थ

विस्तार पूवक प्रस्तुत किए गए ह । कि तु ग्र थकारने इस विषयके प्रतिपादनकी दृष्टिसे अपने ग्र थ

इस विषयमे परस्पर मतभद पाया जाता है । अपने पूववर्ती टीकाकारोंके मतका उल्लेख करनेके बाद अपन मतका प्रदशन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदोमे इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—यहा कुछ लोगोका कहना है कि—'इन पाचो प्रश्नोका इसी अध्यायमे निरगय कर दिया गया है । और उद्देश क्रमसे उनका विभाग, लक्षरण तथा परीक्षा करनेकेलिए शेष अध्याय हैं' ।

दूसरे लोग यह कहते है कि—'पूवरङ्गविधान-पय त पाच अध्यायोमे दो प्रश्नो का निरगय किया गया है । और सामान्याभिनय [अ० २२, २४] तथा चित्राभिनय [अ० २५] पर्यन्त शेष अध्यायोमे तीन प्रश्नोका निरूपण किया गया है' ।

अभिनव—हमारा कहना यह है कि—इस विषयमे कोई क्रम नही पाया जाता है । अपितु ३६ सहस्त्र श्लोक वाले महावाक्य रूप प्रश्नपञ्चकके निरूपण करने वाले शास्त्रके द्वारा अवसरके अनुसार तत्त्वका निरगय किया गया है । किसी विशेष क्रमका अवलम्बन नही किया गया है । इस बातको हम ग्रन्थकी व्याख्याके प्रसङ्गमे [उचित अवसरपर] स्पष्ट करेगे ।। ६ ।।

तत्र 'कथं' 'कस्य वा' इत्यमुमर्थं निर्णिनीषुराह 'भवद्भि' इत्यादि'—

भरत०—भवद्भि शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य[2]सम्भवो[3]ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

घटादीनामुत्पत्तिव्यवहारसिद्धैव कुलालादिभि[4]रभ्युपगम्यते इति 'घटः क्रियते' इति युक्तम् । नत्वेवं नाट्यस्य । तस्य तूत्पत्तिरेव [5]विरिञ्च्युपज्ञतया स्थितेति 'सम्भवो ब्रह्मनिर्मित' इत्युक्तम् ।

केचिदत्रानादित्वं वेदवन्नाट्यस्याचक्षाणा उत्पत्त्यादिशब्दान् स्मरण अभिव्यञ्जनादावुपचरन्ति ॥ ७ ॥

उत्तरका आरम्भ—

अभिनव०—उन [पाच प्रश्नो] मेसे [नाट्यवेदकी उत्पत्ति] 'क्यो' और 'किसलिए' [हुई] इन [आदिके दो प्रश्नो] का निर्णय करनेकी इच्छा वाले [भरतमुनि] 'भवद्भि' इत्यादि [अगले श्लोकोको] कहते हैं—

भरत०—आप लोग शुद्ध पवित्र तथा एकाग्रचित्त होकर [अब] ब्रह्माके द्वारा किए गए नाट्यवेदके उत्पादन [के इतिहास आदि] को सुनें । ७ ।

अभिनव०—घट आदिकी कुलाल [कुम्भकार] आदिकेद्वारा होने वाली उत्पत्ति व्यवहारसिद्ध [अर्थात प्रत्यक्ष] ही मानी जाती हे । इसलिए [कुलाल] 'घडे को बनाता है' यह [कथन] ठीक ही है। परन्तु नाट्यवेदकी [उत्पत्ति] तो इस प्रकार [व्यवहारसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष] नहीं है । उसकी उत्पत्ति तो [पूर्वकालवर्ती] ब्रह्मासे हुई हे [इसलिए घटादिकी उत्पत्तिके समान उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता है । केवल शब्दोके द्वारा सुना जा सकता है] इसलिए 'ब्रह्माकेद्वारा किए गए [नाट्यवेदके] उत्पादन' [को सुनो] यह कहा गया है ।

अभिनव०—[पूर्ववर्ती टीकाकारोमेसे] कोई वेदोके समान नाट्यवेदके भी अनादित्वका प्रतिपादन करते हुए [यहाँ प्रयुक्त किए गए] उत्पत्ति आदि शब्दोको स्मरण या अभिव्यञ्जन आदि [अर्थों] मे लाक्षणिक [रूपसे प्रयुक्त औपचारिक] मानते है ।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्ही विद्वानोके मतोंमे वेदोके समान नाट्यवेद भी अनादि है। उसकी उत्पत्ति नही होती है। तब यहाँ आत्रेय आदि मुनियोने जो उसकी उत्पत्ति आदिके विषयमें प्रश्न किए हैं उनमें 'उत्पत्ति' शब्दसे स्मरण या अभिव्यक्ति अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् ब्रह्माजीने उस अनादि नाट्यवेदका स्मरण करके उपदेश अथवा उसकी अभिव्यक्ति क्यो और किसके लिए की यह उनके प्रश्नोका आशय है। नाट्यवेदकी वास्तविक उत्पत्ति पूछनेमे उनका अभिप्राय नही है । क्योकि नाट्यवेदके नित्य होनेसे उसकी वास्तविक उत्पत्ति सम्भव हो नही है।

---

१ म० भवद्भिरिति । २ ष० सक्षेपो । ३ त० मुनिनिर्मित ।
४ म० भ० अनुगम्यते । ५ म० भ० विरिंचोपज्ञतया ।

तत्र सम्भूते कारणमुखेनाभिधाने कतव्ये कालस्य सवत्र पूवकारणत्वादुचित-कालपरिग्रहेण तद्विधाधिकारिविषयता दशयितुमाह 'पूवम्' इत्यादिना श्लोकपञ्चकेन—

भरत०——[1]पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
[2]त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु[3] ॥ ८ ॥

अस्मिन्नवसरे पितामहो दैवरिदमुक्त इति महावाक्यस्य सङ्गति । कस्मिन्नवसरे? पूवमिति । नास्मिन्नेव कल्पेऽपि तु पूवकल्पेष्वपीत्यथ ।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमें इस कारिकाकी वत्तिके पाठमें कुलालादिभिरनुगम्यते' इस प्रकारका पाठ छप गया था। परन्तु उस 'अनुगम्यते' पाठ कोई सङ्गति नही लगती है इसलिए वह अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'अभ्युपगम्यते' पाठ होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमे उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥ ७ ॥

नाटचवेदकी उत्पत्तिका काल——

अभिनव०—उन [प्रश्नो] मेसे उत्पत्ति [विषयक प्रश्न] का कारण [के प्रतिपादन] सहित विवेचन करना उचित होनेसे, और कालके सवत्र [अर्थात् समस्त कायमात्रके प्रति साधारण रूपसे] पूवकारण होनेसे [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] उपयुक्त कालको लेकर [अर्थात उपयुक्त कालको दिखलाते हुए] उस प्रकारके अधिकारियोका प्रतिपादन [भी] करनेकेलिए 'पूवम्' इत्यादि [अगले] पाच श्लोकोसे [इस विषयको] कहते है—

भरत०——हे विप्रो पहिले [अर्थात् इस कल्पमे और इसके पूववर्ती अन्य कल्पोमे भी] स्वायम्भुव मन्वन्तरमे [अर्थात् प्रत्येक कल्पके आदि मन्वन्तरमे] और [इस कल्पके सातवें या आज के वतमान] ववस्वत मन्वन्तरमे भी, सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके पूण रूपसे प्रारम्भ हो जाने पर [देवताओने ब्रह्माजीसे किसी मनोरञ्जनके साधनको उत्पन्न करनेकी प्राथना की यह अगले श्लोकके साथ अन्वय होगा] । ८ ।

अभिनव०—इस अवसर पर [अर्थात् अगले श्लोकोमे जिस प्रकारकी स्थिति-का वणन किया है उस प्रकारकी स्थितिके उत्पन्न होनेपर] देवताओने पितामह [अर्थात् ब्रह्मा] से यह कहा [अर्थात अगले श्लोकोमे दी हुई बात पितामह ब्रह्मासे कही] । किस अवसर पर [कहा ? यह प्रश्न है। उसका उत्तर] 'पूवम्' इससे [दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि] न केवल इस कल्पमे अपितु पूव कल्पोमे भी [सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके पूण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर देवताओने ब्रह्माजीसे आगे दी हुई क्रीडनीयक विषयक प्राथना की]।

पाठसमीक्षा——इस मूल श्लोकका पाठ ही कुछ अस्पष्ट सा है। एक बार सष्टि उत्पन्न होनेके बाद प्रलय होने तकका काल कल्प कहलाता है। प्रत्येक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्पके सबसे प्रथम मन्वन्तरका नाम 'स्वायम्भुव मन्वन्तर' होता है। वतमान कल्पके आदिके छ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह सातवा मन्वन्तर चल रहा है। इसका नाम ववस्वत मन्वन्तर' है।

१ पुरा। २ त म त्रेतायुगे तु। ज भ त्रेतायुगे च। ग त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते। ३ म च।

मन्वन्तराणि चतुर्दश तावत् कल्पो यत तद् ब्राह्म दिनम् । तत्र स्वायम्भुव नाम यत तत्[1] कल्पस्य प्रथम मन्वन्तरम् । ववस्वतमन्वन्तर तु सप्तमम् । यत्राद्य वतामहे । तत्र सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु त्रेतावसरे ब्रह्मणा नाट्यवेद प्रवर्तित । कृतयुगे तु नेति तात्पयम् ।

ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक कल्पमे प्रत्येक मन्वन्तरमे और प्रत्येक चतुर्युगीमें [एक मन्वन्तरमे ७१ चतुर्युगी होती हैं] सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद जब त्रेतायुग पूर्णरूपसे प्रारम्भ हो जाता है उस समय नाट्यकी उत्पत्ति होती है । इस कल्पके आदिके स्वायाम्भुव मन्वन्तर में भी यही हुआ था और आजके वर्तमान ववस्वत मन्वन्तरमें भी यही हुआ । यह ग्रन्थकार भरतमुनि का अभिप्राय है । परन्तु इस भावको व्यक्त करनेकेलिए इस श्लोकका वर्तमान पाठ अशक्त प्रतीत होता है । 'मनोर्वैवस्वतस्य तु' इस पाठसे वह विवक्षित अर्थ नही निकलता है । वृत्तिकार अभिनवगुप्तको भी श्लोकका यह पाठ खटका था । इस लिए उन्होने वृत्ति लिखते समय 'तु शब्दो यावच्छब्दार्थे' लिखकर पाठके दोषको दूर करनेका यत्न किया है । परन्तु उससे पूर्णरूपसे समस्याका समाधान नही होता है । ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि आदिके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें और आजके वैवस्वत मन्वन्तरमें भी त्रेतायुगके प्रारम्भ होने पर देवताओने ब्रह्माजीसे प्राथना की । अर्थात सभी कल्पो मन्वन्तरो एव चतुर्युगियोमें ऐसा ही होता है । वृत्तिकार अभिनवगुप्तने जो तु शब्द को यावत शब्दके अर्थमें माना है उससे यह अर्थ तो निकल आता है कि सब ही कल्पोमें ऐसा होता है । परन्तु उसके पूर्व यह अर्थ आना चाहिए कि स्वायम्भुव मन्वन्तरके समान ववस्वत मन्वन्तरमे भी यह होता है । इस अर्थके लानेकेलिए श्लोकमें अपि च शब्दोका प्रयोग होना आवश्यक है । उन शब्दोका प्रयोग करनपर छन्दकी दृष्टिसे मनोर्वैवस्वतस्य तु' के स्थान पर मनो ववस्वतेऽपि च' यह पाठ रखना होगा । यदि श्लोकका पाठ इस प्रकारका होता तो उससे विवक्षित अर्थ स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो सकता था । वर्तमान पाठसे उस अर्थकी प्रतीति ठीक तरहसे नही होती है । परन्तु अभिनवगुप्तने इसी पाठको मानकर इसकी टीका की है अत हमने पाठमे परिवर्तन नही किया है । पाठान्तर भी उसमें नही रखा है ।

अभिनव०—सबसे पहिले चौदह मन्वन्तरोका जो एक 'कल्प' होता है, वह [एक] 'ब्राह्मदिन' [भी कहलाता] है । उन [चौदह मन्वन्तरो] मेसे जो 'स्वायम्भुव' नामक मन्वन्तर है वह कल्पका सबसे पहिला मन्वन्तर होता है । [आजका वर्तमान] वैवस्वत मन्वन्तर तो [इस कल्पका] सातवाँ मन्वन्तर है । जिसमे आज हम लोग विद्यमान हैं । उन सब ही मन्वन्तरोमे त्रेतायुग [के आदि] मे ब्रह्माजीने नाट्यवेदको प्रवृत्त किया था । अर्थात् सतयुगमे [नाट्यवेदको प्रवृत्त] नही किया यह [इस श्लोक का] तात्पर्य है ।

पाठसमीक्षा—पूर्व सस्करणमे इस अनुच्छेदके पाठमें एक 'तत' शब्द छपनेसे रह गया था । 'तत्र स्वायम्भुव नाम यत्' इसके बाद 'तत् कल्पस्य प्रथम मन्वन्तरम' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था । 'तत' शब्दके छूट जानेसे इस पाठकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है । इसलिए हमने उचित स्थान पर 'तत' पदका समावेश करके ही सशोधित पाठ दिया है । और अपने बढ़ाए हुए 'तत' को भिन्न टाइपमें दिया है ।

---

१ तत् पद पूर्व सस्करणोमे नही है । २ 'तत् यह पद पूर्व सस्करणोमे नहीं है ।

योजना तु—स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत् कृतयुग [1]तस्मिन वृत्ते सति यत् त्रेतायुग तस्मिन् सम्यक् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतर प्रवृत्ते । न केवल तत्रैव मन्वन्तरे, तु-शब्दो यावत् शब्दार्थे । यावद्वैवस्वतस्य मनोरन्तरे समये यत् त्रेतायुग तस्मिन् प्रवृत्तेऽपि । तेनाद्यन्तनिरूपणेन सर्वेषा मध्य-मन्वन्तराणा सग्रह । तेन सर्वेषु त्रेतायुगेषु नाटचप्रवृत्तिरित्युक्त भवति ।

मन्वन्तरोका विभाग—

मनुस्मृतिमे मन्वन्तरके कालका परिमाण बतलाते हुए लिखा है कि—

यदेतत परिसख्यातमादावेव चतुर्युगम ।
एतद द्वादशसाहस्त्र देवाना युगमुच्यते ।।मनु १–७१ ।
यत् प्राग द्वादशसाहस्त्रमुदित दैविक युगम् ।
तदेकसप्ततिगुण मन्वन्तरमिहोच्यते ।। मनु १ ७९ ।

प्रत्येक कल्पके चौदह मन्वन्तरोके नाम विष्णु पुराणमें निम्न प्रकार दिए गए हैं—

मनु स्वायम्भुवो नाम मनु स्वारोचिषस्तथा ।
औत्तमि तामसिश्चैव दैवत चाक्षुषस्तथा ।।
एते मनवोऽतीता सप्तमस्तु रवे सुत ।
ववस्वतोऽय यस्यतत सप्तम वतते युगम ।।

इन श्लोकोमें आदिके सात मन्वन्तरोके नाम गिनाए हैं। आज सातवा रविसुत अर्थात वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। आगे आने वाले शेष सात मन्वन्तरोके नाम निम्न प्रकार है—

सावर्णि दक्षसावर्णि ब्रह्मसावर्ण इत्यपि ।
धमसावर्णि रुद्रस्तु सावर्णी रौच्य भौत्यवत ।।

कारिकाकी पदयोजना—

अभिनव०—[इस श्लोकमे आए हुए पदोकी अर्थकी दृष्टिसे] सङ्गति तो [इस प्रकार होती है कि]—स्वायम्भुव नामक प्रथम मन्वन्तरमे जो सतयुग उसके समाप्त हो जानेके बाद [प्रारम्भ होने वाला] जो त्रेतायुग उसके, सन्धिकालके व्यतीत हो जानेके बाद पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर [देवताओने पितामहसे प्रार्थना की]। न केवल उसी [स्वायम्भुव] मन्वन्तरमे [अपि तु सभी मन्वन्तरोमे ऐसा होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। क्योकि यहाँ प्रयुक्त हुआ] तु शब्द, [सम्पूर्ण अर्थके वाचक] यावत् शब्दके अर्थमे [लिया गया] है। [इस लिए उसका यह अर्थ होता है कि] यहाँ तक कि वैवस्वत मनुके 'अन्तर' मे अर्थात् समयमे [वैवस्वत मन्वन्तर मे] भी जो त्रेतायुग उसके प्रारम्भ होनेपर भी [देवता लोग ब्रह्माजीसे इसी प्रकार की प्रार्थना करते है]। इस लिए आदि [के स्वायम्भुव] और [आज तककी वर्तमान सृष्टिकी दृष्टिसे] अन्त [के वैवस्वत मन्वन्तरोके नामो] का कथन होनेसे उनके बीचमे आने वाले सभी मन्वन्तरोका ग्रहण हो जाता है। अत एव सभी त्रेतायुगोमे नाट्यकी प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय निकलता है।

---

१ तस्मिन् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतर प्रवृत्ते ।

भरत०—[1]ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु [2]कामलोभवशङ्गते ।
ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे[3] लोके सुखित-दु खिते ॥ ६ ॥
देव-दानव-गन्धव-[4]यक्ष-रक्षो-महोरगै ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते [5]लोकपालप्रतिष्ठिते ॥ १० ॥

पाठसमीक्षा—प्रथम सस्करणमे इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध छपा है । उससे अथका अनथ हो जाता था । स्वायम्भुवे म व तरे यत कृतयुग तस्मिन् सम्यक स व्यतिक्रमेण स्फुटतर प्रवत्त' यह पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था । इसके अनुसार यह अथ निकलता है कि स्वायम्भुव म व तरमे जो सतयुग उसके प्रारम्भ होने पर नाटचकी उत्पत्ति होती है । पर तु यह अथ ग्र थकारके अभिप्रायसे बिल्कुल उल्टा है । ग्र थकार तो यह कहना चाहते हैं कि सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके स्पष्ट रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर नाटचकी प्रवत्ति होती है । सतयुगमे नही । पर तु इस पाठसे यह अथ निकलता है कि सतयुगके प्रारम्भ होनेपर नाटचकी प्रवृत्ति होती है । अत यह पाठ अशुद्ध है । इसमें 'स्वायम्भुवे आद्य म व तरे यत कृतयुग' इसके बाद 'तस्मिन वृत्ते सति यत त्रेतायुग' इतना पाठ कीटक्षति आदिके कारण लुप्त होगया है । इसी कारण यह अथका अनथ हो रहा है । यदि तस्मिन वत्ते सति यत 'त्रेतायुग इस लुप्त पाठका समावेश कर दिया जाय तो अथकी सङ्गति ठीक तरहसे लग जाती है । इस लिए हमने सशोधित रूपमे इसका समावेश करके ही पाठ मुद्रित किया है । पर तु इस अपने बढाए हुए पाठ को भि न प्रकारके काले टाइपमे दिया है । द्वितीय सस्करण में इसी प्रकारका सशोधनकर दिया गया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें 'स्फुटतर' और 'प्रवत्त' के बीचमें प्राप्ते पाठ और होना चाहिए था । इसका कारण यह है कि मूल कारिकामें 'सम्प्राप्ते' शब्द है । उसकी व्याख्या यहाँ 'सम्यक प्राप्ते सम्प्राप्ते' यह की जा रही है । इसमें 'सम्' उपसग या 'सम्यक यह व्याख्यय पद है और 'स व्यतिक्रमेण स्फुटतर यह उसकी व्याख्या है । इसी प्रकार सम्प्राप्ते' के शेष अश 'प्राप्ते' की व्याख्या 'प्रवत्त' यह की गई है । इसलिए यहाँ भी व्याख्येय पद 'प्राप्ते' और उसकी व्याख्या 'प्रवत्त' दोनोका उल्लेख होना चाहिए । इसी दृष्टिसे हम सशोधित रूपमे 'प्राप्ते' का समावेश करके 'सम्यक' स व्यातिक्रमेण स्फुटतर 'प्राप्ते' 'प्रवत्त' इस रूपमें ही पाठ मुद्रित करना चाहते थे। पर तु इससे भी काम चल जाता है इसलिए उसे नही दिया गया है ॥ ८ ॥

नाट्योत्पत्तिकालकी परिस्थिति—

भरत०—[ग्राम्य अर्थात] शास्त्र विपरीत आचरणमे प्रवृत्त होने वाले, काम तथा लोभ मे फसे हुए, एव ईर्ष्या क्रोध आदिसे अभिभूत, लोगोके विषयमे [लोगोकेलिए । अथवा लोगोके इस प्रकारके होनेपर]— ।६।

भरत०—देव, दानव, गन्धव, यक्ष, राक्षस और महानाग आदिके द्वारा आक्रान्त, एव लोक पालोकेद्वारा प्रतिष्ठित लोकोके विषयमे [अर्थात् इस प्रकारके लोकोकेलिए अथवा लोकोके इस प्रकारके होनेपर]— ।१०।

---

१ ग त ग्राम्यधर्मे । २ त लोभमोहवशङ्गते । ३ ठ त म ईर्ष्याक्रोधाभिसम्मूढे ।
४ ग गन्धव रक्षोयक्ष । ५ ड लोकपालै ।

महेन्द्रप्रमुखै-र्देवैरुक्त किल पितामह ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य [1]श्रव्य च [2]यद् भवेत् ॥११॥

अस्मिन्नवसरे किमसावुक्त ? आह जम्बूद्वीपे कमभूमिस्थाने यो लोक सुखितो दु खितश्च[3]तद्विषय क्रीडनीयक, 'क्री०चते चित्त विक्षिप्यते विह्रियते येन' तदिच्छाम । करणे कृत्यो बाहुलकात । चित्त च इतोऽमुतश्च नीयमान मार्गेऽपि[4]विनियोज्यते ।

यदि वा कीडनाय हित कोडनीयकम् । उभयत्राज्ञातार्थे क । इदमस्माक गुडप्रच्छन्नकटुकौषधकल्प चित्तविक्षेपमात्रफल इति यन्न ज्ञायते ।

भरत०—महे द्र इत्यादि देवताओने पितामह [ब्रह्माजी] से यह प्राथना की कि—हम [पूर्वोक्त प्रकारके लोगोकेलिए] एक ऐसा मनोविनोदका साधन [क्रीडनीयक] चाहते हैं जो आखोसे देखने योग्य [दृश्य] और कानोसे सुनने योग्य [श्रव्य दोनो प्रकारका] हो । ६ ११ ।

इन श्लोकोके विषयमें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि सामा यत इस प्रकारके सप्तमी विभक्तिके प्रयोगोमें ऐसा होनेपर' यह अथ होता है । यदि यहा यही सति सप्तमी मानी जाय तो, इन श्लोकोमें वर्णित 'स्थितिके होनेपर' देवताओने पितामहसे कहा इस प्रकारका अथ होगा । परन्तु वृत्तिकारने यह अथ नही किया है । अपितु सुखित दु खित लोक विषयक क्रीडनीयक चाहते ह । इस प्रकारका अथ उ होन किया है । अर्थात उ होन यहा सति सप्तमी' न मान कर विषयत्वको सप्तम्यथ माना है ।

इन्द्रादिकी ब्रह्माजीसे प्राथना—

अभिनव०—इस अवसरपर [देवताओने] इन [पितामह] से क्या कहा । यह बतलाते है कि—कमभूमि स्थान रूप जम्बूद्वीपमे जो सुखी और दु खी लोग हैं उनके विषयमे [अर्थात् उनके लिए क्रीडनीयक—खिलौना] मनोविनोदका साधन चाहते है । [क्रीडनीयक शब्दका अथ यह है कि] जिसके द्वारा चित्तको बहलाया [या एकाग्र किया] जा सके अथवा चित्तका विनोद किया जा सके उस [क्रीडनीयक] को [हम सब] चाहते हैं । [क्रीड् विहारे भ्वादिगणका धातु है उससे] बाहुलक नियमसे करण अथमे कृत्य प्रत्यय [अर्थात अनीयर प्रत्यय] होता है । ['इसलिए क्रीडचते विक्षिप्यते विह्रियतेऽनेन' यह करण परक अर्थ होता है । इस प्रकार] इधर-उधर भटकने वाले चित्तको [क्रीडनीयकके द्वारा] सन्मागमे भी लगाया जा सकता है ।

क्रीडनीयकका दूसरा अथ—

अभिनव०—[क्रीडनीयक शब्दकी दूसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते है कि] अथवा [क्रीडनाय अर्थात्] चित्त विनोदकेलिए जो हितकारी हो वह क्रीडनीयक [कहलाता] है । दोनो पक्षोमे [अर्थात् क्रीडनीय शब्दकी इन दोनोमेसे कोई भी व्युत्पत्ति माने, दोनो अवस्थाओमे 'क्रीडनीय' शब्द बनता है । उसके बाद] अज्ञात अथ मे क प्रत्यय [होकर क्रीडनीयक शब्द बनता] है । [अज्ञाताथमे क-प्रत्ययका आशय यह है कि] क्योकि उसमे यह नही जान पडता हे कि यह गुडमे लिपटी हुई कडवी औषधिके समान हमारे चित्तको सन्मागमे लगानेकेलिए है ।

---

१. ठ म त श्राव्यम् । २ न म यद्विभो । ३ म तद्विषयकम् । ४ म नियोज्यते ।

तच्च क्रीडनीयक सुखित-दु खित एव भवति । न ह्येकान्तसुखिते काले देशे वा क्रीडया किञ्चित, नाप्येकान्तदु खिते । तेन कृतयुगे कलिप्रान्ते वा, इलावतादिनिवासिनि जने, नारके वा न क्रीडोपपत्ति । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषो दु खस्य बाहुल्यमाह ।

विक्षिप्त शब्दका उत्तम अर्थ—

इस अनुच्छेदमें या इस प्रसङ्गमें 'विक्षेप' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। सामान्य रूपसे यह शब्द चित्तकी अस्थिरताको सूचित करता है । जिस व्यक्तिका चित्त स्थिर नही होता अथवा दिमाग खराब होता है उसको साधारण भाषामें विक्षिप्त या पागल कहा जाता है । परन्तु यहा 'विक्षेप' शब्दका प्रयोग उससे बिल्कुल उल्टे अर्थमें किया गया है । योग दर्शनमे चित्त की पाँच भूमियाँ मानी गई हैं उनमें एक भूमि या चित्तकी अवस्था 'विक्षिप्तावस्था'भी है । यह विक्षिप्तावस्था शब्द पागल जैसी निन्दित दशाका नही अपितु साधारण लोगोसे उत्कृष्ट कादाचित्क एकाग्रता युक्त दशाका सूचक है । साधारणत विषयोमे प्रतिक्षण चलायमान चित्तकी अवस्थाको योग दर्शनमें 'क्षिप्तावस्था' कहा गया है । सर्वसाधारणके चित्तकी लोकमे यही क्षिप्तावस्था रहती है । क्षिप्तावस्थासे उत्कृष्ट अवस्थाको वहा 'विक्षिप्तावस्था' कहा गया है । क्षिप्ताद्विशिष्ट विक्षिप्त' यह विक्षिप्त पदकी व्युत्पत्ति की गई है । क्षिप्तकी अपेक्षा विशिष्ट या उत्कृष्ट चित्तावस्था को 'विक्षिप्तावस्था' कहा जाता है । उसमे क्षिप्तकी अपेक्षा वैशिष्ट्य उसकी कादाचित्क स्थिरता को ही बतलाया गया है । 'वैशिष्ट्य चास्थेमबहुलस्य चित्तस्य कादाचित्क स्थेमा' अर्थात अत्यन्त अस्थिर चित्तमे जो कभी कभी कुछ समयकेलिए स्थिरता उत्पन्न हो जाती है वही क्षिप्तावस्थाकी अपेक्षा विक्षिप्तावस्थाका वैशिष्ट्य है। इस प्रकार योग दर्शनमें विक्षिप्तावस्थामें जो चित्तकी एकाग्रताका समावेश किया गया है उसीके आधारपर यहा विक्षेप शब्दका प्रयोग भी उत्तम अर्थ में हुआ है ।

क्रीडनीयककी आवश्यकता किसको होती है—

अभिनव०—और वह [क्रीडनीयक] मनोविनोदका साधन [लोगोके] सुखी-दु खी होनेपर ही [अपेक्षित] होता है । क्योकि नितान्त सुखी देश या कालमे क्रीडा [मनोविनोद] की कोई आवश्यकता नही होती है । और न नितान्त दु खित [देश या काल] मे [क्रीडाका कोई लाभ होता है] । इस लिए [नितान्त सुखी] सतयुग [रूप काल] मे अथवा [एकान्त दु खित] कलियुगके अन्तिम समयमे, अथवा इलावृतादि [स्वर्गसमीपवर्ती एकान्त सुखी देश] मे रहने वाले लोगोमे, अथवा [एकान्त दु खी] नरकवासियोमे क्रीडा [मनोविनोद] का उपपादन नही किया जा सकता है । [सुखित-दु खित लोगोको ही क्रीडाकी आवश्यकता होती है । उसमे भी सुखित-दु खित पदमे हुआ] उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष समास दु खकी प्रधानताको सूचित करता है । [अर्थात् दु खबहुल अवस्थामे ही क्रीडनीयकका ठीक उपयोग होता है] ।

नाट्य गुडप्रच्छन्न औषधकल्प है—

नाट्यके देखनेमे चित्तकी एकाग्रता तो होती ही है । परन्तु उससे अज्ञात रूपसे मनुष्यको रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नही इस प्रकारकी जो शिक्षा मिलती है वह उसको सुमार्गमे भी प्रवृत्त करती है । यही नाट्यका प्रधान उद्देश्य है । इसीलिए यहाँ उसको 'गुडमे लिपटी औषधके' समान हितकारी और चित्तको सन्मार्गमें लगानेवाला बतलाया

गया है । गुडमें लिपटी हुई कडवी औषधिको देते समय रोगीको गुड खिलाना मुख्य प्रयोजन नही होता है । अपितु जिस कडवी औषधको रोगी सीधी तरह ग्रहण करना नही चाहता उसको गुडमें लपेट कर देनेसे अनायास खा लेता है और इस प्रकार अज्ञान रूपसे औषध सेवन करके रोगसे मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार नाट्यका प्रयोजन केवल मनोरञ्जन करना मात्र नही है । अपितु जिन कर्तव्य और अकर्तव्य अथवा धर्म और अधर्म विषयक शिक्षाओंको साधारण मानव वेद शास्त्र आदिके वचनोंसे ग्रहण करना नही चाहता है अथवा ग्रहण करनेमे असमर्थ रहता है नाट्यमें राम रावण आदिके चरित्रको और उनके परिणामोको देख कर रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान आचरण नही करना चाहिए इन शिक्षाओंको अज्ञात रूपसे अनायास ही ग्रहण कर लेता है और उनसे उसके जीवनमें सुधार हो जाता है । इस प्रकार नाट्य 'गुड प्रच्छन्न औषधके समान' अज्ञात रूपसे शिक्षा प्रदान करने वाला होता है यह बात क्रीडनीयक शब्दमे अज्ञातार्थमे 'क प्रत्यय' द्वारा सूचित की गई है ।

प्राचीन ब्रह्माण्डविभाग—

इस अनुच्छेदमे इलावृतादि निवासी पुरुषोकी चर्चा की गई है । और यह कहा गया है कि 'इलावृत' निवासी व्यक्ति एकान्त सुखी होते हैं इसलिए उनको क्रीडा या क्रीडनीयककी आवश्यकता अनुभव नही होती है । इस प्रसङ्गमें पृष्ठ ६६ ६७ पर जम्बूद्वीपका नामोल्लेख किया था । ये दोनो शब्द प्राचीन कालके भूगोल शास्त्रसे सम्बन्ध रखते हैं । प्राचीन भूगोल शास्त्रियोने सारे ब्रह्माण्डको सात भागोमें विभक्त किया था जिनको वे 'सप्तलोक' कहते थे । इस विभाजन में भूमण्डलके मध्यमें एक अत्यन्त विशाल एव समुन्नत पर्वतकी स्थिति मानी गई है । इस पर्वत को उन्होने सुमेरु पर्वतका नाम दिया है । लोकोके विभाजनमे इस सुमेरु पर्वतका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । समुद्रतल और उसके भी नीचे जहाँ तक सृष्टिकी स्थिति है वहासे लेकर भूमण्डलवर्ती इस सुमेरु पर्वतके सर्वोच्च शिखरपर्यन्त भू लोककी सीमा मानी जाती है । सुमेरु पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे ऊपर ध्रुवतारा तक अन्तरिक्षलोककी सीमा है । यह दूसरा लोक है । इसके ऊपर पाच लोक और हैं उन सबको मिलाकर 'स्वर्लोक' इस एक सामान्य नामसे कहा जाता है । इस प्रकार १ भूलोक, २ भुवर्लोक या अन्तरिक्ष लोक और ३ स्वर्लोक इन तीन लोको या भुवनो के रूपमें जो ब्रह्माण्डका सक्षिप्त विभाजन किया गया है वह 'त्रिभुवन' नामसे विख्यात है । और स्वर्लोकके मध्य आनेवाले पाँचो लोकोंकी गणना अलग अलग करनेपर जो ब्रह्माण्डका सात भागो में विभाजन हो जाता है उसको 'सप्तलोक' नामसे कहा जाता है ।

स्वर्लोकके अन्तर्गत पाँच लोक इस प्रकारसे स्थित है कि भूलोक और अन्तरिक्ष लोकके बाद जब स्वर्लोकोकी सीमा प्रारम्भ होती है तो उनमें सबसे पहिले महेन्द्रलोक आता है । इसे स्वर्लोकोमे सबसे पहिले होनेसे मुख्य रूपसे स्वर्लोक कहा जाता है । उसके बाद चौथा प्राजापत्य लोक आता है उसको महर्लोक नामसे कहा जाता है । उसके ऊपर जनलोक तपोलोक और सत्यलोक नामसे तीन ब्रह्मलोक आते हैं । इन सबको मिलाकर सात लोक हो जाते हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्डका सूक्ष्मतम विभाग तीन भुवनो रूपमे, और उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत विभाग सात लोकोके रूपमें किया गया है । इसी सप्तलोकके विभागको वैदिक भाषामे भू भुव, स्व, मह, जन, तप, तथा सत्य लोकके रूपमें कहा गया है । और प्रतिदिन भगवान्की इस विशाल सृष्टिका स्मरण करानेकेलिए सन्ध्याके मन्त्रोमें प्राणयाम मन्त्रके रूपमें—

'ओ भू , ओ भुव , ओ स्व , ओ मह , ओ जन , ओ तप ओ सत्यम् ।'

इस मन्त्रको रखा गया है । इन तीन भुवन या सप्तलोकोके रूपमें ब्रह्माण्डका जो विभाजन किया गया है । इसे प्राचीन भूगोल शास्त्रका भूमिका भाग अथवा विषय प्रवेश रूप प्रथम परिच्छेद कहा जा सकता है । इन तीनो भुवनो और सात लोको रूप ब्रह्माण्डके विभाजनको निम्नाङ्कित श्लोकमे बडे सुन्दर रूपसे सग्रह कर दिया गया है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोक प्राजापत्यस्ततो महान ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो, दिवि तारा , भुवि प्रजा ॥

अर्थात ब्रह्माण्डमे सबसे ऊपर जन , तप , तथा सत्य लोक नामके तीन ब्राह्म लोक है । इनके बाद प्राजापत्य लोक है जिसको महर्लोक कहा जाता है । उसके बाद द्युलोक है जिसमे तारोकी स्थिति है । इसको अन्तरिक्षलोक अथवा भुवर्लोक भी कहा जाता है । उसके नीचे भूलोक है जिसमें अन्य प्रजा रहती है ।

योग दर्शनके व्यासभाष्यमे विभूतिपादके 'भुवनज्ञान सूर्ये सयमात' इस ३ २६ व सूत्रकी व्याख्या करते हुए ब्रह्माण्डके इस विभागको निम्न प्रकार दिखलाया है—

तत्प्रस्तार सप्तलोका । तत्रावीचे प्रभति मेरुपृष्ठ यावदित्येष भूर्लोक । मेरुपृष्ठादारम्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोक । तत्पर स्वर्लोक पञ्चविध । माहेन्द्रस्तृतीयो लोक । चतुर्थ प्राजापत्यो महर्लोक । त्रिविधो ब्राह्म तद्यथा—जनलोकस्तपोलोक सत्यलोक इति ।

इस ब्रह्माण्ड विभाजनके बाद प्राचीन भूगोलशास्त्रका मुख्य विषय जिसमें भूलोकके विभाजनकी विवेचना की गई है प्रारम्भ होता है । उसके अनुसार इस भूलोकको १४ विभागोमे विभक्त किया गया है । इनमें भूमण्डल सबसे मुख्य और सबसे ऊपरका भाग है । शेष तेरह लोक इस भूमिके नीचे स्थित है । इनमे सबसे अन्तिम सीमाको 'आवीचि' कहा जाता है । आवीचिसे प्रारम्भ होने वाले छ लोक 'महानरक' इस सामान्य नामसे कहे जाते हैं । उनके अलग अलग नाम १ घन २ सलिल, ३ अनिल, ४ अनल, ५ आकाश और ६ तम कहे गए हैं । इनके दूसरे नाम क्रमश महाकाल अम्बरीष रौरव, महारौरव, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहे जाते हैं ।

इन छ नरकलोकोके बाद सात पाताललोक आते हैं । इनको १ महातल, २ रसातल ३ अतल, ४ सुतल, ५ वितल ६ तलातल और ७ पाताल नामस कहा जाता है । ये १४ लोक मुख्य रूपसे भूलोकके भाग है । इन चौदहोको मिला कर 'भूलोक कहलाता है ।

सस्कृत साहित्यमें कही तीन लोक, कही सप्तलोक, और कही चौदह लोकोका वर्णन पाया जाता है । उससे कभी कभी पाठक व्यामोहमें पड जाता है । पर इस विभाजन प्रक्रियाके भेदको यदि हृदयङ्गम कर लिया जाय तो इस प्रकारके स्थलोमें व्यामोहका अवसर न आवेगा । इसी दृष्टिसे हमने यहा इस विभाजनका उल्लेख कर दिया है । जहा तीन लोक या त्रिभुवन आदिका उल्लेख आता है वहा इस समस्त ब्रह्माण्डको भू, भुव , स्व अर्थात् भूलोक अन्तरिक्षलोक और ऊपर के पाँच स्वर्लोकोको एक साथ मिला कर स्वर्लोक इस एक नाम द्वारा ग्रहण करके त्रिलोक या त्रिभुवनके रूपमे ब्रह्माण्डका विभाजन किया गया है यह समझना चाहिए । जहाँ सात लोकोका उल्लेख किया जाता वहा स्वर्लोकके अवान्तर पाचो लोकोकी अलग अलग गणना करके और उनके साथ भूलोक तथा अन्तरिक्षलोकको मिला कर सप्तलोक माने जाते हैं यह समझना चाहिए । और जहाँ 'चतुर्दश भुवनानि' या १४ लोकोका वर्णन आता है वहाँ भूलोकसे सम्बद्ध चौदह भागोका ग्रहण किया जाता है । इस बात को ध्यानमें जमा लेनेसे लोकोकी भिन्न भिन्न सख्याको देख कर व्यामोहका अवसर उपस्थित नही होगा ।

भुमण्डलका प्राचीन विभाजन—

यहा प्रकृत ग्र थमें 'जम्बूद्वीप' और 'इलावत' प्रदेशका उल्लेख किया गया है उसका सम्ब ध पूर्वोक्त चतुदश भुवनात्मक भूलोकसे नही अपितु केवल भूमण्डल अर्थात इस पथिवी मण्डलसे है। प्राचीन भूगोलशास्त्रियोने इस भूमण्डलको सात भागोमें विभक्त किया है। जिनको सात महाद्वीप कहा जाता है। 'सप्तद्वीपा वसुमती' यह वाक्य भूमण्डलके इ ही सात विभागोको सूचित करता है। आधुनिक भूगोल शास्त्रियोने सात द्वीपोके स्थानपर पाच महाद्वीपोमें भूमण्डलका विभाजन किया है। यदि अमरीकाके उत्तरी और दक्षिणी दोनो भागोको अलग मान लिया जाय और छोटे छोटे द्वीपोका एक वगमें समावेश कर लिया जाय तो आजकी 'पञ्चद्वीपा' और प्राचीनकालकी 'सप्तद्वीपा' वसुमती दोनोका सामञ्जस्य ठीक हो जाता है।

इन सात द्वीपोमेंसे एकका नाम 'जम्बूद्वीप' है। इसी जम्बूद्वीपमे हमारा भारतवष देश है। भारत देश इस जम्बूद्वीपका दक्षिणी भाग है। यहाँके लोगोका रग इस भागके अ य देशोकी अपेक्षा काला होता है। पर तु यह भारत देश इस भूखण्डका सबसे अधिक महत्त्वपूण देश है इसलिए, और इसके निवासियोके जम्बूफल सदृश श्याम वणके आधारपर इस द्वीपका नाम 'जम्बूद्वीप' रखा गया है।

इस जम्बूद्वीपको आजके भूगोलशास्त्रमें एशिया द्वीपके नामसे पुकारा जाता है। एशिया महाद्वीपकी भूतलकी रचनाको देखनेसे विदित होता है कि इसका बीचका भाग जिसमें हिमालय पवत श्रेणी और पामीरका पठार स्थित है एशिया या जम्बूद्वीपके धरातलका सबसे ऊचा भाग है। पामीरके पठारको 'दुनियाकी छत' भी कहा जाता है। पामीरके पठारके चारो ओर पवतश्रेणिया दिखलाई देती हैं। प्राचीन भूगोलशास्त्रमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें सुमेरु पवतकी स्थिति मानी गई है। इसलिए इस नवीन 'पामीर' शब्दका 'सुमेरु' शब्दके साथ सम्ब ध प्रतीत होता है। इसके उत्तर पूवकी ओर जो ध्यानशान, अलताई और या लोनाई तथा स्तानोवोई पवतोकी तीन श्रेणिया पाई जाती है इनके समीपके प्रदेश प्राचीन भूगोलकी परिभाषामे क्रमश रमणक, हिरण्य और उत्तरकुरु नामसे कहलाते थे। 'उत्तर कुरु आजका साइबेरियाका प्रदेश प्रतीत होता है। अलताई पवतके समीपका मगोलिया आदिका प्रदेश अपने निवासियो के पीतवणके कारण 'हिरण्यदेश' के नामसे प्राचीन कालमें कहा जाता था। ध्यानशाग पवतका समीपवर्ती सिवयाग तथा एशियाई रूसका प्रदेश 'रमणक' नामसे कहा गया है। योग दशन के व्यासभाष्य [३ २६] मे तस्य' अर्थात उस सुमेरु पवतके 'उदीचिनास्त्रय पवता ' उत्तर और तीन पवत बतलाए हैं और 'तद तरेषु त्रीणि वर्षाणि रमणक हिरण्य उत्तरा कुरव ' बतलाए हैं। ये पवत और उनके समीपवर्ती प्रदेश, वतमान अल्लाई आदि पवत और मगोलिया आदि देश ही प्रतीत होते हैं।

उस सुमेरु पवतके दक्षिणकी ओर निषध हेमकूट, हिमशल नामक ती न पवतो और उनके समीपके हरिवष, किम्पुरुष तथा भारतवर्ष देशोका उल्लेख किया गया है। उसके एक ओर 'भद्राश्व' और दूसरी ओर केतुमाल' देश है। इनके बीचमें 'इलावत्त' देश स्थित है। 'सुमेरो प्राचीना भद्राश्वा माल्यवत्सीमान , प्रतीचीना केतुमाला ग धमादनसीमान , मध्ये वषमिलावत्'। इस प्रकार वतमान पामीरका मध्यभाग या उसके आस-पासका प्रदेश ही पूवकालमें कदाचित् 'इलावृत्त नामसे कहा जाता होगा। वत्तिकारने यहा जो 'इलावत प्रदेश' का उल्लेख किया है वह भौगोलिक दृष्टिसे नही अपितु स्वगका भाग मानकर किया है।

कथ ज्ञायते सुखितो दु खितो लोक इति । यत ईर्ष्याक्रोधादिभि सम्मूढोऽधि-वासितहृदय । आदिग्रहणादनुरागतृष्णादिभि । तत्र क्रमेण कारणमाह। कामवशगतत्वादीर्ष्यादयो, राज्यलोभादिना क्रोधादय । किमित्यधिकौ कामलौभौ ? यत सुखित दु खितत्वस्य कारण कामादीना हेतु ग्राम्यधमप्रवत्तत्वम् । ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धम स्वधर्माननुपालनलक्षणस्तद्विषये यतोऽसौ लोक प्रवृत्त ।

नन्वेव सति, [1]अधमबाहुल्यात सुखमेषा कुत इत्याह देव श्रीमद्विजयाविमुक्तादि रुद्रावतारै, तथा राजस-तामसहृदय जन[2]कल्प्यमान सपर्याकै-र्दानवादिभिराक्रान्ते जम्बूद्वीपे [3]गन्धर्वादिभिश्चाक्रान्ते स्ववशीक्रियमाणे ।

लोकके सुखित दु खितत्वका उपपादन—

अभिदव०—[प्रश्न—] यह कसे मालूम कि लोक सुखित-दु खित था ? [उत्तर—] क्योकि वह ईर्ष्या और क्रोध आदिसे सम्मूढ था अर्थात उसके हृदयमे ईर्ष्या क्रोधादि भरे हुए थे। उन [ईर्ष्या क्रोधादि] का कारण क्रमसे [६ वी कारिकाके द्वितीय चरणमे] कहते हैं [काम और लोभके वशीभूत होनेके कारण लोक ईर्ष्या क्रोधादिसे सम्मूढ था । कामके वशीभूत होनेसे ईर्ष्या आदि और राज्यके लोभादिसे क्रोधादि उत्पन्न होते है। [इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता हे कि ईर्ष्या और क्रोधके कारण रूपमे ही जब काम तथा लोभका ग्रहण हो जाता हे तब] काम और क्रोधको अलग [अधिक] क्यो कहा गया है ? [इसका उत्तर 'ग्राम्य धम प्रवृत्त' पदसे दिया गया है] क्योकि काम आदिका हेतु ग्राम्यधममे प्रवृत्तत्व, सुखित दु खितत्वका कारण होता है। ग्राम्य अर्थात् शास्त्रके विषयको न जानने वाले लोगोसे व्याप्त देशके योग्य जो अपने कतव्यका पालन न करने रूप धम [अर्थात् स्वभाव] उसमे क्योकि यह लोक प्रवृत्त था [इसलिए काम और लोभका अलगसे ग्रहण किया गया है] ।

अभिनव०—अच्छा ऐसा होनेपर [अर्थात काम आदिमे अत्यासक्त होनेपर] तो अधर्मकी प्रधानता होनेके कारण उनको सुख कैसे [प्राप्त] हो सकता है ? [अर्थात् सुख प्राप्त नही हो सकता है] । इस [शङ्काके निवारण] केलिए [इस बातको] कहते हैं कि—देवोसे अर्थात् विजया विमुक्तादि रुद्रके अवतारोकेद्वारा [ये अवतार तो प्रसिद्ध नही हैं] तथा राजस एव तामस हृदय वाले लोगोकेद्वारा जिनकी पूजा की जाती है इस प्रकारके दानवो आदिकेद्वारा जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेपर और गन्धर्वादिकेद्वारा भी आक्रान्त अर्थात् अपने वशीभूत किए जानेके कारण [धर्ममे प्रवृत्ति होती थी] ।

पूवसस्करणोमें इस अनुच्छेदके अ तमें देवादिभिश्चाक्रा ते' इस प्रकारका पाठ छपा था। पर तु देवोका उल्लेख पहले ही आ चुका है अत वह पुनरुक्तिमात्र हो जानेसे अशुद्ध है। मूल श्लोकमें दानवोके बाद ग धर्वोका नाम लिया गया है। अत एव व्याख्यामे भी दानवोके बाद 'ग धर्वादिभिश्चाक्रा ते' पाठ होना चाहिए था। इसलिए सशोधित रूपमें हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

---

१ म स्वधर्मबाहुल्यात् सा त्वधर्मबाहुल्यात् । २ म हृदयकल्प्यमान । ३ म. देवादिभिश्चाक्रान्ते ।

नन्वेव सत्स्वपि शुद्ध व्यामिश्रधमसाधनेषु कथ धर्म, तेषा तत्राप्रवतमानत्वात्।

सत्यम्। कि तु लोकपालै लोकपालाशसविभागसमुत्पादितै नरपतिभि प्रतिष्ठिते स्वधमसाधन प्रति नियोजिते लोके।

दृश्य श्रव्य चेति द्रष्टु श्रोतु चाहम्[1]। न तु दुभगपुरुषप्रायम्।

लोगोमे धम प्रवृत्तिका उपपादन—

अभिनव०—[प्रश्न—] अच्छा इस प्रकार [देव गन्धव तथा दानवोसे जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेके कारण] शुद्ध तथा [व्यामिश्र] अशुद्ध धमके साधनोके विद्यमान होनेपर भी धम कैसे हो सकता है? उन लोगोके [स्वभावत] उस [धर्म काय] मे प्रवृत्त न होनेके कारण [उनको धम नही हो सकता है। यह शङ्का है। उत्तर आगे है]।

व्यामिश्रधम—

इस अनुच्छेदमें 'व्यामिश्रधम का उल्लेख किया गया है। इससे मीमासकोके वदिक कम काण्डसे ज य धमका ग्रहण होता है। यज्ञादिमे होने वाली हिंसा आदिके पापसे सङ्कीर्ण होनेके कारण उसको 'व्यामिश्र' धम कहा गया है। यद्यपि मीमासकोके अनुसार यज्ञादिमें की गई हिंसा अधमजनक नही होती है। पर तु श्री पञ्चशिखाचायने 'स्वल्प सङ्कर सपरिहार सप्रत्यवमश' लिखकर और दूसरे साख्याचाय ईश्वरकृष्णने भी अपनी साख्य कारिकामे 'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त' लिख कर कमकाण्डको अविशुद्धियुक्त कहा है। इस साख्य सिद्धा तके आधारपर ही ग्र थकारने यहाँ 'व्यामिश्रधम' का उल्लेख किया है।

अभिनव०—[उत्तर—आपका कथन] ठीक है। परन्तु लोकपालो अर्थात् लोकपालोके अशोसे उत्पन्न राजाओके द्वारा प्रतिष्ठित अर्थात् अपने धमके पालनमे लोगोके नियोजित होनेपर [अर्थात राजाओके द्वारा जनताको अपने कतव्य पालनकी प्रेरणा दिए जानेके कारण उनकी प्रवृत्ति धम कार्योमे होती थी और उससे उनको धम एव सुखकी प्राप्ति होती थी। ऐसे अवसरपर आत्रेय आदि मुनियोने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हम इस प्रकारके लोगोके लिए दृश्य एव श्रव्य क्रीडनीयक चाहते है]।

अभिनव०—दृश्य और श्रव्य [का अभिप्राय यह है कि जो] देखने योग्य तथा सुनने योग्य हो। [अर्थात् जिनके विकृत रूपके कारण उनको देखनेकी इच्छा न हो अथवा जिनकी ककश ध्वनिके कारण उनकी बात सुननेकी इच्छा न हो इस प्रकारके] निकृष्ट पुरुषोसे युक्त न हो।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूव सस्करणोमें अशुद्ध छपा था। द्रष्टु श्रोतु चाहम' के बाद उनमें 'न धमसाधन शक्य च'। इतना अधिक पाठ अ स्थानमें छप गया था। इस पाठकी यहाँ कोई सङ्गति नही लगती है। 'द्रष्टु श्रोतु चाहम' का ही अथ अगले 'न तु दुभगपुरुषप्रायम्' इस वाक्यसे किया गया है। इसलिए उसके बाद इसी वाक्यको स्वाभाविक रूपसे आना चाहिए। उनके बीचमें आया हुआ न धमसाधन शक्य च' यह वाक्य यहाँ अजागल स्तनके समान व्यथ और अस्थान पाठ मात्र है। उसका उचित स्थान अगले अनुच्छेदके अन्तमें है। वही उसकी सङ्गति लगती है। अत हमने उसको यहाँसे हटाकर वहापर ही दिया है।

---

१ अत पर 'न धम साधन शक्यम् च' इति अस्थान पाठ।

'लोके' इत्येकवचनेन सवसाधारणतयैव **यद् भोग्यम्**[1]। तच्च स्पश्यादिक न भवति । दृश्य श्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्ति । असाधारणे चेर्ष्यादय एव प्रवत ते, **न धमसाधन शक्य च**।

क्रीडनीयककी दृश्य श्रव्यतका उपपादन—

इस प्रसङ्गमे इन्द्रादि देवताओने ब्रह्माजीसे दृश्य अर्थात आखोसे देखने योग्य और श्र य अर्थात कानोसे सुनने योग्य क्रीडनीयक अर्थात मनोविनोदके साधनकी प्राथना की है। स्पश्य अर्थात छूने योग्य आदि अन्य प्रकारके क्रीडनीयककी प्राथना नही की है । इसका कारण यह है कि दृश्य और श्रव्य वस्तु तो ऐसी होती है जिसका उपयोग अनेक व्यक्ति एक साथ बठकर सके । कि तु 'स्पश्य' अर्थात छूने योग्य आदि बस्तुए एक साथ अधिक व्यक्तियोके उपभोगके योग्य नही होती ह । ऐसी वस्तुओसे कुछ ही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं । सब लोग एक साथ लाभ नही उठा सकते हैं । इस लिए दृश्य श्र य क्रीडनीयकके रूपमें ही यहा ब्रह्माजीने नाटच रूप क्रीडनीयक उत्पन्न किया है । इसी बातको अगले अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'लोके' इस एकवचन [के प्रयोग] से [भरतमुनिने यह सूचित किया है कि] जो सवसाधारणतया ही उपभोगके योग्य हो [अर्थात् सब लोग एक साथ मिलकर जिसका आनन्द ले सके इस प्रकारका क्रीडनीयक होना चाहिए] । और वह [जिसका सब लोग मिल कर समान रूपसे आन द ले सकें] स्पश करने योग्य [अथवा चखने योग्य] आदि नही हो सकता हे । [क्योकि स्पृश्य आदि वस्तुका उपभोग तो एक कालमे एक ही या कम व्यक्ति ही कर सकते है] । दृश्य और श्रव्य तो [उनकी अपेक्षा] बहुतोकेलिए साधारण [रूपसे एक कालमे ही आनन्दप्रद] हो सकते है । [क्रीडनीयकके] असाधारण [अर्थात् केवल एक व्यक्तिके उपभोग योग्य] होनेपर तो [उसको न पा सकने वाले अन्य व्यक्तियोके मनमे] ईर्ष्या आदिकी ही उत्पत्ति होगी । और [उससे] धमकी सिद्धि नही हो सकती है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदमें आए हुए न धमसाधन शक्य च को हमने वहाँ अस्थान पाठ बतलाया था । वह पाठ वस्तुत इस अनुच्छेदके अ तमें आना चाहिए । यही उसकी सङ्गति लगती है । अत हमने उसको वहासे हटाकर यहाँ छापा है । और भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है। यहाँ उस पाठकी स्थिति माननेपर न केवल उस वाक्यकी साथकता ही हो जाती है । अपितु इस अनुच्छेदके अ तिम वाक्यकी पूणता भी हो जाती है । असाधारण क्रीडनीयकसे ईर्ष्या क्रोध आदि ही उत्पन्न हो सकते हैं धमकी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसलिए आत्रय आदि मुनियोने बहुत से लोग एक साथ बैठ कर जिसका आन द ले सकें इस प्रकारके 'दृश्य' तथा 'श्रव्य' क्रीडनीयककी प्राथना की है । अत 'न धमसाधन शक्य च' यह पाठ पूव अनुच्छेदमें नही अपितु इस अनुच्छेदके अ तमें जहाँ कि हमने छापा है वही होना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके आरम्भमें 'यद्योग्य' पाठ पूव सस्करणोमें छपा है । वह भी अशुद्ध है 'यद्योग्य' पाठकी यहाँ ठीक सङ्गति नहीं लगती है । 'यद् भोग्यम' की सङ्गति ठीक लगती है । अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

---

१ यद्योग्यम । २ 'न धम साधन शक्य च' यह पाठ हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है । अत काले टाइपमे दिया है।

एनदुक्त भवति कृतयुगे सत्त्वप्रधाने स्वधममात्रनिष्ठो लोको न सुख दु खे प्रति हेयोपादेयधिया प्रयस्यति । त्रेताया तु राजसत्वाद् दु ख जिहासति सुख च प्रप्सति । रजसश्चलत्वात् । [1]तदासौ शास्त्रीयेषु राजनियन्त्रणाया प्रवत्यते । तत्र च तादृगुपायो निरूप्यो येन स्वयमेषा भवति प्रवृत्ति । तच्च नाटचमेवेति ।

चकारेणेदमाह तादृशा केनचिदुपायेन [2]सम्ब ध, तत् कुरुते येन भि नेन्द्रियग्राह्ये अपि दश्य श्रव्ये एकानुसन्धानविषयत्व न विजहीत इति सामान्याभिनयकालप्राणत्व[3] प्रयोगस्य सूचितम् ।

त्रेतायुगमे नाटचकी आवश्यकताका उपपादन—

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि—सत्त्वप्रधान सतयुगमे लोग केवल अपने धमका पालन करनेमे निरत रहते हैं इस लिए सुख और दु खके प्रति हेय या उपादेय बुद्धिसे प्रयत्न नही करते है। [अर्थात वे केवल सुखकी प्राप्ति और दु खके परिहारकी दृष्टिसे कोई काम नही करते है। अपितु अपने कतव्य पालनकी दृष्टि से ही सारे काय करते है]। त्रेतायुगमे तो रजोगुणका प्राधान्य होनेसे [उस युगके लोग केवल कतव्य भावनाकी दृष्टिसे ही काय नही करते है अपितु] दु खका परित्याग करना और सुखको प्राप्त करना चाहते है। [इसी दृष्टिसे अर्थात सकाम भावसे सारे काय करते है]। इस लिए रजोगुणके चञ्चल होनेसे [शास्त्रविहित कार्योमे सामान्यत उनकी स्वय प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु] राजाके नियन्त्रणसे ही प्रवृत्त होते है। इस लिए इस विषयमे इस प्रकारका [कोई] उपाय बतलावें जिससे [राजनियन्त्रणके बिना ही शास्त्रीय व्यवहारमे] इनकी स्वय प्रवृत्ति होने लगे। और वह उपाय नाट्य ही हो सकता है। [यह प्राथना करने वाले देवताओका अभिप्राय है]।

अभिनव०—['दृश्य श्रव्य च' मे आए हुए] चकारका यह अभिप्राय है कि—इस प्रकारके किसी अनिवचनीय [नाट्य रूप धम प्रवतक] उपायके साथ [मनोविनोद के साधनका] सम्बन्ध ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे [नेत्र और श्रोत्र रूप] अलग-अलग इन्द्रियोसे गृहीत होने वाले दृश्य और श्रव्य [भाग] भी एक साथ होने वाली प्रतीतिके विषय बन जाते है। [अर्थात् नाट्यमे दृश्य एव श्रव्य दोनो भागोकी एक साथ प्रतीतिमे कोई बाधा नही होती है। यह नाट्यकी अलौकिक शक्तिका ही प्रभाव है]। इससे सामान्य रूपसे होने वाले अभिनयके काल तक ही [प्रयोग अर्थात्] नाट्यका जीवन है यह बात सूचित की है। [दृश्य और श्रव्यकी युगपत् प्रतीति और उसका रसास्वाद अभिनय-काल तक ही रहता है। बादको नही रहता है यह अभिप्राय है]।

---

१ तदसौ। २ सम्बन्धस्तु कृत। ३ म क तालप्राणत्व। ख कालप्रमाणत्व।

दृश्यमिति हृद्य, श्रव्यमिति व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिदमित्यर्थ ।

[1]ननु इन्द्रादीना क एतावता स्वार्थ ?

आह [2]लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोका ते हि स्वधर्मावस्थिता इज्यादिना नाकमाप्याययन्ति । अत एव 'इच्छाम' इति सर्वेषामकमत्यमाह । अतोऽन्योन्योपकारवृत्त्या च दैवमानुषसर्गौ [3]निरूपितौ विन्ध्यवासिप्रभृतिभि ।

अभिनव०—[कारिका मे आए हुए] 'दृश्य' इस [पद] से मनोहर [हृद्य पदका अर्थ हुआ] और 'श्रव्य' इस [पद] से शिक्षाप्रद [इस अर्थका ग्रहण होता है]। इस लिए [नाट्य रूप क्रीडनीयक] आनन्द दायक और शिक्षाप्रद [दोनो प्रकारका होता है] यह अभिप्राय [निकलता] है ।

अभिनव०—[प्रश्न—] इन्द्र आदि [देवताओ] का इसमे क्या स्वार्थ है [कि जिससे प्रेरित होकर उन्होने ब्रह्माजीसे क्रीडनीयकके लिए यह प्रार्थना की है] ?

अभिनव०—[उत्तर—] कहते है कि—लोकपालो [अर्थात उनके अंशावतार रूप राजाओ] केद्वारा नियन्त्रित [प्रतिष्ठित] जम्बूद्वीपमे जो लोग रहने वाले है वे अपने धर्मका पालन करते हुए यज्ञ आदिके द्वारा स्वर्गलोक [के निवासियो अर्थात् देवताओ] को तृप्त करते है । इसी लिए 'हम सब चाहते है' इस [बहुबचन] के [प्रयोग] द्वारा [इस विषयमे] सब देवताओ के ऐकमत्य [सहमति] को सूचित किया है । और इसी लिए विन्ध्यवासी [सांख्य शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य] आदिने देवताओ और मनुष्योकी सृष्टिको एक-दूसरेके उपकारक रूपमे प्रतिपादन किया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम संस्करणमे लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपगता लोका' इस प्रकारका पाठ छपा था । वह पाठ ठीक था । उसमें कोई अशुद्धि तो नही थी, और सङ्गति भी ठीक लग जाती थी । परन्तु द्वितीय संस्करणमे उसको परिवर्तन करके उससे अच्छा लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोका' इस प्रकार पाठ दिया गया है । यह पाठ कारिकाके 'लोकपालप्रतिष्ठिते' जम्बूद्वीपे' आदि पदोकी विभक्तिके अनुसार होनसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अत हमने भी इसी पाठको मूलमें स्थान दे दिया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके आरम्भके पाठमे भी बडौदा वाले दोनो संस्करणोके पाठमे कुछ अन्तर पाया जाता है । प्रथम संस्करणमें 'इत्यनेन त्विन्द्रादीना एतावता क स्वार्थ इत्याह इस प्रकारका पाठ छपा था । वह अशुद्ध था । उसमें 'इत्यनेन' इस भागकी सङ्गति नही लगती थी । द्वितीय संस्करणमे उसको बदल कर 'अनेन त्विन्द्रादीना' पाठ दिया गया है । पर उससे स्थितिमें कोई अन्तर नही पडता है । पूर्व पाठके समान यह पाठ भी अशुद्ध है । 'अनेन' और 'इत्यनेन' दोनो पद समानार्थक हैं । 'एतावता' पदके साथ दोनोकी पुनरुक्ति है । इस लिए दोनो ही समान रूपसे दोष ग्रस्त है । उनके स्थानपर 'ननु' से प्रश्न 'इत्याह' से उत्तर होनेसे 'नन्विन्द्रादीना क एतावता स्वार्थ इत्याह' यह पाठ उचित प्रतीत होता है । अत हमने संशोधित रूपसे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

---

१ म अनेन त्विन्द्रादीना क एतावता स्वार्थ । आह ।

२ म लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपे गता लोका ।

३. म भ सर्गावित्यपि निरूपितौ ।

अन्ये तु स्वप्रयोजनमेव क्रीडा महे द्रादीनामित्याहु । त्रेतायुगे प्रवृत्ते, एवम्भूते च लोके इत्यनेनेदमुक्त भवति यत स्वर्गेऽपि हि तदा-तदा मानुषगतराजसधर्माभिसम्बन्धचित्रितयागादियोगरजसीकृतहृदयत्वा देवा अपि क्रीडनकमभिलेषुरिति ।६ ११ ।

इस अनुच्छेदमे दव और मनुष्य सग एक दूसरेका उपकार करते हैं इसका वर्णन वि ध्यवासी प्रभृतिने किया है यह बात कही गई है । कुछ लोगोके मतमे वि ध्यवासी ईश्वर कृष्ण का नाम है । सारय कारिका उनका प्रसिद्ध ग्र थ है । उसमें—

अष्टविकल्पो दवस्तयग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चकविध समासतो भौतिक सग ॥५३॥
ऊध्व सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलत सग ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपय त ॥५४॥

इत्यादि रूपमे दवसग और मानुषसगका वर्णन तो किया गया है पर तु उनके अ यो यो पकारकी कोई चर्चा नही की गई है । इस विषयकी चर्चा गीताके निम्न श्लोकमें अवश्य पाई जाती है । जिसका भाव यह हे कि मनुष्य यज्ञकेद्वारा देवताओको स तुष्ट करते ह और देवता वृष्टि आदिकेद्वारा मनुष्योका कल्याण करते ह इस भावका प्रतिपादन करनेवाला गीतामे निम्न श्लाक पाया जाता है—

देवान भावयतानेन ते देवा भावय तु व ।
परस्पर भावय त श्रय परमवाप्स्यथ ॥ [गीता ३ ११]

वि ध्यवासी अर्थात ईश्वरकृष्णकी सारयकारिका मे दव और मानुष सगका वर्णन तो आया हे पर तु इस प्रकार अ या योपकार प्रतिपादक कोई श्लाक नही आया है ।

वि ध्यवासी कौन है—

इस प्रसङ्गमें ग्र थकारने जिन वि ध्यवासी' का उल्लेख किया है वे साख्यके कोई प्रसिद्ध आचाय हं यह बात तो निश्चित है । कि तु उनके व्यक्तित्व और काल आदिके विषयमें विद्वानोमे मतभेद पाया ज ता है । कुछ लोग जिनमे प्रसिद्ध जापानी विद्वान् 'ताकाकुस प्रमुख है सारयकारिकाके निर्माता ईश्वरकृष्णको ही वि ध्यवासी मानते हैं । दूसरे लोग उ हे ईश्वरकृष्णसे भिन्न व्यक्ति मानते हं । इनमे तत्त्वसग्रह ग्र थकेनिर्माता प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान शा तरक्षित मुरय हे । शा तरक्षितके मतमे वि ध्यवासीका मुख्य नाम रुद्रिल था । वि ध्याचलके बनोमें रहने के कारण ही वे वि यवासी कहलाते थे । उनके गुरुका नाम वाषगण्य था । तत्त्व सग्रह' मे वि ध्यवासी के परिणामवादकी अलोचनामे एक बडा सु दर व्यङ्ग्य श्लोक दिया गया हे । वह कदाचित् वसुब धुकी परमाथसप्ततिसे उद्धत किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते है कि यहाँ क्रीडा [अर्थात् क्रीडनीयककी प्राप्ति] इन्द्र आदिने अपनेलिए ही चाही हे । [मनुष्योकेलिए यह प्रार्थना नही की गई है] । 'त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर और लोगोके इस प्रकारके हो जानेपर' [देवताओने अपनेलिए क्रीडनीयककी प्राथना की] इसका यह अभिप्राय हे कि—स्वगमे भी समय समयपर मनुष्योमे रहने वाले राजस और तामस धर्मोंके सम्बन्धसे चित्रित यागादिकेद्वारा उसके रजोगुण युक्त हो जानेके कारण देवताओने भी क्रीडनीयककी कामना की थी ।

पाठसमाक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने 'इत्यनेनेदमुक्त भवति' इसके आगे केवल यत' पद बढ़ाया है । उसके बिना अथसङ्गतिमें तनिक कठिनता होती है ॥६-११॥

एव शास्त्राधिकृतो जनो नाटयेन सुख विनीयत इति प्रयोजन-प्रयोजनमुक्त्वा प्रयोजनान्तरमप्याह न वेदव्यवहार' इत्यादिना—

भरत०—न वेदव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापर वेद पञ्चम सार्ववर्णिकम् ॥१२॥

कृतयुगे सत्त्वोत्कषबलादेव सव स्वधममनुपालयति । 'अन्यत्र तु राजसत्वात शूद्रप्रकारा करणादिजातीया सर्वेऽखवगर्वाक्रान्ता वर्णनयानुवत्ति न विदधते । शास्त्र भवद्भ्य एवमादिशतीति च ते वचनमात्रेण नाद्रियन्ते । न च ते वेदशास्त्रोपदेशयोग्या । अत एवमाह—[2] **न सश्राव्या इति** । [3]सम्यगिति स्थाने, श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्ट इति **न श्राव्या**[4] ।

नाटच सार्ववर्णिक मनोरञ्जन है—

अभिनव०—इस प्रकार शास्त्रोके अधिकारी लोगो [अर्थात ब्राह्मणादि] को भी नाट्यके द्वारा [वेदादि शास्त्रोकी अपेक्षा] सरलता पूवक [कतव्याकतव्यकी] शिक्षा मिल सकती है इस, प्रयोजन [अर्थात् नाट्यशास्त्रकी रचनामे अपनी प्रवत्तिके प्रयोजन] के प्रयोजन [अर्थात् मनोविनोदके साथ शिक्षाप्रदान करने] को कह कर उसका अन्य [तृतीय] प्रयोजन भी 'न वेदव्यवहारोऽयम्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते है—

भरत०—[विधि निषिधात्मक] इस वेदके व्यवहारको [उसको समझनेमे असमथ होनेके कारण] शूद्र [कहलाने वाली] जातियोको नही सुनाना चाहिए इस लिए आप [शूद्रो सहित] सब वर्णो [के लोगो] केलिए उपयोगी पाचवें वेदकी रचना करनेकी कृपा करे । १२ ।

अभिनव०—सतयुगमे सत्त्व [गुण] की प्रधानताके कारण ही सब लोग स्वय अपने धमका पालन करते हे । अन्य युगोमे तो रजोगुणकी प्रधानता होनेके कारण [सावित्री पतित क्षत्रियसे सवर्णा स्त्रीमे उत्पादित] करण [अर्थात् वणसङ्कर जाति विशेष] आदि शूद्र जातिके सब ही लोग पूण अभिमानसे भरे हुए तीनो वर्णोका अनुगमन [अर्थात् उनकी सेवा रूप अपने कनव्यका पालन] नही करते है । और शास्त्रने आपके लिए यह [अर्थात् त्रवर्णिकोकी सेवाका] ही उपदेश दिया हे, इसको वे [स्वय पढे बिना] केवल कहने मात्रसे नहीं मानते है । और न वे वेदके उपदेश [को समझने] के योग्य है । इस लिए यह कहा है कि— उनको वेदव्यवहार 'नही सुनाना चाहिए' । ['न सश्राव्या' का अथ कहते ह कि] श्रुतिने आपको यह उपदेश दिया है यह बात उनको नही सुनानी चाहिए यह सम्यक् अर्थात् उचित ही है । [क्योकि वे उसको समझनेकी क्षमता नही रखते ह] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमे अशुद्ध छपा था । 'न सश्राव्या' के स्थानपर उसमें 'नासश्राव्या' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु इससे तो अथ एकदम उल्टा हो जाता है । इसलिए यह पाठ अशुद्ध हे । हमने उसके स्थानपर 'न सश्राव्या' पाठ प्रस्तुत किया है ।

---

१ ब अद्यत्वे तु ।　　२ अस्मदीय पाठ ।　　३ सम्यगिह ।　　०, नासश्राव्या ।

सार्ववर्णिकमिति-अधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणा व्युत्पत्तिदायीत्यथ । 'सर्वे वर्णा प्रयोजन 'विनेयत्वेन यस्य' इत्यनेन पूर्वोक्तस्य, अधुनोक्तस्य च समस्तस्योपसहार ।

अन्ये तु पौनरुक्त्य परिहर्तु माहु —सर्वेषा वर्णाना सरससुकुमारेण नयेन स्वकतव्यनिरूपण यत्र काव्ये तस्मिन् भव, तदाश्रितम । येन सर्वो जन सरससुकुमारा-नुरज्यदाशय, तदुपभोगनान्तरीयकतयैव कार्याकायज्ञानमप्युपयुक्ते क्षीरमध्यावस्थितौ-षधोपयोगवत् । तेन 'अनधिकृतानामपि सुकुमाराणा व्युत्पत्तिदायि नाटचम[३] । श्रुतशास्त्राणामपि सवादादविचलकार्याकायविवेकसिद्धिरिति ॥ १२ ॥

पाठसमीक्षा—इस पाठके विषयमे एक परिवतन हमने और भी किया है। वह यह है कि पूव सस्करणोमे यह पाठ इस अनुच्छेदके अ त मे दिया गया था। पर तु हमने उसे अत एवमाह' के बाद रखा है। वहाँ पर 'न सश्रा या' व्याख्येय पदके रूपमें आया है। उसके बाद 'सम्यगिति स्थाने श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्टमिति न श्राव्या' यह उसकी व्याख्या है। इस व्याख्याके पूव व्याख्येय पदके रूपमे 'न सश्राव्या' इसका दिया जाना आवश्यक है। अत हमने उसको यथा स्थान समाविष्ट करके ही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—'सावर्वाणक' इससे [वेद पढ़नेके] अधिकारी [द्विजाति] तथा अनधिकारी [शूद्र] दोनो प्रकारके [सुकुमारो] म दमतियो केलिए शिक्षाप्रद [हो] यह अभिप्राय है। सब वण शिक्षणीय रूपमे जिसके प्रयोजन ह [वह सावर्वाणक हुआ]। इससे पहिले कहे हुए [द्विजातियोके शिक्षण] और अब कहे हुए [शूद्रादिके शिक्षण] सबका उपसहार किया गया है। [अर्थात शास्त्रोके अधिकारी और अनधिकारी सबको ही नाट्यकेद्वारा शिक्षा प्राप्त होती है यह बात पहिले भी कही जा चुकी है और यहाँ भी उपसहार रूपमे कही गई है]।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस] पुनरुक्तिका परिहार करनेके लिए ['सावर्वाणकम्' पदकी व्याख्या इस प्रकार करते है कि—] सरस एव सुकुमार मागसे जिस काव्य [नाटक] मे सब वर्णोके अपने अपने कलव्यका निरूपण किया जाय, उसमे होने वाला, उसके आश्रित [अर्थात् उसके आधारपर जिसकी रचना हुई हे वह नाट्यवेद सावर्वाणक हुआ]। इसके द्वारा सरस सुकुमार और अनुरक्त हृदयसे युक्त सब लोग उस [नाट्य रस] के उपभोगके साथ साथ ही दूधमे पडी हुई औषधके उपयोगके समान कलव्याकतव्यके ज्ञानको भी प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार [वेद शास्त्रादिके] अनधिकारियोको भी शिक्षा देने वाला [यह] नाट्य है। और उसकेद्वारा शास्त्रोके जानने वालोको भी [अपने] शास्त्रीय ज्ञानकी सम्पुष्टि हो जानेसे उनका कतव्याकतव्यका ज्ञान सुदृढ हो जाता है ॥१२॥

---

१ म० विना यत्नेन प्रयस्यति । अनेन । २ भ० अधिकृतानामनधिकृतानामपि ।
३ म० नाटद्य श्रुत । ४ ब० प्र० अश्रुतशास्त्राणामपि ।

भरत०—एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराज विसृज्य च ।
[1]सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्[2] ।। १३ ।।

एवमस्त्विति । तानिति **देवान परामृशति** । देवराजमिति **चेन्द्र परामृशति** । 'तानुक्त्वा' तान विसज्य । देवराज विसज्येति **च** प्राधान्यादुपादानम्[3] । योगमिति येन सववेदाना युगपदवभासो भवति । तत्त्वविदिति समस्तलोकवेदज्ञ इत्यथ ।। १३ ।।

प्रक्षिप्त भरत०—[नेमे वेदा यत श्राव्या स्त्री शूद्राद्यासु जातिषु ।
वेदमन्यत् तत स्रक्ष्ये सवश्राव्य तु पञ्चमम्] ।।

नाटचवेदके रचनाथ योगसाधन—

यहा तक सक्षिप्त रूपमें नाटचवेद क्यो उत्पन्न हुआ और किसके लिए उत्पन्न हुआ इन प्रथम दो प्रश्नोका उत्तर देनेके बाद अब अगले पाच श्लोको [१३ १७ तक] मे, 'कत्यङ्ग' इस नाट्यके कितने अङ्ग ह इस तृतीय प्रश्न उत्तर देनेका प्रयत्न करेगे ।

भरत०— ऐसा ही हो [अर्थात् जसा आप लोग चाहते हैं उसी प्रकार मैं सब वर्णों के उपयोगाथ सावर्वर्णिक पञ्चमवेदकी रचनाका यत्न करूँगा] ऐसा उन [देवताओ] से कह कर [अर्थात उनको कुछ कालके लिए विदा करके] तथा देवराज [इन्द्र] को भी विदा करके तत्त्वको जानने वाले [ब्रह्मा] ने [वेदोसे नाटचके विविध अङ्गोको प्राप्त करनेकेलिए] समाधि लगा कर [योगमास्थाय] चारो वेदोका स्मरण किया । १३ ।

अभिनव०—'एवमस्तु' ऐसा ही हो [यह श्लोकका प्रतीक दिया गया हे] 'तान' इस पदसे देवताओ ग्रहण होता है । और 'देवराज' इस पदसे इन्द्रका ग्रहण होता हे । 'तान् उक्त्वा' उनको कह कर [का अथ] उनको विदा कर के [यह होता है] । [देवताओको विदा करनेके साथ ही इन्द्रकी विदाई भी यद्यपि स्वय ही आ जाती है फिर भी उनकी] प्रधानताके कारण 'देवराजको विदा करके' यह अलगसे ग्रहण किया गया ह । [उससे इन्द्रके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया ह] । समाधि लगा कर [वेदोको स्मरण किया] यह [योगका आश्रय] इसलिए [लिया गया ह] जिससे सब वेदोका एक साथ भान हो सके । [श्लोकमे आए हुए] 'तत्त्ववित्' इस [पद] से समस्त लोक और वेदको जानने वाले यह अथ निकलता है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी वृत्ति बहुत छोटी सी है । परन्तु उसका पाठ जिस रूपमे पूव सस्करणोमें छपा है वह पाठककेलिए बडा दुरूह और कष्टदायक प्रतीत होता है । इसका कारण उसमें बीच बीचके अपेक्षित पदोकी अनुपस्थिति है । 'एवमस्त्विति तानिति । देवराजमिति ।' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा है । उससे अथ की सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है । इसमेंसे 'एवमस्त्विति' यह तो श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए वह ठीक है । पर तानिति' के बाद देवान परामृशति' और देवराजमिति' के बाद चेन्द्र परामृशति' यह पाठ अपेक्षित है । इसी प्रकार 'देवराज विसृज्येति' के बाद च' पद भी होना ही चाहिए उसके बिना अथ सङ्गति नही लगती है । उसका समावेश कर देने पर अथ हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है । अत एव हमने यथा स्थान उन पदोका समावेश करके ही पाठको प्रस्तुत किया है । परन्तु अपना बढाया हुआ पाठ होनके कारण उसको काले टाइपमें मुद्रित किया है ।१३।

१ ड सस्मारेव तदा ब्रह्मा । २ द त स. योगवित् । ३. प्राधान्यादुक्तम् । इन्द्रादीन् विसृज्येत्यथ. ।

तत कि चकार इत्याह श्लोकत्रयेण 'धम्यम' इत्यादिना—

भरत०—[1]धर्म्यमर्थ्य यशस्य च [2]सोपदेश्य ससग्रहम् ।
भविष्यतश्च[3]लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्[4] ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्प[5]प्रवर्तकम्[6] ।
नाटचाख्य[7]पञ्चम वेद सेतिहास करोम्यहम् ॥ १५ ॥
[8]एव सकल्प्य भगवान् सववेदाननुस्मरन्[9] ।
नाटचवेद ततश्चके चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

एवमिति 'धम्यम्' इत्यादि युगलोक्तमर्थ[10]सकल्प्य । चतुर्वेदस्मरणेन हेतुना । 'तत' इति चतुर्भ्यो नाटचवेद चक्रे । हेतौ शना ।

भरतमुनिका सङ्कल्प—

अभिनव०—उसके बाद [भरतमुनिने] क्या किया इस बातको 'धर्म्यम्' इत्यादि [अगले १४-१६ तकके] तीन श्लोकोके द्वारा कहते है—

भरत०—धम [अर्थात् कतव्याकतव्यका उपदेश करने] मे साधु [अर्थात् धम आदि का भली प्रकार उपदेश देने वाले । धम शब्दसे 'तत्र साधु' अष्टाध्यायी ४ ४ ९८ सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर 'धम्यम्' पद बना है । इसी प्रकार मनोहर होनेके कारण सब लोगोकेद्वारा अथनीय] चाहने योग्य, [अपनी इस मनोहरताकेलिए 'यशस्य' अर्थात्] सवत्र प्रसिद्ध, उपदेश्य [अर्थात् चतुवगके उपायो] से युक्त और आगे आने वाले लोगोको [किए जाने वाले] समस्त कर्मों [के शुभाशुभ फलो] को शीघ्र ही दिखलाने वाले—

भरत०—समस्त शास्त्रोके [प्रतिपाद्य धर्मादि रूप] अर्थोंसे परिपूर्ण, [नाटचमे सब कलाओका उपयोग होनेके कारण] सब प्रकारकी कलाओके प्रवतक, एव [दशरूपकके पूवकल्प परम्परागत] इतिहाससे युक्त नाटचवेद नामक पाचवें वेदको मैं बनाऊगा—

भरत०—इस प्रकारका सङ्कल्प करके और सब वेदोको स्मरण करके [भगवान अर्थात्] ब्रह्माने चारो वेदोसे जिसके अङ्गोकी उत्पत्ति हुई है इस प्रकारके नाटचवेदको उन [चारो वेदो] के आधारपर बनाया । १४ १६ ।

अभिनव०—इस प्रकारका अर्थात् 'धम्यम्' इत्यादि [१४ वे तथा १५ वें] दो श्लोकोमे कही हुई बातका सङ्कल्प करके । चारो वेदोका स्मरण करनेके कारण । उनसे अर्थात् चारो वेदोसे [अङ्गोको लेकर ब्रह्माने पाँचवें वेद रूप] नाट्यवेदकी रचना की । [यह बात] हेतु [अथ] मे [प्रयुक्त] शतृ प्रत्ययसे [अर्थात् शतृ प्रत्ययान्त 'अनुस्मरन्' पदसे सूचित होती है] ।

---

१ ङ धमकामाथ सयुक्तम । २ ङ म त सोपदेशम ।
३ न कालस्य । ठ लोकेऽस्य । ४ प्र दशनम । य कमप्रदशकम ।
५ न शील । ग शिष्य । ६ य प्रदशकम । प्र समन्वितम । त प्रवेशकम ।
७ नाटयसज्ञमिम वेदम । ८ न त य प्रोक्त्वा तु भगवानेव वेदान सर्वान् । प स्मृत्वा तु भगवानेव । ग सङ्कल्प्य भगवानेव । ङ तत स भगवान् ब्रह्मा वेदान् सर्वाननुस्मरन् ।
९ ज म त सर्वान् वेदान् । १० युगलकोक्तम् ।

धर्म्यमिति धर्मे साधूपदेशाय । एवमर्थेऽपि ।

अन्ये तु धर्मार्थाभ्यामनपेतम् । यश प्रयोजनमस्येति ।

अत्र व्याख्यानद्वये पुरुषार्थान्तरासग्रह[1] स्यात् । नाटयोत्पत्तिगर्भाधानकल्पे चास्मिन् सङ्कल्पे यत् त्यक्त तत् त्यक्तमेव । यशसश्च धमफलत्वात् पृथगुपादान किमथम् । [2]सोपदेश्यमित्यादेश्च पौनरुक्त्यम ।

जसा कि इस प्रकरणके प्रारम्भमे अर्थात १४ वी कारिकाकी अवतरणिकामें कहा गया था वृत्तिकारने १४ १६ तक तीन श्लोकोकी व्याख्या एक साथ मिला कर की है। इन तीनो श्लोकोमे ब्रह्माके नाट्यवेदकी रचना विषयक सङ्कल्पका निर्देश किया गया है। पहिले दो श्लोकोमें सङ्कल्पका स्वरूप है। और तीसरे श्लोकमें सङ्कल्प करके नाटच वेदकी रचनाकी चर्चा की गई है। इसलिए वृत्तिकार अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तीसरे श्लोकके भावका उल्लेख गत अनुच्छेदमे किया था। अब वे १४ १६ तक तीनो श्लोकोकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

धम्म अर्थ्यं पदोकी दो पूवव्याख्याए—

अभिनव०—'धर्म्यम्' अर्थात धमके विषयमे उपदेश देनेमे समर्थ [साधु, 'धर्म्य' कहलाता है।] इसी प्रकार अथके विषयमे भी [उपदेश देनेमे साधु-समथ-'अर्थ्य' कहलाता है। अर्थात् 'धम' एव 'अथ' शब्दो से 'तत्र साधु' ४-४ ९८ इस सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर इन शब्दो की सिद्धि होती है यह एक व्याख्याकार का मत है] ।

दूसरे [व्याख्याकार] तो [इन पदोकी सिद्धिमे 'तत्र साधु' सूत्रसे यत प्रत्यय न मान कर 'धमपथ्यथन्यायादनपेते' ४-४-९२ सूत्रसे यत प्रत्यय मानकर उनका अथ जो] धम और अथसे अनपेत [अर्थात् रहित न हो —युक्त हो— वह] 'धम्य' और 'अथ्य' [कहलाता] है। और यश जिसका प्रयोजन है [वह 'यशस्य' है यह अथ करते है] ।

उन दोनो पूव व्याख्याओका खण्डन—

इन अनुच्छेदोमें वत्तिकारने पूववर्ती कि ही दो टीकाकारोद्वारा की गई 'धर्म्यम' अथ्यम् और यशस्यम् इन तीन पदोकी व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु वे व्याख्याए उनको रुचिकर नही हैं। इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे उन दोनोका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—इन दोनो व्याख्याओमे [धम और अथसे भिन्न काम तथा मोक्ष रूप] अन्य पुरुषार्थोका समावेश नही होता है। और नाट्योत्पत्तिके गर्भाधान सदृश इस सङ्कल्पमे जो [अङ्ग बननेसे] रह गया सो रह ही गया [समझो। फिर कभी उसका समावेश नही हो सकता है। इसलिए काम मोक्षका समावेश न होना इन व्याख्याओका पहिला दोष है। दूसरा दोष यह है कि] यशके धर्मका फल होनेसे उसका अलग-से ग्रहण किसलिए किया गया है ? [अर्थात् व्यर्थ है। और तीसरा दोष यह है कि— धमके उपदेशमे साधु इस व्याख्यामे ही उपदेशका समावेश हो जानेसे] 'सोपदेश' इत्यादि [पदो] की पुनरुक्ति हो जाती है। [अत एव तीन दोषोसे ग्रस्त होनेसे ये दोनो व्याख्याए ठीक नही है] ।

---

१ म पुरुषार्थान्तरसग्रह । भ अपरपुरुषार्थासग्रह । २ सोपदेशम् ।

तस्मादयमत्राथ —धमशब्देन चत्वारोऽपि पुरुषार्था । तेषु साधु साधकम् । ननु कि साक्षात् ? नेत्याह सोपदेश्यम । सह उपदिश्यमानरुपाय यद्वतते । चतुवर्गोपाय [1]प्रदशकमित्यथ ।

ननु वेदादयोऽप्येवम् । नतत् । [2]सम्यग् ग्रहण सग्रह । यत पर निर्विशङ्क प्रतीत्यथ प्रमाणान्तर नाभ्यथ्यते । तच्च साक्षात्काररूपमेव । यदाहु —'सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा' इति । तेन सहेति ससग्रहम ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम सस्करणमे पुरुषार्था तरसग्रह' यह पाठ छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । यहाँ कहना तो यह है कि इन व्याख्याओमें धम और अथका ही ग्रहण हो सकता है काम और मोक्ष रूप अन्य पुरुषार्थोका सग्रह नही होता है । परन्तु प्रथम सस्करणमें मुद्रित पाठसे 'अन्य पुरुषार्थोंका सग्रह हो जाता है' यह विपरीत अथ निकलता है । अत वह पाठ अशुद्ध है । हमने उसको सशोधित करके पुरुषार्थान्तरासग्रह पाठ दिया है । द्वितीय सस्करणमें इसके स्थानपर 'अपरपुरुषाथासग्रह' पाठ दिया गया है ।

सिद्धान्तव्याख्यामे 'धम्य' पदका अथ—

अभिनव०—इसलिए इसका यह अथ है कि—धम शब्दसे चारो पुरुषाथ [गृहीत होते है] । उनमे साधु अर्थात् उनका साधक [धम्य हुआ । अर्थात् धमपदको चारो पुरुषार्थोंका उपलक्षण मानना चाहिए । इसपर शङ्का होती है कि—] क्या साक्षात् ? [रूपसे चारो पुरुषार्थोंका साधक अभिप्रेत है । इसका उत्तर करते है कि—] नही, इसीलिए [कारिकामे] 'सोपदेश्यम्' कहा हे । जो उपदिश्यमान उपायो [अर्थात् चतुवगके साधनो] केसाथ विद्यमान है । अर्थात् चतुवगके उपायोको बतलाने वाला है ।

सिद्धान्तव्याख्यामे ससग्रहम' पदका उपयोग—

अभिनव०—अच्छा तो वेद आदि भी तो इसी प्रकारके है । [अर्थात् वेद शास्त्र आदिसे भी तो चतुवगके साधनोका ज्ञान होता है । उनसे इस नाट्यमे कोई विशेषता तो नही हुई । इसका उत्तर देते है कि—] यह बात ठीक नही हे । [इसी बातके बोधनकेलिए कारिकामे 'ससग्रहम् पद रखा गया है । उसका अथ] भली प्रकारसे ग्रहण 'सग्रह' [कहलाता] है । अर्थात् जिसके आगे निश्चित प्रतीतिकेलिए अन्य किसी प्रमाणकी आवश्यकता न हो । और वह साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही होता है । जसा कि [न्यायदशनके 'वात्स्यायन भाष्य' मे] कहा है कि—'सब ही प्रमाकी परिसमाप्ति प्रत्यक्ष मे होती है' । उस [साक्षात्कारात्मक ज्ञान] के साथ, यह 'ससग्रह' [शब्दका अथ] है ।

प्रमा या यथाथ ज्ञान दो प्रकारके माने गए हैं । एक अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक और दूसरा परोक्ष । प्रत्यक्ष प्रमाणसे जो ज्ञान होता है वह 'अपरोक्ष और, शब्द अनुमान आदि अन्य प्रमाणोसे होनेवाला ज्ञान 'परोक्ष' ज्ञान कहलाता है । परोक्ष ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यकी आकाक्षा तृप्त नही होती है । वह अथको स्वय प्रत्यक्ष करना चाहता है । प्रत्यक्ष हो जानेपर जिज्ञासा पूण हो जाती है । इसलिए समस्त ज्ञानोमे प्रत्यक्ष ज्ञानको सवश्रेष्ठ ज्ञान कहा है । इस बातका विवेचन न्यायदशनके 'वात्स्यायनभाष्य' में इस प्रकार किया गया है—

---

१ प्रवतकम । २ सग्रह सम्यग् ग्रह । ग्रहण प्रमाण तेन युक्तम् ।

एवमपि प्रत्यक्षण 'सदाचारयज्ञादिदशनात् कोऽस्य भेद ?

आह—सर्वेषा कमणा क्रियमाणाना अनु—पश्चादचिरेणव कालेन दशकम् । पञ्चषादिभिरेव दिवस शुभाशुभकम तत्फलसम्बन्धसाक्षात्कारो यत्रेत्यथ ।

[२] सा चेय प्रमिति प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमथमाप्तोपदेशात प्रतिपद्यमानो लिङ्गदशने नापि बुभुत्सते । लिङ्गदशनानुमित च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते । प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवतते । पूर्वोक्तमुदाहरण अग्निरिति' ।

अर्थात सब प्रकारकी प्रमितिका पयवसान प्रत्यक्षमें होता है । क्योकि आप्तोपदेश अर्थात शब्द प्रमाणसे गृहीत अग्नि आदि अथको मनुष्य अनुमानसे भी जाननेकी इच्छा करता है । अनुमानकेद्वारा ज्ञात अथको भी प्रत्यक्षसे देखना चाहता है । अथका प्रत्यक्ष हो जानेके बाद जिज्ञासा समाप्त हो जाती है । पहिले कहे हुए अग्निको ही इसका उदाहरण समझना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है । अथकी दृष्टिसे वह पाठ ठीक ही है । पर तु ग्र थकारने उसे प्रमाण रूपसे वात्स्यायन भाष्यसे उद्धृत किया है । वहा यह पक्ति इस रूपमें नही अपितु सा चेय प्रमिति प्रत्यक्षपरा' इस रूपमें पाई जाती है । उसी रूपमें उद्धृत की जाती तो ठीक था । पर तु हमन यहाँ उस पूवपाठमें कोई परिवतन नही किया है । क्योकि अथकी दृष्टिसे वह अशुद्ध नही है ।

सिद्धा तव्याख्यामे 'सवकर्मानुदशकम्' पदका उपयोग—

इस अनुच्छेदमें वत्तिकारने वेदादिसे नाटयवेदकी यह विशेषता बतलाई है कि वेद आदिसे परोक्ष ज्ञान होता है । नाटयसे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है । इसपर यह शङ्का होती हे कि प्रत्यक्ष रूपमें सदाचार यज्ञादिको देख कर भी धमका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । फिर नाटयकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमें यह दगे कि प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई देने वाले यज्ञादिका फल उस समय प्रत्यक्ष नही होता है अपितु प्राय ज मा तरमें या काला तरमें मिलता है । इसलिए उस कम तथा उसके फलका कारण कायभाव सम्ब ध गृहीत नही होता है । नाटकमें थोडे समयके भीतर ही उन कर्मो और उनके फलोका सम्ब ध गृहीत हो जाता है । इसलिए यह अधिक श्रद्धोत्पादक एव शिक्षादायक होता है ।

अभिनव०—[प्रश्न]—इस प्रकार भी प्रत्यक्ष रूपसे सदाचार भूत यज्ञादिके देखनेसे इस [नाट्य] का क्या भेद रहता है ? [यह प्रश्न है] ।

अभिनव०—[उत्तर—उसी भेदको श्लोकमे 'सवकर्मानुदशकम्' पदसे दिखलाया गया है । इस अन्तरको] कहते है कि—किए जानेवाले समस्त कर्मोंके बाद, शीघ्र ही उनके फलको दिखलानेवाले [नाट्य] को । [अर्थात्] पाच छ आदि दिनोमे ही शुभाशुभ कम और उनके फलके सम्बन्धका साक्षात्कार जिसमे हो जाता है । [इस प्रकारका नाट्य है । यज्ञादिके प्रत्यक्ष देखनेसे यह बात नही होती हे] ।

इस अनुच्छेदमे वत्तिकारने प्रत्यक्ष रूपसे दीखने वाले यज्ञादि कर्मोंकी अपेक्षा नाटयमे दीखने वाले यज्ञादि या अ य कर्मोंकी यह विशेषता बतलाई है कि लौकिक यज्ञादिका फल तुर त नही दीखता है इसलिए उनसे निर्दिष्ट फल प्राप्त होता भी है या नही यह विश्वास देखने वालेको नही होता है । नाटकका अभिनय पाच छ घटोमें ही समाप्त हो जाता है । इसलिए उसमे किए

१ सदाचारादि । २ न्यायदशन वात्स्यायन भाष्य १-१-३ ।

कस्य इत्याह—यो य कश्चिदस्मात क्षणादूर्ध्व भविष्यति लोकस्तस्य। उपदेश्यस्य इत्यथ ।

[1]अनुकार्याभिप्रायेणात्र 'भविष्यत' इति कैश्चिद् व्यारयातम् । न च शब्देन भूतवतमानग्रहणम् । इत्यधरोत्तरीभूतम् । वत्तराजर्षिवशकीतनादे हि प्रधानतया स्वकण्ठेनामिधान युक्त, न तु भविष्यत । इत्यास्तामेतत् ।

तस्माद व्युत्पाद्याभिप्रायेणैव लोकस्येति व्याख्येयम् ।

जाने वाले कर्मोंका फल तुर त दखनेको मिल जाता है इसलिए प्रत्यक्ष देखे यज्ञादिकी अपेक्षा वह अधिक शिक्षाप्रद एव विश्वासोत्पादक होता है। इसमें पाच छ दिनोंमें फलका प्रत्यक्ष हो जाता है यह जो कहा है वह नाटच रचनाकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे कहा है। रामादिके जीवनव्यापी वत्तको नाटकमे इस प्रकार दिखलाया जाता है कि वह सारा वत्तात पाच छ दिनका सा प्रतीत होता है।

'भविष्यत लोकस्य' पद सामाजिकपरक है—

इस अनुच्छेदमे नाटचको 'सवकर्मानुदशक' कहा है। वह किसको कम और उनके फलके सम्ब धको दिखलावेगा इसको अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—किसको [कम और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा] यह बतलाते हैं कि—जो कोई लोक इस क्षण [अर्थात् नाट्य-रचना] के बाद होगे उनको अर्थात् उपदेश्य [सामाजिक] को दिखलावेगा।

इस पदकी अनुकायपरक व्याख्याका खण्डन—

पूववर्ती किसी टीकाकारने 'भविष्यतश्च लोकस्य' की व्याख्या 'अनुकाय' राजा आदिके रूपमे की है। अर्थात आगे होने वाले जिन राजादिके चरित्रोके अभिनय किए जावेंगे उनके कर्मों और उनके फलके सम्ब धको दिखलावेगा यह उनका अभिप्राय है। पर तु वत्तिकार 'उपदेश्य' अर्थात् सामाजिकको कम और फलके सम्ब धका प्रत्यक्ष करावेगा इस प्रकारका अथ करते हैं। और यही ठीक भी है। इसी बातको वे अगले अनुच्छेदमे इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—किन्ही [पूर्ववर्ती टीकाकारो] ने 'भविष्यत' आगे होनेवाले इस [षष्ठ्यन्त पद] की व्याख्या अनुकायके अभिप्रायसे की है। [कि तु वह ठीक नही है क्योकि] भूत और वर्तमान [अनुकार्यो अर्थात् रामादि] का [तो यहा] शब्दसे ग्रहण नही किया गया है [केवल भविष्य अनुकार्योंकी चर्चा कर दी गई है।] इससे तो यह सब उलट-पुलट होगया है। [क्योकि] भूतकालके राजर्षियोके वशादिका कीतन प्रधान होनेसे शब्दकेद्वारा कहा जाना चाहिए था, न कि आगे होने वालोका। इसलिए [अनुकायके अभिप्रायसे की गई यह व्याख्या ठीक नही है] उसे जाने दो।

अभिनव०—इसलिए होने वाले लोकको दिखलावेगा इस प्रकार 'लोकस्य' [को कर्म षष्ठी मान कर उसकी] उपदेश्य [सामाजिक] परक व्याख्या ही करनी चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'कैश्चित' पद हमने बढाया है। बडोदावाले दोनो सस्करणोमें वह मुद्रित नही हुआ है। पर उसके बिना अथकी सङ्गति ठीक तरहसे नही लगती है। इसलिए उसका होना आवश्यक है ऐसा मानकर हमने उसका समावेश कर दिया है।

---

१ अनुकार्याश्रयत्वेनात्र ।

एवमपि तत्रैव केन लोक प्रवत्यत इत्याह—'अथ्यम्' । हृद्यतया सवजनानामपि नानाधिकारत्वेनाभिलषणीयमित्यथ । ननु प्रथममज्ञातपरमार्थे कथमभिलषणम् ? आह- 'यशस्यम्' । सवत्र हृद्यतया प्रथितम । १४ ।

न केवल प्रधानपुरुषार्थोपायदर्शक यावत् सर्वेषा शास्त्राणा कलाप्रधानाना येऽर्था गीतनृत्तवाद्यादयस्तै सम्पन्न युक्तम् । तथा सर्वाणि शिल्पानि चित्र-पुस्तादीनि प्रवतयति [1]स्वोपयोगित्वेन आक्षिपति इति । एवमेकेन यत्नेन समस्तवस्तुसिद्धि-यतो भवति तन्नाट्यमित्युक्त भवति ।

अथ्यम और यशस्यम पदोकी सिद्धान्त व्याख्या—

इस समय १४वें श्लोककी व्याख्या चल रही है । इस व्याख्याका आरम्भ अन्य टीकाकारो द्वारा की गई व्याख्याके खण्डनसे हुआ है । अन्य टीकाकारोने श्लोकके 'धम्यम, 'अथ्यम' तथा 'यशस्यम' पदोकी जो व्याख्या की थी उसका खण्डन करके वत्तिकारने 'तस्मादयमत्राथ' से अपनी व्याख्या प्रारम्भ की है । इसमें यहा तक श्लोकके अथ्यम' तथा 'यशस्यम' इन दो पदोको छोड कर शेष सब पदोकी सपदकृत्य व्याख्या हो गई है । अब उसी शलीसे वत्तिकार अगले अनुच्छेदमें अथ्यम' तथा यशस्यम' पदोकी व्याख्या करते हुए उनका पदकृत्य अर्थात विशेष प्रयोजन या उपयोगिता दिखलाते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह सब होनेपर भी लोक उसीमे [अर्थात् नाट्यमे] किस कारणसे प्रवृत्त होता है ? इस [शङ्काकी निवृत्ति] केलिए कहते है—क्योकि [वह] 'अथ्य' है । अर्थात् मनोहर होनेके कारण [शास्त्रोके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण आदि तथा शास्त्रोके अनधिकारी अशिक्षित शूद्र आदि] भिन्न भिन्न प्रकारके सभी लोगोके लिए [नाट्य] अभिलषणीय है । [इसीलिए सब लोगो की उसमे प्रवृत्ति होती है । इस पर यह शङ्का होती है कि नाट्य वस्तुत मनोहर होता है यह बात तो उसके देखने के बाद विदित होती है ।] किन्तु पहिले [उसकी वास्तविकता] जाने बिना, अभि-लषणीय कसे हो सकता है ? [इस शङ्काका उत्तर देनेकेलिए] कहते है कि—'यशस्य' अर्थात अपनी इस मनोहरताकेलिए [नाट्य] सर्वत्र प्रसिद्ध है । [उसकी इस प्रसिद्धिके कारण जिन लोगोने उसको कभी नही देखा है उनकी भी उसको देखनेकी इच्छा होती है । नाट्य उनकेलिए भी अभिलषणीय होता है] । १४ ।

यहा तक १४वें श्लोकको व्याख्या करके अब १५वें श्लोकको व्याख्या आरम्भ करते हैं—

सवशास्त्राथसम्पन्नम —

अभिनव०—[नाट्य] न केवल मुख्य पुरुषार्थ [अर्थात् मुख्य रूपसे चारो पुरुषार्थो] के उपायोका ही प्रदशक है अपितु कलाप्रधान सभी शास्त्रोके जो प्रतिपाद्य अर्थ गीत, नृत्त, वाद्यादि हैं उनसे भी सम्पन्न अर्थात् युक्त है । और 'चित्रकला' तथा [पुतली खिलौने गुडिया आदि बनानेकी] 'पुस्त-कला' आदिका [भी] प्रवर्तक है । अर्थात् अपने उपयोगमे आनेके कारण उनका भी आक्षेप करा लेता है । इस प्रकार एक ही यत्नसे समस्त वस्तुओकी सिद्धि जिसके द्वारा होती है वह नाट्य है ।

---

१ सोपयोगत्वेन । स्वोपयोगत्वेन ।

तच्च 'सेतिहासम्' । [1]इतिहासो दशरूपक सप्रभेदम । इतिरेवमर्थे प्रत्यक्षनिर्देश द्योतयति । [2]ह शब्दो निश्चयार्थ , इह आगमपर । आसन आस । एवम्प्रकारा प्रत्यक्ष-परिदश्यमाना [3]आगमिका अर्था कमफलसम्बन्धस्वभावा यत्रासते, तेन इतिहासेन सह इति सेतिहासम्[4] ।

इस अनुच्छेदमे 'सवशिल्पप्रवतकम' पदकी व्याख्या करते हुए वत्तिकारने चित्र पुस्तादिका ग्रहण शिल्प पदसे किया है । इनमेसे चित्र पदका अथ तो प्रसिद्ध है पर तु पुस्त' पदका अथ अत्य त अप्रसिद्ध है । अमरकोशमें 'पुस्त लेप्यादिकमणि' लिखकर लेप्यादि कायको पुस्त' नामसे कहा है । इसकी व्याख्या करते हुए उसके टीकाकारने लिखा है कि—

'लेप्य मृदा पुत्तलिकाकरणम् । आदिना काष्ठपुत्तलिकादि कम गृह्यते । तत्र पुस्तमित्ये कम । यदुक्तम—

मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चमणा ।
लोहरत्न कृते वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥

अर्थात मिट्टी, लकडी, कपडा, चमडा, लोहा अथवा रत्न आदिसे निर्मित पुतली आदि खिलौनोको पुस्त' कहा जाता है ।

सेतिहासम पदकी व्याख्या—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] इतिहाससे युक्त [होगा] । यहा इतिहास [पद] भेदोपभेद सहित दशरूपक [का बोधक] है । ['इति ह आस' इन तीन भागोको मिला कर 'इतिहास' पद बनता है । इस तीनो अवयवोका अथ इस प्रकार है कि इनमे से] 'इति' [पद] 'इस प्रकारके' इस अथमे है और प्रत्यक्ष निर्देशको सूचित करता है । 'ह' पद 'निश्चयाथक' है, और यहा [परम निश्चय रूप] आगम परक है । 'आस' [पद] 'होने' अथका बोधक है । [इस प्रकार इन तीनो पदोके योगसे बने हुए 'इतिहास' पदका सम्मिलित सम्पूर्ण अथ यह हुआ कि नाटकोमे] प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई देने वाले इस प्रकारके कम और उनके फलोके सम्बन्ध [को प्रकाशित करने] के स्वभाव वाले, वेद-प्रतिपादित [अर्थोंके समान परम प्रामाणिक] अथ जिसमे होते हैं [वह दशरूपक यहा 'इतिहास' पदसे कहा जाता है] । उससे युक्त ['नाट्यवेदकी रचना मै करू गा' यह बात 'नाट्यवेद सेतिहास करोम्यहम्' इससे कही गई है ।]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूव सस्करणोमे अत्य त अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ था । इसकी पहिली पक्तिमे 'इतिहासोपदेशकरूप सप्रभेदम' इस प्रकारका पाठ छपा था । पर तु उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है । इतिहास' उपदेशकरूप हो सकता है पर उसके साथ 'सप्रभेद' की कोई सङ्गति नही है । 'इतिहास' शब्दसे भेदोपभेद सहित दस प्रकारके रूपकोंका ग्रहण करना चाहिए यह ग्र थकारका अभिप्राय है । इस अथकी दृष्टिसे यहा इतिहासो दशरूपक सप्रभेदम्' यह पाठ होना चाहिए । इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इसी अनुच्छेदमे 'ह इहशब्द आगम यह पाठ पूव सस्करणोमे छपा है पर वह भी अशुद्ध है । उसकी भी सङ्गति नही लगती है। 'ह' शब्द निश्चय' के अथमें प्रयुक्त

---

१ भ ३ इतिहासोपदेशकरूप सप्रभेदम ।   २ म ह इह शब्द आगम ।
३ आगतिकार्था भ आगमितार्था ।   ४ तेनेतिहासेन सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकार ।

'इतिहासम्' इति पाठे तु मत्वर्थीयोऽकार [1]।

इतिर्ज्ञान, तस्य ह्रासो हर्षपूवको विकासो यत इति केचित। [2]तल्लक्षण च 'इत्थ किल आस' । स चात्र रूपकभेदाना भण्यते[3] ।

होता है । उसे यहा परम निश्चय रूप आगमके अर्थमें लिया गया है यह वत्तिकारका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके बोधनकेलिए 'ह शब्दो निश्चयाथ, इह आगमपर ' यह पाठ उचित प्रतीत होता है । अत हमने उ ही पाठोको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—['सेतिहासम' के स्थानपर] 'इतिहासम्' ऐसा पाठ माननेपर तो मत्वथमे अकार-प्रत्यय है [यह समझना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूवसस्करणोमे 'सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकार ' इस प्रकारका पाठ मुद्रित हुआ था । वह अशुद्ध था । उसके स्थान पर इतिहास इति पाठे ऐसा पाठ होना चाहिए था । नाटचाख्य पञ्चम वेद सेतिहास करोम्यहम' मूल श्लोकके इस पाठके स्थानपर वत्तिकारको इस श्लोकका दूसरा पाठ भी कही मिला है । उसमें सेतिहासम' के स्थानपर केवल 'इतिहास' पाठ रखा गया है । वत्तिकार उस पाठान्तरकी भी सङ्गति अगले अनुच्छेदमे लगाते हैं । उनके मतमें 'इतिहासम पद भी यहा 'सेतिहास' के अथमें ही लिया जा सकता है । इस सङ्गतिके लिए वे 'इतिहास शब्दसे मत्वर्थीय अकार मान कर उस शब्दकी सिद्धि करनेका माग अपनाते हैं । धनवान आदि शब्द मतुप प्रत्ययके योगसे बनते हैं । धन जिसके पास है या धनसे युक्त व्यक्ति धनवान कहलाता है । 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५ २ ९४ इस सूत्रसे मतुप प्रत्यय होता है । इसी मतुप प्रत्ययके अथमें कुछ अन्य प्रत्ययोका भी विधान किया गया है । उनको ही 'मत्वर्थीय प्रत्यय' कहा जाता है । इनमें 'अश आदिभ्योऽच' ५-२ १२७ सूत्रसे अश आदि शब्दोसे मत्वथमें अच प्रत्ययका विधान किया गया है । 'अश आदि' गणके आकृतिगण होनेसे इस सूत्रकेद्वारा 'इतिहास' शब्दसे भी मत्वर्थीय अच् प्रत्यय, फिर यचि भम १ ४ १८ सूत्रसे 'भ सज्ञा' और 'यस्येति च' ६ ४ १४८ सूत्रसे इतिहास शब्दके अन्तिम अकारका लोप करके हलन्त हुए सकारको अच प्रत्ययके अवशिष्ट अकारके साथ मिला देनेपर इतिहास' यह मत्वर्थीय पद बन जाता है । और उसका अथ 'सेतिहास' के समान ही 'इतिहास युक्त' हो जाता है । छन्दमें भी कोई दोष नही आता है । इसलिए वत्तिकारने मत्वर्थीय अकार मान कर 'इतिहास' पाठकी सङ्गति लगाई है । और उसको 'सेतिहास' का समानाथक ही माना है । अत यहा 'सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकार ' के स्थानपर 'इतिहासमिति पाठे मत्वर्थीयोऽकार' यह पाठ होना चाहिए । इसलिए सशोधित रूपमे हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—'इति' [पद] ज्ञान-परक है, उसका ह्रास अर्थात् हर्ष-पूर्वक विकास जिसमे होता है [वह 'इतिहास' कहलाता है । यह इतिहास पदका अवयवार्थ है] यह किन्ही [व्याख्याकारो] का मत है । [उन्हींके मतानुसार] 'इस प्रकारसे निश्चय-पूवक पहिले हुआ था' यह उसका [इतिहासका] लक्षण है । और यहा वह [इतिहास] रूपकके भेदोका कहा जायगा । [अर्थात् 'इतिहास' शब्दसे 'यहा रूपकके भेदोका ग्रहण करना चाहिए] ।

---

१ सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकार । २ अ इतिहासश्च तल्लक्षणमित्थ किलासनेभ्य रूपकभेदाना भण्यते । ब किलासन यत्र । ३ म इश्यते ।

'नाट्य-शब्देन च दशरूपक, तदुपयोगवदेव[2] 'चतुर्हस्तादिलक्षण शास्त्रम्[3]। तत्सहितस्यैव करणीयत्वेन सङ्कल्प । अन्यथा बुद्धया कलितस्यापि नाटचस्य कथमन्यत्र सक्रमणम् । तेन च विना कथ प्रयोग ।

पाठसमीक्षा—इतिहासश्च तल्लक्षणमित्थ किलासनत्रयरूपकभेदाना भण्यते' इस पूव मुद्रित पाठका कोई सुसङ्गत अथ नही निकलता है। उसके स्थानपर तल्लक्षण 'इत्थ किल ग्रास' । स चात्र रूपकभेदाना भण्यते' इस प्रकारका पाठ माननेपर अथकी सङ्गति लग जाती है। इसलिए हमने पूव पाठके निकटतम इस सशोधित पाठको ही प्रस्तुत किया है।

रचनाके सङ्कल्पमे शिक्षण भी सन्निहित है—

अभिनव०—[मूल श्लोकके 'नाट्याख्य' पदमे आए हुए] नाट्य-शब्दसे दशरूपक और उनके [अभिनयके] शिक्षणसे युक्त [चार हाथ] चतुर्भुज रूप आदि [के शिक्षक] शास्त्रका ग्रहण होता है। [क्योकि] उस [शिक्षण] के सहित ही [नाट्यवेद] की रचना करनेका [यह] सङ्कल्प [किया जा रहा] है। अन्यथा नाट्यको बुद्धिसे समझ लेने पर भी उसको दूसरे तक कैसे पहुँचाया जा सकेगा। और उस [शिक्षाद्वारा दूसरोको सिखलाने] के बिना उसका प्रयोग [अभिनय] कैसे हो सकेगा ?

अर्थात यहा ब्रह्माजी नाटचवेदकी रचना करनेका जो सङ्कल्प कर रहे हैं उसके साथ उसकी शिक्षाकी व्यवस्थाका भी सङ्कल्प कर रहे हैं। अन्यथा यदि उसकी शिक्षाकी व्यवस्था न की जाय तो उसका प्रयोग या अभिनय होना सम्भव नही है। यहाँ वृत्तिमे जो 'उपयोग' शब्द आया है वह शिक्षणका वाचक है। 'आख्यातोपयोगे' १ ४ २९ इस पाणिनीय सूत्रमे भी 'उपयोग' शब्दका यही अथ किया गया है। महाभाष्यकारने 'उपयोगो नियमपूवक विद्यास्वीकार' लिख कर नियम पूवक विद्याके अध्ययनको ही उपयोग शब्दका वाच्याथ माना है। उसी अथमें यहाँ वृत्तिकार ने उपयोग शब्दका प्रयोग किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमें बहुत अशुद्ध मुद्रित हुआ है। उपदेशशब्देन दशरूपक' अर्थात उपदेश शब्दसे दशरूपकका ग्रहण होता है इस प्रकारका जो पाठ पूव सस्करणोमें छपा है वह नितान्त अशुद्ध है। 'उपदेश' शब्द १४वी कारिकामे आया था। उस कारिकाकी व्याख्या पहिले हो चुकी है। अब यह १५वी कारिकाकी व्याख्या चल रही है। इसमें 'उपदेश' शब्द कहीं नही आया है। इसलिए इसकी व्याख्यामें यहा दिया हुआ उपदेशशब्देन' पाठ अशुद्ध और असङ्गत है। इस कारिका में 'नाटच' शब्द आया है। उसकी व्याख्या करना शेष है। उसीकी व्याख्या यहाँ की जा रही है। इसलिए यहाँ 'उपदेशशब्देन' के स्थानपर 'नाटचशब्देन' यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'द्विहस्तादिलक्षणनाटचवेदशास्त्र' इस पाठके स्थानपर 'चतुर्हस्तादिलक्षण शास्त्रम्' यह पाठ उपयुक्त है। दो हाथ तो स्वाभाविक हैं, उनके अभिनयके शिक्षणकी आवश्यकता नही है। चतुर्भुज रूपका अभिनय करनकेलिए शिक्षणकी आवश्यकता होती है। इस लिए नाटच शब्दसे दशरूपकोके साथ चतुर्भुज रूपके अभिनयकी शिक्षा देने वाले शास्त्रका भी ग्रहण होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस दृष्टिसे यहाँ 'द्विहस्तादिलक्षण' के स्थान पर 'चतुर्हस्तादिलक्षण शास्त्रम्' यह पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

---

१ उपदेशशब्देन। २ भ तदुपयोगादेव यद्देश। ३ द्विहस्तादिलक्षणनाटचवेदशास्त्रम्।

'पञ्चमम्' इति य एकोऽपि चतुरो वेदानतिशेत इत्यथ । 'अहम्' इति यस्य सर्वलोककृत्योद्वहनमेव पर कृत्यम् । १५ ।

एव सङ्कल्प्येति—सङ्कल्पव्यापार एवाय बुद्धया वेदाङ्ग[१]कीकारलक्षणो ब्रह्मणो नाट्यवेदोत्पादनम् ।

ननु वेदस्मरणेन तत्र कथ हेतुता लब्धा ?

आह—चतुर्वेदाङ्गसम्भवमिति । **'चतुर्भ्यो वेदेभ्यो अङ्गाना सम्भवो यस्य ।**

यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भव । **चत्वारो वेदा अङ्गाना पाठ्यादीना सम्भवा यस्य ।** अत एव वेदचतुष्टयमपि यत्राङ्गानि प्रति, उपकरणीभूतमिति, स तथोक्त ॥१४-१६॥

अभिनव०—[श्लोकमे आए हुए] 'पञ्चमम्' इससे जो अकेला ही चारो वेदोसे बढ कर है, यह अथ होता है । 'अहम्' इससे सारे ससारके कार्योका निर्वाह करना ही जिन [ब्रह्मा] का मुख्य काय है [यह अर्थ निकलता है] ॥ १५ ॥

नाट्यके प्रति वेदोंकी कारणता—

अभिनव०—इस प्रकारका सङ्कल्प करके [यह व्याख्येय कारिकाका प्रतीक भाग दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि—] यह नाट्यवेदका उत्पादन ब्रह्माका सङ्कल्प रूप व्यापार ही [का फल] है ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा वेदोके [केवल] स्मरण [मात्र] से उन [नाट्याङ्गो] के प्रति [उन वेदोकी] कारणता कसे समझ ली गई ?

अभिनव०—[उत्तरमे] कहते है कि—,चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' यह । चार वेदोसे जिस [नाट्य] के [अगली कारिकामे कहे जानेवाले पाठ्यादि रूप] अङ्गोकी उत्पत्ति हुई है [उस नाट्यवेदकी ब्रह्माने रचना की । यह 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस पदकी एक व्याख्या हुई । इसी पदकी दूसरे प्रकारसे भी आगे व्याख्या करते है] ।

अभिनव०—अथवा—जिससे उत्पन्न होता है वह [कारण] 'सम्भव' [कहलाता] है । [अर्थात् सम्भव शब्दका अथ कारण ही है । इस पक्षमे 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम' पदका विग्रह इस प्रकार होगा कि] चार वेद जिसके पाठ्यादि अङ्गोके कारण है [इस प्रकारके नाट्यवेदको ब्रह्माने बनाया] । इस लिए चारो वेद जिस [नाट्यवेद] के [पाठ्यादि रूप] अङ्गोके प्रति उपकरण रूप हैं [यह अथ निकलता है] । वह उस प्रकारका [अर्थात् चतुर्वेदाङ्गसम्भव नाट्य] है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूवसस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है । यद्यपि प्रथम सस्करण और द्वितीय सस्करणके पाठोमें इस स्थलपर कुछ अन्तर पाया जाता है, अर्थात द्वितीय सस्करणमें पाठ सशोधनका कुछ यत्न किया गया है । परन्तु वह सशोधन ग्रन्थकारके मूल अभिप्रायको नष्ट करके ग्र थकारके अभिप्रायसे दूर पहुच गया है । इस बातके स्पष्टीकरणके लिए हम दोनो सस्करणोके पाठोंकी आगे अलग अलग विवेचना करते हैं ।

---

१ चत्वारो वेदा चतुर्भ्यो वेदेभ्य, । अङ्गानाम् ।

पाठसमीक्षा—प्रथम सस्करणके पाठमें यहाँ दो स्थानोपर एक एक पद छूट गया है और एक जगह दो पदोका स्थाना तरण हो गया है। इस प्रकार प्रथम सस्करणके पाठमें यहाँ तीन अशुद्धियाँ रह गई हैं। सबसे पहिले 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' के पहिले 'आह' पद छूट गया है। अथसङ्गतिकी दृष्टिसे यहा 'आह' पदका होना आवश्यक है। 'ननु वेदस्मरणेन तत्र कथ हेतुता लब्धा यह प्रश्न है। इसके बाद इस प्रश्नका उत्तर प्रारम्भ होता है। इस लिए इसके बाद 'आह' पद अवश्य होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने यहा 'आह पद बढा दिया है। द्वितीय सस्करणमे भी यहाँ आह पद बढा दिया गया है। दूसरी जगह 'सम्भवत्यस्मादिति सम्भव' इसके पहिले 'यद्वा' पद छूट गया है। 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' इस पदकी अभिनवगुप्तने यहा दो प्रकारकी व्याख्याए प्रस्तुत की है। पहिली व्याख्यामें 'सम्भव' पदका अथ 'उत्पत्ति' और दूसरी व्याख्यामे 'सम्भव' पदका अथ 'कारण' लिया है। 'सम्भव' शब्दके इस अथभेद के कारण 'चतुर्वेदाङ्ग सम्भवम' इस समस्त पदका विग्रह भी अलग अलग दो प्रकारसे किया है। पहिली जगह चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गाना सम्भवो यस्य' यह समासका विग्रह किया गया है। इसमें सम्भव' शब्दका उत्पत्ति अथ लेकर चार वेदोसे जिसके अङ्गोकी उत्पत्ति हुई है यह अथ किया है। इसके बाद 'सम्भव शब्दकी 'यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भव यह 'कारण' अथ परक दूसरी व्याख्या की है। यह दूसरे प्रकारकी जो व्याख्या कर रहे हैं इसके पूव 'यद्वा पदका होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा इस पक्तिका अथ ही समझमें नही आवेगा। इस लिए हमने उसको बढा दिया है।

पाठसमीक्षा—प्रथम सस्करणके पाठमें तीसरी त्रुटि यह थी कि चत्वारो वेदा चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गाना सम्भवो यस्य इस रूपमे 'चत्वारो वेदा' इस पाठको अ स्थानमें छाप दिया गया था। इस पाठकी कोई सङ्गति नही लगती है। इसकी सङ्गति 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् इस पदकी दूसरी व्याख्याके साथ है। इसलिए 'सम्भवत्यस्मादिति सम्भव' इसके बाद 'चत्वारो वेदा अङ्गाना पाठ्यादीना सम्भवा यस्य' इस रूपमें चत्वारो वेदा' इन पदोको यहाँ रखना चाहिए था। अत हमने इन पदोका स्थानान्तरण कर दिया है।

द्वितीय सस्करणके पाठकी आलोचना—

पाठसमीक्षा—हमने प्रथम सस्करणके पाठको तीन स्थानोपर सशोधित किया है। इनमेंसे एक 'आह पदका समावेश और दूसरे 'चत्वारो वेदा' पदोका स्थाना तरण इन दो स्थानोपर हमने जो सशोधन प्रस्तुत किए थे उसी प्रकारके सशोधन द्वितीय सस्करणमें भी कर दिए गए हैं। परन्तु फिर भी द्वितीय सस्करणका पाठ बडा दूषित और अशुद्ध है। हमने ऊपर यह दिखलाया था कि इस कारिकाकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने 'चतुर्वेदाङ्ग सम्भवम्' इस समस्त पदका दो प्रकारका विग्रह किया है। और उस दो प्रकारके विग्रहका कारण 'सम्भव' पदके दो प्रकारके अर्थोंका ग्रहण करना है। 'सम्भव' पदका एक अथ उत्पत्ति' लिया है। इस अथको मान कर 'चतुर्भ्यो वेदेभ्योऽङ्गाना सम्भवो यस्य' यह 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् पदका एक विग्रह किया गया है। इसके बाद 'यद्वा सम्भवत्यस्मादिति सम्भव' यह 'सम्भव शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति की है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'सम्भव' शब्दका अथ 'कारण' होता है। और 'सम्भव शब्दके इस 'कारण' रूप अथको लेकर 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् इस समस्त पदका चत्वारो वेदा सम्भवा यस्य' यह दूसरे प्रकारका विग्रह किया है। ग्रन्थकारकी इस विवेचनापर ध्यान देनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्' पदकी दो प्रकारकी व्याख्यापर ही यहाँ ग्रन्थकारका विशेष बल है। वही इस कारिकाकी व्याख्याका प्राण है। इस दृष्टिसे यहाँ यद्वा' पदका होना अत्यन्त आवश्यक है। 'यद्वा' पदके बाद ही दूसरे प्रकारकी व्याख्या दी जा सकती है। द्वितीय सस्करणके पाठमें 'यद्वा' पद नही है। उसके न होनेसे यह व्याख्या ही निर्जीव हो गई है।

कुत्राङ्गे कस्य वेदस्योपयोग इति दर्शयति 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदादिति'-

भरत०—जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात् सामभ्यो[1] गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान् [2]रसानाथर्वणादपि ॥ १७ ॥

इह 'पठ व्यक्तायां वाचि' इत्युक्तम् । व्यक्तत्व विवक्षाविशिष्टस्वार्थपराक्षमत्वम् । तच्च काक्वध्याय-वक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्रीयोजनेन भवतीति तयोपस्कृत पाठ्य-मुच्यते । तच्च प्राधान्यात् प्रथममुपात्तम ।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त द्वितीय सस्करणके पाठमे 'चत्वारो वेदा' के बाद 'चतुर्भ्यो वेदेभ्य' यह पाठ स्पष्ट रूपसे अ स्थानमें मुद्रित है । उसको हटा कर यदि 'चत्वारो वेदा अङ्गाना सम्भवा यस्य इस रूपमे पाठ करदिया जाय तो उससे स्पष्ट रूपसे इस पदका दूसरे प्रकारका विग्रह निकल आता है । और यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहा दो प्रकारकी व्यारया करना चाहते हैं । इस प्रकार हमने जो सशोधन प्रस्तुत किया है उमसे ग्रन्थकारके मनमे स्थित जो दो प्रकारकी व्याख्याकी भावना है यह साकार हो जाती है । द्वितीय सस्करणमे जो सशोधित पाठ दिया गया है उसमे इस दो प्रकारकी व्याख्या वाली ग्रन्थकारकी मुख्य भावनाकी अभिव्यक्ति नही हो पाती है । इस लिए वह पाठ ठीक नही है । 'सम्भव' पदकी द्विविध व्यारया ही इस प्रकरणका प्राणभूत तत्त्व है । जिस पाठमे उसकी अभिव्यक्ति नही होती है वह ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त नही करता है इसलिए वह सवथा उपेक्षणीय है ॥१४ १६॥

किस वेदसे किस अङ्गका ग्रहण हुआ—

अभिनव०—[नाट्यके] किस अङ्ग [की उत्पत्ति] मे किस वेदका उपयोग [हुआ] है इस बातको 'जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते हैं—

भरत०— ऋग्वेदसे [नाटयके प्रथम अङ्ग] पाठय [अर्थात सवाद या गद्य भाग] को [ब्रह्माने नाटयवेद की रचना करते समय] लिया । सामवेदसे [उसके गीत रूप होनेके कारण नाटयके द्वितीय भाग] गीतका ग्रहण किया । यजुर्वेदसे [नाटयके ततीय अङ्ग] अभिनयको और [नाटयके चतुथ अङ्ग] रसोंको अथववेदसे लिया । १७ ।

ऋग्वेदसे पाठयका ग्रहण—

अभिनव०—यहा ['पाठ्य' शब्दका मूलभूत] 'पठ' धातु व्यक्त वाणीके अथमे [आता] है यह बात [धातुपाठमे] कही गई है । [वाणी अर्थात वाक्योका] व्यक्तत्व [अर्थात् स्पष्टता] उनके अपने विवक्षा-विशिष्ट [अर्थात् जिस अथको उस शब्दकेद्वारा वक्ता कहना चाहता है उस] अथको बोधन करनेकी क्षमताको कहते है । और वह [विवक्षितार्थको बोधित करनेकी क्षमता] 'काक्वध्याय' [अर्थात काक्व-ध्याय नामसे प्रसिद्ध इस नाट्यशास्त्रके १७ वें अध्याय] मे कहे जाने वाले स्वर अलङ्कार आदि समग्रीके समन्वयसे होती है । इसलिए उस [स्वर-अलङ्कार आदि रूप सामग्रीकी योजना] से युक्त [सवाद] को [ही] 'पाठ्य' कहा जाता है । [नाट्यमे] उसकी प्रधानता होनेके कारण ही सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है ।

---

१ न सामतो । २ व नृत्तानाथवणादपि ।

तथा हि वक्ष्यति—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाटयस्यषा तनू स्मृता ।
अङ्ग नेपथ्य-सत्त्वानि वाक्यार्थ व्यञ्जयन्ति हि ।। [ना० १४-२]

इति । अत एवाभिनयान्तर्भूतत्वेऽपि पथगुपात्तम ।

तद् ऋग्वेदाद् गहीतम् । तस्य त्रैस्वयप्रधानस्य [१]स्तोत्रशस्त्रद्वारेण यागोपकारित्वात् । पाठ्यमपि च त्रैस्वर्योपेतम् । ऐकस्वर्ये [२]काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्तेरिति हि वक्ष्याम । [ना० शा० १७] ।

अभिनव०—जैसा कि [पाठ्य-भागकी प्रधानताके प्रतिपादन करनेकेलिए नाट्यशास्त्रके १४वे अध्यायके द्वितीय श्लोकमे] कहेगे–

अभिनव०—[नाट्यका प्रयोग करनेके समय नटोको] वाणीके [शुद्ध और स्पष्ट प्रयोग करनेके] विषयमे विशेष रूपसे यत्न करना चाहिए क्योकि इसीको नाट्य का 'शरीर' कहा जाता है । [नाट्यके अन्य अङ्ग जैसे] आङ्गिक अभिनय, [नेपथ्य अर्थात् वेष-भूषा द्वारा प्रकाशित होने वाला] आहाय-अभिनय, तथा सात्त्विक [अर्थात् मानसिक] अभिनय वाणीके अर्थको ही व्यक्त करते है ।

अभिनव०—यह । इसीलिए [चार प्रकारके] अभिनयोके अन्तगत होनेपर भी [वाचिक अभिनयकी] प्रधानताके कारण उसे [यजुर्वेदसे लिए गए अभिनयोसे] अलग [रूपसे] कहा है । [१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ मानसिक तथा वेष-भूषादि रूप ४ आहाय ये चार प्रकारके अभिनय माने गए है] ।

अभिनव०—उस [नाट्यके सवप्रधान भाग पाठ्य] को ऋग्वेदसे ग्रहण किया । [उदात्त अनुदात्त और स्वरित रूप] तीनो स्वरोसे युक्त [त्रैस्वयप्रधानस्य] उस [ऋग्वेद] के स्त्रोत्र शस्त्र द्वारा यागमे उपकारक होनेसे [उससे त्रैस्वययुक्त पाठ्यभागको लिया गया] । पाठ्य [नाट्यका गद्य भाग] भी तीनो स्वरोसे युक्त होता है । [पाठ्य भागमे यदि तीनो स्वर न होकर] केवल एक स्वर होनेपर कण्ठध्वनिका भेद न होने के कारण [गद्य रूप पाठ्य भाग भी] गीत-रूप सा हो जायगा यह बात आगे कहेगे ।

काकु शब्दका अर्थ 'भिन्न प्रकारकी कण्ठध्वनि' या बोलनकी शली होता हैं। भिन्नकण्ठध्वनिर्धीर काकुरित्यभिधीयते' । ऋग्वेदके मन्त्रोके पाठमें सामान्य रूपसे तीनो स्वरोका प्रयोग होता है । यज्ञ कम आदि विशेष अपवाद रूप स्थलोमें उस त्रस्वयको बाध कर एकश्रुति' का विधान भी किया गया है । जसे अष्टाध्यायीमे एकश्रुति दूरात सम्बुद्धौ १ २ ३३ सूत्रसे त्रस्वयका अपवाद रूप 'एकश्रुति' का विधान प्रारम्भ होता है । उसीमे 'यज्ञकमण्यजपन्यूह्नसामसु, [१ २ ३२] उच्चैस्तरा वा वषटकार १ २ ३३, विभाषा छन्दसि [१ २ ३३] आदि तक १ २ ३२ ३६ सूत्रोमे विशेष रूपसे एकश्रुति का विधान किया गया है । पर वह सब अपवाद रूप ही है । सामान्यत

---

१ स्तोत्रशब्दद्वारेण । स्तोत्रशस्यद्वारेण ।

२ काक्वभावाभ्या । भ चकस्वभावाच्च स्वरादौ । म स्वर्यैकत्वाभावाभ्यां च स्वरस्यादौ । स्वर्यादौ, स्वरस्यादौ, स्वरियादौ ।

पाठ्यगतस्वरप्रसङ्गात् तदनन्तर सामभ्यो गीत जग्राह इत्युक्तम् । उपरञ्जकत्वेन हि पश्चात् तस्याभिधान न्याय्यमिति केचित् । 'गीत प्राणा प्रयोगस्य' इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

तदायत्तत्वाद्रसचवणाया समुचितमस्यात्रवाभिधानमित्यस्मदुपाध्याया । [1]चकारेण एतत्तुल्यकक्ष्यतामाह ।

ऋग्वेदमे त्रस्वय ही पाया जाता है। इसी आधारपर यहा ऋग्वेदको 'त्रस्वयप्रधान' कहा गया है। ऋग अचनी, अच्यते देव विशेष क्रियाविशेषो वानया सा ऋक' इस लक्षणके अनुसार ऋग्वेदके मन्त्रोका प्रयोग देवविशेष अथवा क्रियाविशेषकी स्तुतिमे ही किया जाता है। इसलिए यहाँ वत्तिकारने उसको स्तोत्र' द्वारा यागका उपकारक बतलाया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'काक्वभावाभ्या च स्व स्वादौ गीतरूपतापत्तेरिति हि वक्ष्याम' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें मुद्रित हुआ था। परन्तु उसका कोई अथ ठीक तरहसे नही लगता है। इसलिए वह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्त' इस प्रकारका पाठ मानना उचित है। इसका यह अभिप्राय है कि सामान्यत ऋग्वेदकी ऋचाए गद्यात्मक हैं गीत रूप नही। गद्यात्मक होनेसे उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीनो प्रकारके वदिक स्वरोका प्रयोग होता है। त्रस्वय माननेपर तो भिन्न भिन्न प्रकारकी काकु' बन जाती है। यदि त्रस्वयके स्थानपर एक स्वर माना जाय तो 'काकु या भिन्न कण्ठध्वनि नही बनेगी और मन्त्रोका उच्चारण सामवेदके समान गीत रूप हो जावेगा। इस लिए त्रस्वय प्रधान ऋग्वेदसे लिया हुआ पाठ्य भी त्रैस्वय युक्त ही है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अथकी दृष्टिसे यहा 'काक्वभावाभ्या च स्वस्वादौ' के स्थानपर 'काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ' यही निकटतम शुद्ध पाठ प्रतीत होताहै। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

सामवेदसे गीतका ग्रहण—

अभिनव०—पाठ्य विषयक स्वरके प्रसङ्गसे उस [पाठ्य] के बाद सामवेदसे गीतको ग्रहण किया यह कहा गया है। किन्हीं [व्याख्याकारो] का यह कहना है कि [पाठ्यका] उपरञ्जक होनेसे उस [गीत] का पाठ्यके बादको कथन करना उचित है। क्योंकि 'गीत नाट्यका प्राण है' यह आगे कहा जाने वाला है।

अभिनव०—हमारे गुरु [श्रीभट्टतोत] का तो यह मत है कि रसका आस्वादन उस [गीत] केद्वारा ही होता है इसलिए इसका यहापर कथन ही उचित है। चकारसे [पाठ्य तथा गीत] इन दोनोकी तुल्यकक्ष्यता [समान महत्त्व] को सूचित किया गया है।

इस कारिकाके प्रथम चरणमें नाटचके पाठ्य भागको ऋग्वेदसे ग्रहण किया गया इसको दिखलानेके बाद द्वितीय चरणमें सामवेदसे उसके गीत भागके ग्रहण करनेका उल्लेख किया गया है। इस क्रमसे पाठ्य और गीतके ग्रहण करनेका उपपादन भिन्न भिन्न टीकाकारोने भिन्न-भिन्न तीन प्रकारोसे किया है। पहिला मत यह है कि पाठ्यके प्रसङ्गमें जो स्वरकी चर्चा आई है इसी प्रसङ्गसे पाठ्यके बाद गीतका उल्लेख हुआ है। दूसरा मत यह है कि गीत पाठ्यका उपरञ्जक है अत पाठ्यके बाद गीतकी चर्चा की है। और तीसरा मत यह है कि गीत रसचवणामें सहायक होता है। अत पाठ्यके बाद गीतका उल्लेख किया है। यह अन्तिम मत ग्रन्थकारके गुरु भट्टतोतका मत है।

---

१ म चकारेणकतुल्यकक्ष्यतामाह।

एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत "गीतिषु सामाख्या" इति न्यायात्[1]। तदाधारध्रुवापदयोजन ऋग्वेदादेवेति दर्शयति । तत एव ध्रुवाध्याये[2] प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि[3] । घनावनद्धरूप सामगानक्रियाप्राणभूतकल्प साम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम् । ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्य-वचनादत्रैव सगृहीतम् ।

अभिनव०—एवकारसे [यह सूचित किया गया है कि] केवल गीतमात्रका ग्रहण उस [सामवेद] से किया गया है । क्योकि 'गीतको ही साम कहा जाता है' इस युक्ति से [सामवेदसे केवल गीत भागको ही लिया गया है] । उस [गीत] के आधारभूत ध्रुवा [अर्थात् वर्ण विन्यास] और पद-योजना [आदि] को ऋग्वेदसे ही लिया गया है, इस बातको [एवकार द्वारा] दिखलाया है । इसी कारणसे 'ध्रुवाध्याय' [अर्थात् इस नामसे प्रसिद्ध, नाट्यशास्त्रके ३२ वें अध्याय] के प्रारम्भमे [द्वितीय श्लोकमे] 'जो ताली [पाणिका] आदि ऋग्वेदसे ली गई है' यह कहेगे । 'घन' [अर्थात् झाझ मजीरा आदि ठोस वाद्य] और 'अवनद्ध' [अर्थात् ढोल मृदङ्ग आदि मढे हुए वाद्य] रूप सामगानकी प्रक्रियाके प्राण भूत उपकरणोके ताल-मेल रूपमे माने गए ताल-सामान्यका समावेश भी इसीमे [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमे] हो जाता है । और 'तत' [अर्थात् वीणा सितार आदि जैसे तारोसे युक्त वाद्य] तथा सुषिर [बासुरी आदि जसे सुषिर छिद्रयुक्त] वाद्योका भी [ऋग्वेदकी] स्वर प्रधानताका कथन होनेसे इसीमे [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमे ही] समावेश हो जाता हे ।

इस अनुच्छेदमे गीतके आधार रूपमे ध्रुवा' और पदयोजना का वर्णन आया है । 'ध्रुवा' का अर्थ हमने वर्ण वि यास किया है । नाट्यशास्त्रके 'ध्रुवाध्याय' नामक ३२ वे अध्याय मे ध्रुवाओका निरूपण निम्न प्रकार किया गया है—

वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतय पाणयो लया ।
ध्रुवम यो यसम्बद्धा यस्मात तस्मात ध्रुवा स्मृता ॥३२ ८॥

अर्थात वाक्यके वर्णोंका वि यास अलङ्कार यति, ताली, लय आदि निश्चित रूपसे एक दूसरेके साथ सम्बद्ध होनेसे ध्रुवा' नामसे कहे जाते ह । इस श्लोकमे 'पाणय तथा 'या ऋच पाणिका' इत्यादिमें पाणिका शब्दसे तालीका ग्रहण होता है । गीतके इन सब अङ्गोका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है । साम तो केवल गीतका नाम है इसलिए उससे तो केवल गीत ही लिया गया है । उसके अन्य सहायक सब ही उपकरणोको ऋग्वेदसे ही लिया गया है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

---

१ मीमासा दर्शन २, १, ३६ ।

२ 'ध्रुवाध्याये' के बाद पूर्व सस्करणोमे निम्नस्थ अस्थानपाठ मुद्रित हुआ है—
'वचनादत्रव सगहीतम । घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्य स्वीकृतमत्रव प्रविष्टम । आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिकम'

३ ना० शा० ३२, २ ।

४ 'इत्यादि' के बाद फिर पूर्व सस्करणोमे निम्नस्थ अस्थान पाठ मुद्रित हुआ है—
'ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात् ।'

चतुर्विध वाद्य—

सामसे लिए हुए गीत भागके सहायक उपकरणोमें घन, अवनद्ध, तत और सुषिर चार प्रकारके आतोद्यो अर्थात वाद्योका भी उल्लेख किया गया है। नाटचशास्त्रके २८वे अध्यायमे इन चार प्रकारके आतोद्योका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

घन चवावनद्ध च तत सुषिरमेव च।
चतुर्विध तु विज्ञय आतोद्य लक्षणान्वितम ॥
तत त त्रीगत ज्ञेय आनद्ध तु पौष्करम्।
घन तालस्तु विज्ञेय सुषिरो वश एव च ॥ [ना० २८।१ २]

अर्थात् १ घन, २ अवनद्ध ३ तत और ४ सुषिर चार प्रकारके लक्षणोसे युक्त उत्तम वाद्य होते हैं। इनमे तन्त्री बीणा सितार आदि जिनमें तार फले हाते हैं उनको 'तत' वाद्योके बगमे समझना चाहिए। चमसे मढे हुए ढोल मृदङ्ग आबि वाद्योको अवनद्ध' वाद्योके वगमे लिया जाता है। झाझ मञ्जीरा घण्टा घडियाल आदि ठोस वाद्य 'घन' वाद्योकी श्रेणीमें आते हैं। और बासुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य सुषिर वाद्य कहलाते हैं। इनका ग्रहण सामवेदसे नही ऋग्वेदसे ही किया गया है यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

१ अस्त व्यस्त पाठका उदाहरण—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका ही क्या इस कारिकाके तीन चरणोकी अभिनवभारती का पाठ पूववर्ती दोनो सस्करणोमे बडा अशुद्ध छपा है। वत्तिकारने श्लोकके चारो चरणोंकी व्याख्या अलग अलग की है पर तु पूव सस्करणोमें उस व्याख्याको अत्य त अस्त व्यस्त रूपमे इस ढगसे छापा है कि उसको अलग अलग करना क्या समझना भी बडा कठिन है। बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रव सगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूत कल्पसाम्यात्मकतालसामा यस्वीकृतमत्रव प्रविष्टम्। आध्वयवकमप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादि क्रम एव प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि। तत सुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधा यात।

पर तु पूव सस्करणोमें मुद्रित इस पाठके आधारपर इसका कोई भी अथ समझमें नही आ सकता है। यह पाठ अस्त व्यस्त हो जानेसे एक दम अज्ञेय बन गया है। तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रव सगृहीतम्'। इस वाक्यका कोई अथ नही निकलता है। इसमेसे 'ध्रुवाध्याये' इस भागका सम्ब ध वास्तवमे आगे वाक्यके मध्यमे आए हुए' "प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका' इत्यादि" इस वाक्यके साथ है। पर तु पूव सस्करणोमें इन दोनो सम्बद्ध भागोके बीच में वचनादत्रव सगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामा यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वयवकमप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' 'इतना लम्बा पाठ प्रमादवश यो ही छाप दिया गया है। जो एक दम अस्थान मुद्रित पाठ है। इसके कारण न तो पहिले वाक्यका ही अथ समझमें आता है और न इस लम्बे अ स्थान पाठका अर्थ ही समझमें आता है। इसमें भी आध्वयवकम प्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' इतने भागका तो इस द्वितीय चरणकी व्याख्या के साथ कोई सम्बन्ध भी नही है। क्योकि उसमें स्पष्ट रूपसे यजुर्वेदकी चर्चा है। और उसका सम्ब ध तृतीय चरणकी व्याख्यासे है। द्वितीय चरणकी व्याख्यासे नही। इसलिए इतने भागको तो यहाँसे बिल्कुल ही हटाना आवश्यक है। और शेष वाक्यका विन्यास भी प्रकारान्तरसे सशोधित करनेपर ही उसका कुछ अथ निकल सकता है। अन्यथा नहीं।

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव[1], लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य, तेषु-तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयाना ग्रहणम्[2]। वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त ।

यजुर्वेदसे अभिनयका ग्रहण —

यहा तक 'सामभ्यो गीतमेव च' कारिकाके इस द्वितीय चरणकी व्याख्या हुई। आगे 'यजुर्वेदादभिनयान' इस तृतीय चरणकी व्याख्या करते हैं।

अभिनव०—अध्वर्यु [यज्ञमे कार्य करने वाले यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विग् विशेष] का कर्म जिसमे प्रधान रूपसे आया है इस प्रकारके यजुर्वेदमे [प्रयाज अनुयाज आदिमे होने वाले] प्रदक्षिणा-गमन आदि क्रम [के प्रसङ्ग] मे ही अङ्ग-कर्मोका [अर्थात् आङ्गिक अभिनयका, और 'लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति' इस वाक्यके अनुसार जब लाल- पगडी पहिन कर ऋत्विक् लोग यज्ञमे प्रदक्षिणा आदि करते है उसी समय] लाल-पगडी आदिसे वेषका [अर्थात् वेष भूषा रूप आहार्य-अभिनयका], और उन-उन विशेष कर्मोमे विशेष प्रयत्न [करने] वाले पुरुषोके द्वारा [सम्पाद्यमान अर्थात] प्रदर्शित किए जाने वाले धैर्य आदिसे [सत्त्व अर्थात्] मानसिक व्यापार [रूप तीसरे प्रकारके सात्त्विक अभिनय] का [ग्रहण] सम्भव होनेसे उस [यजुर्वेद] से [तीनो प्रकारके] अभिनयोका ग्रहण किया गया है। [इस प्रकार प्रकार प्रदक्षिणादि द्वारा आङ्गिक, लोहितोष्णीषादि द्वारा आहार्य, और उपष्टम्भादि द्वारा सात्त्विक तीन प्रकारका अभिनय यहा आगया है और चौथे प्रकारका] वाचिक अभिनय तो पहिले ही ['वाचि यत्नस्तु' आदिमे ऋग्वेदसे लिया हुआ] दिखलाया जा चुका है।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदके समान इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व सस्करणोमें बडे अस्त व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। उन सस्करणोमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे मुद्रित हुआ है—

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रमक्रम एव प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि। ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात। आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु प्राड्विवषुणाद्यनुभावाना तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानो पष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त ।

इसमे 'प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका इत्यादि। ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वर-प्राधान्यात' इतना पाठ तो द्वितीय चरणकी अभिनवभारतीका इस ततीय चरणकी व्याख्यामें सम्मिलित हो गया था। और इसके आगे 'आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विज प्राड्विवषुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना' इतना पाठ अगले चौथे चरणकी व्याख्याका यहाँ जोड दिया गया था। इन दोनो भागोको यहासे निकाल देने पर जो शेष पाठ बचता है वह इस तृतीय चरणकी अभिनवभारतीका शुद्ध पाठ है।

---

१ प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि, ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात। आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्म सु नटस्येव तस्यर्त्विज प्राड्विवषुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना। २ ततोऽभिनयानामग्रहणम्।

आथर्वणवेदे तु—शान्तिकमारणादिकमसु नटस्येव तस्यर्त्विज [1]प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावाना प्रजा शत्रुप्रभृतीना अवधान-ग्रहणादिना[2] [3]प्रधानविभावाना, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमाथसता समाहरण प्रधानमिति विभावादिरूपसामग्र्या [4]रसात्मकचवणासम्भव, इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति ।

अथर्ववेदसे रसोका ग्रहण—

यहा तक 'यजुर्वेदादभिनयान' इस तृतीय चरणकी व्याख्या समाप्त हुई । अब 'रसानाथ वणादपि' इस चतुथ चरणकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव—अथववेदमे तो— [उसमे प्रतिपादित] शान्ति तथा मारण आदि कर्मो मे [नाटकके] नटके समान उस [अथववेद] के ऋत्विक् [होता] के प्रशम और कम्प [अर्थात् शान्तिक कर्मोके समय उदय होने वाले प्रशम तथा मारणके कर्मोके समय उदय होने वाले वेपथु कम्प] आदि अनुभावोका, [इसी प्रकार शान्तिक कर्मोमे] प्रजाके शुभचिन्तन [रूप अवधान] और शत्रुके [मारणाथ] ग्रहण आदिके द्वारा [प्रजा और शत्रु रूप मुख्य आलम्बन] विभावोका, एव वास्तवमे होने वाले धृति प्रमोद आदि व्यभिचारी भावोका मुख्य रूपसे सयोग हो जाता है इसलिए ['विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस भरत-सूत्रमे प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव तीनोका अथववेदोक्त कर्मोमे एकत्र समाहरण—सयोग हो जानेसे] विभावादि रूप सामग्रीसे रसात्मक आस्वादकी उत्पत्ति हो सकती है इसलिए उस [अथर्ववेद] से उन [रसो] का ग्रहण बतलाया गया है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदोके समान इस अनुच्छेदका, पाठ भी पूव सस्करणोमें अत्यन्त अस्त व्यस्त एव अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है । बडोदा वाले दोनो सस्करणोमे इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

'आथर्वणवेदे तु-शान्तिकमारणादिकमसु नटस्येव तस्यर्त्विज प्राष्टुदवपुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कमसु विशिष्टप्रयत्न पुरुषसम्पद्यमानोपष्टम्भात्मन, सत्त्वस्य सम्भवात ततोऽभिनयानामग्रहणम । वाचिकस्त्वभिनय पुवमेवोक्त । प्राधान्यविभावाना धृतिप्रमोदादिव्यभिकारिणा च परमार्थसता समाहरण प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचवणासम्भव इति ततस्तदग्रहणमुक्तमिति' ।

यहा चतुथ चरणकी व्याख्याके बीचमे 'लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कमसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्व भिनय पूर्वमेवोक्त' इतना पाठ अप्रासङ्गिक रूपसे आगया है । इस पाठका सम्बन्ध इस चतुथ चरणकी व्याख्यासे नही अपितु तृतीय चरणकी व्याख्यासे है । इसलिए हमने उसको यहासे निकाल कर तृतीय चरणकी अभिनवभारतीमें पिछले अनुच्छेदमे समाविष्ट कर दिया है ।

---

१ प्राष्टुदव पुणाद्यनुभावाना ।

२ प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त ।

३ प्राधान्यविभावाना । ४ विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव ।

इसके अतिरिक्त शेष जो पाठ इस चतुथ चरणकी व्याख्यासे सम्बद्ध बचता है उसमे भी चार स्थानो पर अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है।' १— प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावाना' इस पाठका कोई अथ नही निकलता है। इसके स्थान पर हमने 'प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावाना' यह निकटतम सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। २—प्रजाशत्रुप्रभतिनावधानगहणादिना' के स्थानपर 'प्रजाशत्रुप्रभतीनामवधानग्रहणादिना' पाठ होना चाहिए। ३—'प्राधा यविभावाना' के स्थानपर प्रधानविभावाना' तथा 'विभावादिसामग्री रूपरसात्मकचवणासम्भव' के स्थानपर 'विभावादिरूपसामग्रया रसात्मकचवणासम्भव' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था। अत एव हमने सशोधित रूपमें इ ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

पाठसशोधनका स्पष्टीकरण—

इस कारिकाके द्वितीय तृनीय और चतुथ चरणकी अभिनवभारतीका जो पाठ हमने अपने इस सस्करणमें मूल रूपमें प्रस्तुत किया है वह हमारा सशोधित पाठ है। बडोदा वाले पूववर्ती सस्करणोमे इस स्थलका पाठ अ य क्रमसे मुद्रित किया गया था। पर तु वह निता त अशुद्ध और असङ्गत था इसलिए हमको उसे नए सिरेसे क्रमबद्ध और व्यवस्थित करना पडा है। इन दोनो पाठोके तारतम्यको हृदयङ्गम करनेकेलिए पूर्व सस्करणोमें मुद्रित पाठको एक बार अविकल रूपमे यहाँ देना आवश्यक है इस लिए हम उसे नीचे उद्धत कर रहे हैं—

'एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत 'गीतिषु सामाख्या' [ज० २ १ ३६] इति यायात। तदाधारध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दशयति। तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव सगृहीतम। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मक तालसामा यस्वीकृतमत्रव प्रविष्टम्। आध्वयव कमप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्कमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव प्रथमम्। पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि। ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधा यात। आथवणवेदे तु शा तिकमारणादिकमसु नठस्येव तस्यत्विज प्राष्टुदवषुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषा देर्नेपथ्यस्य च तेषु तेषु च कमसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूवमेवोक्त। प्राधा यविभावाना धतिप्रमोदादि०यभि चारिणा च परमाथसता समाहरण प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचवणासम्भव इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तम्।"

बडौदा वाले पूववर्ती दोनो सस्करणोमें मूल पाठ इसी क्रमसे दिया गया हैं। परन्तु यह क्रम ठीक नही है। उसमें कही द्वितीय चरणकी व्याख्याके बीचमे तृतीय चरणकी वत्तिका भाग छप गया है और कही उसीके बीचमें चतुथ चरणकी वत्तिका भाग आ गया है। इसी प्रकार तृतीय और चतुथ चरणकी व्याख्याके बीचमें भी अ य चरणोकी व्याख्यासे सम्बद्ध भागका समावेश हो गया है। इस प्रकार पाठका सङ्कर हो जानेसे सारा ही पाठ अशुद्ध और असङ्गत बन गया है। उसका कुछ भी अथ समझमें नही आता है। हमने उसमें बीच बीचमें अस्थानमें आए हुए पाठोको हटा कर पाद टिप्पणीमें दे दिया है और शुद्ध क्रमबद्ध पाठको सशोधित कर ऊपर मूल पाठके रूपमे मुद्रित किया है। जिससे सारी पक्तियोका अथ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। और उनकी सङ्गति लगानेमें कोई कठिनाई उपस्थित नही होती है।

इस क्रमनिधारणका माग—

इस अस्त व्यस्त पाठको क्रमवद्ध करने और उसको अधिक स्पष्ट रूपसे समझानेके लिए हम एक दूसरे मागका अवलम्बन करते हैं। पहिले हम इस सारे विवाद ग्रस्त पाठको बडोदा वाले सस्करणोमें जिस क्रमसे छापा गया है उसी क्रमसे, कि तु ६ खण्डोमें विभक्त करके नीचे

दे रहे हैं। इसमें पाठका क्रमतो बडोदा वाले सस्करणोके समान ही है। केवल खण्डोमे उसका विभाजन हमने अपने ढगसे कर दिया है। इस विभाजनसे उसके क्रमको ठीक तरहसे समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसे ६ खण्डोमें विभाजित करके नीचे दे रहे हैं। इन ६ खण्डोमें कारिका के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तीनो चरणोकी व्याख्या दी गई है। इसलिए अ तमें हमें इन खण्डोको तीन अनुच्छेदोमें क्रमवद्ध करना होगा। जिससे प्रत्येक अनुच्छेदमे क्रमवद्ध रूपसे एक एक चरणकी व्याख्या आजावेगी। उसके अनुसार इनका क्रम निम्न प्रकारसे बनेगा—

द्वितीय चरणकी व्याख्या—१+५+३+६+२ खण्ड

ततीय चरणकी व्याख्या—४+८ खण्ड

चतुथ चरणकी व्याख्या—७+६ खण्ड

१ एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत 'गीतिषु सामाख्या' इति यायात। तदाधार ध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दशयति। तत एव ध्रुवाध्याये

२ वचनादत्रव सगृहीतम्।

३ घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकालसाम्यात्मकतालसामा यस्वीकृतमत्रव प्रविष्टम्।

४ आध्वयवकमप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव

५ प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका ' इत्यादि।

६ ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधा यात।

७ आथवणवेदे तु शा तिकमारणादिकमसु नटस्येव तस्यात्वजः प्राष्टुदवषुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना।

८ लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कमसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्ट म्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूवमेवोक्त।

६ प्राधा यविभावाना धतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमाथसता समाहरण प्रधान मिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचवणासम्भव। ततस्तदग्रहणमुक्तमिति।

द्वितीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

यह सब एक साथ मिला हुआ पाठ पूव सस्करणोंमें छपा हुआ है। इसमे द्वितीय तृतीय और चतुथ तीनो चरणोकी अभिनवभारतीका पाठ अस्त व्यस्त रूपसे ऐसा रिल मिल गया है कि उसका कुछ भी अथ समझमें नही आता है। इसी क्रमसे मिला कर इस पाठको आप पढ़ जाइए। उससे आप कोई भी अथ नही समझ सकेंगे। क्योकि ये वाक्य जिस क्रमसे छापे गए हैं वह उनका उचित क्रम नही है। इनके अथको समझनेके लिए उनको नए ढगसे क्रम वद्ध करना होगा। इनमे पहिले खण्डके बाद पाचवा खण्ड, उसके बाद तीसरा, और उसके बाद छठा, फिर दूसरा खण्ड मिला कर १+५+३+६+२ खण्डोका एक अनुच्छेद बनेगा जिसका सम्ब ध द्वितीय चरणकी व्याख्यासे है। हमारे सशोधित क्रमके अनुसार यह अनुच्छेद निम्न प्रकार होना चाहिए—

'एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत, 'गीतिषु 'सामाख्या' इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापद योजनमृग्वेदादेवेति दशयति। तत एव ध्रुवाध्याये प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका ' इत्यादि। घनावनद्धरूपिसामागानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालमासामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव सगृहीतम्।'

इस प्रकार १+५+३+६+२ सख्या वाले खण्डोको मिला कर यह अनुच्छेद बनता है जिसमें द्वितीय चरणकी व्याख्या पूरी होती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें ग्रन्थकारने कारिकामें आए हुए 'एव' पदका यह प्रयोजन दिखलाया है कि सामवेदसे केवल गीतमात्रका ग्रहण किया गया है। क्योकि 'गीतिषु सामाख्या' इस सिद्धान्तके अनुसार केवल गीतमात्रको ही साम' कहा जाता है। इसलिए केवल गीत भागका ग्रहण सामवेदसे किया गया है। उसके अन्य सहकारियो अर्थात वर्णविन्यास, पदयोजना और वाद्य आदिका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है। इसी बात के समथनकेलिए आगे ग्रन्थकारने 'ध्रुवाध्याय' नामस प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रके २२ वें अध्यायका प्रारम्भिक दूसरा श्लोक 'या ऋच पाणिका' इत्यादि उद्धृत किया है। उस उद्धृत किए गए श्लोक का अर्थ यह है कि गानके उपयोगी 'पाणिका' अर्थात ताली आदिका ग्रहण 'ऋच' अर्थात् ऋग्वेदसे किया गया है। इस अर्थको लेकर ही ग्रन्थकारने उसको यहा उद्धृत किया है। इसलिए प्रथम खण्डके 'तत एव ध्रवाध्याये' इस अन्तिम भागके बाद 'प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका इत्यादि' यह पाचवा खण्ड आना चाहिए। उसके बाद तीसरा और फिर छठा खण्ड आना चाहिए। क्योकि इन दोनो वाक्योमें गीतके सहकारी चार प्रकारके वाद्योका उल्लेख करके उनका भी ग्रहण ऋग्वेदसे किया गया है यह बात कही है। वाद्योका चार प्रकारका विभाग किया गया है। झाझ मजीरा आदि ठोस वाद्य 'घन' नामसे कहे जाते हैं। ढोल मृदङ्ग आदि मढे हुए वाद्य 'अवनद्ध' वाद्योकी श्रेणीमें गिने जाते हैं। वीणा सितार आदि वाद्य जिन पर तार फैले होते हैं 'तत' वर्गके वाद्य माने जाते हैं। और बासुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं। इन चारो प्रकारके वाद्योका भी अन्तर्भाव इसी ऋग्वेदसे ग्रहण होने वाली सामग्रीमें हो गया है। यह तीसरे और छठे खण्डोका अभिप्राय है।

दूसरा खण्ड छठे खण्डके साथ जुडना है। वह भी इसी अनुच्छेदका अङ्ग है। पर उसमें 'स्वरप्राधान्यवचनात्' यह समस्त पदका प्रयोग होना चाहिए। पूर्व सस्करणोमें मुद्रित पाठमें ६+२ खण्डोको मिलानेपर 'स्वरप्राधान्यात वचनात' इस प्रकारका व्यस्त प्रयोग पडता है। वह नही होना' चाहिए। अत इस अनुच्छेदका अन्तिम वाक्य ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव सगृहीतम्' इस रूपमें बनेगा। इस प्रकार पहिलेके बाद पाचवा उसके बाद तीसरा और फिर उसके बाद छठा और अन्तमे दूसरा खण्ड मिल कर सुसङ्गत अर्थको उपस्थित करते हैं। इसलिए उनका इसी क्रमसे सन्निवेश होना चाहिए। जिस क्रमसे वे पूर्व सस्करणोमें छपे हैं उनसे कोई भी अर्थ नही निकल सकता है। हमारे सशोधित क्रमसे मुद्रित होने पर वे मूल कारिकाके द्वितीय चरणकी सुसम्बद्ध और सुसङ्गत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अत यही उनका वास्तविक क्रम है।

तृतीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

इसके बाद कारिकाके 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या आनी चाहिए यह व्याख्या आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' इस चौथे खण्डसे प्रारम्भ होती है। परन्तु उसकी समाप्ति अष्टम खण्डमें होती है। यजुर्वेदसे अभिनयोंका ग्रहण किया गया है। ये अभिनय आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक अर्थात् मानसिक और आहार्य अर्थात् वेष भूषा या नेपथ्य विषयक चार प्रकारके होते हैं। इन चारोका ग्रहण यजुर्वेदसे किया गया है इस बातका उपपादन ग्रन्थकारने यहा किया है। पर वह चौथे और आठवें दो खण्डोंको मिला कर पूरा होता है। चतुर्थ खण्डमें 'अङ्गकमणा' अर्थात् आङ्गिक अभिनयका ग्रहण यज्ञोंमें की जाने वाली प्रदक्षिणा आदिके द्वारा होता है केवल इतनी बात आ पाई है। शेष तीन अभिनयोका वर्णन अष्टम खण्डमें आया है। उसमें 'लोहितोष्णीषादि' पदसे नेपथ्य अर्थात् आहार्य अभिनयका

और 'सत्त्वस्य' पदसे सात्त्विक अभिनयका और 'वाचिकस्त्वभिनय' इस शब्दसे वाचिक अभिनयका प्रदशन किया गया है। इस प्रकार चतुथ और अष्टम खण्डोको मिला कर यजुर्वेदसे ग्रहण किए गए अभिनयोकी व्याख्या पूण होती है। इस लिए चतुथ खण्डके बाद अष्टम खण्ड आना चाहिए।

इसमें भी अष्टम वाक्यके भीतर 'ततोऽभिनयानामग्रहणम्। इस प्रकारका पाठ पूवसस्करणोमें छपा है। पर उससे तो अथ बिल्कुल उल्टा हो जाता है। ग्र थकार तो यह कहना चाहते हैं कि 'इस लिए उससे अर्थात् यजुर्वेदसे अभिनयोका ग्रहण किया गया है।' पर पूव पाठ तो उल्टा अथ बोधित करता है। इसलिए उसके स्थानपर ततोऽभिनयाना ग्रहणम्' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सशोधित तृतीय चरणकी व्याख्याका पाठ निम्न प्रकार होगा—

आध्वयवकमप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकमणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव, लोहितोष्णीषा देर्नेपथ्यस्य, तेषु तेषु च कमसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात ततोऽभिनयाना ग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूवमेवोक्त।

इस प्रकार चतुथ और अष्टम खण्डो को मिलाकर यह ततीय चरणकी सुङ्गत व्याख्या बनती है। इस लिए इस स्थलका पाठ इसी क्रम से मुद्रित होना चाहिए था। बीचमे आए हुए ५, ६, ७ खडोका इस ततीय चरणकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नही है। वे इस तीनो खण्ड बीचमें आकर पाठको असङ्गत और अज्ञेय बना देते हैं।

चतुथ चरणकी वत्तिका अनुसधान—

इन वाक्योके क्रम निर्धारणके बाद अब जो ७ तथा ९ सख्याके खण्ड शेष रहते हैं ये दोनो खण्ड मिल कर 'रसानाथवणादपि' इस चतुथ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अतः उन दोनोको एक साथ मिला कर मुद्रित करना चाहिए। 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस भरतसूत्रके अनसार अथववेदसे रसकी उत्पत्ति दिखलानेके लिए ग्र थकारने इन दोनो वाक्योमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिका ग्रहण दिखलाया है। इनमें पहिले अर्थात् सातवें खण्डमें "प्राष्टुदवैषुणाद्यनुभावाना' पदमें अनुभावो का प्रदर्शन किया गया है। परतु यह पाठ अशुद्ध है। 'प्राष्टुदवैषुणादि' कोई अनुभाव नही होते हैं। उनके स्थान पर प्रशम वेपथ्वाद्यनुभावाना' पाठ होना चाहिए। अथववेदमें प्रतिपादित शातिकम और मारण अर्थात् आभिचारिक कर्मोसे क्रमश प्रशम तथा वेपथु आदि अनुभावोका ग्रहण यहा दिखलाया गया है। इस खण्डके 'प्रजाशत्रु प्रभतीनामवधानग्रहणादिना' इस अतिम भागके साथ नवम खण्डके 'प्रधानविभावाना' पदको मिला कर पढ़नेसे विभावोका ग्रहण बन जाता है। अथववेदके शान्तिकम प्रजाके हितकेलिए, और मारणकम या आभिचारिक कम शत्रुके वध आदिकेलिए किए जाते हैं। प्रजा और शत्रु उनमें क्रमश प्रधान आलम्बन विभाव होते हैं। इस लिए विभावोका ग्रहण अथववेदसे हो सकता है। उसके बाद धति, प्रमोद, आदि व्यभिचारिभावोकी चर्चा की गई है। इस प्रकार अथववेदमें विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भावोका सयोग बन जानेसे अथववेदसे रसका ग्रहण किया गया है यह ग्र थकारका अभिप्राय है। इस प्रकार चतुथ चरणकी 'अभिनवभारती' का पाठ निम्न प्रकार होगा—

'आथवणवेदे तु शान्तिक मारणादिकमसु नटस्येव तस्यर्त्विज प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावाना, प्रजा-शत्रुप्रभतीनां अवधान-ग्रहणादिना प्रधानविभावाना, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमाथसता समाहरणमिति विभावादिसामग्र्या रसात्मकचवणासम्भव। ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

इस प्रकार इस स्थलका पाठ अस्त व्यस्त रूपमें छाप देनेसे सारा ग्र थ ही असङ्गत और अज्ञेय बन गया था। उसके क्रमको ठीक तरहसे क्रमबद्ध करके मुद्रित कर देनेपर ग्रन्थका अभिप्राय एक दम स्पष्ट और सुसङ्गत बन जाता है।

न तटस्था एवैते । अत एव रस्यन्ते तत्रव च रस्यन्त इति हि वक्ष्याम ।

तदेव [1]पाठ्यादिरूपोपक्रम गीतातोद्यप्राण अभिनयवगपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मक परप्रीतिमयमेव नाटचम् । ततस्तद्व्युत्पत्तिरिति नाटचमेव वेद इति क्रमेण प्रदर्शितम् ।

तेनाक्रम्ययोजनात्मक नियोगात्मक शासनप्राण-शास्त्रवैलक्षण्येन स्वयमुपारूढ-ज्ञानाभिधानवत[2] प्राणवेदरूपता [3]नाटचस्यैवेति सिद्धम् ॥१७॥

रसकी सामाजिकनिष्ठ स्थिति—

नाटचमें रसकी स्थिति किसमें रहती है इस विषयको लेकर प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । भट्टलोल्लट आदि मुख्य रूपसे अनुकार्यमें ही रसकी उत्पत्ति मानते थे । किन्तु अनुकार्यके रूपका अनुकरण करनेके कारण नटमें भी उसकी प्रतीति होती है यह भी मानते थे । शकुकके मतमें नटकी चेष्टाओसे उसमें रसका अनुमान होता है । अभिनवगुप्तका मत इन दोनोसे भिन्न है । उनके मतमें न अनुकार्य रसका आश्रय होता है और न नट । रसका एकमात्र आश्रय सामाजिक होता है । उसीको रसकी अनुभूति होती है । अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट आदिके रस विषयक सिद्धा तो की विवेचना आगे छठे अध्यायमें विस्तारके साथ करेंगे । यहाँ सक्षेपमें सामाजिक ही वस्तुत रसका आस्वादनकर्ता होता है, उसीमें रसकी उत्पत्ति होती है अपने इस सिद्धा तको वे निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—ये [विभावादि अथवा रस] तटस्थ रूपसे [अर्थात् सामाजिकसे भिन्न कहीं अन्यत्र स्थित रूपमे] प्रतीत नही होते हैं । इसी लिए [सामाजिकके द्वारा] आस्वाद किए जाते हैं [अर्थात् सामाजिकके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है] और उसमे ही [अर्थात् नटमे अथवा अनुकार्य रामादिमें नहीं, अपितु सामाजिकमे ही] आस्वाद योग्य होते हैं इस कारणसे 'रस्यन्ते इति रसा' ['जिनका आस्वादन किया जाय वे रस कहलाते है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आस्वाद्यमान होनेसे [शृङ्गार, हास्य करुण आदि] रस कहलाते हैं यह बात हम आगे [रसाध्याय नामक नाटचशास्त्रके छठे अध्यायमे] कहेगे ।

अभिनव०—इस प्रकार पाठ्यादि रूपसे आरम्भ होनेवाले, गीत तथा वाद्य-प्रधान अभिनय-वगके द्वारा परिपुष्ट होनेवाले, रसकी चर्वणारूप और अत्य त आह्लादात्मक ही नाट्य होता है । और उस [नाट्य] के द्वारा उन [सामाजिको] को [कर्तव्य अकर्तव्यका] ज्ञान होता है इसलिए [वेदके समान शिक्षाप्रद होनेसे] नाट्य ही [मुख्यरूपसे] वेद है यह बात [इस कारिकामे] क्रमसे दिखलाई गई है ।

अभिनव०—इसलिए बलात् कार्य कराने वाले, राजाज्ञा-रूप और शासन प्रधान शास्त्र [वेदादि] से भिन्न प्रकारसे [कान्ताके समान अत्यन्त सरस रूपसे] स्वय [अनायास रूपसे] प्राप्त होनेवाले [कतव्य-अकर्तव्यके] ज्ञानका निरूपण करने वाले [ज्ञाना-भिधानवत] नाट्यको ही मुख्य रूपसे वेद कहा जा सकता है यह बात [इस कारिकासे] सिद्ध हुई ।

---

१ भ म नाट्यादिरूपकोपक्रम । २ भ ज्ञानभिधान विद । ३ म नाद्यवेवस्यैवेति स्थितम् ।

एतदुपसहरति 'वेदोपवेदै' इत्यादि—

भरत०—'वेदोपवेदै सम्बद्धो नाटचवेदो महात्मना[१]।
एव भगवता सृष्टो [२]ब्रह्मणा सववेदिना ।।१८।।

वेदा व्याख्याता । वेदार्थानामुपकारकोऽर्थो वेद्यते येन स उपवेदात्मा । तद्यथा [४]ऋग्वेदस्य मन्त्राथवादादि व्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदशक आयुर्वेद । यतो महात्मा तत सववेदी । सवविश्वाच्च तथाविधसृष्टिशक्त ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें पूव सस्करणोमे मुद्रण सम्बन्धी दो अशुद्धियाँ हो गई हैं। इसकी दूसरी पक्तिमें पूव सस्करणोमें 'नाटचादिरूपकोपक्रम यह पाठ छपा है । परन्तु वह अशुद्ध पाठ है । वृत्तिकार यहाँ इस कारिकाकी व्याख्याका उपसहार कर रहे हैं। कारिकामें पाठ्य गीत अभिनय तथा रस इन चारो अङ्गोको भिन्न भिन्न वेदोसे लेनेकी चर्चा की गई है । वृत्तिकार ने भी अपने इस उपसहार वाक्यमें उन सबका निर्देश किया है । इसलिए 'नाटचादिरूपकोपक्रम' के स्थानपर यहाँ 'पाठ्यादिरूपोपक्रम' यह पाठ होना चाहिए । इसी प्रकार आगे पूव सस्करणो में 'स्वयमुपारूढज्ञानाभिधानविद, यह पाठ छपा है । परन्तु वह भी अशुद्ध है । यह पद आगे आए हुए 'नाटचस्य' पदका विशेषण है । इसलिए उसमें 'विद, के स्थानपर 'वत, प्रयोग होना चाहिए । हमने सशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है ।

इस अत्यन्त सरल और सीधी सी कारिकाकी वृत्ति मुद्रण दोषके कारण बडी दुर्ज्ञेय बन गई थी । उस अस्त व्यस्त पाठको अत्यन्त प्रयत्न पूवक व्यवस्थित कर उसे बोधगम्य बनाया गया है ।।१७।।

अभिनव०—इसी [बात]का 'वेदोपवेद' इत्यादि [अगली कारिका] द्वारा उपसहार करते हैं—

भरत०—इस प्रकार सब कुछ जाननेवाले महान आत्मा ब्रह्माने वेदो तथा उपवेदोंसे सम्बद्ध [अर्थात् वेदों तथा उपवेदोंसे जिसके अङ्गोंका ग्रहण किया गया है इस प्रकारके] नाटचवेद की रचना की ।१८।

अभिनव०—वेदोकी व्याख्या की जा चुकी है [अर्थात् किस वेदसे नाट्यके किस अङ्गका ग्रहण किया गया है इसके प्रतिपादनके प्रसङ्गमे चारो वेदोके नामोका उल्लेख पिछली १७ वीं कारिका मे किया जा चुका है] । वेदोके अर्थ [समझने] मे सहायक अर्थोंका ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह 'उपवेद' कहलाता है । जैसे कि मन्त्र अथवाद आदिरूप व्याख्यानकेद्वारा विदित होनेवाले प्रजाके [स्वास्थ्यके] रक्षणके उपायोका प्रदर्शन करने वाला 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है । क्योकि [ब्रह्माजी] महात्मा हैं इसलिए [वे] सब-कुछ जानने वाले हैं [यह बात 'महात्मना' इस विशेषण पदके द्वारा सूचित की है] । और 'सववित्' सब-कुछ जानने वाले होनेसे उस प्रकार [के सब वर्णोंके उपयोगी नाट्यवेद] की रचना करनेमे समर्थ है ।

१ म वेदोपवेदसम्बन्धो । ठ वेदोपवेद । २ न सम्पन्नो ब्रह्मणा ललितात्मकम । त. नाटचवेदो महषय । ३ ठ म ब्रह्मणा ललितात्मकम् । ४ म ऋग्वेदाख्यमन्त्राथवादादिव्याख्यानोपनयनप्रजारक्षणप्रदशक ।

एवमित्युपसहरन् प्रश्नत्रय कृतोत्तरमिति दशयति । प्रयोजनस्य, अधिकारिणा, अङ्गाना, अङ्गाङ्गिभावस्य च निर्णीतत्वात् ॥१८॥

ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद तथा अथववेद चार मुख्य वेद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका एक एक उपवेद भी माना जाता है। 'चरण व्यूह' के अनुसार इन उपवेदोका क्रम इस प्रकार है—१ ऋग्वेदका उपवेद 'आयुर्वेद' है। २ यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद, ३ सामवेदका उपवेद 'ग धववेद' और ४ अथववेदका उपवेद 'अथवेद' कहलाता है। 'चरण यूह' ने यद्यपि 'आयुर्वेद' को ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है किन्तु सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग थोमें उसे ऋग्वेदका नही अपितु अथववेदका उपवेद माना गया है। ऋग्वेदमें आयुर्वेदका विषय उतना नही मिलता है जितना अथववेदमें पाया जाता है। आयुर्वेदके १ शल्य चिकित्सा, २ शालाक्य चिकित्सा अर्थात आँख, नाक, कान आदि गलेसे ऊपरके अङ्गोकी चिकित्सा, ३ काय चिकित्सा, ४ भूतविद्या, ५ कौमारभृत्य, ६ अगदत त्र, ७ रसायन त त्र और ८ वाजीकरणत त्र इस प्रकार आठ मुख्य अङ्ग माने गए हैं। अथववेदमें इन सभी विषयोका वणन पाया जाता है। इसलिए आयुर्वेदके आचाय 'सुश्रुत' आदि आयुर्वेदको अथववेदका ही उपवेद मानते हैं। यहाँ अभिनवगुप्तने 'चरणव्यूह' के आधारपर उसे ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है। पर उसमें चिकित्सा सम्ब धी विषय साक्षात् स्पष्ट रूपसे नही मिलता है, अपितु विशेष व्याख्याओद्वारा निकालना होता है। इसीलिए आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद बतलाते हुए अभिनवगुप्तको यहा 'म त्राथवादादिव्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदशक' यह विशेषण उसके साथ जोडना पडा है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रजारक्षण अर्थात लोगोके स्वास्थ्यरक्षाके उपायोका वणन ऋग्वेदमे साक्षात नही मिलता है कि तु अथवाद आदि व्याख्यान प्रकारोकेद्वारा प्राप्त हो सकता है। मीमासा दशनमें १ विधि २ म त्र, ३ नामधेय, ४ निषेध और ५ अथवाद रूपसे वेदके पाँच भाग किए गए हैं। उसीके आधारपर यहाँ 'म त्राथवादादि व्याख्यानोपनीत यह पद लिखा गया है।

अभिनव०—'एव' इस [पद] से उपसहार करते हुए [यहाँ तक] तीन प्रश्नो का उत्तर होगया है यह बात दिखलाई है। क्योकि [पहिली तथा बारहवीं कारिकाकी वृत्तिमे] प्रयोजन, [८-११ कारिकाओकी वृत्तिमे] अधिकारी, और [१७ वीं कारिका मे] अङ्गो तथा अङ्गाङ्गिभावका निरूपण हो गया है।

नाटयवेदकी रचनाका उपसहार—

इस अनुच्छेदमें ग थकारने यह लिखा है कि यहा तक तीन प्रश्नोके उत्तर हो गए हैं। इस बातको समझनेके लिए पिछले प्रकरणोकी ओर फिरसे ध्यान देने की आवश्यकता है। विगत १७ वी कारिकामें विभिन्न वेदोसे नाट्यके विविध अङ्गोको ग्रहण करके ब्रह्माने नाटयवेदका निर्माण किया इस बातको लिख कर ग थकार अर्थात् भरतमुनिने ऊपर पूछे गए पाँच प्रश्नोमेंसे 'कत्यङ्ग' रूप तीसरे प्रश्नका समाधान करनेका यत्न किया है। इसके पूव पहिली तथा १२वी कारिकाओकी वत्तिमें अपनी प्रवृत्ति तथा नाटय निर्माणके प्रयोजनका प्रतिपादन कर चुके हैं। और ८-११ तक चार कारिकाओंमें नाटयके अधिकारियोंका निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार यहाँ तक पाँच प्रश्नोंमेसे १ प्रयोजन, २ अधिकारी और ३ अङ्गविषयक तीनका सक्षेपमें उत्तर दिया जा चुका है। यह ग थकारका अभिप्राय है ॥१८॥

एव पितामहसदर्शेन सवदा नाट्यवेदशरीर-रूपकनिर्माणे कविना भाव्यमिति प्रदश्य तत्र विभवयुक्तो विधेयनटजनश्च राजा प्रयोजयिता, भरतमुनिसदृशश्च सम्पन्न-परिवार सववित् प्रयोक्ता, [1]प्रयोजक-महोत्सवप्राय प्रयोगकाल, क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्या [2] विगतरागद्वेषा, मध्यस्थवृत्तयो निमलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवनयोग्यतोपेता आहितरसास्वादा सामाजिका, इत्येतत् पुराकल्पमुखेन दशयत्यध्याया तग्रन्थेन[3] 'उत्पाद्य नाट्यवेद तु' इत्यादिना—

भरत०—उत्पाद्य नाट्यवेद तु [4]ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया [5]सृष्ट स सुरेषु [6]नियुज्यताम् ॥१६ ॥

राजैव प्रयोजयितु शक्त इति तु-शब्द । इतिहासो दशरूपकम् ॥ १६ ॥

राजा आदि ही नाट्यका प्रयोजक हो—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यवेदके शरीरभूत रूपकके निर्माण करनेमे कविको सदव पितामहके समान [नाट्य सम्बन्धी समस्त विषयोका पूण ज्ञाता तथा प्रजा जनो अर्थात् समाजिकोका शुभचिन्तक] होना चाहिए यह बात [यहा तक] दिखला कर [अब अगली कारिकामे] १ उसमे समृद्धिशाली और नट-मण्डलको अधिकारमे रखने वाला राजा [नाटकका नटोके द्वारा] प्रयोग कराने वाला [होना चहिए श्लोक १-१६] २ भरतमुनिके समान विशाल परिवार वाला और [नाट्यके अभिनय विषयक] सब बातोको जानने वाला [नट उस नाटकका] प्रयोग [अभिन्य] करने वाला [होना चाहिए श्लोक १-२४] ३ प्रयोग कराने वाले [राजा आदि] के [यहाँ होने वाला कोई] महोत्सव जैसा समय [नाटकके अभिनयकेलिए निश्चित किया जाना चाहिए श्लोक १-५४] । ४ क्रीडाके प्रस्ताव [अर्थात् मनोरञ्जक नाटक] के द्वारा शिक्षा देने योग्य, राग-द्वेषसे रहित [अत एव] मध्यस्थ वृत्ति वाले, हृदयदपणके निमल होनेपर [अर्थात् दपणके समान स्वच्छ हृदयवाले] एव [नाटकके देखते समय] तन्मय हो सकनेकी योग्यतासे युक्त [अर्थात् सहृदय] और जिनको रसका आस्वाद हो सके इस प्रकारके सामाजिक होने चाहिए इन सब [बातो] को पूर्वकालके इतिहासको दिखलाते हुए 'उत्पाद्य नाट्यबेद' इत्यादि [से आरम्भ करके] अध्यायके अन्त तकके ग्रन्थसे दिखलाते हैं—

भरत०— [इस प्रकार] नाट्यवेदकी उत्पत्ति करनेके बाद ब्रह्माजीने देवताओंके राजा [इन्द्र] से कहा कि मैंने [आप लोगोंकी प्राथनाके अनुसार 'इतिहास' अर्थात्] दशरूपककी रचना कर दी है अब आप देवताओकेद्वारा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] करावें ।१६।

अभिनव०—राजा ही [वैभवसम्पन्न होनेके कारण नाटकका] प्रयोग करानेमे समर्थ हो सकता है इस [बातके बोधित कराने] केलिए [कारिकामे] तु-शब्द [दिया गया] है । इतिहास शब्दसे दशरूपक [अर्थात् नाटक] का ग्रहण होता है ।

---

१ म प्रयोजनमहोत्सवसदृश । २ उपदेश्या । ३. अध्यापनग्रन्थेन । ४ ज ब्रह्मावोचत् सुरेश्वरम् । ढ त प्राह शक्र पितामह । ५. ठ दृष्ट । ६. त निवेश्यताम् ।

भरत०—कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च [1]जितश्रमा ।
तेष्वय नाट्यसञ्ज्ञो[2] हि वेद सङ्क्राम्यता त्वया ॥ २० ॥

अभिनव०—कुशला ग्रहणधारणयोग्या । विदग्धा ऊहापोहसमर्था । प्रगल्भा परिषद्यभीरव । जितश्रमा [3]योग्या समुचितदेहा, अखिन्नकायाश्च ॥ २० ॥

[प्रक्षिप्त भरत०—तच्छ्रुत्वा [4]भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[5] ।
[6]प्राञ्जलि प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेशका' यह पाठ बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें पाया जाता है । पर तु वह अशुद्ध है । उसमें 'उपदेशका' के स्थानपर 'उपदेश्या' पाठ होना चाहिए । यह पद 'सामाजिका' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है । नाट्यमें सामाजिक 'उपदेशक' नही 'उपदेश्य' होता है । अत यहा 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्या' यही पाठ होना उचित है । दूसरी जगह 'दशयत्यध्यापनग्र थेन' इसके स्थानपर 'अध्याया तग्र थेन' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अत हमने सशोधित रूपमे इ ही पाठोको प्रस्तुत किया है ॥१९॥

नटोंकी योग्यता—

भरत०— [जो देवता इस दशरूपकको ग्रहण तथा धारण करनेमे] कुशल [अर्थात् समथ], बुद्धिमान् [अर्थात् ऊहापोह करनेमे समथ], एव प्रगल्भ [अर्थात् अभिनय करते समय सभामे न घबडाने वाले] और ['जितश्रम' अर्थात्] न थकने वाले हो उनको इस नाटच नामक वेदकी शिक्षा देनेकी आप व्यवस्था करो [यह ब्रह्माजीने इन्द्रसे कहा] ।२०।

अभिनव०—[श्लोकमे आए हुए] 'कुशल' पदसे ग्रहण तथा धारण करनेके योग्य [अर्थात् सिखलानेपर जो शीघ्र इस विद्याको ग्रहण कर सकें और उस विद्याको दीघकाल तक स्मरण रख सकें इस प्रकारके व्यक्तियोंका ग्रहण करना चाहिए] । और 'विदग्ध' पदसे ऊहापोह करनेमे समथका ग्रहण होता है । [अर्थात् जो इस विद्याको पूण रूपसे ग्रहण करनेकेलिए सदिग्ध स्थलोपर उसके स्पष्टीकरणकेलिए आवश्यक तक-वितर्क कर सकें इस प्रकारके व्यक्ति 'विदग्ध' कहलाते है] । 'प्रगल्भ' पदसे सभामे न घबडाने वालोका ग्रहण होता है । और 'जितश्रम' पदसे अभ्यासके योग्य [दृढ] देहवाले और न थकने वाले [व्यक्तियो] का ग्रहण होता है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे जितश्रमा' पदकी व्याख्या रूपमें 'जितश्रमा योग्या समुचितदेहा' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोंमें मुद्रित हुआ है । उसकी अथ सङ्गति तो लग सकती है फिर भी वह ठीक नही जान पडता है । उसमें यदि समस्त पद मानकर 'योग्या समुचितदेहा' यह पाठ रखा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा । 'योग्या पदका अथ अभ्यास है । जिनके शरीर नाटयका अभ्यास और अभिनय करनेमें समथ अर्थात न थकने वाले हो वे 'जितश्रम' कहलाते हैं यह उसका अथ होगा । अत हमने इसी पाठ को प्रस्तुत किया है ।२०।

[प्रक्षिप्त भरत०— ब्रह्माजीने जो कुछ कहा था उसको सुन कर [उसके उत्तर रूपमे] हाथ जोड कर और [सिर झुका कर] नमस्कार करते हुए इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीसे बोले कि —।२१।]

---

१ प जितक्लमा । २ न म नाटयसञ्ज्ञस्तु । ३ योग्या समुचितदेहा ।
४. वचनम् । ५ म म त समुदाहृतम् । ६ न म विनमात् प्राञ्जलि ।

भरत०—ग्रहणे धारण ज्ञाने[1] प्रयोगे चास्य सत्तम ।
[2]अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि[3] ॥ २२ ॥

ग्रहण इति पूर्व गुरुमुखाद ग्रहणम् । तस्याविस्मरण धारणम् । ज्ञानमूहापोहविचार । प्रयोग [4]परिषदि प्रकटीकरणम् । चकारेण च तदुपयोगिगुणनिका व्यायामाभ्यासादि । देवा सुखभूयिष्ठत्वात् स्वाम्यादेशात् कथमपि यदि प्रवर्तेरन् तत्पूणपयवसान[5] तु दुलभमेवतैरित्यथ ॥ २२ ॥

पाठसमीक्षा—इस २१ वी कारिकापर अभिनवगुप्तकी कोई वत्ति नही पाई जाती है । इससे यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह नाट्यशास्त्रका श्लोक नही है । अर्थात बादका बढाया हुआ प्रक्षिप्त पाठ है । यद्यपि अथको पूण रूपसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे यहा इस श्लोककी आवश्यकता अनुभव होती है । इसके पहिले वाले श्लोकोमें ब्रह्माजी इ द्रसे और अगले श्लोकमें इ द्र ब्रह्मासे कह रहे हैं । इन दोनोके वचनोके बीचका यह श्लोक उन दोनोके पौर्वापय और सम्ब धको बतलाता है । फिर भी इसपर अभिनवभारती न होनेसे यहा उसको प्रक्षिप्त मानना ही उचित है । अत हमने उसको कोष्ठमें और भि न टाइपमें दिया है । पर पूव सस्करणोके साथ सख्या क्रममें समानता बनाए रखनेकेलिए उस परसे सख्या नही हटाई है ॥ २१ ॥

देवता नाट्य प्रयोगके योग्य नहीं है—

भरत०—हे प्रभो [सत्तम] देवता लोग इस [नाट्यविद्या] को ग्रहण करने [अर्थात समझ सकने] धारण करने [अर्थात् स्मरण रखने] उसके ज्ञान [अर्थात् उसके विषयमे ऊहापोह कर सकने] तथा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] कर सकनेमे असमथ हैं । [अत] हे भगवन् वे नाट्य कायके अयोग्य हैं ॥ २२ ॥

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'ग्रहण' इस [पद] से पहिले गुरु-मुख से [नाट्यविद्याका] पढ़ना [अथ अभिप्रेत है] । उस [सीखी हुई नाट्यविद्या] को न भूलना [अर्थात् याद रखना] 'धारण' [कहलाता] है । [उसके विषयमे] तर्क-वितक द्वारा विचार 'ज्ञान' [कहलाता] है । परिषद्में [अर्थात् रङ्गशालामे सामाजिकोके बीचमें] उसको प्रदर्शित करना [उसका अभिनय करना] 'प्रयोग' [कहलाता] है । [श्लोकमे आए हुए] चकार [अर्थात् च पद] से उस [अभिनय या प्रयोग] के उपयोगी बार बार आवृत्ति [गुणनिका], श्रम, व्यायाम और अभ्यास आदि [का ग्रहण करना चाहिए । देवता लोग नाट्य कायके अयोग्य और उसका अभिनय करनेमे असमर्थ है इसका कारण अगली पक्तिमें दिखलाते हैं] देवता लोग सुख प्रधान [अर्थात् परिश्रम न कर सकनेवाले आराम-तलब] होनेके कारण [स्वय अपनी रुचिसे तो उस कार्यमे प्रवृत्त हो ही नही सकते हैं किन्तु] यदि स्वामीके [अर्थात् इन्द्रके, अर्थात् मेरे] आदेशसे जैसे तैसे प्रवृत्त भी हो भी तो उनके द्वारा उसकी पूर्ण समाप्ति होना तो कठिन ही है यह अभिप्राय है ॥२२॥

१ ब चैव । २ ब न न शक्ता भगवन् देवा न योग्या । ३ प. नाट्यकर्मसु ।
४ ब पषदि । ५ म भ तत्पूर्णपर्यवसानत्व । दुर्लभमेतै ।

तर्हि कि क्रियतामित्याह 'य इमे' इति—

भरत०—य इमे वेदगुह्यज्ञा [1]ऋषय [2]सशितव्रता ।
[3]एतेऽस्य ग्रहणे शक्ता प्रयोगे धारणे तथा ॥ २३ ॥

'वेदज्ञा' इति ग्रहणधारणसामथ्यम् । गुह्यज्ञत्वन अध्यात्मोपनिषदथवेदनधारणा-कौशलेन रसाद्युपयोगिसात्त्विकसम्पादनसामर्थ्यं[4]। यद्वक्ष्यति—'सत्त्व मन प्रयत्ननिवत्यम्' इत्यादि । तेन—

न्यसेत् प्राण भ्रुवोमध्ये स्तम्भो वाष्पश्च चक्षुष ।
स्वेदो हृदि गुदे कम्प पुलको मूर्ध्नि वक्त्रत ।
वैवर्ण्य स्वरित कण्ठे प्रलयो नासिकान्तरे ॥

इत्यादियोग्यत्व तेषाम् । अत एवानुषङ्गतो नटस्यापि परमपुरुषाथलाभो धारणादिवशात् । 'ऋषय' इति [5]दशनाद् । ऋषि इति ऊहापोहयोग्या । 'सशितव्रता' इति अभ्यासे शक्ता । तथेति ग्रहणादीनामाथक्रम प्रदशनीय इत्यथ । [6]'इमे' इति प्रत्यक्षेणैव दृष्टमेषा तदिति दशयति ॥२३॥

अभिनव०—तो फिर क्या करना चाहिए यह [अगले श्लोकमे] कहते है—

भरत०—वेदोके रहस्यको समझने वाले एव उत्तम व्रतोका अभ्यास करने वाले जो ये ऋषि है वे इसके ग्रहण करने, धारण करने तथा प्रयोग करने मे समथ है । २३ ।

अभिनव०—'वेदज्ञा' इससे ग्रहण और धारण करनेकी सामथ्य तथा 'गुह्यज्ञत्व' केद्वारा अध्यात्म उपनिषदोके अथको स्मरण रखनेमे चतुर होनेसे रसादिके उपयोगी सात्त्विकभावोके अभिनयमे सामथ्य सूचित कीहै । जैसा कि आगे कहेगे कि—मानसिक प्रयत्नसे सम्पादित व्यापार 'सत्त्व' कहलाते है । इसलिए—

अभिनव०—प्राणोको भौहोके बीचमे स्थिर करे [इसके द्वारा] 'स्तम्भ' तथा आखोके आसुओ [का अभिनय होता है] । हृदयमे [प्राणके स्थिर करनेसे] स्वेद, गुदामे [प्राणके स्थिर करनेसे] कम्प, मूर्धामे [प्राणके स्थिर करनेसे] पुलक, मुखसे विवणता, कण्ठमे [प्राणके स्थिर करनेसे] स्वरभेद और नाकके भीतर [प्राणको स्थिर करने] से प्रगाढ मूर्च्छा [का कृत्रिम अभिनय किया जा सकता है] ।

अभिनव०—इत्यादि [सात्त्विकभावोके अभिनय] मे उनकी योग्यता [सूचित होती है] । इसी लिए [अभिनयमें कृत्रिम] धारणा आदिकेद्वारा नटको भी परम-पुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है [यह सूचित होता है] । 'ऋषय' यह 'द्रष्टा' होनेसे [कहा है] । 'ऋषि' इससे ऊहा-पोहके योग्य है, 'सशितव्रता' पदसे अभ्यासमें समथ है, 'तथा' इस पदसे ग्रहण आदिका आथक्रम लेना चाहिए यह अभिप्राय है । 'इमे' इससे इनको वह [नाट्य] प्रत्यक्ष देखा हुआ है यह प्रकट किया है ।

---

१ ज मुनय ।　　२ न ब्रह्मवादिन । य त ब्रह्मसम्भवा । ख शसितव्रता । म सश्रितव्रता ।　३ ड एते सग्रहणे । य त ते ह्यस्य ।　४ सम्पादितसामथ्यम ।
५ व दर्शादृषि ।　　६ म इदमिति । त इम इति ।

भरत०—'श्रुत्वा तु शक्रवचन मामाहाम्बुजसम्भव ।
त्व [2]पुत्रशतसयुक्त प्रयोक्तास्य भवानघ ।। २४ ।।

श्रुत्वा त्विति—मा त्विति तु शब्देन ऋषिभ्योऽप्यन्येभ्योऽस्य विशेषमाह । 'ब्रह्मैव माम् आह' इत्यादरातिशय । पुत्रशतयोगात् अन्योन्यप्रवर्तितबहुतरपरिवारयोग । 'अनघ' इत्यध्येषणाया सोत्साहपरिषदा कृतसम्मानस्य सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिरिति सूचितम ।।२४।।

इस श्लोकमे जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है वह कुछ विचित्र और अटपटा सा सिद्धान्त प्रतीत होता है । ऋषि मुनि लोग स्वभावत विषय विमुख नाचने गाने आदि नाटचोपयोगिनी विद्याओसे अपरिचित और सरल स्वभावके होते हैं । नाट्य, अभिनय आदिसे उनका सामान्यत कोई सम्बन्ध नही होता है । पर यहा उनको ही अभिनयके योग्य मान कर नटोका काय उनको सौपा गया है । और हर समय रास रङ्गमें मग्न रहने वाले देवताओको नाटचके अयोग्य ठहराया गया है । उससे भी अधिक आश्चयकी बात यह है कि आगे चल कर इन ऋषियोके साथ अभिनय करनेके लिए अप्सराओका सम्बन्ध जोडा गया है । देवताओको यदि अभिनयकेलिए नियत किया जाता तो उनके साथ तो अप्सराओका सहयोग और सम्बन्ध कुछ ठीक था किन्तु वल्कल जटा धारी ऋषियोको नटोके कायमें नियुक्त करना और फिर उनके साथ अप्सराओको जोडना यह कुछ ठीक नही जचता है । वह तो कुछ वैसी ही बात होगई जिसकी कि निन्दा स्वय भरतमुनिने पूव उद्धत किए हुए—

चेक्रीडितप्रभतिभि विकृतैश्च शब्दै—
युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगा ।
यज्ञक्रिया रुरुचमधरघ तास्त—
र्वेश्या द्विजरिव कमण्डलुदण्डहस्तै ।।

इत्यादि श्लोकमें की है । दण्ड कमण्डलुधारी ब्राह्मणोकेसाथ वेश्याओके सम्बन्धकी तरह ऋषियो केसाथ अप्सराओ और नाटचका सम्बन्ध भी हास्यास्पद सा ही है ।। २३ ।।

भरतमुनिको अभिनयका आदेश—

भरत०—इन्द्रके वचनको सुन कर ब्रह्माजी मुझ [भरतमुनि] से बोले कि हे महात्मन् [अनघ शुद्धात्मन्] सौ पुत्रो [के विशाल परिवार] से युक्त तुम इस [ब्रह्माजी द्वारा प्रस्तुत किए गए दशरूपक] का प्रयोग [अभिनय] करो । २४ ।

अभिनव०—'श्रुत्वा तु' [यह कारिकाका प्रतीक भाग है] । 'मा तु' मे तु शब्द से अन्य ऋषिजनोसे भी इन [भरतमुनि] की विशेषताको सूचित किया गया है । 'ब्रह्माजीने ही मुझसे स्वय कहा' इससे आदरातिशय सूचित किया है । सौ पुत्रोके सम्बन्धसे परस्पर प्रवर्तित विशाल परिवारका सम्बन्ध सूचित किया है । [अधीष्ट सत्कारपूर्वकौ व्यापार । अष्टाध्यायी ३—३—१६१ । अर्थात् सत्कारपूर्वककी गई प्रेरणा को 'अधीष्ट' या अध्येषणा कहते हैं] 'अनघ' इस [पदसे] सत्कारपूर्वक की गई प्रेरणा से यह सूचित किया है कि उत्साह युक्त परिषद्के द्वारा सम्मान प्राप्त होनेसे [नटोकेद्वारा] अभिनयका सम्पादन अत्यन्त सुन्दर रूपमे किया जा सकता है ।।२४।।

---

१ ठ श्रुत्वेमम् । न शक्रस्य वचन श्रुत्वा । २ ख पुत्रशतसम्पन्न ।

भरत०—आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
[1]पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः[2] ॥ २५ ॥

आज्ञापित इत्यनुल्लङ्घनीयवचनतास्योक्ता । पितामहादित्यनाचार्योऽपि[3] तत्त्वशङ्का व्युदस्यति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो दशरूपकम् । प्रयुज्यते निवर्त्यतेऽनेनेति प्रयोगो नाट्यलक्षणं शास्त्रम् । तदहं पुत्रान् पाठयाञ्चकार । प्रयुक्तिश्च प्रयोगः । तमध्यवसायपर्यन्तमहं पुत्रानध्यापयामास । तथाहि चकारं यथा प्रयुक्तिं ते पुत्राः सम्यक् प्राप्तवन्त इत्यर्थः । च-अपिशब्दाभ्यां सूचिते द्वे-द्वे आवृत्ती । मुनिसमुचितकर्तव्यान्तरव्यासङ्गोऽपि लिटा[4] सूचितः । 'तत्त्वतः' इति नाट्याचार्यस्य सम्यगाप्तत्वं गम्यते ॥२५॥

नाट्यवेदका शिक्षण—

भरत०—[पितामहकी इस प्रकारकी] आज्ञा पाकर पितामहसे [स्वयं] नाट्यवेदको पढ़ कर मैंने अपने पुत्रोको उसे तथा उसके प्रयोगको भी सूक्ष्मरूपसे पढाया ॥ २५ ॥

अभिनव०—'आज्ञापित' इस पदसे इन [ब्रह्माजी] के वचनकी अनुल्लङ्घनीयता सूचित की है। 'पितामह' इस पदसे [ब्रह्माजीके नाट्यकलाके] आचार्य न होनेपर भी [नाट्यका ज्ञान वे ठीक करा सकते है और] तत्त्व विषयक शङ्काका निराकरण कर सकते है [यह सूचित किया है]। जिसका अभिनय किया जाय वह 'प्रयोग' है इस व्युत्पत्तिसे दशरूपकको प्रयोग कहते है। जिसके द्वारा [अभिनयकी कलाका ज्ञान] सम्पादन किया जाय वह 'प्रयोग' है इस [दूसरी व्युत्पत्ति] के अनुसार नाट्यशास्त्रको 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी मैंने पुत्रोको पढाया। और अभिनय [प्रयुक्ति] को भी 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी साक्षात्कार-पर्यन्त मैंने पुत्रोको पढ़ाया। अर्थात् मैंने ऐसा यत्न किया जिससे पुत्रोने अभिनयको भली प्रकारसे समझ लिया। 'च' और अपि शब्दोके द्वारा दो-दो आवृत्तिया सूचित की। लिट् लकार [के अध्यापयामास प्रयोग] से मुनिजनोके योग्य [सन्ध्या वन्दनादि] अन्य कर्तव्योसे [शिक्षण] मे होनेवाला व्यवधान भी सूचित किया है। और 'तत्त्वत' इस पदसे नाट्याचार्यकी पूर्ण प्रामाणिकता सूचित की है।

इस वृत्ति भागमें ग्रन्थकारने 'प्रयोग' शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्ति की है। प्रयुज्यते इति प्रयोग' इस व्युत्पत्तिके द्वारा दश प्रकारके रूपक प्रयोग कहलाते हैं। 'प्रयुज्यते निवर्त्यते इति प्रयोग' इस युत्पत्तिसे प्रयोग' शब्दका अर्थ नाट्यशास्त्र किया है। और प्रयुक्तिश्च प्रयोग' इस व्युत्पत्तिसे 'प्रयोग शब्दसे अभिनयका ग्रहण किया है। इन तीनोकी ही शिक्षा भरतमुनिने अपने पुत्रोको दी। च तथा अपि पदोसे उस शिक्षणकी दो-दो बार आवृत्ति भी सूचित की है ॥२५॥

---

१ न सुतानध्यापयामास प्रयोगे वापि सत्तम । ठ त पुत्रानाध्यापय योग्यान ।

२ प म पुस्तकयोरधोऽङ्कित श्लोकद्वयमधिकं दृश्यते—
नान्येऽन्ये धारणे योग्या प्रयोगे वापि सत्तम । इत्युक्तोऽस्य प्रयोगस्य कुरु यत्नमतन्द्रित ॥
आज्ञां विभोर्विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् । सुतानध्यापयामास प्रयोगार्थी तदाज्ञया ॥

३ व ग अनचार्योषितत्वाशङ्का । ४ म भ लिङ्गात् ।

भरत०--शाण्डिल्य चैव[1] वात्स्य[2] च कोहल [3]दत्तिल [4]तथा ।
[5]जटिलाम्बष्टकौ चैव [6]तण्डुमग्निशिख[7] तथा ॥२६॥
सैन्धव [8]सपुलोमान [9]शाड्वलिं [10]विपुल तथा ।
[11]कपिञ्जलिं [12]वादिर च यमधू्म्रायणौ तथा ॥२७॥
[13]जम्बुध्वज [14]काकजङ्घ [15]स्वणक तापस तथा ।
[16]कैदारिं शालिकर्णं च दीर्घगात्र च शालिकम् ॥२८॥
[17]कौत्स [18]ताण्डायनिं चैव [19]पिङ्गल [20]चित्रक तथा ।
[21]बन्धुल [22]भल्लक चैव मुष्ठिक सैन्धवायनम् ॥२९॥
[23]तैतिल भागव चैव शुचिं बहुलमेव च ।
[4]अबुध बुधसेन च [25]पाण्डुकर्णं [26]सुकेरलम ॥३०॥

भरत मुनिके सौ पुत्रोके नाम—

भरतमुनिने अपने जिन सौ पुत्रोको नाटचवेद पढाया उनके नाम आगे गिनाते हैं—

भरत०—१ शाण्डिल्य, २ वात्स्य, ३ कोहल, ४ दत्तिल, ५ जटिल तथा ६ अम्बष्ट, ७ तण्डु तथा ८ अग्निशिखको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।२६।

भरत०—९ सन्धव, १० पुलोमा, ११ शाडवलि, १२ विपुल, १३ कपिञ्जलि, १४ वादरि तथा १५ यम और १६ धूम्रायणको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२७।

भरत०—१७ जम्बुध्वज, १८ काकजङ्घ, १९ स्वणक, २० तापस, २१ कदारि, २२ शालिकण, २३ दीघगात्र तथा २४ शालिकको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२८।

भरत०—२५ कौत्स, २६ ताण्डायनि, २७ पिङ्गल, २८ चित्रक, २९ बन्धुल, ३० भल्लक, ३१ मुष्ठिक तथा ३२ सन्धवायनको [नाटचवेद पढ़ाया] ।२९।

भरत०—३३ तत्तिलि, ३४ भागव, ३५ शुचि, ३६ बहुल, ३७ अबुध, ३८ बुधसेन, ३९ पाण्डुकण तथा ४० सुकेरलको [नाटयवेदकी शिक्षा दी] ।३०।

---

१ ठ म चापि । ड जीवम् । २ न वाद्यम् ३ य धूर्तिलम । ४ ड म मुनिम । ५ ठ म जटुला । प बडिला । ६ ञ म त ताण्ड्यं । ठ ताण्डुम । ७ प म मुखम ।

८ ज पुसलो । त पुलोमान सन्धवञ्च । ९ ज शाडवलिम । प वालिकम । न म पाटिलम । १० न म विबुधम । ११ न त यम धूम्रायण चव कपिञ्जलमथापि च । ञ त कापिञ्जलम । १२ ठ म बादरिम । ड वादरम ।

१३ प म जम्बू । न वाष्कलम । थ जम्बूकम । ख जङ्घ च । १४ ख कोकमुस्त च । त काकमङ्गम । १५ ज स्वणकुत्तापसौ । ख पूर्णक्र तापस तथा । १६ त — पुस्तके पक्तिद्वय नास्ति । ठ म केदारम । ज केदारिम ।

१७ ज कोत्सम । १८ ज ताम्यासिनम । प ताण्डायनिं । १९ ज पिण्ड । २० ठ छत्रकम् । न छत्रमेय च । २१ त अम्धुकम् । न नुजलम । ख बल्लकम् । ख भालुकम । २२ प वाष्कलम । त वालुकम ।

२३ ख तिन्तिलम । २४ ज अम्बुधम । २५ ज पारकर्णकम् । प पाण्डुकर्णिम । २६ ज म सकेरलम । त सतोरलम ।

भरत०—[1]ऋजुक मण्डक चैव [2]शम्बर [3]वञ्जुल तथा ।
मागध [4]सरल चैव[5] कर्तार [6]चोग्रमेव च ॥३१॥
[7]तुषार [8]पार्षद चैव गौतम [9]बादरायणम् ।
[10]विशाल शवल चैव सुनाभ मेषमेव च ॥३२॥
[11]कालिय भ्रमर चैव तथा पीठमुख मुनिम् ।
[12]नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पद [13]सोत्तम तथा ॥३३॥
[14]पादुकोपानहौ चैव [15]श्रुति चाषस्वर तथा ।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ [16]च [17]वितण्डच ताण्डचमेव च ॥३४॥
[18]कतराक्ष हिरण्याक्ष [19]कुशल दुस्सह तथा ।
[20]लाज भयानक चैव बीभत्स सविचक्षणम् ॥३५॥

भरत०—४१ ऋजुक, ४२ मण्डक, ४३ शम्बर, ४४ वञ्जुल, ४५ मागध, ४६ सरल, ४७ कर्ता और ४८ उग्रको [नाटचवेदकी शिक्षा दी] ।३१।

भरत०—४६ तुषार, ५० पार्षद, ५१ गौतम, ५२ बादरायण, ५३ विशाल, ५४ शवल, ५५ सुनाभ तथा ५६ मेषको [नाटचवेदकी शिक्षा दी] ।३२।

भरत०—५७ कालिय, ५८ भ्रमर, ५६ पीठमुख, ६० मुनि, ६१ नखकुट्ट, ६२ अश्मकुट्ट, ६३ षटपद और ६४ उत्तमको [मैंने नाटचविद्याकी शिक्षा दी] ।३३।

भरत०—६५ पादुक, ६६ उपानह, ६७ श्रुति, ६८ चाषस्वर, ६६ अग्निकुण्ड, ७० आज्य कुण्ड, ७१ वितण्डच और ७२ ताण्डचको [नाटचवेद पढ़ाया] ।३४।

भरत०—७३ कतराक्ष, ७४ हिरण्याक्ष, ७५ कुशल, ७६ दुस्सह, ७७ लाज, ७८ भयानक, ७६ बीभत्स तथा ८० विचक्षणको [नाटचवेद पढ़ाया] ।३५।

भरतमुनिने ब्रह्माजीकी आज्ञासे और लोक कल्याणकी कामनासे अपने जिन सौ पुत्रोको नाटचवेदकी शिक्षा प्रदान की थी उनके नाम गिनानेका प्रकरण चल रहा है । इसमें पिछले पष्ठपर दिए हुए पाच श्लोकोमें ४० पुत्रोके नाम गिनाए गए थे । वही प्रकरण इस पष्ठपर भी चल रहा है । पूव पष्ठके समान इस पष्ठपर भी भरतमुनिके मूल पाच ही श्लोक दिए गए हैं । और उनमे भी ४० पुत्रोके नामोका समावेश हुआ है । इस प्रकार इन दोनो पष्ठोमें मिलाकर ८० नाम हुए ।

१, ज मिश्रकम । ड त ऋजु कमण्डलुम् । २ त शावरसु । प शाम्बकम । ३ ज वञ्चुलम । ४ प सुरलम । फ सारणम् । त सुकलम् । ५ न चक । त चव कातरम । ६ न चात्रिमेव च ।

७ ठ म तुषादम । ८ म पावतम । त पवतम । भ पाशलम् । ६ न वादरायणिम । १० ख उदारि वरुण चैव वर्णिण हसमेव च ।

११ ज त कालेयम । १२ ठ म तरुकुट्टा । १३ ड त चोत्तमम् । भ सप्तमम ।

१४ त पानहोपा । ड पादुकौपानहौ । १५ ज सश्रुत षटस्वरम् । न श्रुति च स्वरमेव च । १६ ख अश्मकुण्डौ च । १७ ज विताण्डच तण्डच।

१८ न त केकराक्षम । १६ न नकुल दुष्वह तथा । २० न जालम । प त जलम । म—पुस्तके इदमर्धं नास्ति । २१ फ सुविचक्षणम् ।

भरत०—[1]पुण्ड्राक्ष पुण्ड्रनास चाप्यसित [2]सितमेव च ।
विद्युज्जिह्व महाजिह्व [3]शालङ्कायनमेव च ॥३६॥
[4]श्यामायन माठर च लोहिताङ्ग तथैव च ।
सवर्तक [5]पञ्चशिख त्रिशिख [6]शिखमेव च ॥३७॥
शङ्खवर्णमुख [7]षण्ड शकुकर्णमथापि च ।
शक्रनेमि गभस्ति चाप्यशुमालि शठ तथा ॥३८॥
विद्युत शतजङ्घ च [8]रौद्र वीरमथापि च ।
पितामहाज्ञयास्माभिर्लोकस्य च गुणेच्छया[9] ॥३९॥
प्रयोजित पुत्रशत [10]यथाभूमिविभागश ।
[11]यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यस्तस्मिन् स योजित ॥४०॥

भरत०—८१ पुण्ड्राक्ष, ८२ पुण्ड्रनास, ८३ असित, ८४ सित, ८५ विद्युज्जिह्व, ८६ महाजिह्व और ८७ शालङ्कायनको [नाटयवेद सिखाया] ।३६।

भरत०—८८ श्यामायन, ८९ माठर, ९० लोहिताङ्ग, ९१ सवतक, ९२ पञ्चशिख, ९३ त्रिशिख और ९४ शिखको [नाटयवेदकी शिक्षा दी] ।३७।

भरत०—९५ शङ्खवणमुख, ९६ षण्ड, ९७ शकुकण, ९८ शक्रनेमि, ९९ गभस्ति, १०० अशुमाली तथा १०१ शठको [नाटयवेदका अध्यापन किया] ।३८।

भरत०—१०२ विद्युत, १०३ शतजङ्घ, १०४ रौद्र और १०५ वीरको पितामहकी आज्ञासे और लोक कल्याणकेलिए [मैंने पढ़ाया । सौके स्थानपर १०५ नाम दिए हैं ।] ।३९।

भरत०—सौ पुत्रोको काय विभागके अनुसार नियुक्त किया । और जो जिस कार्य मे जिस ढगसे योग्य [हो सकता] था उसको उसी [काय] मे [मैंने उचित रीतिसे] लगा दिया ।४०।

---

१ ठ पुण्ड्राक्ष पूर्णनास च । अत्र त —पुस्तके —
किरीटिनञ्च माषञ्च तथा धन्विनमेव च ।
शिलापट्ट स्वणगुञ्ज शिलाशिनमथापि च ॥३६॥
अग्निवेश शिव चव ध्यान जप्य सुमङ्गलम ।
जशिषव्य कुण्डिन च तथा कलशमेव च ॥३७॥
विद्धाक्ष घ्रूणनासञ्चाप्यसित सितमेव च ।
इत्यधिक दृश्यते । २ प असितासितमेव च । ३ ख साल । ४ प त्यामायनम । ५ ठ पञ्चसखम् । ६ ज शिखिमेव च । ठ शिखरमेव च । ७ ज खण्डम् । इद पक्तिद्वय त पुस्तके नास्ति ।
८ प म रौद्रवीर । ९ अय श्लोक त—पुस्तके नास्ति ।
१० न एवमादि शत पूर्णं । समग्र भूमिभागश । ड. त एवमाद्य पुत्रशत समग्र भूमि भागश । ख साग्र भूमिभागश । ११. त यस्मिन् कर्मणि यो योग्यस्तस्मिन् स विनियोजित । भ योग्योऽसौ तत्र योजित ।

पुत्रान् नामभिदर्शयति शाण्डिल्यमित्यादिना । अत्र 'प्रसिद्धत्व[1] नटानामादर-कारणमिति तावन्मुख्य नामग्रहण प्रयोजनम् । आनुषङ्गिक त्वन्यदपि । तद्यथा विदूषक-तापसादिनाम्ना [2]तथार्कर्मिणा निवचनलब्धाथयुक्त्या भूमिकाविशेषोपयोग इति ।

अन्यस्त्वाह—शतमेवेह पठित [3]क्वचनाभिनेयाना स्थाय्युत्पादितरसनवक[4]-तद्गतव्यभिचारित्रयस्त्रिशत्-सात्त्विकाष्टकानुरूपाणा पञ्चाशतोऽर्थाना न्याय्यान्याय्य-भदेन नायक-प्रतिनायकविषयतया प्राधान्याभिप्रायेणेति ।

तत्र तु कैशिक्यपि[5] प्रयुक्ता स्यादित्युत्तरग्रन्थावकाशाभाव [6]इत्यलमाभिरसहृदया भिनिवेशव्याख्याभि ।

अभिनवगुप्तके मतसे नाम गिनानेका प्रयोजन—

अभिनव०—शाण्डिल्य इत्यादिसे [२६–४०वे श्लोकतक भरतमुनिके सौ] पुत्रोके नाम दिखलाते है । उसमे प्रसिद्ध होनेसे नटोका आदर करना नाम गिनानेका मुख्य प्रयोजन हे । और गौण प्रयोजन तो और भी हो सकते है । जैसे कि—विदूषक और तापस आदि [के उपयोगी] नामोके निवचनसे प्राप्त अथके अनुसार उस प्रकारके काय करने वालोका भूमिका विशेषमे उपयोग [नामग्रहणका गौण प्रयोजन भी हो सकता है] ।

पूव व्याख्याकारद्वारा निर्धारित प्रयोजन—

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते है कि—सौ [नामो] को ही यहा इस अभिप्रायसे पढा गया है कि कही भी अभिनेय अथ, स्थायी भावोसे उत्पादित नौ रस, उनसे सम्बद्ध ३३ व्यभिचारी भाव और आठ सात्त्विक [भाव] इन सबको मिला कर ९+३३+८=५०अर्थोके, उचित और अनुचित रूपसे क्रमश नायकगत और प्रतिनायकगत [दो प्रकारके हो जानेसे कुल ५०×२=१०० अभिनेय अर्थो] की मुख्यताके अभिप्रायसे [अर्थात मुख्य रूपसे सौ ही अभिनेय अथ हो सकते है इसलिए सौ ही अभिनेताओके नाम गिनाए है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में पूव सस्करणो में 'कचनाभिनेयाना' और 'स्थाय्युत्पादन रसनवक'—पाठ छपे हैं । इनके स्थानपर क्वचनाभिनेयाना' और 'स्थाय्युत्पादितरसनवक' ये पाठ अधिक उपयुक्त हैं । अत हमने उ ही पाठोको प्रस्तुत किया है ।

पूव व्याख्याकारका खण्डन—

अभिनवगुप्त इस व्याख्यासे सहमत नही है इसलिए अगले अनुच्छेदमे वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [सौ अभिनेय अर्थो] मे तो कैशिकीका भी समावेश हो जाता है तब कैशिकी–विषयक अगले ग्रन्थका कोई अवसर नही रहता है । इसलिए असहृदयता-द्योतक [मनमे न जमने वाली] ये खीच-तानकी व्याख्याए ठीक नही है ।

---

१ प्रसिद्धत्वात् ।　　२ तलाकमीना ।　　३ म कश्चना, कञ्चना ।

४ भ स्थाय्युत्पादनरसनवक । न इसनव । ५ भ कशिक्येषा । ६ भ इत्यलमसहृदय ।

यस्मिन्निति उत्तमप्रकृतिविचेष्टितादौ । 'यथेति कश्चित् तदीयहृदयहर्षप्रदर्शन-प्रकारेण योग्यो, अन्यस्तदीयशोकप्रकटीकरणेनेति ।। ३६-४० ।।

अथ सकलप्रयोगप्राणभूतकैशिक्युपयुज्यमानोपकरणान्तर'सम्भरणायोपक्रम दर्शयति 'भारती' इत्यादि—

भरत०—भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा ।
समाश्रित प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजा ।।४१।।

इसका यह अभिप्राय है कि पूर्व व्याख्याकारके अनुसार ९ रस, ३३ व्याभिचारिभाव तथा ८ सात्त्विकभाव मिला कर = ५० अभिनेय तत्त्व बनते हैं। इनके नायकगत तथा प्रतिनायक गत अर्थात याज्य अयाज्य भेदसे दो दो प्रकार होकर अभिनेय अर्थ कुल सौ प्रकारके हो जाते हैं। उनके अभिनयकेलिए १०० ही अभिनेताओंकी आवश्यकता होती है। इसलिए यहा सौ पुत्रोकेही नाम गिनाए गए हैं। यह व्याख्या भरतके किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने की है। पर तु अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह व्याख्या उचित नही है क्योंकि इन १०० अभिनेय अर्थोंमे शृङ्गाररस भी आ जाता है। इसलिए शृङ्गाररसके अभिनयके योग्य जिस कैशिकी वृत्तिका वर्णन आगे ४२ वे श्लोकमे 'कैशिकीमपि योजय' कह कर किया जाना है उस कैशिकी वृत्तिका भी अन्तर्भाव इन सौ अभिनेय अर्थोंमें ही हो जाता है। इन सबका अभिनय इन सौ पुत्रोको ही करना है अत एव कैशिकी वृत्तिका अभिनय भी इन पुत्रोके द्वारा ही हो जाता है। इस दशामे आगे ४५ वे श्लोकमें कैशिकी वृत्तिका प्रयोग पुरुषो द्वारा असम्भव बतला कर उसके लिए जो स्त्रियोकी माग की गई है और उसकी पूर्तिकेलिए ब्रह्माजीने जो अप्सराओंकी सृष्टि की है वह सब अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए पूर्व व्याख्याकार द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या ठीक नही है।

अभिनव०—['यो यस्मिन कर्मणि यथा योग्य' इत्यादि ४० वें श्लोकमे आए हुए 'यस्मिन्'] 'जिसमे' इस [पद] से उत्तम प्रकृतिकी चेष्टा आदिमे [जो योग्य था उसको उस कार्यमे नियुक्त किया यह अभिप्राय है]। 'यथा' इस [पद] से कोई अपने हृदयके हर्ष प्रकाशनकेद्वारा, और कोई अपने शोक प्रकाशनकेद्वारा [अभिनयके योग्य होता है उसको उसी प्रकारके अभिनयकेलिए नियत किया गया यह अभिप्राय है] ।।४०।।

अभिनव०—समस्त प्रयोगोकी प्राणभूत कैशिकी वृत्तिमे उपयुक्त होने वाले [स्त्री रूप] अन्य उपकरणोकी प्राप्तिकेलिए 'भारती' इत्यादि [अगली ४० से ४५ तक कारिकाओं] से उपक्रम करते है—

भरत०—[अपने सौ पुत्रोको शिक्षा देनेके बाद] मैंने भारती सात्त्वती और आरभटी [इन तीन वृत्तियों] का आश्रय लेकर नाट्यका अभिनय किया। ४१।

साहित्यशास्त्रमें 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ है। अभिधादि शब्द शक्तियाँ भी 'वृत्ति' कहलाती हैं। 'उद्भट' ने वर्णसङ्घटना रूपमे परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तिया मानी हैं। ये वृत्तिया प्राय अनुप्रासात्मक होती है। इसलिए 'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा यासु इति वृत्तय'

---

१ म. यथेति। तदीय। २ म भ सहरणाय, सहाराय।

वृत्तिमिति—धर्मादिपुरुषाथचतुष्टये साध्ये वागङ्गसत्त्वचेष्टासामान्यम् । तच्च सक्षिप्तेनावान्तरभदेन चतुर्धा । यद्यत् किल कर्मारभ्यते तत्र वाङ्-मन कायव्यापार स्तावदस्ति । तत्र कस्यचिल्लालित्यवैचित्र्यक्रमस्यानुप्रवेशो यत उत्तमप्रकृतीना सौष्ठवमय एव सर्वो व्यापार । तदेव तद् वृत्तिचतुष्टयम् ।

भारती वाग्वृत्ति । [1]मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती । सदिति प्रख्यारूप सवेदनम् । तद् यत्रास्ति तत् सत्त्व मन । तस्येयमिति । [2]इयृति इति अरा भटा-सोत्साहा अनलसा । तेषामिय आरभटी [3]कायवृत्ति ।

इस विग्रहके अनुसार उनको 'वृत्ति' कहा जाता है । पर तु नाटचशास्त्रमें वृत्ति' शब्दका प्रयोग इन दोनोसे भिन्न तीसरे अथमें होता है । यहा वत्ति शब्दका प्रयोग व्यवहार अथमे होता है । 'व्यापार पुमथसाधको वृत्ति' । यह व्यापार वाचिक, मानसिक और शारीरिक तीन प्रकार होता है । यहा वाचिक व्यापारको 'भारती' वत्ति, मानसिक व्यापारको 'सात्त्वती' वत्ति और कायिक व्यापारको 'आरभटी' वृत्ति कहा जाता है । इन तीनो प्रकारके व्यापारोमें विशेष प्रकारके सौदर्यका आधान करने वाला एक और भी व्यापार माना है उसे 'कशिकी' वत्ति कहा जाता है । इस प्रकार नाटच शास्त्रमें चार वृत्तिया मानी गई हैं और इनको 'वृत्तयो नाटचमातर' नाटचकी माता कहा गया है । इ ही वत्तियोके नाटचमें उपयोगकी चर्चा इस कारिकामें की गई है । नाटचशास्त्रमें इन वत्तियोके ऊपर एक पूरा अध्याय [२०] है । उसमें इन सबके लक्षणादि किए गए हैं ।

अभिनव०—'वृत्ति' [यह पद व्यापारका वाचक है । उस] से यह अभिप्राय है कि—धर्म आदि रूप चारो पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें वाचिक, शारीरिक तथा मानसिक [तीन प्रकारका] सामान्य व्यापार [अपेक्षित] होता है । और वह [व्यापार] सक्षिप्त अवान्तर भेदोसे चार प्रकारका हो जाता है । क्योकि जो-जो भी काय आरम्भ किया जाता है उसमे, वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक व्यापार सामान्य रूपसे [तावत्] होता है । [जो क्रमश 'भारती', 'सात्त्वती' तथा 'आरभटी' 'वृत्ति' नामसे कहा जाता है] उसमे [भी] जिससे किसी अपूर्व लालित्य एव आकर्षण [वैचित्र्य] का समावेश हो जाता है [वह चौथा व्यापार 'कैशिकी-वृत्ति' कहलाता है] । जिसके कारण उत्तम स्वभावयुक्त [अभिनेताओ] का सारा व्यापार सौन्दय युक्त हो जाता है । वे ही वे [भारती आदि नामसे प्रसिद्ध] चार वृत्तिया [कहलाती] हैं ।

अभिनव०—[उनमेसे] 'भारती' [वृत्ति] वाणीका व्यापार है । सत्त्व [अर्थात् मन] से सम्बद्ध [अर्थात्] मनो व्यापार रूप 'सात्त्वती' [वृत्ति] है । [क्योकि] 'सत्' यह [प्रख्या] वृत्ति रूप ज्ञानका नाम है । वह जिसमें होता है उस मनको 'सत्त्व' कहते है । उसकी [अर्थात् उससे सम्बद्ध] होनेसे यह [सात्त्वती या सात्त्विकी वृत्ति कही जाती] है । जो [इयृति इति-अरा इस व्युत्पत्तिके अनुसार ऋ गतौ धातुसे अरा शब्द बनता है । उसका अर्थ] गतिशील हैं वे 'अर' [कहलाते] है । उत्साह युक्त और आलस्य रहित वीर [भट 'अर' कहलाते] है । उन [गतिशील अरो वीरो] से सम्बद्ध यह आरभटी [वृत्ति] शारीरिक व्यापार-रूप है ।

१ भ चतुर्धा च शुद्धम । २ म इयतीत्यार । इर्यति । ३ म काचन वृत्ति ।

केशा किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिन । तद्वत सौन्दर्योपयोगी व्यापार कैशिकी वत्ति । इति ताव मुख्य क्रम । अन्यस्य तु यस्तद्व्यपदेश स तत्प्रधानत्वादनेकरसपानकरीत्या[1] मधुरव्यपदेशवत । एतच्चाग्रे[2] वितनिष्याम ।

एव यत्किञ्चिल्लालित्य तत्सर्व कैशिकीविजृम्भितम् । सा च तै प्रयोजयितुमशक्येति तु शब्देनोक्तम् । तेन दशरूप सर्व वैचित्र्यशून्य तान प्रति योजितम् । अत एव तादृशे प्रयोगेऽवज्ञा वै-शब्देन द्योतयति । प्रयुक्त इनि तेषामभ्यामभूमौ योजित इत्यथ ॥४१॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूव सस्करणोमे इर्यति इति अरा,' यह पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'इयृति इति अरा' यह पाठ होना चाहिए। 'इर्यति' यह जुहोत्यादिगणकी 'ऋ स गतौ' धातुका लट लकार प्रथम पुरुष एक वचनका प्रयोग है। लट लकारमें इर्यति, इयत इयृति इस प्रकार इसके रूप चलते हैं। इर्यति यह एकवचनका रूप है। पर तु 'अरा' 'भटा' आदि सब बहुवचनके प्रयोग हैं। अत यहाँ बहुवचनका रूप अपेक्षित है। बहुवचनमें 'इर्यति' नही, 'इयति' रूप बनता है। अत यहाँ 'इयति' पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—केश [सिरके बाल] किसी कार्यका सम्पादन न करके केवल शरीरकी शोभाके काममे आते है। उनके समान [नाट्यमे केवल] सौन्दयमे उपयोगी व्यापार कैशिकी वृत्ति [कहलाता] है। यह [भारती आदि वृत्तियोका] मुख्य स्वरूप है। [नाट्य आदि] अन्य [अर्थात् नाट्य सम्बन्धी विशेष व्यापारो] मे जो कैशिकी आदि का व्यवहार है वह अनेक रसोसे युक्त ठण्डाई आदि [रूप पानक] मे मधुर व्यवहारके समान उसकी प्रधानताके कारण [गौण रूपसे] ही होता हे। इस बातको आगे विस्तार पूर्वक प्रतिपादित करेंगे।

अभिनव०—इस प्रकार [नाट्यमें] जो कुछ सौन्दय है वह सब कैशिकी वृत्ति का ही परिणाम है। उन [पुरुष रूप भरतपुत्रों] के द्वारा उसका प्रयोग करना असम्भव है यह तु शब्दसे कहा है। इसलिए [उस समय तक केवल पुरुष रूप भरतमुनिके पुत्रोकेद्वारा] उनके प्रति योजित [अर्थात् प्रस्तुत] किया गया [अर्थात् जिसके अभिनयकी तैयारीमे उन भरत पुत्रोको लगाया गया वह] सारा नाट्य [स्त्री पात्रोसे रहित होनेके कारण] सौन्दर्य विहीन था। इसी लिए [स्त्री-रहित होनेके कारण सौन्दय-हीन] उस प्रकारके अभिनयमे [भरतमुनिने स्वय अपने] अनादर-भावको [कारिकामे आए हुए] 'वै'-शब्दसे सूचित किया है। ['प्रयोगस्तु प्रयुक्त' प्रयोगको] 'प्रयुक्त किया' यहाँ [कारिकामे आए हुए] 'प्रयुक्त' पदका आशय उन [पुत्रो] की अभ्यास-भूमिमे [प्रयोग अर्थात् नाट्यको] प्रयुक्त किया यह है।

---

१ तत्प्रधानत्वादनेकरसप्रधान पानकरीत्या कैशिकीत्यादि मधुरकपदेशवत् ।

२, म भ प्रागेव । प्राग्रे ।

[प्रक्षिप्त०—परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।]

भरत०—अथाह मां सुरगुरु कैशिकीमपि योजय ।
यच्च तस्या क्षम द्रव्य तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥४२॥

क्षममिति प्रयोगसमथम् । सादरविचित[1] प्रयुङ्क्ते । अत एवाह 'द्रव्य' सुन्दरम् । यत सौन्दर्यप्राणैव सा ॥ ४२ ॥

भरत०—इसपर [अर्थात् मैं स्त्री पात्रोंके न होनेसे कशिकी वृत्ति रहित नाटकके अभिनयका अभ्यास करवा रहा हू यह जान कर] ब्रह्माने मुझसे कहा कि हे द्विजवर [आप इस अभिनयमें] कशिकी वत्तिका भी समावेश करें। और जो उसके योग्य 'द्रव्य' हो उसे माग लें ॥–१॥

अभिनव०—'क्षम' अर्थात् [कैशिकी वृत्तिके] अभिनयमे समर्थ [यह कारिका मे आए हुए 'क्षम' पदका अभिप्राय है]। [नाट्याचाय] आदर-पूर्वक चुने हुए [अभिनेताओ] को [चुन-चुनकर] प्रयुक्त करता है इस लिए ब्रह्माने 'द्रव्य' यह कहा है। [इसका अभिप्राय चुनी हुई] 'सुन्दर' वस्तु है। क्योंकि वह [कैशिकीवृत्ति] सौन्दर्य-प्राण ही है [अर्थात् सौन्दय ही कैशिकीवृत्तिका जीवन है]। इसलिए ब्रह्माने उसके अभिनयार्थ 'द्रव्य' शब्दसे सुन्दरतम बढ़िया वस्तु मागनेके लिए कहा है] ॥

प्रक्षिप्त पाठ—पूव सस्करणोमें इस श्लोकके पहिले 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया' यह एक पक्ति और छपी है। उसे इस श्लोकका पूर्वाद्ध माना गया है। उसको मिलाकर यह श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।
अथाह मा सुरगुरु कैशिकीमपि योजय ॥४२॥

हमारी सम्मतिमे यह पाठ अशुद्ध है। पूर्वाद्ध वाला भाग प्रक्षिप्त है। उसको यहासे हटा देना चाहिए। इसके कई कारण हैं। पहिला कारण यह है कि परिगृह्य ब्रह्मा विज्ञापितो मया' का कोई अर्थ नही लगता है। क्या लेकर और क्या कहा यह कुछ भी समझमें नही आता है। और न उसकी अगली पक्तिसे कोई सङ्गति लगती है।

दूसरी बात यह है कि इस भागकी सत्ता माननेपर आगे बहुत दूर तकके श्लोक स्वयमें अपूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् एक श्लोकका उत्तराद्ध अगले श्लोकके पूर्वाद्ध भागके साथ मिल ही अथको देता है। वैसे प्रत्येक श्लोक अपनेमें अपूर्ण और असङ्गत रहता है। उदाहरणाथ अगले ही श्लोकोको ले लिया जाय। इस श्लोकाधको निकाल कर—

अथाह मां सुरगुरु कैशिकीमपि योजय ।
यच्च तस्या क्षम द्रव्य तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥४२॥

इस रूपमें हमने इस श्लोकको दिया है। उसके अथकेलिए अन्य किसीकी आवश्यकता नही होती है। इसलिए वह पाठ अपने पूण हो जाता है। इसी प्रकार और अगला श्लोक—

एव तेनास्म्यभिहित प्रत्युक्तश्च यथा प्रभु ।
दीयता भगवन द्रव्य कैशिक्या सम्प्रयोजकम ॥४३॥

इस रूपसे ठीक बन जाता है। यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकाधको रखा जाय तो वह सब पाठ गडबड हो जाता है। यह गडबड बड़ोदा वाले प्रथम सस्करणमें प्राय अध्यायके

---

१ ब II सादरविचित्रम् ।

अन्ततक चलती रहती है। द्वितीय संस्करणमे श्लोकोकी अपूर्णता सम्बन्धी यह अव्यवस्था ६१वें श्लोकमें आकर समाप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि वहाँपर 'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' यह श्लोकार्ध फिर प्रक्षिप्त आ गया है। प्रथम संस्करणमें उसको संख्या क्रममें सम्मिलित नही किया गया है और कोष्ठमे दिया गया है। किन्तु द्वितीय संस्करणमे उसे कोष्ठसे हटा कर संख्या क्रममे सम्मिलित कर लिया गया है। अतः दो श्लोकार्धोंको मिला देनेसे श्लोकोकी स्वयमें अपूर्णता वाला दोष तो वहासे समाप्त हो जाता है।

प्रकृत स्थलमे इस श्लोकार्धके आ जानेसे एक दो श्लोकोकी नही अपितु बहुत दूर तकके श्लोकोकी इस प्रकारकी अपूर्णता हो जाती है। यदि इस भागको हटा दिया जाय तो वे सारे श्लोक स्वयमें पूर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक श्लोकका अर्थ उसमें ही पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका यह प्रक्षिप्त भाग बहुतसे श्लोकोके रचना सौन्दर्य एवं अर्थ सौष्ठवका विघातक हो रहा है। उदाहरणार्थ पूर्व संस्करणोमे मुद्रित पाठके अनुसार ५५ वा श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥५५॥

यह श्लोक बडा अटपटा सा लगता है। उसका ठीक अर्थ नही बनता है। यदि प्रकृत पूर्वार्द्ध भागको निकाल दिया जाय तो इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार हो जाता है—

अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥५५॥

अब यह श्लोक एक सुसम्बद्ध एवं पूर्ण अर्थको प्रकाशित करता है और उसकी रचना भी सुन्दर मालूम होती है। इसका प्रभाव न केवल इस श्लोकपर पडता है अपितु अगले श्लोकोमें भी इसी प्रकारका रचना सौन्दर्य एवं अर्थ सौष्ठव बन जाता है। अतः 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया' इस भागको प्रक्षिप्त मान कर निकाल ही देना चाहिए।

इस विषयमें तीसरी युक्ति यह है कि इस पाठको मान कर जो श्लोक पूर्वसंस्करणोमें दिया गया है उसपर अभिनव भारतीमें कोई वृत्ति नही मिलती है। और उसको हटा देने पर जो श्लोक बनता है उसपर अभिनवभारतीमे एक पंक्तिकी वृत्ति मिलती है। इसलिए भी इस भाग की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है। पूर्व-संस्करणोंके अनुसार ४२ वें श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ॥ ४२ ॥

इसपर अभिनवगुप्तकी कोई वृत्ति नही मिलती है। हमारे संशोधनके अनुसार इसके पूर्वार्द्ध भागको निकाल देनेके बाद श्लोक और उसकी वृत्तिका स्वरूप निम्नप्रकार बनता है—

'अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ४२ ॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थम्। सादरविच्छित्तिः प्रयुङ्क्ते। अत एवाह 'द्रव्यं' सुन्दरम्। यतः सौन्दर्यप्राणैव सा।'

इस विषयमें चौथी और सबसे मुख्य युक्ति यह है कि अभिनवगुप्त किसी कारिकाकी वृत्ति लिखते समय प्रायः उसके आदि प्रतीकभागको उद्धृत करते हैं। वे प्रतीकभाग इस श्लोकार्ध को निकाल देनेपर ही ठीक बनते हैं। यदि इस श्लोकार्धको रखा जाय तो वे सब गड-बड हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अगले श्लोकोंको ही ले लिया जाय। अगले ४४-४५ वें श्लोकोंकी इकट्ठी अवतरणिकामे अभिनवगुप्त लिखते हैं—

भरत०—एव [1]तेनास्म्यभिहित प्रत्युक्तश्च मया प्रभु ।
[2]दीयता भगवन् द्रव्य कैशिक्या सम्प्रयोजकम ॥४३॥

एवमिति बुद्धिकौशल मदीय ज्ञातु तेनाहमेतत् पष्ट । चकारेण प्रत्युत्पन्न-प्रतिभानत्व दशयति। अनेन झटिति कविहृदयग्रहणयोग्यत्व नाट्याचायगुण इति सूचयति ॥४३॥

अनेनाभिप्रायेण कशिकीसाक्षात्कार वणयति 'नत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन ।

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावत 'नत्ताङ्गहारसम्पन्ना' इत्यादि श्लोक आना चाहिए। हमने जो पाठ रखा है उसके अनुसार इस अवतरणिकाके बाद यही श्लोक आता है। परन्तु यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकाधको रखते हैं तो यह प्रतीक ठीक नही बनता है। तब नवीन ४३ वें श्लोकका प्रारम्भ 'दीयता भगवन' से होता है। उस दशा मे नत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन' यह और अभिनवभारतीका प्रतीक असङ्गत हो जाता है।

इसी प्रकार ५१ ५२ दो श्लोकोकी सम्मिलित अवतरणिकामें अभिनवगुप्तने लिखा है—

"नत्त गीत आतोद्य अभिनयाना साम्यसिद्ध्यथमेकीभावेन सम्मेलन कृत्वा प्रयोग काय इति दशयति श्लोकद्वयेन 'एव नाट्यमित्यादिना'—

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावत —

'एव नाटचमिद सम्यग् बुद्ध्वा सर्वे सुतै सह ।'

यह श्लोक आना चाहिए। हमारे पाठके अनुसार यह श्लोक ही आता है। पर तु पूव सस्करणोके पाठके अनुसार अगला ५१वा श्लोक 'नारदाद्याश्च ग धर्वा' से प्रारम्भ होता है। यह ठीक नही है। इस असङ्गतिका कारण यही है कि उनमे 'परिगृह्य' आदि श्लोकाधको यथाथ पाठमें मान कर श्लोक सख्या डाली है। इस श्लोकाधके रहनेसे आगेभी अनेक श्लोकोमें इस प्रकारकी असङ्गति उपस्थित होती है। इसलिए वास्तवमे वह ठीक पाठ नही है। प्रक्षिप्त पाठ है। उसे निकाल ही देना चाहिए।

यद्यपि नाट्यशास्त्रकी सभी प्रतियोमें वह पाठ पाया जाता है। फिरभी ऊपर दी हुई युक्तियोसे यह हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्षिप्त पाठ है। उसके कारण सारा प्रकरण असङ्गत हो रहा है। इसलिए हमने प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें कर दिया है। और सख्या क्रममे भी उसकी गणना नही की है। अत यहासे आगे हमारे सख्या क्रममे आधे श्लोकका अ तर पड जायगा। बडोदा वाले द्वितीय सस्करण में ६१ वे श्लोकमे श्राव्यत्व' इत्यादि इसी प्रकारका एक श्लोकाध और आवेगा ॥४२॥

भरत०—उ होने [अर्थात् ब्रह्माने] इस प्रकार कहा और मैंने उनसे निवेदन किया कि हे भगवन् [तो फिर] कशिकीका भली प्रकार प्रयोग करने वाला [स्त्रीरूप] 'द्रव्य' दीजिए ॥४३॥

अभिनव०—'एव' इससे [अभिप्राय यह है कि] मेरी बुद्धिकी निपुणताको जानने केलिए उन्होने मुझसे यह पूछा था। चकारसे [भरतमुनिने] अपना प्रत्यु-त्पन्नमतित्व प्रदर्शित किया है। इससे कविके हृदय [के गूढ अभिप्राय] को शीघ्रतासे समझ लेनेकी योग्यता भी नाटचाचार्यका गुण है यह बात सूचित की है ॥४३॥

---

१ प म तेनाऽवभिहित । २ न क्रियताम ।

न चात्यन्तापरिदृष्टे वस्तुनि उपकरणमुन्नेतु शक्यम् । ब्रह्मणा तूपदेशसमये वचनमात्रेणोक्त एतन्मध्ये हृदयहारि वैचित्र्य योजनीयमिति । अनेनाभिप्रायेण कैशिकी-साक्षात्करण वणयति 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादिना युगलकेन—

भरत०—[1]नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना [2]रसभावक्रियात्मिका ।
[3]दृष्टा मया भगवतो [4]नीलकण्ठस्य नृत्यत ॥ ४४ ॥
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या[5] शृङ्गाररससम्भवा ।
अशक्या पुरुषै सा तु प्रयोक्तु स्त्रीजनादृते ॥ ४५ ॥

नतन नृत्तम, गात्राणामङ्गोपाङ्गाना विलासेन क्षेपो, न तु केनचित कतव्यांशेन । लोकोऽप्येवविधे विषये एवमेवाह— 'नत्यतीव गच्छति' इत्यादि । तत्र येऽङ्गहारा अङ्गाना हरणानि[9] अत्रुटितरूपतया समुचितस्थान प्राप्तय, ताभि[10] सम्पन्ना ।

अभिनव०—जिस वस्तुको बिलकुल कभी न देखा हो उसके साधनोकी कल्पना भी नही की जा सकती है । [अत कैशिकीके अभिनय योग्य 'द्रव्य' की माग करनेके पूव उसका साक्षात्कार आवश्यक है] । ब्रह्माजीने तो उपदेशके समय केवल वाणी मात्रसे कहा था कि इस [अभिनय] के भीतर हृदयको हरण करने वाले सौन्दर्यका समावेश होना चाहिए । [कैशिकीका अभिनय तो नही दिखलाया था तब उसके साधन कसे समझ सकते है] इस अभिप्रायसे कैशिकीके साक्षात्कार करनेका वणन 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादि दो श्लोकोमे करते है—

भरत०—नृत्य और अङ्गहार [अर्थात नत्यके समय सुदर रूपसे अङ्गोके सञ्चालन] से युक्त, रस एव भावयुक्त क्रियामयी, सुदर वेषसे युक्त एव शृङ्गाररससे उत्पन्न होने वाली कशिकी [वृत्ति] को मैने भगवान शिवके नृत्यके समय देखा है। किन्तु स्त्रीजनोके बिना पुरुषोके द्वारा उसका अभिनय नहीं कराया जा सकता है । ४३ ४४।

अभिनव०—नृत्त अर्थात् नाचना । [नृत्तशब्दके मूलभूत 'नृती गात्रविक्षेपे' धातुसे सम्बद्ध अथको दिखलाते है] गात्रो [अर्थात्] अङ्ग-उपाङ्गोका सुकुमारताके साथ, न कि किसी कायके करनेके अङ्ग रूपमे, जो इधर उधर चलाना [वह गात्र-विक्षेप हुआ उसीको 'नृत्य' कहते हैं] । लोकमे भी इस प्रकार [बिना किसी कामके सुन्दरताके साथ हाथ-पैर आदि अङ्गोके चलाने] के विषयमे 'नाचता हुआ-सा चलता है' यह कहा जाता है । उस [गात्रविक्षेप रूप नृत्त] मे जो अङ्गोका हरण अर्थात् टूटे बिना समुचित स्थानोपर प्राप्ति [उसको 'अङ्गहार' कहते है] । उनसे युक्त ['नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना' कैशिकी वृत्ति होती है] ।

---

१ ठ म त मृदङ्गहारसम्पन्ना । ज म नृत्ताङ्गहारसयुक्ता । २ ख ललिताभिनयात्मिका ।
३ दृष्टोमया । ४ न नीलवणस्य । य त नत्यत शङ्करस्य तु ।
५ न नपथ्या । ६ ड त न शक्या । ७ न म साधु । ८ ठ भ स्त्रीजनविना ।
९ हरणानीति । १० भ म प्राप्तास्तै- । * II प्राप्ति तै ।

'शङ्करस्यैव भगवत परिपूर्णानन्दनिभरीभूतदेहोच्छल'दान्तरनिर्वारसुन्दराकारस्य। अत एव 'नत्यत' इति, 'कतव्यान्तरवैकल्याद आनन्दनृत्तमात्रस्थितस्य, प्रयोज्यत्वेन मया दृष्टा'।

ननु सा नाट्योपयोगिनी कथम् ? आह—सैव यदि श्लक्ष्णेन श्लिष्यता, उचितेन नेपथ्येन सहिता भवति। यद्वक्ष्यति –शृङ्गार उज्ज्वलवेषात्मक' [ना० शा० ६-५०] इति। तन्नाट्योक्तशृङ्गाररस सम्भवति नान्यथा। नेपथ्यग्रहण सुकुमारस्य आङ्गिकादेरप्युपलक्षणम्। तेन शृङ्गाराभिव्यक्तिहेतौ सुकुमारे चतुर्विधेऽप्यभिनये योजिते मधुरमन्थरवलनावतनभ्रूक्षेपकटाक्षादिना विना शृङ्गाररसास्वादस्य नामापि न भवति।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में 'अङ्गाना हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तास्तै सम्पन्ना' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे छपा है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। उसमे 'हरणानि' इस पदकी व्याख्या अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्ता' इस पदकेद्वारा की गयी है। हृ धातुसे' भावमें ल्युट प्रत्यय करके 'हरण' शब्द बना है। उसकी व्याख्या भावार्थमें क्तिन प्रत्यय करके बने हुए 'प्राप्ति' शब्दसे ही की जा सकती है। भूतार्थमें किये हुए क्त प्रत्ययसे बने प्राप्ता' पदसे नहीं। इसलिए 'समुचितस्थानप्राप्ता' के स्थानपर 'समुचितस्थानप्राप्तय' पाठ उचित प्रतीत होता है। उसीके सम्बन्धसे 'तै' के स्थानपर 'ताभि' पाठ होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने 'अङ्गाना हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तय, ताभि सम्पन्ना' इस प्रकारका पाठ सशोधित रूपमे प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—भगवान शङ्करके ही [नाचते समय मैंने कशिकी वृत्ति देखी थी। अर्थात पुरुष रूपमे शङ्करके नृत्यको छोड कर अन्यत्र कहीं उसका दर्शन सम्भव नहीं है] परिपूर्ण आनन्दसे भरे हुए शरीरसे उछलते हुए हृदयके कारण [अर्थात् पुरुष होते हुए भी अतिशय आनन्दातिरेकके कारण कैशिकी वृतिके उपयोगी] अत्यन्त सुन्दर आकार वाले [शिवके नाचते समय ही उसका दशन हो सकता है]। इसी लिए 'नृत्यत' [यह कहा है] इस [पद] से अन्य कोई काय न होनेसे आनन्द मग्न नृत्यमात्रमे लगे हुए [शिवजी] के द्वारा प्रयुक्तकी जाती हुई [कशिकी वृत्ति] मैंने देखी [यह अभिप्राय है]।

अभिनव०—अच्छा वह [कैशिकीवृत्ति] नाट्यमे उपयोगिनी कैसे होती है ? [इसका उत्तर] कहते हैं कि—यदि वही सुन्दर अर्थात् फबने वाले [श्लिष्यता] उचित वेषसे युक्त होती है। जैसा कि आगे कहेगे कि—'शृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक है'। तब नाट्यमे कहे हुए शृङ्गाररसकी उत्पत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। नेपथ्यपदका ग्रहण सुकुमार आङ्गिक आदि [व्यापार] का भी उपलक्षण है। इसलिए शृङ्गाररसकी अभिव्यक्तिमें चारो प्रकारके सुकुमार अभिनयकी योजना करने पर भी सुन्दरता-पूर्वक धीरे-धीरे बलखाने, मटकने, भौंहे चलाने और कटाक्षके बिना शृङ्गाररसका आस्वादन नामको भी नहीं हो सकता है।

---

१ म भ शङ्करस्यव। २ ब देहाच्छल। ३ इतिकतव्यान्तर।

किमत्रैव सोपयोगेत्याह—'रसभावक्रियात्मिका' इति । रसाना भावो भावना कवि-नट सामाजिकहृदयव्याप्ति, तस्या या क्रिया –इतिकतव्यता– सैवात्मा स्वभावो यस्या ।

एतदुक्त भवति –रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कतव्याया योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलनावतनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणया दु श्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा, न रसाभिव्यक्तिहेतुभवतीति सवत्रैव कशिकी प्राणा । यद्वक्ष्यति– "[1]अस्य शाखा च नत्त च वस्तून्यभिनयस्य' इति । शृङ्गाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया बिना शक्यम ।

कशिकीवत्ति सभी रसोका प्राण है—

अभिनव०—क्या वह [कैशिकवृत्ति] इसी [शृङ्गाररसकी उत्पत्ति] मे ही उपयोगिनी है ? [अन्यत्र नही] । इस [शङ्काके होने] पर कहते है कि—'रसभावक्रियात्मिका' रसोका जो भाव, अर्थात् भावना, अर्थात कवि नट तथा सामाजिकोके हृदयमे व्याप्ति, उसकी जो क्रिया अर्थात् करनेका प्रकार—इतिकतव्यता—[कतव्यताया इति प्रकार इतिकतव्यता, रसोत्पादनकी शली] वही जिस [कैशिकी] का स्वभाव है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—रौद्रादि रसोकी अभिव्यक्ति करनेके लिए जो अभिनय किया जाता है वह भी यदि अनुप्रास [रूप शब्द सौन्दय तथा शरीरके विशेष प्रकारसे रसके अनुकूल] मोडने, घुमाने आदि सुन्दर वैचित्र्यका मिश्रण न होनेसे ठीक तरहसे न फबने वाला, अथवा कम फबने वाला [दु श्लिष्ट या अश्लिष्ट] हो तो वह रसकी उत्पत्तिका हेतु नही हो सकता है । इसलिए [न केवल शृङ्गाररसमे अपितु] सभी रसोका प्राण कैशिकी वृत्ति ही है । जसा कि आगे कहेगे कि—'इस [रस] की शाखाए नृत्त और अभिनयकी अन्य वस्तुए' [कैशिकीसे प्रभावित होती हैं] । और शृङ्गाररसका तो उसके बिना नाम भी नही लिया जा सकता हे ।

पाठसमीक्षा—यहा ग्र थकारने 'सवत्रैव कशिकी प्राणा' सभी रसोमे सौ दर्याधायक तत्त्व कैशिकी वृत्ति ही है इस सिद्धा तके समथनकेलिए यद्वक्ष्यति'—लिखकर उसके आगे 'अस्य शाखा च नृत्य च वस्तू यभिनयस्य इति' इस प्रकारका प्रमाण उद्धत किया है । प्रमाण रूपसे प्रस्तुत किया हुआ वचन नाटचशास्त्रके आठवे अध्यायसे लिया गया है । पर तु अथकी दृष्टिसे उसकी यहाँ कोई सङ्गति नही लग रही है । यह श्लोक आठवे अध्यायका १५वां श्लोक है । पर तु उस श्लोक में या उस अध्यायमें कशिकी वृत्तिकी कही चर्चा ही नही है । इस अध्यायका नाम 'उत्तमाङ्गाभि नयाध्याय' है । इसमे मुख्य रूपसे उत्तमाङ्ग अर्थात् शिरोभागके अ तगत होने वाले शिर, नेत्र, भ्रू, नासा ओष्ठ तथा कपोल सम्बन्धी अभिनयोको विवेचन किया गया है । इसी प्रसङ्गमें शाखा, नृत्त तथा अकुर नामसे इस अभिनयके तीन भेद किए हैं । इनका वणन करते हुए भरतमुनिने निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

अस्य शाखा च नृत्त च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तू यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभि ॥१५॥
आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यंकुर सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्न नृत्त तु करणाश्रयम् ॥१६॥

---

१ ना० शा० ८ १५ ।

स्त्रीजनादृत इति,—अथ भाव —यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव, तावच्छिक्षाशतैरपि वचित्र्यमनाहायम्। मुनीना च निसगविषयविमुखचित्तवृत्तीना को निव तिचमत्कार। योऽपि वा [1]समाधिज सोऽपि देहपयन्तता न भजति। प्रत्युत तत पलायमान[2]। अत स्त्रीणा तादगस्ति वैचित्र्य यत् तत्सम्पकसम्भवदाद्रभावास्तु कदाचिच्छक्नुयुरपि।

इनमे अभिनयके शाखा, नृत्त और अकुर तीन अङ्ग माने गए ह। उनमेंसे अङ्गो वाले भागका नाम शाखा, उससे भावकी जो सूचना प्राप्त होती है उसका नाम अकुर तथा अङ्गहार का नाम नृत्त है, यह बात कही गई है। इसमें कैशिकी वृत्तिकी कही कोई चर्चा नही है। अत कशिकीकी सवप्राणताकी पुष्टिमें इस श्लोकके उद्धत किए जानेकी कोई सङ्गति नही है। यहाँ सम्भव है ग्र थकार कोई अ य श्लोक उद्धत करना चाहते हो पर तु लिपिकारकी असावधानतासे वह श्लोक उद्धत हो गया हो। फिर यह उद्धरण भी ठीक ढगसे प्रस्तुत नही किया गया है। जैसा कि पिछले १२४ पृष्ठ पर अ तमें छपे श्लोकोके देखने से विदित होता है 'अस्य शाखा च नृत्त च वस्तू यभिनयस्य' इस उद्धरणमें आधा भाग मूल श्लोकके पूर्वाद्धका और आधा भाग मूल श्लोकके उत्तराद्धका जोड दिया गया है। इस लिए भी यह उद्धरण असङ्गत प्रतीत होता है।

अभिनव०—'स्त्रीजनोके बिना' इसका यह अभिप्राय हे कि–जब तक भगवान् [शिव] के समान अपने हृदयमे रसके उत्पन्न सौन्दय एव उद्दाम आनन्दसे पवित्रता उत्पन्न नही हो जाती है तब तक सैकडो बार सिखलाने पर भी [अभिनयमे अपेक्षित स्वाभाविक] सौन्दय नही आ सकता है। और [जिनको अभिनयमे नियुक्त किया गया है उन] स्वभावत विषयोसे विमुख वृत्ति वाले मुनियोको तो [शृङ्गाररसके अभिनय केलिए अपेक्षित तन्मयीभावके बिना] सुखका चमत्कार हो ही कैसे सकता है। और जो समाधिज [आनन्दका अनुभव होता है वह भी [केवल मानस सुख होता है] देह पयन्त नहीं पहुचता है। अपितु उससे दूर भागता है। इस लिए स्त्रियोमे तो उस प्रकारकी सामथ्य है कि उनके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाली सुकुमारताके कारण कभी वे [विषय-विमुख मुनिगण भी शारीरिक सुखको प्राप्त करनेमे] समर्थ भी हो सकते है।

इसका यह आशय है कि इ द्रके द्वारा देवताओसे अभिनय करानेका निषेध कर देनेपर उनके परामशसे ब्रह्माजीने मुनियोके द्वारा अभिनय करानेका आदेश भरतमुनिको दिया है। वे मुनिगण तो स्वभावत विषयोसे विमुख रहते है। इसलिए शृङ्गार आदिके अभिनयकेलिए अपेक्षित त मयीभाव उनमें सम्भव नही है। हा स्त्रियोके सम्पकसे उनमें भी वह बात आ सकती है। इसलिए शृङ्गार प्रधान कैशिकीके अभिनयकेलिए स्त्रियोकी आवश्यकता है।

पूर्व व्याख्याकारका खण्डन—

स्त्रियोके बिना केवल पुरुषोके द्वारा कशिकीका अभिनय नही हो सकता है। इसलिए कुछ प्राचीन व्याख्याकार इस कारिकामें 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ मानते हैं। और 'उमया सह नत्यतो दृष्टा' ऐसा पदच्छेद करके उमाके साथ नाचते समय कैशिकी वत्ति मैने देखी थी, यह अथ करते हैं। इनके मतकी आलोचना करते हुए वत्तिकार आगे लिखते हैं कि—

१ ससमाधिज।　　२ म ततश्चपलायमान।

ये त्वाहु 'न भगवत कैशिकीप्रयोगसामर्थ्य तेन 'दृष्टोमया' इति पाठे उमया सह भगवतो नृत्यतो, भगवन्तमप्यनादृत्य भगवत्या प्रयुज्यमाना मया दृष्टा' इति । त उक्तरीत्या पराकृता ।

तथा—

विचित्रैरङ्गहारस्तु देवो लीलासमन्वितै ।

बबन्ध 'यत शिखापाश कैशिकी तत्र निर्मिता ।। [ना शा २०-१३]

इति भगवतो विष्णो कशिकीनिर्माणमनुचित स्यादित्यल बहुना । 'जन' शब्देन रागिताशङ्का परिहरति ।। ४४ ४५ ।।

अभिनव०—जो [व्याख्याकार] यह कहते है कि—[पुरुष होनेके कारण] भगवान् [शिव] मे कैशिकीके प्रयोगकी सामर्थ्य नही है इसलिए ['दृष्टा मया' के स्थानपर] 'दृष्टोमया' इस प्रकारका पाठ [कारिकामे] माननेपर उमा अर्थात् पार्वतीके साथ शिवजीके नाचते समय, शिवजी की भी उपेक्षा करके भगवती पार्वतीके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली [कशिकी वृत्ति] मैनें देखी । [इस प्रकारकी व्याख्या जो टीकाकार करते है] उनका उक्त रीतिसे खण्डन हो जाता है । [उक्त रीतिका आशय यह है कि अभिनेताके हृदयमे समुत्पन्न रसके प्रभावसे पवित्रताका उदय हो जानेपर पुरुषके अभिनयमे भी रसाभिव्यक्तिके अनुरूप सौन्दर्य आ सकता है । शिवजीके अभिनयमे उस प्रकारकी पवित्रता विद्यमान रहती है इसलिए उनके द्वारा कशिकीका भी अभिनय हो सकता है । अत 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' इस पाठकी कल्पना अनुचित है] ।

अभिनव०—और [यदि पुरुष होनेके कारण शिवजीके द्वारा कैशिकीवृत्तिका प्रयोग असम्भव माना जाय तो]—

अभिनव०—सुकुमारतासे भरे हुए सुन्दर अङ्गोका सञ्चालन करते हुए विष्णु भगवान्ने जो अपने सुन्दर केशोको बाँधा उससे कैशिकी वृत्तिकी उत्पत्ति हुई ।

अभिनव०—इस प्रकार [ऊपरके श्लोकमें] कहा गया विष्णुकेद्वारा कैशिकीका निर्माण भी अनुचित हो जायगा । [इसलिए स्त्रियोके बिना कैशिकी वृत्तिका अभिनय नहीं हो सकता है यह बात सामान्य लोगोके विषयमे ही कही गई समझनी चाहिए । शिव और विष्णु तो देवता होनेके कारण पुरुष होते हुए भी उसका अभिनय कर सकते हैं । अत 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ माननेकी आवश्यकता नहीं है] । इसलिए [इसके खण्डनकेलिए] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । ['स्त्रीजनादृते' में आए हुए सर्वसाधारणताके सूचक] 'जन'-शब्दसे [उनके प्रति अभिनेताओंके] अनुरागी होनेकी शङ्काका निराकरण किया है ।

---

१ य ।

भरत०—ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभु ।
नाट्यालङ्कारचतुरा[1] प्रादान्मह्य प्रयोगत[2] ।। ४६ ।।

ततोऽसजदिति । मनसेति यथारुचि विनिर्मिता इत्यथ । नाट्यस्य योऽलङ्कारो वचित्र्यहेतु कैशिकी, तत्र चतुरा । अन्ये तु–नाट्यालङ्कारा सामा याभिनये [अ० २२] वक्ष्यमाणा स्वभावजा 'लीला विलास' इत्याद्या दश, 'शोभा कान्ति' इत्याद्याश्च सप्त यत्नजा इति । अनेन मुनिकन्यानामत्रायोग्यत्व तावदुक्तम् ।। ४६ ।।

पाठसमीक्षा—ऊपरके श्लोकमें बब ध य शिखापाश' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणो में मुद्रित हुआ था । उसके स्थानपर 'बब ध यत शिखापाश' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है । ।। ४४ ४५ ।।

कशिकीके अभिनयाथ अप्सराओकी सृष्टि—

यहा तकके विवेचनद्वारा ग्र थकारने यह दिखलाया है कि यद्यपि कशिकीवत्तिके निर्माता विष्णु और उसके आदि अभिनेता शिव दोनो पुरुष हैं परन्तु फिर भी अ य साधारण पुरुष कशिकी वत्तिका भली प्रकार अभिनय नही कर सकते हैं । और मुनिक याए स्त्री होने पर भी उसका ठीक अभिनय नही कर सकती है । इसलिए कशिकी वत्तिके अभिनयके निमित्त अत्य त रूपवती स्त्रियो अथवा अप्सराओकी आवश्यकता है । इसी दृष्टिसे आगे अप्सराओकी उत्पत्तिका वणन करते हैं—

भरत०—तब महातेजस्वी और सवव्यापक [एव सवशक्तिमान] ब्रह्माजीने मनसे नाटयके अलङ्कार [कशिकी वत्ति अथवा अ य नाटयालङ्कारो] मे चतुर अप्सराओकी रचना की और उनको [रच कर] मुझको प्रदान किया ।।४६।।

अभिनव०—'ततोऽसृजत्' यह [व्याख्येय श्लोकका प्रतीकभाग है] 'मनसे बनाया' इस [पद] से अपनी रुचिके अनुसार [जैसा चाहा वसा] बनाया यह अभिप्राय है । ['नाट्यालङ्कार चतुरा' के दो अथ हो सकते है] नाट्यका जो अलङ्कार, [अर्थात्] सौन्दयका हेतु, कैशिकीवृत्ति उसमे चतुर । दूसरे [व्याख्याकार] तो नाट्यालङ्कार [शब्दसे] सामान्याभिनय [अर्थात् नाट्यशास्त्रके २२वे अध्याय] मे कहे जाने वाले लीला विलास आदि दस स्वाभाविक, तथा शोभा, कान्ति आदि सात प्रयत्न-सम्पादित [इन १७ नाट्यालङ्कारो] को लेते है । इस ['नाट्यालङ्कारचतुरा' पद] से इस विषयमे मुनिकन्याओकी अयोग्यताको सूचित किया है ।।४६।।

चौबीस अप्सराओके नाम—

ब्रह्मा जीने कशिकीवृत्तिके अभिनय करने योग्य जिन अप्सराओकी मानसी सृष्टि करके भरतमुनिको समर्पित किया उन २४ अप्सराओंके नाम अगली ४७ ४९ तक तीन कारिकाओमे इस प्रकार गिनाते हैं—

---

१ प नाटयालङ्कारकुशला । २ न म त क्षणात् सुरवरस्तदा । ब प्रयोगज्ञो गुरुस्तदा ।
३ सप्तायत्नजा ।

भरत०—[1]मञ्जुकेशी सुकेशी च मिश्रकेशी सुलोचनाम्[2]।
[3]सौदामिनीं देवदत्ता देवसेना मनोरमाम्[4] ॥ ४७ ॥
[5]सुदती सुन्दरी चैव विदग्धा विपुला[6] तथा।
[7]सुमाला [8]सन्तति चैव सुनन्दा सुमुखी तथा[9] ॥ ४८ ॥
मागधीमर्जुनी चैव सरला केरला धृतिम्[10]।
नन्दा सुपुष्कला चैव कलमा[11] चैव मे ददौ[12] ॥ ४९ ॥

तासा नामग्रहणे पूववत प्रयोजन निरूप्यम्। 'मे ददौ' इति नाट्याचायपरवशत्व उपकरणसम्भारस्य दशयति। 'ददौ' इति ताश्च मया यथोचित शिक्षादानेन प्रतिगृहीता इति सूचयन् कैशिकीमप्यह योजितवानिति दशयति ॥ ४७ ४९ ॥

भरत०—१ मञ्जुकेशी, २ सुकेशी, ३ मिश्रकेशी, ४ सुलोचना, ५ सौदामिनी, ६ देवदत्ता, ७ देवसेना और ८ मनोरमा [को मुझे प्रदान किया]।

भरत०—९ सुदती, १० सु दरी, ११ विदग्धा, १२ विपुला, १० सुमाला, १० स तति, १५ सुन दा और १६ सुमुखी [को मुझे प्रदान किया]।

भरत०—१७ मागधी, १८ अर्जु नी, १९ सरला, २० केरला, २१ घृति, २२ न दा २३ सुपुष्कला और २४ कलमा [नामकी इन २४ अप्सराओको ब्रह्माजीने] मुझे प्रदान किया।

इसके पूव जहा भरतमुनिके सौ पुत्रोके नाम गिनाए गए थे वहा पर वृत्तिकारने उन नामोके ग्रहण करनेका मुख्य प्रयोजन तो उनकी प्रसिद्धिके कारण उनके प्रति आदर सूचन करना बतलाया था। गौण-प्रयोजन यह भी बतलाया था कि उन नामोके निवचनसे जो अथ निकलता है उस उस प्रकारके कार्योमे उनका विनियोग भी सूचित होता है। ये ही दोनो प्रयोजन यहा इन अप्सराओके नामोके गिनाए जानके भी समझने चाहिए। इसी बातको वत्तिकार अगली पक्तिमें लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [अप्सराओ] के नाम गिनानेका प्रयोजन पूववत् [अर्थात् सौ पुत्रोके नाम गिनानेके समान] समझ लेना चाहिए। [कारिकामे आए हुए] 'मे ददौ' इस [भाग] से नाट्यकी सारी सामग्री [पूणतया] नाट्याचायके अधीन होनी चाहिए यह बात सूचित की है। और 'ददौ' इस [पदसे विशेष रूप] से 'मैंने उनको यथोचित शिक्षा प्रदान करके स्वीकार किया' इस बातको सूचित करते हुए मैंने कैशिकीवृत्तिका भी प्रयोग कराया यह दिखलाया है ॥४७-४९॥

---

१ म त इदमध 'मागधीमार्जु नीं' इत्यत पर दृश्यते। २ ल पादचूला तथव च। ३ ज सौदामनींम। ४ न त म तथव च। ख मनोवतीम।

५ न त म सुरभिम्। ६ ड भ ल विबुधाम। ७ ड सुमनाम। ८ ड लासिनीम्।

९ न म रतिम्।

१० म सतीम्। त केकरा तथा। ११ कलमाञ्चव निममे। न ल म कपिला सुमना तथा।

१२ न त इत 'सुनन्दां सुमुखीञ्चव काहल्याद्याश्च मे ददौ' इत्यर्धमधिक दृश्यते।

एव वृत्तिचतुष्टयसम्पूर्ण नाट्य [1]'गुणनिकायामभ्यस्तमिति प्रदश्य गीतातोद्याभ्या उपरञ्जकाभ्या योग दशयति स्वातिरित्यादि–

भरत०—[2]स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽथ सह शिष्यै स्वयम्भुवा ।
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिता ॥५०॥

'स्वाति ' ऋषिविशेष, येन जलधरसमयनिपतत्सलिलधारावचित्र्याभिहन्यमान-पुष्करदलविलसितरचितविचित्रवर्णानुहरणयोजनया [3]'यथास्व वृत्तिनियमेन पुष्करवाद्य-निर्माण कृतमित्यथ । 'सह शिष्यै ' इति त्रिपुष्करवाद्यस्यापूरक पणवमदङ्गझल्लर्या-द्युपयोगेन पक्षातोद्यपरिग्रह उक्त ।

नाटयकेसाथ गीत वाद्यका सम्बन्ध—

अभिनव०—इस प्रकार चारो वृत्तियोसे युक्त नाटचकी [गुणनिका] आवृत्ति करते समय अभ्यास कराया इस बातको दिखला कर अब उपरञ्जक गीत तथा वाद्योके साथ भी उसके सम्बन्धको 'स्वाति' इत्यादि [कारिका] से दिखलाते है—

भरत०—ब्रह्माजाने शिष्योके सहित [वाद्योके विशेषज्ञ एव निर्माता] स्वातिमुनिको [भाण्डो अर्थात] वाद्यो [के प्रयोग] मे नियुक्त किया और नारद आदि ग धर्वोको गान कायकेलिए नियत किया । ५० ।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमें इस श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यै स्वयम्भुवा' इस प्रकारका छपा था । पर तु वह अशुद्ध है । उससे अथकी ठीक सङ्गति नही लगती है । 'स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु' इसके स्थानपर 'स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽथ' इस प्रकारका प्रथम चरणका पाठ होना चाहिए । इसके बाद ब्रह्माजीने स्वाति नामके वाद्य विशेषज्ञ मुनिको शिष्य वगके सहित भाण्डो अर्थात वाद्योपर नियुक्त किया । यह इसका अथ होता है । अत एव हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—[श्लोकमे आया हुआ] 'स्वाति' ऋषि विशेष [का नाम] हे जिसने वर्षाके समय गिरती हुई जलधाराओकेद्वारा विविध प्रकारसे ताडित कमलपत्रो के परिवतनोसे उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी ध्वनियोका अनुसरण और योजना करके उचित रूपसे ध्वनियोको नियमित करनेकेद्वारा [मृदङ्ग आदि] पुष्कर-वाद्योकी रचना की है । 'शिष्योके साथ' इस [कथन] से पुष्कर-वाद्यके पूरक पणव मृदङ्ग झल्लरी आदिके उपयोग [के सूचन] से सहकारी वाद्यो [पक्षातोद्य] का ग्रहण भी सूचित किया है । [पुष्कर वाद्य पूर्वोक्त चार प्रकारके वाद्योमेसे अवनद्ध-वाद्योकी श्रेणीमे आते हैं । कोई नया वाद्यभेद नही है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'स्वाति ऋषिविशेष ' इतना पाठ पूव सस्करणोमें कदाचित् कीटदष्ट हो जानेके कारण नही छपा था । पर तु उसका होना आवश्यक है । उसके बिना रखे अथकी सङ्गति ठीक तरह से नही लगती है । अत हमने उस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है । और अपना परिवर्द्धित पाठ होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके टाइपमे प्रस्तुत किया है ।

---

१ म गुणनिकाकायाम । २ म भ स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु । ३ म स्वय वत्तिनियमे ।
४ त्रिपुष्करस्य वाद्यस्य ।

भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं[1] येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति वृत्तिः[2]। न तत्प्रधानमेतत्। सोपकरणा कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। 'गानयोग' इति गानशब्देन गान्धर्वस्यात्र उपयोगमाह[3]। योग शब्देन[4] च ततसुषिरपरिग्रहः। 'नियुक्तो' 'नियोजिता', [5]इत्येताभ्यां वादक-गायकदीनां[6] नाट्याचार्यायत्तता दर्शयति ॥५०॥

अभिनव०—यहां भाण्ड [वाद्य] का [गानकी अपेक्षा] पहिले ग्रहण इस लिए किया गया है क्योंकि परिक्रमण [परिक्रमा या विशेष प्रकारकी गति] आदिके अवसर पर उसीका [मुख्य रूपसे] व्यवहार [वृत्ति] होता है। यह [भाण्डका पूर्वग्रहण] उसकी प्रधानताका सूचक नहीं है। [वाद्य गान आदि रूप समस्त] उपकरणोंसे युक्त कैशिकीका भी इसके बीचमें प्रयोग किया गया है यह बात भी सूचित की है। 'गान-योग' इसमें [आए हुए] 'गान' शब्दसे इस [अभिनय] में सङ्गीत [गान्धर्व] के उपयोगको सूचित किया है। और 'योग' शब्दसे तत [वीणा आदि] और सुषिर [बांसुरी आदि वाद्यों] का भी ग्रहण सूचित किया है। [कारिकामें आए हुए] 'नियुक्त' और 'नियोजिता' इन दोनों शब्दोंसे वादक तथा गायक आदिको सर्वथा नाट्याचार्यके अधीन रहना चाहिए यह बात सूचित की है।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणोंमें इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध रूपमें और अस्त व्यस्त सा मुद्रित हुआ है। भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति सोपयोगात् कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। न तत्प्रधानमेतत।' यह पूर्व संस्करणोंका पाठ है। परन्तु इसकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। इसका कारण उसके क्रमका अस्त व्यस्त हो जाना ही है। हमने उस क्रमको व्यवस्थित करके भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादानं येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति वृत्तिः। न तत्प्रधानमेतत। सोपकरणा कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ कर दिया है। इससे इसकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसमें क्रमके परिवर्तनके अतिरिक्त 'सोपयोगात कैशिकी' के स्थानपर 'सोपकरणा कैशिकी' यह पाठ भी अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे किया है। सोपयोगात' पदकी यहां कोई सङ्गति नहीं लगती है।

पाठसमीक्षा—आगे 'गानयोग इति। गानशब्देन ततसुषिर—परिग्रहः। गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह।' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है। वह भी अशुद्ध है। इसमें तीन अशुद्धियां हैं। गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह' यह वाक्य अभीष्ट अर्थसे बिल्कुल उल्टे अर्थको सूचित करता है। (१) गान' शब्दसे नाट्यमें गान्धर्व अर्थात् सङ्गीतकी उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। इसलिए अनुपयोगमाह' नहीं अपितु उपयोगमाह' पाठ होना चाहिए। (२) इसके पूर्व गानशब्देन ततसुषिरपरिग्रहः' यह वाक्य छपा है। उसके बाद फिर 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह इत्यादि वाक्य छपा है। इस प्रकार पूर्व संस्करणोंके पाठके अनुसार यहां गान' शब्दका दो बार बार ग्रहण किया गया है। जो ठीक नहीं प्रतीत होता है। उसमें इनमेंसे पहिले स्थान पर 'गानशब्देन' यही पाठ रहना चाहिए। और दूसरे स्थानपर 'गानशब्देन' इसके स्थानपर योगशब्देन' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। इसका भाव यह है कि कारिकामें आए हुए 'गानयोगत' इस पदके 'गान' शब्दसे

---

१ वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति। २ सोपयोगात्। कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजिते त्युक्तम् न (तेन) तत्प्रधानमेतत्। ३ अनुपयोगमाह। ४ गानशब्देन।
५ नियुक्तो नियोजित इत्यनेन। ६ गायनादीनां।

[1]नृत्त गीत आतोद्य अभिनयाना साम्यसिद्धचथमेकीभावेन [2]सम्मेलन कृत्वा प्रयोग काय इति दशयति श्लोकद्वयेन' 'एव नाट्यम्' इत्यादिना—

भरत०—एव नाटचमिद सम्यग् [3]बुद्ध्वा सर्वे सुतै सह ।
स्वातिनारदसयुक्तो वेद-वेदाङ्गकारणम् ॥५१॥
उपस्थितोऽह ब्रह्माण प्रयोगार्थं कृताञ्जलि ।
नाटचस्य ग्रहण प्राप्त ब्रूहि किं करवाण्यहम् ॥५२॥

भरतमुनिने नाटचमे गा धव अर्थात् सङ्गीतका और योग' शब्दसे तत सुषिर आदि वाद्योका ग्रहण सूचित किया है । इस प्रकार 'गान' शब्दसे सङ्गीतका और योग' शब्दसे वाद्योका ग्रहण अभिप्रेत होनेसे दोनो शब्दोकी साथकता हो जाती है । पिछले सस्करणोमें मुद्रित पाठके अनुसार इस प्रकारकी सङ्गति नही लग पाती है । उसमे गान शब्दका दो बार प्रयोग होनेसे पुनरुक्ति हो जाती है । दूसरी ओर 'योग' शब्दका कोई प्रयोजन नही दीखता है । इन त्रुटियोके कारण पूव सस्करणोका पाठ अशुद्ध है । उसको ठीक सुसङ्गत बनानेकेलिए हमने उसमें एक जगह गानशब्देन' और एक जगह 'योगशब्देन' यह पाठ माना है । इसमें तीसरी अशुद्धि वाक्य वि यासके क्रमकी अशुद्धि है । कारिका के 'गानयोगत इस पदमें पहिले गान' शब्दका और बादको योग' शब्दका प्रयोग किया गया है । इस दृष्टिसे व्याख्यामें भी पहिले 'गान शब्दका और बादको योग शब्दका प्रयोग होना चाहिए था । किन्तु पूवसस्करणोके पाठमे यह क्रम नही बनता है । अत वाक्य वि यासमे क्रम परिवतन भी आवश्यक है । इस प्रकार एक जगह 'गान' शब्दके स्थानपर 'योग' पदका परिवतन और फिर वाक्य वि यासमे सशोधनकर 'गानशब्देन गा धवस्यात्र उपयोगमाह । योग शब्देन च तत सुषिर परिग्रह' । इस प्रकारका सशोधित पाठ हमने प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसके बाद नियुक्तो नियोजित इ यनेन' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा है । वह भी अशुद्ध प्रतीत होता है । मूल श्लोकमें नियुक्त' तथा नियोजिता दोनो शब्द आए हैं । और व्याख्यामें भी वे मूलके प्रतीक रूपमे ही उद्धत हुए ह । अत यहा 'नियोजित' के स्थानपर 'नियोजिता' और इत्यनेन इस एकवचनके स्थान पर 'इत्येताभ्या यह द्विवचनका प्रयोग होना चाहिए । इसी दृष्टिसे हमने इन सब पाठोको सशोधित रूपमें ही यहा प्रस्तुत किया है ॥ ५० ॥

अभिनव०—नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय [चारो] के ताल-मेल [साम्य] की सिद्धिकेलिए एक साथ मिला कर प्रयोग करना चाहिए इस बातको 'एव नाट्यम्' इत्यादि दो श्लोकोसे दिखलाते है—

भरत०—इस प्रकार [कशिकी सहित चारो वत्तियो और वाद्य सङ्गीत आदि समस्त अपेक्षित उपकरणोसे युक्त] इस नाटच [की तय्यारी] को पूण [सम्यक] समझ कर [अभिनय करने वाले] सब पुत्रो [उनमे अप्सराओको भी सम्मिलित समझना चाहिए] और स्वाति तथा नारदके साथ [मैं नाटचके मूलभूत] वेद और वेदाङ्गोके बनाने वाले-[ब्रह्माजीके पास] ।५१।

भरत०—अभिनय [दिखानेके निम त्रण] केलिए हाथ जोड कर मैं [भरतमुनि] ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुआ और [उनसे निवेदन किया कि] नाटयकी शिक्षा पूण हो गई है अब कहिए मैं क्या करू ।५२।

---

१ अथ गीता । २ सम्मेलत प्रकृत्य । ३ म म बुद्ध वा सम्यविछ्ष्यगण सह ।

एव [1]मेलनिकाया नाट्यमिद [2]एकबुद्धिग्राह्य सम्यक् सम्पन्नमिति बुद्धवा ज्ञात्वा पुत्रै [3]स्वातिनारदाभ्या च सह ब्रह्माणमुपस्थित । उपनिमन्त्रणार्थ ब्रह्मणोऽग्रे स्थित इत्यथ । उपनिमन्त्रण दशयति नाट्यस्येति । ग्रहणमिति गहीत, शिक्षित तावन्नाट्यमित्यथ । ग्रहण [4]चावलोकन, तत्प्राप्तम् । प्रेक्षणयोग्य जातमित्यथ ॥५१ ५२॥

भरत०—एतत्तु वचन श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामह ।
महानय [5]प्रयोगस्य समय [6]प्रत्युपस्थित ॥५३॥

एतत तु इति तु शब्द एवकारार्थे, श्रुत्वैव । अत एव 'प्रत्युपस्थित' अयत्नादेव आभिमुख्येन उपस्थितो दवसङ्घटित इत्यथ ॥ ५३ ॥

भरत०—अय ध्वजमह श्रीमान् [7]महेन्द्रस्य प्रवतते ।
[8]अत्रेदानीमय वेदो नाटयसञ्ज [9]प्रयुज्यताम् ॥५४॥

ध्वजस्येन्द्राथस्य महन पूजन यत्र स ध्वजमह ॥ ५४ ॥

अभिनव०—इस प्रकार [नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय चारोका उचित रूप से] सम्मेलन हो जानेपर [इन चारोको मिला कर यह एक नाट्य हे इस प्रकार] नाट्य एक बुद्धिका विषय बन कर भली प्रकारसे तयार हो गया है ऐसा समझ कर पुत्रो तथा स्वाति एव नारदकेसाथ मै ब्रह्माजीके समीप गया । अर्थात् निमन्त्रण देने केलिए ब्रह्माजीके सामने खडा हुआ । उसी निमन्त्रणको 'नाट्यस्य' इत्यादिसे दिखलाते है । 'ग्रहण' इससे 'गृहीत' अर्थात नाट्यको सीख लिया यह अभिप्राय है । और 'ग्रहण' [का दूसरा अथ] 'अवलोकन' भी है । वह प्राप्त हुआ । अर्थात् नाट्य देखने योग्य होगया है यह आशय हे ॥५१-५२॥

नाटयका प्रयोगकाल—

भरत०—इस बातको सुनते ही पितामह [ब्रह्माजी] बोले कि प्रयोगकेलिए यह बडा सुन्दर अवसर भी [दववशात अपने आप] उपस्थित हो गया है ॥ ५३ ॥

अभिनव०—'एतत्तु' इसमे तु-शब्द एवकार [अर्थात्] 'ही' अथमे [प्रयुक्त हुआ] है । [इस कारण] सुनते ही [ब्रह्माजी बोले यह इसका अथ है] । इसीलिए 'प्रत्युपस्थित' अर्थात् बिना प्रयत्नके ही सामने आ गया है अर्थात् भगवानने उपस्थित कर दिया हे यह ['प्रत्युपस्थित' शब्दका] अभिप्राय है ॥ ५३ ॥

भरत०—यह महेन्द्र [के विजय] का [प्रदशक] ध्वज पूजन [ध्वजारोहणका महोत्सव] होने जा रहा है । अब इसमे इस नाटयवेद [के आधारपर बनाए गए नाटक] का प्रयोग [अभिनय] करो ॥५४॥

अभिनव०—ध्वजका अर्थात् इन्द्रके [सम्मान या विजयोत्सवके मनानेके] लिए [स्थापित] ध्वजका 'महन' अर्थात् पूजन जिस [उत्सव] मे होता है वह 'ध्वजमह' [का उत्सव हुआ । उसमे नाट्यका प्रयोग करा] ॥ ५४ ॥

---

१ मेलनिकया । २ इत्येक । ३ म स्वात्याद्याभ्याम । ४ व तदवलोकनम । ५ प प्रयोगश्च स मया समुपस्थित । ६ व समुपस्थित । ७ शचीभर्तु । ८ ड पुत्रेदानीम् । ९ ड भ प्रयोज्यताम ।

"निहतासुरदानवे' इत्यादिना विशेषणद्वारेण ध्वजमहस्य सम्भव दशयति—

भरत०—[2]ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ।
प्रहृष्टामरसङ्कीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ।।५५।।

तत्र प्रयोगे क्रम दशयति 'पूव कृता मया नान्दी' इति—

भरत०—[3]पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसयुता ।
अष्टाङ्गपदसयुक्ता विचित्रा [4]वेदनिर्मिता ।। ५६ ।।

नान्द्याख्य मुख्य मङ्गल सकलपूवरङ्गाङ्गोपलक्षणमिति केचित । पूवरङ्गाङ्गाना [5]मध्यान्नान्दी केवलापि प्रयोज्येति एवम्परमेतदित्यन्ये ।

अभिनव०—'निहतासुरदानवे' आदि विशेषणोसे ध्वजोत्सवकी उत्पत्ति दिखलाते है—

भरत० – तब असुरो तथा दानवोके विनष्ट या पराजित हो जानेपर प्रफुल्लित देवताओसे भरे हुए इन्द्रके उस विजयोत्सवमे ध्वज पूजनके अवसरपर [मैंने नाटयका प्रयोग किया] ।। ५५ ।।

पाठसमीक्षा—पूववर्ती दोनो सस्करणो मे ध्वजमहस्यविशेषणद्वारेण सम्भव दशयति निहतासुरदानवे इत्यादिना' इस प्रकारका पाठ छपा है । इस पाठको देखते ही मनपर यह प्रभाव पडता है कि 'निहतासुरदानवे' यह अगले श्लोकका प्रतीक भाग है । पर वास्तवमे ऐसी बात नही है । अगला श्लोक 'ततस्तस्मिन् ध्वजमहे से आरम्भ होता है । निहतासुरदानवे उसका प्रथम नही, द्वितीय चरण है । अत वह प्रतीक रूपमे उद्धत नही हो सकता है । ग्र थकारनेभी उसे वस्तुत श्लोकके प्रतीक रूपमें उद्धत नही किया है । अपितु ध्वजमहकी उत्त्पत्तिकी सूचना देने वाले विशेषण पदके रूपमे प्रस्तुत किया है । इस बातको ध्यानमें लानेपर इस पाठक्रममें थोडा सा परिवतन आवश्यक प्रतीत होता है । अत हमने सशाधित रूपमें ही मूल पाठको प्रस्तुत किया है ।

नाटयप्रयोगका क्रम—

अभिनव०—उस [नाट्य] मे प्रयोगके क्रमको 'पूर्व कृता मया नान्दी' आदि [अगले श्लोक] से दिखलाते है—

भरत०—सबसे पहले मैने आशीर्वाद वचनोसे युक्त आठ अङ्गभूत पदो वाली वेद [के आधारपर] निर्मित एव [विचित्रा] अनेक प्रकारकी 'नान्दी' का प्रयोग किया । ५६ ।

अभिनव०—'नान्दी' नामक यह [पूर्वरङ्गका] मुख्य मङ्गल [नाटयशास्त्रके पाँचवे अध्यायमे कहे जाने वाले] पूवरङ्गके समस्त अङ्गोका उपलक्षण हे [अर्थात् पूर्वरङ्गके सभी अङ्गोका भरतमुनिने अनुष्ठान किया यह अभिप्राय है] ऐसा कुछ [व्याख्याकार] मानते हैं । दूसरे [व्याख्याकार] यह कहते है कि पूवरङ्गके अङ्गोमेसे [अन्य सबको छोड कर] केवल 'नान्दी' का भी प्रयोग किया जा सकता है यह इस [केवल नान्दीके कथन] का अभिप्राय है ।

---

१ ध्वजमहस्य विशेषणद्वारेण सम्भव दशयति निहतासुरदानवे इत्यादिना ।
२ न म ततश्चध्वजमहे । ३ ग व नान्दी कृता मया पूवमाशीवचनसयुता । त पूव कृत्वा ।
४ ड म देवसम्मता । प देवसम्मिता । फ वेदसम्मिता । द देवनिर्मिता । न देवतास्तुति सम्मता । त देवतास्तुतिसश्रया । ५ म भ मध्या नान्दी ।

अस्मदुपाध्यायास्तु—यावद् दैत्यैस्तत्र विघ्नाद्याचारण न कृत तावत पूवरङ्गस्य विधिपूवकस्य कोऽवकाश । स हि विघ्नरक्षाकरणेन 'मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतु प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च 'दैत्यापरितोषकारणम् । विघ्नास्तु यदा जातास्तत प्रभति पूवरङ्ग । तथा चतुर्थाध्याये वक्ष्यते 'पूवरङ्ग कृते मया भगवते शिवभट्टारकाय र्दाशत' इति [ना०शा० ४-१०] । यथा तथा तु य 'कुतुपविन्यासादि स न पूवरङ्गशब्दवाच्य । तस्मादिह नान्दीमात्रस्य प्रयोग ।

अभिनव०—हमारे उपाध्याय [श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि—जब तक दत्योने उस [नाट्य प्रयोग] मे विघ्नादि उपस्थित नही किया तब तक विधिपूर्वक 'पूर्वरङ्ग' करनका अवसर ही कहाँ है ? क्योकि वह [पूवरङ्ग] विघ्नोके निवारण करनेकेद्वारा मुख्य रूपसे मण्डपमे स्थापित देवताओके परितोषका कारण होता है और [दत्योद्वारा उपस्थित किए गए विघ्नोके निराकरणके कारण दैत्योके असन्तोषके बिना देवताओका परितोष सम्भव नही हे इस लिए देवताओके सन्तोषके साथ दैत्योके असन्तोषके] अविनाभूत होनेके कारण गौण रूपसे दत्योके अपरितोषका कारण भी होता है । [इसलिए] जब [दत्योकेद्वारा] विघ्न उत्पन्न हुए तबसे लेकर पूवरङ्गका विधान प्रारम्भ हुआ । इसी लिए चतुथ अध्यायमे [शब्दश नहीं भाव रूपमे] कहेगे कि—'पूवरङ्गके करनेके बाद' मैने शङ्कर-भगवानको [प्रयोग] दिखलाया । [पूव रङ्गके समस्त अङ्गोका अनुष्ठान किए बिना] जैसे तैसे किए गए 'कुतुपविन्यास' आदिको पूवरङ्ग-शब्दसे नही कहा जा सकता है । इसलिए यहाँ [समस्त पूवरङ्ग का नही अपितु] केवल नान्दीमात्रका प्रयोग किया गया है [यह अभिप्राय है] ।

कुतुप शब्दका अथ—

इस अनुच्छेदमें ग्रथकारने 'कुतुप' शब्दका प्रयोग किया है । यह शब्द साधारणत लोकमें प्रसिद्ध नही है । किन्तु नाटयशास्त्रमे उसका अनेक स्थानोपर प्रयोग किया गया है । उसे हम नाटयशास्त्रका पारिभाषिक शब्द कह सकते हं । नाटयशास्त्रमे उसका प्रयोग गायक वादक आदिके समूहकेलिए किया जाता है । अभिनवभारतीकारने द्वितीय अध्यायके ८१व श्लोककी व्याख्यामे 'कुतुप' शब्दका अथ करते हुए लिखा है—

कुतुप सफेटक गायक वादकसमूह । कु र्नाटयभूमिस्ता तपति उज्ज्वलयति इति कृत्वा । कुत शब्द पातीत्य ये ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कु शब्दका अथ नाटयभूमि है उसको तप्त अर्थात उज्ज्वल करने वाला, उसकी शोभा वद्धि करनेवाला होनेसे गायक वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' नामसे कहा जाता है । दूसरे व्याख्याकार 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्ति यह करते हैं कि 'कुत' का अथ शब्द है उसकी रक्षा करने वाला होनेसे गायक वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' कहते हैं । यह मतभेद केवल 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें ही है । किन्तु उसका अथ दोनो ही पक्षोमें गायक-वादक आदिका समुदाय ही है ।

---

१ म भ मण्टपभाग । २ म भ. दत्यपरितोषकारणम । ३ म अथ कुतुपविन्यासादि ननु पूर्वरङ्गशब्दस्य । भ अय कुतुपविन्यासक्रिम न पूर्वरङ्गशब्दस्य ।

पञ्चम अध्यायकी १७वी कारिकामें कुतुप वि यास' की विशेष विवेचना करते हुए अभिनवगुप्तने इन गायक वादक आदिके बठनेके स्थानका निर्देश इस प्रकार किया है—

तत्कथमित्याह कुतुपस्य त्विति। नेपथ्यगृहद्वारयोमध्ये पूर्वाभिमुखो मादङ्गिक । तस्य पारिएको वामत। रङ्गपीठस्य दक्षिरात उत्तराभिमुखो गायन । अस्याग्रे उत्तरतो दक्षिणाभिमुखस्थिता गायिक्य । अस्य वामे वरिएक । अ यत्र वशधारकौ। इत्येव कुत पाति कु तपति इति शब्दविशेष पालकस्य नाटचभूमिकौज्ज्वलताधायिनश्च वगस्य यो विचित्रो यास स विप्रकीर्णानामेकत्र ढौकनात्मा प्रत्याहार ।

इस स्थलपर भी अभिनवगुप्तने 'कुतुप' शब्दकी 'कुत पाति' और 'कु तपति' ये दोनो प्रकारकी पूर्वोक्त व्युत्पत्तियाँ दिखलाई है। और गायक वादक आदिके रङ्गशीषपर बठनेके स्थान आदिका निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटचशास्त्रमे यह कुतुप' शब्द गायक वादक आदिके समुदायका ही वाचक होता है।

पाठसमीक्षा—इन दो अनुच्छेदोमें पूवसस्करणोके पाठमें कुछ साधारण सी अशुद्धिया रह गई हैं और एक मुख्य अशुद्धि हो गई है। सबसे पहिले प्रथम सस्करणमे पूवरङ्गाङ्गना मध्या' पाठ छपा था उसके स्थान पर 'पूवरङ्गाङ्गाना मध्यात' पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'मण्टपभागनिवेशित' इस प्रकारका पाठ छपा था। वहा 'मण्टप की जगह मण्डप' पाठ होना चाहिए। तीसरी जगह 'यथा तथा तु य कुतुपवि यासादिम न पूवरङ्गशब्दवाच्य इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें दि म के स्थानपर 'दि स' होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये इस अनुच्छेदकी सामा य अशुद्धियाँ हैं। पर तु एक अशुद्धि विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। स हि विघ्नरक्षाकरणेन मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतु प्राधा येन, नान्तरीयकतया च दैत्यपरितोषकारणम्' इस प्रकारका पाठ प्रथम और द्वितीय दोनो ही पूव सस्करणोमे छपा है। उसमें 'दत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर दैत्यापरितोषकारणम्' यह पाठ होना चाहिए। क्योकि नाट्यमें विघ्नोको उपस्थित करने वाले दैत्य हैं। जब पूवरङ्गके अनुष्ठानसे उनकी विघ्न डालनेकी योजना विफल हो जाती है तो उससे जहाँ देवताओको स तोष होना स्वाभाविक है वहाँ दत्योको उससे अस तोष होना भी अनिवाय है। इसलिए यहाँ विघ्नोका नाश दत्योके परितोषका नही अपितु अपरितोषका ही कारण हो सकता है। अत 'दत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर दत्यापरितोषकारणम् यही पाठ उचित है। इस कारण हमने सशोधित रूपमे ये पाठ ही यहा प्रस्तुत किए हैं।

पूवरङ्गके अङ्ग—

पूवरङ्गके अङ्गोमेसे केवल 'ना दी' के प्रयोगकी बात यहाँ कही गई है। उसके अङ्गोका विस्तार पूवक वरान पञ्चम अध्यायके आरम्भमे इस प्रकार किया गया है—

यस्माद रङ्गे प्रयोगोऽय पूवमेव प्रयुज्यते।
तस्मादय पूवरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमा ॥७॥
अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूवश ।
त त्रीभाण्डसमायोगैं पाठचयोगकृतैस्तथा ॥८॥
प्रत्याहारोऽवतरण तथा ह्यारम्भ एव च।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥९॥
सघोटना तत कार्या मार्गासारितमेव च।
ज्येष्ठ मध्य कनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥१०॥

किमर्थासावित्याह—'वेदनिर्मिता'। तत्र 'आशिषमाशास्ते' इति हि श्रुति 'सवकमस्वाशी पूवकत्वमाह यत, ततो नान्दीप्रयागो, न तु पूवरङ्गाङ्गत्वेन।

एतानि तु बहिर्गीताय तयवनिकागत ।
प्रयोक्तृभि प्रयोज्यानि त त्रीभाण्डकृतानि च ॥११॥

तत सर्वैस्तु कुतुप सयुक्तानीह कारयेत ।
विघटय्य व यवनिका नत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

गीताना भद्रकादीना योग्यमेक तु गीतकम् ।
वधमानमथापीह ताण्डव यत्र युज्यते ॥ १३ ॥

ततश्चोत्थापन काय परिवतनमेव च ।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वार तथव च ॥ १४ ॥

चारी चव तत कार्या महाचारी तथव च ।
त्रिक प्ररोचना चापि पूवरङ्गे भवति हि ॥ १५ ॥

एता यङ्गानि कार्याणि पूवरङ्गविधौ द्विजा ।
एतेषा लक्षणमह व्याख्यास्याम्यनुपूवश ॥ १६ ॥

नान्दी प्रयोगका प्रयोजन—

अभिनव०—[विघ्नाभावके कारण नान्दीका अवसर न होने पर भी] वह [नान्दी] किसलिए की है यह बतलानेके लिए 'वेदनिर्मिता' कहा है। क्योंकि वहाँ [अर्थात् वेदमे] 'मङ्गल-कामना करनी चाहिए' प्रकारकी श्रुति [वेद-वाक्य] जो सब कार्योंमे मङ्गल पूवकत्वको सूचित करती है [अर्थात सब शुभ कार्योंके आरम्भमे मङ्गलाचरण करना चाहिए यह बात क्योकि वेदमे कही गई है] इसलिए यहाँ ['पूव कृता मया नान्दी' इत्यादि स्थलमे] 'नान्दी' का प्रयोग किया गया है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग रूपमे नहीं [की गई है। क्योकि विघ्नोकी अभी उपस्थिति न होनेसे विघ्न निवारक 'पूवरङ्ग' का अभी कोई अवसर नही है]।

इस अनुच्छेदमें भी ग्रन्थकार अपने उपाध्याय भट्टतौतके मतका ही उल्लेख कर रहे हैं। पहिले अनुच्छेदमें यह कहा था कि जब तक दत्योंकेद्वारा विघ्न उपस्थित नही किए गए तब तक 'नान्दी' के विधिवत प्रयोगका अवसर ही नही हे। उसीकी सङ्गति दिखलाते हुए इस अनुच्छेदमे यह प्रश्न उठाया है कि जब अभी विघ्न उपस्थित न होनेसे यहा नान्दी प्रयोगकी आवश्यकता ही नही थी तब 'नान्दी' की ही क्यो गई। इसका उत्तर 'वेदनिर्मिता' पदसे दिया है। क्योंकि वेदमें समस्त कार्योंके आरम्भमें मङ्गलाचरण करनेका विधान है अत मङ्गलाचरणके रूपमें यह नान्दी की गई है। पूवरङ्गके अङ्ग रूपमें नही। यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

नान्दीके अनेक रूप—

आगे पञ्चमाध्यायमें भरतमुनिने नान्दीका विधान करते हुए लिखा है कि—

सूत्रधार पठेत् तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलकृताम् ॥ ५, १०४ ॥

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि, वाक्य प्रति महावाक्य वा, तानि सुप तिङ तानि, अवा तरवाक्यानि वा, इत्युभयथा। अत एव 'विचित्रा' इत्युक्तम्।

तेन—

जितमुडुपतिना नम सुरेभ्यो द्विजवषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
अवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतिपच्च द्रवपुनरेन्द्रचन्द्र ॥

इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।

अर्थात सूत्रधार मध्यम स्वरका आश्रय लेकर द्वादश पदोसे अथवा आठ पदोसे युक्त ना दीको पढे। इसमें ना दीके दो रूप बतलाए हैं। एक द्वादश पदो वाली ना दी और दूसरी आठ पदो वाली ना दी। कि तु इसमे पद शब्द भी अनेकाथक शब्द है। उससे एक तो सुप्तिङ त पदम' इस अष्टाध्यायीक १ ४ १४ सूत्रके अनुसार सुब त 'राम' आदि अथवा तिङ त 'गच्छति' आदि रूप पदोका ग्रहण हो सकता है। और दूसरे श्लोकके एक चरण रूप पद अथवा अवा तर वाक्यका भी ग्रहण हो सकता है। इसलिए कही आठ या बारह सुब त तिडन्त पदो वाली ना दी पाई जाती है और कही आठ या बारह अवा तर वाक्यो या श्लोकके आठ या बारह चरणो वाली भी ना दी पाई जाती है।

अभिनव०—वाक्यके प्रति अथवा महावाक्यके प्रति जो आठ अङ्गभूत पद अर्थात [वाक्यके प्रति अङ्गभूत] सुबन्त तिडन्त रूप अथवा [महावाक्यके अङ्ग रूप] अवान्तर-वाक्य रूप [पदोसे युक्त दोनो प्रकारकी नान्दी हो सकती है]। इसी लिए 'विचित्रा' [अनेक प्रकारकी] यह कहा है।

अभिनव०—इस लिए—

अभिनव०—चन्द्रमा [उडुपति] की विजय हो, देवताओको नमस्कार हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण गण [के समस्त शुभकाय] निर्विघ्न हो। और द्वितीया [प्रतिपदा] के चन्द्रमाके समान [व दनीय] स्वरूप वाले उत्तम राजा धन-धा यसे परिपूण पृथ्वी की रक्षा करें।

अभिनव०—भरत विरचित [ग्रन्थ सम्बन्धिनी नान्दी] के रूपमे प्रसिद्ध और [भरतपुत्र] कोहल द्वारा प्रदर्शित यह [१२ सुवन्त तिडन्त रूप पदो वाली] ना दी भी ['विचित्रा' विशेषणके अनुसार] युक्ति-सङ्गत हो जाती है।

पाठसमीक्षा—यो तो जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोक थोडेसे पाठा तरसे 'रत्नावली' नाटिकाके ना दी प्रसङ्गमें भी आया है। उसमें अवतु च पथिवो समृद्धसस्या' के स्थानपर 'भवतु च पथिवी समद्धसस्या और 'प्रतिपच्च द्रवपुनरे द्रच द्र' के स्थानपर प्रतपतु च द्रवपुनरे द्र च द्र केवल इतना पाठा तर पाया जाता है—शेष श्लोक दोनो जगह एकसा है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक यहा ग्र थकारने 'रत्नावली नाटिका' से ही उद्धत किया है। इसीलिये पूववर्ती दोनो सस्करणोमें इसे 'रत्नावली नाटिका' के श्लोकके रूपमे ही निर्दिष्ट किया गया है। पर तु यह बात ग्र थकारके अभिप्रायके अनुसार कुछ ठीक नही जच रही है। ग्र थकारने यहाँ स्पष्टरूपसे ही इस श्लोकको 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' ना दीके रूपमें उद्धत किया है। 'कोहल' भरतके पुत्र और उनके समकालीन नाटचाचाय हैं। उ होने इसे 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा' अर्थात् भरतकृत् ना दीके रूपमे प्रदर्शित किया है। भरत और कोहलका समय सप्तम शतकवर्ती

[1]अन्यत्र तु पक्ष—

नान्दी पदान्तरेष्वषु [2]ह्येवमस्त्विति नित्यश ।
[3]वन्देता [4]सम्यगुक्ताभि र्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ [५ १०९]

इति श्लोकेऽन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्य ।

रत्नावलीकार श्री हर्षसे एक सहस्र वर्ष पूर्व पडता है। यदि यह रत्नावली का ही श्लोक होता तो एक सहस्रवर्ष पूर्व कोहल द्वारा उसे कैसे प्रदर्शित किया जा सकता था ? इसलिये यह श्लोक जैसा कि भारतीयत्वेनप्रसिद्धा' पदसे सूचित होता है भरतमुनिके विरचित किसी ग्रन्थका श्लोक जान पडता है। यह हो सकता है कि रत्नावलीकारने उस भरत विरचित प्रसिद्ध श्लोकको कहींसे लेकर अपने ग्रन्थमे दे दिया है।

पाठसमीक्षा—इस विषयमें दूसरी युक्ति यह है कि 'रत्नावली' में नान्दीपाठके रूपमें चार श्लोक दिये गये हैं। उनमें यह अन्तिम श्लोक है । यदि रत्नावली की नान्दी ही यहा उद्धत की जाती तो उसके चारो श्लोकोको, या फिर प्रथम श्लोकको उद्धत करना उचित था। पहले तीन श्लोकोको छोडकर इस चौथे श्लोकके उद्धत करनेकी कोई सङ्गति नही लग सकती है। तीसरी बात यह है कि रत्नावली' के चार श्लोकोको मिलाकर सोलह अवान्तर वाक्यो वाली षोडशपदा नान्दी बनती है। पर यहाँ इसे भट्टतौतके मतमें केवल चार अवान्तर वाक्य पदो वाली और दूसरे पक्षमें [बारह] सुबन्त तिङन्त पदो वाली नान्दी के रूपमे प्रदर्शित किया गया है। इसलिये भी यह नान्दी रत्नावली' की नान्दी नही है। बल्कि 'भारतीत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' यह चतुष्पदा या द्वादशपदा नान्दी कही औरसे ही उद्धत की गई है। अत पूर्व सस्करणोमें जो इसे रत्नावलीके श्लोकके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है वह उचित प्रतीत नही होता है।

अभिनव०—और दूसरे [अर्थात् 'पद' शब्दसे सुवन्त तिङन्त पदोका ग्रहण न करने वाले] पक्षमे तो—

अभिनव०—नान्दीके इन अवान्तर पदोमे सुन्दर रूपसे उच्चारण किए हुए शब्दोके द्वारा वे दोनो पारिपार्श्विक [नट] 'सदा इस प्रकार [लोक कल्याण आदि] होता रहे' इस प्रकारकी प्रार्थना करें।

अभिनव०—इस [नान्दीका विधान करने वाले] श्लोकमे [आए हुए] 'अन्तर' शब्दको अवान्तर खण्ड-वाक्योका बोधक समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें अगले 'नान्दीपदान्तरेषु' आदि श्लोकके पहिले अत्र तु पक्षे' यह पाठ छापा गया है। किन्तु यह पाठ ठीक नही है। ग्रन्थकार यहा मूल कारिकामें आए हुए नान्दीके 'अष्टाङ्गपदसयुक्ता' इस विशेषणकी व्याख्या कर रहे हैं। इस विशेषणमें प्रयुक्त पद' शब्दसे दो अर्थ लिए जा सकते हैं। एक सुबन्त तिङन्त रूप पद और दूसरा अवान्तर वाक्य रूप पद। उनमेंसे प्रथम पक्षमे 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोकमें नान्दीका लक्षण समन्वित करनेकेलिए पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोका ग्रहण किया गया है। यह बात हम अभी देख चुके हैं। अब आगे ग्रन्थकार दूसरा पक्ष दिखलाना चाहते हैं जिसमें 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्यका ग्रहण करना है। परन्तु इस अर्थके बोधनकेलिए यहाँ 'अत्र तु पक्षे' यह वाक्याश

१ अत्र तु पक्षे। २ ह्येवमार्येति। न० शा० ५ १०९। ३ म भ वेवताम। ४ म सम्यगुप्ताभि। ५. म पारिपार्श्वकौ

विवेचकास्त्वाहु —अङ्गग्रहणादत्रावान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि[1] । तत्र चाष्ट द्वादशसख्या [2]चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण ।

बिलकुल असमथ है। यदि अत्र तु पक्षे' यह पाठ रखाजाय तो इस श्लोकमें आठ या बारह अवा तर वाक्योवाली ना दी माननी होगी । पर तु इसमें न आठ अवा तर वाक्य बनते हैं न बारह। अत यह पाठ ग्र थकारके अभिप्रायके अनुरूप नही है। एक पक्ष पहले दिया जा चुका है उसके बाद अब दूसरा पक्ष दिया जा रहा है। ऐसी दशामें पक्षा तरका उप यास अत्र तु पक्षे से नही किया जा सकता है। पक्षा तरको उपस्थित करनेकेलिए तो यहाँ निकटतम पाठ 'अ यत्र तु पक्ष' ही हो सकता है। अ यत्र तु पक्षे' का अथ 'दूसरे पक्षमें तो' यह होगा। और इस अथकी 'इति श्लोके अ तरशब्दोऽवा तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्ट य' इस अथके साथ सु दर रूपसे सङ्गति लग जाती है। यही अथ यहा ग्र थकारको अभिप्रेत है। इसलिए यहापर 'अत्र तु पक्षे' के स्थानपर 'अ यत्र तु पक्षे यह पाठ होना चाहिए। इस युक्तिक्रमके आधारपर हमने यहा सशोधित रूपमें 'अ यत्र तु पक्षे' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

भट्टतोतसदृश विवेचकोंका मत—

यहा तक ग्र थकारने यह बात दिखलाई थी कि 'अष्टाङ्गपदसयुक्ता' आदि ना दी विधायक श्लोकोमे आए हुए 'पद' शब्दसे सुब त तिङ त रूप पदोका भी ग्रहण हो सकता है और अवा तर वाक्य रूप पदोका भी। अब 'विवेचकास्त्वाहु' से वे आगे इस विषयमे दूसरा मत प्रस्तुत करते हं। उसके अनुसार 'पद' शब्दसे केवल अवा तर वाक्योका ही ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात इस मतमें सुब त तिङ त रूप पदोका ग्रहण नही किया जा सकता है। यह मत किसका है यह बात यहा यद्यपि स्पष्ट रूपसे तो नही लिखी है कि तु 'विवेचका' पदसे ध्वनित होता है कि यह मत ग्र थकारके गुरु श्री भट्टतोतका ही मत होना चाहिए। पहिले मतमें जहाँ पद शब्दसे सुब त तिङ त पदोका भी ग्रहण किया जाता है 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें ठीक बारह सुब त तिङ त पद होनेसे द्वादशपदा ना दी कही जा सकती है। किन्तु इस मतमें जहाँ कि पद शब्दसे केवल अवा तर वाक्यका ही ग्रहण होता है वहा इस श्लोकमें आगे चतुष्पदा ना दी मानी गई है।

अभिनव०—[हमारे उपाध्याय-सदृश] विवेचकोका तो यह कहना है कि [मूल कारिकामे] अङ्ग [पद] के ग्रहणसे अवान्तर वाक्योको ही लिया जाता है। और उनमे आठ या बारह सख्या चौकोर या तिकोने [रङ्गमण्डपके] आकारके अनुसार [पूर्वोक्त दो प्रकारके रङ्ग-मण्डपके अभिप्रायसे] रक्खी गई है। [अर्थात् चौकोर रङ्ग मण्डपमे द्वादश पदो वाली तथा त्रिभुजाकार रङ्गमण्डपमे आठ पदो वाली नान्दी का प्रयोग करना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छदमें प्रथम सस्करणमें 'अवा तरवाक्या येतावतोपात्तानि' इस प्रकारका पाठ छापा था। पर तु वह ठीक नही था। इसलिए हमने 'अवा तरवाक्या येतावतो पात्तानि' के स्थानपर 'आवा तरवाक्या येव तावदुपात्तानि' यह पाठ सशोधित रूपमें रखा है। इसमें 'अङ्गग्रहणात' केसाथ 'एतावता' पदका कोई प्रयोजन प्रतीत नही होता है। उल्टी पुनरुक्ति सी हो जाती है। अत एव उसका हटा देना ही उचित प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें भी 'एतावता' पदको हटा 'तावदुपात्तनि' यही पाठ रखा गया है।

---

१ अवा तरवाक्यन्येतावतोपात्तानि। २ चतुरस्रत्र्यस्रकालानुसारिपूवरङ्गद्वयाभिप्रायेण।

तत्र—

नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभि-र्वाप्यलङ्कृताम [ना०शा० ५-१०४]

इत्यत्र 'अपि' शब्दाच्चतुष्पदत्व षोडशपदत्व चतुरस्रगत लभ्यते । त्र्यस्रगत च त्रिपदत्व षट्पदत्व च । इत्येव [1]अल्पेनापि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो नान्द्य । तत [2]परमपि [3]भूयस्य । तेन 'जितमुडुपतिना' इति चतुष्पदेयम् । षोडशपदा तु- 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि ॥ ५६ ॥

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमे दूसरी जगह चतुरस्रत्र्यश्रकालानुसारि पूवरङ्गद्वयाभिप्रायेण' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा है । पर तु वह भी ठीक नही है । उसके स्थानपर हमने चतुरस्र त्र्यस्राकारानुसारि रङ्गद्वयाभिप्रायेण यह पाठ रखा है । इसमें कालानुसारी' के स्थानपर 'आकारानुसारि' और पूवरङ्गद्वय के स्थानपर केवल 'रङ्गद्वय' पद हमने रखा है । इसका कारण यह है कि द्वितीय अध्यायमे चतुरस्र तथा त्र्यस्र चौकोने और तिकोने दो प्रकारके रङ्गमण्डपोका वणन पाया जाता है । ये दोनों मण्डपोके आकार हैं । अत 'कालानुसारी' के स्थानपर आकारानुसारि' पाठ ही अधिक सङ्गत है । और 'पूवरङ्ग के स्थानपर 'रङ्ग' पाठ ही होना चाहिए । क्योकि चतुरस्र तथा त्र्यस्र रङ्ग मण्डप ही होते हैं पूवरङ्ग नही । अत एव ये दोनो पाठ सशोधन भी आवश्यक ही है । उनके बिना वाक्यकी सङ्गति लगना असम्भव है ।

अभिनव०—उस [अवान्तर वाक्योको पद मानने वाले पक्ष] मे—

अभिनव०—'आठ पदोसे अथवा बारह पदोसे अलकृत नान्दीको'—

अभिनव०—इस [श्लोक] मे 'अपि' शब्दसे [अष्टपदा तथा द्वादशपदाके अतिरिक्त] चतुष्कोण [मण्डप] मे चतुष्पदा और षोडशपदा [नान्दी] भी प्राप्त होती है । [इसी प्रकार] तिकोने [मण्डप] मे [द्वादशपदाके अतिरिक्त] तीन पदो तथा छ पदो वाली [नान्दी] का भी ग्रहण होता है । इस प्रकार थोडे थोडेसे भेदसे [चतुरस्र चौकोर रङ्गमण्डपमे चार, आठ तथा सोलह पदो वाली तीन प्रकारकी, तथा तिकोने मण्डपमे तीन, छ तथा बारह पदो वाली] तीन-तीन प्रकारकी नान्दी होती है । उससे आगे भी बहुत तरहकी हो सकती है । इस लिए 'जितमुडुपतिना' यह चतुष्पदा [नान्दी] है । और 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि १६ पदो [नान्दी] वाली है ।

आकारानसारिणी नान्दी व्यवस्थाका औचित्य—

ऊपर जो अष्टपदा और द्वादशपदा नान्दीका उल्लेख किया गया है इसके विषयमे सामान्यत विद्वानोका यही विचार है कि इसमें पद शब्दसे सुब न तिङ त रूप पदोका अथवा अवान्तर वाक्य रूप पदोका दोनोका ही ग्रहण किया जा सकता है । और यह कविकी या नाटक कारकी इच्छापर निभर है कि वह कौनसे अथको ले । रत्नावली नाटिकाके कर्ताने 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्य रूप पदोको ग्रहण कर अपनी नाटिकामे चार श्लोको द्वारा सोलह अवान्तर-वाक्य रूप पदोसे युक्त नान्दीका प्रयोग किया है । वेणीसहारके निर्माता भट्टनारायणने अपने नाटकके आरम्भ मे १ निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो, २ कालिन्द्या पुलिनेषु केलिकुपिता' और ३ 'दृष्ट सप्रेम देव्या' इत्यादि तीन बडे बडे श्लोक लिख कर बारह अवान्तर वाक्यो वाली द्वादशपदा नान्दीका

---

१ म भ अल्पमपि । २ म भ परमपि ३ भूयस्त्वात् ।

प्रयोग किया है। महाकवि भवभूतिने अपने उत्तर रामचरितमें छोटा सा अनुष्टुप श्लोक लिख कर बारह सुब त तिङ त पदो वाली द्वादशपदा ना दीको पूरा कर दिया है। इसी प्रकार अष्टपदा ना दीके विषयमें भी भि न भिन्न कवियोने भि न भि न पक्षोको अपनाया है। कालिदासने अपने शकु तला नाटकमें या 'सष्टि स्रष्टुराद्या आदि एक ही श्लोकमे आठ अवा तर वाक्य बनाकर अष्टपदा ना दीका प्रयोग किया है। कि तु मुद्राराक्षसके निर्माता विशाखदत्त ने १ ध या केय' और २ 'पादस्याविभव ती' इत्यादि दो बडे बड श्लोक लिख कर अष्टपदा ना दीकी पूर्ति की है। इस प्रकार सामा य रूपसे कवियोने अपनी इच्छाके अनुसार अष्टपदा या द्वादशपदा ना दीको और उसके दोनो प्रकारके अर्थोको अपनाया है।

कि तु अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतके आधारपर ना दीके अष्टपदो और द्वादशपदोकी व्यवस्था रङ्गमण्डपके आकारके अनुसार की है। भट्टतोतका मत यह है कि अष्टपदा ना दीका प्रयोग चतुरस्र मण्डपमे और द्वादशपदा ना दीका प्रयोग मुख्य रूपसे त्र्यस्र मण्डपमे करना चाहिए। यही नही अपितु ना दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् इत्यादि, ना दी विधायक श्लोकमे आए हुए अपि' शब्दके बलसे उ होने चतुरस्र मण्डपमे अष्टपदाके अतिरिक्त चतुष्पदा तथा षोडश पदा ना दी भी मानो है। इसी प्रकार त्र्यस्र मण्डपमें द्वादशपदाके अतिरिक्त त्रिपदा और षटपदा ना दीको भी स्वीकार किया है। कि तु इतनी विस्तृत विवचना करते हुए भी वे इसमें विकृष्ट-मण्डपको विल्कुल ही भूल गए हैं। विकृष्ट मण्डपमे किस प्रकारकी ना दी करनी चाहिए इसकी कोई चर्चा उ होने नही की है। इसलिए मण्डपाकारानुसारिणी यह ना दी व्यवस्था कुछ अपूर्ण प्रतीत होती है।

जितमुडुपतिनामे चतुष्पदा ना दी—

भट्टतोत सदृश विवेचकोके मतमे पद शब्दसे सुब त तिङ त पदोका ग्रहण न करके केवल अवा तर वाक्योका ही ग्रहण किया जाता है उस दशामे 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें १ जितमुडु पतिना २ नम सुरेभ्यो ३ द्विजवषभा निरुपद्रवा भव तु ये तीन पूर्वाद्धके और उत्तराद्धका एक इस प्रकार चार अवान्तर वाक्य मान कर इसे चतुष्पदा ना दी कहा गया है। पहिले मतमें इस श्लोक में ठीक बारह सुब त तिङ त पद होनेसे इसे द्वादशपदा ना दी माना गया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे हमने दो स्थानो पर पाठ सशोधन किया है। पूव सस्करणोमे 'अल्पमपि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो ना द्य ' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें 'अल्पमपि' के स्थानपर 'अल्पेनापि पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। 'अल्पमपि तद्भेदन' पाठकी कोई सङ्गति नही लगती है। इसी प्रकार पूव सस्करणोमें 'अत परमपि भूयस्त्वात' यह पाठ मुद्रित हुआ है। किन्तु वह असङ्गत प्रतीत होता है। उसके स्थानपर तत परमपि भूयस्य पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। अत हमने सशोधित रूपमें इ ही पाठोको प्रस्तुत किया है॥५६॥

'तद तेऽनुकृतिबद्धा' की दो व्याख्याए और उनका खण्डन—

पिछली ५६ वी कारिका में ग थकारने नाटकके आरम्भमें की जाने वाली ना दीका वर्णन किया था। उसके बाद अब ५७ वें श्लोकमें वे अगली बात 'तद तेऽनुकृतिबद्धा' इन शब्दोसे कह रहे हैं। इन शब्दोका स्पष्ट अथ यह है कि उसके बाद अर्थात ना दी पाठके बाद मने अनुकृति अर्थात अभिनयका आरम्भ किया। कि तु टीकाकारोने अपनी रूढिवादिताकी धुनमें इस वाक्यकी बुरी तरह छीछालेदर कर डाली है। अभिनवगुप्तने अपनेसे पूववर्ती दो टीकाकारोके मतोका यहा उल्लेख किया है। इनमेंसे पहिले टीकाकारका मत तो यह है कि 'अनुकृतिबद्धा' का अथ 'अभिनय का आरम्भ किया' यह नही है अपितु 'अभिनयका अभ्यास प्रारम्भ किया,' यह है। इन महाशयने तो

अब तकका लिखा पढा सब कुछ भुला दिया। अभ्यासकी बात तो इसके पहिले ही लिखी जा चुकी है। अत यहा अभ्यासका आरम्भ करनेकी कोई सङ्गति नही है। इसलिए अभिनवगुप्तने आगे उनके मतका खण्डन कर दिया है।

दूसरे याख्याकारने अनुकृति शब्दका अथ 'प्रस्तावना' माना है और इस वाक्यका अथ 'प्रस्तावना तावत प्रयुक्तेत्यथ' प्रस्तावना प्रारम्भ की यह किया है। पर तु इनकी व्याख्या पहिली व्याख्यासे भी अधिक असङ्गत है। अनुकृति शब्दका वाच्याथ प्रस्तावना नही है। अनुकृति शब्द प्रस्तावनाके अथमें रूढ भी नही है। और अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अथ ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन भी नही है। इसलिए लक्षणा वत्तिसे भी अनुकृति शब्दका प्रस्तावना अथ नही किया जा सकता है। तब अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अथका ग्रहण करना इन व्याख्याकार महोदयकी अपनी कल्पनामात्र है। उसकी न यहा कोई आवश्यकता है और न वह भरतमुनिको अभिप्रेत है। यदि भरतमुनिको प्रस्तावना प्रारम्भ की यही बात कहनी थी तो वे स्पष्ट रूपसे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके उस बातको कह सकते थे। उनके पास शब्दोंया प्रतिभाका दारिद्य नही था कि वे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके श्लोक न बना सकते। उ हे यहा वस्तुत प्रस्तावना प्रारम्भ की यह अथ अभिप्रेत ही नही है। इसलिए उ होने उस प्रकारकी वाक्य रचना नही की है।

उसके बाद मैंने अनुकृति अर्थात अभिनयका प्रारम्भ किया' यह सीधा सा अथ है। प्रस्तावना तो नाटकका अङ्ग ही है। नाटकका प्रारम्भ प्रस्तावनासे ही होता है इस लिए जब नाटकके प्रारम्भ करनेकी बात कही गई है तो उससे प्रस्तावनाका प्रारम्भ तो स्वय ही आगया। उसको अलग-से कहनेकी आवश्यकता ही नही है। ना दीको तो अलगसे कहने की आवश्यकता है कि तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता है। ना दीको अलगसे कहनेकी आवश्यकता दो दृष्टियोसे है। एकतो इसलिए कि ना दी मङ्गलरूप या भगवानके नामके स्मरणके समान है। इसलिए उसका अपना विशष महत्त्व है। दूसरे कुछ लोग ना दीको नाटकका भाग नही मानते हैं कि तु नाटकसे अलग और नाटकके आरम्भमें अवश्य करणीय मानते हैं। कालिदास आदि अ य सब नाटककार तो ना दीको नाटकका भाग मानते हैं इसीलिए उ होने अपने नाटकोके आरम्भमे सबसे पहिले ना दीपाठ वाले श्लोकोको ही लिखा है। उनके बाद ना द्य ते सूत्रधार' लिख कर सूत्रधारका प्रवेश करवाया है। किन्तु 'भास' एकमात्र ऐसे कवि हैं जि होने इस पद्धतिका अवलम्बन नही किया है। उनके नाटकोमें सबसे पहिला वाक्य 'ना द्य ते सूत्रधार यह पाया जाता है। इसका अथ यह है कि वे ना दीको नाटकका अङ्ग नही मानते हैं। कि तु नाटकके आरम्भ करनेके पूव उसका अलगसे पाठ करना चाहिए यह उनका अभिप्राय है। इसी दृष्टिसे वे अपने नाटकोका प्रारम्भ 'ना द्य ते सूत्रधार' इस वाक्यके साथ करते हैं।

इस प्रकार इन दोनो दृष्टियोसे ना दीका प्रयोग किए जानेकी बात अलगसे कहना उचित ही है। इसी लिए भरतमुनिने उसका अलगसे कथन किया है। कि तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता नही है। अत एव भरतमुनिने उसको अलगसे नही कहा है। ना दीके बाद सीधे ही 'तद तेऽनुकृतिबद्धा' लिख कर अभिनय प्रारम्भ करनेकी बात कह दी है। इसलिए प्राचीन दो टीकाकारोने जो इस वाक्यकी व्याख्याए को हू वे सवथा असङ्गत है।

नान्दीके बाद किस रूपकभेदका अभिनय किया गया—

नान्दीके बाद रूपकके किस भेदका अभिनय प्रारम्भ किया गया इस बातका परिचय भी इस कारिकामें पाया जाता है। मुख्यरूपसे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि रूपकके दस भेद माने जाते

भरत०—तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्या सुरैर्जिता ।
सम्फेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥ ५७ ॥

तदन्त इति नान्द्यन्ते, परिसमाप्तौ । अनुकृतिरिति नाटचम् । तत्र च 'बद्धेति गुणनिका योजिता न तु प्रयोग' । इत्येतच्चासत् । पूर्वोत्तरव्याघातात । पूर्व ह्युक्तम्—'एव नाटचमिदम्' इत्यादि—'नान्दी कृता' इत्यन्तम् । वक्ष्यते च-'ब्रह्मादय प्रयोगपरितोषिता' इति । तस्माद् बद्धेति प्रस्ताविता, न तु निष्पादिता । प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यथ ।

हैं । इनमें समवकार और डिम आदि रूपकभेद भी आते हैं । यहा भरतमुनिने 'च्छेद्यभेद्याहवात्मिका' जिस अनुकृति का वर्णन किया है वह डिम, समवकार या ईहामृग आदि भेदोमेंसे कोई हो सकती है । नाटक प्रकरण आदि भेदोमेसे नही हो सकती है । इसलिए डिम, समवकार ईहामृग आदिमेसे ही किसी एकका आरम्भ किया गया यह बात निकलती है । इसके आधारपर कुछ टीकाकारोने यहा यह शङ्का उठाई हे कि डिम आदिमें तो कशिकी वत्तिके प्रयोगका कोई अवसर नही है तब उसके प्रयोगकेलिए अप्सराओकी रचना आदिका जो वर्णन पहिले किया गया है वह सब यथ हो जाता है । इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्तने दो प्रकारसे किया है । एक तो यह कि भरतपुत्रोने रूपकके सभी भेदोका अभ्यास किया है किन्तु सबका प्रयोग तो एक साथ नही हो सकता है । इसलिए पहिले डिम समवकार आदि युद्धप्रधान अभिनय दिखलानेके बाद कशिकी प्रधान अभिनयभी आगे दिखलावेगे । उसकेलिए कशिकीकी सामग्री आदिका वर्णन उपयुक्त हो जाता है । दूसरा समाधान यह किया है कि युद्धादि प्रधान डिम आदिमे भी तो सौन्दर्याधानकी आवश्यकता है । और सौन्दयका सारा क्षत्र कशिकीका अधिकार क्षेत्र है । इसलिए डिम आदिमें भी कशिकीका स्थान रहता है । इन्ही सब बातोका विवेचन ग्रन्थकारने इस कारिकामे निम्न प्रकार किया है—

भरत०—उस [नान्दी] के समाप्त होनेपर, जिस प्रकार देवताओने दत्योपर विजय प्राप्त की उस [सम्फेटो रोषवाक्य] गजन तजन, भाग दौड [विद्रव], और मार काट [च्छेद्य भेद्य] रूप युद्धात्मक अभिनयका प्रारम्भ किया । ५७ ।

अभिनव०—उसके अन्तमे अर्थात् नान्दीके अन्त अर्थात् समाप्तिके बाद । अनुकृति अर्थात् अभिनय [नाटच] । इस [व्याख्या] में [किसी प्राचीन टीकाकारने जो यह व्याख्या की है कि—] 'बद्धा' इसका अभिप्राय अभ्यास आरम्भ किया है यह है न कि अभिनयका आरम्भ किया । [उन टीकाकारोका] यह कहना अगले-पिछले [वणन] के विपरीत होनेके कारण असङ्गत है। पहिले [५१वी कारिका] 'एव नाट्य' से लेकर 'नान्दी कृता' [५६वीं कारिका] यहाँ तक [अभिनयकी भूमिकाका वणन] कहा जा चुका है । [इसके आगे अभ्यास नही, अभिनय ही प्रारम्भ होना चाहिए] । और आगे [५६ वी कारिकामे] 'अभिनयसे सन्तुष्ट हुए ब्रह्मा आदि' [देवताओने अनेक प्रकारके उपहार दिए] यह कहेगे । इसलिए ['अनुकृतिबद्धा' का अथ अभ्यास आरम्भ किया यह नही हो सकता है अपितु] अभिनय आरम्भ किया, पूण नही कर दिया [यह अथ है] । अर्थात् प्रस्तावना सबसे पहिले प्रारम्भ की यह अर्थ है ।

अन्ये तु—अनुकृतिरिति नाट्यानुकाररूपा प्रस्तावनेत्याहु । 'कृता तदन्तेऽनु कृति' इति च पठन्ति । एतदुपजीवनेनेव चिरन्तना कवयो 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति इति पुस्तके लिखन्ति स्म ।

कि प्रस्तावितमित्याह— 'यथा दैत्या' इति । डिम समवकार ईहामृगादीनाम यतम प्रयोग प्रास्तावीत्यथ । यद्यपि भरतपुत्रैर्दशरूपकमभ्यस्त, तथापि न युगपत्सव प्रयोक्तु [1]पायत इत्येवमुक्तम् । तेन यत् केचिदचूचुदन— 'समवकारे क कैशिकीयोजनावसर' इति पूवग्रन्थो असङ्गत इति । तन्निरवकाशमेव । समवकारादावपि च सौ दर्यात्मक वैचित्र्य कैशिकीविजम्भ एवेत्युक्तम् ।

रोषग्रथितवाक्यस्तु[2] 'सम्फेट' । शङ्काभयत्रासकृतो 'विद्रव' । च्छेदमहतीति च्छेद्यम, शस्त्राहव । भेदमहतीति भेद्यम् । [3]मल्लयुद्धात्मक नियुद्धम ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो 'अनुकृति' इस [पद] का अर्थ नाट्य की अनुकरण रूप प्रस्तावना करते है। और [तदन्तेऽनुकृतिबद्धा इस पाठके स्थान पर] 'कृता तदन्तेऽनुकृति' उस [नान्दी] के बाद ['अनुकृति' अर्थात] प्रस्तावना की इस प्रकारका पाठ मानते है। इस [व्याख्या तथा पाठान्तर] के आधारपर ही [भास आदि] प्राचीन नाटककार [कवि] 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' यह [वाक्य अपने नाटकोके आरम्भमे] पुस्तकोमे लिखते थे। [भासके नाटकोमे नान्दी पाठ नही पाया जाता है। उनका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इस वाक्यसे होता हे]।

अभिनव०—क्या प्रारम्भ किया यह कहते है—जसे दत्योको [देवताओने जीता]। अर्थात् 'डिम', 'समवकार' या ईहामृग आदिमेसे किसी एकका [प्रदशन] प्रारम्भ किया। यद्यपि भरत-पुत्रोने रूपकके दशो भेदो [दशरूपक] का अभ्यास किया था परन्तु सबका प्रयोग एक-साथ तो नही किया जा सकता था इसलिए [उनमेसे किसी एकका प्रारम्भ किया] यह कहा गया हे। इसलिए किन्ही [व्याख्याकारो] ने जो यह शङ्का की है कि [भयङ्कर युद्धादिसे परिपूण] 'समवकार' [आदि जसे रूपक भेदो] मे कशिकीके प्रयोगका अवसर ही कहाँ है, अत [कैशिकी वृत्तिके प्रयोगके लिए सामग्री आदिकी प्राप्तिका प्रतिपादन करने वाला] पूव-ग्रन्थ असङ्गत है'। उस [शङ्का] का कोई अवसर नही आता है। और [इसके अतिरिक्त इस शङ्काका दूसरा समाधान यह भी हे कि] 'समवकार' आदिमे भी जो सौन्दर्यात्मक आकषरण [वैचित्र्य] पाया जाता है वह [भी] कैशिकी वृत्तिका ही प्रभाव है।

अभिनव०—जिसमे क्रोध पूर्ण वाक्य रचना हो वह 'सम्फेट' [कहलाता] है। शङ्का, भय या त्रासके कारण होने वाला [पलायनादि रूप व्यापार] 'विद्रव' कहलाता है। जिससेमे छेदन होता है उस प्रकारका शस्त्र-युद्ध 'च्छेद्य' [कहलाता] हे। जिसमे [अङ्गोका] तोड-मोड होता है उस प्रकारका मल्ल युद्ध 'भेद्य' [कहलाता] है।

---

१ शक्यते। २ II रोषार्पितवाक्यस्तु। ३. मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम।

'प्रभुप्ररितोषाय प्रभुचरित कदाचिन्नाट्ये वणनीयमिति 'यथा दैत्या सुरैर्जिता' इत्येतस्माल्लभ्यत इति केचिदाहु ।

नाटकादिमे वतमान चरित्रोका अभिनय उचित नही है—

इस कारिकामें 'यथा दत्या सुरैर्जिता' लिख कर भरतमुनिने यह बतलाया है कि सबसे पहिला जो अभिनय इन्द्र आदि देवताओके सामने प्रस्तुत किया गया था वह देवासुर सग्राम का अभिनय था। उसमे दत्योके ऊपर देवताओकी विजय प्राप्तिका दृश्य दिखलाया गया था। इस आधारपर अभिनवगुप्तसे पूववर्ती कि ही टीकाकारोने यह सिद्धान्त निकाला था कि अपने स्वामीको प्रसन्न करनेकेलिए कभी कभी स्वामीके चरित्रका अभिनय भी दिखलाना चाहिए। इसीलिए देवताओकी विजयका अभिनय यहा दिखलाया गया है। कि तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नही है। इसलिए उ होने इसका यहा खण्डन किया है। इसकेलिए उ होने तीन युक्तियाँ दी ह।

१—उनकी पहिली युक्ति यह है कि वतमान चरित्रोका अभिनय नाटकके लक्षणके विरुद्ध है। नाटक आदिमे कुछकी रचना इतिहास प्रसिद्ध चरित्रोके आधारपर होती है, और कुछ की कवि कल्पित चरित्रोके आधारपर। वतमान चरित्र इन दोनोमेंसे किसी भी श्रेणीमें नही आते हैं। इस लिए वतमान चरित्रोका अभिनय उचित नही है।

२—उनकी दूसरी युक्ति यह है कि नाटक आदिके मुख्य उद्देश्य प्रीति और व्युत्पत्ति दो हैं। वतमान चरित्रोके अभिनयसे ये दोनो बात ही सिद्ध नही होती हैं। क्योकि वतमान चरित्रो के प्रति प्रक्षकोके मनमें राग द्वेष आदि रहनेसे अभिनय देखते समय उनका ठीक त मयीभाव नही हो सकता है। इसके कारण उनको न प्रीति अर्थात आन द प्राप्त होता है और न व्युत्पत्ति अर्थात शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इस लिए वतमान चरित्रोका अभिनय उचित नही है।

३—उनकी तीसरी युक्ति यह है कि वतमान चरित्रके अभिनयमे यदि उनके धर्मादि का फल तुर त दिखलाई दे जाता है तो अभिनय व्यथ है। सामा यत धर्मादि कर्मोका फल तुर त न मिल कर काला तरमे मिलता है। नाटकादिमे उस दूरवर्ती फलका कमके साथ सम्ब ध स्पष्ट समझमें आ जाता है। वसे वह सम्ब ध ठीक समझमें नही आता है। इसीलिए अभिनयका प्रयोग शिक्षाप्रद होता है। वह कम और फलका सम्ब ध यदि वतमान चरित्रमे तुर त ही दिखलाई दे जाय तो उसको दिखलानेकेलिए किए जाने वाले प्रयोगकी कोई आवश्यकता नही रहती है। और यदि उस धम और फलका सम्ब ध तुर त दिखलाई नही देता है आगे इसका फल मिलेगा यह बात बनी रहती है तो भी वह शिक्षाप्रद नही हो सकता है। क्योकि आगेकी बात कौन जानता है कि इस कमका इसको क्या और कब फल मिलेगा। अतीत और कल्पित दोनो प्रकारके चरित्रोमें कम और उसके फलका सम्ब ध प्रत्यक्ष, दिखलाया जा सकता है। इसलिए इतिहास प्रसिद्ध अथवा कवि कल्पित दो ही प्रकार के चरित्रोको नाटकादिका आधार माना गया है। अत वतमान चरित्रोके अभिनय दिखलानका सिद्धा त उचित नही है।

यहाँ जो देवासुर सग्रामका अभिनय दिखलानेकी चर्चा की गई है वह भी वतमान देवादिके चरित्रसे सम्ब ध नही रखती है अपितु कल्प कल्पा तरवर्ती सनातन देवासुर स ग्रामसे सम्बद्ध है। यह अभिनवगुप्तका भाव है। इसीको उ होने अगली पक्तियोमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—अपने स्वामी [राजा आदि] को प्रसन्न करनेकेलिए नाटकमे कभी स्वामीके चरित्रको भी वणन करना [दिखलाना] चाहिए यह बात 'यथा दैत्या सुरैर्जिता' इससे निकलती है। ऐसा किन्हीं [पूववर्ती टीकाकारो] का यह कहना है।

१ तत इति।

तदसत। दशरूपकलक्षण युक्तिविरोधात्। तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरित, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते।

न च वतमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयाना तत्र राग द्वेष मध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्।

वतमानचरिते च धर्मादिकमफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवयर्थ्यम्। [1]अप्रत्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्' इति न्यायेन [2]व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम्। एतच्च दशरूपकाध्याये वितनिष्याम इत्यास्ता तावत।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दशरूपक या नाटकके विभिन्न भेदोकी रचना या तो इतिहासमे प्रसिद्ध आख्यान वस्तुके आधारपर होती है या फिर केवल कविकी कल्पनासे प्रसूत नूतन आख्यान वस्तुके आधारपर होती है। वतमान कालके अपन राजा आदिके चरित्रका अभिनय इनमेंसे किसी श्रेणीमें नही आता है। क्योकि वह वतमान होनेके कारण न तो इतिहास-प्रसिद्ध माना जा सकता हे और न उसको केवल कविकल्पित ही कहा जा सकता है। इसलिए दशरूपकके लक्षणोके अनुसार वतमानकालके राजादिके चरित्रका अभिनय नही किया जा सकता है। अत पूव व्याख्याकारोका वह कथन असङ्गत है।

अभिनव०— [परन्तु उनका] यह [कथन] दशरूपकके लक्षण रूप युक्तिके विपरीत होनेसे असङ्गत है। क्योकि वहाँ [दशरूपकके लक्षणमे] कोई [नाटक] प्रसिद्ध चरित [अर्थात् इतिहासमे प्रसिद्ध किसी आख्यान-वस्तुके आधारपर बने हुए] होते है, और कुछ [कवि द्वारा] कल्पित चरित्र वाले [अर्थात् केवल कवि कल्पित आख्यान-वस्तुके आधार पर बने हुए] होते है। यह बात [आगे] दशरूपकाध्याय [अठारहवे अध्याय] मे कहेगे।

अभिनव०—वतमान [राजादि] के चरित्रका अभिनय इसलिए भी उचित नही है कि उनके विषयमे [जिनकी शिक्षाकेलिए नाटककी रचना हुई उन] सामाजिकोका राग द्वेष माध्यस्थ्य आदि होनेके कारण तन्मयता सम्भव न होनेसे आनन्दके अभावमे [उससे व्युत्पत्ति अर्थात्] शिक्षा प्राप्ति भी नही हो सकती है।

अभिनव०—और वर्तमान चरित्र [के अभिनय] मे धम आदि कर्मोका फल प्रत्यक्ष होनेपर तो अभिनय व्यथ हो जाता है। [क्योकि उस फलको दिखला कर शिक्षा देनेकेलिए ही अभिनयका प्रयोग किया जाता हे। वह फल पहिले ही प्रत्यक्ष हे तो अभिनय व्यथ हो जाता है] और प्रत्यक्ष न होनेपर [भी जो फल प्रत्यक्ष नही है वह] 'आगे होगा इस विषयमें कोई प्रमाण नही हो सकता है' इस युक्तिसे [भी कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा असम्भव होनेके कारण [इस पक्षमे भी पूर्व प्रदर्शित पक्षकी अपेक्षा] कोई विशेषता नहीं होती है। [अर्थात् इस दशामे भी प्रयोग व्यथ ही हो जाता है। इसलिए वतमान चरित्रका अभिनय मानना अनुचित है]।

---

१ म भ प्रत्यक्षत्वे। २ म भ व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिकः। व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिका। व्युत्पत्ते सम्भवान्नायिका।

देवाना [1]त्वद्य-प्रसिद्धवर्णनीयासम्भवात् पूर्वकल्पमन्वन्तरादिगतदेवासुरचरित-कीर्तनम्। अनादित्वात् ससारस्य, श्रुतिस्मत्यनुमतदेवासुरकीर्तनवदिति। तत्र [2]वर्तनो-पवर्णन तज्जातीयानाम्। अथ [3]चरित्रभ्रमविप्रलब्धास्त्वसुराश्चुक्षुभुरिति वक्ष्याम। न च स्वचरितवर्णनाद् देवाना परितोष इह, यत आह—'प्रयोगपरितोषिता' इति ॥५७॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे हमने एक जगह पाठ सशोधन किया है। पूर्व सस्करणोमे 'व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिक' इस प्रकारका पाठ छपा था उसके स्थानपर 'युत्पत्तेरसम्भवा नाधिकम्' यह पाठ हमने किया है। पहिला पाठ माननेपर तो विवक्षित अर्थमे बिल्कुल उलटा अर्थ हो जाता है। इसलिए वह पाठ ठीक नही हे। द्वितीय सस्करणका सशोधन और भी अधिक भद्दा हो गया है।

अभिनव०—देवताओके विषयमे तो आजके प्रसिद्ध [वर्तमान] चरित्रका वर्णन सम्भव न होनेसे पूर्व-कल्प या पूर्वमन्वन्तर गत देवासुर आदिके चरित्रका कीर्तन किया गया है। ससारके अनादि होनेसे, श्रुति स्मृति आदिमे अनुमत देवासुर कीर्तनके समान [पूर्वकल्पके देवादि चरितोका कीर्तन किया जा सकता है]। उस [देवासुर सग्रामके वर्णन] मे [वर्तमान देवताओ के] समाजातीय [पूर्वकल्पके देवासुरादि] के व्यवहारका वर्णन था, किन्तु [वर्तमान चरित्रका वर्णन न होनेपर भी] असुर लोग अपने चरित्रके धोखेमे पड कर नाराज हो गए यह बात आगे [१८वे अध्याय मे] कहेगे। और न यहा देवताओको अपने चरित्रका वर्णन देख कर प्रसन्नता हुई है। क्योकि [कारिकामे] अभिनयसे प्रसन्न हुए [देवताओने विविध उपहार दिए] यह कहा है।

इस अनुच्छेदके लिखनेका अभिप्राय भी वर्तमान चरित्रका अभिनय मानने वालोके मत का खण्डन करना ही है। वे लोग अपने मतके समर्थनमे यह युक्ति देते हैं कि आगे मूल नाट्यशास्त्र में इसी अध्यायके ६१ वे श्लोकमें जो देवासुर सग्रामके अभिनय तथा उसको देखकर दत्योके क्षोभका वर्णन आया है वह तो वर्तमानकालीन देवता और दैत्योके चरित्रका ही अभिनय था। इसीलिए उसमें अपने चरित्रका उपहास या अपनी पराजय आदिको देखकर असुर लोग विक्षुब्ध हो गए थे। इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिके मतमें वर्तमान चरित्रका भी अभिनय किया जा सकता है। पूर्व पक्षकी इसी युक्तिका खण्डन करनकेलिए विवृतिकारने यह अनुच्छेद लिखा है। उसका आशय यह है कि वहा भी वर्तमान देवताओ और असुरोके चरित्रका अभिनय नही किया गया था अपितु पूर्व कल्प या पूर्वमन्वन्तरके देवताओ और असुरोके चरित्रका अभिनय ही किया गया था। असुर लोग अपने समानजातीय पूर्व कल्प या पूर्व मन्वन्तरके असुरोकी पराजय आदिको भ्रमवश अपनी पराजय आदि समझ कर ही क्षुब्ध हो गए थे। इसलिए उस युक्तिके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनय का समर्थन नही किया जा सकता है

पाठसमीक्षा—पूर्व सस्करणमें पृ० १४४ के 'मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम। के बाद 'तत इति। प्रभुपरितोषाय' इत्यादि क्रमसे पाठ मुद्रित हुआ है। परन्तु वह पाठ अशुद्ध है। उसमें 'तत इति' इतना भाग अस्थानमे मुद्रित है। यह भाग अगली 'ततो ब्रह्मादयो देवा' इत्यादि कारिकाका प्रतीक भाग है। उसे इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त होजानेके बाद देना चाहिए। इस समय वर्तमान चरितका अभिनय करना उचित है या नही इसका विचार चल रहा है। इस विषयका सम्बन्ध अगली कारिकासे नही अपितु इसी कारिकासे है। क्योकि देवताओकी विजयकी चर्चा इसी कारिकामे की गई

---

१ भ चाद्य। २ वर्तमानोपवर्णनम। ३ तज्जातीयकत्वादसुराश्चुक्षुभिरे।

भरत०—ततो ब्रह्मादयो देवा प्रयोगपरितोषिता ।
[1]प्रददुमत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै[2] ।। ५८ ।।

तत इति ।।५८।।

भरत०—प्रीतस्तु प्रथम शक्रो दत्तवान् स्व ध्वज[3] शुभम् ।
ब्रह्मा [4]कुटिलक चैव भृङ्गार वरुण शुभम्[5] ।। ५६ ।।

है। उसीके आधारपर वतमान चरित्रके अभिनयके औचित्य अनौचित्यका प्रश्न उठा है। अत उसका सम्ब ध इसी कारिकासे है। यह विषय यहा पृ० १४७ के प्रयोगपरितोषिता इति' तक गया है। उसके बाद इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जाती है। अत 'तत इति' इस अगली कारिकाके प्रतीक भागको उसके बाद देना चाहिए था। प० १४५ पर अ स्थानमे ही उसको दे दिया गया है।

इस अशुद्धिका कारण यह प्रतीत होता है कि पृ० १४७ पर जो 'प्रयोगप्ररितोषिता' पाठ दिया गया है उसको अगलो कारिकाकी व्याख्यासे सम्बद्ध समझ लिया गया है। इसलिए पृ० १४५ पर तत इति' प्रतीक देकर उस कारिकाकी व्याख्याका आरम्भ मान लिया गया है। किन्तु वह उचित नही है। जैसाकि हम अभी कह चुके हैं वतमान चरित्रोके अभिनयके विचारका विषय पूणत इसी कारिकासे सम्बद्ध है। अगली कारिकासे उसका कोई भी सम्ब ध नही है। अत यह सब इसी कारिकाका भाग है। इसकी समाप्तिमें 'यत आह प्रयोगपरितोषिता इति' यह जो पाठ दिया गया है वह भी इसी कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है। अगली कारिकासे उसका सम्ब ध नही है। 'प्रयोगपरितोषिता' यह शब्द अगली कारिकाका अवश्य है किन्तु उसे यहा अभिनवगुप्तने अपनी बातके समथनकेलिए प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। अत वह इस कारिकाकी व्याख्यासे ही सम्बद्ध है। भूलसे उसको अगली कारिकाकी व्याख्याका भाग समझ लिया गया है। इसी कारण 'तत इति' का भी अ स्थानमें मुद्रण हो गया है। इसलिए हमने उसको यहासे हटा कर इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद अगली कारिकाकी व्याख्यामे मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है ।।५७।।

देवताओ द्वारा नटोको उपहार प्रदान—

इस प्रकार भरतमुनिके पुत्रो द्वारा अभिनयके प्रस्तुत किये जानेपर उनके अभिनय कौशलसे प्रसन्न होकर देवताओने उनको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए यह बात अगली कारिकामे कही गई है। इस कारिकाका अथ बहुत स्पष्ट है। अत अभिनवगुप्तने उसके उपर अधिक व्याख्या नही लिखी है। केवल उसका प्रतीक उद्धृत करके वे आगे बढ गए हैं।

भरत०—तब [मेरे पुत्रो द्वारा किए गए अभिनय] प्रयोगसे प्रसन्न हुए ब्रह्मा आदि देवताओने मेरे पुत्रोको [नाट्यके उपयोगी] समस्त उपकरण [उपहार रूपमे] प्रदान किए।५८।

अभिनव०—उसके बाद इससे [उपहार प्रदान करनेका कथन किया है] ।।५८।।

किसने क्या उपहार दिया—

भरत०—सबसे पहिले प्रसन्न हुए इन्द्रने अपना शुभ ध्वज [मेरे पुत्रोको] प्रदान किया। [उसके बाद] ब्रह्माने [अपना] टेढ़ा डण्डा [कुटिलक] और वरुणने [अपना] कमण्डलु [भृङ्गार] प्रदान किया। ५६।

---

१ घ व त प्रददुर्हृष्टमनस। ठ भ व प्रययु। थ प्रददुर्हृष्टा। २ ड ब त भ न।
३. न व स्वध्वज शुभम। त ध्वजमुत्तमम। ४ ड भ कमण्डलुम। ५ ड ब त भ तथा।

'ध्वजमिति', यस्य विघ्नशान्त्यै पूजाथमुपयोगो भावी। 'कुटिलकमिति' वक्रदण्डो विदूषकोपयोगी ब्रह्मायुधात्मा। [1]दण्ड कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादित्यथ। भङ्गार पारिपार्श्विकोपयोगी ॥५९॥

भरत०—[2]सूर्यश्छत्र [3]शिवस्सिद्धि वायुर्व्यजनमेव च।
विष्णु सिंहासन चैव कुवेरो मुकुट तथा ॥ ६० ॥

छत्रमत्र [4]वितानम्। जलदाना सूर्योद्भवत्वात [5]तत्प्रतिमम्। यदाहु – '[6]ऋतौ मेघा प्रवषन्ति महान्त सूयसम्भवा'। भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानम्, सवव्यापकत्व देव्या सिद्धे प्रतिपादयितुम्। व्यजन घर्मापनुत्तये। सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयोगि ॥ ६० ॥

अभिनव०—[इन्द्रने अपना] ध्वज [दिया]। जिसका [आगे वणन किए जाने वाले 'ध्वजमह' उत्सवके अवसरपर] विघ्नोके निवारणाथ पूजामे उपयोग होने वाला है। 'कुटिलक' इस [पद] से विदूषकके काममे आने वाले ब्रह्मायुध [रूप टेढे डण्डेका ग्रहण करना चाहिए। अभिनय करते समय विदूषकके मनमे किसीके प्रति] दण्ड [अथवा] कोपकी इच्छा होनेपर भयको उत्पन्न करने वाला होनेसे भी [टेढ़ा डण्डा दिया गया] यह अभिप्राय है। भृङ्गार [पद] से पारिपार्श्विकके काममे आने वाला [कमण्डलु गृहीत होता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यथ' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमें मुद्रित हुआ था। द्वितीय सस्करणमें उसका सशोधन करके दण्ड। 'अपकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यथ' पाठ छापा गया है। परतु वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं क्योकि उसका न कोई अर्थ लगता है और न कोई सङ्गति बठती है। ग्रथकारका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माने टेढा डण्डा विदूषकके उपयोगके लिए दिया था। विदूषक यदि किसीको दण्ड देना चाहे या किसीपर कोप प्रकट करना चाहे तो इस कुटिलकके द्वारा उसको भयभीत कर सकता है। किन्तु पूव सस्करणोमें मुद्रित पाठसे यह अथ नही निकलता है। इस अथको व्यक्त करनेकेलिए 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादपीत्यथ'। यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥५९॥

भरत०–सूयमे छत्र [अर्थात वितान या चदोबा प्रदान किया] शिवने सिद्धि, वायुने पखा, विष्णुने सिंहासन तथा कुवेरने मुकुट प्रदान किया। ६०।

अभिनव०—छत्र [पदसे यहाँ वितान] चदोबा [अभिप्रेत] है। मेघोके सूयसे उत्पन्न होनेके कारण उनके समान आकार वाले [वितानको सूयने दिया यह कहा गया है]। जैसा कि कहा भी है–'वर्षा ऋतुमे सूयसे उत्पन्न बडे बडे मेघ बरसते हैं'। देवताओ और मानवोकी सिद्धि भगवान् [शिव] के अधीन है इसलिए भगवती सिद्धि

---

१ म भ दण्डोपकामत्वेन भीषात्वापात्यादपीत्यथ। दण्ड। अपकामत्वेन।
२ म सूर्यश्शस्त्रम। ३ त शिवो ज्ञानम। ग च शिवा सिद्धिम। ४ भ म वितान।
५ म तत्प्रतीम। ६ म भ ऋतवे वर्षान्ते महतो मेघसम्भवान्। मेघसम्प्रवान्।

[प्रक्षिप्त—'श्राव्यत्व प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती] ।

के सवव्यापकत्वको दिखलानेकेलिए बीचमे सिद्धिका ग्रहण किया गया है। [वायुका दिया हुआ] पखा गर्मीको दूर करनेके लिए [उपयोगी होनेसे दिया गया] है। और सिंहासन आदि राजाके अभिनयमे उपयोगी हे [इस लिए दिए गए है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमे बहुत अशुद्ध छपा है। उसमे हमने तीन स्थानोपर सशोधन किया है। एक जगह 'वितान के स्थानपर वितानम' किया है। यह कोई विशष अशुद्धि नही है। 'अस्त्री वितानमुल्लोच' आदि अमरकोशके अनुसार वितान' शब्द पुल्लिङ्गमें भी हो सकता है। पर तु जब यहा नपु सकलिङ्ग 'छत्र के पर्याय रूपमें उसको दिया गया है तब उसको नपु सकलिङ्गमे प्रयुक्त करना अधिक उचित प्रतीत होता है। 'वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पु न्नपु सकम्' इस मेदिनीकोशके अनुसार नित्य पुल्लिङ्ग 'वितान' शब्द यज्ञका वाचक होता है। यहा यज्ञ अथमें उसका प्रयोग नही है इसलिए, और विशेष रूपसे नपु सकलिङ्ग छत्रम्' के पर्याय रूपमें प्रयुक्त होनेसे वितानम्' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। दूसरी जगह प्रतीम पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था। उसमें दीघ ईकारकी मात्राके स्थानपर ह्रस्व इकारकी मात्रा होनी चाहिए थी। 'प्रतिम' का अथ सदृश होता है। वितान 'तत्प्रतिम' अर्थात् मेघोंके सदृश है यह उसका अभिप्राय है। नपु सकलिङ्ग 'छत्रम्' के पर्यायवाची नपु सकलिङ्ग वितानम्' के साथ उसका सम्बन्ध होनेसे 'तत्प्रतिमम्' यह पाठ ही उचित है।

पाठसमीक्षा—ये दोनो साधारणसे पाठान्तर है। अगला पाठ सशोधन मुख्य सशोधन है। पूववर्ती दोनो सस्करणोमें 'ऋतवे वर्षोऽ ते महतो मेघसम्भवान्' यह पाठ छपा है। पर तु उससे न कोई अथ बनता है और न कोई सङ्गति ही लगती है। इसलिए वह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। इसके पूव वाक्यमे ग्रन्थकारने यह लिखा था कि वितान मेघोके सदृश होता है। और मेघ सूयसे उत्पन्न होते हैं इसलिए सूयने छत्र या वितान प्रदान किया, यह बात 'कही गई है'। सूयकी गर्मीसे पानी वाष्परूप धारण कर मेघ बन जाता है। इसी लिए मेघोको सूयसे उत्पन्न कहा जाता है। सूयसे मेघोकी उत्पत्तिका समथन करनेकेलिए ही यहा ग्रन्थकारने प्रकृत वचनका उद्धत किया है। परन्तु पूव सस्करणोमें इसका जो पाठ छपा है उससे यह बात किसी प्रकार नही निकलती है। उसमें 'ऋतवे वर्षोऽ ते' आदि किसी पदका न अथ बनता है और न सङ्गति लगती है। इसमे 'ऋतवे' के स्थानपर ऋतौ' 'वर्षोऽते' के स्थानपर 'प्रवर्षन्ति' पाठ होना चाहिए। कत पद मेघका आक्षेप करना होगा। मेघसम्भवान्' के स्थानपर 'सूयसम्भवा' मेघका विशेषण होना चाहिए। उसके अनुरोधसे 'महत' के स्थानपर 'महान्त' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिल कर यह पाठ— 'ऋतौ मेघा प्रवर्षन्ति महान्त सूयसम्भवा' इस प्रकार का बनता है। उसी पाठसे यहा ग्रन्थकार का विवक्षित अथ निकल सकता है अन्यथा नही। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकी सङ्गति लगानेकेलिए इसके सिवाय और कोई माग नही हे ॥६०॥

इसके बाद 'श्राव्यत्व प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' इस प्रकारका आधे श्लोकका पाठ पूव सस्करणोमें और छपा हुआ है। प्रथम सस्करणमे उसको वहा कोष्ठमे दिया गया था जिससे प्रतीत होता है कि वह प्रक्षिप्त पाठ है। परन्तु द्वितीय सस्करणमे कोष्ठको हटाकर उसे मूलमे सम्मिलित कर दिया गया है। यह उचित नही है। उससे श्लोकोका क्रम फिर बिगड जायगा। इसलिए हमने उसको यहा प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमे ही कर दिया है।

प्रक्षिप्त०—[और देवी सरस्वतीने नाट्यको श्राव्यता या श्रव्यता प्रदान की]।

१ म त एतयो पुस्तकयोरिदमधमधिक पठ्यते।

भरत०—शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगा ।
तस्मिन्[1] सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान्[2] ॥ ६२ ॥
अशाशै-र्भाषित[3] भावान् रसान् रूप बल[4] क्रियाम् ।
[5]दत्तवन्त प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकस ॥ ६३ ॥

यक्षादयो ये तत्त्वज्ञा नाटचस्य। 'भाषित' इति तत्तदभूमिकोपयोगिवाचिके शिक्षा। 'भावान' इति विभावादिषु। तथा हि रक्तमासादीनि भय-जुगुप्साविभाव-रूपाणि यक्षरक्षसा हर्षोत्साहविभावता यान्तीति तदुपदेशादेव तज्ज्ञेयम्। 'रसान्' इति स्वोचितस्थायिभावसम्बध्यमानतत्तद्रसोपयोगिनोऽनुभाव व्यभिचारिवगस्य शिक्षा दर्शिता। 'रूप' इति मुखरागस्य। 'बलम्' इत्याङ्गिकस्य। प्रतिभूमिक परितुष्टेना ततोऽत्र शिष्टापि काचिद्देया इति **क्रिया ग्रहणम्**। सामाजिकेभ्यश्च [6]**धन वितान आतोद्याहरणीयमाजिहीषता**[7] तत्परितोषाय यतितव्यमित्येतदनेन दर्शितम ॥ ६१-६२ ॥

भरत०—और उस सभासे शेष जो देवता, ग धव, यक्ष, राक्षस तथा नाग जातियोके लोग [उपस्थित] थे उ होंने नाना प्रकारके और अनेक गुणोसे युक्त अभीष्ट भाषण भाव, रस, रूप, बल तथा क्रिया आदिको थोडा थोडा करके [अशाश] प्रदान किया। [इस प्रकार] प्रसन्न हुए देवताओने मेरे पुत्रों [नटो] को [यह सब] प्रदान किया।६२ ६३।

अभिनव०—यक्ष आदि जो नाट्यके रहस्यको जानने वाले थे [उन्होने आगे कही जाने वाली भाषित, भाव, रस, रूप, वल तथा क्रिया आदि सामग्री दी]। 'भाषित' इससे उस उस विशेष भूमिका [के अभिनय] मे उपयोगी वाचिक [अभिनय] की शिक्षा [प्रदान की यह भाव है]। 'भावान्' इस [पद] से विभावादिके विषय मे [शिक्षा सूचित की है]। क्योकि जो रक्त मास आदि भय तथा जुगुप्सा आदिके विभावरूप है वे ही यक्ष, राक्षस आदिकेलिए हष एव उत्साहके विभाव रूप बन जाते हैं इसलिए उन [यक्ष राक्षसादि] के उपदेशसे ही उनका [ठीक-ठीक] ज्ञान हो सकता है। 'रसान्' इस [पद] से अपने योग्य स्थायिभावोसे सम्बद्ध [उन-उन] रसोके उपयोगी अनुभाव तथा व्यभिचारिवगकी शिक्षा प्रदर्शित की है। 'रूपम' [पद] से मुखराग [मुखके परिवर्तनो] की [शिक्षा प्रदर्शित की है]। 'बलम्' इस [पद] से शारीरिक शक्तिकी [शिक्षा प्रदर्शित की है]। इस प्रकार अलग-अलग भूमिकाओ [भिन्न भिन्न प्रकारके अभिनयो] मे प्रसन्न हुए [देवतादि] को अन्तमे भी कुछ और [अन्तिम पुरस्कार] देना चाहिए इसके लिए अन्तमे 'क्रिया' का ग्रहण किया गया है। [अर्थात् अन्तमे अभिनयको सुन्दर रूपमे प्रस्तुत करनेका 'कौशल' प्रदान किया]। और

---

१ घ च सदस्यतिप्रीता। २ घ व गुणाश्रया। ३ न त य भाषितान्।
४ ड बलि क्रियाम। न भावान रूपमङ्ग क्रिया वलम। प क्रियावलम। य त वल क्रियाम।
५ न व ठ प्रददुमत्सुतेभ्यस्तु चित्र चाभरण वहु। ६ धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्याद्य-जिहीषता। धनविज्ञानमित्याहरणीयमाजिहीषता। ७ आजिहीषता च।

सामाजिकोसे धन, वितान और वाद्य आदि सग्रह करने योग्य वस्तुओका सग्रह करने की इच्छा रखने वाले [नट वग] को उन [सामाजिको] के प्रसन्न करनेका भी यत्न करना चाहिए यह बात भी इस [सब वणन] से प्रदर्शित की है।

पाठसमीक्षा—इन मूल श्लोकोमेंसे दूसरे श्लोकका पाठ दूषित प्रतीत होता है। प्रथम सस्करणमें दूसरे श्लोकके अ तमे 'क्रियाबलम्' इस प्रकारका पाठ छपा था। पर तु जसा कि आगे इस श्लोक की वत्तिसे प्रतीत होगा वत्तिकारने क्रियाबलम्' को एक शब्द न मान कर 'रूप' के बाद केवल 'बल' की व्याख्या की है। इसलिए यहा 'क्रियाबलम्' एक पद नही अपितु 'क्रिया' और बलम्' दोनो अलग अलग पद मानने चाहिए। उनमें भी वृत्तिकारने स्पष्ट रूपसे पहिले 'बल' पदकी व्याख्या की है। इसलिए वत्तिकारके अनुसार इनके क्रममे भी परिवतन अपेक्षित है 'क्रियाबल के स्थानपर 'बल क्रियाम्' यह पाठ वृत्तिकार अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें 'क्रियाबल' पाठका सशोधन करके 'बल तथा' पाठ दिया गया है। पर तु वह वह भी अशुद्ध है। उसमें क्रियाम्' पदको सवथा निकाल दिया गया है। यह अभिनवगुप्तके अभिप्राय विपरीत होनेसे अनुचित है। अत हमने सशोधित रूपमें 'रूप बल क्रियाम्' इस पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूवसस्करणोमे अशुद्ध छपा है। हमने उसमे तीन स्थानोपर सशोधन किया है। प्रथम सस्करणमें विभावता' याति के स्थानपर 'भिभावतां याति' पाठ छप गया था वह अशुद्ध था। द्वितीय सस्करणमे उसे ठीक कर दिया है। दूसरी जगह 'इति क्रियाग्रहणम्' इतना पाठ कदाचित् कीटदष्ट होनेसे पूवसस्करणोमें छूट गया प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें भी इसकी पूर्ति नही की गई है। पर तु उसके बिना रखे शेष पाठ की कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए हमने सम्भावित लुप्त पाठकी पूर्ति करके ही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें तीसरे स्थानपर 'धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्या (वाद्या) जिहीषता च' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा था। पर तु उसकी भी कोई सङ्गति नही लगती है। देवताओ द्वारा दिए गए विविध उपहारोका यह जो वणन भरतमुनिने किया है उससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्त यह कहना चाहते हैं कि नटपतिको सामाजिकोसे नाट्यकी व्यवस्थाकेलिए धन, चादनी और बाजे आदि सामग्री मागनेकी आवश्यकता पडती है। इसलिए उन सामाजिको भी प्रसन्न करनेका यत्न उसे करना चाहिए यह बात इस वणनकेद्वारा दिखलाई गई है। पर तु पूव सस्करणो में जो पाठ छपा है उससे यह बात नही निकल पाती है। उसमें मुख्य रूपसे 'वितान' के स्थानपर छपा 'विज्ञान' पद वाधक हो रहा है। हमने उसको ठीक करके 'धन वितान आतोद्या द्याहरणीयमाजिहीषता च' इस प्रकारका सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है॥ ६२ ६३॥

दत्योका विद्रोह—

भरत मुनिके पुत्रोने देवताओके सामने सबसे प्रथम जिस नाटचका अभिनय प्रारम्भ किया उसके प्रयोगसे जहाँ एक ओर देवताओको प्रसन्नता हुई और उन्होने प्रसन्न होकर भरत पुत्रोको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए। वहा दूसरी ओर दैत्य लोग उसकी प्रस्तावना देख कर ही क्षुब्ध हो उठे। क्योकि उसमें देवताओके सामने दैत्योके पराजयका चित्रण किया गया था। अभिनवगुप्तके मतानुसार वह वतमान कालके देव और दानवोके चरित्रका अभिनय भले ही न हो, पर फिर भी पूवकल्पके सजातीय दैत्योंका पराजय भी उनकेलिए अपमान जनक था। इसलिए वे इस अभिनयकी प्रस्तावनामात्रसे क्षुब्ध हो उठे और उन्होने उसमें विघ्न डालकर

अथ विघ्नोपशमनाय जजरपूजा कार्येति दशयितुमितिहासेनोपक्रमते 'एव प्रयोग इति—

भरत०—एव प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने[1] ।

[2]अभवन् क्षुभिता सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गता[3] ॥ ६४ ॥

दैत्याना विनाशन यत्र प्रयोज्यतया ॥ ६४ ॥

भरत०—विरूपाक्षपुरोगाश्च[4] [5]विघ्नान् प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन ।

[6]न क्षमिष्यामहे नाटचमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

आगम्यतामित्यवधायताम् । यदि वा सम्भूयास्यताम ॥ ६५ ॥

उसको नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लिया। असली देवासुर सग्रामका अभिनय तो दत्योके इस विद्रोहके कारण कुछ समयकेलिए रुक गया किन्तु इस विद्रोहके रूपमे एक नया देवासुर सग्राम प्रारम्भ हो गया । दैत्योके इसी विद्रोह और उसके शमनकी चर्चा भरतमुनि अगले श्लोकोमें निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इसके बाद विघ्नोके शमन करनेके लिए 'जजर' की पूजा करनी चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए 'एव प्रयोगे' इत्यादि [कारिकाओ] से इतिहास प्रारम्भ करते है—

भरत०—इस प्रकार दत्य और दानवोके विनाशका [प्रदशन करने वाले] अभिनय [प्रयोग] प्रारम्भ होनेपर जो दत्य वहा एकत्रित वे सब क्रुद्ध हो गए । ६४ ॥

अभिनव०—दैत्योका विनाश जिसमें प्रयोज्य [अभिनेय] है ।

भरत०—और विरूपाक्ष इत्यादि [अर्थात् जिनके कारण अभिनय करने वाले नटोंकी सूरत शकल बिगड जावे और इन्द्रिया ठीक काम न दे इस प्रकारके] विघ्नोंको उकसाकर वे कहने लगे कि हम [अपनेलिए अपमानजनक इस] नाटचको सहन नही करेंगे इसलिए आओ [इसमे विघ्न उपस्थित करें या इसको नष्ट कर दें] । ६५ ।

अभिनव०—[इस कारिकामे] 'आगम्यता' का अथ ['अवधायताम्'] निश्चय कर लो यह समझना चाहिए। अथवा ['आगम्यता' का अथ विघ्न डालनेकेलिए] मिल कर बठो [या प्रयत्न करो यह करना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाका पाठ कुछ विचित्र सा है। इसमें विरूपाक्ष' पदका प्रयोग किसी विघ्न विशेषके नाम रूपमें किया गया प्रतीत होता है। पर तु विरूपाक्ष' शब्द वस्तुत शिवका नाम है। विरूपाक्षस्य जयिनीस्ता स्तुमो वामलोचना' आदिमे शिवकेलिए ही इस शब्दका प्रयोग हुआ है। अमरकोशमें भी 'वामदेवो महादेवो विरूपाक्षस्त्रिलोचन' आदिके रूपमें शिवके नामोमे ही विरूपाक्ष' शब्दका पाठ किया गया है। उस 'शिव' अथकी यहा कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए हमने यहां 'विरूपाक्ष' शब्दका रूढ अथ न लेकर यौगिक अथ लिया है। जिससे नटोकी सूरत शकल बिगड जावे और अक्ष अर्थात

---

१ न दत्यमानविनाशने। प दत्यादीनां विनाशनम। २ ठ अथासुराश्च क्षुभिता ये तत्रासन् समागता। म अथासुराश्चाभितोष्या। ३ न म दर्पिता।
४ ञ त पुरोगाश्च। ५ म विघ्नानुत्पादयन्ति ते। न य विघ्नानुत्साहयन्ति ते।
६ ड नेत्थमीक्षामहे। न नेत्थमिच्छामहे।

भरत०—ततस्तैरसुरै साधँ विघ्ना मायामुपाश्रिता ।
वाचश्चेष्टा स्मृति चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६६ ॥

[1]मायामदृश्यत्वम् । चेष्टेत्याङ्गिकी । यद्यपि स्मतिस्तम्भनेन सर्वं स्तम्भित भवति तथापि तत्तदभिनेयप्राधान्येन तदेव स्तम्भितमित्युक्तम् ॥ ६६ ॥

भरत०—[2]तथा विध्वसन दृष्ट्वा [3]सूत्रधारस्य देवराट् ।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६७ ॥

सूत्रधारस्येति सपरिवारस्येति, प्रस्तावनाप्रयोगमध्य एवाय विघ्न इति यावत् । ध्यान इति यत्र माया न प्रभवति ॥ ६७ ॥

इद्रिया ठीक काम न दे इस प्रकारके विघ्न विरूपाक्ष' आदि विघ्न हो सकते हैं। 'आगम्यतां' का प्रयोग भी अटपटा सा है। उसका अथ वत्तिकारने 'अवधायताम्' या सम्भूयास्यताम्' किया है। इन दानोमेंसे कोई भी 'आगम्यताम्' का सीधा अथ नही है। 'अवधायताम्' अथकी दृष्टिसे 'आगम्यता' के स्थानपर 'अवगम्यता' पाठ चाहिए। पर छदमें उसके सम वयकेलिए विशेष यत्न करना होगा। और आगम्यता' पदसे 'सम्भूयास्यताम' पद अथ भी सरलतासे नही निकल सकता है। इसलिए यह प्रयोग भी अटपटा सा ही प्रतीत होता है ॥ ६५ ॥

भरत०—तब उन असुरोके साथ मायाका अवलम्बन करके [अर्थात् अदृश्यरूप होकर] विघ्न, अभिनय करने वालोके [नत्यताम] शब्दो व्यापारों और स्मृतिको कार्याक्षम करने लगे ।६६।

अभिनव०—'माया' को अर्थात् अदृश्यत्वको [धारण करके] । 'चेष्टा' को अर्थात् शारीरिक व्यापारको [स्तब्ध अर्थात कार्याक्षम करने लगे] । यद्यपि स्मृतिके कार्याक्षम कर देनेसे ही सब कुछ कायमे असमथ हो जाता है फिर भी उस उसके अभिनयकी प्रधानताके कारण उस-उसके कार्याक्षमत्व का कथन किया है ॥ ६६ ॥

भरत०—सूत्रधार [नाटकके व्यवस्थापक] की इस बुरी दशा [विध्वसन] को देखकर अभिनयमे यह गडबड क्यो हो रही है यह कह कर देवराज [इन्द्र] ध्यानमे मग्न हो गए ।६७।

अभिनव०—सूत्रधारके [विध्वसनको देख कर] इस का अभिप्राय [अकेले सूत्रधारका नही अपितु 'सपरिवारस्य' अर्थात] अपने साथियो सहित [सूत्रधार] के [विध्वसनको देख कर यह है] । इसलिए यह विघ्न प्रस्तावनाके प्रयोगके बीचमे ही हुआ यह अभिप्राय है। [क्योकि सूत्रधारकी स्थिति प्रस्तावनामे ही रहती है। प्रस्तावनाके बाद सूत्रधार नही रहता है] । 'ध्यानमाविशत' ध्यान मग्न होगए इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ मायाका प्रभाव नही हो सकता है। [उस प्रकारकी स्थिति में बैठ कर इन्द्रने अभिनयकी गडबडके कारण खोजनेका यत्न प्रारम्भ किया] ।

इस कारिकामे जो यह कहा है कि 'सूत्रधारके इस प्रकारके विध्वसनको देख कर' इसका अभिप्राय वृत्तिकारने यह निकाला है कि ये विघ्न प्रस्तावनाके बीचमे ही उपस्थित हुए। मुख्य नाटकमें नही। इसका आधार यह है कि सूत्रधार केवल प्रस्तावना कालमें ही सूत्रधारके रूपमें काम करता है। मुख्य पात्रोके प्रवेशके बाद उसका काम समाप्त हो जाता है ॥ ६७ ॥

---

१ मायामिति अदृश्यत्वमित्यर्थ । २ क ख त एवम् । ३ ठ म ततस्तेषां स ।

भरत०—अथापश्यत् सदो विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
[1]सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

'सद' इति यत्र प्रयोगः क्रियते । सीदन्त्यस्मिन्निति ॥६८॥

भरत०—[2]उत्थाय त्वरितं शक्रो गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
[3]सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः[4] ॥६९॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन जीर्णीकृतो देहो येषां ते । तथा जर्जरेणेति यङलुगन्ताण्णिचि पुनः पचाद्यचि रूपम् । एवं राज्ञा सिद्धि-विघातका दण्ड्या इति दर्शितम् ॥६९-७०॥

भरत०—इसके बाद उन्होंने सभाभवनको चारों ओर विघ्नोंसे घिरा हुआ और अन्य साथियोंके साथ सूत्रधारको जडोंके समान चेतनाहीन सा पड़ा हुआ देखा ।६८।

अभिनव०—सभा [सद] अर्थात् जिसमें अभिनय किया जाता है । जिसमें बैठते हैं वह [भवन यहाँ 'सद' पदसे गृहीत होता है] ॥ ६८ ॥

'जर्जर' से विघ्नोंकी दण्डव्यवस्था—

भरत०—तब समस्त रत्नोंसे दीप्यमान देह वाले और तनिक टेढ़ी दृष्टि वाले इन्द्रने उठकर और अपने उत्तम ध्वजको हाथमें लेकर—।६९।

भरत०—रङ्गपीठपर उपस्थित सारे विघ्नों तथा असुरोंको देवराज [इन्द्र] ने जर्जर [नामक अपने उस ध्वजदण्ड] से [मार मार कर उनको] जर्जर देह कर दिया ।७०।

अभिनव०—जो अत्यन्त जीर्ण हो जाय [वह जर्जर देह है । जॄ वयोहानौ धातुसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३-१-१३४ सूत्रसे पचादिगणमें] अच् प्रत्यय करके यङ् लुगन्तमें [जर्जर] यह रूप बनता है । जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है वे [जर्जरीकृतदेह हुए] । [इस श्लोकमें जर्जर शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है । उनमें 'जर्जरीकृतदेहान्' में जो 'जर्जर' शब्द आया है उसकी सिद्धि अभी दिखला चुके हैं । दूसरी जगह ध्वजके लिए जो 'जर्जर' शब्दका प्रयोग किया गया है उसकी निष्पत्ति आगे कहते हैं] और 'जर्जरेण' इसमें यङलुगन्त [जॄ धातु] से णिच् प्रत्यय होनेपर फिर उससे ['नन्दिग्रहि' इत्यादि ३-१-१३४ सूत्रके अनुसार पचाद्यच्से] अच् प्रत्यय करके [जर्जर] यह रूप बनता है । इस प्रकार राजाको [नाट्यकी] सिद्धिमें विघ्न डालने वालोंको दण्ड देना चाहिए यह बात [इस उपाख्यान द्वारा] दिखलाई है ।

---

१ ठ तथेतर । ड सथेतर । त सहेतर सूत्रधार नष्टसंज्ञ जलीकृतम् ।
२ ग त ब अथोत्थाय द्रुत क्रोधाद दिव्य जग्राह त ध्वजम । ठ क्रोधाज्जग्राह त ध्वजम । त दिव्य जग्राह स ध्वजम । ३ ठ म सर्वरत्नोज्ज्वल त तु । ड सर्वरत्नोज्ज्वलतनुम ।
४, ठ म कोपादुद्वृत्तलोचन । त शक्र. प्रोद्वृत्तलोचन ।

[प्रक्षिप्त०—निहतेषु च सर्वेषु विघ्नेषु[1] सह दानवै ।
[2]सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहु सर्वे दिवौकस ॥७१॥
अहो प्रहरण दिव्यमिदमासादित त्वया ।
[3]जजरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवा कृता ॥७२॥
यस्मादनेन ते विघ्ना सासुरा जजरीकृता ।
तस्माज्जजर [4]एवेति [5]नामतोऽय भविष्यति ॥७३॥
शेषा ये चव [6]हिंसार्थमुपयास्यन्ति[7] हिसका ।
[8]दृष्टवैव जजर तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥७४॥
[9]एवमेवास्त्विति तत शक्र प्रोवाच तान सुरान् ।
[10]रक्षाभूतश्च सर्वेषा भविष्यत्येष जजर ॥७५॥]

भरत०—दानवोके साथ समस्त [उपस्थित] विघ्नोका नाश हो जानेपर सारे देवता लोग प्रसन्न होकर [इन्द्रसे] कहने लगे कि ॥७१॥

भरत०—बडी प्रसन्नता की बात है कि आपको यह दिव्य शस्त्र मिल गया जिसके द्वारा इन सब दानवो को [मार मार कर] आपने जजर कर दिया ॥७२॥

भरत०—क्योकि आपने इसीके द्वारा असुरोके सहित उन विघ्नोको [मार मार कर] जजर कर दिया इसलिए आगे यह जजर' नामसे ही प्रसिद्ध होगा ॥७३॥

भरत०—बचे खुचे जो हिसक लोग आगे कभी विघ्न डालनेकेलिए आवेंगे वे भी इस 'जजर' को देख कर इसी प्रकार [भयके मारे] भाग जावेंगे ॥७४॥

भरत०—तब इन्द्र उन देवताओंसे बोले कि 'ऐसा ही' हो [अर्थात यह भविष्यमे भी विघ्नोका नाशक होगा]। और यह जजर सबकी रक्षा करने वाला भी होगा ॥७५॥

प्रक्षिप्त श्लोक—यहा ७१ से ७५ तक पाच श्लोक एक साथ एसे आगए हैं जिनपर अभिनवगुप्तने वृत्ति नही लिखी है। इसलिए ये पचो श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। यो अथकी दृष्टिसे विचार करें तो भी यहा इन श्लोको की ऐसी कोई उपयोगिता नही दिखलाई देती है कि इनके न रहने से अर्थ मे कोई कठिनाई होती हो। इसके विपरीत जो बात इन श्लोको में कही गई है वह स्वय सार हीन सी बात है। उससे प्रकृत प्रकरणका कोई उपकार नही हो रहा है। बल्कि उससे प्रकृत प्रसङ्गके क्रममें कुछ बाधा ही उपस्थित हो रही है। इसलिए इनके पढते ही यह स्पष्ट होजाता है कि ये पाचो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अभिनवगुप्तके सामने ये श्लोक नही थे। इसीलिए उन्होने इन पर कोई वृत्ति नही लिखी है। अत अभिनवभारतीके न होने से हमने इनको प्रक्षिप्त मान कर दूसरे प्रकारके टाइपमे और कोष्ठमें कर दिया है। पूव सस्करणोके साथ सख्याका सामञ्जस्य बनाए रखनेकेलिए इनके आगेसे सख्या नही हटाई है।

१ न गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु। २ न म प्रणम्यन तदा वाक्यमिदमूचु। ल सम्प्रहृस्य। व सम्प्रसह्य।
३ ठ म नाट्यविध्वसिन' सर्वे येनैते जर्जरीकृता। न जजरीकृत देहास्तु दानवा येन ते कृता।
४ ड इत्येष। ५ न ख्याति लोके गमिष्यति।
६ न व ल विघ्नाथम। ७ ग ल व उपस्थास्यन्ति विघ्नका। न विघ्नताम।
८. न दृष्ट्वैव।
९ न एव भविष्यतीत्येव। १० न रक्षाभूत स दैवस्य।

यदि वा मूलत एव तत्परिरक्षायै मण्डप काय । ये च दण्डस्याविषया वातातप-[1]वर्षादय, तत्कृतो हि सिद्धिविघातो मण्डपे सति न भवति । एतेनैवाभिप्रायेण पुराकल्पमाह—'प्रयोगे' इत्यादि—

भरत०—प्रयोगे प्रस्तुते ह्येव स्फीते शक्रमहे पुन[2] ।
[3]त्रास सञ्जनयन्ति स्म विघ्ना [4]शेषास्तु नृत्यताम् ॥७६॥

'शेषा' इति जजरीकृतशरीरशेषा अपीत्यथ । यद्वक्ष्यति—'निश्चिता भगवन् विघ्ना' इति । तथास्मिन् जजरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन् ।त्रासमिति सवथा तु न शक्ता नाशयितुमिति । जजरप्रभावो [5]**गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान् सोऽज्ञ ॥७६॥**

स्थायी नाटयमण्डप—

इस प्रकार प्रथम बार खुले मैदानमे अस्थायी व्यवस्था करके जो अभिनय करनेका यत्न किया गया उसमे अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित हुए। जिनका निवारण करनेकेलिए स्वय देवराज इद्रको प्रयत्न करना पडा। इसलिए बादमे स्थायी और सुरक्षित नाटच मण्डपकी आवश्यकता अनुभव हुई। उसीके निर्माणकी भूमिका अगले श्लोकोमें दिखलाते हैं।

अभिनव०—अथवा प्रारम्भ से ही उन [विघ्नो] से रक्षा करनेकेलिए [स्थायी] मण्डपकी रचना करनी चाहिए। और जो आधी पानी धूप आदि [रूप विघ्न] दण्डके विषय नही हो सकते हैं उनके द्वारा होने वाली बाधाए भी मण्डपके होनेपर उपस्थित नही होती है। [इसलिए प्रारम्भसे ही पक्के नाट्य मण्डपकी रचना कर लेनी चाहिए] इसी अभिप्रायसे 'प्रयोगे' इत्यादि [अगले श्लोक] से [नाट्य मण्डपकी रचना का] इतिहास कहते है—

भरत०—इस प्रकार इन्द्रोत्सवके अवसरपर समारोह पूवक फिर अभिनयका आरम्भ होनेपर शेष विघ्न अभिनय करने वालोको भयभीत करने लगे ।७६।

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'शेषा' इस [पद] से जजरीकृत शरीरमात्र जिनका शेष रह गया है वे [अर्थात् पहिली बार मार खा कर भी जो यथा कथञ्चित् जीवित बच गए थे] वे भी [अभिनय करने वालोको डरानेको आगए]। जसा कि आगे कहेगे—'हे भगवान् [इतनी मार खानेपर भी] विघ्न [अभिनयमे बाधा डालनेकेलिए] कृतसङ्कल्प है।' और ['शेषा' का दूसरा अथ यह भी है कि] उस जजरीकरणके समय ये लोग उपस्थित नही थे। [इसलिए बच गए थे। वे अब आकर] 'भय उत्पन्न करने लगे' इसका अर्थ यह हे कि [अभिनयको] सवथा नष्ट करनेमें समथ नहीं थे। इस प्रकारसे [अर्थात् विघ्नोके पुन बाधा डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेपर तो] 'जजर' का प्रभाव नष्ट हो जायगा ऐसा जिस [टीकाकार] ने कहा है वह [विषयको] समझता नही है।

---

१ वर्षादयश्च। २ न तदा। ब पुरा। म इदमर्धं नास्ति। ३ न भूय सन्त्रासयन्ति स्म।
४ न निश्चितमानसा। ड म मद्वधबुद्धय। ५ म भ गमिष्येवमेवेति य उक्त सोऽज्ञ।
ब 'गमिष्यन्त्येमवव' इति य उक्त सोऽज्ञ। ये वक्तार तेऽज्ञा।

पाठसमीक्षा—यह कारिका यो तो बिल्कुल सीधी सादी सी है कि तु पूव सस्करणोमें उसकी अभिनवभारतीका पाठ जिस रूपमें उपलब्ध होता है उसने इसके अथको कुछ दुरूह सा बना दिया है। इसमे 'शेषा' पद महत्वपूण है। उसकी दो प्रकारकी व्यारया वत्तिकारने की है। पहिली व्याख्याके अनुसार शेषा इति जजरीकृतशरीरशेषा अपीत्यथ' अर्थात जिनके जजरीकृत शरीरमात्र शेष रह गए हैं ऐसे असुर भी दुबारा प्रयोगके आरम्भ होनेपर प्रयोगको नष्ट कर देनेका भय दिखलाने लगे, यह श्लोकका अथ होता है। इसके ऊपर यह शङ्का हो सकती है कि जब एक बार पिट कर भी जजरीकृतशरीरशेषा अपि असुरोने दुबारा विघ्न उपस्थित करनेका साहस किया तब तो फिर जजरका प्रभाव ही समाप्त हो गया समझना चाहिए। इस प्रकारकी शङ्का किसी पूववर्ती टीकाकारने उठाई भी है। कि तु वत्तिकार अभिनवगुप्तने उसको 'अज्ञ' कह कर उसके मतका खण्डन कर दिया है। इस 'अज्ञ कहनेका अभिप्राय यह है कि यहां शेषा पदका दूसरा अथ यह भी लेना चाहिए कि 'तथा चास्मिन जज रीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन्' उस जजरी करणके कालमें अर्थात पिटाईके समय ये उपस्थित नही थे। अर्थात जो लोग उस समय पिटाईके चक्करमै नही आए थे वे ही दुबारा उपद्रव करनेको आए थे। जो भुक्तभोग थे उन्होने दुबारा आने का साहस नही किया। इस अथको माननेसे जजर प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई थी उसका समाधान हो जाता है।

पाठसमीक्षा—कि तु उस दशामें इसी अथको मुरय अथ मानना चाहिए था। और इसीको पहिले देना चाहिए था। 'जजरीकृतशरीरशेषा अपीत्यथ यह अथ करना ही नही चाहिए था। उस अथके करने पर तो जजरका प्रभाव समाप्त हो जानेकी शङ्काका होना स्वाभाविक ही है। पर वृत्तिकारने उसी अथको मुख्य अथ मान कर उसी अथको पहिले प्रस्तुत किया है। और उसमे कुछ बल भी है। बल इसलिए कि आगे ७८वे श्लोकमे भरतमुनि फिर कह रहे हैं कि हे भगवन् ये दत्य तो इस नाटचका नाश करनेपर तुले हुए हैं'। यो एक बारकी मार खा कर मानने वाले नही हं। इसलिए मण्डपकी रक्षाका कोई स्थायी प्रब ध कीजिए। इस प्राथनासे यह व्यक्त होता है कि दत्य मार खाकर बाज नही आए। इस व्यङ्ग्याथकी दृष्टिमे जजरीकृत शरीरशेषा अपीत्यथ' इस अथमें अधिक सु दरता प्रतीत होती है। इसलिए वृत्तिकारने पहिले उसी अथको प्रस्तुत किया है। कि तु उससे जजर प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई है उसका समाधान करनेके लिए ही उन्होने इसका दूसरा अथ प्रस्तुत किया है। इस दूसरे अथको न समझनेके कारण ही पूव टीकाकारको 'अज्ञ' कह कर उसका उपहास किया है। इस ढगसे ये दोनो व्याख्याए भली प्रकारसे सङ्गत हो जाती है। किन्तु अभिनवभारतीकी इस स्थलकी वाक्य रचना इस अथको इतने सु दर रूपमें व्यक्त नही कर पा रही है। उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त इस स्थलपर प्रथम सस्करणमें 'जजरप्रभावो गमिष्य न्त्येवमेव इति य उक्त सोऽज्ञ' इस प्रकारका पाठ छपा था। कि तु वह बडा गडबड पाठ था। उसका कोई अथ नही लगता था। द्वितीय सस्करणमें उसको सशोधित रूपमें दिया गया है। पर वह पाठ और भी अधिक खराब हो गया है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि यहां असुरोंके दुबारा विघ्न डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेसे कुछ लोगोंके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो गई थी कि इस प्रकार तो जजरका प्रभाव ही समाप्त हो जायगा। इस शङ्काके निवारणकेलिए ही वृत्तिकारने 'शेषा' पदका दूसरा अथ यह किया है कि जो 'असुर उस जजरीकरणके समय उपस्थित नही थे और मार खानेसे बच गए थे वे ही दुबारा विघ्न डालनेको आए थे'। इस दशामें जजरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति' यह पाठ वहा अवश्य होना चाहिए। किन्तु द्वितीय सस्करणमें 'जजरप्रभाव'

[प्रक्षिप्त०—दृष्ट्वा तेषा व्यवसित 'दैत्याना विप्रकारजम्[२]।
उपस्थितोऽह ब्रह्माण [३]सुत सर्व समन्वित ॥७७॥

को पूर्ववाक्यके साथ जोड दिया गया है। त्रासमिति सवथा तु न शक्ता नाशयितुमिति जजरप्रभाव इस प्रकारका सशोधित पाठ द्वितीय सस्करणमे दिया गया है। कि तु उस दशामें न तो जजर प्रभावके नाश होनेकी शङ्का बनती है। न उसके समाधानकेलिए शेषा पदका दूसरा अथ दिखलानेकी आवश्यकता रहती है। और न उस प्रकारकी शङ्का उठाने वाले पूव टीकाकारको सोऽज्ञः कह कर मूख बतलानेका ही कोई प्रयोजन रहता है। यह सब बात वृत्तिकारने की हैं। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा जजरप्रभाव' को पूववाक्यमे नही जोडा जा सकता है। उसे उत्तरवाक्यके साथ जोड कर शङ्काको मूतरूप देना ही होगा। अत द्वितीय सस्करणका पाठ सशोधन निश्चित रूपसे ग्रन्थकारके अभिप्रायके विपरीत और सवथा हेय है।

पाठसमीक्षा—इसी स्थलके पाठमें और भी अशुद्धियाँ पूवसस्करणोमें पाई जाती है। प्रथम सस्करणमें जजरप्रभावो गमिष्यन्त्येवमेव इति' इस प्रकारका पाठ छपा था। इसमे 'गमिष्यति' के स्थानपर 'गमिष्यन्ति' और 'एव' के स्थानपर 'एवमेव' छप गया था। ये दोनो अशुद्धियाँ ठीक करके 'गमिष्य त्येवमेव इति' के स्थानपर गमिष्यत्येवमिति यह पाठ होना चाहिए। तभी शङ्काका स्वरूप ठीक बनता है। इसलिए हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है। पाण्डुलिपिके लेखकके मनमे इस पाठको अङ्कित करते समय ७४ कारिकाके मूलमें आया हुआ गमिष्यन्त्येवमेव तु' यह वाक्याश घूम रहा था। उसका यहा सम्बन्ध न होनेपर भी लिपिकारके अवचेतन मनने उसको यहा लिख दनेको प्ररित किया जान पडता है। इसलिए यह भूल हुई है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके अ तमें पूववर्ती दोनो सस्करणोमें य उक्त सोऽज्ञ' इस प्रकारका पाठ पाया जाता है। यह नितान्त अशुद्ध पाठ है। उसका कोई अथ नही बनता है। द्वितीय सस्करणमे 'सोऽज्ञ के स्थानपर 'ते वक्तारोऽज्ञा' यह पाठान्तर भी सुझाया गया है। कि तु उससे भी समस्या हल नही होती है। मूल अशुद्धि 'सोऽज्ञ' की नही है जिसे ते वक्तारोऽज्ञा के द्वारा सुधारनेका यत्न किया गया है। मूल अशुद्धि 'य उक्त' की है। उक्त' पदमें कममें क्त प्रत्यय है। उस दशामे कर्ताके अनभिहित होनेसे उसमे तृतीया विभक्ति हो कर येनोक्तम् प्रयोग होना चाहिए था। या फिर य' को कर्ता रखना है तो कर्तामें क्तवतु प्रत्यय करके य उक्तवान यह प्रयोग होना चाहिए। 'सोऽज्ञ' इस अगले वाक्यकी रचनाका ध्यानमे रखते हुए यहाँ य उक्तवान यही प्रयोग उचित है। इसलिए हमने यही पाठ माना है। इस प्रकार इस अनुच्छेदके छोटेसे पाठके मुद्रणमें पूव सस्करणोमे अनेक अत्य त भद्दी अशुद्धियाँ हो गई थी जिनके कारण वह सवथा अज्ञेय बन गया था। हमने उन सबका सशोधन कर उचित पाठ ही मूलमें प्रस्तुत किए हैं 'जजरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान सोऽज्ञ' यह सशोधन उनमें सबसे अधिक महत्त्व-पूण है। अत हमने यही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। इससे इस स्थलका सारा पाठ सुसङ्गत और सुबोध बन जाता है।

प्रक्षिप्त०—[अभिनयमे जो असुरोंके पराजयका प्रदशन किया था उस] तिरस्कारसे उत्पन्न अपने विषयमे उनके [विघ्न डालनेके] दृढ निश्चयको देखकर अपने सारे पुत्रोके साथ मैं ब्रह्माजी की सेवामे उपस्थित हुआ। [और बोला कि]— ॥७७॥

इस श्लोक पर भी अभिनवगुप्तकी वृत्ति नहीं मिलती है। इसलिए हमने उसे प्रक्षिप्त माना है। ७७।

---

१ म स्वदर्थे। मदर्थे।　　२ ग व विघ्नकारकम्।　　३ व सुर।

भरत०—[1]निश्चिता भगवन् विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
[2]अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर[3] ॥७८॥

भरत०—[4]ततश्च विश्वकर्माणं [5]ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते ॥७९॥
ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं [6]कृत्वा नाट्यगृहं तु सः ॥८०॥

ततो विश्वकर्मेति वास्तुविद्यातत्त्वविदो नाट्यमण्डपे स्थपतित्वं सूचयति ॥८०॥

भरत०—[7]प्रोक्तवान् द्रुहिणं गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाट्यगृहं देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥८१॥
ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च [8]सेतरैः ।
[9]आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥८२॥

द्रुहिण इति ब्रह्मा । इतरे विद्याधरगन्धर्वाद्याः ॥८१-८२॥

भरत०—हे भगवन् ! विघ्नगण इस नाट्यको बिगाड़नेपर तुले हुए हैं । इसलिए हे देवराज भली प्रकारसे इसकी रक्षाकी व्यवस्था करनेकी कृपा करें ॥७८॥

इस श्लोकका उल्लेख अभिनवभारती में ७६वें श्लोककी व्याख्यामें पृ० १५७ पर 'निश्चिता भगवन् विघ्ना' प्रतीकसे किया है । अतः यह प्रक्षिप्त नहीं है ।

भरत०—तब [मेरी प्रार्थनाको सुनकर] ब्रह्माजी विश्वकर्मासे बोले कि हे महामते आप सर्वगुण-सम्पन्न नाट्य-गृहकी रचना करवाइए तब [ब्रह्माकी आज्ञा पाकर] उन्होंने बहुत शीघ्र सर्वगुण सम्पन्न विशाल एवं सुन्दर नाट्य गृहकी रचना करवा कर— ॥७९-८०॥

अभिनव०—'विश्वकर्मा' इस [पद] से नाट्य मण्डप [की रचना] में वास्तु विद्याके विशेषज्ञ शिल्पी [इंजीनियर] होने चाहिए यह बात सूचित की है ॥ ८० ॥

७९-८० 'विश्वकर्मा' पद और ८१-८२ 'द्रुहिण' पद दोनों श्लोकोंमें आया है । अतः इनपर दी गई टिप्पणियोंका सम्बन्ध कथञ्चित् दोनों श्लोकोंसे मान लिया है ।

भरत०—[विश्वकर्माने] ब्रह्माजीके पास जाकर हाथ जोड़ कर [विनय पूर्वक] सभामें कहा कि हे देव सुसज्जित नाट्य भवन तैयार है आप उसको देखनेकी कृपा करें ॥८१॥

भरत०—तब इन्द्रको साथ लेकर और अन्य सब देवताओंके साथ ब्रह्माजी तुरन्त ही नाट्य मण्डपको देखनेके लिए पधारे ॥८२॥

अभिनव०— 'द्रुहिण' [का अर्थ] ब्रह्मा है । और [सेतरैः] 'इतरे' [पद] से विद्याधर गन्धर्व आदि [का ग्रहण होता है] ॥ ८१-८२ ॥

---

१ य ब निःसृता । २ घ ब त अतो । ३ न पितामह ।
४ ठ म तत स । त ब ततस्तु । ५ न त ब आह ब्रह्मा । न ब्रह्मावोचत् ।
६ ग नाट्यवेश्म चकार सः । ७ ठ भ. कृत्वा यथोक्तमेव तु गृहं पद्मोद्भवाज्ञया । इत्यधिकं दृश्यते । न ततोऽब्रवीद्विश्वकर्मा ब्रह्माणं प्रयताञ्जलिः ।
८ ठ सततैः न त सर्व सहेतरैः । ९ स म त, ब. आगच्छत् ।

भरत०—दृष्ट्वा नाट्यगृह ब्रह्मा प्राह सर्वान् सुरास्तत ।
अशभागै-भवद्भिस्तु रक्ष्योऽय नाट्यमण्डप ॥८३॥

अशर्यानि [1]भजनानि अधिष्ठानानि तै मण्डपस्याशेषु । व भवता ये तृतीय-चतुर्थादयो भागास्तै ॥ ८३ ॥

अशविभागमेवाह—

भरत०—रक्षणे [2]मण्डपस्याथ [3]विनियुक्तस्तु चन्द्रमा ।
[4]लोकपालास्तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुता ॥ ८४ ॥

रक्षण इति । अनेन चतत्तुल्या एव मण्डपरक्षका [5]केचिन्नियोज्या इति दश्यते । मण्डपस्य सवस्याधिष्ठाता हि सौम्यप्रकृति [6]सामप्रधानो योज्य इति दशयति 'चन्द्रमा' इति । [7]विदिक्ष्वपि चेति न केवल पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्षु । चकाराद् दिक्ष्वपि । मारुता इति ते हि घमदोषापवारकत्वादत्यन्तोपकारिण । अनेन गवाक्षकरण सूच्यत इत्येके ॥ ८४ ॥

नाट्यमण्डपकी रक्षण व्यवस्था—

भरत०—तब ब्रह्माजीने नाट्यगहको देख कर सारे देवताओंसे कहा कि थोडा थोडा बाट कर आप सब लोग इस नाट्य मण्डपकी रक्षा करें । ८३ ।

अभिनव०—अशोसे [अर्थात थोडा-थोडा करके] जो भजन अर्थात् स्थिति, उससे मण्डपके भिन्न-भिन्न भागोमे [रक्षा करे] । आपके जो तृतीय चतुथ आदि [रक्षणीय] भाग हो उनसे [अर्थात् अपने अपने हिस्सेमे आए भागोकी रक्षा करे] ॥८३॥

अभिनव०—[उस] अशोके विभाजनको ही [आगे] कहते है—

भरत०—तब [सामान्य रूपसे सम्पूण] मण्डपकी रक्षाके लिए चन्द्रमाको नियुक्त किया । और [चारो मुख्य] दिशाओमे लोकपालोको [नियुक्त किया] । तथा [ईशान, आग्नेय, नऋत्य एव वायव्य रूप] उपदिशाओमे वायुओको [रक्षाकेलिए नियुक्त किया] । ८४ ।

अभिनव०—'रक्षणे' इस [पद] से यह बात दिखलाई है कि [भविष्यमे भी राजा आदिको] मण्डपकी रक्षाकेलिए इसी प्रकारके [गुणो वाले] किन्ही लोगोको नियुक्त करना चाहिए । सारे मण्डपका मुख्याधिष्ठाता सौम्य स्वभावका और शान्त प्रकृतिका होना चाहिए यह बात 'चन्द्रमा' इस पदसे सूचित की है । 'उपदिशाओमे भी' इससे न केवल पश्चिम तथा उत्तरके बीचके [वायुके] अपने [अर्थात् वायव्य] कोणमे ही अपितु [ईशान, नऋत्य तथा आग्नेय आदि] अन्य उपदिशाओमे भी [रक्षाके लिए मारुतको नियुक्त किया] । और चकारसे [मुख्य चारो] दिशाओमे भी [उनको नियुक्त किया] । क्योकि वे [मारुत] गर्मीके दोषके निवारक होनेसे अत्यन्त उपयोगी है । कुछ [व्याख्याकारो] का कहना है कि इससे खिडकिया बनानेको सूचित किया है ।

---

१ म भाजनानि । २ प ब मण्डपस्यास्य । ३ ठ प नियुक्तो रजनीकर ।
४ न यथा दिश लोकपाला प ब ल यथादिक्लोकपालाश्च । ५ रक्षा काचित् ।
६ भ सोम प्रधानो । सौमप्रधानो । ७ म भ अपिच विदिक्ष्विति ।

भरत०—नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे ।
[1]वेदिकारक्षणे वन्हि-[2]र्भाण्डे [3]सर्वे दिवौकस ।।८५।।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीमें हमे तीन स्थानोपर पाठ सशोधन की आवश्यकता पडी है। सबसे पहिले मण्डपस्य सवस्याविष्टाता सौम्यप्रकृति सोमप्रधानो योज्य इति दशयति च द्रमा इति इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे छपा था। इसमें सोमप्रधाना' यह पाठ अशुद्ध था। इसके स्थानपर 'सामप्रधानो पाठ होना चाहिए था। द्वितीय सस्करणमे इस 'सामप्रधानो के स्थानपर सोम प्रधानो पाठ दिया गया है। पर तु वह भी अशुद्ध हे। उसकी भी सङ्गति ठीक नही बनती है। अत इन दोनाके बजाय सामप्रधाना पाठ ही अधिक सङ्गत और उपयुक्त पाठ है। अत हमने सशोधित रूपमें उसीको प्रस्तुत किया हे।

पाठसमीक्षा—दूसरे स्थानपर अपि च। विदिक्ष्विति' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करण मे छपा है कि तु वह भी अशुद्ध है। मूलकारिकामें 'विदिक्ष्वपि च मारुता । इस प्रकारका चतुथ चरण आया है। इसकी व्याख्या इस स्थलपर की जा रही है। उसीका प्रतीकभाग यहा उद्धत किया गया है। कि तु क्रम बदल दिया गया है। इस प्रतीकभागको ठीक ढगसे उद्धत करनपर 'विदिक्ष्वपि चेति न केवल पश्चिमोत्तररूपे स्वकाणे यावद यास्वपि विदिक्ष्विति यह पाठ इस स्थल का बनता है। उसीसे अथका सङ्गति ठीक बनती है। अत अपि च। विदिक्ष्विति। के स्थानपर हमने विदिक्ष्वपि चेति' यह पाठ दिया है।

चकाराद् दिक्ष्वपि' इस प्रकारका जो पाठ यहा छपा है। दसका अथ यह होता हे कि कि चकारसे इस बातको सूचित किया गया है कि दिशाओमे भी मारताको नियुक्त किया गया। न्शिाओकी रक्षाके लिए तो इससे पहिलेही चरणमे लोकपालास्तथा दिक्षु' लिख कर लोकपालोकी नियुक्ति की जा चुकी है। अत वहा मारुताकी नियुक्ति अपेक्षित नही है। अत 'चकाराद दिक्ष्वपि' यह पाठ आपतत अशुद्ध प्रतीत हो सकता है। पर तु हमारी सम्मतिमे यह पाठ अशुद्ध नही है। हा उसकी सङ्गति लगानेकेलिए हमे कुछ विशेष प्रयास करना होगा। विदिक्ष्व‌ि च मारुता' इससे यह कहा गया है कि उपदिशाओकी रक्षामे मारुतोको नियत किया गया। इन उपदिशाओमे मारुतोकी अपनी एक विशेष उपदिशा नियत है जिसको वाय यदिशा वाय यकोण कहा जाता है। यहाँ सामा य रूपसे सभी उपदिशाओमें मारुतोकी नियुक्ति की जो बात कही गई है उससे विशेष रूपसे उनकी अपनी दिशामे भी नियुक्ति सूचित होती है। कि तु मूल कारिकाकामें आए हुए 'विदिक्ष्वपि च मारुता' का यहा कुछ विशेष अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए ही 'चकाराद्दि क्ष्वपि' यह वाक्य लिखा गया है। जैसा कि अभी इस कारिकाकी व्याख्या के अ तमे लिखा था, मारुतोका सबसे बडा गुण उनका धमदोष निबारकत्व हे। नाटयभवनमे इतने लागो के एक साथ इकट्ठे होनेपर मण्डपमें गर्मीका होजाना स्वाभाविक है। उसके निवारणकेलिए मण्डपके प्रत्येक भागमे वायुका पहुचना आवश्यक है। इसी लिए दिशाओमें लोकपालोके नियत किए जानेके बाद भी मारुतोकी नियुक्ति की गई यह अ थकारका अभिप्राय है। इसी अभिप्रायमे यहा 'चकाराद् दिक्ष्वपि' लिख देनेकी प्रेरणा की है। अत यह अशुद्ध पाठ नही हे।

भरत०—नेपथ्यभूमिमे [रक्षाके लिए] सूयको [नियुक्त किया तथा] आकाशमे वरुणको रखा। रङ्गवेदीके रक्षणमे अग्निको तथा वाद्योंकी रक्षामे सारे मेघों [दिवौकस मेघ] को [नियुक्त किया] ।८५।

---

१ म वेदिकां पावक पातु। २ य भाण्ड सर्वे दिवौकस। ३ सवदिवौकस।

आदित्ये मित्र शब्द पुल्लिङ्ग इति। तेन 'यद्वार्तिककार आह— 'तदुपलक्षितो नतको[2] हि लज्जापरिहारहेतो नपु सको नेपथ्यगहे नियोक्तव्य' इति, तदपरामष्टाभिधानम्। मित्र इति तेजस्विता आहार्यापयोगिनी[3] रत्नादेरुक्ता। 'वेदिका' रङ्गवेदिका। तत्र तीक्ष्णोऽधिष्ठाता इत्यथ। 'भाण्ड' इति त्रिपुष्करे सोपकरणे। 'दिवौकसो' मेघा। मन्द्रगम्भीरशब्दसिद्धये इति। एव सवत्र[4]सदृशलक्षणा अवान्तरप्रयोजन उत्प्रेक्ष्यम। [5]सवथा तदलाभे नियमादृष्टमेव ।।८५।।

अभिनव०—आदित्यका वाचक 'मित्र' शब्द पुल्लिङ्ग है। इसलिए जो वार्तिककारने यह कहा हे कि—'लज्जाको बचानेकेलिए [अर्थात् नेपथ्य गहमे स्त्रियो आदि को लज्जा न मालूम पडे इसकेलिए] उस ['मित्र' शब्द] से उपलक्षित नपु सक नटको नेपथ्य गृहमे रखना चाहिए' यह [कथन] अविचार-पूण कथन है। [क्योकि यदि यहा सुहृद वाचक 'मित्र' प्रयोग किया गया होता तब तो नपु सककी नियुक्तिकी बात मानी जा सकती थी। किन्तु यहा तो आदित्यवाचक नित्य पुल्लिङ्ग 'मित्र' शब्दका प्रयोग किया गया है। उससे नपु सककी नियुक्तिकी कल्पना ठीक नही हे]। 'मित्र' इस [पद] से [सदृश लक्षणा द्वारा] वेषभूषामे उपयोगिनी रत्नादिकी उज्ज्वलता सूचित की है। 'वेदिका' से रङ्गवेदिका [का ग्रहण होता है]। उसका अधिष्ठाता [वन्हिके समान] तीव्र-प्रकृतिका होना चाहिए। यह [वन्हिकी नियुक्तिका] अभिप्राय हे। 'भाण्ड' से उपकरण सहित त्रिपुष्कर-वाद्य लेना चाहिए। 'दिवौकस' [का अथ] मेघ [हे]। [वाद्योकी] मन्द एव गम्भीर शब्दकी सिद्धिकेलिए [मेघोको नियुक्त किया गया] यह अभिप्राय है। इस प्रकार सब जगह सदृशमे लक्षणा अवान्तर प्रयोजन है। और उस [सदृश] का सवथा अभाव होनेपर तो नियमादृष्ट ही प्रयोजन है।

इस कारिका और उसके पूव तथा पश्चातकी कारिकाओमे भरतमुनिने नाट्य मण्डपके विभिन्न भागाकी रक्षाकेलिए विभिन्न देवताओकी नियुक्तिकी व्यवस्था की है। आद्य अभिनयके समय एक वार तो ब्रह्माजीने नाटयमण्डपके रक्षणकी यह व्यवस्था कर दी है। किन्तु वह सावकालिक व्यवस्था तो नही है। आगे भी राजा आदि को नाटय मण्डप की रक्षाकी व्यवस्था करनी होगी। उस समय इन देवताओकी नियुक्ति सम्भव न हो सकेगी इसलिए इस व्यवस्था का सदृश लक्षण परक माना है। सदृश लक्षणाका अभिप्राय यह हे कि भविष्यमे जब राजा आदि मण्डपकी रक्षा व्यवस्था करें तब जिन देवताओको यहाँ जिन भागोकी रक्षाकेलिए नियुक्त किया गया हे उनके समान सौम्यता या उग्रतादि गुणो वाले व्यक्तियाको ही उस उस स्थानकी रक्षाकेलिए नियुक्त कर। क्योकि उस उस स्थानकी व्यवस्थाकेलिए उसी प्रकृतिके व्यक्तियो का उपयोग हो सकता है। भिन्न प्रकृतिके प्रब धक उन स्थानोकी उचित व्यवस्था नही कर सकगे।

---

१ म भ यद्वार्तिक कारी। ब II यद्वार्तिककारीय। २ म भ नतकी हि। नतकीभि।
३ य आहार्योपयोगी। भ आहार्योपयोगिरादे। ४ म दृष्टमपि सदृशोपलक्षणान्त प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्यम्। ५ म भ सवदा तदनुताभे।

रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन—

इस प्रकार सदृश-लक्षणा द्वारा विशिष्ट गुणो वाले व्यक्तियोका नियुक्ति इस व्यवस्थासे सूचित की है। इस सदृश लक्षणाके अतिरिक्त 'नियमादृष्ट' को भी ग्रन्थकारने रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन बतलाया है। 'सवथा तदलाभे नियमादृष्टमेव' जहा सदृश-लक्षणासम्भव ही न हो वहा नियमादृष्टको ही इस रक्षण व्यवस्थाका प्रयोजन मानना चाहिए। यह ग्रन्थकारका मत है। इस 'नियमादृष्ट पदको तनिक समझनेकी आवश्यकता है। यह पद मीमासा दशनका पारिभाषिक शब्द है। वहाँ १ सामा य विधि, २ नियमविधि और ३ परिसख्याविधि ये विधिके तीन भेद माने गए हैं। इनका लक्षण मीमासा ग्रथोमे निम्न प्रकार किया गया है—

विधिरत्य तमप्राप्तौ नियम पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसख्येति गीयते॥

अर्थात् जो कम सवथा अप्राप्त हो उसका विधान करने वाला विधि, सामा यत विधि नामसे कहा जाता है। जैसे स्वगकाम यजेत' यह सामान्य विधि है। क्योकि किसी भी अ य प्रमाणसे प्राप्त न हो सकनसे अत्य त अप्राप्त यागका इसमे विधान किया गया है। अत यह सामा य विधि है।

जहा एक पक्षमे प्राप्ति हो और एक पक्षमे प्राप्ति न हो वहा अप्राप्त पक्षमें कायका विधान करन वाला विधि नियमविधि' कहा जाता है। जसे व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधिका उदाहरण है। यज्ञमें आहुति देनेके लिए 'पुरोडाश' नामक द्रव्य तैयार किया जाता है। यह 'पुरोडाश' चावलोसे तयार होता है। उसकेलिए पहिले व्रीहीन प्रोक्षति' इस विधिके अनुसार धानोको जलसे सिक्त किया जाता है। फिर उसके बाद व्रीहीनवहन्ति' इस विधिके अनुसार उनको कूट कर चावल निकाला जाता है। इसी प्रसङ्गमें व्रीहीनवहन्ति' यह वाक्य आया है। अवघात अर्थात् कूटनेका प्रयोजन धानोका वितुषीकरण अर्थात् उनके छिलकेका अलग कर दना है। यह वितुषीकरण कूटनेके अतिरिक्त अ य प्रकारसे नख विदलनद्वारा भी हो सकता है। अर्थात् जसे खरबूजके बीजोको नाखूनोसे छीला जाता है इसी प्रकार धानको भी नखविदलनद्वारा तुषरहित किया जा सकता है। इसलिए धानोके वितुषीकरणकेलिए अनेक साधनोका आश्रय लिया जा सकता है। उस दशामें जब नखविदलनद्वारा वितुषीकरण किया जायगा तब अवघातकी प्राप्ति नही रहेगी। इसीका नाम पाक्षिक प्राप्ति है। पाक्षिक प्राप्तिके होनेपर जब अवघातकी प्राप्ति न हो उस समय उसकी प्राप्ति कराने वाला विधि नियमविधि' कहलाता है। यहा व्रीहीनवहन्ति' यह 'नियमविधि' है। अर्थात् यदि कोई अवघातको छोड कर नखविदलनद्वारा व्रीहियो अर्थात् धानोका वितुषीकरण करने लगेगा तो तुरन्त यह 'नियमविधि' उपस्थित होकर उस समय अप्राप्त अवघातका विधान करेगा। अर्थात् अवघातद्वारा ही वितुषीकरण करना चाहिए यह नियम लागू हो जायगा। उसका अभिप्राय यह होगा कि अवघातद्वारा वितुषीकरण करनेसे ही उससे प्राप्त होने वाला अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न होगा। अन्यथा नही। इसका नाम 'नियमादृष्ट' है।

इसी प्रकार प्रस्तुत मण्डप रक्षणके प्रसङ्गमे भी जहाँ सदृश लक्षणा सम्भव न हो वहाँ नियमादृष्टको ही इस व्यवस्थाका प्रयोजन मानना होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामा यत यहाँ जिस प्रकृतिके देवताको मण्डपके जिस भागकी रक्षाके लिए नियुक्त किया गया है। उसी प्रकृतिके मनुष्योको भविष्यमें उन-उन स्थानोकी रक्षाकेलिए नियत करना चाहिए। यह इस नियुक्तिका अभिप्राय है। किन्तु यदि कही सदृश लक्षणा सम्भव न हो सके तो उस स्थानपर

भरत०—वर्णाश्चत्वार [1]एवाथ स्तम्भेषु विनियोजिता ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च [2]स्थिता स्तम्भान्तरेष्वथ ॥८६॥

वर्णा इति तदधिष्ठातारो देवताविशेषा । स्तम्भान्तरेष्विति [3]वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु नैतेषु स्तम्भेष्वित्यथ ॥८६॥

नियमादृष्टको ही प्रयोजन समझना चाहिए । अर्थात उस उस देवता विशेषके नियुक्त करनेसे ही उस उस स्थलका अपेक्षित अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उन उन स्थानोपर उन उन विशेष देवताओकी नियुक्ति की गई है । यह ग्रथकारका अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बडौदावाले पूव सस्करणोमें अशुद्ध छपा है। इसमे ग्र थकारने वार्तिककारके मतका खण्डन किया है। किन्तु वार्तिककारके मतको जिस वाक्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसका पाठ बडौदा वाले सस्करणोमें अशुद्ध छपा है । 'तेन यद्वार्तिककारी तदुपलक्षितो नतकी हि लज्जापरिहारहेतो नपु सको नेपथ्यगृहे इति'। इस पाठमें वार्तिककारी' और 'नतकी' इन दोनो पदोका पाठ अशुद्ध है । यहा पर 'वार्तिककारी' के स्थानपर वार्तिककारीय' और नतकी हि के स्थान पर नतकीभि' ये पाठा तर भी द्वितीय सस्करण प्रस्तुत किए गए हैं। पर तु वे भी ठीक नही बन रहे हं । 'वार्तिककारीय की कुछ सङ्गति लगा भी ली जाय तो भी 'नतकीभि' पाठकी सङ्गति नही लगती है। वस्तुत 'यद्वार्तिककारी के स्थानपर 'यद्वार्तिककार आह' और नतकी हि' के स्थानपर 'नतको हि' पाठ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नेपथ्यगृहे' शब्दके बाद 'नियोक्तव्य' इतना पाठ और होना चाहिए। इतना सशोधन कर देनसे यह पाठ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है । अत हमने सशोधित रूपमे ही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमे साधारण सी दो अशुद्धियां और भी पूव सस्करणोमें पाई जाती हैं । 'मित्र इति हि तेजस्विता आहार्योपयोगी रत्नादेरुक्ता' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा है। यहाँ 'आहार्योपयोगी' के स्थानपर 'आहार्योपयोगिनी' पाठ होना चाहिए। क्योकि यह स्त्रीलिङ्ग 'तेजस्विता' पदका विशेषण है। अथवा यदि 'आहार्योपयोगी पदको तेजस्विता का विशेषण न मान कर रत्नादिके साथ उसका सम्ब ध किया जाय तो आहार्योपयोगिरत्नादे' पाठ होना चाहिए था। इसी प्रकार सदृशलक्षण तरप्रयोजनम्' के स्थानपर 'सदृशलक्षणावा तर प्रयोजनम्' पाठ अधिक उपयुक्त है। अत हमने सशोधित रूप इ ही पाठोको प्रस्तुत किया है ॥८५॥

भरत०—इसके बाद चारों वर्णों [के अधिष्ठातृ देवताओ] को स्तम्भों [की रक्षा] मे नियुक्त किया और अ य स्तम्भोंमे आदित्य तथा रुद्रोको लगाया ॥८६॥

अभिनव०—'वर्णा' इससे उनके अधिष्ठाता देवताओका ग्रहण होता हे । अन्य स्तम्भोमे इसका अभिप्राय चारो वर्णोके स्तम्भोके अतिरिक्त अ य स्तम्भोसे है। इनमे [अर्थात् चारो वर्णोंके] स्तम्भोमे [आदित्यादि] नहीं [नियुक्त किए गए]। यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'वर्णस्तम्भचतुष्कादिरित्येष' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा था। पर तु वह अशुद्ध था। उसके स्थानपर 'वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु' पाठ होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥८६॥

---

१ प ब एवास्य। २ ग ब त न्यस्ता । न गता । ३ ब वर्णस्तम्भचतुष्कादिरित्येषु न। नान्येषु।

भरत०—[1]धारणीष्वथ भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा ।
[2]सववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधि ॥८७॥

[3]धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि । शालास्विति द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति भाव । सववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादावित्यथ ॥ ८७ ॥

भरत०—धन्नियों [अर्थात दो स्तम्भोके ऊपर रखे हुए पत्थरो] पर भूत स्थित हुए और [शालाओ अर्थात् दूसरी मजिलपर बने हुए] ऊपरके अट्टोमे अप्सराए [रक्षाथ] स्थित हुई । [शेष] सारे स्थानोमे यक्षिणिया स्थित हुई तथा भूमिके फशपर समुद्र [रक्षाकेलिए नियुक्त हुआ] ॥८७॥

अभिनव०—'धारणियोपर' अर्थात् दो खम्भोके बीचमे रख गए पत्थरो [सरदलो] पर । 'शालाओमे' [उनके] दूसरी मजिलमे स्थित होनेसे [व्योम विहारिणी अप्सराओको नियुक्त किया गया] । 'सब घरोमे' इसका खिडकियो नेपथ्यगृह इत्यादिमे यह आशय है ।

पाठसमीक्षा—इस ८७वी कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूव सस्करणोमें बडा अस्त व्यस्त सा छपा है । कारिकाके धारणीषु शालासु तथा सवेश्मसु' इन तीनो पदोकी व्याख्या इस अनुच्छेदमें की गई है । 'धारणी' का अथ सरदल होता है । दो खम्भोके ऊपर बीचके भागको पाटने के लिए जो पत्थर आदि डाला जाता है उसको धारणी या सरदल कहा जाता है । यहाँ ग्रन्थकारने उसकी व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' की है । जिसका अथ दो खम्भोके बीचका पत्थर होता है । कि तु इसका जो पाठ पूव सस्करणोमें छपा है वह एक दम अशुद्ध है । शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' यह पाठ पूव सस्करणोमे छपा है कि तु इसका ता कोई अथ समझमे नही आता है । इसमें दो पद आए हं और वे दोनो ही अशुद्ध है । पहिली बात तो यह है कि यह 'शालासु पदकी नही अपितु धारणीषु पदकी व्याख्या दी जा रही है । कारिकामे सबसे पहिले 'धारणीषु पद आया है इसलिए सबसे पहिले 'धारणीषु' पद की ही व्याख्या देना उचित है । और दी भी उसीकी व्याख्या है । कि तु लिपिकारने प्रमादवश 'धारणीष्विति के स्थानपर शालास्विति' लिख दिया है । यह पहिली अशुद्धि है । फिर इस 'धारणीष्विति' की व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' होनी चाहिए थी । किन्तु उसके स्थानपर 'शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' पाठ दिया गया है । इस पाठका कोई भी अथ नही निकलता है । उसको सशोधन करके 'धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' पाठ कर देनेसे सब कुछ हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है । अत हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—मूल कारिकामें धारणियोके बाद शालाओमें अप्सराओकी नियुक्तिकी चर्चा की गई है । शालाओमें अप्सराओकी नियुक्तिका ग्रन्थकारने यह कारण माना है कि शालाए द्वितीय भूमि या दूसरी मजिलपर स्थित होती हैं । उन गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओ या शालाओ की रक्षाकेलिए व्योम विहारिणी अप्सराओकी नियुक्ति ही सबसे अधिक उपयुक्त हो सकती है । इसलिए शालाओकी रक्षाथ अप्सराओको नियत किया गया है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु इस स्थलकी अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ पूव सस्करणोमें मुद्रित हुआ है उससे इस अथका प्राप्त होना बडा कठिन है । उसमें इस अथकी झलक तो दिखलाई देती है किन्तु शब्दोंसे स्पष्ट रूपसे यह वाक्याथ नहीं बनता है । इसका कारण पाठका

---

१ ग धारणीषु स्थिता भूता । २ न त सर्वेषु वेश्मसु । न त महोदधिमहीपृष्ठे यक्षिण्य सवपवसु । ३ व शालास्विति । स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमि सन्निवेशादिति ।

भरत०—द्वारशालानियुक्तौ तु कृतान्त काल एव च ।
स्थापितौ [1]द्वारपात्रेषु [2]नागमुख्यौ महाबलौ ॥८८॥

नागमुख्याविति अनन्तगुलिकौ । [3]द्वारपात्र कवाटात्मकम् । द्वारबहुत्वाच्च बहुवचनम् ॥८८॥

दोष ही है । व्याख्यामे द्वितीयभूमिसन्निवेशात् पद आया है । यही पद शालाओमे अप्सराओकी नियुक्तिका कारण बतला रहा है । शालाओकी रक्षाकेलिए अप्सराओकी नियुक्ति इसलिए की गई क्योकि वे शालाए द्वितीय भूमि दूसरी मजिलपर बनती हं । इस कारणको समझ लेनेपर स्पष्ट हो जाता है कि यह शालासु पदकी व्याख्या रूपमे लिखा गया है । कि तु पूव सस्करणोमें शालासु' प्रतीकभाग यहा नही दिया गया है इसलिए इसका कुछ अथ समझमें नही आता है । उसके स्पष्टीकरण के लिए शालासु' प्रतीकका यहापर होना आवश्यक है । अत हमने शालास्विति द्वितीयभूमिसनिवेशादिति भाव ' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—कारिकाका तृतीय चरण सववेश्मसु यक्षिण्य ' यह दिया गया है । इसकी व्याख्या भी यहा की गई है कि तु उसका पाठ भी गडबड है । पूव सस्करणोमे मुद्रित पाठमेसे ऊपरके दो पदोके व्याख्याभागको निकाल दनेके बाद इस कारिकाकी व्याख्यामे केवल गवाक्षनेपथ्यगृह' इतना पाठ शेष रह जाता है । कि तु इस पाठसे कोई अथ नही निकलता है । और न यह वाक्य पूण होता है । पढने वालेको इतना आभास अवश्य मिल सकता है कि इसमें गवाक्ष नेपथ्यगृह आदिकी रक्षाका सम्बन्ध कदाचित यक्षिणियोकी नियुक्तिसे है । और बात है भी यही । कि तु जितना पाठ हमारे सामने आता है उससे न तो पूण वाक्य बनता है और न यह अथ निकलता है । वाक्य और अथ दोनोको पूरा करनेके लिए इसके पहिले सववेश्ममसु इस प्रतीकभागका होना और इसके अन्तमें विभक्तिका होना आवश्यक है । बिना विभक्तिके तो गवाक्षनपथ्यगृह' इतने पदका कोई अथ नही हो सकता है । इसलिए यहापर वाक्योको पूरा करनेपर सववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादिष्वित्यथ ' इस प्रकारका पाठ बनता है । और उससे अथ स्पष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार इस कारिकाकी केवल एक पक्तिकी व्याख्या है कि तु पाठ दोषके कारण वह अत्य त दुर्ज्ञेय बन गई है ।

'शालास्विति । स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमिसन्निवेशादिति' ।

यह पूव सस्करणोमे मुद्रित पाठ है । जिसका कोई अथ नही बनता है । उसके स्थानपर हमारा सशोधित पाठ ऊपर दिया हुआ है । जिससे सारा विषय हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है । अत हमने सशोधित रूपम उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥८७॥

भरत०—द्वारशाला [ड्योढ़ी] मे यमराज तथा कालको नियुक्त किया तथा द्वारपात्र [अर्थात् किवाडोकी रक्षा] मे महाबली [शेषनाग तथा गुलिक नामक] नागराज नियुक्त किए ॥८८॥

अभिनव०—दो प्रधान नागोसे अभिप्राय 'शेषनाग' तथा 'गुलिक' से है । द्वारपात्र किवाड रूप है । अनेक द्वारोके होनेसे [द्वारपात्रेषु यह] बहुवचन [का प्रयोग किया गया] है ।

'कृता त' और काल' दोनो पर्याय वाचक भी हो सकते हैं । पर यहा उनका प्रयोग भिन्न अर्थोंमें किया गया है । 'काल'का अथ समय है । 'कृता त' का यमराज ॥८८॥

---

१ न त द्वारपात्रे तु ठ व.म द्वारपाश्र्वे तु । द्वारपत्रेषु । २ ठ म नागराजौ । ३ द्वारपत्र ।

भरत०—देहल्या यमदण्डस्तु[1] शूल तस्योपरि स्थितम्[2] ।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ [3]नियतिर्मृत्युरेव च ॥८९॥

देहल्यामिति द्वाराधस्तनकाष्ठे । [4]तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम् । तेनोध्वकाष्ठे [5]उत्तराङ्गशब्दवाच्ये शूलमिति त्रिशूलमित्यथ ॥८९॥

भरत०—पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्र स्थितवान् स्वयम् ।
स्थापिता मत्तवारण्या विद्युद दैत्यनिषूदनी ॥९०॥

पार्श्वे स्वयमिति राजादेस्तत्स्थानमित्युक्तम् । चकारात स्वदिशि अशेनावस्थान-मनुस्मृतम् । विद्युदिति वज्रायुधरूपा ॥९०॥

भरत०—स्तम्भेषु मत्तवारण्या स्थापिता [6]परिपालने ।
[7]भूत-यक्ष-पिशाचाश्च गुह्यकाश्च महाबला ॥९१॥

भरत०—[द्वारकी] देहलीपर यमदण्डको और उस [द्वार] के ऊपर त्रिशूलको स्थापित किया । नियति [अर्थात् भाग्य] एव मृत्यु दोनोको द्वारपाल बनाया ॥८९॥

अभिनव०—देहलीपर इसका अथ दरवाजेकी नीचे की लकडीपर है । 'तस्य' इससे प्रक्रान्त द्वारका ही ग्रहण होता है । इसलिए [द्वारके] उत्तराङ्ग कहलाने वाली ऊपरकी लकडीपर शूल अर्थात त्रिशूल रख गया यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमें दो जगह अशुद्ध छपा था । पहिली जगह 'तस्येति शूलमित्येतेन' इस प्रकारका पाठ था । इसमें 'शूलमिति' इतना पाठ यहा अस्थानमें आ गया है उसे अगली पक्तिमें 'त्रिशूल' के पहिले होना चाहिए था । तस्य' पदसे प्रक्रान्त द्वारका ग्रहण होता है । अत यहा तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम्' पाठ हमने दिया है । और 'शूलमिति' को अगली पक्तिमें त्रिशूल से पहिले रखकर 'शूलमिति त्रिशूलमित्यथ ' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । अत सशोधित पाठ हमने इसी रूपमे दिया है । 'उत्सङ्गशब्दराच्ये' के स्थानपर 'उत्तराङ्गशब्दवाच्ये' पाठ होना चाहिए अत हमने वही पाठ दिया है ॥८९॥

भरत०—और रङ्गपीठकी बगलमे स्वय महेन्द्र बठे तथा मत्तवारणी [वरामदा] मे दत्योंका नाश करने वाली बिजलीको स्थापित किया ।९०।

अभिनव०—[रङ्गपीठके] बगलमे स्वय [इन्द्र बैठे] इस [कथन] से वह [रङ्गपीठका पार्श्व भाग] राजा आदि [के बैठने] का स्थान है यह बात सूचित की है । ['पार्श्वे च रङ्गपीठस्य' इस चरणमें जो चकार आया है उस] चकारसे [महेन्द्र का] अपनी दिशा [पूर्व] मे भी अश रूपसे अवस्थान [उपस्थिति] सूचित किया । विद्युत [इस पदका अथ] वज्रायुधरूप है ॥ ९० ॥

भरत०—मत्तवारणी [बरामदा] के [चारो] खम्बोपर उनकी रक्षाकेलिए भूत, यक्ष पिशाच तथा गुह्यक [इन चारो] महाबलियोंको नियत किया ।९१।

---

१ न यमदण्डश्च । २ ठ म चोपरि सस्थितम । ३ ग य निऋतिमत्युरेव च । ४ व तस्येति । शूलमिति एतेन प्रक्रान्तद्वारमेवपरापष्टम । ५ ब तेनोर्ध्वकाष्ठे उत्सङ्गशब्दराच्ये शूलमित्यर्थं । ६. म व परिरक्षणे । ७ म भूता यक्षा ।

स्तम्भेष्वपि चतुर्षु यथाक्रम [1]भूतादय । ते च नाट्यतत्त्वविदोऽत एव विघ्नै सह [2]न मिलिता इति द्रष्टव्यम। एतेन सिद्धिविघातका भेदाख्येनाप्युपायेन दुर्बलीकर्तव्या इति सूचितम् ॥९१॥

[प्रक्षिप्त०—जर्जरे [3]तु विनिक्षिप्त वज्र दैत्यनिबर्हणम् ।
[4]तत्पर्वसु विनिक्षिप्ता सुरेन्द्रा ह्यमितौजस ॥ ९२ ॥
[5]शिर पर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
तृतीये च स्थितो [6]विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ९३ ॥
पञ्चमे च महानागा शेष-वासुकि-तक्षका ।
एव विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुरा [7] ॥ ९४ ॥]

अभिनव०—[मत्तवारणीके चार स्तम्भ होते है यह बात आगे लिखेंगे उन] चारो ही स्तम्भोपर क्रमानुसार भूत आदि [नियत किए गए। अर्थात एक स्तम्भपर भूत, दूसरेपर यक्ष, तीसरेपर पिशाच तथा चौथेपर गुह्यकोको नियत किया गया]। वे [भूत आदि जो इनकी रक्षापर नियत किए थे] नाट्यके तत्त्वको समझने वाले थे इसलिए विघ्नोके साथ नहीं मिल सकते थे यह समझना चाहिए। इससे यह बात भी सूचित की है कि सिद्धिमे बाधा उपस्थित करने वालोको भेद नामक उपायसे भी दुर्बल कर देना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे दो जगह कुछ पाठ अधिक छप गया था। पहिली 'भूतादय' के स्थानपर तद् भूतादय पाठ पूर्व सस्करणोमें छप गया था। वहा तद' पद अनावश्यक है। इसी प्रकार अगली पक्तिमे विघ्नै सह येनयेन मिलिता' यह पाठ छपा था। इसमे 'येनयेन पद अनावश्यक थे। हमने उनको अनावश्यक मान कर अलग कर दिया है। और येनयेन' के स्थानपर केवल 'न' पाठ, 'मिलिता' के पहिले होना चाहिए। उसको समाविष्ट करके सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। द्वितीय सस्करणमें 'ये (ते) नयेन' पाठ रखा गया है। किन्तु उसकी भी काई सङ्गति नही लगती है। अत हमने 'विघ्नै सह न मिलिता' पाठ रखा है ॥ ९१ ॥

प्रक्षिप्त—जर्जर [पहिले कहे हुए इन्द्र ध्वज] पर [रक्षाकेलिए] दैत्योका नाश करने वाला वज्र नियत किया। और उसकी गाठोंपर अमित पराक्रम वाले देवोको [निम्नाङ्कित प्रकार से] नियत किया। ९२।

प्रक्षिप्त—सबसे ऊपरकी गांठपर ब्रह्माजी स्थित हुए। और दूसरी गाठपर शङ्कर स्थित हुए। तीसरे पर्व [बासकी गाठ] पर विष्णुजी तथा चौथेपर कुमार कार्तिकेय स्थित हुए। ९३।

प्रक्षिप्त—पाचवें पर्व [ध्वज दण्डकी गाठ] पर शेष वासुकि तथा तक्षक [नामके] महानाग स्थित हुए। इस प्रकार विघ्नोके नाश करनेकेलिए जर्जर [के विभिन्न भागो] पर देवताओं को नियत किया गया। ९४।

---

१ ब तदभूतादय। २ ब येनयेन।
३ ठ म चव निक्षिप्तम्। ४ न स°धौ स°धौ। म तत्पर्वसु च निक्षिप्तम्।
५ म शिरो रक्षन् स्थितो ब्रह्मा हर पर्वण्यनन्तरे। ब शिर पार्श्वे।
६ न म तृतीये भगवान् विष्णु। ७ ब अजरेश्वरा।

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वय ब्रह्मा प्रतिष्ठित ।
इष्टचर्थ रङ्गमध्येऽत क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥ ९५ ॥

प्रतिष्ठित इति सदव सन्निहितो वास्तुमध्ये इत्यथ । कवेश्च सन्निधान सूचितम् ॥ ९५ ॥

भरत०—पातालवासिनो ये च यक्ष-गुह्यकपन्नगा ।
अधस्ताद् रङ्गपीठस्य रक्षणे ते नियोजिता ॥ ९६ ॥

अधस्तादिति—येन सुरङ्गाखननादि विघ्नकारण निवायत इत्यथ ॥ ९६ ॥

प्रधानपात्राणि पथग् रक्षणीयानीत्याह—'नायकमित्यादि' ।

भरत०—नायक रक्षतीन्द्रस्त नायिका तु सरस्वती ।
विदूषकमथौङ्कार शेषास्तु प्रकृतीर्हर ॥९७॥

हास्यशृङ्गाराङ्गत्वाद विदूषकमित्युक्तम । अत एव दशरूपकप्रयोगसूचनमेतत । समवकारे हि त्रिदूषकाभावात् । हर इति बहुमूर्तिप्रमथत्वात[3] ॥९७॥

भरत०—और रङ्गपीठके बीचमे [भी] स्वय ब्रह्माजी स्थित हुए। इसीलिए पूजाके लिए रङ्गपीठके मध्यभागमे पुष्प चढाए जाते है। ९५।

अभिनव०—प्रतिष्ठित हुए इससे [यह अर्थ है कि ब्रह्माजी] भवनके मध्यमे सदैव उपस्थित रहते है। [इससे नाट्यभवनमे] कविकी उपस्थिति [होनी चाहिए यह बात भी] सूचित की है ॥९५॥

भरत०—और जो पातालमे रहने वाले यक्ष, गुह्यक तथा नाग लोग है वे नीचेकी ओरसे रङ्गपीठकी रक्षाकेलिए नियत किए गए। ९६।

अभिनव०—'अधस्तात' इसका, जिससे सुरङ्ग खोदने आदि रूप विघ्न कारणो को बचाया जा सके, यह भाव है ॥९६॥

अभिनव०—प्रधान पात्रोकी अलगसे [विशेष रूपसे] रक्षा [की व्यवस्था] होनी चाहिए इसलिए [उनकी जो विशेष व्यवस्था की गई उसको आगे] 'नायकम्' इत्यादि [श्लोक] से कहते है।

भरत०—इद्र नायककी रक्षा करते हैं और सरस्वती नायिकाकी। विदूषककी ओङ्कार तथा शेष लोगोकी शिवजी रक्षा करते है।९७।

अभिनव०—हास्य तथा शृङ्गार [दोनो] मे सहायक होनेके कारण विदूषक [की रक्षा करते है] यह कहा है। इसलिए यह दशरूपकके प्रयोगको सूचित करता है। क्योकि समवकार [आदि] में विदूषक नहीं होता है। [शेष सब लोगोकी रक्षा] शिव जी [करते है] यह [शिवजीकी पृथिव्यादि रूप पूर्वोक्त आठ] अनेक मूर्तिया तथा गण [शिवजी के अनेक सेवक प्रमथगण] होनेसे कहा गया है [बहुत रूप तथा बहुतसे गण होनेके कारण वे अन्य सबकी रक्षा कर सकते हैं यह अभिप्राय है]।

---

१ त इत्याथस्। ज ब इत्यथस। २. कारण। ३. ब तु। ब. बहुमूर्तिप्रथमत्वात्।

भरत०—यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे ।
[1]एतान्येवाधिदैवानि भविष्यन्तीत्युवाच स ॥६८॥

देवता एव दैवतम् ॥६८॥

अथ [2]नाट्यघाततत्त्व-निरूपणाथमुपक्रमते 'एतस्मिन्निति'—

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे देवै सर्वैरुक्त पितामह ।
साम्ना तावदिमे विघ्ना स्थाप्यन्ता वचसा त्वया ॥६६॥

[3]नाशक्तस्य सामाङ्गीकरोति दुजन इति पूर्व रक्षाकरणम् ॥६६॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूवसस्करणोंमें 'बहुमूर्तिप्रथमत्वात' पाठ छपा था । परतु उसमें 'प्रथम पदकी ठीक सङ्गति नही लगती है । वहाँ प्रमथ के स्थानपर प्रथम' छप गया था । इसलिए हमने उसको ठीक करके 'प्रमथ कर दिया है । 'प्रमथ' का अथ शिव जीके गण या सेवक होता है । उनके द्वारा वे शेप सबकी रक्षा करनेमें समथ हो सकते हैं ॥६७॥

भरत०— उन [ब्रह्माजी] ने यह भी कहा कि जिन देवताओंको यहा रक्षामे नियुक्त किया गया है वे ही [उस उस भागके] अधिष्ठात देवता भी होगे । ६८ ।

अभिनव०--देवता ही 'दवत' है [अर्थात् देवता शब्दसे स्वाथमे अण्-प्रत्यय करके 'दैवत' शब्दका प्रयोग यहा किया गया है] ॥ ६८ ॥

अभिनव०—[दत्यगण नाट्यका विनाश करनेपर क्यो उतारू है, इस] नाट्य के विनाशके रहस्यका निरूपण करनेकेलिए 'एतस्मिन्' इत्यादि [श्लोक] से प्रारम्भ करते है ।

भरत०—इसी बीचमे सब देवताओंने [मिल कर] ब्रह्माजीसे प्राथनाकी कि पहिले आप शान्तिसे केवल वचन द्वारा इन विघ्नोंको रोकनेका यत्न करें ।६६।

अभिनव०—[क्योकि] अशक्तके सामको दुजन नही मानता है इस लिए [शान्तिकी चर्चा करनेके] पहिले रक्षाका विधान [कर अपने पक्षको दृढ बना लिया गया] है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अवतरणिकामें 'नाटघतत्त्वघातनिरूपणाथमुपक्रमते' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणमें छपा था । परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता है । उसमें तत्त्व' तथा 'घात' इन दो शब्दोका क्रम बदल गया है । नाटचतत्त्वघात के स्थानपर नाटचघाततत्त्व' होना चाहिए । अर्थात् दत्य लोग नाटचके विनाश पर क्यो उतारू हैं इसके तत्त्व या रहस्यके निरूपणके लिए आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं । यह पाठ अधिक सङ्गत है । द्वितीय सस्करणमें 'अत्र नाटच तत्त्वघाते (विघाते) स तन्निरूपणाथमुपक्रमते' इस प्रकारका सशोधित पाठ दिया गया है । किन्तु उसने तो पाठकी स्थितिको और भी अधिक बिगाड दिया हे । प्रथम सस्करणके पाठका अथ तो लग जाता था, पर इस द्वितीय सस्करण वाले पाठका तो कोई अथ ही नही लगता है । अत हमने रूपमे अपना सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इस श्लोककी व्याख्यामें अशक्तस्य सामाङ्गीकरोति दुजन' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोंमें छपा है । परन्तु उसमें भी अशक्तस्य' के स्थानपर नाशक्तस्य' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योकि अशक्तकी बात कोई नही सुनता है । यह ग्रन्थका

---

१ ग घ एतेषामधिदेवास्तु । २ ब नाटचतत्त्वविघातेस । ३ ब अशक्तस्य ।

सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि—

भरत०—पूर्वं साम प्रयोक्तव्य द्वितीय दानमेव च।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्ड प्रयुज्यते[1] ॥१००॥

[2]तयोरुक्तद्वयोरिति। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

अभिप्राय है। अशक्त तो सदा शान्तिका ही अवलम्बन करता है उसकी बात यदि दुजन मान ले तो वह अ याय ही क्यो करे। अत अशक्तस्य सामाङ्गीकरोति' यह पाठ अशुद्ध है। इसलिए हमने यहा भी उसके स्थानपर नाशक्तस्य' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ॥९९॥

साम दान आदिके प्रयोगका क्रम—

अभिनव०—[पूव इलोकमे आए हुए] 'तावत्' शब्दसे सूचित [साम आदिके प्रयोगके] क्रमको 'पूव साम' इत्यादि [श्लोक] से कहते है—

भरत०—सबसे पहिले सामका प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद [दूसरे नम्बरपर] दानका प्रयोग होना चाहिए। उन दोनोंके बाद भेदका और सबसे अ तमे दण्डका प्रयोग किया जाना चाहिए।१००।

अभिनव०—'तयो ' उन दोनोके बाद अर्थात् पहले कहे हुए [साम तथा दान दोनो] के बाद। 'तत ' 'उसके बाद' अर्थात सब उपायोके व्यथ हो जानेपर [दण्डका प्रयोग करना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ पूव सस्करणोमें बडा अशुद्ध छपा था। उसका कोई अथ समझमें नही आता है। उसका मुख्य दोष उसके वाक्य वि यासके क्रमका अग्त व्यस्त हो जाना है। उसका प्रभाव अगले दो श्लोकोकी व्याख्यापर भी पडता है। क्योकि उस पाठके अनुसार इस श्लोककी "याख्यामें अगले दो श्लोकोकी अवतरणिकाए मिलाकर अस्थानमें अनुचित रूपसे छाप दी गई है। पूव सस्करणोमें छपा हुआ पाठ इस प्रकार है—

'इत्युक्तद्वय (सर्वैरुक्त) इति। कविरवधेयवचनो भवतीति दशयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति [सूचयति] पूव सामेत्यादि। तत इति। सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्। तत्र ज्ञाताभिप्राय प्रतिसमाधातु सुशक इत्यभिप्रायेणाह 'देवानाम्' इति।

यह तीन पक्तियोका पाठ है। कि तु पूव सस्करणोमें वह इतने अधिक अशुद्ध एव अस्त व्यस्त रूपमे मुद्रित किया गया है कि उसका अथ समझना बडा कठिन हो रहा है। इसमें भी 'सर्वैरुक्त इति यह पाठ प्रथम-सस्करणमें नही था। द्वितीय सस्करणमे उसको कोष्ठके भीतर बढाकर छापा गया है। पर उसकी सङ्गति दो कारणोसे नही लगती है। एक तो यह कि इस प्रकारके लेखका अथ यह होता है कि कारिकाके अमुक पदसे अमुक बात सूचित की गई है। यहाँ 'सर्वैरुक्त ' इस पदसे क्या बात सूचित की गई है इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। अत एव केवल 'सर्वैरुक्त ' इस पदकी कोई सङ्गति लगना सम्भव ही नही है। दूसरी बात यह है कि यह 'सर्वैरुक्त ' पद 'एतस्मि न्तरे' इत्यादि ९९ वी कारिकामे आया है। उस कारिकाकी व्याख्या 'इत्युक्तद्वय' इसके पहिले ही समाप्त हो चुकी है। इसलिए भी उसके बाद अ-स्थानमें मुद्रित इस

---

१ ग व ल प्रशस्यते।

२ इत्युक्तद्वय (सर्वैरुक्त) इति कविरनुविधेयवचनो भवतीति दर्शयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्द-सूचित क्रम स्फुटयति पूर्वं सामेत्यादि। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

पदकी कोई सङ्गति नही लग सकती है। यदि उसको यहांसे हटा कर इत्युक्तद्वय के पहिले रख दिया जाय तो उसकी स्थानभ्रष्टता तो दूर हो जायगी क्यो कि वह ९९ वी कारिकाकी व्याख्याके साथ पहुँच जायगा। कि तु फिर भी इस पदसे कवि क्या सूचित करना चाहता है इसका कोइ उल्लेख न होनेसे वहा भी उसकी कोई सङ्गति नही लग सकती है। द्वितीय सस्करणमे जो इस पाठको बढा कर छाप दिया गया है उससे पाठकी स्थितिमें किसी प्रकारका सुधार होनके बजाय बिगाड ही हुआ हे इसलिए हमने उसको अपने पाठमे बिल्कुल स्थान नही दिया है।

पाठसमीक्षा—इसको निकाल देनेके बाद जो पाठ बचता है उसका हम पाच खण्डोमे विभक्त कर नीचे दे रहे हैं। इसमे पाठका क्रम तो ज्यो का त्यो बना हुआ है केवल उसको पाच खण्डो मे विभक्त कर दिया गया हे। इस विभाजनसे उनकी स्थितिको समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसको विभक्त करके इस प्रकार दे रहे हं—

१ इत्युक्तद्वय इति।

२ कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति—

३ सामादिप्रयोगे तावच्छन्दसूचित क्रम स्फुटयति 'पूव साम' इत्यादि।

४ तत इति सर्वापायप्रतिहताविति यावत।

५ तत्र ज्ञाताभिप्राय प्रतिसमाधातु सुशक इत्यभिप्रायेणाह देवानाम् इत्यादि—

इन पाच खण्डोमेसे १ ३, तथा ४ इन तीन खण्डोका सम्ब ध तो इस 'पूव साम प्रयोक्त यम्' इत्यादि १०० वी कारिकाकी व्याख्यासे है। कि तु शेष दूसरे तथा पाचव खण्डोका इस कारिकाकी व्याख्यासे काई सम्ब ध नही है। जिन तीन खण्डोका इस कारिकाकी व्याख्यासे सम्ब ध है उनको भी ठीक क्रमसे यहा नही दिया गया है। क्रमभेदसे छापा गया है। इनमेसे सबसे पहिला स्थान तृतीय खण्डका है। इसके पूव ९९ वी कारिकामें देवताओन ब्रह्मासे प्राथना की थी कि 'साम्ना तावदिमे विघ्ना स्थाप्य ता वचसा त्वया'। इसमें 'तावत्' शब्दसे सामादिके प्रयोगके क्रमकी ओर सकेत किया गया था। उसी क्रमको इस १०० वी कारिकामें 'पूव साम प्रयोक्त यम्' आदि पदोके द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसी बातको अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए—

सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति 'पूव साम' इत्यादि—

इस रूपमे लिखा है। इस बातपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह खण्ड १००वी कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमे लिखा गया है। इसलिए इस व्याख्या भागमें उसका स्थान सबसे पहिले होना चाहिए। पर तु पूव सस्करणोमे उसको बीचमें तीसरे स्थानपर छापा गया है। वहाँ उसका उचित स्थान नही है। अत हमने उसको यहा से हटा कर कारिकाके ऊपर अवतरणिका-रूपमे मुद्रित किया हे। वही उसका उचित स्थान है।

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिकाके बाद कारिकाकी व्याख्या प्रारम्भ होती है। इस व्याख्यामे भी ग्र थकारने केवल तयो और 'तत ' इन दो पदोकी ही व्याख्या की है। शेष भागके स्पष्ट होनेसे उसकी व्याख्या नही की है। यह व्याख्या प्रथम तथा चतुथ खण्डोको मिला कर पूण होती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें तयो ' पदकी तथा चतुथ खण्डमे तत पदकी व्याख्या की गई हे। 'तयोरुपरि भेदस्तु' इसमें 'तयो ' पद आया है। उसका अथ यह है कि पहिले कह हुए साम तथा दानके असफल हो जानके बाद भेदनीतिका अवलम्बन करना चाहिए। इसी बातको ग्र थकारने 'तयारिति उक्तद्वयो ' पदासे सूचित किया है। कि तु इसका जो पाठ पूव सस्करणोमें छपा हे उसमें इसके सिर और पर दोना नदारद हैं। केवल बीचका भाग 'इत्युक्तद्वय इतना ही पाठ उन सस्करणोमें मुद्रित

किया गया है। इसलिए वहा इसका कोई अथ समझमे नही आता है। इसके आरम्भमे तयो ' पद जिसकी कि यह व्याख्या है अवश्य होना चाहिए। और 'इत्युक्तद्वय' के अ तमें 'द्वय पदके साथ किसी विभक्तिका प्रयोग नही किया गया है। बिना विभक्तिके शब्दका प्रयाग तो सवथा अनुचित है। वहापर द्वयो ' के स्थानपर द्वय' छाप दिया गया है। इस प्रकार सिर और पर दानोको काट कर इस पाठकी दुगति बना डाली गई थी। बिना सिर परके इसका पहिचान कौन सकता है। इसीलिए उसका अथ समझमे नही आता ह। इन भागोको जोड देने पर अथ स्पष्ट हो जाता है। हमने अङ्गोको जोड कर इस पाठको पूरा कर दिया है।

पाठसमीक्षा—इसके बाद कारिकाके तत पदकी व्याख्या का अवसर आता है। क्योकि वृत्तिकारने कारिकाके तयो ' पदके बाद तत पदकी ही व्याख्या की है। कि तु पूव सस्करणोके पाठमें इसके बीचमे अ य अनावश्यक पाठोको छाप कर उसको बहुत दूर व्यवधानसे छापा गया है। हमन उसको वहासे हटा कर इसके बाद ही ठीक स्थानपर छापा है। इस प्रकार सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति पूव साम इत्यादि —इस प्रतीक भागके बाद 'तयोरित्युक्तद्वयो । तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत् इतनी इस कारिकाकी व्याख्या है। हमने इसी क्रमस इसको मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—इस व्याख्याके अतिरिक्त पूव सस्करणाके मुद्रित पाठमें अभी दूसरा तथा पाचवा ये दो खण्ड और शेष रह जाते हैं। इन दोना खण्डोका इस कारिकाकी व्याख्यासे कोइ सम्ब ध नही हे। वे वस्तुत अगली दो कारिकाओके अवतरणिका भाग हैं। पूव सस्करणोमें उनको अ स्थानमे ही यहा छाप दिया गया हे।

पाठसमीक्षा—इन दोनोमेंसे अन्तिम अर्थात पाचवा खण्ड अगली १०१वी कारिकाकी अवतरणिका रूपमें लिखा गया है यह बात उस वाक्यकी रचनाको पढते ही विदित हो जाती है। असुरोने ब्रह्माके ऊपर बडा आक्षप किया है। जिससे उनका ब्रह्माके प्रति अस तोष व्यक्त होता है। पर तु ब्रह्मा इस अस तोषका कारण विस्तार पूवक सुनना चाहते हैं ताकि उसको सुन कर उसका निराकरण किया जा सके। इसी दृष्टिसे ब्रह्माने अगली कारिकामे असुरास यह प्रश्न किया है कि 'कस्माद भव तो नाटचस्य विनाशाय समुत्थिता ' भरतमुनि तथा ब्रह्माके मनके इसी अभिप्रायको लेकर अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए लिखा है कि—

ज्ञाताभिप्राय समाधातु सुशक इत्यभिप्रायेणाह देवानामिति —

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह खण्ड १०१वी कारिकाका अवतरणिका भाग है। उसका १००वी कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्ब ध नही हे। अत हमने उस अगली कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमे ही मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—अब इस पाठका दूसरा खण्ड कविरवधेयवचनो भवतीति दशयति'— और शेष रह जाता है। उसका भी इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नही है। जसा कि उस वाक्यकी रचनासे स्पष्ट प्रतीत होता है यह भी किसी कारिकाका अवतरणिका भाग है। १०१वी कारिकामें ब्रह्माने असुरोसे प्रश्न किया था कि आप लोग नाट्यके विनाशपर क्यो उतारू हो रहे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर अगली कारिकामे दिया जा रहा है। दैत्याने ब्रह्माकी प्राथनापर ध्यान दकर तुरन्त उसका उत्तर दिया है। इसका ग्रन्थकार यह आशय निकाल रहे हैं ब्रह्माके समान ही कविकी बातपर भी विशेष रूपसे ध्यान दना चाहिए। इसी आशयसे ग्रन्थकारने यह अवतरणिका लिखी है। जिस कारिकाकी यह अवतरणिका लिखी जा रही है उसका प्रतीकभाग इसके अ तमें अवश्य होना चाहिए था। कि तु पूव सस्करणामें जो पाठ मुद्रित हुआ है उसमें यह प्रतीकभाग

तत्र ज्ञाताभिप्राय प्रतिसमाधातु सुशक इत्याभिप्रायणाह देवानामिति—

भरत०—देवाना वचन श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच ह ।
[1]कस्माद् भवन्तो नाट्यस्य विनाशाय समुत्थिता ॥ १०१ ॥

कविरवधेयवचनो भवतीति दशयति ब्रह्मणो वचनमिति—

भरत०—ब्रह्मणो वचन श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वच[3] ।
दैत्यैर्विघ्नगणै सार्ध सामपूर्वमिद तत ॥ १०२ ॥
योऽय भगवता [5]सृष्टो नाट्यवेद सुरेच्छया[6] ।
प्रत्यादेशोऽयमस्माक [7]सुरार्थ भवता कृत ॥ १०३ ॥

सुराथमित्यस्यैव दाढर्यायोक्त 'सुरेच्छया' इति । प्रत्यादेश इति खलीकार इत्यथ । भवतेति यस्यानुचितमेतदित्यथ ॥ १०३ ॥

नहीं दिया गया है। इसलिए उसका अथ समझमे नही आता है। एक तो प्रतीकभागके न होने के कारण ही इसके अथको समझना कठिन था फिर उसको अ स्थानमें और छाप दिया गया था 'अयमपरो गण्डस्योपरिस्फोट' इसीलिए यह नीम चढी गिलोय बन गया था। यह भाग वास्तवमें १०२ कारिका अवतरणिकाभाग है। इसलिए उसके प्रतीकभागको उसके अन्तमे जोड कर उसका पाठ १०२ कारिकाके पूर्व निम्न प्रकार दिया जाना चाहिए—

कविरवधेयवचनो भवतीति दशयति ब्रह्मणो वचनम् इति—

अत हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है ॥१००॥

अभिनव०—[वक्ताका] अभिप्राय जान लेने पर उसका समाधान सरलतासे हो सकता हे इस अभिप्रायसे 'देवानाम्' इत्यादि [अगले श्लोक] कहते है—

भरत०—देवताओकी बात सुनकर ब्रह्माजी [साम पूर्वक] विघ्नोसे बोले कि आप लोग किस कारणसे इस नाटचके विनाशकेलिए उद्यत हो गए है ॥ १०१ ॥

अभिनव०—कविकी बात ध्यान देने योग्य होती है यह बात 'ब्रह्मणो वचनम्' इत्यादि से [सादृश लक्षणा द्वारा सूचित करते हुए] कहते है—

भरत०—ब्रह्माजीकी बातको सुनकर [विघ्नराज] विरूपाक्ष दैत्यो तथा विघ्नगणोके साथ शान्ति पूर्वक यह कहने लगे कि ॥ १०२ ॥

भरत०—आपने देवताओकी इच्छासे [उनको प्रसन्न करनेकेलिए] जो यह नाट्यवेद बनाया है वह हमारे लिए तिरस्कार-जनक है और आपने केवल] देवताओ [को प्रसन्न करने] के लिए [ही] उसकी रचना की है ॥ १०३ ॥

अभिनव०—'देवताओकेलिए' [नाट्यवेद बनाया है] इसी बातकोपुष्ट करनेके लिए [कारिकामे] 'सुरेच्छा' यह [पद] कहा है। प्रत्यादेश इस [पद] का अथ तिरस्कार करना है। 'आपने' [ब्रह्माजीने केवल देवताओको प्रसन्न करनेकेलिए हम दैत्योके अपमान-जनक नाट्यवेदको बनाया] इसका भाव यह कि जिन [ब्रह्माजी] के लिए ऐसा करना अनुचित था ॥ १०३ ॥

---

१. ग ब कथम। २ घ त ब विनाशाथमुपस्थिता। ३ म दिदम। ४ म वच। ५ ठ म सम्यक। ६ ठ म प्रवर्तित। ठ म प्रकीर्तित। ७ ज म देवार्थे।

भरत०—तन्नतदेव कतव्य त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्त सर्वे विनिगता ॥ १०४ ॥

अनोचित्यमेव लोकपितामह इत्यामन्त्रणेनाह । तदेव पितामहत्व दशयति यथेति । [1]आस्ता वा देवा दत्याश्चेति आह 'सर्व इति ॥१०४॥

भरत०—विघ्नाना वचन श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अल वो मन्युना दैत्या [2]विषाद त्यजतानघा ॥ १०५ ॥

वचनमिति सुपरिहरमेतत् । नात्र भूयान् प्रयास इत्येकवचनेन दशयति । अत एव सिद्धवदुपक्रमते 'अ त्र व' इति । मिथ्याज्ञानगहीतसपत्रासवद्यो भ्रान्तिमात्रकृत इत्यथ ।

[4]दत्यानामशुभकारिता लोकप्रसिद्धा स्यात् देवाना च तद्विपयय इति नाटचस्य न तात्पय, येन भवता मन्यु ॥ १०५ ॥

भरत०—हे लोकपितामह आपको इस प्रकार [किसी एकके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार] नही करना चहिए था। [जससे हमारा अपमान हो] क्याकि जसे देवता वसे ही दत्य, सभी लोग आपसे [ही] उत्पन्न हुए ह । १०४ ।

अभिनव०—[पिछले श्लोकमे निर्दिष्ट] अनौचित्यको ही 'लोकपितामह' इस सम्बोधनसे कहा है। उसी पितामहत्वको 'यथा' इत्यादिसे दिखलाया हे । अथवा देव और दैत्योकी बात छोडो, [देव और दत्य ही क्या सब ही आपसे उत्पन्न हुए है] यह बात 'सर्वे' इत्यादिसे कही है ॥ १०४ ॥

ब्रह्माजी द्वारा आरोपका निराकरण—

भरत०—विघ्नोकी बातको सुनकर ब्रह्माजी बोले कि हे दत्यो आप लोग नाराज न हो और हे भले लोगो [अनघा, इस अभिनयको देख कर आपको जो दु ख या खेद हुआ हे उस] विषादको छोड दें [भूल जावें] ॥ १०५ ॥

अभिनव०—'वचन' इस [पद] से [यह सूचित किया हे कि आपने हमारे ऊपर जो दोषारोपण किया हे] इसका सरलतासे समाधान किया जा सकता हे। इसमे अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नही हे यह बात एकवचन [के प्रयोग] से दिखलाई है। इसीलिए [उस परिहारको] सिद्ध सा मानकर [ब्रह्मा जी आगे] कहते हे कि 'आपलोग' नाराज न हो' इत्यादि । [अर्थात् आप जो देवताओंकेप्रति प्रक्षपातका आक्षेप कर रहे है वह] मिथ्याज्ञानसे गृहीत [रस्सीमे] सर्पसे उत्पन्न भयके समान केवल भ्रान्तिके कारण है [वस्तुत ठीक नही है] यह इसका अभिप्राय हे ।

अभिनव०—दत्योकी दुष्टता [अशुभकारिता] और देवताओकी सज्जनता ['तद्विपयय']-लोकमे प्रसिद्ध की जाय यह नाट्यका तात्पर्य नही है। जिसको समझकर आप नाराज हो रहे है ॥ १०५ ॥

---

१ ब [आत्मनो] भ या। म भ आस्ताम् । २ ड ब त विरूपाक्षवच । ३ ध त ब विवादस्त्यज्यतामयम । ४ दत्या अशुभकारिण, सन्तु पराजिता भवन्त । देवता पुनरभ्यथेति न नाट्यस्य तात्पयम । १ ब कुस रज्जु विभाग बैर्भ चोण्डित ओषितमस्त इत्यधिक पाठ ।

किन्तर्हीत्याह—

भरत०—भवता देवताना च[1] शुभाशुभविकल्पक[2]।
कमभावान्वयापेक्षी[3] नाट्यवेदो मया कृत ॥ १०६ ॥

शुभकारिण शुभ फलमशुभकारिणोऽशुभ फलमित्येतावदेवास्माक प्रतिसाक्षात्कारकल्पे नाट्ये प्रदशनीयम्। न तत्र देवेषु दैत्येषु वा कश्चिद भर[4]। अत एव भवतामपि धर्मादौ य सदुपाय सोऽपि [5]शुभविपाकत्वेनव दर्शित । [6]अत एव शुभग्रहणमेकतरपक्षपातशथिल्यदशनाय दैत्यसम्बन्धाथ प्रथममुपात्तम्।

इस श्लोकमें ब्रह्मा जीने दत्योसे कहा है कि आप लोग नाराज न हो और आपके मन मे इस नाटकके देखनसे जो दु ख हो रहा है उसको अपने मनसे निकाल दे। क्योकि आप जिस भ्रममे पड कर नाराज और दु खी हो रहे हैं वह ठीक नही है। आप समझते हैं कि हमने केवल देवताओको प्रसन्न करने और आपको नीचा दिखलानेकेलिए नाटचकी रचना की है। यह आपका भ्रम है। इसी बातको हेतु पूवक अगले श्लोकमे कहते हैं।

अभिनव०—फिर क्या बात है यह कहते हैं।

भरत०—आपके और देवताओंके [अर्थात दोनोंके] शुभ तथा अशुभको कम, भाव, एव देश वश आदिके अनुसार प्रकाशित करने वाले [अर्थात प्रकाशित करनेकेलिए] मेने इस नाटयवेद की रचना की है ॥ १०६ ॥

पाठसमीक्षा—मूल श्लोक मे 'भवता देवताना तु' इस प्रकार का पाठ प्रथम सस्करणमे छपा था। उसमें भी तु के स्थानपर 'च' पाठ अधिक उपयोगी है अत हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है। द्वितीय सस्करणमें भी 'तु' के स्थानपर 'च पाठ ही दिया गया है।

अगले अनुच्छेदमें नाटचको प्रति साक्षात्कारकल्प' कहा गया है। उसका आशय यह है कि नाटच लोकका प्रतिबिम्ब रूप है। जैसे बिम्बभूत मुखादिका दपणमें प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार लोकमें साक्षात किए जाने वाले अथका नाटचमें 'प्रतिसाक्षात्कार' होता है। इसीलिए नाटचको 'प्रतिसाक्षात्कारकल्प' कहा है।

अभिनव०—प्रति साक्षात्कारकल्प नाट्यमे हमको केवल यही दिखलाना है कि शुभ कम करने वालेको शुभ फल मिलता है और अशुभ कम करने वालेको अशुभ फल मिलता है। उसमे देवताओ या दैत्योपर कोई विशेष बल नही है। इसलिए आप लोगो [अर्थात् दैत्यो] का भी धर्मादि-विषयक जो कोई उत्तम कम है उसका भी उत्तम परिणाम ही [नाट्यमे] दिखलाया गया है। [और देवताओके भी अशुभ कम का अशुभ परिणाम दिखलाया जाता है]। इसलिए किसी एक पक्षमे पक्षपातका अभाव सूचित करनेके लिए और [विशेषरूपसे] दैत्योके साथ सम्बन्ध दिखालनेकेलिए 'शुभ' [पद] का पहिले ग्रहण किया गया है। [अर्थात् दैत्योके भी शुभ कर्मोंका शुभ फल ही नाट्यमे दिखलाया गया है]।

---

१ ड तु। २ ड विकल्पनम। व विकल्पके। ३ ठ म यापेक्षो।
४ म भ त हर। ५ शुभ विकसितत्वेन दर्शित। ६ अत्र।

शुभमशुभ च धर्माधमरूप सुखदु खफलत्वेन विभेदेन कल्पयति अध्यवसाययति नाट्यवेद । कीदृक्—कमभावान्वयापेक्षीति । तद्यथा कम धर्मो दान स्नानमित्यादि, अधर्मो हिसा स्तेयमित्यादि । भाव आशय । स्त्रीप्रसङ्गोदिता स्वाथतापराथताद्यभिसन्धिरित्यादि । अन्वयोऽभिजन आर्यावर्तादि-ब्राह्मण्यादिश्चेति । तानपेक्षते सहकारितया ।

एतदुक्त भवति—अस्मिन् देशेऽस्मिन् काले ईदृशेन कमणा य शुभमशुभ चाजयति स एवविधफलभागी भवतीति न तावदिहोपदिश्यते । 'विकल्पक' इति द्वौ णिचौ ॥ १०५ ॥

अभिनव०—[आगे 'शुभाशुभविकल्पक' पदका अथ करते हैं कि] शुभ तथा अशुभ [कम] धर्माधम रूप है, उनको नाट्यवेद सुखफलक तथा दु ख-फलक रूपमे अलग-अलग निश्चय कराता है । किस प्रकारका [नाट्यवेद निश्चय कराता है यह कहते है] कर्म, भाव तथा अन्वय [अर्थात् देश या वश] की सहायतासे युक्त । कम अर्थात् धम रूप दान स्नान आदि, और अधर्म रूप हिसा चोरी आदि । भाव अर्थात आशय । अर्थात् स्त्री प्रसङ्गमे कही हुई स्वाथपरता या पराथता आदि रूप अभिप्राय । अन्वय अर्थात् अभिजन [उत्पन्न होनेका स्थान] आर्यावर्तादि [देश रूप] अथवा ब्राह्मण आदि [जाति रूप । दोनो 'अभिजन' शब्दसे गृहीत होते हे] । इन [कम भाव तथा अन्वय तीनो] की सहकारी रूपमे अपेक्षा रखता है । [अर्थात् इन तीनोकी सहायतासे ही शुभ कर्मोका शुभ फल तथा अशुभ कर्मोका अशुभ फल नाट्यमे प्रदर्शित किया जाता है] ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि—'अमुक देशमे और अमुक कालमे इस प्रकार के [शुभ या अशुभ] कमसे जो धम या अधर्मका उपाजन करता है वह इस प्रकारका फल पाता है' इस बातका यहा [धमशास्त्रके समान] उपदेश नही दिया जाता है । [अपितु कर्मादिके अनुसार लोकमे प्राप्त होनेवाले उन के फलोका प्रति-साक्षात्कार कराया जाता है] । 'विकल्पक' इस [पद] मे दो बार णिच्-प्रत्यय हुआ है ।

इसका अभिप्राय यह है कि 'शुभाशुभविकल्पक' में जो 'विकल्पक' पद आया है वह 'क्लृपू सामर्थ्ये' धातुसे दो बार णिच प्रत्यय करके बना है । णिच प्रत्यय प्रेरणा अथमे या हेतुमत् अर्थमें होता है । कम स्वय सुख दु ख फलको देता है । पुरुष उनके फलको जाननेमें कारण होता है । अत कर्मोको 'सुख दुखफलत्वेन कल्पयति' । यह एक णिच प्रत्ययका भाव हुआ । और नाटक उस मनुष्यको कर्मोका फलके साथ सम्बन्ध स्थिर करानेमे सहायक या हेतु होता है । इस प्रकार नाट्यमे दोहरी हेतुमत्ता आती है । इसलिए यहां 'द्वौ णिचौ' कहा गया है । कल्प धातुसे पहिला णिच होकर कल्पि धातु बना । उससे दुबारा णिच होनेपर सामान्यत वृद्धि होकर 'कल्पाययति' प्रयोग बनना चाहिए था । परन्तु 'ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण वृद्धि दीर्घेभ्य पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वार्तिकके द्वारा दूसरे णि का लोप हो जानसे दो बार णिच होनेपर भी 'विशेषेण कल्पयति' यही रूप बनता है ॥ १०६ ॥

ननु चत्रमप्यस्मत्पृष्ठे[1] [2]किमेतद्योजितमित्याह—'नैकान्तत' इति—

भरत०—नैकान्ततोऽत्र भवता देवाना [3]चानुभावनम् ।

त्रैलोक्यस्यास्य सवस्य नाट्य भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

अय भाव —न युष्मत्पृष्ठे केनचिदेतद्योजितम् । देवासुरस्य बहि-यथासुस्थमवस्थानम् । अत्रति नाट्यवेदे । न देवासुराणा एकान्तेनानुभावनम् । नैव तेऽनुभाव्यन्ते केनचित्प्रकारेण ।

तथाहि–तेषु न तत्त्वेन धी , न सादृश्येन [4]**अयममुकवत्**, न भ्रान्तत्वेन रूप्यस्मतिपूवकशुक्तिरूप्यवत्, नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधान्तरमिथ्याज्ञानवत्,[5] न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्, नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्, न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्, न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्यारयाहेवाक्वत्, न तात्कालिकनिर्माणेन इन्द्रजालवत्, न युक्तिविरचिततदाभासतया हस्तलाघवादिमायावत् ।

अभिनव०—[इस पर दैत्यलोग कहते है कि आपकी यह बात हम मान भी लें कि आपने हमारे अपमानकेलिए नाट्यकी रचना नही की है] फिर भी हमारे [चरित्र के] ऊपर आपने इसकी रचना क्यो की है ? इसको कहते है 'नकान्त ' इत्यादि—

भरत०— इसमे केवल आपका और देवोका ही [चरित्र] प्रदशन नहीं कराया गया है अपितु नाटचमे [वस्तुत] इस समस्त विश्व के भावोका प्रदशन कराया गया है । १०७ ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—आपकी पीठपर किसीने इसकी आयोजना नही की है। क्योकि नाट्यके बाहर देव और असुर यथापूव अपने स्वरूप मे रहते है। यहा अर्थात् इस नाट्यवेदमे। केवल देवो और असुरोका ही प्रदर्शन [अनुभावन] नही कराया जाता है। क्योकि किसी प्रकारसे भी उनका प्रदशन नही किया जा सकता है।

अभिनव०—क्योकि [नाटकमे] उनका १ अपने निज स्वरूपसे [तत्त्वेन] ज्ञान नही होता है। २ और न यह [नट] अमुक [रामादि] के समान है इस प्रकार साहश्यात्मक ज्ञान ३ न [शुक्तिके चाकचिक्यादिको देखनेसे] रजतके स्मरण पूवक शुक्तिमे रजत बुद्धिके समान भ्रान्त रूपसे ४ न सत्यज्ञानसे बाधित होनेके बाद मिथ्याज्ञान रूप आरोपसे, ५ न 'गौर्वाहीक' [वाहीक देशका निवासी बैलके समान मूख है] के समान अध्यवसायसे, ६ न मुखमे चन्द्रकी उत्प्रेक्षाके समान उत्प्रेक्ष्यमाण रूपसे, ७ न चित्र या खिलौना आदिके समान उस [रामादि] की प्रतिकृति रूपसे, ८ न गुरु-शिष्य-व्याख्यानके स्वभावके समान उसके अनुकरण रूपसे, ९ न इन्द्रजालके समान तात्कालिक निर्माणसे, और न १० होशियारीसे नकल बना लेनेसे हाथकी सफाई की मायाके समान [नटोमे रामादिकी बुद्धि होती है] ।

---

१ म मप्यस्मिन् विसृष्टे। २ किमित्येत्। ३ घ चापि। उ व चात्र। त वानुभावनम्। ४ व यमलकवत्। ५ रूपम्।

इस अनुच्छेदका आशय यह है कि नाटकमें अनुकाय रामादि अथवा देव दानवादिका जो अभिनय किया जाता है उसमें अभिनय करने वाले नट होते हैं। राम आदि या देव दानव आदि अभिनय करने नही आते हैं। उन अभिनय करने वाले नटोमे ही रामादि अथवा देव दानव आदि अनुकार्योंकी प्रतीति होती है। पर तु यह प्रतीति १ न सत्य है २ न मिथ्या है ३ न सादृश्य मूलक है, ४ न आरोप मूलक ५ न आध्यास मूलक, आदि किसी रूपमे है। उन सबसे विलक्षण प्रकारकी यह प्रतीति होती है। इसलिए देव दानव या रामादि किसी भी अनुकायका किसी भी लौकिक रूपमें अनुभव नाटचमें नही किया जाता है। अपितु जो कुछ वहा प्रतीत होता है वह सब अलौकिक है। और देखने वाले प्रत्येक व्यक्तिको उसमे तादात्म्यका अनुभव होता है। इसलिए नाटचमे किसी देव असुर आदि विशेषका 'अनुभावन या प्रदशन, किसी रूपमे भी सम्भव नही है।

आरोप और अध्यवसायका भेद—

यहा ग्र थकारने नाट्यमें प्रतीत होनेवाले रामादिकी प्रतीतिको १० प्रकारकी लौकिक प्रतीतिसे विलक्षण बतलाया है। इनमेसे 'आरोप' तथा अध्यवसायात्मक' दो ज्ञानोका भेद समझना आवश्यक है। आरोपित प्रतीतिको गौण प्रतीति भी कहते हैं। जहा दो वस्तुओके भेदको जानते हुए भी एक वस्तुमें उससे भिन्न दूसरी वस्तुका व्यवहार या प्रतीति होती है उसको गौण या आरोपित व्यवहार या आरोपित प्रतीति कहा जाता है। जैसे सिंह और माणवक अर्थात बालकके भेदका ज्ञान होते हुए भी बालकके शौय क्रौय आदि गुणोको देखकर सिहो माणवक यह व्यवहार होता है। इस व्यवहारको आरोपित या गौण व्यवहार कहा जाता है। यदि वस्तुओके इस प्रकारके भेदज्ञानके बिना अ यकेलिए अ य शब्दका प्रयोग आदि किया जाता है तो वह मिथ्या यवहार कहलाता है। इसी बातको यहा ग्र थकारने सम्यग्ज्ञानबाधान तरमिथ्याज्ञान रूप' कहा है। सिंह तथा माणवकके भेदग्रह रूप सम्यगज्ञानसे बाधित होनके बाद भी माणवकमे सिंह बुद्धि रूप व्यवहार होता है। इसको आरोपित व्यवहार कहते हैं। श्री शङ्कराचायने अपने वेदा तभाष्यमें 'तत्तु समन्वयात' १ १ ४ सूत्रके भाष्यमे इसी बातको इस प्रकार लिखा है—

१ प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धे यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेद यथा केसरादि मानाकृतिविशेषोऽ वयव्यतिरेकाभ्या सिंहशब्दप्रत्ययभाङ मुख्योऽ य प्रसिद्ध, ततश्चा य पुरुष प्रायिकैं क्रौयशौर्यादिभि सिंहगुण सम्पन्न सिद्ध, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तु भेदस्य।

इसीसे सम्बद्ध दूसरा 'अध्यवसाय' शब्द है। 'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणाऽ ध्यवसाय' यह अध्यवसाय' का लक्षण किया जाता है। जहा विषय अर्थात उपमेयको हटाकर विषयी उपमानरूपसे ही उसका निर्देश किया जाय उसको 'अध्यवसाय' कहते हैं। जैसे किसी अत्य त मूख या सीधे व्यक्तिको लोग गौ' कहते हैं। यहा विषय या उपमेय रूप पुरुषको हटा कर गौके साथ उसके तादात्म्य या अभेदका व्यवहार होता है। या पूर्वोक्त उदाहरणमें ही उपमेय माणवकको निगीर्ण करके उसकेलिए केवल सिंह' शब्दका प्रयोग किया जाय तो वह भी अध्यवसाय' का उदाहरण बन सकता है। नाटचमे जो रामादिकी प्रतीति होती है वह इन सबसे विलक्षण अलौकिक प्रतीति है। नाटचमें साधारणीकरण व्यापार द्वारा लौकिक रामत्व सीतात्वादिका परिहार होकर अलौकिक रामादिका भान होता है। इसलिए देव दानव आदिका लौकिक रूपमें अनुभावन नहीं हो सकता है। यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्। मुख्यदृष्टौ [1]प्रयोक्तदृष्टौ वा लौकिकमिथुनदृशीव सासारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः [2]। उभयदर्शनाकुलतया [3]रससम्पत्त्यभावाच्च।

इसी बातके समर्थन करनेकेलिए अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार चार युक्तिया उपस्थित करते है। उनमेंसे पहिली युक्तिका आशय यह है कि ऊपरके अनुच्छेदमें जो लौकिक प्रतीतिके दस प्रकार दिखलाए ह वे सब प्रत्यक्षसे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उन सबमें व्यक्तिके विशेष या असाधारण रूपका ही ग्रहण होता है। क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण सदा विशेषावधारणप्रधान ही होता है। योगदर्शनके व्यास भाष्यमे भी प्रत्यक्ष प्रमाणको विशेषावधारण प्रधान वृत्ति बतलाया है—

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।

योगदर्शनके व्यासभाष्यमें यह प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष रूपसे अर्थात् इन्द्रिय एवं अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान विशेषावधारणप्रधान ही होता है। ग्रन्थकारका कहना है कि असाधारण या विशेष अर्थके अवलोकनसे द्रष्टाको रसानुभूति नही हो सकती है। इसके विपरीत वह रसानुभूतिमे बाधक ही होता है। जैसे कि ही यत्तियोको लौकिक रूपसे प्रणय व्यापारमे प्रवृत्त देखकर लौकिक हर्ष या क्रोधादि ही होते हैं। अलौकिक काव्यानन्द की प्राप्ति नही होती है। रसानुभूति या काव्यानन्दकी प्राप्तिके लिए विभावादिका साधारणीकरण आवश्यक है वह साधारणीकरण एक अलौकिक व्यापार है। उसके होनेके बाद सीता राम आदि विभावोका लौकिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। अत नाटयसे देवो या असुरोके लौकिक स्वरूपका अनुभावन सम्भव नही है। इसी बातको ग्रन्थकार यो कहते हैं कि—

अभिनव०—इन सभी पक्षोमें [अर्थात् ऊपर जो दस प्रकारकी लौकिक प्रतीति दिखलाई है उनमेसे किसी भी प्रकारको माननेपर प्रतीतिकी] असाधारणता [विशेषवधारण प्रधानता] होनेसे उसके विषयमे द्रष्टाका औदासीन्य होनेके कारण रसास्वाद नही बन सकता है। और कविकेलिए भी नियत व्यक्ति विशेषके वर्णनीय होनेपर [किसी व्यक्तिविशेषके प्रेम व्यापार आदिके वर्णनमे] अनौचित्यका परित्याग सम्भव न होनेसे काव्य ही नही बन सकता है। चाहे मुख्य [अर्थात् वास्तविक अनुकार्य रामादि] का दर्शन हो अथवा नट [प्रयोक्ता] का, दोनो अवस्थाओमे लौकिक प्रेमियो के [प्रणय व्यापारके] देखनेपर होने वाले सासारिक हर्ष क्रोधादि ही उत्पन्न होगे [अलौकिक काव्यानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती है]। और उन दोनो [अर्थात् मुख्य अनुकार्य रामादि, अथवा प्रयोक्ता नटादिके प्रणयादि-व्यापार] के देखनेमें व्यस्त हो जाने से रसकी अनुभूति नही हो सकती है।

साधारणीकरणके विषयमे चार युक्तियाँ—

भरतमुनिने इस कारिकामें यह कहा है कि नाटयमें देवो या असुरोका ही अनुभावन' नहीं कराया गया है किन्तु 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्' अर्थात् तीनो लोकोके

---

१ मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ तद्धि सम्पत्त्यभावात। द्विसवित्त्य भावात। मुखदृष्टौ।
२ क्रोधायिततापत्ते। क्रोधान्विततापत्ते। ३ तद्धि सम्पत्त्यभावात्।

भावानुकीर्तन' का नाम ही नाट्य है। इसी बातको विस्तार पूर्वक समझानेका यत्न वृत्तिकार अभिनवगुप्तने यहा किया है। इस अनुच्छेदमे उन्होने यह दिखलाया है कि नाट्यमे किसी विशेष व्यक्तिके—फिर चाहे वह देव हो या असुर—चरित्रका अनुभावन नही कराया जा सकता है। जिन राम सीता आदिको हम नाट्यमे देखते हैं वे विशेषरूप सीता राम आदि नही हैं किन्तु उनके साधारणीकृत रूप हैं। नाटक देखने वालोको नाटक देखते समय उनमे यथार्थ रामादि रूप बुद्धि नही रहती है। अपितु साधारणीकरण नामक अलौकिक व्यापारद्वारा उनका विशेष स्वरूप समाप्त होकर साधारणीकृत स्वरूप उपस्थित होता है। जिसके कारण देखने वाला प्रमाता अपने को उनसे अभिन्न समझने लगता है। विभाव आदिके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। तभी उसको रसकी अनुभूति होती है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा तादात्म्यकी स्थापना न हो तो सामाजिकको रसानुभूति नही हो सकती है। इस बातको सिद्ध करनेकेलिए वृत्तिकारने चार युक्तिया उपस्थित की है। जिनमे से तीन इस अनुच्छेदमें प्रस्तुत की है जो निम्न प्रकार हैं—

१—वृत्तिकारकी पहिली युक्ति यह है कि यदि इन सीता राम आदिको असाधारण या विशेष रूप माना जाय, अर्थात साधारणीकरण व्यापार द्वारा द्रष्टाके साथ उनका तादात्म्य स्थापित न हो तो द्रष्टा उनके विषयमे बिल्कुल उदासीन रहेगा। इस लिए उसको रसास्वाद नही हो सकता है।

२—दूसरी युक्ति यह है कि न केवल द्रष्टाको उससे रसकी अनुभूतिमें ही बाधा पडेगी अपितु कविकेलिए काव्यका निर्माण ही असम्भव हो जायगा। क्योकि किसी विशेष व्यक्तिके प्रणय व्यापार आदि रहस्योका चित्रण करना अनौचित्यकी श्रेणीमें गिना जाता है।

३—तीसरी युक्ति यह है कि यदि काव्य नाटकमें साधारणीकरण न माना जाय तो फिर चाहे मुख्य रामादिके व्यापारोका दर्शन हो या नटके व्यापारोका वह सब लौकिक दर्शनमात्र होगा। इस अवस्थामे उस व्यापारको देखकर किसीको लज्जा, किसीको क्रोध, किसीको ईर्ष्या आदि उत्पन्न होगी। रसकी अनुभूति नही क्योकि वह बिना तादात्म्यके नही हो सकती है।

४—चौथी युक्ति जिसे वे अगले अनुच्छेदमे उपस्थित कर रहे हैं यह है कि इस प्रकारके विशेष सीता राम आदिकी प्रतीति नाटकमें हो ही नही सकती है क्योकि विशेष पदार्थ वर्तमान होने पर ही अपने कार्यको कर सकते हैं। सीता राम आदि तो आज वर्तमान है नही। इसलिए उनकी विशेष रूपमें उपस्थिति हो ही नही सकती है। केवल साधारणीकृत रूपमें ही उनकी प्रतीति होती है। और उस रूपमे उनको देखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसलिए नाटक देखते समय प्रत्येक द्रष्टा उसमे अपने स्वरूपका तादात्म्य करके ही रसास्वादन करता है। इसीलिए भरतमुनिने नाट्यको 'त्रैलोक्यका भावानुकीर्तन' कहा है।' त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' का यही भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'मुख्यदष्टौ प्रयोक्तृदष्टौ तद्धि सम्प्रत्ययभावात' इतना पाठ पूर्वसस्करणोमें 'क्रोधायितापत्ते' के बाद अस्थानमें और अशुद्ध रूपमे छापा गया था। इसमें से मुख्यदष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ' यह पाठ क्रोधायितापत्ते के पूर्व होना चाहिए और उसके साथ 'वा' का प्रयोग भी होना चाहिए था। यहा वह अ स्थानमें छप गया था उसे हमने ठीक स्थानपर लगा दिया है। और 'तद्धि सम्प्रत्ययभावात' यह पाठ अशुद्ध छप गया था। उसके स्थानपर 'रससम्प्रत्ययभावाच्च' पाठ होना चाहिए था। 'तद्धि' की यहा कोई सङ्गति नही है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

किन्तर्हि ? एतदाह–त्रैलोक्यस्येति ।

एतदुक्त भवति—'एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवनार्यन्ते[1] । यदागमेन वण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धि-यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वतमानतयैव विशेषाणा सम्भाव्यमानाथक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपयवसानम्[3] । न च तेषा वतमानता [4]इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धि ।

पिछले अनुच्छेदमे यह बात कही थी कि नाटचमे देवासुर आदिकी उसमें गिनाए हुए लौकिक प्रतीतिके दस रूपोमेंसे किसी भी रूपमे प्रतीति नही बन सकती है । इसलिए 'नैका ततोऽत्र भवता देवाना वानुभावनम् इस नाटचमें देवताओका अथवा आप लोगो अर्थात असुरोका किसी रूपमें 'अनुभावन' या प्रदशन नही कराया गया है । यह बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें ब्रह्माजीने असुरोसे कही है । इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि तो फिर इसमे किसका प्रदशन कराया गया है । इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमे दिया गया है । उसीकी विस्तार पूवक व्याख्या करने केलिए अगला प्रकरण लिखा गया है । यह प्रकरण अभिनवभारतीके सबसे मुख्य एव क्लिष्ट प्रकरणोमेसे है । इसलिए उसे ध्यान पूवक समझ लेनेकी आवश्यकता है ।

अभिनव०—तो फिर [नाट्यमे] क्या [दिखलाया गया] है ? इसको 'त्रैलोक्यस्य' इत्यादि [श्लोकके उत्तरार्द्ध भाग] केद्वारा दिखलाते हैं ।

सामान्यरूपसे साहित्य शास्त्रियोने काव्य नाटक आदिमें ही 'साधारणीकरण' व्यापार का प्रतिपादन किया है किन्तु यहाँ वृत्तिकार अभिनवगुप्तने इतिहास तथा कथा आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोमें साधारणीकरण व्यापारकी उपयोगिता एव आवश्यकताका उपपादन किया है । निम्न अनुच्छेद द्वारा इतिहासमें साधारणीकरणका प्रदशन करते हैं—

इतिहासमे भी साधारणीकरण—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—इस प्रकारके [असाधारण या विशेष अनुकार्य] राम आदि [नाट्यमे] कभी दृष्टिगोचर नही होते है । जब शब्द प्रमाणके द्वारा उनका वणन किया जाता है उस समय यद्यपि रामायण आदि सदृश एक महावाक्यके द्वारा [रामादिकी व्यक्ति विशेषके रूपमे] विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु विशेष पदाथ वर्तमान रूपमे ही सम्भावित अथक्रियाकी सामर्थ्य रूप 'स्वलक्षणता' को प्राप्त करते हैं । और उन [रामादि] की [इस समय] वर्तमानता नही है इसलिए उनमे विशेष बुद्धि समाप्त हो जाती है ।

इस अनुच्छेदकी रचना दाशनिक पृष्ठभूमिपर हुई है । इसलिए उसको समझे बिना इस अनुच्छेदका भाव समझमें नही आ सकता है । पहिली बात तो यह है कि ग्रन्थकार इसमें यह कहना चाहते हैं कि लोकमें हम जिस प्रकार विशेष व्यक्तियोको देखते हैं साहित्यकी इतिहास, काव्य, नाटक आदि किसी भी शाखामें हम उनको उस असाधारण रूपमें नही देखते है । अपितु सवत्र उनका साधारणीकरण हो जाता है । जैसे रामायण आदि इतिहास ग्रन्थोमें हम राम आदि का वृत्तान्त पढते हैं । वहा कहनेको तो रामादि विशेष व्यक्तियोका ही इतिहास दिया गया है परन्तु वास्तवमें वहा भी उनकी विशेषरूपता समाप्त होकर सामान्यरूपता ही हो जाती है । इस बात को ग्रन्थकारने बौद्धदशनकी पृष्ठभूमिमें अङ्कित किया है ।

१ एतादृश त्र (ते) । २ पथमवतारयन्ते । ३ सालक्षण्यपर्यवसानात् । ४ इत्युपगता ।

यहाँ हम जिसको व्यक्ति विशेष कह रहे हैं उसके लिए बौद्ध दर्शनमें 'स्वलक्षण' शब्दका प्रयोग किया जाता है। संसारमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब 'स्वलक्षण रूप हैं और जो स्वलक्षण' रूप नहीं है वे पदार्थ नहीं है। स्वलक्षणात्मक पदार्थ ही उनके मतमें सत' पदार्थ हो सकता है। बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी दर्शन है। उसके मतमें 'सर्व क्षणिकम् सब कुछ क्षणिक है। केवल एक वर्तमान क्षणमें ही वस्तुकी सत्ता रहती है। दो चार क्षण रहनेवाला भी कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षण वर्तमान रहता है। उसी समय वह स्वलक्षण कहलाता है। वही उसका सत्ताकाल है।

सत्ताका लक्षण बौद्ध दर्शनमे अर्थक्रियाकारित्व सत्त्वम्' इस प्रकार किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी प्रकारकी अर्थक्रिया करता है अर्थात जिससे किसी प्रकारका काम लिया जा सकता है वही पदार्थ 'सत' है। और जो किसी प्रकारकी अर्थक्रिया' नहीं करता है वह सत नहीं है। वह 'स्वलक्षण भी नहीं है। घट इसलिए सत या स्वलक्षण' है कि वह जलाहरण रूप अर्थक्रिया करता है। खपुष्प और वन्ध्यापुत्र 'सत' या स्वलक्षण' नहीं है क्योंकि उनके द्वारा किसी प्रकारकी अर्थक्रिया' नहीं होती है।

यह 'अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व' वर्तमान अर्थमें ही रहता है अतीत या अनागत अर्थमे अर्थक्रियाकारित्व' नहीं रहता है। इसलिए वर्तमान अर्थ ही 'सत' होता है वही 'स्वलक्षण' कहलाता है और वही विशेष या असाधारण अर्थ कहलाता है। रामायण आदि इतिहासके पढ़नेसे जो रामादिका ज्ञान होता है वह यों तो व्यक्ति विशेषका ज्ञान है परन्तु उनके वर्तमान न होनेसे उनमें 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप स्वालक्षण्य' नहीं बनता है। इसलिए उनको विशेष नहीं कहा जा सकता है। 'इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धि'। उनमे विशेष बुद्धि नहीं होती है। यह बात ग्रन्थकारने इस अनुच्छेदमें कही है। तद्विशेषबुद्धि-यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मा महावाक्याद्दुल्लसति' यद्यपि रामायणादिसे विशेषबुद्धि उत्पन्न होती है 'तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रिया सामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तो भी विशेष अर्थ वर्तमान रूपमें ही अर्थक्रियासामर्थ्य रूप स्वालक्षण्यसे युक्त हो सकते हैं। और रामादि वर्तमान नहीं हैं इसलिए उनमें विशेषबुद्धि नहीं बनती है। यह इन पंक्तियोंका भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे तीन स्थानों पर पूर्व संस्करणोंमें सामान्यसी अशुद्धियाँ हो गई थीं हमने उनको ठीक करके यहाँ पाठ दिया है। एतादृश तैं' के स्थानपर 'एतादृशा वै', २ 'सालक्षण्यपर्यवसानात' के स्थानपर स्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तथा 'इत्युपगता' के स्थानपर 'इत्यपगता पाठ होना चाहिए था। हमने संशोधित रूपमे इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

कथाओंका साधारणीकरण—

पिछले अनुच्छेदमें इतिहासके साधारणीकरणका प्रतिपादन किया था। अगले अनुच्छेद द्वारा कथाओंमें होने वाले साधारणीकरणका प्रतिपादन करेंगे। किन्तु इस साधारणीकरणको वे नाटकके समान आह्लादप्रद नहीं मानते हैं। कथा शब्दसे वे यहाँ 'कादम्बरी' तथा 'पञ्चतन्त्र' आदि कथप्रधान ग्रन्थोंका ही ग्रहण होता है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें 'पञ्चतन्त्र' आदि कथा ग्रन्थोंका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है। इसलिए उनके कथा भागमें साधारणीकरण होनेपर भी उनमे नाटकके समान रसास्वादन नहीं होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमे लिख रहे हैं।

पाठसमीक्षा—अगले अनुच्छेदके आरम्भमें 'काव्येष्वपि' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमे छपा है। वह अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'कथास्वपि' पाठ होना चाहिए। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि साहित्यके इतिहास कथा काव्य नाटक आदि किसी भी विभागमें

[1]कथास्वपि [2]हृदय एव तावत् साधारणीभावो विभावादीना जात[3]। तत्रापि कथामात्रे साधारणीभाव सम्भवति यद्यपि, तथापि 'एव ये कुर्वन्ति तेषामेतद् भवति' इति वाक्यवद् रञ्जनातिशयाभावान्न चित्तवृत्त निमग्नता[4] भवति।

काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके[5] हृदयसवाद-वशात् [6]निमग्नाकारा तावद् भवति चित्तवृत्ति। किन्तु सवस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति।

असाधारण व्यक्तिका ज्ञान नही होता है। उनमेंसे इतिहासमें विशेष बुद्धि नही होती है यह बात पिछले अनुच्छेदमें दिखला चुके हैं। काव्य तथा नाट्यकी चर्चा आगे करेंगे। इस अनुच्छेदमे कथा की चर्चा कर रहे हैं इसलिए यहाँ काव्येष्वपि' के स्थानपर 'कथास्वपि पाठ होना चाहिए। उसके अतिरिक्त हृदयमेव के स्थानपर हृदय एव' पाठ होना चाहिए। तीसरे स्थानपर चित्त वृत्तेनिर्णयगता भवति' यह पाठ पूव सस्करणोंमें छपा था वह भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'न चित्तवृत्तेनिमग्नता भवति' यह पाठ होना चाहिए। हमने सशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

कथाका चमत्कार नाटय-सदृश नही—

अभिनव०—कथाओमे भी मनके भीतर ही विभावादिका साधारणी भाव हो जाता है। [परन्तु उनसे नाटक जैसी काव्यानन्दकी अनुभूति नहीं हो सकती है क्योकि] वहा यद्यपि कथामात्रमे साधारणी-भाव हो जाता है फिर भी 'जो ऐसा करता है उसको इस प्रकारका फल मिलता है' इस [शास्त्रीय] वाक्यके समान [उन कथाग्रन्थोमे भी नाटकके तुल्य] चमत्कारातिशय न होने के कारण चित्तवृत्तिकी निमग्नता [अर्थात् तन्मयता] नही होती है [इसलिए कथाओमे भी नाटक जैसा आनन्द नही मिलता है]।

काव्यमे साधारणीकरण—

इस प्रकार इतिहास तथा कथाओमें विशेषबुद्धि न रह कर विभावादिका साधारणी करण हो जाता है यह कह चुकनेके बाद अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि काव्यमें भी विशेष बुद्धि नही रहती है। विभावादिका साधारणीकरण ही हो जाता है। किन्तु काव्योका यह साधारणी करण भी नाट्यके समान आह्लाददायक नही होता है। इसका कारण उसकी परोक्षरूपता है। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—गुण तथा अलङ्कारोसे मनोहर शब्द तथा अर्थ रूप शरीर वाले और लोकोत्तर रस ही जिसका प्राण है इस प्रकारके [श्रव्य] काव्यमे भी हृदयके तन्मयीभावके कारण यद्यपि चित्तवृत्तिकी निमग्नता तो हो जाती है किन्तु उसमे सबको प्रत्यक्ष जसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं हो पाती है [अत नाटक जैसा रसास्वाद वहा भी नहीं हो पाता है]।

---

१ काव्येष्वपि।　२ हृदयमेव।　३ जाता।
४ निर्णयगता।　५ रससम्प्राणिते।　६ निमग्नाकारिका।

नाट्ये तु—'पारमार्थिक किञ्चदद्य मे कृत्य भविष्यति' इत्येवम्भूताभिसन्धि-सस्काराभावात सवपरिषत्साधारणप्रमोदसारापय तसरसत्वेन[1] आदरणीयलोकोत्तर-दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामि इत्यभिसन्धिसस्कारात्, उचितगीतातोद्य [2]चवर्णाविस्मृत-सासारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय [3]सूत्रधाराद्यभिनयावलोकनोद्भिन्न-प्रमोदशोकादितन्मयोभाव, पाठ्याकर्णन—पात्रा तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषा-वेशानालिङ्गिनि सम्यड मिथ्या-सशय-सम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे राम-रावणादिविषयाध्यवसाये, तत्सस्कारानुवृत्तिकारणभूत तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य-प्रमदानुभवसस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूपरामाध्यवसायसस्कार[4] एव [5]भवन् सचमत्कार-तदीयचरितमध्यप्रविष्ट [6]स्वात्मरूपमति स्वात्मद्वारेण विश्व तथा पश्यन्[7], प्रत्येक

नाट्यके साधारणीकरणकी विशेषता—

पिछले तीन अनुच्छेदोमे ग्र थकारने यह दिखलाया था कि केवल काव्य या नाटकमे ही नही अपितु कथा इतिहास आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोमें किसी न किसी रूपमें साधारणीकरण व्यापारकी आवश्यकता पडती है। कि तु इतिहास, कथा, तथा काव्यमे साधारणीकरण व्यापारके होनेपर भी उनसे नाटक जसा आन द प्राप्त नही होता है। इसका कारण उन सबकी परोक्ष रूपता है। नाटकके साधारणीकरणमे अ य सबकी अपेक्षा यह विशेषता है कि इसमें साधारणीकरणके साथ साक्षात्कार रूपताका भी समावेश हो जाता है। इसलिए इतिहास कथा तथा का य आदि अ य सब अङ्गोकी अपेक्षा नाटकमे अधिक रसास्वाद होता है। इसीको आगे लिखते हैं—

अभिनव०—नाटकोमे तो—[नाटक देखते समय] 'आज मुझको कुछ वास्तविक लाभ होगा' इस प्रकारके अभिप्राय तथा सस्कारके न होनेसे, सारी परिषत्केलिए समान आनन्दप्रद एव अ त तक सरस होनेसे आदरणीय लोकोत्तर [नाट्य-वस्तु] को देखने सुननेका अवसर मिलेगा इस अभिप्राय तथा सस्कारसे उसके योग्य गीत-आतोद्य, आदिकी चवणा आदिके द्वारा सासारिक-भाव [लौकिकता] को भूल कर, स्वच्छ दपणके समान निमल हृदय बन कर, सूत्रधारादिके अभिनयको देखकर उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादिमे तन्मय होकर, पाठ्यके सुनने तथा अन्य पात्रोके प्रवेशके कारण देशकालादि विशेषके परामशसे रहित और सम्यक्, मिथ्या, सशय सम्भावनादि ज्ञानसे विज्ञेयत्वके सम्बन्धसे रहित [साधारणीकृत अत एव अलौकिक], राम-रावणादि विषयक ज्ञानके होनेपर, और उस प्रकारके सस्कारके निरन्तर बने रहनेके कारणभूत उसके साथी सुन्दर गीत-आतोद्य प्रमदा-आदिके अनुभव-जन्य-सस्कारसे सूचित, उसके साथ चलने वाले, उक्त रूप रामके ज्ञान एव सस्कारसे युक्त होकर, चमत्कारयुक्त उन [रामादि], के चरितमे अपने स्वरूपको प्रविष्ट कर [अर्थात् रामादिके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर] अपने द्वारा सारे ससारको भी उसी प्रकार [अर्थात् रामादिकी भूमिकाके उपयुक्तके समान] देखते हुए प्रत्येक सामाजिक

१ विरसनासमादरणीय। २ म वणन। ३ सूत्र्याद्यभिनय। ४ भ रूपपरमाध्य। ५ भवत्पञ्चर्वादिवसं। ६ स्वात्व। ७ पश्यत्।

सामाजिको देशकालविशेषणापरामर्शेन, एव कारिणामिद इति 'लीढात्मकविधिसमर्पित सविज्जातीयमेव सविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिम-रसास्वादसहचर-रम्यगीतातोद्यादि-सस्कार'[2] वशेन हृदयाभ्यन्तरनिखात तत [3]एवोत्पुङ्खशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमान भजन, तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासासततस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभ समुज्झति। इदानीमुपायसवेदनालाभात।

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य [4]वानुकृतमित्यादि बुद्धेरभावात्। तद्धि विकारण मिति प्रसिद्ध हास्यमात्रफल मध्यस्थानाम्। यदभिप्रायेण मुनिवक्ष्यति—

देश कालादि विशेषणोके सम्बन्धके बिना ही आस्वादात्मक विधिसे समर्पित इस प्रकार [का आचरण] करने वालोको यह [फल प्राप्त] होता है। इस प्रकारके ज्ञानको [प्राप्त करके] उस विशेष ज्ञानके उपरञ्जक कान्तासम्मिततया रसास्वादनके साथ-साथ गीत वाद्यादिके, सस्कारकी सामर्थ्यसे हृदयके भीतर गड जाने वाले, और निकालनेके सैकडो प्रयत्न करनेपर भी तनिक भी मलिनताको न प्राप्त होने वाले [ज्ञान] को प्राप्त करके उस उस शुभकी प्राप्ति तथा अशुभसे बचनेकी प्रवृत्ति सदा होनेके कारण ही इस समय [अर्थात् नाटकको देखते समय उन शुभोके प्राप्त करने और अशुभोके परिहार करनेके] उपायोका ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शभका आचरण करता और अशुभका परित्याग करता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूव सस्करणोमें आपयन्त विरसत्वेन' पाठ छपा था। उसके स्थानपर हमने 'आपय त सरसत्वेन' पाठ रखा है। नाटक आतपय त विरसत्वेन' आदरणीय नही होता है अपित 'सरसत्वेन' ही आदरणीय होता है। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर 'विरसनासमादरणीय' पाठ दिया गया है। पर वह भी ठीक नही है। अत सरसत्वेन' पाठ ही होना चाहिए था। दूसरी जगह 'सूत्रधाराद्यभिनय' के स्थानपर प्रथम सस्करणमें 'सूत्राद्यभिनय' द्वितीय सस्करणमे उसके स्थानपर' सूच्याद्यभिनय' पाठ दिया गया है। वह भी अशुद्ध ही है।

नाटय अनुकरण रूप नहीं है—

अभिनव०—यह अनुव्यवसाय विशेष रूप 'अनुकीर्तन' जिसको कि नाट्य नामसे भी कहा जाता है, अनुकरण-रूप है ऐसा समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए। क्योकि इस [नाट्यको देखनेपर] इस भाण्ड [नक़ल भरने वाले भाड] ने राजपुत्रकी या अन्य किसीकी नक़ल की है। इस प्रकारकी बुद्धि [नाटकको देखनेपर] नही होती है। [नक़ल नाटकसे भिन्न होती है। उसके करने वाले 'नट' नही 'भाण्ड' भाड कहलाते है। उसके देखनेपर यह भाड राजपुत्रकी नक़ल कर रहा है इस प्रकार की बुद्धि होती है]। और वह मध्यस्थोकेलिए केवल हास्य जनक विकृति [नक़ल] नामसे प्रसिद्ध है उसको लक्ष्यमे रख कर [भरत] मुनि आगे [७-१६ मे] कहेगें कि—

१ लिडात्मक। २ रसानुभववशेन। ३ म भ एवानत्पु सनशात।
४ राजपुत्रस्य न्याय्यवागनुकृतेत्यादि। नानुकृतेत्यादि।

'परचेष्टानुकरणाद्धास समुपजायते' । इति ना० ७–१० ।

[1]तत्पक्ष्याणान्तु तदेव [2]द्वेषासूयानिवृत्त्यादिफलम् । तद्वद्धच व हि दैत्याना हृदयक्षोभ । एवम्भूता वयमुपहासभाजनमिति । [3]उपहासभीरवश्च निवतन्ते ततो न तूपदेशेन ।

[4]न वेतावता नियतानुकारो मा भूत, अनुकारेण तु किमपराद्धम् ?

न किञ्चिदसम्भवादते । अनुकार इति हि मदशकरणम् । तत् कस्य ? न तावद्रामादे, तस्याननुकायत्वात् । एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरण पराकृतम् ।

न च चित्तवत्तीना शोक क्रोधादिरूपाणाम् । न हि नटो रामसदृश स्वात्मन शोक करोति । सवथैव तस्य तत्राभावात । भावे वाऽननुकारत्वात ।

दूसरोकी चेष्टाओकी नकल करने से हास उत्पन्न होता है । ५८

अभिनव०—[वह उपहास] उस पक्षके लोगोमे द्वेष, असूया [गुणेषु दोषाविष्करणमसूया] और [उसके] निवत्ति आदिको उत्पन्न करने वाला होता हे । [यहा हमारी नकल कर उपहास किया जा रहा है] ऐसा समझ कर ही दैत्यो के हृदयमे क्षोभ उत्पन्न हुआ है । उपहास बनाए जानेसे ही उससे विरक्त होगए न कि किसीके कहनेसे ।

विभावोका अनुकरण अनुपपन्न है—

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा इस [आपके कथन] से [नाट्यको किसी] नियत [विशेष व्यक्ति आदि] का अनुकरण न माने तो भी [सामान्य रूपसे] अनुकरण माननेमे क्या हानि है ?

अभिनव०—[उत्तर] सिवाय असम्भव होनेके और कुछ हानि नही हे । [इसी कथनकी पुष्टिकेलिए आगे युक्तिया देते हैं कि—] 'अनुकार' इस [शब्द] से [यह प्रतीत होता है कि वह] सदृश क्रिया रूप है । सो वह [सदृश क्रिया रूप अनुकरण] किसका होगा ? क्योकि राम आदिका तो [सदृश क्रिया रूप अनुकरण] उनके अनुकाय [क्रिया रूप] न होनेसे हो नही सकता । [क्योकि वे क्रिया-रूप न होने से 'अनुकाय' नहीं हो सकते है] । इसी [युक्ति] से प्रमदा आदि विभावोका अनुकरण [उनके क्रियात्मक न होनेके कारण समाप्त] खण्डित हो जाता हे ।

अनुभावोका अनुकरण भी असम्भव है—

अभिनव०—और न शोक क्रोध आदि चित्तवृत्तियोका [अनुकरण सम्भव है क्योकि] नट अपने शोकको रामके शोकके सदृश नही करता है । उस [अर्थात् नट] मे उस [अर्थात् शोक] का सर्वथा अभाव होनेसे । [अर्थात् वास्तवमे तो नटमे शोक रहता ही नही है फिर वह अपने शोकको रामके शोकके सदृश कैसे बना सकता है] । अथवा यदि रहता है तो फिर [वह तो वास्तविक है अत] अनुकरण-रूप न होनेसे । [उसका अनुकरण नहीं करता है । इस प्रकार न तो प्रमदा आदि विभावोका अनुकरण उनके क्रियारूप न होनेके कारण सम्भव है और न शोक क्रोध आदि रूप चित्तवृत्तियो या अनुभावोका सदृशकरण रूप अनुकारण सम्भव है] ।

---

१ तत्पक्षीयाणा । २ द्वेषासूयानुवृत्यादिफलम् । ३ उपहास्यता । ४ एव तावता ।

न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृश स्यात। अनुभावास्तु करोति। किन्तु [1]सजातीयानेव न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य क केन सादृश्यार्थस्त्रलोक्यवर्तिन ।

सदृशत्वन्तु [2]विशेषात्मना यौगपद्य नोपपद्यते। कदाचित् क्रमेण नियत एवानुकृत स्यात। न त्वनियतानुकारोऽपि। सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकाराथ । तस्मादनियतानुकारो[3] नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्। अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽप्ययमेवाभिप्रायो म तव्य [4]।

[5]तेनानुव्यवसायविशषविषयीकाय नाट्यम्।

अभिनव०—और अ य कोई ऐसी वस्तु भी नही है जो शोकके सदृश हो। [इसलिए सदृशकरण रूप अनुकरण सम्भव ही नही है। अत नट न प्रमदादि विभावो का अनुकरण करता है और न चित्तवृत्तियोका] केवल [उन चित्तवत्तियोके अनुरूप] अनुभावो [अर्थात् चित्तवृत्तिजन्य कार्यों] को करता है। किन्तु उ हे भी सजातीय रूपसे करता है, सदृश-रूपसे नही। क्योकि सारे ससारमे साधारण रूपसे वतमान अथका किसके साथ क्या सादृश्य हो सकता है। [अर्थात् साधारणीभूत] अथका किसीके साथ कोई सादृश्य नही हो सकता है।

अभिनव०—क्योकि [साधारणीकृत पदार्थोका नही अपितु] विशेषरूपका और समकालीन पदार्थोका [समान दशन रूप] 'सदृशत्व' बनता है। कभी [गौणरूप से] नियत [पदाथ] ही क्रमसे [अर्थात् भिन्न कालमे होने पर भी] अनुकृत हो सकता है। कि तु अनियत [साधारणीकृत अथ] का अनुकार नही हो सकता है। क्योकि साधारणीकृत अथ [जो सबको समान रूपसे प्रतीत होता है उस] मे अनुकरण का प्रयोजन ही क्या रहता है। इसलिए अनियत [साधारणीकृत अथ] का अनुकरण रूप नाट्य है यह भ्रम भी नही करना चाहिए [अर्थात् ऐसा भी नही समझना चाहिए]। हमारे [अभिनवगुप्तके] उपाध्याय [भट्टतोत] के [बनाए हुए] 'काव्यकौतुक' [ग्रन्थ] मे भी यही अभिप्राय [प्रतिपादित] समझना चाहिए।

अभिनव०—इसलिए नाट्य अनुव्यवसाय-विशेषका विषयभूत होता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे 'न त्वनियतानुकारोऽपि' इतने पाठको हमने स्थाना तरित किया है। पूव सस्करणोमें यह पाठ 'म त य' के बाद छपा था। पर तु वहा उसकी सङ्गति नही लगती थी। यहाँ ग्र थकार यह कहना चाहते हैं कि वैसे तो काला तरभावी नियत या अनियत किसीका भी समान दशन रूप सादृश्य या अनुकरण नही बन सकता है। पर यदि कथञ्चित् माना जाय तो नियत पदार्थोंका तो काला तरमें अनुकरण बन भी सकता है। पर अनियतका अनुकरण तो बन ही नही सकता है। इस अथकी दृष्टिसे जहाँ हमने इस वाक्यको स्थाना तरित किया है वही इसका उचित स्थान है। पूव सस्करणोमें वह अ य स्थानपर मुद्रित किया गया था। वह अशुद्ध था। हमने उसका सशोधन कर उसको उचित स्थानपर पहुँचा दिया है।

---

१ सजातीयत्वेन न तु तत्सदृश्यात्। २ न विशेषात्मना। ३ तस्यायतानुकारो नाट्यम। ४ न 'त्वनियताकारोऽपि' इति पाठोऽधिक। ५ तेनानुव्यवसायवत्।

'अनुभावन' और 'अनुकीतन' शब्दोका अर्थ—

इस कारिकामें भरतमुनिने नाट्यके स्वरूपका निर्धारण करनेका यत्न किया है। उसमे 'अनुभावन' तथा 'अनुकीतन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। इनमे अनुभावन पक्षका खण्डन करके नाट्यको 'अनुकीतन' रूप ठहराया है। परन्तु इनके भेदको समझना बडा कठिन है। अभिनवगुप्तने इन शब्दोका प्रयोग तो कर दिया है परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट करने का यत्न नही किया है। यह विषय स्वय ही बडा जटिल है, फिर उसमें भी यदि ऐसे अस्पष्ट जटिल शब्दोका प्रयोग किया जाय तब तो विषय का समझना असम्भव प्राय सा ही हो जाता है। इसीलिए अभिनवभारतीका यह प्रसङ्ग बडा कठिन हो गया है। स्वय मूल कारिका की पक्ति तो क्लिष्ट थी ही पर उसकी टीका और भी क्लिष्ट बन गई है। फिर भी हम इसको ठीक तरहसे समझानेकेलिए 'अनुभावन' तथा 'अनुकीतन' शब्दोके अर्थभेदको स्पष्ट करनेका यत्न करते हैं। हमारी सम्मतिमें यहा ग्रन्थकारने 'अनुभावन' शब्दका प्रयोग पदार्थके प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूपका ग्रहण' इस अर्थमे किया है। और 'अनुकीतन' शब्दका प्रयोग नाटकके साधारणीकरण रूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीता रामादिके विशेष स्वरूपको हटा कर उनके साधारणीकृत रूपका ग्रहण' इस अर्थमें किया है। 'अनुभावन' शब्दका सम्बन्ध 'अनुभव' शब्दसे है। अनुभव या प्रत्यक्ष, वर्तमान वस्तुका ही होता है। सीता राम आदि वर्तमान नहीं है अत नाट्यमें उनका 'अनुभावन' नही हो सकता है। अनुकीतन अर्थात 'शब्द द्वारा कथन' हो सकता है। और शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान 'सामान्यावधारण प्रधान' होता है। भरतमुनिके मतमे नाट्यमे सीता रामादिके विशेष रूपका ग्रहण नही होता है अपितु साधारणीकृत रूपका ही ग्रहण होता है। इसलिए नाट्य 'अनुभावन रूप' न होकर अनुकीतन-रूप है। इसी लिए प्रत्येक नाट्यमें प्रत्येक सामाजिक साधारणीकरण व्यापार द्वारा स्वय राम आदिकेसाथ तादात्म्य स्थापित करके ही नाट्यके रसका अनुभव करता है। इसीको वृत्तिकारने 'नाट्य भावानुकीतनम्' लिखकर स्पष्ट किया है। यह भरतमुनिका अभिप्राय है।

तीसरा अनुकरणपक्ष—

भरतमुनिने मूल कारिकामें केवल 'अनुभावन' तथा 'अनुकीतन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। किन्तु वृत्तिकारने यहा तीसरे 'अनुकरण पक्ष' की भी चर्चा की है। इसका आधार पूर्ववर्ती व्याख्याकारोका लेख है। भरतके कुछ पूर्ववर्ती टीकाकारोंने भरतमुनिके 'अनुकीतन' शब्दको अनुकरण परक मान कर नाट्यको 'अनुकरण रूप' सिद्ध करनेका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नही हैं। इसलिए उन्होंने यहाँ इस 'अनुकरण पक्ष' का विस्तार पूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'अनुकीतन' को 'अनुकरण' रूप समझनेकी भूल नही करनी चाहिए। इस विषयमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं उनका साराश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१—अनुकरणका अर्थ 'नकल' है। 'नकल' या स्वाग भी अभिनयका एक प्रकार होता है परन्तु वह अत्यन्त निम्न श्रेणीकी वस्तु है। वे केवल किसीका उपहास करनेकेलिए भरे जाते हैं। स्वाग भरना या नकल भरना जहाँ एक ओर किसी अनुकार्य व्यक्तिका अनुकरण कर उसका उपहास बना कर देखने वालोमे निम्न श्रेणीके हास्यको उत्पन्न करता है वहाँ जिसका स्वाग भरा जाता है उसके मनमें क्रोध द्वेष आदि भावोको उत्पन्न करता है। नाट्यमें यह बात नही होती है। नाट्य न तो किसीका स्वाग भर कर उसका उपहास बनाता है और न उसके अपमानका कारण बनता है। इसलिए वह अनुकार्य या उसके मित्रोमे क्रोध आदिको उत्पन्न नही करता है। और न प्रेक्षकोंमें निम्न श्रेणीके हास्यको ही उत्पन्न करता है। अपितु वह प्रेक्षकोंके लिए अलौकिक आनन्दको प्रदान करता है। यह नाट्यका 'अनुकरण' या नकल, स्वांग आदिसे मुख्य भेद है।

इसके बाद वृत्तिकारने 'अनुकरण पक्ष' का निराकरण करनेकेलिए उसके 'नियतानुकार' तथा 'अनियतानुकार' दो अवा तर पक्ष बनाए हैं। और उन दोनाका खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि नाटच न तो नियतानुकार रूप' हो सकता है और न 'अनियतानुकार रूप' ही हो सकता है। अत वह किसी भी रूपमे अनुकरणात्मक' नही है।

'नियतानुकार' का अथ किसी विशेष व्यक्तिका 'अनुकरण' है। इस पक्षके खण्डनमे अभिनवगुप्तकी मुख्य युक्ति यह है कि सीता रामादि किसी विशेष व्यक्तिका नियतानुकरण सम्भव ही नही है। क्योकि अनुकरण शब्दका अथ है 'सदृश क्रिया'| राम आदि विभाव यदि क्रिया रूप होते तब तो उनका सदृश क्रिया रूप अनुकरण' हो सकता था। कि तु वे तो क्रिया रूप नही द्रव्य रूप है अत उनका सदृश क्रिया' रूप अनुकरण भी नही किया जा सकता है। इस उदाहरणसे विभावमात्रके अनुकरणका खण्डन किया गया है। अर्थात न केवल राम आदि अपितु किसी भी प्रमदा आदि अ य व्यक्तिका भी अनुकरण नही किया जा सकता है। अर्थात नाटकमें जिनका प्रतिपादन विभाव शब्दसे किया जाता है उनमेंसे किसीका भी अनुकरण नही किया जा सकता है।

अनुभावोका अनुकरण भी असम्भव है—

इस प्रकार अभिनवगुप्तने विभावोके अनुकरणको असम्भव सिद्ध करके फिर उनके अनुभावोका अनुकरण भी असम्भव सिद्ध किया है। रसोत्पत्तिके कायभूत जो हष शोक आदि होते हैं उनको 'अनुभाव' कहते हैं। अभिनवगुप्तके मतानुसार इन हष शोक आदि अनुभावोका भी अनुकरण सम्भव नही है। नट सीता राम आदिके भीतर रहने वाले हष शोक आदिका अनुकरण या सदृश करण नही कर सकता है। अर्थात वह अपने भीतर होने वाले हष शोक आदिको सीता रामके हष-शोक आदिके समान बनावे यह भी वह नही कर सकता है। इसके वत्तिकारने दो कारण दिए हैं। एक तो यह कि वास्तवमे तो नटमें हष शोक होते ही नही हैं फिर वह अपने भीतर सवथा अविद्यमान हष शोकको, रामके हष-शोकके समान कैसे बना सकता है ? और दूसरा कारण यह है कि यदि नटके भीतर वास्तविक हष शोककी स्थिति मानी जाय तो वे हष शोक तो वास्तविक हो गए फिर उनको अनुकरण रूप कसे कहा जाय ? इस प्रकार अभिनवगुप्तने हष शोकादिके भी सदृश करण रूप अर्थात अनुकरण रूप होनेकी असम्भाव्यताका उपपादन किया है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हमको नाटचमे नटकेद्वारा प्रदर्शित किए जाने वाले हष शोक आदिकी प्रतीति क्यो होती है ? इसका उत्तर वत्तिकारने यह दिया है कि नट रामके 'सदृश' हष शोकादिको नही करता है कि तु उनके 'सजातीय' हष शोकादिको करता है। अब यहाँ 'सजातीय' और सदृश' शब्दोके अथभेदका प्रश्न उपस्थित हो जाता है। 'सजातीय' और 'सदृश' में क्या भेद है इस बातको ग्र थकारको स्पष्ट करके लिखना चाहिए था कि तु उ होने उसको लिखा नही है। इसलिए साधारण व्यक्तिको उनकी यह बात कुछ समझमें नही आती है कि नट रामके सजातीय हष शोकादिको करता है उनके 'सदृश' हष शोकादिको नही करता है। जैसे भरतके 'अनुभावन' तथा 'अनुकीतन' शब्दोका अथ स्पष्ट न होने से उन दोनो पक्षोके रहस्य को समझना कठिन हो गया था इसी प्रकार यहाँ 'सजातीय और 'सदृश' शब्दोके अथके स्पष्ट न किए जानेके करण इस प्रसङ्गका समझना कठिन हो रहा है। इसलिए यहाँ इन दोनो शब्दोके अथभेदको स्पष्ट रूपसे दिखलाने की आवश्यकता है। अत हम आगे उसका स्पष्टीकरण करनेका यत्न कर रहे हैं।

साजात्य और सादृश्यका भेद—

'सजातीय' शब्द जातिसे सम्बन्ध रखता है। जातिको न्याय सिद्धान्तमें नित्य और अनेक पदार्थोंमे समवेत धर्म माना गया है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व जाति' यह जातिका लक्षण किया गया है। जो नित्य होकर अनेकमे समवेत हो उसको 'जाति' कहते हैं यह उस लक्षण का अभिप्राय हुआ। जैसे सारी गौओंके भीतर रहने वाली 'गोत्व' जाति या सारे मनुष्योंमें रहने वाली 'मनुष्यत्व' जाति नित्य और अनेक समवेत होनेसे 'जाति' पदसे वाच्य होती है। इसी जातिके लिए न्याय तथा वैशेषिक दोनो दर्शनोंमें 'सामान्य' शब्दका प्रयोग भी होता है। यह गोत्व जाति सब गो व्यक्तियोंमे रहती है इसलिए सब गो व्यक्ति 'सजातीय' माने जाते हैं। जाति या सामान्य नित्य धर्म है इसलिए भिन्न कालीन गो व्यक्तियोंमें भी 'साजात्य' रह सकता है। इसलिए रामको जो हर्ष शोकादि पूर्वकालमें हुए थे उनमे भी हर्षत्व शोकत्व आदि जाति रहती थी और इस समय नट जिन कृत्रिम हर्ष शोकादिको प्रकट कर रहा है उनमे भी हर्षत्व शोकत्वादि जाति रहती है। इसलिए रामके और नटके दोनो हर्षशोक 'सजातीय' हैं। इसीलिए अभिनवगुप्तने कहा कि 'सजातीयानेव अनुभावान् करोति'।

यह सजातीय शब्दका अर्थ हुआ। अब दूसरा 'सदृश' शब्द है। इस शब्दका सम्बन्ध 'दर्शन' से है। समान दर्शन दो विद्यमान पदार्थोंका और विशेष पदार्थका ही हो सकता है। न तो विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका 'समान-दर्शन' हो सकता है और न उन पदार्थोंका जो विशेष रूप नही है अर्थात साधारणीकृत पदार्थ है उनका समान दर्शन रूप 'सादृश्य' हो सकता है। सीता-रामादिके हर्ष शोक आज विद्यमान नही हैं इसलिए उनका समान दर्शन रूप 'सादृश्य' नही बनता है। और इस समय सीता रामादिके जिस हर्ष शोकका अभिनय किया जा रहा है वह 'विशेषात्मक' भी नही किन्तु साधारणीकृत रूपमे ही है इसलिए भी उसमें समान दर्शन रूप सादृश्य नही बन सकता है। 'भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यम्' यह 'सादृश्य' का लक्षण है। इस लक्षणके अनुसार सजातीय पदार्थोंमे भी 'सादृश्य' नही होता है। ऐसे स्थलोपर यदि 'सदृश' शब्दका प्रयोग होता है तो उसे गौण प्रयोग ही कहा जा सकता है।

इसका सारांश यह हुआ कि 'साजात्य' भिन्न कालीन व्यक्तियोंमें भी हो सकता है और समान-कालीन व्यक्तियोमे भी हो सकता है। किन्तु 'सादृश्य' केवल समकालीन और वह भी केवल वर्तमान व्यक्तियोंमें ही हो सकता है। भिन्न कालीन व्यक्तियोंमे और 'सादृश्य' नही हो सकता है। इसके अतिरिक्त सादृश्य विशेषात्मक पदार्थों या व्यक्तिविशेषोंमें ही होता साधारणीकृत अर्थोंमे नही। इसीलिए अभिनवगुप्तने आगे लिखा है कि 'साधारणरूपस्य क केन सादृश्यार्थ'।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने पूर्व टीकाकारोके अनुकरण पक्षका विस्तार पूर्वक खण्डन करके 'अनुकीर्तन पक्ष' का ही समर्थन किया है। और 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' इस कारिका भागकी व्याख्या बडी विद्वत्ताके साथ प्रस्तुत की है। किन्तु इसमे 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोके सूक्ष्म अन्तरका तथा 'सजातीय' एवं 'सदृश' शब्दोंके सूक्ष्म अर्थभेदका प्रदर्शन न होनेसे यह सब व्याख्या पढ़ने वालोंकेलिए अत्यन्त दुरूह हो गई है। हमने यहाँ उन शब्दोके अर्थभेदको यथासम्भव स्पष्ट करनेका यत्न किया है।

[1]तथाहि-आहार्यविशेषादिना निवृत्ते[2] तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षे[3], विशेष-लेशोपक्रमेण च विना [4]प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते [5]प्रत्यक्षाभिमाने, [6]**प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीय-चरितवाचकस्य रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना**, हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद् हृदयानुप्रवेशयोग्यत्व, अभिनय-चतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादन, प्रस्तावनादिना नटज्ञानजसंस्कारसाचिव्य **च**[7]।

अभिनव०—जैसे कि—[आहार्य विशेष अर्थात्] विशेष प्रकारकी वेष भूषा आदिके द्वारा [सामने अभिनय करने वाले नटोके विषयमे] उस देश, उस काल और चैत्र मैत्र आदि विशेष [व्यक्तित्व] के निवृत्त हो जानेपर, और ['विशेषावधारण-प्रधाना वृत्ति प्रत्यक्षम' के अनुसार] विशेषके सम्पर्कके बिना प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति न होनेसे [सामने दीखनेवाले नटादिके ज्ञानको प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता है। अत उसमे] प्रत्यक्षाभिमानके प्राप्त होनेपर, इस [नट] के विषयमे आदरणीय चरित [अर्थात् श्री रामचन्द्र जी] के वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगसे असम्भावनामात्रके निराकरण हो जानेसे [साधारणीकृत रूपमे दिखलाई देनेवाले रामादिके ज्ञान रूप] 'अनुव्यवसाय' मे प्रत्यक्षकल्पना [उत्पन्न होती है], और मनोहर गीतादिके साथ सम्बद्ध होनेके कारण चमत्कार जनक होनेसे हृदयके भीतर घुस जानेकी योग्यता, [आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य] चारो प्रकारके अभिनयसे [नटके] स्वरूपका प्रच्छादन, और प्रस्तावनादिसे नटज्ञानजन्य संस्कारसहकृतत्व, [उपस्थित होता है]।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकार नाट्यानुभूतिकी प्रक्रियाका निरूपण कर रहे हैं। इस प्रक्रियाको उ होने प्राय छह श्रेणियोमे विभक्त किया है। जिनको सक्षेपमे निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१ आहार्य वेष भूषा आदिके कारण चैत्र मैत्रादि रूप नटमें—देश काल और उसके व्यक्तित्वके प्रत्यक्षकी निवृत्ति।

२ योगदर्शनके 'विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष लक्षणके अनुसार बिना विशेषके सम्पर्कके प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिके असम्भव होनेसे उस स्थलपर राम आदिके प्रत्यक्षाभिमानकी उत्पत्ति।

३ प्रसिद्धार्थक आदरणीय चरित वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगकेद्वारा उस नटमें रामत्वकी असम्भावनाकी निवृत्तिके कारण उस अनुव्यवसायात्मक ज्ञानमें प्रत्यक्ष कल्पनाकी उत्पत्ति।

४ प्रस्तावना कालीन नटज्ञान सहकृत चतुर्विध अभिनयके द्वारा उसके स्वरूपका आच्छादन।

ये चार बाते नटमें होती हैं। और अगली दो बातें सामाजिक में होती है।

५ (अ) पूर्वकालिक लौकिक प्रत्यक्ष अनुमानादिके संस्कारोसे सहकृत, (ब) सहृदयताके संस्कारोसे सहकृत हृदयकी तन्मयताकी क्षमताका सहयोग।

---

१ II तथा च। २ हि वृत्ते। ३ नटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने। ४ प्रत्यक्षप्रवृत्ते।
५ 'प्रत्यक्षाभिमाने इति नास्ति। ६ रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात प्रसिद्धतदर्थतयादरणीयचरित वाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेनानुव्यवसायेन प्रत्यक्षकल्पनाद्ये। ७ 'च' नास्ति।

(स) सामाजिकमे रहनेवाली इन सब विशेषताओ की सहायतासे, दृश्यमान प्रयोक्ताके द्वारा सामाजिकके भीतर सुख दु खात्मक चित्तवृत्तिसे सम्पृक्त 'स्वप्रकाशान दमय', 'अनुव्यवसाय' अर्थात् रसानुभूति की उत्पत्ति ।

६ रसन, आस्वादन, चवरण आदि पदोसे वाच्य इस स्वप्रकाश आन दमय रसानुभूतिमे जो वस्तु भासित होती है वह नाटच' है ।

इस प्रकार ग्र थकारने यहा नटगत चार विशेषताओ और सामाजिक गत दो विशेषताओको छह श्रेणियोमें विभक्त कर नाटचके स्वरूप या नाट्य रसानुभूति की प्रक्रियाका प्रदशन किया है ।

पाठसमीक्षा—यह विषय स्वय ही कठिन है । उसके ऊपर पूव सस्करणोमें अस्तव्यस्त और अत्य त अशुद्ध रूपसे मुद्रित पाठने इसको और भी दुर्ज्ञेय बना दिया है । इममें मुख्य रूपसे चार स्थानोका पाठ अथको समझनेमे बाधा उत्पन्न कर रहा है । इनमेंसे प्रथम और चतुथ स्थानपर पाठ अशुद्ध छपा है । दूसरे स्थानपर कुछ पाठ लुप्त हो गया है । और तीसरे स्थानपर पाठका विपयय हो गया है । इन चारो दोषोको समझनेकेलिए निम्न पक्तियोपर ध्यान देना चाहिए—

१ 'आहायविशेषादिना निवत्ते तद्देश काल चैत्रमत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने' । इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा था । कि तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है । इस वाक्याशमे 'प्रत्यक्षाभिमान' शब्दकी सङ्गति नही लगती है । नटविशेषका प्रथम ज्ञान जिसकी कि आहाय वेष भूषा आदिके द्वारा निवृत्ति होती है प्रत्यक्षाभिमान' रूप नही अपितु प्रत्यक्ष' रूप है । उसके निवत्त होनेके बाद उसमें जो रामादिकी प्रतीति उत्पन्न होगी वह प्रत्यक्षाभिमान होगी । इसलिए यहाँ निवत्ते प्रत्यक्षाभिमाने' के स्थानपर 'निवत्ते प्रत्यक्षे' पाठ होना चाहिए ।

२ इसके आगे 'विशेषलेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षाप्रवत्तेरायाते' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा है । पर तु उससे किसके अथ पर' यह ज्ञान नही होता है । उसमें कुछ पाठ छूट गया है । अत यह लुप्त पाठका उदाहरण है । इसमें 'आयाते के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने पाठ होना चाहिए । नटमें चैत्र मैत्रादि रूप प्रत्यक्षकी निवत्ति होनेके बाद राम आदिका 'प्रत्यक्षाभिमान' उत्पन्न होता है । इसलिए 'आयाते' के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने' यह पाठ अवश्य होना चाहिए । इसके बिना, भाव और वाक्य दोनो अपूर्ण रह जाते हैं । इसलिए यहा 'प्रत्यक्षाभिमाने' इस लुप्त पाठकी पूर्ति आवश्यक है ।

३ इसके आगे 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदथतयादरणीयचरितवाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाटच ' इस प्रकारका पाठ पूव-सस्करणोमे छपा है । इसमें 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात्' यह पाठ अ स्थानमें मुद्रित है । उस वहासे हटाकर 'आदरणीयचरितवाचकस्य' के बाद करना होगा । यही उसका उचित स्थान है । अथसङ्गतिकी दृष्टिसे 'प्रसिद्धतदथतया आदरणीयचरितवाचकस्य रामशब्दस्यात्रोपयोगात असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना' इस प्रकारका पाठ ही उचित प्रतीत होता है । यद्यपि यहाँ किसी नए शब्दके प्रवेशकी आवश्यकता नही पडी है केवल 'राम शब्दस्यात्रोपयोगात' इस भागको स्थाना तरित किया गया है । किन्तु इसके ठीक स्थानपर न रहनेसे अथज्ञानमें बाधा उपस्थित होती है । अत यह स्थान-परिवर्तन आवश्यक ही है ।

अ वयकी प्रक्रियासे भी यह स्थाना तरण यद्यपि हो सकता है कि तु अ वयकी प्रक्रिया मुख्य रूपसे पद्यात्मक रचनामें ही उपयुक्त होती है । क्योंकि पद्य रचनामें ह्रस्व दीघ या गणोके प्रयोगकी व्यवस्थामे बद्ध होनेके कारण पद्य-निर्माताको उपयुक्त स्थानको छोड कर अन्य स्थानपर भी पदोके प्रयोगके लिए विवश होना पड़ता है । इसलिए उसमें अन्वय-प्रक्रिया द्वारा पदोंके

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन [1]प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनित संस्कारसहाये[2], सहृदयसंस्कारसचिवे[3] हृदय-संवाद-तन्मयी [4]भवनसहकारिणि[5] सामाजिके[6] योऽनुव्यवसायो जायते सुखदुःखाद्याकार-तत्तच्चित्त वृत्तिरूषित निजसंविदानन्दप्रकाशमयो, अत एव विचित्रो, रसन आस्वादन चमत्कार चर्वण निर्वेश भोगाद्यपरपर्याय, तत्र यदवभासते वस्तु,[7] तन्नाट्यम् ।

स्थाना तरणकी व्यवस्था भी की गई है। कि तु गद्यात्मक रचनामें उस प्रकारके ब धन नही है। इसलिए यहाँ अ वय प्रक्रियाका इस प्रकारका उपयोग उचित नही कहा जा सकता है। यहा प्रत्येक पदका उसके उचित स्थानपर वि यास ही आवश्यक है। उसके यथास्थान वि यासके बिना अथ समझमें नही आता है। अत हमने यहा सशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है।

४ चतुथ स्थानपर 'प्रत्यक्षकल्पनाटच' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा है। लिपिकारने यहा 'प्रत्यक्षकल्प नाटच' ऐसा अथ समझकर यह पाठ लिख दिया है। पर तु वस्तुत यह अथ यहा विवक्षित नही है। यहा केवल 'प्रत्यक्षकल्पना' पाठ होना चाहिए। उसका आगे आनेवाले 'स्वरूपप्रच्छादन, सस्कारसाचिव्य' आदि प्रथमा त पदोके साथ सम्ब ध है। अत यहा भी 'प्रत्यक्षकल्पना यह प्रथमा त पाठ ही होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इ ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—इस प्रकार मनोहर सामग्रीके बीचमे समाविष्ट, अपने स्वरूपको प्रच्छा-दित किए हुए, दिखलाई देने वाले प्रयोक्ताकेद्वारा, पहिले उपस्थित लौकिक प्रत्यक्ष एव अनुमानादिके सस्कारोकी सहायतासे युक्त, सहृदयताके सस्कारसे युक्त, तथा हृदयकी अनुरूपताके कारण तन्मयीभाव विशिष्ट सामाजिकमे जो अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है उसमे जो अथ भासता है वह नाट्य है।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमें इस अनुच्छेदका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादि जनितसस्कारसहायेन, सहृदयसस्कारसचिवेन, हृदयसवादत मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनु०यवसायो जायते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषितनिजसविदान दप्रकाशमय, अत एव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कारचर्वणनिर्वेशभोगाद्यपरपर्याय, तत्र यदवभासते वस्तु त नाटचम्।

यह पाठ कुछ विचारणीय प्रतीत होता है। इसमें 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्य-सायो जायते' प्रयोक्ता अर्थात् नटके द्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है, उसका स्वरूप 'सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवत्तिरूपरूषितनिजसविदान दप्रकाशमय अत एव विचित्रो रसनास्वादन चमत्कारचर्वणनिर्वेशभागाद्यपरपर्याय' इन शब्दो या विशेषण पदोकेद्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसका भाव यह है कि नटकेद्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है वह रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वण, निर्वेश, भोग आदि शब्दोसे कहा जाता है। सामा यत ये सब शब्द रसकेलिए

---

१ 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन' इति पाठोऽत्र नास्ति। २ सहायेन।
३ नटज्ञानसस्कारसचिवेन। सहृदयज्ञानसस्कारसचिवेन। ४ भावना।
५ भावना सहकारिणा प्रयोक्त्रा। ६, 'सामाजिके' इत्यस्मदीय पाठ। ७ तेऽस्तु

प्रयुक्त होते हं। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा ग्र थकार नाटचमे होने वाली रसानुभूतिको ही अनुव्यवसाय पदसे निर्दिष्ट कर रहे हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस रसानुभूतिकी उत्पत्ति 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ता अर्थात नटकेद्वारा होती है। उस प्रयोक्ताके दो विशेषण यहा दिए गए हैं रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन' और 'प्रच्छादितस्वस्वभावेन' अर्थात गीत वाद्य आदि रञ्जक सामग्रीके भीतर प्रविष्ट और अपने स्वरूपको आच्छादित कर रामादिके रूपमें प्रतीत होने वाले प्रयोक्ता नटके द्वारा 'स्वप्रकाशान दमय' रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि शब्दोसे व्यपदिष्ट रसकी उत्पत्ति या अभि यक्ति होती है। इतनी बात यहाँ स्पष्ट हो गई। पर वह उत्पत्ति कहाँ होती हे, उस रसानुभूतिका आधार या आश्रय कौन होता है इसका कोई उल्लेख अभी नही आया।

अभिनवगुप्तके मतमें रसानुभूतिकाका आश्रय सामाजिक है। नट या अनुकाय नही। सामाजिकमे भी रसानुभूतिकेलिए कुछ योग्यता आवश्यक होती है। उन योग्यताओके अभावमे सामाजिकको भी रसानुभूति नहीं हो सकती है। उन योग्यताओका उल्लेख यहा तीन विशेषणोके द्वारा किया गया है।

१ 'प्राकप्रवत्तलौकिक प्रत्यक्षानुमानादिजनितसस्कारसहाये' इस पदसे प्रथम विशेषता का उल्लेख किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने रससूत्रकी व्याख्याके प्रसङ्गमें अभिनवगुप्त के रस विषयक मतको प्रस्तुत करते हुए सामाजिककी इस योग्यताको 'लोके प्रमदादिभि स्थाय्यनु मानेऽभ्यासपाटववता' इन पदोके द्वारा प्रदर्शित किया है।

२ सामाजिककी योग्यताके सूचक सहृदय सस्कारसचिवे और 'हृदयसवादत मयीभवन सहकारिणि' ये दो विशेषण और दिए गए हैं। इन विशेषणपदोके देखते ही यह प्रतीत हो जाता है कि ये दोनो पद सामाजिककी योग्यता अथवा विशेषताके सूचक पद हैं। काव्यप्रकाशकारने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पकशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकल सहृदयसवादभाजा' इन विशेषणोके द्वारा सामाजिककी इ ही विशेषताओको सूचित किया है। इसलिए इस बातमें कोई भी स देहका स्थान नही है कि यहा ये दोनों पद भी सामाजिककी योग्यताके ही सूचक हैं।

पर तु इन पदोका पाठ पूव सस्करणोमें छपा है वह कुछ दूसरी ही प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। उसमें इन तीनों पदोको—

प्राकप्रवत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनिसस्कारसहायेन,
सहृदयसस्कारसचिवेन, हृदयसवावतन्मयीभावनासहकारिणा।

इस प्रकार तृतीया त विशेषण पदोके रूपमे छापा गया है। वह अशुद्ध है। ये सब तृतीया त पद न होकर सप्तम्य त पद होने चाहिए। जैसा कि ऊपरके लेखसे स्पष्ट है ये तीनो पद रसानुभूतिके आश्रय या आधारभूत सामाजिकके स्वरूपको उपस्थित कर रहे हैं। सामाजिक रसानुभूतिका आधार या आश्रय होता है। इसलिए उसके स्वरूपको प्रस्तुत करने वाले इन विशेषण पदोमें सप्तमी विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिए तृतीया विभक्तिका नही। ततीया विभक्तिके रूपमे प्रयुक्त होने पर वे सामाजिकके विशेषण न हो कर 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ताके विशेषण हो जाते हैं। किन्तु वास्तवमे प्रयोक्ताकी विशेषताओकी उनमें प्रस्तुत नही किया गया है। इसलिए उसके साथ इन पदोकी कोई भी सङ्गति नही है।

ग्रन्थकारने मूलत इन पदोंको सप्तम्य त पदके रूपमें ही लिखा था किन्तु लिपिकारकी अनभिज्ञतासे वे सप्तम्यन्तके बजाय तृतीयान्त पद बना दिए गए हैं। इस भ्रान्तिका कारण यहा

तच्च ज्ञानाकारमात्र, आरोपितस्वरूप, सामान्यात्मक, तत्कालनिर्मितरूप [1]अन्यद्वा किञ्चिद्वस्तु, नात्राप्रस्तुतलेखनेन आत्मनो दर्शनान्तरकथापरिचयप्रकटनफलेन प्रकृतवस्तुनिरूपणविघ्नमाचरन्त सहृदयान् खेदयाम ।

'सामाजिके' पदका प्रयुक्त न किया जाना है। वैसे सामाजिक पदके प्रयोगकी यहा अनिवार्य आवश्यकता नही है। इन सप्तम्यन्त विशेषण पदोकेद्वारा ही उसकी उपस्थिति हो सकती है। ऐसा मान कर ही कदाचित ग्रन्थकारने 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका यहा प्रयोग नही किया था। पर उस पदका प्रयोग न होनेसे ये सप्तम्यन्त पद किसके विशेषण हैं यह बात लिपिकारके ध्यानमें नही आई। 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' यह तृतीयान्त 'प्रयोक्त्रा' विशेष्य पद यहा उपस्थित था इसलिए लिपिकारने इसी 'प्रयोक्त्रा' पदके साथ उनका सम्बन्ध जोड लिया। 'प्रयोक्त्रा' के विशेषण होनेपर उन्हे तृतीयान्त ही होना चाहिए सप्तम्यन्त नही। इसलिए लिपिकारने सप्तम्यन्त पदोको तृतीयान्त पदोके रूपमें परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न होना ही इस अनर्थका कारण बना है।

विभक्तियोके परिवर्तनके साथ एक परिवर्तन और भी लिपिकारको करना पडा है। अनुच्छेदके आरम्भमें 'रञ्जकसामग्रीमध्यानु प्रविष्टेन' 'प्रच्छादितस्वभावेन' 'दृश्यमानेन' ये तीन विशेषण प्रयोक्ताके हैं। उनके बाद ही प्रयोक्त्रा' इस रूपमें विशेष्य पदका भी प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु जब लिपिकारने अगले सामाजिकके विशेषणोको भी प्रयोक्ताका विशेषण समझ लिया तब विशेष्य पदको वहा से हटा कर अन्तिम विशेषणके बाद हृदयसवादतन्मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन इस रूपमें विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है।

यह सब पाठ भ्रान्त पाठ है। उसको सशोधित किए जानेकी आवश्यकता है। इस सारी भूलका मूल कारण 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न किया जाना है। अत एव हमने अपने सशोधित पाठमें 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है। और सामाजिकके विशेषण पदोको सप्तम्यन्त करके ही सशोधित पाठ ऊपर प्रस्तुत किया है। यही पाठ अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल है। पूर्व सस्करणोंमें मुद्रित पाठ न तो अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल ही बनता है और न उसकी सङ्गति ही लगती है। अत वह त्याज्य ही है।

इस प्रकार वृत्तिकारने बडे सरम्भकेसाथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाट्य न तो 'अनुभावन रूप अर्थात् देव दैत्यादि विशेष व्यक्तियोका प्रत्यक्ष रूप है और न अनुकरणरूप' है। अपितु वह केवल 'अनुकीर्तनरूप' है। अर्थात् साधारणीकरण व्यापारके बाद होने वाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञानका विषय होता है।

अभिनव०—और वह [अनुव्यवसायमें भासने वाली वस्तु] केवल १ ज्ञानकार रूप है, अथवा २ आरोपितस्वरूप है, अथवा ३ सामान्यात्मक है या ४ तत्काल उत्पन्न होने वाली है अथवा ५ अन्य किसी प्रकार की है इस प्रसङ्गमे दूसरे दर्शनोके विषयमे अपने ज्ञानको प्रकट करनेके वाले अप्रस्तुत [विषयको] लेख द्वारा प्रस्तुत विषयके निरूपणमे विघ्न डाल कर हम सहृदयोको खिन्न [परेशान] नहीं करना चाहते हैं।

यहाँ ग्रन्थकारने बडी चतुराईसे काम लिया है। एक ओर तो उन्होने इस सम्बन्धके विविध दार्शनिक सिद्धान्तोकी चर्चा भी सक्षेपमें कर दी है। उसके साथ ही उन दर्शनोके ज्ञानको सूचित करते हुए भी दार्शनिक सिद्धान्तोकी चर्चा न करने की शालीनता भी प्रकाशित कर दी है।

---

१. चान्यथा।

ख्यातिपञ्चक—

इन पंक्तियोमे ग्रन्थकारने जिन पाच दार्शनिक सिद्धान्तोकी ओर सङ्केत किया है उन सबको मिलाकर ख्याति पञ्चक' नामसे कहा जाता है। भ्रमस्थलमे होने वाली प्रतीतिके विवेचन और विश्लेषणके प्रसङ्गमें इस ख्याति पञ्चक' का वर्णन दर्शनग्रन्थोमे किया गया है। हम नाट्य या भ्रम आदिके स्थलमें जिस वस्तुको देखते हैं उसका वास्तविक स्वरूप क्या है इस विषयमें विविध दर्शनोमे पाच प्रकारके मत पाए जाते हैं। इन्हीको 'ख्याति पञ्चक या पञ्च ख्याति' नामसे कहा जाता है। 'ख्याति' शब्दका अर्थ ज्ञान है। 'ख्याति पञ्चक' का अर्थ यह है कि इस प्रकारके स्थलोमें विभिन्न दार्शनिकोकी दृष्टिसे पाच प्रकारकी वस्तुओका ज्ञान होता है।

> आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिर यथा।
> तथानिवचनीयख्यातिरित्येतत ख्यातिपञ्चकम ।।

इस श्लोकमें इन पाच ख्यातियोका उल्लेख किया गया है। इनमें पहिली आत्मख्याति' विज्ञानवादी बौद्धोके मतको व्यक्त करती है। दूसरी असत ख्याति' शून्यवादी बौद्धोके मतमे मानी जाती है। तीसरा 'अख्यातिवाद' मीमासकोके प्राभाकर सम्प्रदायका सिद्धान्त है। चौथा अन्यथा ख्याति सिद्धान्त नैयायिकोका है। और पाँचवा 'अनिर्वचनीय ख्याति सिद्धान्त' अद्वैतवादी वेदान्तियो का है। इन सिद्धान्तोका प्रतिपादन भ्रम स्थलकी प्रतीति का विवेचन करनेके प्रसङ्गमें उन उन दर्शनोमें किया गया है।

आत्मख्यातिवाद—

बौद्धोके चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय है जो १ माध्यमिक, २ योगाचार ३ सौत्रान्तिक, और ४ वैभाषिक नामसे प्रसिद्ध है। इनमसे सौत्रान्तिक' तथा 'वभाषिक' ये दोनो सम्प्रदाय तो घट पटादि रूप बाह्य अर्थोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। परन्तु योगाचार' और 'माध्यमिक' बाह्य वस्तुओके अस्तित्वको स्वीकार नही करते हैं। इनमें से 'योगाचार' सम्प्रदाय 'विज्ञानवादी' सम्प्रदाय है। उसका कहना है कि ये जो घट पटादि बाह्य अर्थ हमको दिखलाई देते हैं इनका वास्तवमे बाहर कोई अस्तित्व नही है। ये सब केवल ज्ञानस्वरूप' ही है। जसे स्वप्नमें कोई वास्तविक बाह्य पदार्थ नही होता है केवल ज्ञान कल्पित पदार्थ ही होते हैं उसी प्रकार जाग्रतकालमें भी घटादि पदार्थ वस्तुत विद्यमान नही है केवल ज्ञान ही इन नाना पदार्थोंके रूपमे भासता है। वे विज्ञान' को ही आत्माके स्थानपर भी मानते हैं। अर्थात उनके मतमें द्रष्टा आत्मा भी 'विज्ञानरूप ही है। विज्ञान' क अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नही है। इसीका नाम 'विज्ञानवाद' है। अन्य लोगोकी दृष्टिमें चाहे भ्रमात्मक प्रतीति हो या यथार्थ प्रतीति हो पर विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायके मतमे सर्वत्र केवल विज्ञान' ही नाना रूपोंमें भासता है। घट पट आदि कोई बाह्यार्थ कभी भी ज्ञानका विषय नही होता है। इसी 'विज्ञानवाद' को 'आत्म ख्याति' नामसे भी कहते हैं। 'आत्मा' शब्दका अर्थ यहाँ विज्ञान लेना चाहिए। इस सिद्धान्तमें घटादिकी प्रतीति-स्थलमें भी विज्ञान ही घटादिरूपसे भासता है। और शुक्तिमें रजत, या रज्जुमें सर्पकी भ्रान्त प्रतीतिके समय भी वही 'विज्ञान' उन-उन रूपोमे भासता है। इसी प्रकार अभिनयकालमें रामादिके रूपमें भी वही 'विज्ञान' भासता है। यह बौद्धोके विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायका सिद्धान्त है। इसीकी ओर सङ्केत करते हुए यहाँ ग्रन्थकारने 'तच्च ज्ञानाकारमात्र' यह प्रथम पक्ष दिखलाया है।

असत्ख्यातिवाद—

बौद्धोका दूसरा शून्यवादी सम्प्रदाय 'माध्यमिक' सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है। विज्ञान-वादी 'योगाचार' सम्प्रदायने बाह्यार्थोका खण्डन करके केवल 'विज्ञान' की सत्ता सिद्ध करनेका यत्न

किया था। शून्यवादी 'माध्यमिक' उससे भी एक कदम आगे बढ गया है। उसने वाह्यार्थोंके साथ 'विज्ञान' को भी समाप्त कर दिया है। उसके मत में न वाह्य अर्थ है और न विज्ञान'। दोनोके स्थान पर एकमात्र 'शून्य' ही एक तत्त्व है। शून्य तत्त्व भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य' यह उसका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार वह शून्य' तत्त्व ही सारी प्रतीतियोमे नानारूपमे भासता है। इसलिए क्या यथार्थज्ञानमें, क्या भ्रम स्थलमें, और क्या नाटचमे, सवत्र वही शून्यतत्त्व समान रूपसे भासता है। इसीका नाम शून्यवाद' है। और इसीको असत ख्याति सिद्धान्त' नामके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकारने इस सिद्धान्तका अलगसे उल्लेख नही किया है। बौद्धोके केवल 'विज्ञानवाद' या 'आत्मख्याति' सिद्धान्तका ही उल्लेख किया है।

अख्यातिवाद—

तीसरा अख्याति सिद्धान्त' प्रभाकर मीमासकका है। प्रभाकारके मतमें सारे ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही हैं, कोई भी ज्ञान भ्रम रूप नही होता है। अपने इस सिद्धान्तके उपपादनकेलिए उसने अख्यातिवाद' का आश्रय लिया है। उसका आशय यह है कि शुक्तिमें जहाँ रजतकी प्रतीति होती है उसको लोग भ्रम ज्ञान कहते हैं। परन्तु प्रभाकरके मतमें शुक्ति रजत स्थलमे दो अलग अलग ज्ञान उत्पन्न होते हैं। एक शुक्तिविषयक ज्ञान है जो 'इद रजतम्' इस प्रतीतिमें इद' पदसे सूचित होता है। यह ज्ञान इन्द्रिय तथा शुक्ति रूप अर्थ दोनोके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। इस लिए प्रत्यक्षात्मक और यथार्थ ज्ञान है। भ्रम रूप नही। दूसरा 'रजतम् ज्ञान है। वह शुक्तिके रजत सदृश चाकचिक्यके द्वारा सस्कारोद्बोधसे उत्पन्न होनेके कारण स्मरणात्मक है। वह भी भ्रम रूप नही अपितु यथार्थ ही है। इस प्रकार 'इद रजतम् यह ज्ञान न इद अशमें भ्रम है और न 'रजताश' मे ही भ्रम है। दोनो ही अशोमे यथार्थ ज्ञान है। तब शुक्तिको देख कर, रजत समझ कर मनुष्य उसको उठानेमें क्यो प्रवृत्त होता है इसका समाधान प्रभाकर यह करते ह कि इन दोनो ज्ञानोके भेदका ग्रहण न होनेके कारण इस प्रकारका व्यवहार होता है। यदि उस समय यह मालूम हो जाय कि मैं इद' अर्थात शुक्तिको प्रत्यक्षसे देख रहा हूँ, और 'रजतम् का स्मरण कर रहा हूँ तो मनुष्य उस शुक्तिको उठानेकेलिए प्रवृत्त न होगा। इसलिए मनुष्यकी यह प्रवत्ति भेदाग्रह मूलक है। इसीका नाम 'अख्यातिवाद' है। ख्याति' का अर्थ है ज्ञान। अख्याति का अर्थ हुआ ज्ञानका न होना। अर्थात् प्रत्यक्षात्मक इद' तथा स्मरणात्मक 'रजतम्' इन दोनो ज्ञानोके भेदका ग्रहण न होना ही यहा अख्याति' पदसे गृहीत होता है। 'अख्यातिवाद' में प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक दोनो ज्ञानोका सामान्यात्मक मिश्रित मिला जुला ग्रहण होता है, अलग अलग नही इसीलिए ग्रन्थकारने यहा इस मतका सकेत 'सामान्यात्मकम्' पदसे किया है।

अन्यथाख्यातिवाद—

ख्यातिपञ्चक' मेंका चौथा सिद्धान्त नैयायिकोका है जो 'अन्यथा ख्यातिवाद' के नामसे प्रसिद्ध है। 'अन्यथा ख्याति' का अर्थ यह है कि भ्रम स्थलमें शुक्तिको देखकर जो रजतकी प्रतीति होती है वह बाजारमें पहले देखे हुए हट्टस्थ रजतकी आरोपित प्रतीति होती है। इसी सिद्धान्तकी ओर सकेत करते हुए ग्रन्थकारने यहा 'आरोपितस्वरूपम्' पदका प्रयोग किया है।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद—

'ख्याति पञ्चक' में पाचवा, अद्वैतवादी वेदान्तियोका सिद्धान्त है जो 'अनिर्वचनीय ख्याति' के नामसे व्यवहृत होता है। इस सिद्धान्तका आशय यह है कि शुक्ति रजत स्थलमें एक तात्कालिक रजतकी उत्पत्ति होती है। उसकी स्थिति उतने ही काल तक रहती है जितने काल तक कि उसकी प्रतीति होती है। इसी कारण शुक्ति रजतमें प्रतीत होने वाले रजतको प्रातिभासिक' रजत

तस्मादनुव्यवसायात्मक अनुकोतन रूषितविकल्पसवेदन नाट्यम् । तद्वेदनवेद्य-त्वात् । न त्वनुकरणरूपम् । यदि त्वेव मुख्यलौकिककरणानुसारितया अनुकरणमित्यु-च्यते तन्न कश्चिद्दोष । स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात् । एतच्च यथा-वसर वितनिष्याम, इत्यास्ता तावत् ।

भी कहते हैं जितनी देर पदाथ दिखलाई देता है उतनी ही देर उसकी सत्ता है यह इस सिद्धा त का भाव है। इसी लिए इस सिद्धा तको दृष्टि सृष्टि वाद भी कहते हैं।

वेदा ती लोग अपने इस सिद्धान्तके समथनमें 'न तत्र रथा न रथयोगा अथ रथान् रथयोगान् पथ सृजते इस उपनिषद्वाक्यको उद्धत करते हैं। इस वाक्यमें स्वप्नका वणन करते हुए कहा है कि उस स्वप्नावस्थामें न रथ होता है न रथ युक्त माग होते हैं पर तु स्वप्न देखेने वाला व्यक्ति स्वय ही उन सबकी सृष्टि कर लेता है। यहाँ जो सृजते पदका प्रयोग किया गया है उससे वेदा ती यह अभिप्राय निकालते हैं कि स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा उन सब वस्तुओकी रचना' करता है। अर्थात उन स्वप्नदृष्ट वस्तुओकी उसी समय 'उत्पत्ति होती है। इसी लिए उस 'तात्कालिक' रजतको 'प्रातिभासिक' रजत भी कहते हैं। यह प्रातिभासिक रजत 'सत्त्वेन या असत्त्वेन निवक्तु अशक्य' होनेके कारण 'अनिवचनीय' रजत कहलाता है। उस प्रातिभासिक तत्कालोत्प न रजतको हम सत्' नही कह सकते हैं क्योकि आगे चल कर नेद रजतम्' यह रजत नही है सीप हे इस प्रकारकी प्रतीतिसे उसका बाध होता है। इसलिए वह सत्' नही कहा जा सकता है। पर तु उस समय उससे व्यवहार होता है इसलिए उसको 'असत् भी नही कहा जा सकता है। इस प्रकार सत्त्वेन' या 'असत्त्वेन' निवचन करनेके योग्य न होने से वह 'अनिवचीय' कहलाता है। इसीसे इस ख्यातिका नाम अनिवचनीय ख्याति' रखा गया है। इसी सिद्धा तकी ओर सङ्केत करनेके लिए यहा ग्र थकारने 'तत्कालनिर्मितम्' पदका प्रयोग किया है। इस प्रकार यहाँ पञ्च ख्यातियोके सिद्धा तकी ओर ग्र थ कारने सकेत किया है।

इस प्रकार इस कारिकाकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने नाटचके 'अनुभावन' रूप तथा 'अनुकरण' रूप होनेका विस्तार पूवक खण्डन कर, भरतमुनिके अनुसार उसके 'अनुकीतन' रूप होने की स्थापना की है। अत एव कारिकाकी व्याख्या समाप्त करते हुए वे 'अनुकीतन' पक्षसे ही उसका उपसहार करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन-रूप, और विकल्प प्रतीतिसे रहित [निर्विकल्प प्रतीति रूप] नाट्य है। क्योकि उसी प्रकारकी [अनुव्यवसायात्मक निर्विकल्प] प्रतीतिके द्वारा उसका ग्रहण होता है। यदि ऐसा होनेपर भी [अर्थात् प्रबल प्रमाणोसे नाट्यकी अनुकरण-रूपताका खण्डन होजानेपर भी] मुख्य [अर्थात्] लौकिक करणके अनुसार होनेके कारण उसको [गौणरूपसे] 'अनुकरण' कहा जाता है तो उसमें कोई हानि नहीं है। क्योकि वास्तवमे [अनुकरण नक़ल या स्वाग आदिसे नाटकका] भेद सिद्ध हो जानेपर शब्दके प्रयोगमे विवादकी बात नहीं रहती है। इस बातको हम आगे उचित अवसरपर विस्तार-पूर्वक कहेंगे। इसलिए [अधिक न लिखकर] यहा इतना ही छोड़ देते है।

---

१ कीतन।

यतश्चेद नानुकरण ततो यत्कैश्चिच्चोदित **'न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकाय इति' तदनवकाशम्**। न ह्यनुकायत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।

परिहारोऽपि च य उक्त — 'आसन-गमन-स्नान स्वाप-प्रतिबोध-भोजनाद्यासु गीतवाद्य लोके चेष्टासु अतिप्रथितमित्यादि' तदप्यनुपपन्नम्। नहि गमनादौ तद् ध्रुवा-तालादिरूपेण गीतादि लोकेऽस्ति मङ्गलमात्रत्वादृते। गायन-वादनादिष्वपि चानुकार-बुद्ध्यापत्तेरित्यलम् ॥१०७॥

पूव व्याख्याकारोका खण्डन—

पूव व्याख्याकारोने नाटचको 'अनुकरण' रूप मान कर यह शङ्का उठाई थी कि लोकमें तो सब जगह नृत्य गीत वाद्यादिका प्रयोग नही होता है फिर उसके अनुकरणात्मक नाटचमे इनका इतना अधिक प्रयोग क्यो होता है ? इस शङ्काको उठाकर उन्होने स्वय ही यह समाधान भी किया था कि लोकमें भी स्नान भोजन आदिके पूव वाद्य आदिका प्रयोग देखा जाता है। अत नाटचमें भी उनका अनुकरण अनुचित नही है। पर तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि जब नाटचकी अनुकरण रूपताका ही खण्डन हो गया है तब यह शङ्का और समाधान सब व्यथ है। इसी बात को वे अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—और क्योकि यह [सिद्ध हो चुका है कि नाटक] अनुकरणरूप नही है इसलिए [नाटकको अनुकरणरूप मान कर] किन्होंने जो यह दोष दिया है कि—'कोई भी अनुकाय [रामादि] सारी अवस्थाओमे [अर्थात प्रत्येक समय] गीत-वाद्य आदिसे युक्त नही होता है [जैसा कि नाटकमे पाया जाता है। इसलिए नाटक अनुकरणरूप कैसे बनेगा] ?' उस [दोष या शङ्का] का कोई अवसर नही हे [अर्थात उस प्रकारका दोष देना उचित नही है]। क्योकि [नाट्यमें] गीत वाद्य आदि अनुकाय रूपसे [प्रयुक्त] नही होता है [अर्थात् लौकिक गीत-वाद्य आदिका अनुकरण नाट्यमे नही किया जाता है] यह कहा जा चुका है।

अभिनव०—और [उन्हीं टीकाकारने इस दोषका] जो यह समाधान किया है कि—'बैठने, चलने, स्नान, सोने, जगने और भोजन आदि व्यापारोके समयपर लोकमे गीत वाद्य आदिका अत्यन्त प्रचार पाया जाता है [इसलिए अनुकार्य रामादि प्राय सभी अवस्थाओमे गीत वाद्य आदि युक्त पाए जाते हैं। और उसका अनुकरण ही नाट्यमे भी होता है]।' वह [समाधान] भी युक्ति-सङ्गत नहीं है। क्योकि गमन आदि कालमे उसके मङ्गलमात्र होनेके अतिरिक्त ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त गीत आदिका लोकमे प्रयोग नहीं होता है। [उसके अर्थात् स्नानादिके समय, मङ्गलमात्र होनेसे केवल सामान्य रूपमे गीत-वाद्य-आदिका प्रयोग होता है। सङ्गीतकालके समान विधिवत् ध्रुवा, ताल, आदिसे युक्त गीत-वाद्य आदिका प्रयोग नही होता है। यदि उस समय भी वैसा ही प्रयोग होता है यह माना जाय तो नाट्यमे होनेवाले उन] गायन-वादन आदिमे भी अनुकरण बुद्धि होने लगेगी [जो कि मानी नहीं जाती है।]

---

१ तदनवकाशम्—न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकाय इति।

इसका अभिप्राय यह है कि—यदि स्नान भोजन आदिके समय होने वाले वाद्यादिके प्रयोगको भी विधिवत होने वाले गानादि कालीन प्रयोगके समान ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त ही माना जाय और उसीका अनुकरण नाट्यमे माना जाय तो फिर जहा नाट्यको अनुकरण रूप माननेका भ्रम कुछ लोगोको होता है इसी प्रकार नाट्यमें प्रयुक्त गीत वाद्य आदिको भी अनुकरण रूप कहा जाने लगेगा। किन्तु जो लोग नाट्यको अनुकरण रूप मानते ह वे भी उसके गीत वाद्य भागको अनुकरण रूप नही मानते हैं। यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमें अशुद्ध रूपमे मुद्रित हुआ है। 'यतश्चेद नानुकरण ततो यत कश्चिच्चोदित तदनवकाशम्। न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकाय इति न त्वनुकायत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे मुद्रित किया गया हे। इसमे तदनवकाशम्' यह पद अ स्थानमे मुद्रित हुआ है। इसका उचित स्थान 'इति' के बाद है। इसका कारण यह है कि 'तदनवकाशम्' यह पद स्पष्ट रूपसे किसी पूवपक्षका खण्डन करनेकेलिए लिखा गया है। इसलिए जिस पूवपक्षका खण्डन इसके द्वारा किया जा रहा है वह पूवपक्ष इसके पहिले प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यहा न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकाय इति' इन शब्दोमें वह पूवपक्ष उपस्थित किया गया है जिसका 'तदनवकाशम्' के द्वारा खण्डन करना है। इसलिए इसका स्थान पूवपक्षके बाद ही होना चाहिए। पूव सस्करणोमें 'तदनवकाशम् को पूवपक्षके पहिले छाप दिया गया है। वह अशुद्ध है। ग्र थकारका अभिप्राय यह है कि—जब यह सिद्ध हो चुका कि नाट्य अनुकरण रूप नही हे तब उसको अनुकरण रूप मान कर पूव टीकाकारोमेसे कि हीने जो यह आशङ्का उठाई है कि 'लोकमें तो कोई अनुकाय सब अवस्थाओमें गीत वाद्य आदिसे युक्त नही पाया जाता है तब उसके अनुकरणात्मक नाट्यमे गीत वाद्यादिका इतना अधिक प्रयोग क्यो होता है। इस शङ्काका निवारण स्वय हो जाता है। इसी बातको ग्र थकारने "यतश्चेद नानुकरण ततो यत् कैश्चिच्चोदित— न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकाय ' इति तदनवकाशम्' इस रूपमें लिखा था। किन्तु किसी प्रतिलिपिकारने इस 'तदनवकाश' पदको यहाँसे हटा कर चोदित' के बाद लिख दिया है। प्रतिलिपिकारको 'यच्चोदितम् तदनवकाशम्'। इन शब्दोका परस्पर सम्ब ध प्रतीत हुआ इसलिए उ होने इस प्रकारका पाठ अङ्कित कर दिया। किन्तु पूवपक्ष क्या है, और उत्तरपक्ष क्या है, कहा शङ्का समाप्त होती है और कहाँसे उत्तर प्रारम्भ होता है इस बातको वे नही समझ सके हैं। इसलिए यह सब गडबड हुई है। शङ्का और समाधान दोनोकी स्थितिको ध्यानमें रखनेपर हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्र थकारके अभिप्रायके अनुकूल और शुद्ध पाठ है ॥१०७॥

नाट्यके अन्य उपयोग—

इस प्रकार ग्रन्थकारने इस पिछली १०७वी कारिकामे बडे सरम्भके साथ 'त्रैलोक्यस्यास्य सवस्य नाट्य भावानुकीतनम्' इस सिद्धा तका समथन किया है। इस सिद्धा तके अनुसार नाट्य न तो किसी विशेष व्यक्तिके चरित्रादिका 'अनुभावन' अर्थात् प्रत्यक्ष कराने वाला है, और न उसका 'अनुकरण' रूप है। अपितु वह साधारणीकरण व्यापार द्वारा साधारणीकृत रूपसे सारे ससारके भावोका 'अनुकीतन' रूप है। इसपर यह जिज्ञासा उपन्न होती है कि जब नाट्य सारे ससारके भावोका 'अनुकीतन' करने वाला है तब सारे ससारके भावोका एक ही जगह अर्थात् एक ही नाट्य या उसके भी एक ही अङ्कमें ससारके सारे भावोका 'अनुकीतन' मिलना चाहिए। इस जिज्ञासाके समाधानकेलिए भरतमुनिने अगली आठ कारिकाएं लिखी है। उनका सारांश यह है

ननु त्रैलोक्यस्य ये भावास्तेषा यद्मनुकीतन नाट्य तदेकत्रैव रूपके एकत्रव चाङ्कादौ[1] सवमेव दृश्येत। इत्याशङ्कानिराकरणपूवक पूवप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वमुपसहरति 'क्वचिद्धम' इत्यादिना 'लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति' इत्य तेन श्लोकाष्टकेन—

भरत०—क्वचिद्धर्मं क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थं क्वचिच्छम[2]।
क्वचिद्धास्य क्वचिद्युद्ध क्वचित् काम क्वचिद्वध ॥१०८॥
धर्मो धर्मप्रवृत्ताना[3] काम कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीताना [4]विनीताना दमक्रिया ॥१०९॥
क्लीबाना धाष्टर्च्यजनन[5] उत्साह शूरमानिनाम् ।
अबुधाना विबोधश्च वैदुष्य[6] विदुषामपि ॥११०॥
ईश्वराणा विलासश्च [7]स्थैर्यं दु खार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो [8]धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥१११॥

कि रूपकके दशो भेदोको मिलाकर सम्मिलित रूपसे नाट्य कहा जाता है। उसमे ससारके सारे भावोका दशन हो जाता है। अथवा रूपकके अलग अलग भेदोको नाट्य कहा जाय तो उनमें भी ससारके सारे भावोका समावेश मिल सकता है। यहाँ तक कि एक ही नाटकमें भि न भि न स्थानो पर विभिन्न भावोका समावेश पाया जाता है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] यदि सारे ससारके जो भाव हैं उनका 'अनुकीर्तन' रूप ही नाट्य है तो एक ही रूपकमे अथवा एक ही अङ्क आदिमें सब कुछ एक साथ ही दीखना चाहिए। इस आशङ्काका निराकरण करते हुए 'क्वचिद्धम' यहासे लेकर 'लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति' तक आठ श्लोकोमे पूर्व प्रयोजनोके साथ [नाट्यके अन्य प्रयोजन भी दिखला कर उसकी] सप्रयोजनताका उपसहार करते हैं—

भरत०—कही धम, कहीं क्रीडा कहीं अथ और कही शम, कही हास्य, कहीं युद्ध, कही काम और कही बध [का दृश्य दिखलाया जाता है]।१०८।

भरत०—धर्मपरायणोकेलिए धमका, कामपरायणोकेलिये काम, दुष्टोंकेलिये दण्डव्यवस्था और विनीतोंकेलिये दम क्रिया [का वणन नाट्यमे पाया जाता है]।१०९।

भरत०—नपु सकोमे धृष्टताको उत्पन्न करने वाला और अपनेको शूर समझने वालोमे उत्साहका जनक, अविद्वानोकेलिए ज्ञानप्रद और विद्वानोंको भी विद्वत्ता देने वाला [यह नाट्य है]।११०।

भरत०—धनियोकेलिए विलास जनक, दु ख पीडितोकेलिये धय देने वाला, अर्थोपजीवियोंकेलिए अथ [धनका प्रदान करनेवाला] और घबडाए हुये चित्त वालोंकेलिए धीरज बधाने वाला [यह नाट्य है]।१११।

---

१ य भ चाङ्गादौ। २ ठ क्वचिच्छ्रम। ३ ठ त धर्मोऽधमप्रवृत्तानाम्।
४ ग व मत्ताना दमनक्रिया। ५ ठ म धाष्टर्यकरणम्। ६ घ व वदग्ध्यम।
७, ड त धैर्यम्। ८ ठ म धृत्ति।

भरत०—[1]नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरण नाटचमेतन्मया कृतम् ॥११२॥
[2]उत्तमाधममध्याना नराणा कर्मसश्रयम् ।
हितोपदेशजनन धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥११३॥
[3]दु खार्ताना [4]श्रमार्ताना शोकार्ताना तपस्विनाम् ।
[5]विश्रान्तिजनन [6]काले नाटचमेतद् भविष्यति[7] ॥११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्य हित बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजनन नाटचमेतद् भविष्यति ॥११५॥

एतच्च कैश्चिद् भिन्नवाक्यतया प्रतिश्लोक व्याख्यातम् । तच्च पौनरुक्त्य-अध्याहार परस्परासङ्गत्यादिदोषोपहत स्यादित्युपेक्ष्यमेव ।

भरत०—नाना प्रकारके भावोसे युक्त और नाना प्रकारकी अवस्थाओ वाला लोक व्यवहारका अनुकरण करने वाला यह नाटय मैंने बनाया है ।११२।

भरत०—उत्तम अधम तथा मध्यम मनुष्योंके कमके आधारपर उनको हितका उपदेश करनेवाला तथा धय, मनोरञ्जन [क्रीडा], एव सुखादिको देनेवाला [यह नाटय मैंने बनाया है] ।११३।

भरत०—यह नाटय दु ख पीडितोकेलिए, थके हुए, शोक स तप्त और दीन दु खियों [तपस्विनाम्] केलिये [उनके दु ख आदिके] समयपर विश्रान्ति देने वाला होगा ।११४।

भरत०—और यह नाटय धमका जनक, यशको प्रदान करने वाला, आयुको बढाने वाला, कल्याणकारी, बुद्धिका बढाने वाला तथा ससारको उपदेश देने वाला होगा ।११५।

अभिनव०—किन्ही [टीकाकारो] ने इन [श्लोको] को अलग-अलग वाक्य मान कर प्रत्येक श्लोककी अलग अलग व्याख्या की है। परन्तु उसमे पुनरुक्ति, अध्याहार और परस्पर असङ्गति आदि दोषोके आजानेसे वह [व्याख्या] उपेक्षणीय है ।

---

१ दु खिताना प्रमत्ताश शोकार्ताना तपस्विनाम । हितोपदेशजनन नानावस्था तरात्मकम ॥
नानाशीला प्रकृतय शीलान्नाटच विनिर्मितम । तस्माल्लोकप्रमाण हि कतव्य नाटयवक्तभि ॥

देवतानामृषीणा च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरण लोके नाटयमित्यभिधीयते ॥
महेच्छा ये विदग्धाश्च यौवनश्वयशालिन ।
तेषामय नाटयविधि प्रयोज्यस्त्वथसिद्धये ॥
प्रायेण सवलोकस्य नृत्तमिष्ट स्वभावत ।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नाटयमेतत्प्रयोज्यते ॥
प्रसवालापविवाहहर्षेष्वभ्युदयेषु च ।
प्रस्थानसमये राज्ञां नाटयमेतत्प्रयोज्यते ॥ इति 'न' पुस्तकेऽधिक दृश्यते ।

२ न अनमोत्तममध्यानाम । ३ एतद्रसेषु भावेषु सवकर्मक्रियास्वथ । सर्वोपदेशजनन नाटय लोके भविष्यति ॥ ४ च व समर्थानाम । ५ विश्रामजननम् । ६. ठ थ लोके ।
७ च न नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।

तस्मादित्थमत्र योजना—नानाप्रकारर्भाव स्थायि-व्यभिचारि विभावादिभि उपसम्पन्न सवतो व्याप्तम् । तेषा च भावादोना देश-काल प्रवत्ति-अवस्था तर भिन्न स्वभावत्वात् तदपि नानावस्थात्मकम । अत एवाह्–'उत्तमाधमेति' । एवम्भूतमेतद् भविष्यति । काले विश्रान्तिजनन हितोपदेशजनन च भविष्यतीति सम्बन्ध ।

के के नानाप्रकारा भावा इत्याह्–'क्वचिद्धम' इत्यादि । यथायोग धर्मादय शब्दास्तदुचितस्थायि व्यभिचार्यादिसूचका । तेन 'धर्मोऽथ' इत्युत्साहादि, 'क्रीडा' इति विस्मयादि, 'शम' इति निर्वेदादि, 'हास्यम्' इति हासादि, 'युद्धम्' इति 'क्रोधादि, 'काम' इति रत्यादि, 'बध' इति [2]भय-जुगुप्सा शोकादि । अमीभिश्च समुचितव्यभिचाय-नुभावविभावा [3] स्वीकृता ।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोके बीचमे पूव सस्करणोमें ११२वें श्लोकके पहिले ६ श्लोक, तथा ११४वे श्लोकके पहिले एक, कुल मिलाकर सात श्लोक अधिक और छपे हैं। परन्तु वे सब प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकोको बीचमें माननेसे क्वचिद्धम ' से लेकर 'लोकोपदेशजनन' इत्यादि श्लोक तक श्लोकोकी सख्या प द्रह हो जाती है । जब कि अभिनवगुप्तने वह सरया आठ लिखी है । अभिनव भारतीमें इनकी व्याख्या भी नही की है। इसलिए ये सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

अभिनव०—इसलिए यहा [अर्थात् इन आठो श्लोकोमेसे पहिले ११२, ११३ तथा ११४ वें के उत्तराधको मिलाकर उनके अथकी] योजना इस प्रकार [होती] है—नाना प्रकारके भावोसे अर्थात् स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव तथा विभावसे उपसम्पन्न अर्थात् पूण रूपसे व्याप्त । और उन भावादिकोके भी देश, काल, प्रवृत्ति, अवस्थान्तर, तथा भिन्न स्वभावोके कारण वह [नाट्य] भी नाना अवस्थात्मक होता है। इसलिए [११३वें श्लोकमे] उत्तम, अधम, मध्यम [आदि रूपसे भेद] कहा गया है। [११४वें श्लोकका उत्तराध] यह [नाट्य] इस प्रकारका [जैसा कि इन श्लोकोमे बतलाया गया है] होगा । समयपर विश्रान्ति प्रदान करने वाला और हितका उपदेश देने वाला होगा । यह [उन उन श्लोकोमे आये हुए पदोके साथ] सम्बन्ध है । [अर्थात पहिले ११२, ११३ और ११४वें श्लोकके उत्तराधको मिला कर अथ योजना करनेके बाद १०८वें श्लोकसे निम्न प्रकार व्याख्याका आरम्भ करना चाहिए]—

अभिनव०—वे नाना प्रकारके भाव कौन कौनसे है इस बात बातको 'कवचिद्धर्म' इत्यादिसे दिखलाते है । [यहा आए हुए] धम आदि शब्द औचित्यानुसार अपनेसे सम्बन्ध रखने वाले स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव [तथा विभाव] आदिके सूचक है। इस लिए 'धर्म', 'अर्थ' ये [शब्द] 'उत्साह' आदि [स्थायिभावके सूचक है], 'क्रीडा' से 'विस्मय' आदि, 'शम' से 'निर्वेद' आदि, 'हास्य' से 'हास' आदि, 'युद्ध' से 'क्रोधादि' आदि, 'काम' से 'रति' आदि, 'बध' से भय, जुगुप्सा, शोक आदि [स्थायिभाव सूचित होते हैं] । और उनके द्वारा उनके अनुरूप व्यभिचारिभाव अनुभाव तथा विभाव स्वीकृत होते है ।

---

१ रौद्रादि । २ क्रोधभयजुगुप्साशोकादि । ३ समुचितव्यभिचायनुभावा स्वीकृता ।

'क्वचित्' इति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । 'एतदुक्त भवति—किञ्चिद्धम-प्रधान रूपक यथा नाटक[1] प्रकरण वा । किञ्चित् क्रीडाप्रधान तथाप्रसिद्धाना यथा भाण । अथप्रधानत्व प्रकरणादौ । एव दशरूपकलक्षणानुसारेण सवमनुसरणीयम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें युद्धमिति रौद्रादि' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा था हमने उसके स्थानपर युद्धमिति क्रोधादि' पाठ दिया है । इसका कारण यह हे कि यहा ग्र धकार ने धम और अथ शब्दोसे उत्साहादि स्थायिभावोका, क्रीडा पदसे विस्मय रूप स्थायिभावका 'शम' पद निवदादि स्थायिभावका और हास्य पदसे हास स्थायिभावका ग्रहण किया हे तब युद्ध' पदसे स्वभावत रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोधका ग्रहण होना चाहिए, रौद्ररसका नही । इसलिए हमने 'युद्धमिति रौद्रादि' यह पाठ दिया है । बध' की व्याख्यामें क्रोध भय जुगुप्सा शोकादि इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमेसे 'क्रोध' का ग्रहण 'युद्ध' पदसे ही हो चुका है । अत बध पदसे भय, जुगुप्सा और शोक रूप जो स्थायिभाव शेष रह गए थे उनका ही ग्रहण करना चाहिए ।

धर्मादिके प्राधान्यसे दशरूपकोका भेद—

अभिनव०—'क्वचित्' इस शब्दसे दशरूपकोमेसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए । इसका यह अभिप्राय है कि–कोई [रूपक] धम प्रधान होता है जसे नाटक या प्रकरण । कोई क्रीडा प्रधान होता है जैसे उसकेलिए प्रसिद्ध [रूपक भेदो] मे भाण । अथ प्रधानता तो प्रकरण आदिमे [ही पाई जाती] है । इस प्रकार दशरूपको के लक्षणोके अनुसार यह सब समझ लेना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—तीन पक्तियोके इस छोटसे अनच्छेदमे तीन अशुद्धिया हे । एक अ स्थान पाठकी दूसरी अस्त व्यस्त पाठकी और तीसरी लुप्त पाठकी । मूलकारिकाओमें 'क्वचिद्धम' आदि पाठ आया है । उसमें 'क्वचित' पदसे रूपकके दस भेदोमेसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए यह बात इस अनुच्छेदके आरम्भमे कही गई है । इसी बातका उदाहरण सहित प्रतिपादन आगे एतदुक्त भवति'—से किया है । इसमें दशरूपकके कोई भेद धम प्रधान होते हैं जसे नाटक अथवा प्रकरण, और कोई भेद क्रीडाप्रधान होते हैं जसे भाण आदि, यह बात ग्र थकार कहना चाहते हैं । परन्तु पूव सस्करणामें जिस रूपमें इस स्थलका पाठ छापा गया है वह भ्रममे डाल देने वाला है । पूव सस्करणोका पाठ निम्न प्रकार है—

क्वचिदिति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । तथा नाटकाद्यनेकरूपकगता विशेषस्तथक नाटकादि विशेषे । को विभाग । एतदुक्त भवति—किञ्चिद्धमप्रधान रूपक यथा नाटकम । प्रकरण वा क्रीडा प्रधानम् । तथा प्रसिद्धाना यथा भाण । अथप्रधानत्व प्रकरणादौ । एव दशरूपकलक्षणा-नुसारेण सवमनुसरणीयम् ।

पाठ समीक्षा—पूव सस्करणोमे इस प्रकार मुद्रित पाठमें इस अनुच्छेदका दूसरा वाक्य अस्थान पठित है । 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेषेको विभाग' इस वाक्यका सम्बन्ध इस अनुच्छेदसे न होकर अगले अनुच्छेदसे है । इस अनुच्छेदमें तो ग्रन्थकारने यह दिखला रहे हैं कि कोई रूपकभेद धमप्रधान, कोई अथप्रधान और कोई क्रीडाप्रधान होते हैं । अगले अनुच्छेदमें वे यह दिखलावेंगे कि रूपके नाटकादि एक ही भेदमें किसी नाटकमें धर्मकी प्रधानता और

१ त (य) था नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैक ना (कम्) टकादिविशेषे । को विभाग ।
२ प्रकरण वा क्रीडाप्रधानम् । तथा प्रसिद्धानां यथा भाण ।

किसी नाटकमें काम अथवा अर्थकी प्रधानता भी हो सकती है। जैसे छलितराम' नाटकमे धर्मकी प्रधानता है। स्वप्नवासवदत्ता' नाटकमें क्रीडाकी प्रधानता है। ये दोनो ही नाटक हैं। इसलिए रूपकके नाटकादि रूप एक भेदके भीतरभी धर्मप्राधान्य और क्रीडाप्राधान्य हो सकता है। यह अगले अनुच्छेदका भाव है और यही भाव 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतौ विशेषस्तथक्नाटकादि विशेषगो विभाग ' इस पक्तिका भी है। अत इस पक्तिको अगले अनुच्छदके आरम्भमें रखना चाहिए। पूर्व सस्करणोमे जहा उसको छापा गया है वहा उसका स्थान नही है।

पाठसमीक्षा—इस अ स्थान पठित वाक्यको बीचसे निकाल देनेके बाद 'एतदुक्त भवति' से जो पाठ आरम्भ होता है वह अस्त व्यस्त पाठका उदाहरण है। इसमें पहिला वाक्य तो ठीक है। उसमें नाटक धर्मप्रधान रूपक होता है यह बात कही गई है। किन्तु इसके बाद अगला वाक्य प्रकरण वा क्रीडाप्रधानम्' जो दिया गया है। इसका पाठ अशुद्ध है। इसमें क्रीडाप्रधान' का सम्बन्ध प्रकरणके साथ दिखलाया गया है किन्तु वह ठीक नही है। प्रकरणमे विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक' विप्र अमात्य अथवा वणिकमेंसे कोई एक नायक होता है और धर्म अथवा अर्थमेंसे कोई एक प्रधान होता है। इसलिए क्रीडाका जो उसके साथ सम्बन्ध जोडा गया है वह उचित नहीं है। यो तो देखनेमे यह अशुद्धि विराम—चिह्नके लगाने मात्रकी अशुद्धि प्रतीत होती है। किन्तु वास्तवमे वह समझनेकी ही मौलिक भूल है। प्रतिलिपिके करनेवालेने प्रकरणको क्रीडाप्रधान समझ कर ही कदाचित यहा विराम चिह्नका अनुचित प्रयोग किया है। वास्तवमे यहा प्रकरण वा' इतना पाठ पूर्व वाक्यमें और क्रीडाप्रधान' शब्द उत्तर वाक्यमे जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि 'किञ्चिद्धर्मप्रधान रूपक यथा नाटक प्रकरण वा'। इस प्रकारका पहिला वाक्य और क्रीडाप्रधान तथा प्रसिद्धाना यथा भाण इस प्रकारका दूसरे वाक्यका पाठ होना चाहिए। इस पाठके अनुसार धर्म प्रधान रूपकके दो उदाहरण हुए। एक नाटक और दूसरा प्रकरण।

पाठसमीक्षा—यहाँ थोडा सा यह सन्देह हो सकता है कि अगले वाक्यमे अर्थप्रधानत्व प्रकरणादौ में प्रकरणको अर्थप्रधान रूपक बतलाया है तब यहाँ धर्म प्रधानमे उसकी गणना कैसे होगी ? इसका समाधान यह है कि प्रकरण कभी धर्म प्रधान भी हो सकता है और कभी अर्थप्रधान भी हो सकता है। यह बात उसके लक्षणसे भी स्पष्ट प्रतीत होती है। प्रकरणके नायक विप्र, अमात्य अथवा वणिक हो सकते हैं। जब विप्र नायक होगा तब वह प्राय धर्म प्रधान होगा। वणिक्के नायक होनेपर वह निश्चित रूपसे अर्थ प्रधान होगा। इसलिए उसे दोनो प्रकारके रूपकोके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु पूर्व सस्करणोके पाठके अनुसार उसे क्रीडाप्रधान मानना होगा जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है। इस लिए पूर्वसस्करणोका पाठ अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—यही नही, उस पाठ के माननेसे अगला वाक्य भी असङ्गत हो जाता है। उसके अनुसार अगला वाक्य 'तथा प्रसिद्धाना यथा भाण ' यह रह जाता है। इसमें भाणको किसका उदाहरण माना है यह बात स्पष्ट नही होती है। अत 'क्रीडाप्रधान' का सम्बन्ध 'प्रकरण के साथ न जोड कर इस भाणके साथ जोडना उचित होगा। इसलिए दूसरे वाक्यका पाठ 'क्रीडाप्रधान तथा-प्रसिद्धाना यथा भाण ' यह होना चाहिए। इसमें 'तथा प्रसिद्धाना यह अश थोडा किरकिराता सा और अनावश्यक सा प्रतीत होता है। यदि वह न होता तो क्रीडाप्रधान यथा भाण ' यह पाठ बिल्कुल सुबोध होता। 'तथा प्रसिद्धाना' तनिक सी बाधा उपस्थित कर रहा है। किन्तु क्रीडाप्रधान और भी रूपकभेद हो सकते हैं उन अनेक क्रीडाप्रधान रूपकोमेंसे भाण सबसे मुख्य क्रीडाप्रधान रूपक है यह इस 'तथाप्रसिद्धाना' पदका अभिप्राय है इसलिए उसकी उपस्थिति अनुचित नही है।

यथा नाटकाद्येनकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेषगो विभाग । [३]यथा-क्वचिन्नाटके धम प्रधानम् । यथा छलितरामे रामस्याश्वमेधयाग । क्वचित् क्रीडा। यथा स्वप्नवासवदत्तायाम् । एवमन्यत्राप्यनुसरणीयम् ।

[४]तथकत्रापि नाटके क्वचिदशे[५] धर्मो यथाभिज्ञानशाकुन्तले 'अपि नाम कुलपते-रियमसवणक्षेत्रसम्भवा स्यात्' । एव [६]प्रतिनाटक एकदेशेषु सुलक्षा एव क्रीडादय इति ग्रन्थविस्तरभीरुभिरस्माभिन **परिदर्शिता** [७]।

ननु अवस्था देश काल-प्रकृतिविशेषसमुचितभावानुकीतनमात्रमेव कतव्यम् **कि राम रावणे**त्यादिसमाश्रयेण, इत्याशङ्कयाह-धम इति ।

पाठसमीक्षा—हमने यह लिखा था कि इस अनुच्छेदके पाठमें तीन अशुद्धिया हैं एक अ स्थानपाठकी, दूसरी अस्त व्यस्तपाठकी और तीसरी लुप्तपाठकी । इनमेंसे यहा तक अ स्थान पाठ वाली और अस्तव्यस्तपाठ वाली दो अशुद्धियोकी समीक्षा की जा चुकी है । अब आगे लुप्तपाठ वाली तीसरी अशुद्धिकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । पहिले वाक्यमे किञ्चिद्धमप्रधान यथा नाटक प्रकरण वा' कहा गया था । इसी प्रकार दूसरे वाक्यका प्रारम्भ भी 'किञ्चित' पदसे होना चाहिए । पूव सस्करणोमें उसके आगे 'किञ्चित्' पद नही दिया गया है । परन्तु प्रक्रमके अनुरोधसे उसका होना आवश्यक है इसलिए हमने उसका समावेश करके किञ्चित क्रीडाप्रधान तथाप्रसिद्धाना यथा भाण ' । यह पाठ दिया है । अगले अथप्रधानत्व प्रकरणादौ' इस वाक्यकी रचना और तरहकी है, इसलिए उसके पूव किञ्चित्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नही है ।

अभिनव०—जिस प्रकार नाटक आदि अनेक रूपकोमे विशेषता पाई जाती हे इसी प्रकार एक नाटकादिमे भी विभाग हो सकता है । जसे किसी नाटकमे धर्मकी प्रधानता होती है । जैसे 'छलितराम' मे रामका अश्वमेध याग [धम प्रधान] है । किसीमे क्रीडा [प्रधान होती है] जैसे' स्वप्नवासवदत्ता' मे । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ।

अभिनव०— और एक नाटकमे भी किसी अशमे धर्म [की प्रधानता होती है] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' [के द्वितीय अङ्क] मे 'शायद यह [शकुन्तला] कुलपति [ब्राह्मण कण्व] की असवर्ण क्षेत्र [क्षत्रिया स्त्री] से उत्पन्न [कन्या हो अत मेरे विवाह योग्य] हो । इस प्रकार प्रत्येक नाटकमें किसी स्थानपर क्रीडा आदि स्पष्ट देखे जा सकते हैं । इसलिए ग्रन्थविस्तारके भयसे हमने नहीं दिखलाए है ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो अवस्था देश, काल, प्रकृति विशेषके योग्य [स्थायी] भावोका ही निरूपण करना चाहिए, राम-रावण इत्यादि [विभावो] का आश्रय क्यो लेते हैं । इस प्रकारकी आशङ्काको करके, [उसके समाधानकेलिए १०९ वीं कारिकामे] कहते है, 'धर्म' आदि ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद मे पहिले सस्करणोमे 'किं रामाय रावणेत्यादि' पाठ छपा था । वह अशुद्ध था । उसके स्थान पर 'राम रावणेत्यादि' समस्त पद होना चाहिए था ।

३ तथा । ४ तथा तत्रापि । भ तथापि । ५ भ क्वचिदङ्के । ७ परिवर्तिता । परिवर्णिता ।
१ किं रामाय (वि) रावणेत्यादि सयाश्रयेण० ।

चो हेतौ। यस्माल्लोकवृत्तानुसारेण करण प्रयोगरूप नाट्य मया कृतमेतदि त्येतस्मात् कारणात धमप्रवत्ताना रामयुधिष्ठिरादीना सम्बन्धित्वेन धम उक्त । निग्रह इति बध । विनीताना जितेन्द्रियाणा सम्बन्धित्वेन दमस्य शमस्य, क्रिया योजना। विनयो हीन्द्रियजय ।

एव क्लीबानामुपहास्याना धाष्टर्च जननमिति विभावेन हासोऽत्रोक्त । धाष्टर्चाज्ज म यस्य हास्यवस्तुन । यद्वक्ष्यति–'विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्चादिभि ' [अ० ६] इत्यादि। विवोध इति ण्य तस्य रूपम्। अबुद्धत्वेन प्रसिद्धाना सम्बन्धित्वेन बोधन उपायोपदेशेन व्युत्पाद्यत्वम। विदुषा भीष्मादीना उपाय व्युत्पादकत्वेन[1] वैदुष्यम्। अनेन स्मति मतिप्रभृतीना निरूपणम।

विलास इति क्रीडा। स्थयमिति व्यवसायात्मकमुत्साहरूपमेव। च शब्द एवकारार्थे। दु खार्दितत्वन य प्रसिद्धस्तस्यैव सम्बन्धित्वेनेत्यथ । घति धैयम्।

धर्मादिका सम्बन्ध अनुकायसे है प्रेक्षकसे नहीं—

[११० वी कारिकामे 'अबुधाना विवोधश्च' मे आया हुआ] 'चकार' हेत्वथक है। क्योकि लोक व्यवहारके अनुसार करण अर्थात् प्रयोग रूप यह नाट्यको मैने बनाया है इस कारणसे धमके प्रवृत्त राम युधिष्ठर आदिसे सम्बन्धित रूपमे धमका निरूपण किया है। 'निग्रह' का अथ 'बध' है। विनीतो अर्थात् जितेन्द्रियोके सम्बन्धी रूपमे 'दम' अर्थात् 'शम' की क्रिया अर्थात योजना [की गई] है। क्योकि इन्द्रियजय का नाम ही विनय है।

[कारिका ११०] इसी प्रकार नपु सको अर्थात् उपहासके योग्योकी धृष्टतासे उत्पन्न होने वाला [धाष्टर्चाज्जनन यस्येति धाष्टर्चजनन यह विग्रह है।] इसमे [क्लीब रूप] विभावसे 'हास' यहा कहा है। धृष्टतासे जिस 'हास्य' की उत्पत्ति होती है [यह 'धाष्टर्चजनन' का अथ है]। जसा कि आगे कहेगे–'दूसरोके विकृत वेष अलङ्कार और चेष्टा तथा धृष्टता आदिसे [हास उत्पन्न होता है]। 'विवोध' यह णिजन्त का रूप है। जो मूखके रूपसे प्रसिद्ध है, उनसे सम्बन्धित बोधन अर्थात् उपायोके उपदेश द्वारा [उनको] सुशिक्षित करने वाला [नाट्य है]। विद्वानो अर्थात् भीष्म आदिसे सम्बद्ध, उपायोको सिखलाने रूप वैदुष्य [का जनक नाट्य है]। इससे स्मृति मति आदि [व्यभिचारिभावो] का निरूपण किया गया है।

[कारिका १११] 'विलास' का अथ क्रीडा [मनोरञ्जन] है। 'स्थैय' अर्थात् निश्चयात्मक उत्साह-रूप ही [स्थैय लेना चाहिए]। ['स्थैय दु खार्दितस्य च' मे प्रयुक्त] चकार एव-कार अर्थात् 'ही' के अथमे [प्रयुक्त हुआ] है। [उसका भाव यह है कि] जो दु ख-पीडित रूपमे दिखलाई देता [प्रसिद्ध] है उसीसे सम्बद्ध [उत्साहको प्रदान करता है यह आशय है]। धृति [का अर्थ] धैय है।

[1] व्युत्पाद्यत्वेन।

एतदुक्त भवति लोकवृत्तानुसारेण यत इय नाट्यक्रीडा[1], लोके च धर्मादयोऽ नाश्रया[2] न सवेदनयोग्या, तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादि स शब्दमात्रोप योगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीत ।

एवम्भूत यन्नाट्य, तत्, प्रेक्षकाणा दु खेन व्याध्यादिकृतेन, श्रमेण अध्वक्लेशादि-जेन, शोकेन ब धुमरणादिकृतेन, आर्ताना पीडिताना, तथा तपस्विना अनवरतकृच्छ्र चान्द्रायणाद्याचरणकलितदौबल्यातिशयपरिखिन्नहृदयाना विश्रान्तिजनन दु खप्रसरण विघातक, प्रतिहतदु खाना [3]चाह्लादधृत्यादिकारण यथायोगम । तद्यथा शोकातस्य धृति, व्याध्यातस्य क्रीडा, श्रमातस्य सुखम् । आदिग्रहणेन तपस्विनो मति विवोधादय[4] इति मन्तव्यम ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें भीष्मादीना उपायव्युत्पाद्यत्वेन' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमें छपा था । उसमें 'व्युत्पाद्यत्वेन पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'व्युत्पादकत्वेन' पाठ होना चाहिए । अत हमने यही पाठ रखा है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—क्योकि यह नाट्यक्रीडा लोक-व्यवहारके अनुसार होती है और लोकमे बिना आश्रयके धर्मादिका अनुभव नही हो ही सकता है, इसलिए धर्मादिके विषयमे जो राम आदि जिस रूपमे प्रसिद्ध है उन्हीको यहा [१०९वी कारिकामे धमप्रवृत्ताना आदि सामान्य] शब्दमात्रके उपयोगके द्वारा [अर्थात् राम आदि विशेष व्यक्तिका नाम न लेकर 'धमप्रवृत्ताना' आदि सामान्य शब्दसे] मुख्य वृतिसे ग्रहण किया गया हे ।

अभिनव०—इस प्रकारका जो नाट्य है वह देखने वालोको दु ख अर्थात् रोग आदिसे उत्पन्न क्लेशसे, श्रम अर्थात् मार्ग चलने आदिकी थकानसे, शोक अर्थात् सम्बन्धियोकी मृत्यु आदिसे उत्पन्न दु खसे, आत अर्थात् पीडितो और तपस्वियो अर्थात् निरन्तर कृच्छ्र चान्द्रायण आदि [व्रतो] के करनेसे अत्यन्त दुवल और अत्यन्त खिन्न हृदयवालोकेलिए, विश्रान्तिको देनेवाला, अर्थात् [दुखितोके] दु खकी वृद्धिका नाशक, और दु खसे मुक्त हुओकेलिए यथा योग्य रूपसे आह्लाद, धृति आदिका कारण [नाट्य हे] । जैसे कि शोक सन्तप्तकेलिए धय [प्रदान करने वाला], रोगपीडितके लिए मनोरञ्जक [क्रीडा], और श्रमसे थके हुएकेलिए सुख प्रदान करने वाला [नाट्य होता हे] । आदि [पदके] ग्रहणसे तपस्वियोकेलिए मति विवोध आदि [का देनेवाला] यह अर्थ लेना चाहिए । [अर्थात् नाट्यके द्वारा ससारके दोषोका अनुभव करके तपस्वियोको ज्ञान आदिकी प्राप्ति भी होती है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अतिम भाग में हमने एक नए 'क्रीडा' पदका समावेश किया है । क्योकि वृत्तिकारने कारिकामे आए हुए 'धृति क्रीडा सुखादिकृत' का सम्ब ध 'दु खात' आदिके साथ दिखलाया है । जिनमें शोकातकेलिए धृति, तथा श्रमातकेलिए सुखका कथन स्पष्ट किया है । 'इसलिए व्याध्यातं' के बाद क्रीडा पदका समावेश आवश्यक है ।

१ नाट्यक्रिया । २ नानाश्रया । ३ चाह्लादात्मधधृत्यादिकारयम् । ४ म वोध इति ।

न चैतावदेव, यावत् कालान्तरेऽपि[1]सुखपरिपाक उपदेश जनयतीति । एव दु खिताना तत्प्रशम सुखवितरण-[2]कालान्तरसुखलाभा प्रयोजनम्[3]। ये पुनरदु खिता सुख-भूयिष्ठप्रवृत्तय एव राजपुत्राद्यास्तेषा लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे च उपदेशकारि एतन्नाट्यम् । लोक शब्देन लोकवृत्तम् ।

ननु कि गुरुवदुपदेश करोति ? नेत्याह, कि तु 'बुद्धि विवर्धयति । स्वप्रतिभामेव तादशी वितरतीत्यथ । न च सा दुष्टा प्रतिभेत्याह 'हितम' हितप्रतिभाजनकत्वात् । अत्र हेतुमाह यतो धर्मादनपेतम । यश शब्देन लोकप्रसिद्धिहेतुभूतमदभूतकारि वस्तुच्यते । यथा रामस्य सप्तताल व्यथनादि । तदुपदेशे साधु । आयुव द्धिहेतव आचारा आयु । तेषु साधु । एव दु खितानामदु खिताना चेदमुपादेयमित्युक्तम् ।

अभिनव०—केवल इतना ही नहीं है कि [वतमान कालमे दुखार्तादिकेलिए विश्रा तिदायक हो] अपितु कालान्तरमे जिससे सुख प्राप्त होसके इस प्रकारका उपदेश करता हे । इसी भाति दुखितोकेलिए उनके दु खका नाश, सुखका वितरण, और कालान्तरमे सुखकी प्राप्ति [नाट्यके] प्रयोजन है । और जो दु खी नहीं है अपितु अत्य त सुखी है उन राजपुत्रादिकेलिए लोक व्यवहार और धर्मादिके उपायवगका उपदेश देनेवाला यह नाट्य है । लोक शब्दसे लोक व्यवहार [का ग्रहण होता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] तो क्या [नाट्य] गुरुके समान उपदेश करता हे ? [उत्तर] नही यह बात नहीं है किन्तु 'बुद्धिको बढाता है' । अर्थात् अपनी प्रतिभाको ही उस प्रकारकी बना देता हे । और वह प्रतिभा दुष्ट प्रतिभा नही होती है इसके [सूचित करनेके] लिए 'हित' कहा है । हितकारिणी प्रतिभाका जनक होनेसे [नाट्य को हित कहा गया है] । इस विषयमे हेतु देते है- क्योकि धमसे युक्त [अनपेत] है । [यह 'धम्यम्' पदका अथ किया है 'धमपथ्यथन्यायादनपेते' इस सूत्रसे 'अनपेत' अथमे धम शब्दसे 'यत् प्रत्यय' होकर 'धम्य' पद बनता है इसलिए उसका यह अथ किया है] । यश शब्दसे लोकप्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चय जनक कार्य [वस्तु] को कहा गया है । जैसे रामचन्द्र के द्वारा सप्ततालोका वेधना आदि । उनमे साधु [अर्थात् उनका प्रदान करने वाला यशस्य हुआ । इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यशस्य' तथा 'आयुष्य' आदि पदोमे 'तत्र साधु' इस सूत्रसे यत् प्रत्यय होकर इन शब्दोकी सिद्धि होती है । और ये दोनो शब्द लक्षणावृत्ति द्वारा अपने कारणोको कहते है । क्योकि यश शब्दसे वृत्तिकारने लोक प्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चयजनक कार्योका ग्रहण किया है । इसी प्रकार] आयुकी वृद्धिके हेतुभूत आचरण यहा 'आयु' [शब्दसे गृहीत होते] है । उनमे साधु [होनेसे नाट्य 'आयुष्य' कहलाता है] । इस प्रकार [यह नाट्य] दु खितो और सुखितो दोनोके लिए उपादेय है यह बात कही गई है ।

---

१ म भ काला तरे विपरीत । (रवि) परिपाकय सुखमुपदेशजम । २ म सुखविकार ।
३ म येनादु खिता ।

दु ख च शारीर मानस वा । शारीरमपि दवकृतम **स्वयकृतञ्च** । स्वयकृतमपि दृष्ट¹फलोद्दशेनान्येन चेति । एतावानेव दु खितवग इति दु खार्तानां इत्यादि भेदोपादानस्य फलम् ।

केचित्तु 'धर्मो धमप्रवृत्तानाम्' इत्यादि सामाजिकविषयत्वेन व्याचक्षते' हृदय-सवादयोग्यतातात्पर्येण । अन्ये त्वकारप्रश्लेषादिव्याख्याप्रकारेण 'अधमप्रवत्तानाम्' इत्यादि विपरीतत्वेन व्याचक्षते । उपदेश्यत्वाभिप्रायेण । उभयमपि चतद 'धर्म्यम्' 'यशस्यम्' इत्यादे पुनरुक्तम् ।। १०८-११५ ।।

पाठसमीक्षा—गत पष्ठपरके प्रथम अनुच्छेदमे दो स्थानपर साधारण पाठ परिवतनोकी आवश्यकता पडी है । पहिले स्थानपर परिपाक सुख उपदेश जनयति इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा था । उसके स्थानपर सुखपरिपाकमुपदेश जनयति पाठ होना उचित है । इसलिए हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार दूसरे स्थान पर 'लोकवत्ते धर्माद्युपायवर्गे' के बाद च' छपनेसे रह गया था । हमने उनको ठीक करके छाप दिया है । उसके बिना वाक्य रचना अट पटी सी प्रतीत होती है ।

दु ख [भी] शारीरिक अथवा मानसिक [भेदसे दो प्रकारका] होता हे । शारीर दु ख भी [मुख्यत] दवकृत और स्वयकृत [दो प्रकारका होता है] । स्वयकृत [दु ख] भी [किसी विशेष] फल [की प्राप्ति] के उद्देश्यसे, अथवा अन्य किसी कारणसे [मिलाकर दो प्रकारका होता है । जैसे किसी विशेष फलकी प्राप्तिकेलिए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतोका अनुष्ठान कर मनुष्य स्वय अपने लिए कष्ट उत्पन्न करता है । यह फलोद्देशेन स्वयकृत दु ख हुआ । कभी न चाहते हुए भी अपने मिथ्या आहार-बिहार द्वारा मनुष्य अपनेलिए रोगादि उत्पन्न कर लेता हे । यह दूसरे प्रकारका स्वयकृत दु ख हुआ । दु खार्त, श्रमार्त और शोकात] इतना ही दु खितवग है इसका दिखलाना ही 'दु खार्ताना' इत्यादि भेदोके ग्रहण करनेका फल है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे दैवकृत' के बाद 'स्वयकृतञ्च' पाठ और होना चाहिए । उसके बिना अथकी सङ्गति ठीक नही बैठती है ।

धर्मादिकी सामाजिकपरक व्याख्याका खण्डन—

अभिनव०—कोई [टीकाकार] 'धर्मो धमप्रवृत्ताना' इत्यादिकी सामाजिकपरक व्याख्या करते हैं, क्योकि उनकी ही हृदयसवादकी योग्यता है इस अभिप्रायसे [वे सामाजिक परक व्याख्या करते है] । दूसरे [व्याख्याकार] अकारका प्रश्लेष आदि माननेके व्याख्या प्रकारसे 'अधर्मप्रवृत्ताना इत्यादि विपरीत रूपसे व्याख्या करते है । उपदेश्यत्वके अभिप्रायसे । ये दोनो ही [व्याख्याए] 'धर्म्य' और 'यशस्य' की पुन-रुक्तिमात्र है । [इसलिए न सामाजिकके अभिप्रायसे इनकी व्याख्या करनी चाहिए और न उपदेश्य मान कर 'अधमप्रवृत्ताना' इत्यादि व्याख्या करनी चाहिए । अपितु 'धर्म प्रवृत्ताना रामादीना सम्बन्धित्वेन' यह जैसी व्याख्या हमने अनुकार्यके अभिप्रायसे की हे उसी प्रकारकी व्याख्या करनी चाहिए] ।

१ दृष्टफलोद्देशेन ।

न चानेन प्रधानमात्र एवोपदेश कृत पुरुषार्थोपायमात्रे वा। यावत्तदुपायोपेयादिष्वपीति दर्शयति, न 'तत्' इति—

भरत०—न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११६ ॥

अस्मिन्निति—सप्तद्वीपगतभावानुकीतनरूपे नाट्ये दश्यमाने य न दश्यते -न हृदयगोचरमेति तादृग् ज्ञानादिक नास्तीति **भाव**। ज्ञानमित्युपादेयमात्मज्ञानादि।

इसका अभिप्राय यह है कि 'धर्मो धमवृत्तानाम् इत्यादि श्लोकोकी व्याख्याके विषय में अभिनवगुप्त प्राचीन टीकाकारोसे कई बातोमे मतभेद रखते हैं। पहिली बात तो यह है कि पूववर्ती टीकाकारोने इन आठ श्लोकोमे इकट्ठा एक वाक्य मान कर व्याख्या नही की है। अपितु प्रत्येक श्लोकको अलग अलग मान कर व्याख्या की है। अभिनवगुप्त अभी पीछे इस सिद्धा तका खण्डन कर आए हैं। उनके मतमें इन आठो श्लोकोकी व्याख्या एक साथ मिला कर ही करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पूववर्ती टीकाकारोने धमप्रवृत्ताना' की व्याख्या सामाजिकोके अभिप्रायसे की है। इसका भाव यह है कि धममे प्रवृत्त सामाजिकोकेलिए नाट्यमें धमकी प्राप्ति हो जाती है। कामोपसेवी सामाजिकोको नाट्यमें ही कामकी सामग्री मिल जाती है। यह 'सामाजिकाभिप्रायेण की' व्याख्या का भाव है। अभिनवगुप्त इससे सहमत नही है। अन्य तीसरे व्याख्य कारोने 'धर्मो धमप्रवृत्ताना मे अकारका प्रश्लेष मान कर 'धर्मोऽधमप्रवृत्ताना' अर्थात अधर्माचरणमे लगे हुए लोगोके सुधारके लिए उनको धमका उपदेश दिया है। इस प्रकार की व्याख्याकी है। इसको 'उपदेश्यत्वाभिप्रायेण' व्याख्या कहा गया है।

अभिनवगुप्त इन दोनो पूववर्ती व्याख्याकारोसे सहमत नही है। उनका कहना यह है कि ये दोनो व्याख्याए माननेपर कारिकामें आए हुए धर्म्य' तथा यशस्य' पदोके साथ पुनरुक्ति होगी। इसलिए धर्मो धमप्रवत्ताना' इत्यादिकी सामाजिक परक अथवा उपदेश्यत्वाभिप्रायेण व्याख्या करना उचित नही है। अपितु अनुकाय राम युधिष्ठिरादिके साथ उनका सम्ब ध जोडना चाहिए। धममे प्रवत्त राम और युधिष्ठिर आदिके धमका प्रदशन नाट्यमें कराया जाता है यह उसका अभिप्राय है ॥ १०८ ११५ ॥

नाट्य सब विद्याओंका आश्रय है—

अभिनव०—और इस [नाट्य] ने केवल प्रधानभूत [धर्मादि] का ही अथवा पुरुषार्थके उपायमात्रका ही उपदेश नही किया है, बल्कि उन उपायो द्वारा प्राप्त होने वाले फलो का भी, इस बातको 'न तज्जान' इत्यादि से दिखलाते है।

भरत०—न ऐसा कोई ज्ञान है न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी विद्या या ऐसी कोई कला है, और न ऐसा कोई योग या ऐसा कोई कम है जो इस नाट्यमे दिखलाई न देता हो।११६।

अभिनव०—इसमे अर्थात् सातो द्वीपो [सारे ससार] के भावोको [साधारणीकरण व्यापारके द्वारा] प्रदर्शित करानेवाले इस नाट्यके देखनेपर जो न दिखलाई दे अर्थात् हृदयगोचर न हो इस प्रकारका ज्ञानादि नहीं है यह अभिप्राय हे। 'ज्ञान' पदसे उपादेय आत्मज्ञान आदि [का ग्रहण करना चाहिए]

---

१ सवशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च।
यस्मान्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ इति न पुस्तकेऽधिकम्।

यथा वेणीसहारे—[1]'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ । इत्यादि ।

शिल्पमिति माला चित्र पुस्तादियोजनम । यथा—

'वेष्टितै ग्रन्थितगुम्फसहतै, आततैश्च कुसुमै सपल्लवै । इत्यादौ ।

विद्या दण्डनीत्यादि । यथा—

'[2]शम व्यायामाभ्या प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपते' । इत्यादौ ।

कला गीतवाद्यादिका । यथा—

'[3]व्यक्तिव्यञ्जनधातुना' इत्यादौ ।

यहाँ केवल श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थय सत्त्वनिष्ठा ।
य वीक्षन्ते कमपि तमसा ज्योतिषा वा परस्तात
त मोहान्ध कथमयममु वेत्तु देव पुराणम् ॥

जसे वेणीसहार [नाटकके प्रथम अकके २३वे श्लोक] मे—

आत्मामे रमण करनेवाले और निर्विकल्पक समाधिमे लीन होकर [ज्ञानके प्रकाशसे जिनकी तमो ग्रन्थि नष्ट होगई हे इस प्रकारके योगी लोग अन्धकार और प्रकाश दोनोसे परे जिन श्रीकृष्ण भगवान का साक्षात्कार बडी कठिनाईसे कर पाते है, मोहसे अन्धा यह दुर्योधन उन अनादि देवको कसे देख सकता है] ।

अभिनव०—शिल्पसे माला, चित्र अथवा खिलौने [पुस्त] आदिकी रचना [योजना] का ग्रहण होता है । जसे—

अभिनव०—[मालादि बना कर] लपेटे हुए, गूथे हुए, गुलदस्ता [गुम्फ] के रूपमे सजाए हुए और फैले हुए [अर्थात् खुले हुए] पत्तोके सहित पुष्पोसे ।

पाठसमीक्षा—पूर्व सस्करणमें इस उदाहरणका पाठ अशुद्ध रूपमें छपा था । उसमे 'वेष्टित' के स्थानपर केवल 'वेष्टित' पद दिया गया था । अर्थात 'वेष्टितै' का तृतीयान्त पदके रूपमें प्रयोग न करके समासके रूपमें प्रयोग किया था । परन्तु उस दशामें छन्दोभङ्ग हो जाता है । अत हमने सशोधित पाठ वेष्टितै पाठ दिया है । इससे उस छन्दो दोष का निवारण हो जाता है ।

अभिनव०—विद्यासे दण्डनीति आदि [का ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—साम और दण्डनीतिसे राज्यका प्रबन्ध करनेवाले राजा के ।

अभिनव०—कलासे गीत-वाद्य आदि [ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि [नागानन्द १-१४] मे ।

यहाँ केवल श्लोकका थोडा सा भाग उद्धृत किया गया पूरा श्लोक इस प्रकार है—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुत मध्य लम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाय लय ।
गोपुच्छप्रमुखा क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधय सम्यक् त्रयो दर्शिता ॥

---

१ वेष्टितग्रथितगुम्फसहृत । २ बालरामायण १-२४ । ३ नागानन्द १-१४ ।

योगो योजन तेषामेव ज्ञानादीना कलान्ताना स्वभेदैरन्योन्यप्रभेदैश्च[1] । यथा—

[2]मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधावाचायक कल्पयन्
निर्ह्रादो मुरजस्य मूर्च्छततरा वेणुस्वनापूरित ।
वीणाया कलयन लयेन गमकानुग्राहिणी मूर्च्छना
कषत्येष च [3]कालकुट्टिललया रम्यश्रुति षाडव ॥

इत्यादौ । अत्र ह्यातोद्यनिचयगीतयोजना कृता ।

अन्योन्य यथा—

[4]आविलपयोधराग्र लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम् ।

इत्यादौ । अत्र हि श्रृङ्गारस्य वैद्यकविषया योजना ।

यह श्लोक नागानन्द नाटकके प्रथमाङ्कसे लिया गया है । उस नाटककी नायिका मलयवती मन्दिरमें बैठी वीणा बजा कर देवीकी प्राथना कर रही है । नायक और विदूषक उस गानको सुन कर मुग्ध हो जाते हैं । उसीकी प्रशसा करते हुए नायकका यह वचन है । व्यञ्जनधातु शब्द सङ्गीतशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है । वीणाकी स्वराभिव्यक्तिके दस प्रकार माने गए हैं । उन्हीको दस प्रकारका व्यञ्जन धातु कहा जाता है । मलयवती की वीणा ध्वनि में वह दशो प्रकारके व्यञ्जन धातु स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे हैं । द्रुत मध्य तथा विलम्बित तीन रूपोमें विभक्त यह लय भी विस्पष्ट हो रहा है । गोपुच्छ आदि नामकी तीनो प्रकारकी यतिया भी क्रमश प्रकाशित हो रही हैं । और बाजोके साथ चलने वाली तीनो प्रकारकी वाद्य विधि का सुन्दरताके साथ प्रदशन किया गया है । यह इस श्लोकका भाव है । इसमे गीत तथा वादन कला का वणन किया गया है । अत यह कलाका उदाहरण दिया है

अभिनव०—योगका अर्थ मिलाना है । अर्थात् ज्ञानसे लेकर कला पयन्त उनका ही अपने भेदोके साथ और एक दूसरेके साथ मिश्रण । जैसे—

अभिनव०—[मुरज वाद्यकी ध्वनिको] मेघ [की ध्वनि] समझनेवाले मोरोके नाचनेमे आचायताको प्राप्त [अर्थात् जिसकी ध्वनिको सुनकर मोर मेघ ध्वनि समझ कर नाचने लगते हैं इस प्रकार का] बासुरीकी ध्वनिसे मिश्रित, मुरजवाद्यका स्वर, अत्यन्त प्रबल रूपसे विस्तीण हो रहा है । और वीणाके लयके साथ गमकको सुन्दर बनानेवाले उतार चढाव [मूच्छना] को धारण करता हुआ कालके अनुसार विमिश्रित लयसे युक्त रम्य श्रुतिको खीच रहा है ।

अभिनव०—इत्यादिमे । यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमे सङ्गीतके अङ्गो अर्थात्] वाद्य समूह तथा गीत [के अङ्गोकी परस्पर मिश्रण रूप] योजना की गई है । [अर्थात् यह स्वप्रभेदोकी योजनाका उदाहरण है] ।

अभिनव०—एक दूसरे के [भेदोके मिश्रण रूप योजनाका उदाहरण] जैसे—

---

१ अन्योन्यस्वभेद । २ हेञ्जल राधाविप्रलम्भे । ३ कालकूट्टितकलारम्यश्रुतिम् ।
४ तत्र । ५ विक्रमोवशीय ५ ८ ।

कर्मेति युद्धनियुद्धादि व्यापार यथा—

आलीढस्थितटङ्कितस्य निमिता दृष्टित्रयी तन्वत
पुङ्खाग्रक्रमसपणेनेविशिखप्रान्तादथोच्चस्तमाम् ।
चक्रीभूतशरासनस्य[1] नमनाल्लक्ष्यादमी विच्युता—
श्चित्र चित्रमिराधवस्य[2] युगपत् सर्वे सुरेन्द्रद्विष ॥

इति ॥ ११६ ॥

अभिनव०—मलिन पयोधरोके अग्रभागसे युक्त तथा लवली पत्रके समान पाण्डु वणकी कान्तिवाला ।

इत्यादिमे । इसमे शृङ्गारकी वद्यक विद्याके साथ योजना की गई हे ।

यह श्लोकका पूर्वार्द्ध भाग विक्रमोवशीय नाटकके ५ ८ से लिया गया है। उसमें पयोधर' शब्द श्लिष्ट है। वह मेघ और स्तन दोनोका बोधक है। मेघ कृष्ण वण होनेसे आविल अर्थात् मलिन होते हैं और स्तन अगर आदि औषधियोके लेपके कारण मलिन हैं। इसमे वर्षाकाल का वणन है। और उसके साथ श्लेषसे वियोगिनीका भी वणन है। वियोगिनीका स्तन लवली दलके समान पाण्डुवण तथा कोमल कान्ति वाला होता है और वर्षाकाल लवली दलोके कारण पाण्डुवण और सुन्दर छाया वाला होता है। इसी अभिप्रायसे ये दो विशषण दिए गए हैं।

कम [पद] से युद्धके दाव पेच [युद्ध नियुद्ध] आदि व्यापार [गृहीत होता है] । जैसे—

इस श्लोकमे इराधवका' अथ इन्द्र है। इरा अर्थात् विद्युत या बज्र उसका धव अर्थात् स्वामी इन्द्र। 'आलीढ' लक्ष्यवेधके समयके आसनविशेषका नाम है। लक्ष्यवेध करते समय एक घुटनेको जमीन पर टेक कर और दूसरेको खडा करके जो आसन लगाया जाता है उसको आलीढ' कहते हैं। लक्ष्यवेधके समय पहिले पूरी आख खुली होती है फिर कुछ सिकोडी जाती है और फिर और भी अधिक सकुचित की जाती है। इस प्रकार दृष्टित्रयीका उपयोग किया जाता है। टङ्कितका अथ पत्थरमे खोद कर बनाई हुई मूर्ति आदि होता है। लक्ष्यवेध करने वाला भी मूर्तिके समान अचल या टकित सा हो जाता है। यह श्लोकके प्रथम चरणमें आए हुए 'आलीढ' 'टङ्कित' तथा 'दृष्टित्रयी' पदोकी व्याख्या हुई। श्लोकमे कवि यह कह रहा है कि इन्द्रने जब असुरोको मारनेके लिए बाण चलाया तो असुरगण निशाना बचानेकेलिए जमीनपर लेट कर बच गए। इस प्रकार इन्द्रके सारे प्रयत्नको उन्होन आश्चय जनक ढगसे बेकार कर दिया।

अभिनव०—आलीढ [अर्थात् लक्ष्यवेधकालीन आसन-विशेष] से स्थित, [टङ्कित अर्थात् खुदी हुई] मूर्तिके समान अचल, एव तीन प्रकारकी [लक्ष्यवेधोपयोगिनी] और [निमिता अर्थात्] एकाग्र दृष्टिका प्रयोग करने वाले, बाणके एक सिरेसे [अर्थात् अगले भागसे लेकर] पुङ्खाग्र [अर्थात् पिछले सिरे] तक सरकते हुए, फिर ऊपर [लक्ष्यकी ओर] जाती हुई [दृष्टि वाले], जिसका धनुष [कान तक खिचजानेके कारण] गोल होगया है, इस प्रकारके इन्द्रके निशानेसे एक साथ झुक [जमीनपर लेट] जानेसे सारे असुर बच गए यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।

---

१ न मनाक्लक्ष्यादमी । २ उमाधवस्या ।

एव सप्रयोजनत्वमभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुबध्नाति तन्नात्रेति-

भरत०--तन्नात्र मन्यु कतव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरण [1]नाटचमेतद् भविष्यति ॥ ११७ ॥

तदिति । तस्मादत्र नाटचेऽमरान् प्रति न मन्यु काय । तेऽपि न तत्र केचित । एतदेनाह सप्तद्वीपानुकरणमयी हि [2]क्रिया रङ्गे दश्यते । न च सागरद्वीपादीना कश्चित तत्र सम्भव[3] इति भाव ॥११७॥

अभिनव०--इसमे । [इन्द्र तथा असुरोके युद्ध सम्ब धी दाव पेचोका वणन है । इसलिए युद्ध नियुद्ध रूप कमका उदाहरण दिया है] ॥ ११६ ॥

असुरोका क्षोभ अनुचित है—

अभिनव०--इस प्रकार [पिछले ६ श्लोकोमे नाट्यकी] सप्रयोजनताको कह कर [देवासुर सग्रामके अभिनयको देखकर असुरोमे क्षोभ उत्पन्न होनेकी जो कथा पहिले चल रही थी उस] प्रकृत कथा [इतिहास पुराकल्प] को ही 'तन्नात्र' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं-

भरत०—इसलिए आप लोगोको [अर्थात् असुरोको] देवताओके प्रति द्वेष [या क्रोध] नही करना चाहिए। [क्योकि इस नाटचमे उनका कोई महत्व या उत्कष आदि नही दिखलाया गया है अपितु] सातो द्वीपो [अर्थात् सारे ससार] के भावोका अनुकीतन [साधारणीकरण] रूप यह नाटच होगा ॥११७॥

अभिनव०-'तदिति' यह श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए यहा, इस नाट्यमे [अर्थात् इस नाट्यको देखकर] आप लोगो [अर्थात् असुरो] को देवताओके प्रति ईर्ष्या [मन्यु] नहीं करनी चाहिए । क्योकि उसमे उनका भी कोई मूल्य नही हे । इसीको सूचित करनेकेलिए 'सप्त द्वीपानुकरण' इत्यादिसे] कहा है । क्योकि रङ्गभूमिमे सातो द्वीपोकी [अनुकरणमयी] साधारणीकृत क्रिया दिखलाई जाती है । और सागर द्वीप आदिका वहां [रङ्गभूमिमे विद्यमान होना] कभी सम्भव नही है यह अभिप्राय है । [अर्थात् रङ्गमञ्चपर दिखलाए जाने वाले प्राकृतिक दृश्यादि जैसे कल्पित अवास्तविक होते हे इसी प्रकार देवता दैत्यादि भी वास्तविक नही है । उनको वास्तविक समझ कर क्षुब्ध नही होना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी व्याख्याकी अ तिम पक्तिमे प्रथम सस्करणमे 'सम्भाव' पाठ छपा था। उसमें आकारकी मात्रा अधिक हो गई थी। सम्भाव के स्थान पर सम्भव' पाठ होना चाहिए था। अत हमने उसको ठीक कर दिया है। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर 'तत्रासम्भव' सशोधन किया गया है। पर इससे तो पाठ और अधिक बिगड गया हे। उससे सारा अथ ही उलटा हो जाता है अत वह सशोधन असङ्गत है। हमने जो सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ठीक है ॥११७॥

---

१ त नाटचमेत मयाकृतम् । छ म नाटचे ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् । व नाटचे ह्यस्मिन् भविष्यति । २ भ म कटक्रिया । नटक्रिया । क क्रिया । ३ तत्रासम्भव ।

[1]ननु किमर्थमेषा नामानि गृहीतानीत्याशङ्क्याह 'देवाना' इत्यादि—

भरत०—देवानामसुराणां[2] च [3]राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं [4]वृत्तान्तदर्शकम् ॥११८॥

एतेषामेवाधिकारिपुरुषत्वात्[1] । निराधारस्य वृत्तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । एतच्चोक्तं पूर्वमेवम । अत एव यत्र निर्व्याजसहजौदार्यधर्मादिविषये बलि-प्रह्लादप्रभृते प्रसिद्धिस्तत्र सोऽप्युदीरित आश्रयत्वेन । तदाहासुराणामिति । न च भवद्वैरिण एवात्र वर्णिता अपितु ब्रह्मर्षयोऽपि । अनेन 'प्रत्यादेशोऽयमस्माकं' 'सुरार्थ' इत्याशङ्काद्वयमपि परिहृतम् ॥११८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके बाद प्रथम संस्करणमें 'येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्य मया कृतम्' । इत्यादि आधा श्लोक और छपा था परन्तु यह श्लोकार्ध भाग यहां प्रक्षिप्त है । होना नहीं चाहिए । हमने २४वें श्लोकमें दिखलाया था कि वहां एक श्लोकार्ध भागके बढ जाने से आगेके सारे श्लोकोंकी अर्थसङ्गति बिगड जाती है । इसलिए हमने उस भागका मूलसे निकाल दिया था । यही स्थिति इस श्लोकार्ध की है । इसके कारण अगले श्लोकोंकी सङ्गति बिगड जाती है । अभिनव भारतीकारने भी पिछले श्लोकके बाद अगले श्लोककी प्रतीक रूपमें देवानामित्यादि ही उद्धृत किया है । 'येनानुकरणं' की चर्चा नहीं की है । इसलिए हमने उसको यहां मूल पाठसे निकाल दिया है ।

नाट्यका व्यापक क्षेत्र—

अभिनव०—[जब देवताओं और असुरोंका इससे सम्बन्ध नहीं है तब फिर] इनके नाम क्यों लिए गए हैं इस प्रकारकी शङ्का [असुरोंकी ओरसे की जा सकती है ऐसा] मान कर [उसके समाधानकेलिए] 'देवानाम' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—यह नाट्य देवताओंके असुरोंके राजाओं और [साधारण] गृहस्थियोंके एवं ब्रह्मर्षियोंके वृत्तान्तका प्रदर्शक है यह समझना चाहिए । ११८ ।

अभिनव०—इनके ही [अर्थात् देवता, असुर, राजा, साधारण गृहस्थ, और ब्रह्मर्षि आदि नाट्यमें पात्रोंके रूपमें प्रस्तुत किए जानेकेलिए] अधिकारी व्यक्ति होनेसे । क्योंकि [किन्हीं विशेष व्यक्तियोंका आश्रय लिए बिना] निराधार रूपसे इतिहास [या कथा आदि] का प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है । इस बातको हम पहिले ही कह चुके हैं । इस लिए जहां निश्छल स्वाभाविक उदारता और धर्मादिके विषयमें क्रमशः जिन बलि और प्रह्लाद आदिकी प्रसिद्धि है उनका भी [उस धर्मादिके] आश्रयरूपसे कथन कियाही गया है । [अतः असुरोंकी प्रशंसा भी नाट्यमें पाई जाती है] । इसीलिए [श्लोकमें] 'असुराणां' कहा है । और केवल आपके वैरियों [देवताओं] का ही इसमें प्रदर्शन नहीं किया गया है अपितु ब्रह्मर्षियोंका भी वर्णन किया गया है । इसलिए १ यह हमारा [असुरोंका] अपमान करने वाला है और २ देवताओंको प्रसन्न करनेकेलिए बनाया है इन दोनों शङ्काओंका खण्डन हो जाता है ॥ ११८ ॥

१ इतः पूर्वं 'येनानुकरणं नाट्यमेतत् तद्यन्मया कृतम्' इति पद्यार्धं क्वचिद् दृश्यते ।
२ छ य देवतानामृषीणां च । ३ छ त व. राज्ये लोकस्य चैव हि । ४ त वृत्तानुदर्शकम् ।

एतत्तात्पर्येणोपसहरति योऽयमिति—

भरत०—योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥११९॥

अयमिति प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात यच्छब्दवाच्यो, लोकस्य सवस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चव्यमाणोऽर्थो नाट्यम । स च 'सुख दु खरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा ।

तथाहि—रति-हास-उत्साह विस्मयाना सुखस्वभावत्वम ।

तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयौन्मुख्यप्राणतया तद्विषयाशसा-बाहुल्येन अपायभीरुत्वाद दु खाशानुवेधो रते ।

हासस्य सानुसन्धानस्य विद्यु त्सदशस्तात्कालिकोऽल्पदु खानुवेध सुखानुगत[2] ।

नाट्यरसोकी सुखदु खरूपता—

अभिनव०—इसी अभिप्राय से 'योऽय' इस [अगले श्लोक] से उपसहार करते है—

भरत०—ससारका सुख दु खसे युक्त जो स्वभाव है, आङ्गिकादि [चतुर्विध] अभिनयोके साथ मिल जानेपर वही नाट्य कहलाता है ।११९।

अभिनव०—'अय' इस [पद] से प्रत्यक्ष सदृश अनुव्यवसायका विषय [भूत लोक स्वभाव] लोकप्रसिद्ध सत्यत्व तथा असत्यत्वसे विलक्षण [होनेसे अनिर्वाच्यता-सूचक 'यत्' शब्दसे [य इस पदसे] कहा गया, साधारणीकरण व्यापार द्वारा सारे ससारका [स्वभाव] अपने [स्वभावके] रूपमे प्रतीत होने वाला [बनकर] आस्वाद्य होने वाला अथ ही नाट्य कहलाता है । और वह सुख दु ख रूप [दोनो] से युक्त होनेके कारण विचित्र [नाना प्रकारका] होता है [उनमेसे] किसी एक रूप [अर्थात् केवल सुखात्मक या केवल दु खात्मक] नहीं है ।

अभिनव०—जैसे कि, [आठ प्रकारके नाट्य रसोमेसे] रति, हास, उत्साह तथा विस्मय [जिनके स्थायिभाव हे इस प्रकारके शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत रस ये चार मुख्यत] सुख रूप होते हैं । [परन्तु उनके साथ दु खका भी सम्बन्ध रहता है । इसका प्रदशन अगली पक्तिसे करते हैं] ।

अभिनव०—उनमे चिरकाल तक बने रहने वाले सुखकी कामनासे और विषय भोगकी प्रमुखता होनेसे उसके लिए उत्कट इच्छा होती हे [अत सुखात्मक होता है] किन्तु उसके नाशके भयसे रतिके साथ दु खका अशत सम्पक हो जाता है [अर्थात शृङ्गार रस सुख दुख उभयात्मक हे] ।

अभिनव०—[अनुसन्धान अर्थात्] विचार करनेसे [स्वत सुखात्मक] हासमे भी [उसकी समाप्ति हो जानेसे] सुखके साथ बिजलीकी चमकके सदश तनिक सा दु खका क्षणिक सम्बन्ध हो जाता है । [इसलिए वह भी उभयात्मक हे] ।

१ सुखरूपेण । २ तात्कालिकाल्पदु खरूपसुखानुगतौ ।

उत्साहस्य तात्कालिक दु खायास निमज्जनरूप अनुसन्धिना[1] भाविबहुजनोपकारि-चिरतरकालभाविसुखसमाचिकीर्षात्मना[2] सुखरूपता ।

विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता ।

क्रोध-भय-शोक-जुगुप्साना तु दु खस्वरूपता ।

तत्र चिरकालदु खानुसन्धिप्राणो [3]विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-[4]तदाकाक्षा-प्राणतया सुख दुखानुवेधवान् क्रोध ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी व्याख्याके प्रथम अनुच्छेदमें स च सुखरूपेण विचित्रेण समनुगत ' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । उसमे सुख' के बाद 'दु ख पद छूट गया था । सुख दु ख उभय रूप होनेपर ही 'विचित्र यह विशेषण बनता है । अत सुखदु खरूपेण विचित्रेण' यही पाठ हमने प्रस्तुत किया है । द्वितीय सस्करणमे भी यही सशोधित पाठ दिया गया है ।

अभिनव०—तात्कालिक दु ख और श्रमको उठाकर बहुत लोगोका उपकार करनेवाले, और आगे चिरकाल तक रहने वाले सुखकी प्राप्तिके अभिप्रायसे उत्साहमे [दु ख मिश्रित] सुखरूपता होती है ।

अभिनव०—और विस्मयमे [निरनुसन्धान अर्थात बिना विचारके] आपातत विद्युत्सदृश क्षणिक दु खानुविद्ध सुखरूपता रहती है ।

दु खप्रधान चार रस—

इसके पूव रति हास, उत्साह एव विस्मय स्थायिभाव वाले शृङ्गार हास्य वीर तथा अद्भुत इन चार रसोकी सुखप्रधानताका निरूपण कर चुके हैं । अब आगे क्रोध भय शोक तथा जुगुप्सा रूप स्थायिभाव वाले रौद्र भयानक करुण तथा बीभत्स इन चार रसोकी दु खप्रधानता का प्रतिपादन करते हं ।

अभिनव०—क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा [जिनके स्थायिभाव हे वे रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स चार रस] दु ख रूप [दु खप्रधान] होते है ।

आगे इनके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसकी दु खप्रधानताका प्रतिपादन करत हैं ।

क्रोधकी दु खप्रधानता—

अभिनव०—[किसी अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे] चिरकाल तक दु खकी [अनुसन्धि अर्थात] प्राप्ति [ही जिसका प्राण है अर्थात् उससे] उत्पन्न होनेसे [उस अनिष्ट] वस्तुके विषयमे [उसके] आत्यन्तिक-नाशकी भावना, और [इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे उत्पन्न क्रोधके स्थलमे क्रोधकी पृष्ठभूमिमे] उस [इष्ट वस्तु] की प्राप्तिको] आकाक्षा प्रबल होनेसे क्रोध, सुख-दु ख दोनोके सम्पर्कसे युक्त [किन्तु दु ख प्रधान] होता है ।

इसमें सबसे पहिले क्रोधकी दु खप्रधानता और सुखानुविद्धताका प्रतिपादन करनेकेलिए मनोवैज्ञानिक आधारपर उसके स्वरूपका निरूपण किया गया है । मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यदि देखा जाय

---

१ दु खायासरूपनिमज्जनानुसन्धाना यदि (नापि) । २ सुख सञ्चिकीर्षात्मना ।
३ विषयगतामन्तिकानाम् । ४. भावचाकांक्षा ।

तो क्रोधके प्राय दो कारण होते हैं। कभी तो किसी अनिष्ट वस्तुके निर नर सम्पक होनके कारण क्रोधकी उत्पत्ति होती है और कभी किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिकेलिए चिरकाल तक प्रयत्न करन पर भी उसके प्राप्त न होनेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। चिरकाल तक अनिष्ट वस्तुके सम्पकसे दु खका अनुभव होनेपर क्रोधमें उस वस्तुके अत्य त नष्ट कर देनेकी भावना उत्पन्न होती है। यही भावना क्रोधका प्राणभूत है। इसलिए क्रोधको दु खात्मक कहा गया है। इसके विपरीत जहा इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके कारण क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ मनमे उस वस्तुकी प्राप्तिकी आकाक्षा क्रोधकी पृष्ठभूमिमें अवश्य रहती है। इसलिए क्रोधमें सुखका अनुवेध माना गया है। इसी लिए अभिनव गुप्तने सुखदु खानुवेधवान् क्रोध' लिख कर क्रोधमे सुख दु ख दोनोका सम्मिश्रण माना है। पर तु उसमें प्रधानता दु खकी ही रहती है।

पाठसमीक्षा—क्रोध निरूपण विषयक इस अनुच्छेदका पाठ जिस रूपमे प्रथम-सस्करण मे छपा है वह बडा अस्पष्ट और अशुद्ध जान पडता है। 'विषयगतामर्तिकाना भावनाकाक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ वहाँ दिया गया है। पर तु इससे कोई अथ समझमे नही आता है। 'विषयगता मन्तिकाना' इसकी कोई सङ्गति नही लगती है। द्वितीय सस्करणमें उसके साथ कोष्ठमे आत्यतिक नाश' पाठ सुझाया गया है। वह अधिक अच्छा प्रतीत होता है। उसकी सङ्गति लग जाती है। जिस वस्तुस चिरकाल तक दु खका अनुभव होता है। उसके कारण उत्पन्न होने वाले क्रोधमें उस अनिष्ट वस्तुके आत्यतिक नाशकी भावना होना स्वाभाविक ही है। यह बात 'विषयगतात्यतिक नाशभावना इस पाठसे तो निकल सकती है पर विषयगतामर्तिकाना इस पाठसे नही निकल सकती है। इसलिए हमने यहा विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' यह पाठ ही उचित माना है।

पाठसमीक्षा—पर तु केवल इतने अशमे पाठके सशोधनसे भी काम नही बनता है। जसा कि हम पहिले कह चुके हैं अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिके कारण जहा क्रोध उत्पन्न हाता है वहाँ इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति भी क्रोधका कारण होती है। अनिष्ट वस्तुके सम्पकसे ज य क्रोधमे उसके आत्यतिकनाशकी भावना रहती है तो इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे जन्य क्रोधमें उसकी प्राप्तिकी आकाक्षा भी रहती है। इसी आकाक्षाको ग्र थकारने अगले 'आकाक्षा' पदसे सूचित किया है। पर तु पूव सस्करणोके पाठमें भावनाकाक्षाप्राणतया' यह जो पाठ दिया गया है उससे अथ स्पष्ट नही होता है। उसमें बीचमे तत' शब्द यदि और जोड दिया जाय तो अथ अथ स्पष्ट हो जाता है। वह किसी कारणसे छूट गया जान पडता है। इसलिए हमने उसको यथा स्थान समाविष्ट करके 'विषयगतात्यतिकनाशभावना तदाकाक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है।

भयकी दु खप्रधानता—

क्रोधको 'चिरकालदु खानुसङ्गिप्राण' कहा था, भयको निरनुसधि तात्कालिकदु खप्राण' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु या व्यक्तिसे चिरकाल तक या बार बार दु ख प्राप्त होनेपर उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। पर तु भयकी उत्पत्तिकेलिए पूव कालिक दु खानुभूतिकी नही, कि तु तात्कालिक दु खकी सम्भावनामात्र अपेक्षित होती है। इसलिए जहा क्रोधको 'चिरकालदु खानुसधिप्राण' कहा है वहा भयको 'निरनुसधितात्कालिकदु खप्राण' कहा गया है। दूसरी बात यह है कि क्रोधमें, क्रोधके कारणके आत्यन्तिकनाशकी भावना प्रधान होती है। कि तु भयमे, भयके कारणकी पहुँचसे बाहर निकल जानेकी आकाक्षा प्रधान होती है। भय और क्रोधके इस भेदको ग्र थकारने क्रोधके निरूपणमें विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' पदसे और भयमें 'तदपगमाकाक्षा' शब्दोसे व्यक्त किया है। 'तदपगमाकाक्षा' के भीतर ही भयके सुखानुवेध का रहस्य समाविष्ट हो गया है। भय कारणकी पहुँचसे बाहर निकल जानेपर मनुष्य सुखकी

निरनुसन्धितात्कालिकदु खप्राणतया तदपगमाकाङ्क्षोत्प्रेक्षितसुखानसम्भि न भयम् ।

द्वैकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशज प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्ध सवथव दु खरूप शोक ।

[1]उत्पाद्यमानदु खानुसन्धानजीवितविषयात पलायनपरायणरूपा निषिध्यमान-शङ्कित सुखानुविद्धा जुगुप्सा ।

सास लेता है। इसलिए तात्कालिक दु खकी प्रधानता होते हुए भी उत्प्रेक्षित सुखके सम्पकके कारण भयको सुखसम्भिन्न बतलाया गया है। इस प्रकार मनावैज्ञानिक ढगसे भय और क्रोधके स्वरूपका निरूपण करते समय ग्र थकारन बड सु दर रूपमे उन दोनोके भेदको प्रदर्शित कर दिया है। क्रोधका स्वरूप पहिले दिखलाया जा चुका है। भयका स्वरूप अगली पक्तिमे दिखलाते हैं—

अभिनव०—वास्तविक रूपमे दु खकी प्राप्तिके बिना [अर्थात् वास्तविक अनिष्ट प्राप्तिके पूव ही] तात्कालिक दु ख की सम्भावनामात्रसे उत्पन्न होनेके कारण ['निरनुसन्धितात्कालिकदु खप्राणतया' प्रधान रूपसे दु खात्मक, किन्तु साथ ही] उससे बच निकलनेकी आकाक्षासे [अर्थात आकाक्षाके कारण] उप्रेक्षित सुखसे मिश्रित [अत एव सुख दु खात्मक उभयरूप] 'भय' [की मनोवृत्ति होती] है।

शोककी दु खप्रधानता—

इस प्रकार क्रोध तथा भय इन दोनोकी दु खप्रधानता एव उभयरूपताका प्रतिपादन करके अब तीसरे दु खप्रधान दु खप्रधानताका निरूपण करते हैं। अभीष्ट विषयके नाशसे शोककी उत्पत्ति होती है। और उस शोकके आवेगमे मनुष्य उस अभीष्ट विषयके सम्पक के कारण प्राप्त होने वाले सुखोको ही विविध रूपमे स्मरण कर दु खी होता है। अभीष्ट विषयका नाश ता दु खात्मक होता ही है पर तु उसके साथ पूर्वानुभूत सुखकी जो स्मृति होती है वह भी दु खात्मक ही होती है। इसलिए इसमे दोहरी दु खरूपता आ जाती है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसे द्वकालिक अर्थात दाहरा दु खरूप' हानेसे सवथा दु खरूप ही माना है। कोध और भयमे दु खकी प्रधानता होते हुए भी उत्तरकालिक सुखकी सम्भावनासे दु खके साथ सुखका सम्मिश्रण माना गया है। कि तु शोकमे अभीष्ट विषयका सवथा नाश हो चुकनेसे औत्तरकालिक सुखकी सम्भावना भी नही रहती है और पूवकालिक सुखकी स्मृति भी दु खरूप होती है अत शोकमे दोहरी दु ख रूपता आ जाती है। इसलिए वह सवथा दु खरूप ही होता है इस बातको ग्र थकार अगली पक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—अभीष्ट विषयके नाशसे उत्पन्न और पूवकालके सुखस्मरणसे अनुविद्ध [होनेसे द्वैकालिक अर्थात्] दोहरा [दु खरूप होनेके कारण] सवथा ही दु ख रूप [मनोवृत्तिका नाम] 'शोक' होता है।

जुगुप्साकी दु खप्रधानता—

अभिनव०—उत्पाद्यमान दु खका अनुसधान ही जिसका जीवित प्राण है इस प्रकारकी और घृणाके जनक अरुचिकर विषयोसे विमुख कराने वाली [पलायनपरायणरूपा तथा निवृत्ति रूप] होनेसे शङ्कित अर्थात् कल्पित सुखसे गौण रूपसे अनुविद्ध [मनोवृत्ति] 'जुगुप्सा' [कहलाती] है।

---

१ समस्तम (त) त्पूव दु ख सञ्चय स्मरणप्रणित (तोऽ) सम्भावित।

क्रोध, भय और शोकके समान जुगुप्सा या घृणा भी दुःखप्रधान मनोवृत्ति है। इसलिए रौद्र, भयानक तथा करुणरसोके समान जुगुप्सा स्थायिभाव वाले बीभत्सरसको भी दुःखप्रधानरस माना गया है। किसी अरुचिकर अप्रिय विषयके स्थूल रूपसे अथवा सूक्ष्म मानसिक रूपसे उपस्थित होने वाले दुःखसे अपनेको बचानेके लिए मनुष्यको अपनी इन्द्रियों या मनके व्यापारको उस ओर से हटानेकी प्रेरणा देने वाली जो मनोवृत्ति है उसको घृणा या 'जुगुप्सा' कहते हैं। घृणा क्रोधसे भिन्न है। क्रोधमें मनुष्य क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारणके नाशका यत्न करता है पर घृणामें मनुष्य केवल अपनेको घृणाके विषयसे बचानेका यत्न करता है। क्रोध प्रवृत्ति जनक होता है घृणा निवृत्ति रूप। क्रोधमें मनुष्य क्रोधके कारणकी ओर उसके नाश करनेकेलिए अग्रसर होता है। घृणामें मनुष्य घृणाके कारणसे दूर भागता है। इसलिए घृणाको 'विषयात् पलायनपरायणरूपा' कहा गया है। पलायनात्मक मनोवृत्तिमें दुःखकी प्रधानता आवश्यक है। 'प्रतिकूलवेदनीय दुःखम्'। 'अनुकूलवेदनीय सुखम्'। ये सुख और दुःखके लक्षण किए गए हैं। प्रतिकूल पदार्थसे ही पलायन होता है अनुकूलसे नहीं। इसलिए पलायनात्मिका या निवृत्तिप्रधाना जुगुप्साका जीवनदायक तत्त्व 'उत्पाद्यमान दुःख' है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसे 'उत्पाद्यमानदुःखानुसंधानजीविता' कहा है। उत्पाद्यमान दुःखकी सम्भावनासे ही मनुष्य अरुचिकर विषयसे विमुख होता है। इसलिए उत्पाद्यमान दुःखका अनुसंधान या सम्भावना ही घृणा या जुगुप्साकी जननी या जीवित स्वरूप है। निवृत्तिरूपा जुगुप्साके द्वारा मनुष्य अपनेको उद्वेग जनक अरुचिकर विषयोंसे बचाकर एक प्रकारके संतोष या सुखका अनुभव करता है परन्तु यह सुख, वास्तविक सुख नहीं अपितु शङ्कित या कल्पित सुखमात्र है। सुख भावभूत पदार्थ है। निवृत्ति अभाव रूप। इसलिए निवृत्ति सुखरूप नहीं है। केवल शङ्कित सुख या कल्पित सुख कहा जा सकता है। इसलिए ग्रन्थकारने जुगुप्साको 'निषिध्यमानशङ्कितसुखानुविद्धा' कहा है। निषिध्यमान अर्थात् निवृत्तिप्रधान होनेसे 'जुगुप्सा' शङ्कित सुखानुविद्धा होती है यह उनका अभिप्राय है। इस सुखानुविद्ध दुःखप्रधान 'जुगुप्सा' का निरूपण ग्रन्थकारने ऊपरके अनुच्छेदमें किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसंधानजीवितविषयात्पलायनपरायणरूपानिषिध्यमानशंकितसुखानुविद्धा जुगुप्सा' इस रूपमें छपा है। परन्तु वह पाठ अशुद्ध है। पहिली बात तो यह है कि ग्रन्थकार जुगुप्साको दुःख प्रधान और सुखानुविद्ध मनोवृत्ति मानते हैं। इसलिए पाठमें एक जगह दुःख पदका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। पूर्व संस्करणोके पाठमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसंधान' और 'शङ्कितसुखानुविद्धा' दोनों जगह सुख शब्दका प्रयोग किया गया है। यह उचित नहीं है। पहिली जगह 'सुख' के स्थान पर 'दुःख' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। उसके बिना ग्रन्थकारका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता है। इसलिए हमने 'सुख'के स्थानपर यह 'दुःख' पदका प्रयोग करके ही संशोधित पाठ दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी बात यह है कि पूर्व पाठमें 'जीवितविषयात्' इस प्रकार 'जीवित' पदको 'विषयात्' के साथ जोड़ कर समस्त पदके रूपमें छापा गया है। यह भी ठीक नहीं है। 'जीवित' पदका सम्बन्ध उत्तरपदके साथ नहीं अपितु पूर्वपदके साथ है। 'उत्पाद्यमानदुःखानुसंधान-जीविता' यह जुगुप्साके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाला मुख्यपद या 'स्वरूप लक्षण' है। उसको अलग होना चाहिए। 'विषयात् पलायनपरायणरूपा' यह उसका दूसरा विशेषण या 'तटस्थ लक्षण' है, उसको अलग होना चाहिए। इसलिए हमने इन दोनों विशेषणोंको अलग करके ही संशोधित रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है। इन दोनोंमें प्रथम पदके द्वारा जुगुप्साका 'स्वरूप लक्षण' और दूसरे पद द्वारा 'तटस्थ-लक्षण' दिखलाया गया है अतः दोनोंको अलग अलग देना ही आवश्यक है।

समस्तपूर्वदुःख सञ्चयस्मरणप्राणित सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेद ।

निर्वेदकी सर्वथा सुखरूपता —

ऊपर अभिनवगुप्तने रति उत्साह हास्य और विस्मय इन चार स्थायिभावोको सुख प्रधान और दुःखानुविद्ध माना है। क्रोध भय और शोक और जुगुप्साको दुःखप्रधान और अशत सुखानुविद्ध माना है। इनमें भी शोकको सर्वथा दुःखरूप ही बतलाया है। इस प्रकार आठ स्थायिभावोके उभयात्मक स्वरूपका निरूपण अब तक कर चुके हैं। अब निर्वेदका निरूपण आगे करते हैं। निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है। अभिनवगुप्त शान्तरसको सबसे प्रधान और नितान्त सुख स्वरूप रस मानते हैं। इसी दृष्टिसे वे आगे निर्वेदका लक्षण करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—[पूर्वानुभूत] समस्त दुःख सञ्चयके स्मरणसे उत्पन्न [अनुप्राणित] और [निर्वेद या वैराग्य द्वारा] उसके सम्भावित नाशके कारण अत्यन्त सुखमय [मनोवृत्तिका नाम] 'निर्वेद' है।

न्यायदर्शनमें 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' दुःखसे अत्यन्त विमुक्तिको ही अपवर्ग या मोक्ष कहा गया है। उसकी प्राप्ति निर्वेद और तज्जन्य तत्त्वज्ञानसे होती है। इसलिए यहा दुःख सञ्चयकी स्मृतिसे उत्पन्न होनेपर भी दुःखसे अत्यन्त निवृत्ति करानेवाले निर्वेदको अत्यन्त सुखमय कहा गया है।

रसोकी सुख दुःखरूपता—

यहा अभिनवगुप्तने यह जो सब विवेचन किया है उसमे दो तीन बडी महत्त्वपूर्ण एव विचारणीय बात कही है। उनमें से पहिली बात तो यह है कि नाट्य रसोको उन्होने केवल सुखात्मक न मान कर सुख दुःख उभयात्मक माना है। इसी आधारपर उन्होने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोको सुखप्रधान, तथा रौद्र, भयानक, करुण एव बीभत्स इन चार रसोको दुःखप्रधान रस माना है। सुखात्मक रसोमें गौण रूपसे दुःखका, और दुःखात्मक रसोमे गौण रूपसे सुखका सम्बन्ध भी रहता है। यह उनका सिद्धान्त है। परन्तु उत्तरवर्ती कुछ आचार्य रसोको केवल सुखात्मक मानते हैं। उनके मतमे रसानुभूतिमे दुःखका लेशमात्र भी सम्पर्क नही होता है। इसीलिए रसास्वादको 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है।

अभिनवगुप्तके मतमे करुण रसकी दुःखरूपता—

इस विवेचनमें अभिनवगुप्तने जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कही वह है करुणरसकी अत्यन्त दुःखरूपता। यो तो उन्होने रौद्र भयानक, बीभत्स आदि जो दुःखप्रधान रस माने हैं उनमें करुणका भी समावेश किया है। परन्तु करुणरसकी दुःखरूपता उन सबसे अधिक और सबसे भिन्न प्रकारकी मानी है। उसके विवेचनमें उन्होने जो 'त्रैकालिक' तथा 'सर्वथैव दुःखरूप शोक' ये शब्द लिखे हैं उनसे करुणरसकी नितान्त दुःखरूपता प्रतीत होती है।

धनिक सुखात्मतावादी मत—

इसके विपरीत उत्तरवर्ती आचार्योंने करुणरसकी नितान्त सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। दशरूपकके टीकाकार धनिकने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है कि—

ननु च युक्त शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति। करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथा हि तत्र करुणात्मक काव्य श्रवणात् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते।[1]

१ दशरूपक वाराणसी सस्करण पृ० २४६।

यह पूर्व पक्ष दिया है। इसका भाव यह है कि आनन्द प्रधान शृङ्गारादि रसोमें काव्यार्थके परिशीलनसे आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है यह तो ठीक हो सकता है। किन्तु करुणके तो दुःखात्मक होनेसे उससे आनन्दकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? करुण रसके काव्योके सुनने पर सहृदयोके हृदयमे भी दुःखका आविर्भाव तथा उसके कारण अश्रुपातादि देखे जाते है। करुण रसके आनन्दात्मक होनेपर तो यह बात नही बन सकती है। इसलिए करुणरस आनन्दात्मक नही अपितु दुःखात्मक रस ही है। यह पूर्व पक्ष उठाकर इसका समाधान करनेकेलिए धनिकने अगला अनुच्छेद इस प्रकार लिखा है कि—

[1]सत्यमेतत। किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्। अन्यश्च लौकिकात करुणात काव्यकरुण। तथा ह्यत्रोत्तरा रसिकाना प्रवृत्तय। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत। तत करुणकरसाना रामायणादीना महाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत। अश्रुपातादयश्च इतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणा प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्मात् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यके करुण रसका आनन्द सम्भोग कालीन प्रहरणके आनन्दके समान दुःख मिश्रित होनेपर भी नितान्त आनन्दमय ही है। और काव्यका करुणरस लौकिक करुणसे भिन्न प्रकारका होता है। इसीलिए उसमें सहृदय लोगोकी विशेष रूपसे प्रवृत्ति होती है। यदि काव्यका करुण रस भी लौकिक करुणके समान दुःखात्मक ही हो तो उस काव्यके करुणरसके आस्वादनमें कोई भी प्रवृत्त नही होगा और करुणरस प्रधान रामायणादि महाकाव्योका सर्वथा लोप ही हो जायगा। इसलिए काव्यके करुणरसको लौकिक करुणके समान दुःख प्रधान नही मानना चाहिए। रही अश्रुपातादिकी बात सो वे तो इतिवृत्तको सुन कर लौकिक वैक्लव्यके समान काव्यमे भी वैकल्य उत्पन्न होनेसे गिरते हैं, उनमें कोई दोष नही है। इसलिए काव्यका करुणरस आनन्दात्मक ही है। यह धनिकका अभिप्राय है।

विश्वनाथका सुखात्मतावादी मत—

इसी आधारपर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी करुणरसकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

> [2]करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
> सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
> किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
> तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥

अर्थात करुण आदि रसोमें भी परम सुखकी प्राप्ति होती है इस विषयमे केवल सहृदयोका अनुभव ही प्रमाण है। और यदि उनमें दुःखका अनुभव हो तो कोई भी उसकी ओर प्रवृत्त नही होगा तथा रामायण आदि महाकाव्य दुःखके कारण बन जावेगे। यह सब मानना उचित नही है। इसलिए सहृदयोके अनुभवके आधारपर करुणरसको आनन्दात्मक रस ही मानना चाहिए।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि करुणरसको सुखमय माना जाय तो यह बतलाना होगा कि सीता वनवासादि रूप दुःखके कारणोसे सुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

---

१ दशरूपक वाराणसी संस्करण पृ० २४९। २ साहित्यदर्पण ३, का० ४।

और सुखमे अश्रुपातादि क्यो देखे जाते हैं। इनका उत्तर करनेके लिए विश्वनाथने अगली कारिकाए और लिखी हं—

> 'हेतुत्व हर्षशोकादेगतेभ्यो लोकसश्रयात्।
> शोकहर्षादयो लोके जायन्ता नाम लौकिका ॥
> अलौकिकविभावत्व गतेभ्यो काव्यसश्रयात्।
> सुख सञ्जायते तेभ्य सर्वेभ्योऽपीति का क्षति ॥

अर्थात लोकमें सीता वनवासादिको दु खका कारण माना जाता है इसलिए उनसे लौकिक दु ख भले ही उत्पन्न हो। परन्तु काव्यमे तो वे लौकिक कारण न रह कर अलौकिक विभाव पद वाच्य हो जाते है इसलिए उनसे सुखकी उत्पत्ति माननेमे क्या हानि है? अर्थात् कोई हानि नहीं है। करुणरसमें जो अश्रुपातादि होता है उसके विषयमें विश्वनाथने लिखा है—

> [2]अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मता ।

अर्थात् इतिवत्तको देखकर चित्तमे द्रवीभाव रूप वैकल्य उत्पन्न हो जानेके कारण अश्रुपातादि होने लगते हैं। चित्तका उस प्रकारका द्रवीभाव आनन्दातिरेकमें भी हो जाता है इसलिए अत्यधिक आनन्द होनेपर भी अश्रुपातादि होने लगता है। अत एव अश्रुपातादिके आधार पर करुणरसको दु खात्मक नही मानना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरवर्ती धनिक विश्वनाथादि अनेक आचार्योंने बडे सरम्भकेसाथ करुणरसकी सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। परन्तु अभिनवगुप्तने बडे असन्दिग्ध रूपसे 'सर्वथैव दु खरूपः शोक' लिख कर करुणरसकी दु खरूपताका प्रतिपादन किया है। रसोके विकास की दृष्टिसे यह अन्तर बहुत महत्वपूर्ण अन्तरहै।

रामचन्द्र गुणचन्द्रका विभज्यवादी तीसरा मत—

रसोके स्वरूपके विषयमें ऊपर हमने दो प्रकारके मत दिए हैं इनमेंसे धनिक तथा विश्वनाथ आदि कुछ आचाय सभी रसोको एकान्त सुखरूप मानते हैं। अभिनवगुप्त शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत चार रसोको सुखप्रधान, तथा रौद्र, भयानक, करुण एव वीभत्स चार रसोको दु खप्रधान रस मानते हैं। इनमेसे भी करुणरसको वे प्राय सबथा दु खरूप ही मानते है। इन सबमें जो रस सुखप्रधान हं उनके साथ दु खका और जो रस दु खप्रधान हैं उनके साथ सुखका भी आशिक समावेश रहता है। इसलिए ये सभी रस अभिनवगुप्तके मतमे उभयात्मक रस हं। केवल शान्तरसको वे एकान्त सुखात्मक रस मानते हं। अन्य सभी रस उनके मतमें उभयात्मक रस हैं।

किन्तु नाटचदपणके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्रका मत इन दोनो मतोसे भिन्न 'मुरारे स्तृतीय पन्था' है। उसे हम विभज्यवादी' मत कह सकते हैं। वे कुछ रसोको केवल सुखात्मक और कुछ रसोको केवल दु खात्मक रस मानते हैं। अभिनवगुप्तके समान सबको उभयात्मक नही मानते हैं। इसलिए हम उनको 'विभज्यवादी' कह सकते हैं। नाटचदपणके तृतीय विवेकमे १०९वी कारिका की व्याख्यामें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए उन्होने लिखा है कि—

'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तय शृङ्गार हास्य वीर अद्भुत शान्ता पञ्च सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मान करुण रौद्र वीभत्स भयानकाश्चत्वारो दु खात्मान ।'

[1] साहित्य दपण ३, का० ६-७। [2] साहित्य दपण ३, का० ८।

अर्थात इष्ट विभावादिसे उत्प न होनके कारण शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शा त ये पाच रस निता त सुखस्वरूप होते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट विभावादिसे उत्प न होनके कारण करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस निता त दु खरूप होते हैं।

इस प्रकार रसाका दो अलग अलग वर्गोमें विभाग कर देनेके कारण इनके मतको 'विभज्यवादी मत कहा जा सकता है। जो लोग सभी रसोको निता त सुखस्वरूप मानते है उनके मतका खण्डन करते हुए वे आगे लिखते हैं कि—

"[1]यत् पुन सवरसाना सुखात्मकत्वमुच्यते तत प्रतीतिबाधितम्। आस्ता नाम मुख्यविभावोपचित काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्स करुणो रौद्रो वा रसास्वादवता अनाख्येया कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाज। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।'

अर्थात जो लोग सब रसोको निता त सुखात्मक मानते है उनका वह मत प्रतीतिसे बाधित हो जाता है। मुख्य सिंह व्याघ्रादि विभावोसे उत्प न भयानक आदिकी बात तो जाने दीजिए वे तो निश्चित रूपसे क्लेशदायक दु खात्मक होते ही हैं, कि तु काव्यके अभिनयमें प्राप्त विभावो से उत्प न भी भयानक बीभत्स करुण या रौद्र रस, उस रसके आस्वादन करने वालोमें किसी अनिवचनीय क्लेश दशाको उत्प न कर देते हैं। इसीलिए भयानक आदि रसोसे [देखने वाला] समाज घबडाता है। यदि वे भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग नहीं होना चाहिए था क्योकि सुखके आस्वादनसे उद्वग नही होता है। इसलिए भयानक आदि रस दु खात्मक ही है सुखात्मक नही।

इन भयानक आदि रसोके अभिनयमें जो चमत्कार प्रतीत होता है वह केवल कवि और नटके कौशलके कारण ही प्रतीत होता है इस बातका उपपादन करते हुए वे आगे फिर लिखते हैं कि—

"[2]यत पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि नटशक्तिकौशलेन। विस्मय ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वरिणा शौण्डीरमानिन। अननव च सर्वाङ्गाल्हादकेन कविनटशक्तिज मना चमत्कारेण विप्रलब्धा परमान दरूपता दु खात्म केष्वापि करुणादिषु सुमेधस प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवत ते। कवयस्तु सुखदु खात्मकससारानुरूप्येण रामादिचरित निबध्न त सुखादु खात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुयमिव च तीक्ष्णास्वादेन दु खास्वादेन सुतरा सुखानि स्वद ते, इति'।

[3]अपि च सीताया हरण द्रौपद्या कचाम्बराकषण हरिश्च द्रस्य चाण्डालदास्य रोहिताश्वस्य मरण, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदन, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमान पश्यता सहृदयाना को नाम सुखास्वाद। तथानुकायगताश्च करुणादय परिदेवितानुकारित्वात् तावद् दु खात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मान स्यु, न सम्यगनुकरण स्यात् विपरीतत्वेन भासनादिति।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'जो इन भयानक आदि दु खात्मक रसोमें भी चमत्कारका अनुभव होता है वह रसास्वादके समाप्त होनेपर वास्तविक वस्तुके स्वरूपको प्रदर्शित करने वाले कवि तथा नटकी शक्तिके कौशलके कारण प्रतीत होता है। अर्थात अभिनयकालमे नटकी शक्ति कौशलके कारण विशेष प्रकारका चमत्कार अनुभव होता है। बादमें वह नही रहता है। जैसे किसी का सिर काट डालने वाले वैरीके प्रहार कौशलको देख कर भी वीरोको विस्मय होता ही है।

१-३ नाटयदपण बडोदा सस्करण पृ० १५६।

इसी प्रकार इन भयानक आदि रसोके विभाव अनुभाव आदिके दर्शनसे भी विस्मय आदि उत्पन्न हो सकते हैं। और सब अङ्गोको आह्लादित कर देने वाले कवि तथा नटकी शक्तिसे उत्पन्न इसी चमत्कारसे धोखेमे पड कर करुण आदि दु खात्मक रसोको भी सहृदय लोग सुखात्मक मानने लगते हैं। कवि लोग तो सुख दु खात्मक ससारके अनुरूप रामादिके चरितको सुख दु खात्मक रूपमें ही प्रस्तुत करते हैं। केवल सुखात्मक रूपमें नही। इसलिए काव्य नाटकमें करुण आदि रसोको दु खात्मक ही मानना चाहिए'।

यहा यह शङ्का हो सकती है कि— दु खात्मक करुण आदि रसोमें सहृदयोको सुखानुभूति क्यो होती है और उसमे उनकी प्रवृत्ति किस कारण होती है? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि— 'जैसे ठण्डाई आदिके पीते समय दु खदायी मिर्चका तीक्ष्णरसास्वाद भी पानकके माधुर्यमें विशेषता उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार दु खात्मक करुणादि रसोमे आनन्दका अनुभव होता है। परन्तु वे वास्तवमें सुखरूप नही हैं। क्योकि सीताके हरण, द्रौपदीके केशादिके खींचे जाने, हरिश्चन्द्रके चाण्डालके दास बनने, रोहिताश्वके मरण, लक्ष्मणके शक्ति भेदन और मालतीके व्यापादनके आरम्भ आदिको देख कर सहृदयोको वास्तविक सुख कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि अनुकार्य रामादिमे करुण आदि, वास्तविक दु खके कारण ही थे। यदि अभिनयमे वे सुखात्मक माने जाय तो वह अभिनय यथार्थ अभिनय नही होगा इसलिए करुण आदिको सुखात्मक मानना उचित नही है। वे सर्वथा दु खात्मक ही है यह नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्रका अभिमत सिद्धान्त है।

इस प्रकार रसोके स्वरूपके विषयमे तीन प्रकारके सिद्धान्त पाए जाते हैं—

१ अभिनवगुप्तका—प्राय सब रसोकी उभयरूपताका सिद्धान्त।

२ धनिक विश्वनाथ आदिका—समस्त रसोकी नितान्त सुखरूपताका सिद्धान्त।

३ रामचन्द्र गुणचन्द्रका—पाँच रसोकी सुखरूपता और चार रसोकी दुखरूपताका विभज्यवादी सिद्धान्त।

शान्तरसकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके इस विवेचनमें इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तीसरा सिद्धान्त शान्तरस की स्थिति विषयक सिद्धान्त है। अभिनवगुप्तने यहाँ 'समस्त पूर्वदु खसञ्चयस्मरणप्राणित सम्भाविततदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेद' लिख कर अन्य रसोके समान नाट्यमें शान्तरसकी भी स्थितिका प्रतिपादन किया है। इसके पूर्व भी वे शान्त रसकी स्थितिका प्रतिपादन कर चुके हैं। और आगे छठे अध्यायमें तो अत्यन्त विस्तारके साथ वे शान्तरसकी विवेचना करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि वे शान्तरस को न केवल नाट्यरस अपितु रसराज सर्वोत्तम रस माननेके पक्षपाती हैं। किन्तु जैसे करुणरसकी दु खरूपताके उनके सिद्धान्तको उत्तरवर्ती आचार्योंने स्वीकार नही किया इसी प्रकार उनके शान्तरस विषयक सिद्धान्तके सम्बन्धमे भी उत्तरवर्ती आचार्योंका उनके साथ मतभेद रहा है। दशरूपककार धनञ्जय तथा उनके टीकाकार धनिक दोनोने नाट्यमे शान्तरस के माननेका एक दम बहिष्कार कर दिया है। धनञ्जयने अपने दशरूपक मे लिखा है—

'शममपि केचित् प्राहु पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता॥

१ दशरूपक ४,३५-३६।

एव व्यभिचारिप्रभृतिष्वपि वाच्यम ।

[1]सवित्स्वभावा सुखादय इति दशनेन तत्स्वभावा, अन्यत्र तु तद्वेदनविषयत्वमेव तेषा मन्तव्यम् ।

अर्थात रति उत्साह जुगुप्सा क्रोध हास, विस्मय भय और शोक ये आठ स्थायिभाव होते हैं। [अभिनवगुप्तादि] कोई शम' को भी स्थायिभाव मानते हैं कि तु नाटचमे उसकी पुष्टि नही हो सकती है। और स्थायिभावका जो लक्षण किया गया है वह भी निर्वेदमे नही घटता है इसलिए वह स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव है। उसका रस रूपमे आस्वादन नही हो सकता है। अत एव नौ नही किन्तु केवल आठ ही स्थायिभाव हैं।

इस प्रकार धनञ्जयने 'शम के स्थायिभावत्वका खण्डन करनेका यत्न किया है उनके टीकाकारने तो और भी अधिक विस्तारके साथ उनका खण्डन किया है। पर तु अभिनवगुप्त स्पष्ट रूपसे नाट्यमें उसकी सत्ताको मानते हैं। रसोके इतिहासमे यह मतभेद भी अत्य त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हमने यहाँ उसका सङ्केत कर दिया है। इसकी विशेष विवेचना छठे अध्यायमे होगी।

पिछले प्रकरणमें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था रत्यादि स्थायिभाव केवल सुखरूप अथवा केवल दु खरूप नही होते हैं अपितु सुख दु ख उभयात्मक होते हैं। उनमेसे कुछमे सुखकी प्रधानताकेसाथ दु खका अनुवेध रहता है और कुछमे दु खकी प्रधानताके साथ सुखका सम्पर्क रहता है। इसके अतिरिक्त आगे यह भी कहेगे कि वे लिङ्ग या सङ्केतादि रूप नही है। अर्थात अनुमान या शब्द आदिसे उनका बोध नही होता है अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही गहीत होत हैं। अगली पक्तिमें ग्र थकार यह कह रहे हैं कि यह नियम केवल स्थायिभावोके विषयमें ही नही है अपितु व्यभिचारिभाव आदिके विषयमें भी यही नियम लागू होता है। अर्थात् उनका भी सुखप्रधान एव दु ख प्रधान रूपमें द्विविध विभाग करना चाहिए। और उनको भी लिङ्ग या सङ्केत अर्थात अनुमान या शब्द प्रमाणका विषय न मानकर प्रत्यक्ष कल्प ही मानना चाहिए।

अभिनव०—इसी प्रकार व्यभिचारिभाव आदिमे भी [सुख प्रधान एव दु ख-प्रधान रूपसे द्विविध विभाग] करना चाहिए।

पीछे पृष्ठ १६८ पर हम विज्ञानवादी बौद्धोके योगाचार सम्प्रदायके सिद्धा तकी चर्चा कर चुके हैं। विज्ञानवादियोके अनुसार वाह्य घट पटादि अर्थोंका स्वत त्ररूपसे काई अस्तित्व नही है। वे केवल ज्ञानके आकारमात्र हैं। जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका अस्तित्व न होते हुए भी केवल ज्ञान ही नाना आकारोमें भासता और समस्त व्यवहारका निर्वाह करता है इसी प्रकार जाग्रत कालमे भी विज्ञान ही नानारूपमें भासता है। इसके विपरीत नयायिक आदि अ य दाशनिक ज्ञानसे भिन्न पदार्थोंका स्वत त्र अस्तित्व मानते हैं। और उनको ज्ञानका विषय मानते हैं। इ ही दोनो सिद्धा तोको ग्रन्थकार अगली पक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—सुखादि [समस्त वाह्य पदार्थ] विज्ञानरूप ही हैं इस दशन [अर्थात् बौद्ध सिद्धान्त] के अनुसार [रत्यादि स्थायिभाव भी] उसी प्रकारके [अर्थात् विज्ञान रूप] है। और अन्य [नैयायिक आदिके] मतोमे तो उन [सुखादि] को उस [ज्ञान] का विषय ही समझना चाहिए।

---

१ सवित्स्वभावा सुखादय इति च दशने न तत्स्वभावत्वम्। अ येत्वत्र (अ यै स्त्वत्र) तद्वेदन रूपत्वमेव तेषा म तव्यम्।

पाठसमीक्षा—यह अनुच्छेद केवल एक पक्तिका है कि तु इसका पाठ पूव सस्करणोमें बडा अशुद्ध छपा है। प्रथम सस्करणमें पाठ निम्न प्रकार दिया गया था—'सवित्स्वभावा सुखादय इति च दशने न तत्स्वभावात् अ ये त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेषा म तव्यम्।' द्वितीय सस्करणमे इसको सशोधित कर निम्न प्रकार पाठ रखा गया है—'सवित्स्वभावा सुखादय इति च दशने न तत्स्वभावत्वम्। अ येस्त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेषा म त यम्।' कि तु ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। ग थकार यहा कह रहे हैं कि रसोके विषयमें जिनकी सुख दु खरूपताका प्रतिपादन किया गया है वे रत्यादि विज्ञानवादियोके मतमे केवल विज्ञानस्वरूप हैं नैयायिक आदि अ य दाशनिकोके मतमें उनको विज्ञानस्वरूप न मान कर ज्ञानका विषय माना जाता है। बौद्ध दशन विज्ञानवादी दशन है। वह समस्त विषयोको ज्ञान स्वरूप ही मानता है। ज्ञानसे भिन्न ज्ञानका विषय उनको नही मानता है। कि तु अ य नयायिक आदि दाशनिक घटादिको ज्ञान स्वरूप न मानकर ज्ञानका विषय मानते हैं। इसी दो प्रकारके सिद्धा तकी चर्चा ग थकार यहा रत्यादिके विषयमें कर रहे हैं। पर तु पूव सस्करणोके पाठसे यह अथ प्राप्त नही होता है।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका जो पाठ पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है उससे यह अभिप्राय ठीक तरह से प्रतीत नही होता है। बल्कि उससे उलटा अथ निकलता है। 'इति च दशने न तत्स्वभावात' यह प्रथम सस्करणका पाठ और 'इति च दशने न तत्स्वभावत्वम्' यह द्वितीय सस्करणका पाठ दोनो ही विवक्षित अथसे एक दम विपरीत अथको बोधित करते हैं। इसका कारण 'दशने' के स्थानपर 'दशनेन' पाठ बनाकर फिर उसके 'दशनेन' पदके टुकडे कर डालना है। मूलरूपमें 'दशने' यह शुद्ध पाठ था। कि तु प्रतिलिपिकारोकी कृपासे पहिले दशने' का 'दशनेन' और फिर 'दशने न' पाठ बन गया। इसके कारण वाक्यका अथ भी विधिरूपसे निषेधरूपमे परिणत हो गया। और वह अथका अनथ हो गया। फिर प्रथम सस्करणमें 'तत्स्वभावात्' पाठ दिया था। द्वितीय सस्करणमे उसका सशोधन करके 'तत्स्वभावत्वम्' पाठ दिया गया है। कि तु ये दोनो पाठ भी अशुद्ध हैं। उन दोनोके स्थानपर 'तत्स्वभावा' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिला कर इस वाक्याशका 'सवित्स्वभावा सुखादय इति दशने तत्स्वभावा' यह शुद्ध पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस वाक्यके उत्तरार्द्ध भागका पाठ भी पूववर्ती दोनो सस्करणोमें अत्य त अशुद्ध रूपमे छपा है। प्रथम सस्करणमें—अ ये त्वत्र तदेदनरूपत्व तेषा म त यम्'। इस प्रकारका पाठ छपा था। दूसरे सस्करणमे उसका सशोधन करके—'अ यैस्त्वत्र तद्वेदरूपत्व तेषा म तव्यम्'। इस प्रकारका पाठ छापा गया है। पर तु वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम सस्करणमें जो 'अ येत्वत्र म तव्यम्' पाठ छपा था उसमें इन दोनो पदोकी सङ्गति ठीक नही लगती थी इसलिए द्वितीय सस्करणमे 'अ ये त्वत्र के स्थानपर 'अ यैस्त्वतत्र म तव्यम्' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया गया है। इसमे 'अ ये त्वत्र' की 'म तव्यम्' के साथ सङ्गति लगनेमें जो बाधा थी वह तो 'अन्यस्त्वत्र म तव्यम्' पाठ कर देनेसे दूर हो जाती है। कि तु वास्तवमें इन दोनोमेसे कोई भी पाठ ग थकारके अभिप्रायके अनुकूल पाठ नही है। ग्रन्थकारका अभिप्रेत पाठ यहा 'अ यत्र तु मन्तव्यम्' है। जो लोग सुखादिको सवित्स्वभाव मानते हैं उनके मतमे तो रत्यादि भी 'तत्स्वभाव' अर्थात् सवित्स्वभाव या ज्ञानरूप है और 'अ यत्र तु' अर्थात् अ य मतोमें वे सवित्स्वरूप न होकर सवित्के विषय, ज्ञानके विषय हैं। यह ग थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायकी दृष्टिसे 'अ यत्र तु' यही पाठ ग थकारका अभिमत पाठ हो सकता है। अतः पूववर्ती दोनो सस्करणोका पाठ अशुद्ध है।

एव लौकिका ये सुख-दु खात्मानो भावा , तत्सदृश , तत्सस्कारानुविद्धो नाट्य लक्षणोऽर्थ समुदायरूप । तस्यैव [1]भागोऽभिनय ।

[2]एवमय रत्यादिरूपानुकरणभूतो नाट्यलक्षणोऽर्थ कथ प्रतीतिगोचरी भवतीत्याह अङ्गादीति । [3]अङ्गादिषु येऽभिनया आङ्गिकादय ।

पाठसमीक्षा—यही नही इसी वाक्याशमें इससे भी अधिक भयङ्कर अशुद्धि तद्वेदनरूपत्वमेव' पद मे है । यहा ग्र थकारने दो मत दिखलाए हैं । एक मतमे तो घटादि अर्थ सवित्स्वभावा ' अर्थात् ज्ञानस्वरूप होते हं । और दूसरे मतमे घटादि, ज्ञानरूप न होकर ज्ञानके विषय माने जाते हैं । इनमेसे पहिला मत पहिले वाक्याश द्वारा दिखलाया जा चुका है । दूसरा मत इस वाक्याश द्वारा दिखलाया जा रहा है । इसका अर्थ यह हुआ कि इस वाक्याशमें ग्र थकार सुखादिके ज्ञानरूपत्ववाले पक्षको न दिखलाकर 'ज्ञानविषयत्व' वाले पक्षको दिखला रहे हैं । ऐसी दशामें पूर्व सस्करणोमे जो 'तद्वेदनरूपत्वमेव' यह पाठ छपा है वह अशुद्ध है, यह बात हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाती है । उसके स्थानपर 'तद्वेदनविषयत्वमेव' पाठ हाना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार जो लौकिक सुख दु ख रूप भाव है उनके सदृश, उनके सस्कारोसे अनुप्राणित समुदाय रूप अर्थ नाट्य [कहलाता] है । और अभिनय उसी का भाग है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व सस्करणोमे अशुद्ध छपा था । उनमें 'तस्यैव भागानुसमय ' इस प्रकारका पाठ दिया गया था । परन्तु उसकी कोई सङ्गति नही लगती है । अत 'भागानुसमय ' यह पाठ असङ्गत है । ग्र थकारने पहिले वाक्यमें नाट्यको समुदाय रूप अर्थ कहा था । इस वाक्यमे यह कह रहे हैं कि उसी समुदाय रूप नाट्यका भाग 'अभिनय' कहलाता है । इस अभिप्रायको ध्यान मे रखनेपर उसका निकटतमवर्ती शुद्ध पाठ 'तस्यैव भागोऽभिनय ' हो सकता है । उसकी सङ्गति भी लग जाती है । इसलिए हमने 'तस्यैव भागानुसमय ' के स्थानपर 'तस्यव भागोऽभिनय ' यही पाठ सशोधित रूपमे प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार रत्यादिके रूपका अनुकरण भूत यह नाट्य-रूप अर्थ किस तरह प्रतीतिका विषय बनता है इसको [कारिकाके उत्तरार्द्ध भाग] 'अङ्गाद्यभिनयोपेत ' से कहते है । अङ्गादिमे जो अभिनय अर्थात आङ्गिक आदि [चार प्रकारके जो अभिनय कहे गए है उनसे उपेत अर्थात् युक्त होकर नाट्य प्रतीति गोचर होता है । यह बात ग्र थकार कहना चाहते है । परन्तु वाक्य-रचना बडी अटपटी हो गई है । 'अङ्गाद्यभिनय' पदका तो अर्थ यहाँ कर दिया है, पर उसी समस्त-पद के एक भाग 'उपेत ' का यहाँ सम्बन्ध नही दिखलाया है । उसका सम्बन्ध सात आठ पक्तियो के बाद पृ० २३४ पर 'तैरुपेत ' लिख कर दिखलाया है । बीचमे वे अभिनयके स्वरूप तथा उसके नामकरणका विवेचन करने लगे हे । इसलिए पाठकी सङ्गति दुरूह होगई है । अगली पक्तिमे वे अभिनयके स्वरूप का प्रतिपादन करते है] ।

---

१ तस्यव भागानुसमय । २ एव मया । एव दयारत्यादिरूपानुसरण भूतो (एव भूतो) ।
३ येऽभिनया ।

न च ते लिङ्गसङ्केतादिरूपा, अपितु प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पलौकिकसम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि[4]—विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिनो अत एवाभिमुख्यनयनहेतुत्वादन्य लोकशास्त्राप्रसिद्धेन[5] 'अभिनय'-शब्देन व्यपदेश्या ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। अनुच्छेद के आरम्भमे ही एव मया' यह अशुद्ध पाठ छपा है। द्वितीय सकरणमें उसके स्थान पर 'एव दया' पाठ दिया है। पर वह भी अशुद्ध है। कथ प्रतीतिगोचरी भवतीत्याह' इस अगले विधेयाश या मुख्य वाक्याशके साथ 'एव मया' की कोई सङ्गति नही लगती है। उनके स्थानपर 'एवमय' पाठ होना चाहिए। इस पाठके होने पर 'एवमय कथ प्रतीतिगोचरी भवति' इस वाक्यकी ठीक सङ्गति लग जाती है। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमें मुद्रित पाठके अनुसार इस अनुच्छेदमे मिथ्याज्ञानादि' के बाद 'रूपस्तस्यैव भावा शृङ्गारादयो रत्यादि' इतना पाठ बीचमें एक दम असङ्गत सा आ जाता है। और वह मुरय वाक्यकी रचनाको गडबड कर देता है। मुख्य वाक्यमे ग्रन्थकार अभिनयोका स्वरूप बतला रहे हैं कि वे प्रत्यक्षकल्प और लौकिक सम्यगज्ञान मिथ्याज्ञान आदिसे विलक्षण आस्वा दात्मक प्रतीतिमे उपयोगी होते हैं। इस अथका प्रतिपादन करने वाले' प्रत्यक्षकल्पलौकिकसम्यड मिथ्याज्ञानादि विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिन' इस वाक्यके बीचमे 'रूपतस्यव भावा शृङ्गारा दयो रत्यादि' इतना अधिक पाठ पूव सस्करणोमे छाप दिया गया है वह ठीक नही है। उसके कारण अथसङ्गतिमें बाधा पडती है। अत हमने उसको निकाल दिया है।

अङ्गाद्यभिनयकी दूसरी व्याख्या—

अभिनव०—और वे लिङ्ग [अर्थात अनुमान-ज्ञान या] सङ्केतग्रह [पर आश्रित शब्द ज्ञान] आदि रूप नहीं है [क्योकि अनुमान या शब्द आदि प्रमाणोसे जो ज्ञान होता है वह परोक्षरूप होता है, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है], अपितु [आङ्गिकादि अभिनय] प्रत्यक्ष सदृश एव लौकिक सम्यग् प्रतीति, मिथ्या प्रतीति, आदिसे विलक्षण 'आस्वाद' नामसे कही जाने वाली प्रतीतिमे उपयोगी होते हैं। इसी लिए सम्मुख प्रदर्शित [आभिमुख्य नयन] करनेके साधन होनेके कारण अन्य अर्थात् लोक तथा शास्त्रादिमे अप्रसिद्ध [किन्तु अन्वथक] 'अभिनय' शब्दसे कहे जाते हैं। [उनसे 'उपेत' अर्थात युक्त यह पृ० २३४ पर इसका सम्बन्ध होगा]।

कारिकामे आए हुए 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' शब्दकी व्याख्याके प्रसङ्गमे अङ्गाद्यभिनय शब्दकी एक व्याख्या कर चुकनेके बाद अगले पष्ठपर दी जाने वाली उसकी दूसरी व्याख्यामें अङ्ग शब्दसे 'शाखा नृत्त गीतानि' इन तीनका ग्रहण किया है। इनमें से नृत्त और गीतका अर्थ तो प्रसिद्ध है अत उनके समझनेमें कोई कठिनाई नही होती है। किन्तु 'शाखा' शब्द जिस अथमें लोकमे प्रसिद्ध है उस अथमें उसका प्रयोग नही किया गया है अत वह अथकी प्रतीतिमें एक प्रकार की बाधा सी उपस्थित कर देता है। इस कारण इस शब्दके अथको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। 'शाखा' शब्द यहा नाट्यशास्त्रके एक परिभाषिक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसी अध्यायकी ४४ ४५वी कारिकाकी अभिनवभारतीमे पृ० १२४ पर 'अस्य शाखा च नृत्त च' आदि ना०शा० ८ १५ श्लोकाधको उद्धत किया गया था। उसमें शाखा शब्दका प्रयोग किया गया था। उस

---

४ सम्पड् मिथ्त्तज्ञानादिरूप। तस्यव भावा शृङ्गारादयो रत्यदिविलक्षण ५, शास्त्रप्रसिद्धेन।

तथा अङ्गानि शाखानृत्तगीतानि आदय प्रधानायेषा ते अङ्गादय ।

[1]अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषा ते अङ्गादय । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनया । यद्वक्ष्यते—

'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद रसनिष्पत्ति' इति ।

कारिकाकी पाठसमीक्षामे हम लिख आए हैं कि यहा शाखा शब्दसे आङ्गिक अभिनयका ग्रहण किया गया है । जैसाकि नाटचशास्त्रके उसी आठवें अध्यायमे शाखाका लक्षण करते हुए लिखा है कि—'आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा' । अत यहाँ भी शाखा शब्द आङ्गिक अभिनयका बोधक है यह समझना चाहिए । इस अथको लेकर इस वाक्यका अनुवाद निम्न प्रकार होगा—

अभिनव०—और अङ्ग अर्थात शाखा [आङ्गिक अभिनय], नृत तथा गीत ये जिनमे आदि अर्थात् प्रधान है वे अङ्गादि [अभिनय] हुए ।

अङ्गाद्यभिनयकी तीसरी व्याख्या—

इस प्रकरणमे ग्र थकार 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' की व्यारया कर रहे हैं । उसमें 'अङ्गाद्य भिनय' इस भागकी दो प्रकारकी व्यारया तो ऊपर दिखला चुके हं । अब उसकी तीसरी व्याख्या आगे दिखलाते हैं । इसमे 'अङ्ग शब्दसे उन्होने नाटच या रसके हेतुभूत विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोका ग्रहण किया है । और 'रसाभिमुख्यनयन का हेतु होनेसे उनको अभिनय' कहा है ।

अभिनव०—अथवा 'अङ्ग' पदसे ['रस-प्रतीति' के] हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोका ग्रहण होता है । वे जिनमे [आदि अर्थात्] प्रधान हैं वे 'अङ्गादि' हुए । और [विभाव आदि] ही रसके आभिमुख्य नयन [आस्वाद योग्य बनाने] के हेतु होनेसे 'अभिनय' [कहलाते] है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें भी पूव सस्करणोमें गडबड पाई जाती है । पूववर्ती दोनो सस्करणोमे 'व्यभिचारिणो भावादयो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावास्त एते रसाभि मुख्यनयनहेतवो' यह पाठ इस स्थलपर छपा है । परन्तु वह अस्त व्यस्त होनेसे अत्य त अशुद्ध है उससे कोई अथ समझमें नही आता है । यहा ग्र थकार 'अङ्गादि, की तीसरी व्यारया कर रहे हैं । उसमे अङ्गादि' पदसे वे नाटच अथवा रसके हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोका ग्रहण करना चाहते हैं । इसमे विभाव', अनुभाव' व्यभिचारिणो भावा ' ये सब पद आए तो हं कि तु उनका क्रम गडबड हो गया है । हमने उस क्रमको ठीक कर दिया है और अथके स्पष्टीकरणकेलिए वाक्यके आदि और अ तमे जो शब्द छूट गए थे उनकी प्रकरणके अनुसार पूर्ति करके वाक्यकी रचना सशोधित रूपमें, 'अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषा ते अङ्गादय । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनया ' यह पाठ प्रस्तुत किया है । इस सशोधनमे हमने वाक्यके आदिमे 'अथवा अङ्गानि' और वाक्यके अ तमें 'अभिनया ' पद नए बढाए हैं । 'त एते' के स्थानपर 'त एव' पाठ किया है और शेष क्रमको ठीक किया है । इस प्रकार सशोधित पाठ ठीक बन जाता है ।

जैसा कि आगे [छठे अध्यायमे] कहेंगे—

अभिनव०—विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है ।

१ तथाऽङ्गानि व्यभिचारिणो भावा आदयो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावा ।

तैरुपेत । उप समीप इत, सविद्दपणमभिसक्रात । [1]एवम्भूतोऽर्थो नाट्यम् नटनीय नर्तनीय नतनम । तथा गमनीय यत्नेन, स्वरूपतो **हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्** । तथा च **नटाना** पारम्पर्यात्मक वत्त नाट्य, धर्माम्नायरूप च । तच्च सुखदु खाभ्या फलाभ्या सम्यगन्वितम् । तेषा पश्चाद्भावित्वात् [2]हेयोपादेयव्युत्पत्तिफलम् । एतच्च वितत्याग्रे [3]भावस्वरूपे निरूपयिष्याम ॥११९॥

यहा तक ग्र थकारने 'अङ्गाद्यभिनय' पदकी व्याख्या की । अब 'उपेत' पदके साथ उसका समास दिखलाकर अङ्गाद्यभिनयोपेत' की व्याख्या पूर्ण करते हैं—

अभिनव०—उन [अङ्गादिके अभिनयो] से युक्त [यह 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' का अथ हुआ । आगे 'उपेत' शब्दका अवयवाथ दिखलाते है]— 'उप' अर्थात समीप 'इत' अर्थात् पहुचा हुआ । अर्थात् ज्ञान रूप दपरणमे प्रतिबिम्बित । इस प्रकारका अथ नाट्य [कहलाता] है । [आगे नाट्य पदका यौगिक अथ दिखलाते है । कि—]नाट्य अर्थात् नटनीय, अर्थात् नतनीय अर्थात् 'नतन' [नाट्य कहलाता] है । और वह यत्न पूवक प्राप्तव्य तथा स्वरूपत हृदयमे प्रवेश करने योग्य होता है । इस प्रकार नटोका परम्परागत कार्य [वत्त] नाट्य है । और वह उनका धर्म-प्रतिपादक वेद-तुल्य है । वह [नाटच] फलरूप सुख दु ख दोनो फलोसे भली प्रकार सम्बद्ध है । और उन [सुख-दुख की अनुभूतियो] के बाद [होनेके कारण या] होने वाले हेय तथा उपादेय का ज्ञान कराना भी उसका फल है । इसको भाव-स्वरूपके निरूपणके प्रसङ्गमे आगे [सप्तमाध्यायमे] विस्तार-पूवक लिखेगे ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूववर्ती दोनो सस्करणोमे निम्न प्रकार छपा है—

एवभूतोऽर्थो नाटच नटनीय नतनीय नतनम् । तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेऽनु प्रवेष्टव्यम् । तथा नाटकाना [नटाना] पारम्पर्यात्मक वृत्त नाटच धर्माम्नायरूप च' ।

यह पाठ बडा अस्पष्ट सा प्रतीत होता है । उसका अथ ठीक तरहसे समझनेमे कठिनाई होती है । इतनी बात तो इसमे स्पष्ट है कि यहा ग्र थकार नाटच शब्दकी व्युत्पत्ति या उसका अवयवाथ दिखला रहे हैं । नटनीय या नतनीय अथ नाट्य है यह ग्र थकारका अभिप्राय है । उसीके स्पष्टीकरणमें 'नतन' पदको भी जोडा जा सकता है । उसका अथ होगा कि नतन रूप नाटच है । कि तु इसके आगेकी पक्ति 'तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्ट यम्' इस पक्तिका कुछ अथ नही लगता है । 'हृदयेनानुप्रवेष्ट यम् यह भाग तो बिल्कुल अशुद्ध प्रतीत होता है । यदि पूववर्ती अनीयर प्रत्यया त 'नटनीय नतनीय गमनीय' आदि शब्दोके साथ इसको जोडा जाय तो हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' यह अनीयर प्रत्यया त पाठ कुछ लग सकता है । ग्रथकारका अभिप्राय तो यह प्रतीत होता है कि नटनीय नतनीय या नतन रूप अथ नाटच है और उसका स्वरूप यत्न पूवक हृदयमे अङ्कित करने योग्य होता है । पर तु इस वाक्यकी रचना बडी अटपटी सी हुई है जिससे अथ समझनेमे बडी कठिनाई होती है । अत हमने सशोधित रूपमे हृदयेनानु प्रवेष्टव्यम् के स्थानपर 'हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' पाठ प्रस्तुत किया है ॥११९॥

---

१ एवभूतोऽर्थो नाटच नटनीय नतनीय नतनम, तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानु प्रवेष्टव्यम । तथा च नाटकाना पारम्पर्यात्मक वत्त नाटय धर्माम्नायरूपञ्च ।

२ तेन हेयोपादेयव्युत्पत्ति फलम् । ३ भावस्वरूपम् ।

[प्रक्षिप्त भरत०—वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरण लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचार परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥]

एव सान्त्वेनापसारितेषु विघ्नेषु 'दिव्यनिदेशनानामोघत्वात् पूवनियुक्तदेवताशाना'[१] तत्र तत्र सन्निधानाद् यजनमवश्य कायमिति प्रदशयितु उक्तमेवेतिहासमनुसन्दधन् निरूपयति 'एतस्मिनिति' ।

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे देवान सर्वानाह पितामह ।
[३]क्रियतामद्य विधिवद्यजन नाट्यमण्डपे ॥१२०॥

अन्तरे इति समये ॥ १२० ॥

विधिवदिति व्याचष्टे बलिप्रदानैरित्यादि—

भरत०—बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितै ।
[४]भोज्यै-भक्ष्यैश्च [५]पानैश्च बलि समुपकल्प्यताम् ॥१२१॥

प्रक्षिप्त—इसके बाद दो श्लोक और पाए जाते हैं। परन्तु ये दोनो श्लोक प्रक्षिप्त जान पडते हैं। अभिनवगुप्तने पिछले श्लोक की वत्तिके बाद 'एतस्मिन्नन्तरे इस अगले श्लोक की ही अवतरणिका दी है। इन दोनो श्लोकोकी चर्चा नही की है। इसलिए हमने उनको कोष्ठमें और भिन्न टाइपमे दिया है। द्वितीय सस्करणमे भी उनको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें दिया गया है और उनपर क्रम सख्या नही डाली है। अभिनवगुप्तके अनुसार अगले श्लोककी व्याख्या देते हैं।

अभिनव०—इस प्रकार शान्ति-पूर्वक विघ्नोका निवारण कर देनेपर [भी] दिव्य आदेशोके अव्यथ [अपरिवतनीय] होनेके कारण पूवनियुक्त देवाशोके उस उस स्थानपर उपस्थित हो जानेके कारण यज्ञ [देव-पूजन] अवश्य करना चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए पूर्वोक्त इतिहासका अनुसरण करते हुए ही [भरतमुनि] 'एतस्मिन' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं।

भरत० – इस बीचमे पितामह ने सब देवताओंको आदेश दिया कि आप लोग आज नाटय मण्डपमे विधिवत यज्ञ करें।१२०।

अभिनव०—'अन्तरे' [का अथ] समयमे [अर्थात् इस बीच मे] है ॥ १२० ॥

अभिनव०—[पिछली कारिकामे जो विधिवत् यजन करने की बात कही थी उसके] 'विधिवत्' इस [अश] की 'बलिप्रदानै' इत्यादि से व्याख्या करते हे—

भरत०—[नाना प्रकारके रगो तथा चावल आदिसे की जाने वाली वेदीकी] सजावट [बलि], और मन्त्रो तथा औषधियोसे युक्त तिल आदिके होम द्वारा एव भोज्य [कचौडी मोदक आदि पक्का सखरा भोजन] भक्ष्य [खिचडी आदि कच्चा निखरा भोजन] तथा पेय [दुग्धादि] के द्वारा पूजन [बलि] करना चाहिए।

---

१ दिव्य निदेशानाम । २ देवताङ्गानम । ३ न कारयत्यत्र भगवान । प त व कुरुध्वयत्र यजन विधिवत । ४ जप्यभक्ष्यश्च । ५ भोज्यश्च ।

वल्यन्ते आप्यायन्ते देवता अनेनेति बलि । विचित्रवर्ण तण्डुलादिरचनाविशेष, प्रदान [3]तिलादयश्च । अग्नौ हूयन्ते इति होमा । उभयत्र विशेषण मन्त्रौषधीति । मन्त्रा वक्ष्यमाणा, ओषधयो वचा वला-अजमोदप्रभृतय, प्रशस्तानि धान्यानि च । खरविशद शष्कुलीमोदकादि **भक्ष्य भोज्यमुच्यते**[4] । **अन्यद्** भक्षणीय तु भक्ष्य, पायस-कृसरादि । पानानि क्षीरेक्षुद्राक्षारसादीनि । बलि पूर्वोक्तो रचनाविशेष । एतैर्विच्छित्तियोजितैर्विविधतया कल्प्यताम् । शोभाप्रधान हि नाट्ये सर्वम् ॥ १२१ ॥

अभिनव०—जिसके द्वारा देवता लोग तृप्त होते है वह बलि [कहलाता] है । नाना प्रकारके रग और चावल आदिके द्वार की गई रचना विशेष [सजावट यहा बलि शब्दसे ग्रहण करनी चाहिए] । 'प्रदान' अर्थात् तिल आदि । जिनकी अग्निमे आहुति दी जाती है वे 'होम' [शब्द से यहा अभिप्रेत] है । 'मन्त्रौषधिसमन्वितै' यह दोनो जगह [अर्थात् 'बलिप्रदानै' तथा 'होम' दोनोका] विशेषण है । ['मन्त्रौषधिसमन्वित' मे] मन्त्र आगे कहे जावेगे । औषधिसे वचा, वला, अजमोदा आदि [औषधिया] तथा उत्तम धान्य [का ग्रहण होता] है । सखरे पवित्र लड्डू-कचौडी आदि खाने योग्य पदार्थ भोज्य' [कहलाते] है और अन्य खाने वाले [कच्चे निखरे] पदार्थ खीर, खिचडी आदि तो 'भक्ष्य' [पदसे गृहीत होते] है । दूध, गन्ना अगूर आदिके रस 'पान' [पदसे अभिप्रेत] है । ['बलि समुपकल्प्यता' मे दुबारा प्रयुक्त हुए] 'बलि' [पद] से पूर्वोक्त रचना विशेषका ही ग्रहण करना चहिए । इनको नाना प्रकारसे सुन्दरताके साथ सजा कर नाना प्रकारसे शोभा विशेषको करना चहिए । क्योकि नाट्यमे सब कुछ ही शोभा प्रधान होना चाहिए [इसलिए 'बलि' अर्थत् सजावटपर इतना बल दिया है । यहाँ अभिनवगुप्तने 'बलि' का अर्थ सजावट' किया है यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । अन्यथा साधारणत अन्य लोग 'बलि' शब्दसे पशु आदि के बलिदान करनेका अर्थ लेते हैं] ॥ १२१ ॥

देवताओ द्वारा पूजन करानेका फल—

सामान्यत देवताओकी पूजा तो अन्य लोग करते हैं किन्तु यहा देवताओके द्वारा रङ्ग पूजन करवाया गया है । यह बात कुछ अटपटी सी प्रतीत होती है । इसलिए भरतमुनिने उसके दो कारण अगली कारिकामें दिखलाए हैं । पहिला कारण तो यह है कि यदि आप लोग पूजा करोगे तो मर्त्यलोकमें आपका भी पूजन होगा । क्योकि श्रेष्ठ पुरुषोके आचारका अन्य लोग अनुकरण करते हैं । इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि पूजन या भगवानके स्मरणके बिना कोई कार्य आरम्भ नही करना चाहिए । उससे लौकिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकारकी हानि आगे दिखलायेंगे ।

---

१ प म जप्यभक्ष्यैश्च । २ ड म भोज्यश्च । प होमश्च ।

३ दान तिला । ४ भोज्य भक्ष्यमुच्यते ।

ननु देवानां पूजाकरणे कि फलमित्याह—'मत्यलोकगता' इत्यादि—

भरत०—[1]मर्त्यलोकगता सर्वे शुभा पूजामवाप्स्यथ ।
अपूजयित्वा रङ्ग तु नैव प्रेक्षा प्रवतयेत्[2] ॥१२२॥

'यद्यदाचरति श्र ष्ठ' इति न्यायादिति भाव । प्रवतयेदिति देवानुष्ठिताचारानुवर्तित्वात् **लोकस्य[3]** इति शेष ॥१२२॥

ननु यदि लोक सदाचार नानुवर्तेत तत किमित्याह 'अपूजयित्वेति'—

भरत०—[4]अपूजयित्वा रङ्ग तु य प्रेक्षा कल्पयिष्यति ।
[5]तस्य तन्निष्फल ज्ञान तियग्योनि च यास्यति[6] ॥१२३॥

निष्फलमिति । तस्येति नाटयाचायस्य । पारलौकिकमपि प्रत्यवायमाह 'तियग्योनिञ्च' इति ॥१२३॥

अभिनव—देवताओका पूजाके करनेका [यहा 'देवाना' यह कर्तामे षष्ठी विभक्ति है देव कर्तृक पूजाका अर्थात् देवता पूजा करे इसका] क्या फल है] इस [शङ्काके समाधान] केलिए 'मर्त्यलोकगता' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हे—

भरत०—[यदि आप देवता लोग इस समय यज्ञ करेंगे तो] मत्यलोकमे आप सबलोग [भी] सुन्दर पूजाको प्राप्त करेंगे। [आप देवताओंके द्वारा पूजन करानेका मुख्य उद्देश्य आपका लाभ ही है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी है कि] रङ्गकी विना पूजा किए हुए कभी नाटयका आरम्भ नहीं करना चाहिए।१२२।

अभिनव०—जो जो कार्य बडे लोग करते है [वही काय अन्य लोग भी करते है] इस युक्तिसे [यदि आप लोग पूजा करेंगे तो आपकी भी लोकमे पूजा होगी] यह अभिप्राय है। क्योकि लोक देवताओके किए हुए आचारका अनुकरण करता हे यह शेष है [अर्थात् देवताओके आचारका अनुसरण करके ही लोक, देवताओकी पूजा करेगा। अत आप पूजा करोगे तभी आपको पूजा प्राप्त होगी] ॥ १२२ ॥

अभिनव०—अच्छा यदि [हम देवता लोग तो रङ्ग पूजन करले किन्तु] लोक [देवताओ द्वारा स्थापित रङ्ग-पूजाके इस] सदाचारका अनुकरण न करे तो क्या होगा इसकेलिए 'अपूजयित्वा' इत्यादि [श्लोक] कहते है—

भरत०—रङ्गकी पूजा किए विना जो [नाटयाचाय] अभिनयका प्रारम्भ करेगा उसका वह सारा [नाटयका] ज्ञान व्यथ हो जायगा और [अगले जन्ममे भी] वह तियग्योनि [पशु पक्षी आदिकी योनि] मे जन्म लेगा।१२३।

अभिनव०—'निष्फल' इससे [इस लोकमे होने वाले अनर्थको कहा है]। उसका अर्थात् नाट्याचायका। [शास्त्रीय रङ्ग-पूजन न करनेसे] केवल इसी जन्ममे हानि नही होगी अपितु परलोकमे भी हानि होगी। [उसी] पारलौकिक अनर्थ [प्रत्यवाय विघ्न] को 'तियग्योनि' इत्यादिसे कहा है ॥ १२३ ॥

---

१ म व मत्यलोकेऽप्यय वेद शुभा पूजामवाप्स्यति। २ ड म प्रेक्षा प्रवतते। ३ लोक।
४ अप्रपूज्याश्च। ५ निष्फल तस्य तत् ज्ञानम्। ६ ठ गमिष्यति। भविष्यति।

भरत०—यज्ञेन [1]सम्मित ह्येतद् रङ्गदैवतपूजनम्[2]।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्य नाटचयोक्तृभि ॥१२४॥
नर्तकोऽर्थपतिर्वापि य पूजां न करिष्यति।
[3]न कारयिष्यत्यन्यैर्वा [4]प्राप्नोत्यपचय तु स ॥१२५॥

ननु यद्यपूजने प्रत्यवायस्तर्हि पूजने कि तन्निवृत्तिमात्र फलम् ? नेत्याह 'यथा विधीति'—

भरत०—यथाविधि [5]यथादृष्ट यस्तु पूजा करिष्यति।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोक च [6]यास्यति ॥१२६॥

यथा देवैर्विहिता। कथमेतज्ज्ञायत इत्यत आह यथादृष्टमिति। शास्त्रदष्टोऽसौ विधिरित्यथ। अर्थान् शुभान इत्यैहलोकिकधनमानप्रसिद्धिलाभ उक्त ॥१२६॥

भरत०—यह रङ्ग देवताओका पूजन यज्ञ के समान [पवित्र तथा फलदायक] है। इसलिए नाटयका प्रयोग करने [कराने वाले नाटयाचाय तथा अथपति राजा आदि] को सब प्रकार के प्रयत्नो द्वारा सम्पादन करना चाहिए।१२४।

प्रक्षिप्त०—जो नाटयाचाय [नतक] अथवा राजा आदि [अथपति] इस पूजाको न करेगा अथवा अन्योके द्वारा न करावेगा वह [अपचय अर्थात विनाश अथवा] हानिको प्राप्त करेगा।१२५।

यद्यपि यहा १२४ तथा १२५ कारिकाओ पर कोई वत्ति नही लिखी गई है। कितु पाचवी कारिका व्याख्यामें पष्ठ ५६ पर नतकोऽथ पतिर्वापि' का उल्लेख ग्रथकार कर चुके हं इसलिए इन कारिकाओको प्रक्षिप्त नही माना जा सकता है।

अभिनव०—अच्छा यदि पूजा न करनेसे विघ्न [या अनथ] होता है तो क्या उसकी निवृत्तिमात्र ही [पूजाका] फल है [इस शङ्काका उत्तर देते हे कि] नही [अपितु रङ्गपूजनसे उसे ऐहिक धन मान आदि और पारलौकिक स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है] इसी लिए 'यथाविधि' इत्यादि [अगला श्लोक] कहा है—

भरत०—जो शास्त्र दृष्ट शलीसे विधिवत पूजाको करेगा वह [नाटयाचाय लोकमे धन मान प्रसिद्धि आदि] शुभ अर्थोको प्राप्त करेगा और [मरनेके बाद] स्वगलोकको जावेगा।

अभिनव०—['यथाविधि'] अर्थात् जसे देवोने की थी [उस प्रकार जो पूजा करेगा वह लोकमे धन-मान प्रसिद्धि आदिको प्राप्त करेगा और मरनेके बाद स्वग जावेगा]। [प्रश्न] यह कैसे मालूम हो कि [देवताओने कैसे पूजा की थी] इस [प्रश्नके उत्तर] केलिए 'यथादृष्ट' यह कहा है। अर्थात् वह विधि शास्त्रोमे पाया जाता है। शुभ अर्थोसे लौकिक धन मान और प्रसिद्धिकी प्राप्ति कही गई है ॥१२६॥

---

१ च न सम्मतम्। २ व म रङ्गपूजनम। ३ ङ म कारयिष्यति वा नव।
४ ठ प्राप्स्यत्यापदमेव स। ङ च प्राप्स्यत्यपचय तु स। ५ ङ यथाशास्त्रम्।
६ गमिष्यति।

एव मर्त्यान् प्रत्यभिवाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुसन्धत्ते एवमुक्त्वेति—

भरत०—[1]**एवमुक्त्वा तु भगवान् द्रुहिण सर्वदेवतै ।**
रङ्गपूजा कुरुष्वेति मामेव समचोदयत ॥१२७॥

नाट्याचायस्यैव देवयजनेऽधिकार, तस्यैव फललाभ । कवे, प्रेक्षाप्रवतयितुश्च तत्प्रयोक्तृत्वमित्यनेनोक्तम् । रज्यतेऽनेनेति रङ्गो नाटचम् । तदाधारत्वा मण्डप, तदधिष्ठातृत्वाच्च देवता अपीति । मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्योपोद्घात करोतीति [2]विशेष ॥१२७॥

अभिनव०—इस प्रकार [यथाविधि यथादृष्ट यस्तु पूजा करिष्यति इत्यादि] मनुष्योके प्रति कह कर पूव प्रसङ्गागत कथानकको ही 'एवमुक्त्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] मे अनुसरण करते है—

भरत०—भगवान् ब्रह्माजीने इस प्रकार [मनुष्य नाटयाचार्योके प्रति पूव श्लोकमे प्रतिपादित रङ्ग पूजनके लाभ तथा उसके न करनेकी हानिको] कह कर 'सारे देवताओके साथ तुम रङ्गकी पूजा करो' इस प्रकारकी प्रेरणा मुझको का ।१२७।

अभिनव०—देव पूजनमे नाट्याचार्यका ही अधिकार है और उसको ही उसका फल मिलता है। कवि और नाट्यका प्रवतक [राजा आदि] केवल उसके [अर्थात् नाट्याचायके] प्रवतक होते है यह बात ['रङ्गपूजा कुरुष्वेति मामेव समचोदयत'] इससे कही हे। [रङ्ग-पूजामे आए हुए रङ्ग शब्दसे तीन अर्थोका ग्रहण होता हे। यह कहते हैं] १ जिससे सामाजिक आनन्द लाभ करे वह रङ्ग 'नाट्य' है [अर्थात् रङ्गशब्दकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुख्यरूपसे 'नाट्य' रङ्ग कहलाता है]। उसका आधारभूत होनेसे मण्डप [भी 'रङ्ग' कहलाता है] और उस [मण्डप] के अधिष्ठाता होनेसे देवता भी [लक्षणाके द्वारा रङ्ग शब्दसे गृहीत हो सकते है]। [इस प्रकार रङ्ग पूजा द्वारा मण्डपकी पूजाका विधान करके भरतमुनिने यहा प्रथमाध्यायके अन्तमे ही] 'मण्डपाध्याय' नामक द्वितीय अध्यायकी अवतरणिका कर दी है। यह [बात] विशेष [रूपसे ध्यान देने योग्य] है ॥ १२७ ॥

यह १२७वी कारिका प्रथमाध्याय की अतिम कारिका है। इसमे ब्रह्माजीने आदि नाटचके प्रयोक्ता भरतमुनिको यह आदेश दिया है कि नाटचका आरम्भ करनेके पूव सब देवताओ एव सब अभिनेताओके साथ मिलकर तुम सबसे पहिले रङ्ग पूजनकी व्यवस्था करो। क्योकि रङ्ग पूजनके किए बिना ही नाटचारम्भ करनेसे नाट्याचायका अहित होता है। और रङ्ग पूजन करनेसे उसको सफलता एव शुभ अर्थोकी प्राप्ति होती है। इसी दृष्टिसे ब्रह्माजी सबसे पहिले रङ्ग पूजनकी आज्ञा दी है।

यह रङ्ग पूजन कसे किया जाय इसका विस्तृत विवरण नाटचशास्त्रके अगले द्वितीय अध्यायमे दिया गया है। प्रथमाध्यायकी इस अतिम कारिकामें निहित रङ्ग पूजनका यह आदेश उस विधिका अनुसरण करनेपर ही पूर्ण हो सकता है। इसलिए इसे द्वितीय अध्यायकी अवतर

---

१ ठ म एवमस्त्विति प्राह। २ शिवम्।

इति भारतीये नाटचशास्त्रे [१]नाटचोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्याय ।

त्रिणेत्रपादाब्ज [२]सदास्तवोल्लसत्—
प्रसादभाक स्फुटमिह नाटचशासने ।
प्रवर्तितेय हृदये महाधिया
प्रकाशतामभिनवगुप्त भारती ॥

इति श्रीमहामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचाय विरचिताया अभिनवभारत्या
भारतीय नाटचशास्त्रविवृतौ नाटचोत्पत्ति प्रथमोऽध्याय ।

णिका कहा जा सकता है । इसीलिए इसकी व्याख्यामे अभिनवगुप्तने मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्य उपोद्घात करोति' यह लिखा है ।

भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्रमे नाटचोत्पत्ति नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

अभिनव०—[त्रिणेत्र युक्त] श्री शिवजी महराजके चरण कमलोकी अनवरत स्तुतिसे उत्पन्न उनकी कृपाको प्राप्त करने वाली, इस नाट्यशास्त्रके ऊपर लिखी हुई [अभिनवगुप्तकी भारती अर्थात] 'अभिनवभारती' नामक यह विशद व्याख्या विद्वज्जनो [महाधिया] के हृदयमे सदा प्रकाशमान रहे [अर्थात् विद्वज्जन उसको सदैव आदरबुद्धिसे ग्रहण करते रहे] ।

इस श्लोकके प्रथम तथा तृतीय चरणमे बारह बारह अक्षर ह और द्वितीय एव चतुथ चरणो में तेरह तेरह अक्षर हैं । प्रथम और तृतीय चरणोके अक्षर ।S। SS। ।S। S।S इस रूपमें जगण तगण जगण रगण इस क्रम में स्थित है । इसलिए 'जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ' इस लक्षणके अनुसार इन दोनो चरणोमे वशस्थ' वृत्त है । द्वितीय तथा चतुथ चरणोके तेरह तेरह अक्षर ।S। S।। ।।S ।S। S जगण भगण सगण-जगण गुरु इस क्रमसे स्थित है । इसलिए 'रुचिरा ज्भौ स्जौ ग चतुनवकौ इस लक्षणके अनुसार उसमें रुचिरा' वत्त है । इस प्रकार इस श्लोकके दो चरण १२ अक्षरो वाले 'वशस्थ' वत्तमें तथा दो चरण तेरह अक्षर वाले रुचिरा' वत्तमें लिखे गए हैं। इसलिए दो छन्दोका सङ्कर होनेके कारण यह 'उपजाति' के अ तगत हो सकता है ।

प्रथम सस्करणमें इस अध्यायके श्लोकोकी कुल सख्या १३२ दी गई थी । द्वितीय सस्करणमें वह सख्या १२७ रह गई है । अर्थात ५ श्लोक इसमें कम हो गए हैं । कौन कौन से श्लोक कहाँ कहाँ कम किए गए हैं इस सबका कारण सहित निर्देश यथा स्थान कर दिया गया है । उसको देखने से दोनो सस्करणो मे पाए जाने वाले श्लोक सख्या के अ तरका समाधान हो जायगा ।

महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित
नाट्यशास्त्रकी 'अभिनवभारती' नामक टीकामे
'नाट्योत्पति' नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचाय विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणिविरचिते 'अभिवभारती सञ्जीवनभाष्ये'
प्रथमोऽध्याय समाप्त ।

---

१ न म नाटयशास्त्रोत्पत्तिर्नाम । २ समाश्रयोस्वसत् । प्रवासयोल्लसत ।

द्वितीयोऽध्यायः

संसारनाट्यजननं धातृबीजलताजुषाम्[1] ।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ।।

वृत्तेऽध्याये [2]'यथातत्त्व' इति वचनवशात् भरतमुनि-यजनादे पाठ्यादिवदन्त-रङ्गतां पश्यन् [3]'परमार्थनिर्णयं कुर्यात् का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्'। अत एव [4]मुनिः [5]"गानं रङ्गश्च संग्रहः' इति रङ्गं सर्वपश्चाद् वक्ष्यति । तस्मात् कदाचिदेतदित्या शङ्कमाना मुनयः पप्रच्छुरिति ।

अथ अभिनवभारती सञ्जीवनभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

जैसाकि पहिले लिखा जा चुका है परम माहेश्वर अभिनवगुप्तने अपने इस ग्रन्थके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें शिवकी विभिन्न मूर्तियोंकी वन्दना करनेकी योजना बनाई है। उसीके अनुसार प्रथमाध्यायके आरम्भमें शिवकी धरणी रूप प्रथम मूर्तिकी वन्दना की थी। अब इस द्वितीयाध्यायके आरम्भमें जलको शिवकी द्वितीय मूर्ति मान कर उसकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—संसार रूप नाट्यकी उत्पत्ति और स्थितिके [क्रमशः] बीज तथा लताको [अर्थात् उत्पत्तिके बीजको, और स्थितिकी लताको] धारण करनेवाली [पत्युः अर्थात्] भगवान् शिवकी [सरसां] रसमयी और [शिवां] मङ्गलमयी जलमूर्तिकी हम उपासना करते हैं।

अध्यायसङ्गति—

इस प्रकार मङ्गलाचरणके बाद 'मण्डपविधान' नामक इस द्वितीय अध्यायके विषयकी प्रथमाध्यायके साथ सङ्गति दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस अध्यायका प्रारम्भ निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—विगत अध्यायमें [पाचवें श्लोकमें कहे हुए] 'यथातत्त्व' इस वचनके कारण भरतमुनि [कदाचित्] पाठ्यादि [नाट्याङ्गों] के समान पूजनकी अन्तरङ्गता का विचार कर उसीका यथार्थ निर्णय [अर्थात् विस्तार पूर्वक प्रतिपादन] करनेमें लग जावें [नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रतिपादन करनेका ध्यान उन्हें न रहे। उस दशामें] मण्डप रचनाकी कथा ही समाप्त हो जावेगी। इसी लिए [नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायके दशम श्लोकमें रस भाव आदि नाट्यके सब अङ्गों को गिनानेके बाद] 'गान और रङ्ग [अर्थात् नाट्यमण्डप] यह [नाट्याङ्गोंका] संग्रह [कहा] है' इसमें सबसे पीछे रङ्ग [नाट्यमण्डप] को कहेंगे। इस लिए न जाने कब [कदाचित्] इसका अवसर आवे ऐसी शङ्का करके मुनियोंने [पहले ही उसके विषय में] पूछा।

---

१ जुषीम २ ना शा १ ५ । ३ परमार्थनिर्णयेन कुर्यात कातुकथा । (पश्यति परमार्थ निर्णयेन द्वितीये तु कथ) मण्डपलक्षण स्यात । ४ मुनिर्गीतम । ५ ना शा ६ १० ।
५ कथमेतदित्याशङ्कमानानां ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूव सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। यद्यपि प्रथम और द्वितीय सस्करणोके इस स्थलके पाठोमें कुछ अ तर पाया जाता है पर तु फिर भी वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम सस्करणमें भरतमुनियजनादे पाठ्यादिवद तरङ्गता पश्य परमाथ निर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डपलक्षण स्यात्' इस प्रकारका पाठ छपा था। वह अशुद्ध था। उसकी कोई सङ्गति नही लगती है यह देख कर द्वितीय सस्करणके सम्पादक महोदय उसमें सशोधन करके 'भरतमुनियजनादे पाठ्यादिवद तरङ्गता पश्यति परमाथनिर्णयेन। द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात।' इस प्रकारका पाठ छापा है। पर तु हमारी दृष्टिमें यह पाठ भी ठीक नही है। द्वितीय अध्यायके आरम्भमे मुनियोने भरतमुनिसे नाटचमण्डपके लक्षण आदिके विषयमे प्रश्न किए हैं। उनकी सङ्गति और उपयोगिता दिखलानके लिए ग्र थकारने यह अनुच्छेद लिखा है। उनका कहना यह है कि यदि मुनि गण नाटच मण्डपके लक्षण आदिके विषयमें इस समय प्रश्न न उठाते तो यह विषय इस समय तो यो ही पडा रह जाता। पर बादको भी उसको निरूपणका अवसर न जाने कब हाथ आता। क्योकि नाटचके पाठ्यादि अङ्गोके समान पूजनकी भी अ तरङ्गताको देखते हुए भरतमुनि इस समय नाटचमण्डपकी रचनाके स्थानपर पहिले उसी पूजनके विस्तार पूवक निरूपणमे लग जाते और नाटचमण्डपकी रचनाका प्रश्न पीछे पड जाता। मुनिगणोके प्रश्न कर देनेसे यह स्थिति बदल गई है। भरतमुनिने उनके प्रश्नके अनुसार यजनसे भी पहिले नाटच मण्डप की रचनाके विषयका प्रतिपादन यहा द्वितीय अध्यायमें कर दिया है। यह आशय इन पक्तियो के लिखनेका है। पर तु जिस रूपमे उनका पाठ प्रथम सस्करणमें छपा है उससे यह भाव ठीक तरहसे नही निकलता है। भरतमुनियजनादे पाठ्यादिवद तरङ्गता पश्यन इतने भागका तो अथ लग जाता है कि तु उसके आगे परमाथनिर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डप लक्षण स्यात' इतनी पक्तिका अथ ठीक तरहसे समझमे नही आता है। यह पाठ अशुद्ध रूपमें छपा हे। इसीलिए उसकी सङ्गति नही लगती है। यदि उसको 'परमाथनिर्णय कुर्यात का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस रूपमे लिख दिया जाय तो सारा अथ स्पष्ट हो जाता है। 'भरतमुनि यजनादे पाठ्यादिवद त रङ्गता पश्यन् परमाथनिर्णय कुर्यात, का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस पाठके होनेपर पक्तिका अथ समझनेमें कोई कठिनाई नही होती है। इसलिए हमारी सम्मतिमे इस स्थलका शुद्ध पाठ यही है।

द्वितीय सस्करणमें यहाँ सशोधित रूपमें जो 'भरतमुनियजनादे पाठ्यादिवद तरङ्गता पश्यति परमाथनिर्णयेन द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात' यह पाठ दिया गया है। अथकी दृष्टिसे यह पाठ भी ठीक बन जाता है। कि तु यह पाठ पूव उपलब्ध पाठसे कुछ अधिक दूर पहुच गया है। का तु कथा मण्डपलक्षण स्यात' इसमें केवल 'लक्षण' के स्थान पर 'लक्षणस्य पाठ कर देने पर अथकी सङ्गति ठीक लग जाती है। तब उसको सवथा बदल कर 'द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात्' यह पाठ करना उचित प्रतीत नही होता है, क्योकि पाठमें विवेकाश्रित सशोधन पद्धतिसे सशोधन करते समय न्यूनतम परिवतन करके निकटतम पाठ प्रस्तुत करना उचित होता है। इस दृष्टिसे द्वितीय सस्करणका सशोधन उचित प्रतीत नही होता है। हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है उसमे द्वितीय सस्करण वाले पाठकी अपेक्षा न्यूनतर और निकटतम सशोधन किया गया है। अथ की दृष्टिसे भी हमारा पाठ द्वितीय सस्करणके पाठकी अपेक्षा कही अधिक सुन्दर है अत हमने उसीको उचित मान कर सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पर आत्मान परिकल्प्य मुनिराह—भरतस्य वच इति—

भरत०—[1]भरतस्य वच श्रुत्वा [2]पप्रच्छु र्मुनयस्तत [3] ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसश्रयम् [4] ॥१॥

ब्रह्मेव कवि, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाट्याचाय [5], कोहलादय इव नटा, अप्सरस इव सुकुमारोपकरण, स्वातिरिवावनद्धवित, नारदवद गीतज्ञ, सुरक्षितो मण्डप, इन्द्रोत्सवसदश प्रयोगकाल, [6]प्रशान्तरागद्वेषा सामाजिका, देवतापूजनपूवक प्रयोग, इत्येव सग्रहेण पूर्वाध्यायनिरूपितमथमवधार्येत्यथ । यजनमिति 'रङ्गपूजा कुरुष्व' [7] इति वृत्तेऽध्याये निरूपितमिति सङ्गति ॥ १ ॥

रङ्गपूजाविषयक प्रश्न—

द्वितीय अध्यायके इस प्रथम श्लोकका प्रारम्भ 'भरतस्य वच श्रुत्वा' इस वाक्यसे होता है । नाट्यशास्त्रके रचयिता स्वय भरतमुनि है । उनके ग्र थमें स्वय उनकी ही ओरसे लिखा गया 'भरतस्य वच श्रुत्वा' यह वचन सङ्गत प्रतीत नही होता है । इसलिए विवृतिकारने उसकी यह सङ्गति लगाई है कि यहा भरत मुनिने स्वय ही अपनेको पर अर्थात अपनेसे भिन्न कल्पना करके यह वचन लिखा है । इसी भावसे इस श्लोककी अवतरणिका करते हुए ग्र थकार उसकी व्याख्या प्रारम्भ करते हं ।

अभिनव०—भरतमुनि अपनेको अपनेसे भिन्न मान कर [पर परिकल्य] 'भरतस्य वच' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते है—

भरत०—भरतमुनिकी बातोको सुन कर [प्रश्नकर्ता] मुनिगण फिर बोले कि हे भगवन [अब हम] नाटच मण्डप । [रङ्ग] मे किए जाने वाले देव पूजन [के विषयमे] को सुनना चाहते है ।१।

अभिनव०—[प्रथम अध्यायमे जो कुछ कहा गया है उसका यह आशय है कि] ब्रह्माके समान कवि [होना चाहिए], इन्द्रके समान [राजा आदि] प्रयोगका कराने वाला, धरतके समान नाट्याचार्य, कोहल आदिके समान नट, अप्सराओके समान सुकुमार [उत्तम] साधन, स्वाति मुनिके समान वाद्यवित्, नारदके समान सङ्गीतज्ञ, [पूर्णतया] सुरक्षित नाट्य-मण्डप, इन्द्रोत्सवके सदृश [उत्तम] प्रयोगका काल, राग द्वेषसे रहित समाजिक [प्रेक्षक] और देवताओके पूजन [यज्ञादि] के बाद प्रयोगका आरम्भ, होना चाहिए । इस प्रकार सक्षपमे प्रथमाध्यायमे कहे गए विषयको भली प्रकारसे समझ कर मुनिगण फिर बोले यह तात्पय है । [कारिकामे आये हुए] 'यजन' इस [पद] से यह अभिप्राय है कि विगत अध्याय [के अन्तिम श्लोक] मे 'रङ्गपूजा कुरुष्व' इस [वचन] से जिसका निरूपण किया जा चुका है [उस देव यजन या रङ्गपूजनके विषयमे अब हम सुनना चाहते हैं] ॥१॥

---

१ ण श्रुत्वा तु वचन तस्य प्रत्यूचमु नयस्तथा । श्रोतुमिच्छामो भगवन् यजन नाटयमण्डपे ॥ इत्यधिक दृश्यते । २ न प्राव्रुवन् । म त ब प्रत्युचु ।
३ ठ म तदा । ४ प नाटयमण्डपे । ५ म नाटयानामाचाय ।
६ म प्रशान्तरागद्वेषादिका । ७ ना० शा० १ १२७ ।

देवविषये मण्डपस्य क्रिया [1]विनैव निष्पत्तिरिति प्रथम क्रिया प्रश्नस्तेषा विस्मतोऽपि झटिति स्मृति गत [2]इत्यभिप्रायेण दशयति—

भरत०—अथ वा [3]या क्रियास्तत्र लक्षण यच्च पूजनम ।
[4]भविष्यद्भि-नरै कार्यं कथ [5]तन्नाट्यवेश्मनि ॥२॥

पाठसमीक्षा—बडौदा वाले प्रथम सस्करणमे मूल श्लोकमे 'प्रत्यूचु' पाठ छपा था। वह ठीक नही था। अभिनवगुप्तने वृत्तिमे 'मुनय पप्रच्छु' लिखा है। इससे विदित होता है कि 'प्रत्यूचु' के स्थानपर 'पप्रच्छु' पाठ उनको अभिमत है। इसीलिए द्वितीय सस्करणमें उसको बदल कर 'पप्रच्छु' पाठ दिया गया है। हमने भी उसी पाठको यहा दिया है।

रङ्गमण्डपके निर्माण प्रश्नकी स्मृति—

अभिनव०—देवताओके विषयमे [अर्थात् देवसम्बन्धी] मण्डपकी, क्रिया के विना ही [मानस सङ्कल्पमात्रसे ही] सिद्धि [निष्पत्ति रचना] हो सकती हे इसलिए पहिले [क्रिया प्रश्न अर्थात्] मण्डपकी रचनाका प्रश्न भूल जानेपर भी [मण्डपकी पूजाका प्रश्न पूछते ही] तुरन्त याद आ गया इस अभिप्रायसे आगे [श्लोकमे रचना विषयक प्रश्नको भी] दिखलाते है—

पाठसमीक्षा—बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें देवविषये मण्डपस्य क्रिया बिना न निष्पत्ति 'इस प्रकारका पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है। इस अध्यायके प्रथम श्लोक में 'भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजन रङ्गसश्रयम् के द्वारा मुनियो मे सबसे पहिल रङ्ग पूजन विषयक प्रश्न पूछा है। वास्तवमें तो रङ्ग पूजनके पहिले रङ्ग निर्माण विषयक प्रश्न पूछना चाहिए था। परन्तु मुनियोने भूलसे पहिले पूजन विषयक प्रश्न पूछ लिया है। इसका अभिनव गुप्त यह कारण दिखलाते हैं कि आगे पाचवे श्लोकमे दिव्याना मानसी सृष्टिग हेषूपवनेषू च' लिख कर भरत मुनि यह प्रतिपादन करेंगे कि देवताओके रङ्गमण्डप आदिकी सिद्ध तो बाह्य प्रयत्न के बिना सङ्कल्प मात्रसे ही हो जाती है, उसकी रचनाका प्रश्न ही नही उठता है। इस कारण रचना विषयक प्रश्न पूछनेका ध्यान नही रहा था। किन्तु पूजन विषयक प्रश्न पूछते ही रचना—विषयक प्रश्नकी स्मृति हो आई है इस लिए 'अथवा' इत्यादि दूसरे श्लोकमें पूजन विषयक पहिले प्रश्नको दबा कर रचना विषयक प्रश्न पूछा गया है यह अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'क्रिया बिना न निष्पत्ति' के स्थानपर 'क्रिया विनैव निष्पत्ति' यह पाठ होना चाहिए। बडौदा वाले सस्करणोमें छपा हुआ क्रिया बिना न निष्पत्ति' यह पाठ तो विवक्षित अर्थसे एक दम विपरीत अर्थको व्यक्त करता है। अत एव वह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर हमने जो क्रिया विनव निष्पत्ति' पाठ रखा है वही ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त करने वाला यथाथ पाठ है।

भरत०—अथवा [रङ्ग पूजनके प्रश्नको अभी छोडिए, उसके पहिले] उसकी जो [क्रिया क्रियाए अर्थात] रचना पद्धतियां, जो [लक्षण अर्थात सन्निवेश] आकार एव परिमाण आदि है उनको [पहिले बतलाइए] और [फिर] आगे आने वाले लोगोको नाट्यशालामे पूजन [आदि] कसे करना चाहिए [इस सबको विस्तार पूवक बतलानेकी कृपा करें]। २।

१ बिना न। २ म इतो हि प्रायेण दृश्यते। ३ त या क्रिया। इत्थ हि प्रायेण दृश्यते।
४. भविष्यद्भि कथ कार्यं पुरुषैर्नाट्ययोक्तृभि। ५ च वै।

अथवेति पूवप्रश्नोपमदनाय[1]। अत एव पूजनमिति पुनवचनम्। [2]क्रिया इति-कतव्यता। लक्षण सन्निवेश-परिमाणादि। अतीतेषूपदेशो व्यथ इति भविष्यद्भिरित्युक्तम्। देवाना मनसा सम्पत्ते-नररिति।

ननु लक्षण किं कायम ? लक्ष्यत इति लक्षण, सन्निवेश इत्यदोष। अथवा भाविभि यत् कार्य नाटचवेश्म तत्र यत् क्रियालक्षण पूजन तत् कथमिति सम्बन्ध ॥२॥

पूवकृते प्रश्नपञ्चके निणय कृत्वेद प्रश्नान्तर निणयेदित्याशङ्कमाना मुनय पुनराहु 'इहादि' इति—

भरत०—[3]इहादि-र्नाटचयोगस्य[4] नाट्यमण्डप एव हि[5]।
तस्मात् तस्यैव तावत् त्व लक्षण वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

अभिनव०— 'अथवा' यह [पद] पूव प्रश्न [अर्थात पूजा विषयक पहिले पूछे हुए प्रश्न] का निराकरण करनेकेलिए है। [अर्थात् पूजन-विषयक प्रश्न भूलसे पहिले पूछ दिया गया है। वास्तवमे पहिले मण्डप रचनाका प्रश्न पूछना उचित है उसके बाद पूजन-विषयक प्रश्न आ सकता है]। इसी लिए 'पूजन' यह दुवारा कहा गया है। [कारिकामे आए हुए] 'क्रिया' इस [शब्द] से [कतव्यताया इति, प्रकार, 'इति-कतव्यता' कर्तव्यताके प्रकार अर्थात्] रचना-शैली [का ग्रहण होता है]। 'लक्षण' [पद सन्निवेश अर्थात] आकार परिमाण आदि [का बोधक है]। भूतकालके लोगोको उपदेश देना व्यथ है इस लिए 'भविष्यद्भि' यह कहा है। और देवताओके [सब काय] मनसे [सङ्कल्प मात्र से] ही सिद्ध हो जानेसे 'नरै' यह कहा है।

अभिनव०—[प्रश्न—यहा असाधारण धम या अतत्त्वव्यवच्छेदक धमके कथन रूप] 'लक्षण' करनेकी क्या आवश्यकता है ? [उत्तर—यहा लक्षण शब्दसे लक्षण अर्थात् असाधारण धमका कथन अभिप्रेत नही है अपितु] जो लक्षित होता है [दिखलाई देता है वह सन्निवेश आकार आदि 'लक्षण' पदसे अभिप्रेत है इसलिए [लक्षण-विषयक प्रश्नमे] कोई दोष नही है। अथवा आगे होने वाले लोग जिस नाट्यशालाकी रचना करे उसमे जो 'क्रिया' रूप पूजन है वह कैसे करना चाहिए इस प्रकार [श्लोक के पदोका] सम्बन्ध करना चाहिए ॥२॥

नाटय गहकी रचना विधिका प्रश्न—

अभिनव०—[सामान्य रूपसे भरतमुनि] पहिले पूछे हुए पाचो प्रश्नोका उत्तर देनेके बाद ही इस [नए प्रश्न] का उत्तर देगे इस सम्भावनासे [इस रचना-विषयक प्रश्नका पहिले उत्तर पानेकेलिए] मुनि लोग 'इहादि' आदि [श्लोक] फिर बोले—

भरत०—इस नाटययोगका प्रारम्भिक तत्त्व नाट्य मण्डप ही है। इसलिए आपको सबसे पहिले उसका लक्षण [आकार परिमाण आदि] ही बतलाना उचित है। ३।

---

१ म पूवप्रश्नार्थोपमर्दाय। २ य क्रिया कतव्यता।
३ न इहादौ। ४ न नाटचवेदस्य। ५ ठ म त कीर्तितो नाट्यमण्डप।

नाट्यस्य योग 'उत्पत्ति । 'तावत' इत्यनेन पूर्वप्रश्नितस्यात्याग उक्त । एवकारो लक्षण शब्दानन्तरम । इतिकतव्यतायास्तदङ्गत्वात, यजनस्य च तन्निष्पत्यनन्तरत्वात् ॥३॥

भरत०—तेषा तु वचन श्रुत्वा मुनीना भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षण पूजन चैव श्रूयता नाट्यवेश्मन[2] ॥ ४ ॥

तेषामिति । अन्यथा तु न ब्रूयादेव उक्ताद्धेतो । अनेन श्लोकेन लक्षण पूजनज्ञान देवानामप्युपयोगि, सङ्कल्पितस्यापि निर्माणस्य ज्ञानापेक्षित्वादित्युक्तम् । अत एवात्र क्रियेति नोक्तम् ॥ ४ ॥

अभिनव०—नाट्यका 'योग' अर्थात् उत्पत्ति । 'तावत' अर्थात सबसे पहिले इससे, पहिले पूछे हुए प्रश्नोको छोडा नहीं गया है यह सूचित किया है । 'एव' पदको लक्षण-शब्दके बाद समझना चाहिए । रचना शैली [इतिकतव्यता] उस [लक्षण आकार-परिमाण आदि] का ही अङ्ग है और यजनका [सम्पादन] उस [मण्डप] के बन जानेके बाद होता है [इसलिए सबसे पहिले लक्षण पर बल दिया है] ॥ ३ ॥

भरत०—उन मुनियोकी बातको सुन कर भरत मुनि बोले कि [अच्छा सबसे पहिले] आप लोग नाट्य गृहके लक्षण [आकार परिमाणादि] तथा पूजनको ही सुने । ४ ।

अभिनव०—उनके [वचनको सुन कर भरतमुनि बोले] इस पदसे [यह सूचित होता है कि] अन्यथा [अर्थात यदि मुनि लोग रचना विषयक प्रश्नपर बल न देते तो भरतमुनि] उसको पूर्वोक्त हेतुके कारण [अर्थात् पहिले पूछे हुए प्रश्नोके कारण अथवा पूजनकी अन्तरङ्गताके कारण इस समय] नही ही कहते । इस श्लोकसे [यह भी कहा है क्योकि] सङ्कल्पसे सिद्ध होने वाले देवताओके [मण्डपादि वस्तु] के निर्माणके लिए भी लक्षण [अर्थात् आकार-परिमाणादि] और पूजनके ज्ञानकी आवश्यकता है । इसीलिए [केवल लक्षण पूजन को कहा है] क्रियाको [अर्थात् रचना शैली को] यहाँ नहीं कहा है ॥४॥

रचना शलीका ज्ञान मनुष्योकेलिए ही है—

द्वितीय श्लोकमे क्रिया, लक्षण तथा पूजन इन तीनके विषयमे प्रश्न किया था । चौथे श्लोकमें 'लक्षण पूजन चैव श्रूयता नाट्यवेश्मन।' लिख कर उनमेंसे लक्षण तथा पूजन दोका ही उत्तर देनेका निर्देश किया है । क्रियाको छोड दिया है । वृत्तिकारने उसका यह आशय निकाला था कि लक्षण और पूजनका ज्ञान देवताओकेलिए भी उपयोगी है। क्रिया' अर्थात रचना शली आदिके ज्ञानकी देवताओको आवश्यकता नहीं होती है 'क्योकि देवताओकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है। इस लिए केवल लक्षण और पूजनका वर्णन करनेका निर्देश यहा किया है । यह बात कारिकासे पहिले वृत्तिकारने स्वतन्त्र रूपसे लिख दी थी । अब उसी बातको क्रियाको ही क्यो नही कहा है । इस प्रकारका प्रश्न उठा कर आगे मूल श्लोकसे उसका समाधान दिखलाते हुए कहते हैं ।

---

१ उपपत्ति ।　　　२ च नाट्यवेश्मनि ।

ननु किं 'क्रियैव नोच्यत इत्याह दिव्यानामिति—

भरत०—'दिव्याना मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
'नराणा यत्नत कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥ ५ ॥

श्रूयतामित्यनुवतते । नराणा कार्या क्रिया इतिकतव्यता च श्रूयताम् । चकाराल्लक्षण-

---

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो केवल क्रिया ही क्यो छोड दी है [नहीं कही है] इसके [उत्तरके] लिए 'दिव्याना' इत्यादि [श्लोक] कहते है—

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिका भागका पाठ बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें अशुद्ध तथा अनिश्चित रूपमें छपा है । कि क्रिय (या नै)' वोच्यते इस प्रकारका पाठ उन दोनो सस्करणो में पाया जाता है । इसके अतिरिक्त पाद टिप्पणीमें क्रियादेवोच्यते' इस प्रकारका पाठा तर भी दिया गया है । कि तु ये सभी पाठ अशुद्ध है । इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमे अथवा या क्रिया स्तत्र लक्षण यच्च पूजनम इस पक्तिके द्वारा मुनियोने भरतमुनिसे नाटचगृहकी १ क्रिया, इतिकतव्यता अर्थात रचना शली २ लक्षण अर्थात् आकार परिमाणादि और ३ पूजन विधि इन तीनके विषयमें प्रश्न किया था । परन्तु इनका उत्तर देनेका उपक्रम करते समय चतुथ श्लोकमें भरतमुनिने 'लक्षण पूजन चैव श्रूयता नाटचवेश्मन ' इस पक्तिमे केवल लक्षण तथा पूजन दो बातो का ही विवेचन करनेका निर्देश किया है । क्रिया' अर्थात् रचना विषयक प्रश्नको बिल्कुल छोड दिया है । इस लिए यहा स्वाभाविक रूपसे यह प्रश्न उठता है कि भरतमुनिने क्रियाको क्यो छोड दिया है । इस प्रश्नका उत्तर वत्तिकार अभिनवगुप्तने तो द्वितीय कारिकाकी अवतरणिकामें ही सक्षेपसे दे दिया था । कि तु कारिकाकार भरतमुनिने अगली पाचवी कारिका इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए लिखी है । उनके मतमे क्रिया प्रश्नको छोड देनेका कारण यह है कि देवताओको रङ्ग मण्डपके आकार परिमाणादि रूप लक्षण तथा पूजन विधिके ज्ञानकी तो आवश्यकता होती है कि तु रचना विधिके ज्ञानकी उनको आवश्यकता नही होती है क्योकि उनकी अभीष्ट वस्तुओकी तो केवल सङ्कल्पमात्रसे ही रचना हो जाती है । इस कारण देवताओकेलिए अनुपयुक्त होनसे क्रिया या रचना विधि विषयक निरूपणको छोड दिया गया है यह भरतमुनिका अभिप्राय है । इस अभिप्रायको ध्यानमें रखनेपर इस कारिकाकी अवतरणिकामें पूव सस्करणोमें जो कि क्रियैवोच्यते' पाठ छपा है वह अशुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे एक दम विपरीत होनेसे त्याज्य है । उसके स्थानपर 'कि क्रियैव नोच्यते इत्याह दिव्यानामिति' यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है । अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

भरत०—देवताओकी गहों तथा उपवन आदिके विषयमे मानसी सृष्टि होती है [इसलिए देवताओं के प्रसङ्गमे 'इतिकतव्यता' रचना शैलीका वणन करनेकी आवश्यकता नही है यह अभिप्राय है] । मनुष्योंको शास्त्रमे कही हुई ['लक्षणाभिहितामे' लक्षण शब्दका अथ 'शास्त्र' है] क्रिया यत्न पूवक करनी होती है । ५ ।

अभिनव०—'श्रूयताम' इस [पद] की [पिछली कारिकासे] अनुवृत्ति आरही है । [मनुष्योके प्रसङ्गसे] मनुष्योके द्वारा यत्न पूर्वक की जाने वाली 'क्रिया' अर्थात

---

१ क्रियवोच्यते । म क्रियादेवोच्यते । २ च देवानाम ।

३ इत पूर्वं 'यथा भावाभिनिवर्त्या सर्वे भावास्तु मानुषा' इति व पुस्तके अधिक दृश्यते

पूजने । शास्त्रेणोक्ता नराणामेव कस्मादित्याह दिव्यानामिति । सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि [1]विषयत्वम् । यत्र जन्मक्रमनियतप्ररोहकुसुमफलानि बहुविचित्रतरुलतास्थलीसरोवराक्रीड-मयानि उपवनान्यपि मानसानि तत्र गृहे का [2]असम्भावना इति ॥ ५ ॥

इतिकर्तव्यताको भी सुनो । 'चकार' से लक्षण तथा पूजन [का भी ग्रहण हो जाता है उनको भी सुनो । लक्षणाभिहिता अर्थात] शास्त्रमे कही हुई [क्रिया अर्थात् इतिकर्तव्यता अर्थात् रचना प्रकार] मनुष्योकेलिए क्यो है [देवताओकेलिए क्यो नही है] इस [शङ्काके समाधान] केलिए 'दिव्याना' इत्यादि [श्लोकार्ध] कहा है । [देवताओकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है उनको बनानेकी आवश्यकता नही होती है अत उनकेलिए रचना प्रकार जाननेकी आवश्यकता नही है । केवल मनुष्योको ही उसके ज्ञानकी आवश्यकता है यह अभिप्राय है । 'गृहेषूपवनेषु च' मे जो विषयत्व सूचक सप्तमी विभक्तिका प्रयोग हुआ है उसका समाधान करते है कि] सृज्यमान होनेसे कर्म विभक्तिके योग्य [गृहेषु वनेषु पदो] मे भी विषयत्व [अर्थात् सप्तमी विभक्ति होती] है । [देवताओके सम्बन्धमे] जहा जन्म क्रमसे नियत [अर्थात् जिनके जन्मका क्रम नियत है इस प्रकार के, क्रमसे उत्पन्न] अकुर, फूल और फल तथा नाना प्रकारके वृक्ष लता भूमि सरोवर तथा क्रीडास्थानोसे युक्त उपवन भी [मानस अर्थात्] सङ्कल्पजन्य है वहा [अर्थात देवताओमे] गृहो [अर्थात् नाट्यगृहो] के विषयमे क्या असम्भावना हो सकती है [अर्थात् वे तो सङ्कल्प जन्य होते ही हैं] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बडोदा वाले सस्करणोमे अशुद्ध छपा है । प्रथम सस्करणमे 'कर्मणोऽपि विषयत्वविहीनता' पाठ छपा था । वह ग्रन्थकारके अभिप्रायके एक दम विपरीत है । मूल श्लोकमे जो 'गृहेषूपवनेषु च' यह सप्तमी विभक्तिका प्रयोग आया है 'इसमें गृह और उपवन सृज्यमान होनेसे कर्म है । उनमें कर्तृकर्मणो कृति २ ३ ६५ से षष्ठी विभक्ति भी हो सकती है । किन्तु यहाँ वैषयिक आधार मान कर सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त की गई है । इस लिए यह विषय सप्तमी है । इस बातको दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि विषयत्वम' यह पंक्ति लिखी है । इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए यहाँ विषयत्वम् यही पाठ होना चाहिए । प्रथम-सस्करणमें छपा हुआ 'विषयत्वविहीनता' तथा द्वितीय सस्करणमे छपा हुआ 'विषयत्ववि (त्वमेव) 'ये दोनो पाठ अशुद्ध है । अत हमसे सशोधित रूपमें 'विषयत्वम्' यही पाठ यहा प्रस्तुत किया है ।

इस कारिकाकी वृत्तिमे ग्रन्थकारने 'जन्मक्रमनियत प्ररोह कुसुम फलानि' यह जो पंक्ति लिखी है इसके लिखते समय कदाचित कालिदासका निम्नाङ्कित श्लोक उनको स्मरण हो आया था—

उदेति पूर्व कुसुम तत फल घनोदय प्राक् तदनन्तर पय ।
निमित्त नैमित्तिकयोरय क्रम तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पद ॥

इससे प्रभावित होकर ही कदाचित् अभिनवगुप्तने यह पंक्ति लिखी है ॥ ५ ॥

---

१ ब I विषयत्व विहीनता । ब II विषयत्ववि [त्वमेव] । २. ब सम्भावना ।

भरत०—श्रूयता तद्यथा [1]यत्र कर्तव्यो नाटचमण्डप ।
तस्य [2]वास्तु च पूजा च [3]यथा योज्या प्रयत्नत ॥६॥

श्रूयतामिति—तदिति यतो नराणा यत्नत काय [4]। यत्रति देश कालौ। वास्त्विति गहभूमिगत परिमाणमिह मन्तव्यम् ॥६॥

'लक्षणोक्ता' इत्युक्त, तत्र किं तल्लक्षणमित्याह इह प्रेक्षागहमिति—

भरत०—इह [5]प्रेक्षागृह दृष्ट्वा [6]धीमता विश्वकर्मणा ।
त्रिविध सन्निवेशश्च शास्त्रत [7]परिकल्पित ॥७॥

भरत०—इसलिए जहा और जिस प्रकार से नाटय मण्डपकी रचना करनी चाहिए उसको तथा उसकी वास्तु कला [अर्थात परिमाणादि] और यथा योग्य पूजादि किस प्रकार करनी चाहिए इस सबको सावधान होकर सुनो ।६।

अभिनव०—सुनो [श्रूयताम यह कारिकाका प्रतीक है]। 'इसलिए' अर्थात् क्योकि मनुष्योको यत्न पूर्वक रचना [नाट्यमण्डपकी] करनी होती है। 'जहाँ' इस [पद[से देश और कालका ग्रहण होता है। 'वास्तु' इस [शब्द] से यहाँ नाट्यगृहकी भूमि का परिमाण आदि समझना चाहिए ॥६॥

शास्त्रके आधारपर प्रेक्षागहकी कल्पना—

पिछली पाचवी कारिकामें 'नराणा यत्नत कार्या लक्षणामिहिता क्रिया' मनुष्योको नाटच मण्डपकी शास्त्रोक्त रचना पद्धतिका अवलम्बन यत्न पूवक करना होता है' यह कहा था। इसमे 'लक्षणोक्त क्रिया' का निर्देश किया गया है। लक्षण शब्दकी लक्ष्यते इति लक्षणम' जो दिखलाई देता है वह लक्षण' है इस प्रकारकी व्युत्पति करके नाटच मण्डपके आकार सन्निवेश आदिके लिए भी वत्तिकारने 'लक्षण' शब्दका प्रयोग माना है। पर वह अथ तो लक्षणोक्ता' पदमें सङ्गत नही होता है। उसमें तो 'लक्षण' शब्दका शास्त्र' अथ ही सङ्गत होता है। 'लक्षणोक्ता क्रिया अर्थात शास्त्रोक्त क्रियाका जो उल्लेख पहिले किया गया है उसमें शास्त्र ही कैसे प्रमाण है इस बातको पुष्ट करनकेलिए अगली कारिका लिखी गई है। इसी दृष्टिसे विवतिकार उस की अवतरणिका करते हुए लिखते है—

अभिनव०—'लक्षणोक्त' [क्रिया करनी होती है] यह [पाँचवी कारिकामे पहिले] कहा गया था। उस [के समथन] मे वह कौन सा लक्षण [शास्त्र] है इस [के प्रतिपादन] केलिए 'इह प्रेक्षागृह' इत्यादि [अगली कारिका] कहते है—

भरत०—इस [नाटय मण्डपके] विषयमे प्रेक्षागह [की रचना आदि] को [देख कर अर्थात्] विचार करके महा पण्डित विश्वकर्माने उसके तीन प्रकारके आकार [सन्निवेश,] और [च शब्दसे तीन प्रकारके] परिमाणकी शास्त्रके अनुसार कल्पना की ।७।

---

१ ठ म तत्र। २ ठ म दवतपूजा च। ३ म यथा योज्या च वास्तुषु।
४ व कार्यताप्रकार। ५ ठ म प्रेक्षागहाणा तु। न प्रेक्षागृह दृष्टम्।
६ क व श्रीमता। ७ ड परिकीर्तित।

इह नाट्यमण्डपे। सन्निवेश **आकार** चशब्दात् 'परिमाणमपि। विश्वकर्मणा परिकल्पित। किं स्वबुद्धया? न, अपितु [2]'दृष्ट्वा' प्रेक्षागृह विचाय। शक्तश्चासौ विचार इत्याह धीमतेति। [3]**विचारेऽपि कथ ज्ञायत** इत्याह 'शास्त्रत'। शास्त्र कृतम्। तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम् ॥७॥

अभिनव०—इसमे अर्थात् नाटच मण्डपके विषयमे। सन्निवेश अर्थात आकार और च शब्दसे [तीन प्रकारका] परिमाण भी। विश्वकर्माने 'परिकल्पित' अर्थात् निश्चित किया। क्या अपनी बुद्धिसे यो ही कल्पना कर ली? [यह शङ्का होती है। इसका उत्तर देते है कि—] नही अपितु 'दृष्ट्वा' 'देखकर' अर्थात् प्रेक्षागृहका विचार करके। वह [विश्वकर्मा] इसके विचार करनेमे समथ है इसके बोधनकेलिए 'धीमता' यह [विशेषण दिया] है। अच्छा विचार करने पर भी यह कैसे विदित होता है [कि प्रेक्षागृहका तीन ही प्रकारका आकार-परिमाण आदि होता है] इस [शङ्काके निवारण] केलिए 'शास्त्रत' यह कहा है। [अर्थात् शास्त्र इस विषयका प्रतिपादन करता है। उससे ही इसका ज्ञान होता है। और वह] शास्त्र [नित्य नहीं अपितु कृतक] अनित्य है। [किन्तु] उसमे भी दूसरा शास्त्र प्रमाण है। [इसलिए शास्त्रका अप्रामाण्य नहीं समझना चाहिए]। इस प्रकार शास्त्रकी प्रवाहसे अनादिता सूचित की है।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्यामे 'सनिवेश च शब्दात प्रमाणमेतत' इस प्रकार का पाठ पूव सस्करणोमें छपा था। उसमें 'एतत यह पाठ ठीक नही है उसके स्थानपर 'अपि' पाठ होना चाहिए। 'एतत' पाठ की तो यहा कोई सङ्गति नही लगती है। 'अपि' पाठ माननेसे वाक्यकी आकाक्षा पूर्ण हो जाती है और सङ्गति भी ठीक लग जाती है। इसके अतिरिक्त 'सनिवेश' वह इतना पद भी ठीक नही प्रतीत होता है। या तो उसके आगे 'आकार' शब्द दिया जाय। उस दशामें 'सनिवेश आकार, च शब्दात परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। या फिर 'सनिवेशश्चेति च शब्दात परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। इन दोनोमेसे भी पहिला अर्थात 'सनिवेश आकार, च शब्दात परिमाणमपि' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने सशोधित रूपमे उसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके पाठमे हमें दो स्थानोपर और भी सशोधन करनेकी आवश्यकता पडी है। इनमेसे एक सशोधन लुप्त पाठ सम्बन्धी है और द्वितीय सशोधन अस्थान पाठ विषयक सशोधन है। 'किं स्व बुद्धया? न' अपितु शास्त्रत प्रेक्षागृह विचाय' इस प्रकारका पाठ बडौदा वाले दोनो सस्करणोमे पाया जाता है। परन्तु वह अशुद्ध है। उसमें जहा शास्त्रत' शब्द दिया गया है उसके स्थानपर 'दृष्टवा' पदका प्रयोग होना चाहिए। यो तो 'शास्त्रत प्रेक्षागृह विचाय' इसकी अर्थ सङ्गति ठीक लग सकती है। किन्तु इस व्याख्याको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वृत्ति-ग्रन्थमें प्रेक्षागृह विचाय' यह व्याख्या मूल कारिकाके 'प्रेक्षागृह दृष्ट्वा' इन शब्दोकी ही की जा रही है। इनमे 'प्रेक्षागृह' पद तो व्याख्यामें ज्यो का त्यो आ गया है। मूलके 'दृष्ट्वा' का अर्थ 'विचाय' किया गया है। इस दृष्टिसे यहा 'शास्त्रत' स्थानपर 'दृष्टवा' पाठ होना चाहिए।

---

१ व प्रमाणमेतत। म प्रमाणहेतुकमतत्। २ शास्त्रत।

३ 'विचारेऽपि' इति अस्मदीय पाठ।

कोऽसौ त्रिविध इत्याह विकृष्टश्चेति—

भरत०—विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डप ।
तेषा त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठ [1]मध्य तथावरम् ॥८॥

विभागेन कृष्टो दीर्घा न तु चतसृषु दिक्षु साम्येन । [2]तिस्त्रो अश्रयस्त्यूत्री । तदस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदकी अगली पक्तिका पाठ भी पूव सस्करणोमें अशुद्ध छपा है। 'ज्ञायत इत्याह । शास्त्र कृत तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्' इस प्रकारका पाठ बडौदा वाले सस्करणोमे छपा है। किन्तु उसमे 'ज्ञायत इत्याह शास्त्र कृत' इस भागकी कोई सङ्गति नही लगती है। इसका कारण यह है कि यहाँ कुछ पाठ लुप्त हो गया है। वत्तिकार अभिनवगुप्त यहा मूल कारिकाके 'शास्त्रत' पदका पद कृत्य दिखलाना चाहते हैं। इसके पूव 'दृष्टवा' पदका अथ वे 'विचाय' कर चुके हैं। विश्वकर्माने विचार पूवक नाट्यगृहके तीन प्रकार के आकार परिमाण आदिका निश्चय किया है यह बात 'प्रेक्षागृह दृष्टवा' इन मूल पदोके द्वारा कही गई है। कि तु विचार करनेपर भी प्रेक्षागृह का आकार परिमाण आदि तीन ही प्रकारका होना चाहिए यह बात निश्चय पूवक कैसे ज्ञात होती है यह शङ्का किसीके मनमें उठे तो उसके समाधानकेलिए कारिकामे 'शास्त्रत' पद रखा गया है। अर्थात इसका निणय शास्त्रसे होता है। अर्थात शास्त्रके अनुशीलनसे उसके आधारपर प्रेक्षागृहके तीन प्रकारके आकार परिमाण आदिका निर्धारण किया जाता है यह ग्रन्थकार अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। किन्तु इस स्थल का जो पाठ पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है उससे यह अथ ठीक तरहसे नही निकलता है। उसमें कुछ पाठ लुप्त हो गया है उसीके कारण यहाँ अथकी सङ्गति नही लग रही है। यदि लुप्त पाठकी पूर्ति की जा सके तो उसका अथ स्पष्ट हो सकता है। ग्र थकार के पूर्वोक्त अभिप्रायको ध्यानमे रख कर यहा विचारेऽपि कथ' इतना पाठ लुप्त प्रतीत होता है। उसको मिला कर इस स्थलका पाठ विचारेऽपि कथ ज्ञायत इत्याह 'शास्त्रत'। शास्त्र कृतम्। तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्।' इस प्रकारका पाठ यहा होना चाहिए। इस लिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥७॥

तीन प्रकारके प्रेक्षागह—

अभिनव०—वह तीन प्रकारका [सन्निवेश या आकार] कौन सा है यह बात 'विकृष्ट' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात] आयताकार, [चतुरस्र अर्थात्] वर्गाकार और [त्र्यस्र अर्थात्] त्रिभुजाकार [तीन प्रकारका] मण्डप [प्रेक्षागहोका आकार] होता है। उन [तीनो आकारके मण्डपो अर्थात् प्रेक्षागहों] के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण होते हैं।८।

अभिनव०— विकृष्ट विभागेन कृष्ट अर्थात् दीघ लम्बाई चौडाई दोनो दिशाओमे विभागेन अलग-अलग खीचा गया [अर्थात् जिसकी लम्बाई चौडाई की अपेक्षा अधिक] हो। चारो ओर बराबर [लम्बाई] न हो। [इस प्रकारके अधिक लम्बाई और कम चौडाई वाले चतुष्कोण क्षेत्र या आकारको आयताकार क्षेत्र कहा जाता है।

---

१ म मध्य तथा परम्। ठ मध्यमथापरम्। प मध्यमथाधमम्।

२ भ तिस्त्रोऽश्रा यस्य त्र्यश्रि।

एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनीति केचित् । अन्ये तु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु । एतदेव युक्तम । तथा चाह तेषा 'त्रीणि प्रमाणानीति' । हस्तदण्डाश्रय ज्येष्ठादित्व, न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत ॥८॥

भरत०—प्रमाणमेषां [1]निर्दिष्ट हस्त-दण्डसमाश्रयम् ।
[2]शत चाष्टौ चतु षष्टि-र्हस्ता द्वात्रिंशदेव च[4] ॥ ६ ॥

'शत [5]चाष्टौ चतुषष्टि द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात्' इति केचित् पठन्ति । तेषा [6]चापि हस्तदण्डसमाश्रयत्व [7]वाच्यम् भवति । एतच्च सव सम्भावनामात्रेणोच्यते [8]नानुवादकतया, न त्वियन्तो भेदा उपयोगिन । एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दष्टा ।

उसे कारिकामे 'विकृष्ट' पदसे कहा गया है । इसके विपरीत जिसकी चारो ओरकी भुजाए समान लम्बाई की हो उसको वर्गाकार क्षेत्र कहा जाता है उसीको कारिकामे 'चतुरस्र' पद से कहा है । तीन अश्री अर्थात कोण 'त्र्यश्री' शब्दका अर्थ है वे जिसमे हो वह [त्र्यश्र या त्र्यस्र त्रिकोण क्षेत्र कहलाता है] इस अर्थमे मत्वर्थीय अच-प्रत्यय [और ईकारका लोप होकर 'त्र्यश्र' पद बनता] है ।

अभिनव०—ये [विकृष्टादि] ही ज्येष्ठ आदि तीन है यह किन्ही का मत है । दूसरे लोग इनमे से प्रत्येकको तीन तीन प्रकारका मानते है । इस प्रकार नौ भेद होते हैं । यही मत उचित भी है । इसीलिए 'उनके तीन प्रमाण' यह [बहुवचन] कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि हस्त और दण्ड परिमाणोके अनुसार [मण्डपो का] ज्येष्ठ [मध्यम कनिष्ठ] आदि भाव होता है [विकृष्ट, चतुरश्र आदि] आकारके आधारपर नहीं ॥८॥

ज्येष्ठ आदि प्रेक्षागृहोका परिमाण—

भरत०—इन [विकृष्ट आदि तीनो प्रकारके मण्डपो] का परिमाण हाथ तथा दण्ड [ये दोनो मापकी इकाइया है । एक दण्ड चार हाथके बाराबर होता है] के आधारपर निश्चित किया गया है । एक सौ आठ अथवा चौंसठ अथवा बत्तीस हाथ इन [की एक भुजा] का परिमाण होता है ।६।

अभिनव०—कोई लोग [इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागको] 'शत चाष्टौ चतु षष्टि-र्द्वात्रिंशच्चेति निश्चयात्' इस प्रकार पढते हे । उन [दूसरा पाठ मानने वालो] को भी हस्त दण्डसमाश्रयत्वको कहना ही पडेगा । यह सब [भेदोकी सख्या आदि] सम्भावना मात्रसे कहा जा रहा है । अनुवाद रूपमे नही अर्थात् इतने सब भेद उपयोगी नहीं है । इस प्रकार शास्त्रमे [नाट्य मण्डपके] १८ भेद पाए जाते है । [अर्थात विकृष्ट आदि तीन, फिर उन तीनोकी १०८ हाथ, ६४ तथा ३२ हाथकी लम्बाईकी दृष्टिसे तीन-तीन भेद होकर ३×३=६ भेद हुए । ये नौ भेद हाथ और दण्ड के भेदसे दो-दो प्रकारके होकर ६×२=१८ भेद बन जाते हैं] ।

---

१ तेषामिति प्रमाण ।　　२ न व विज्ञेयम ।　　३ न व शत साष्टम् ।
४ न म द्वात्रिंशच्चेति निदचयात । निश्चित । ड छ द्वात्रिंशदिति निश्चय ।
५ म साष्ट शतम् । ६ चास्ति । ७ वाचक । ८ म अनुवादकतया ।

ते [4]चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनस्तथापि च सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टा। केषाञ्चित् कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति। यथोक्त–'अप्रयुक्ते दीघसत्रवत्' इति ॥९॥

इद [1]त्विहोपयोगीति दर्शयति—अष्टाधिक शतमित्यादि—

भरत०–अष्टाधिक शत ज्येष्ठ चतु षष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म [2]हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

'इष्यते' [3]इत्यद्यत्वेऽपि इत्याशय ॥१०॥

अभिनव०—वे यद्यपि आज कल काम मे नही आते है फिर भी सम्प्रदायकी रक्षाकेलिए कहे गए हे। कदाचित् कभी कि हीका उपयोग होजाय इस दृष्टिसे। जैसा कि [महाभाष्यकारने] कहा है 'अप्रयुक्ते दीघसत्रवत्' [अर्थात् अप्रयुक्त शब्दोका उपदेश दीघसत्रके समान किया गया है]।

अप्रयुक्ते दीघसत्रवत् का अभिप्राय यह है। बारह वर्षामें पूर्ण होने वाले यज्ञोको 'सत्र नामसे कहा जाता है। परन्तु ऐसे यज्ञोका भी ब्राह्मण ग्र थोमे वर्णन मिलता है जो सौ वष या सहस्र वर्षोमें पूर्ण होते हं। उ हीकेलिए यहाँ 'दीघसत्र' शब्दका प्रयोग हुआ है। व्यावहारिक दृष्टिसे आजसे दो हजार वष पूव महाभाष्यकार पतञ्जलिके युगमें भी उस प्रकारके लम्बे यज्ञोका कोई उपयोग नही था। क्योकि उतने लम्बे यज्ञ उस समय भी कोई नही करता था। फिर भी उनका वर्णन ब्राह्मण ग्र थोमे मिलता था। उसके दो ही प्रयोजन हो सकते है एक तो यह कि उस प्रकारके 'दीघसत्र' लम्बे यज्ञ भी कभी होते थे इसका ज्ञान लोगोको बना रहे और उनका सम्प्रदाय अथवा परम्परा बिल्कुल समाप्त न हो जावे। उनके प्रतिपादन करनेका दूसरा प्रयोजन यह था कि शायद आगे कभी कोई इस प्रकारके यज्ञोका करने वाला मिल ही जावे। इस 'दीघसत्र' के उदाहरण द्वारा महाभाष्यकारने व्याकरण शास्त्रमें अप्रयुक्त शब्दोकी सिद्धि प्रक्रियाका प्रतिपादन किए जानेका समथन किया है। उसका भाव यह है कि जो शब्द आज प्रयुक्त नही होते हैं उनका भी प्रयोग किसी समयमे होता था इसके ज्ञानकेलिए, या सम्भव है कि आगे फिर कभी उनका प्रयोग होने लगे इस दृष्टिसे 'दीघसत्रो' के समान उनका प्रतिपादन किया जाता है। इसी उदाहरणको यहाँ अभिनवगुप्तने नाटच मण्डपके भेदोके विषयमें लागू किया है। जो मण्डप आज उपयोगी नही हैं वे भी कभी उपयोगी रहे थे या आगे कभी उनका उपयोग हो सकता है इसलिए उनकी परम्पराकी रक्षाकेलिए उनका निर्देश यहा किया गया यह उनका भाव है।

मण्डपोका उपयोगी परिमाण—

अभिनव०—ये [आगे कहे जाने वाले मण्डपोके भेद] तो आजकल उपयोगी है इस बातको 'अष्टाधिक शत' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते है—

भरत०—एक सौ आठ [हाथ की एक भुजा] का ज्येष्ठ चौसठ [हाथ] का मध्यम और बत्तीस हाथ का [नाटचमण्डप] कनिष्ठ समझा जाता है। १०।

अभिनव०—'इष्यते' इस [पद] से आज भी समझा जाता हे यह आशय है ॥ १० ॥

---

१ म भ इदन्त्विनीहो पदोगीति। २ छ म त द्वात्रिंशत्करमिष्यते। ३ म भ इत्यन्यत्वेऽपि। ४ म ते चाद्यत्वे।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी वृत्तिमे इष्यत इति अ यत्वेऽपीत्याशय ' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा था । परन्तु वह अशुद्ध है । उसमे 'अन्यत्वेऽपि के स्थानपर 'अद्यत्वेऽपि पाठ होना चाहिए । अ यत्वेऽपि' इस पाठ की यहा कोई सङ्गति नही लगती है । अद्यत्वेऽपि' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है । इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

प्रेक्षागहोके भेदोपभेद—

द्वितीय अध्यायके ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोमें प्रेक्षागृहके भेदोका वर्णन किया गया है । ये भेद एक आकार और दूसरे परिमाण इन दो आधारोपर किए गए हैं । आकारकी दृष्टिसे विकृष्ट अर्थात् आयताकार, चतुरस्र अर्थात् वर्गाकार और त्र्यस्र अर्थात त्रिभुजाकार इन तीन प्रकारके प्रेक्षागृहो या नाटच मण्डपोकी रचना हो सकती है । परिमाणकी दृष्टिसे १०८ हाथ लम्बा, ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ लम्बा ये तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं । इस प्रकार विकृष्ट आदि तीनो आकार वाले प्रेक्षागृहोके परिमाणकी दृष्टिसे १०८, ६४, ३२ हाथकी लम्बाईवाले तीन तीन भेद होकर नौ भेद बन जाते हैं । मण्डपोकी लम्बाई या परिमाणकी माप हाथ' और 'दण्ड' दो आधारो या दो साधनोके द्वारा की जा सकती है । इसलिए पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोमें से प्रत्येकके हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो दो भेद होकर प्रेक्षागह या नाटच-मण्डपके कुल अठारह भेद हो जाते हैं । इ ही अठारह भदोकी गणना ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोमे दिखलाई गई है । इसी बातको 'एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टा ' लिखकर अभिनवगुप्तने भी सम्पुष्ट किया है ।

प्रेक्षागहोकी ज्येष्ठता आदिका आधार—

इन्ही पूर्वोक्त तीन श्लोकोमें उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रेक्षागृहोके ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके भेद किए गए हैं । इस ज्येष्ठता आदिके निर्णयके भी दो आधार बन सकते हैं एक आकार और दूसरा परिमाण । आकारके आधारपर यदि ज्येष्ठता आदिका निर्णय किया जाय तो विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम, तथा त्र्यस्रको अवर श्रेणीका प्रेक्षागह कहा जावेगा । और यदि परिमाणके आधारपर इनका विभाजन किया जाय तो १०८ हाथ वाला मण्डप ज्येष्ठ, ६४ हाथ वाला मध्यम और ३२ हाथ वाला अवर श्रेणीका मण्डप कहा जावेगा । अभिनवगुप्तके पूर्ववर्ती कुछ टीकाकार आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदिका निर्णय करते थे । पर तु अभिनवगुप्त आकारके आधारपर नही अपितु परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता कनिष्ठताका निर्णय करते हैं । जो लोग आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदि मानते हैं उनके मतमें प्रेक्षागहोके केवल तीन ही भेद होते हैं । उनको विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र नामसे भी कहा जा सकता है और उ हीको ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर रूपसे भी कहा जा सकता है । किन्तु जो आकारके बजाय परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता आदिका निर्णय मानते हैं उनके मतमें विकृष्ट आदि प्रत्येक आकार वाले प्रेक्षागहके तीन तीन भेद होकर नौ भेद, और उनमेंसे प्रत्येकके हस्ताश्रित तथा दण्डाश्रित दो दो भेद होकर कुल अठारह प्रकारके प्रेक्षागृहोके भेद बन जाते हैं । अभिनवगुप्तने ज्येष्ठत्वादिके निर्णायक इन दोनो आधारोका निर्देश 'एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनिति केचित् । अ ये तु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु ' लिखकर किया है । स्वय अभिनवगुप्त परिमाणके आधारपर ही ज्येष्ठत्वादिको मानते हैं इस बातको उ होने 'हस्तदण्डाश्रय ज्येष्ठादित्व, न तु सन्निवशाश्रयमिति यावत्' लिखकर असन्दिग्ध रूपसे निर्दिष्ट कर दिया है ।

हस्त परिमाणसे नौ प्रकारके मण्डप—

पूर्वोक्त विवरणके अनुसार विकृष्ट आदि आकाराश्रित तीनो भेदोके हाथोके परिमाणके आधारपर तीन तीन भेद होकर प्रेक्षागृहोंके नौ भेद बन जाते हं। इनमेरो प्रत्येक आकारके परिमाणाश्रित तीनो भेद क्रमश ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर कहलाते हैं। अगले श्लोकमें यह बतलाया जावेगा कि इनमेंसे ज्येष्ठ मण्डप देवताओकेलिए मध्यम मण्डप राजाओकेलिए और अवर मण्डप अ य साधारण जनोकेलिए उपयोगी होता है। इन ८ ११ तकके चार श्लोकोके आधारपर हस्ताश्रित इन नौ प्रकारके मण्डपोका विवरण निम्न रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

	आकार		प्रकार	परिमाण			उपयोग
	श्लोक ८ में वर्णित		श्लोक ८ में वर्णित	श्लोक ९-१० में वर्णित			श्लोक ११ में वर्णित
१	विकृष्ट	१	ज्येष्ठ	१०८×६४	हाथ		देवताथ
	विकृष्ट	२	मध्यम	६४ ×३२	हाथ		नपाथ
	विकृष्ट	३	अवर	३२ ×१६	हाथ		लोकाथ
२	चतुरस्र	४	ज्येष्ठ	१०८×१०८	हाथ		देवताथ
	चतुरस्र	५	मध्यम	६४ ×६४	हाथ		नृपाथ
	चतुरस्र	६	अवर	३२ ×३२	हाथ		लोकाथ
३	त्र्यस्र	७	ज्येष्ठ	१०८	हाथ	समत्रिबाहु	देवताथ
	त्र्यस्र	८	मध्यम	६४	हाथ	समत्रिबाहु	नपाथ
	त्र्यस्र	९	अवर	३२	हाथ	समत्रिबाहु	लोकाथ

इस विवरणमे एक असङ्गति—

यह जो नौ प्रकारके प्रेक्षागृहोके परिमाणका विवरण पूर्वोक्त चार श्लोकोके आधारपर प्रस्तुत किया गया है यह स्थूल दृष्टिसे देखनेपर ठीक है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे जब हम इसपर विचार करते हैं तो उसमें एक असङ्गति सी प्रतीत होती है। वह असङ्गति मुख्यत प्रेक्षागृहाणा तस्मान्मध्यमिष्यते' [२ २१] इस मध्यम मण्डपके विधानके कारण उपस्थित होती है। आगे चल कर इसी अध्यायमें श्लोक स० ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र मण्डपके निर्माणका वर्णन किया गया है। उसमें 'सम ततश्च कतव्यो हस्ता द्वात्रिशदेव तु' लिख कर भरतमुनिने चतुरस्र मण्डपका परिमाण चारो ओर ३२ हाथका बताया है। ऊपर दिए हुए चित्रमे ३२×३२ हाथका जो चतुरस्र मण्डप आया है वह चतुरस्र श्रेणीका अवर मण्डप है। इसके पूव १७ वें श्लोकसे लेकर ८५ वे श्लोक तक विकृष्ट मण्डप की रचनाका विस्तार पूवक वणन किया गया है। १७वे श्लोकमें उसका परिमाण ६४×३२ हाथका बतलाया गया है। ऊपर दिए हुए चित्रमे ६४×३२ हाथ का विकृष्ट मण्डप उस वगका मध्यम मण्डप बनता है। और मध्यम मण्डपके विधानके अनुसार वह सवथा उपयुक्त बठता है। इसी प्रकार चतुरस्र श्रेणीमे भी मध्यम मण्डपका ही विवरण दिया जाना चाहिए। किन्तु ऊपर दी हुई सूचीके अनुसार ३२×३२ हाथका चतुरस्र मण्डप उस वगका अवर मण्डप बनता है मध्यम नही। यह एक असङ्गति इस विवरणमे प्रतीत होती है।

इस असङ्गतिका समाधान—

आधुनिक विद्वानोमे डाक्टर मनकद और प्रो० सु वारावने इस असङ्गतिका समाधान करनेका यत्न किया है। डा० मनकद ने कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले इडयन हिस्टारिकल क्वाटरली' पत्रिकाके सन १९३२ के द्वितीय अङ्कमें 'हिदू थियेटर शीपकसे एक लेख लिखा था। उसमें इस विषयपर विचार करते हुए उहोने इस असङ्गतिका यह समाधान दिखलाया था कि ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण हैं। जो क्रमश १०८ हाथ ६४ हाथ और ३२ हाथ से प्रारम्भ होते हैं। और विकृष्ट आदि जो तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं उनमेंसे विकृष्ट मण्डप ज्येष्ठ मण्डप है अत वह १०८ हाथसे प्रारम्भ होता है। १०८×६४ हाथ विकृष्ट मण्डपका सबसे बडा ज्येष्ठ आकार है। ६४×३२ विकृष्ट मण्डपका मध्यम परिमाण है। इसी प्रकार जब हम चतुरस्र मण्डपाके विषयमे विचार करते हैं तो चतुरस्र मण्डप मध्यम श्रणीका मण्डप ठहरता है। मध्यम मण्डप ६४ हाथसे प्रारम्भ होता है। अत ६४×६४ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका सबसे बडा ज्येष्ठ मण्डप बना। और ३२×३२ हाथका चतुरस्र मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम मण्डप बना। इस प्रकार नाटयशास्त्रमें जो ३२×३२ हाथके चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया गया है वह चतुरस्र वगके मध्यम मण्डपका ही विवरण हे। यह डा० मनकदके समाधानका साराश है।

दूसरा समाधान—

इस असङ्गतिके विषयमे दूसरा समाधान प्रो० सु वारावने प्रस्तुत किया है। प्रो० सुव्वाराव बडौदा विश्वविद्यालयके फकल्टी आफ टक्नालोजी एण्ड इजानियरिंग के डीन है। बडोदासे प्रकाशित नाटयशास्त्रके द्वितीय सस्करणके अ तमें उहोने नाटयशास्त्रके द्वितीय अध्यायके आधारपर नाटय मण्डपका विवरण प्रस्तुत करते हुए एक लेख दिया है। उसमें उहोने भी इस स्थितिको स्वीकार किया है कि विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ, चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर मण्डप कहलाता है। और उनका आरम्भ क्रमश १०८ हाथ ६४ हाथ तथा ३२ हाथसे होता है। यह दृष्टिकोण डा० मनकद वाले दृष्टिकोणसे मिलता जुलता है और उसके अनुसार ३२×३२ हाथका चतुरस्र मण्डप उस श्रेणीका मध्यम मण्डप ही ठहरता है।

पर इस समाधानके अतिरिक्त उहोने एक बात और भी लिखी है और वह यह है कि ऊपर जो नौ प्रकारके मण्डपोकी सूची दी गई है वे सब मण्डप काममे नही आते हं। उनमेंसे केवल तीन ही मण्डप कामके योग्य निकलते हैं। और उन तीन मण्डपोमेसे चतुरस्र वगका केवल ३२×३२ हाथका ही मण्डप कामके योग्य निकलता है इसलिए भरतमुनिने उसीका विवरण दिया है। चतुरस्र वगके शेष दो मण्डप उनकी दृष्टिमे अव्यावहारिक हैं। इसका कारण यह है कि १०८×१०८ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप यदि बनाया जाय तो वह विकृष्ट आकारके सबसे बडे १०८×६४ हाथ वाले ज्येष्ठ मण्डपसे भी दुगना हो जाता है। विकृष्ट आकार ज्येष्ठ आकार है, चतुरस्र आकार मध्यम आकार है। इसलिए मध्यम श्रेणीके चतुरस्र मण्डपोमे १०८×१०८ हाथ वाला सबसे बडा मण्डप अव्यावहारिक हैं। इसी प्रकार ६४×६४ हाथका चतुरस्र मण्डप भी ६४×३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपकी अपेक्षा दुगना हो जाता है। इसलिए वह भी अव्यावहारिक है। ऐसी दशामे चतुरस्र वगमे केवल ३२×३२ हाथ वाला एक ही मण्डप शेष रह जाता है उसीका वणन भरतमुनिने किया है। और वह जैसाकि पहिले कहा जा चुका है चतुरस्र मण्डप मध्यम

मण्डप होता है। मध्यम मण्डपका प्रारम्भ ६४ हाथसे होता है इसलिए ६४×६४ हाथ चतुरस्र वगका ज्येष्ठ, और ३२×३२ हाथ चतुरस्र वगका मध्यम परिमाण है। इसलिए भरतमुनिने जो ३२×३२ हाथ के चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया है वह चतुरस्र मध्यम मण्डपका ही विवरण है यह प्रो० सुब्बारावके विवेचनका साराश है।

इन दोनो पक्षोकी त्रुटि—

परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनो ही पक्ष त्रुटि पूर्ण और अभिनवगुप्तके सिद्धान्त के विपरीत हैं। सबसे पहिली त्रुटि तो जो इन दोनो ही पक्षोमे पाई जाती है यह है कि ये दोनो ही पक्ष ज्येष्ठत्व आदिकी व्यवस्था आकारके आधारपर मान कर चल रहे हं। विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ है चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम है और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर है यह सिद्धान्त इन दोनो ही पक्षोने स्वीकार किया हुआ है। पर यह सिद्धान्त अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत है। अभिनवगुप्त अभी लिख चुके हैं कि 'हस्तदण्डाश्रय ज्येष्ठादित्व न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत्।' इस पक्तिके रहते विकृष्ट चतुरस्र त्र्यस्र आदि सन्निवेश या आकारके आधारपर ज्येष्ठत्व आदिकी कल्पना नही की जा सकती है। इसलिए डा० मनकद और प्रो० सुब्बारावके पूर्वोक्त सिद्धान्तोका जो मूल आधार है वही समाप्त हो जाता है। तब छिन्ने मूले नैव पत्र न शाखा' की प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार उनकी कल्पनाका सारा भवन ही विध्वस्त हो जाता है।

डा० मनकद और प्रो० सुब्बाराव इन दोनो विद्वानाने जो आकारके आधारपर विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम तथा त्र्यस्रको अवर मण्डप माना है उसका आधार उन्होने नाटयशास्त्रके निम्न श्लोकको जो कि इस द्वितीय अध्यायके ११व श्लोकके बाद आया है दिखलाया या बनाया है—

कनीयस्तु स्मृत त्र्यस्र' चतुरस्र तु मध्यमम।
ज्येष्ठ विकृष्ट विज्ञेय नाटयवेदप्रयोक्तृभि ॥

इस श्लोकमें आकारके आधारपर ज्येष्ठता आदिका वर्णन किया गया है किन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्तने इसके ऊपर अपनी याख्या नही लिखी है। इसके विपरीत उन्होने आकाराश्रित ज्येष्ठता आदि माननेके सिद्धान्तका खण्डन भी किया हैं। पूव सस्करणोमें भी इस श्लोकको ११वें श्लोकके बाद कोष्ठमे बन्द करके छापा गया है जिससे उसके प्रक्षिप्त होनेकी पुष्टि होती है। और यदि दुर्जनतोष न्यायसे इसको ठीक भी मान लिया जाय तो फिर तो प्रेक्षागृहोके नौ भेद भी न रह केवल तीन ही भेद रह जाते हैं। क्योकि विकृष्ट मण्डपका ही दूसरा नाम ज्येष्ठ मण्डप होगा। इसी प्रकार मध्यम मण्डप चतुरस्रका और अवर मण्डप त्र्यस्रका नामान्तरमात्र होगा। इसलिए यह ठीक नही है।

इन दोनो पक्षोकी दूसरी त्रुटि यह है कि वे दोनो यह मान कर चल रहे हैं कि ज्येष्ठ मण्डपका प्रारम्भ १०८ हाथ से, मध्यम मण्डपका आरम्भ ६४ हाथसे और त्र्यस्र मण्डपका आरम्भ ३२ हाथसे होता है। अर्थात् इस अध्यायके पूर्वोक्त आठवे श्लोकमें जो परिमाण दिया गया है वह स्वय ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर मण्डपोका परिमाण नही है अपितु केवल उनके आरम्भ होनेका परिमाण है। यह सिद्धान्त असङ्गत है। क्योकि वह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोके मतोके विपरीत है। यदि इस सिद्धान्तको माना जाय तो ६४ हाथसे प्रारम्भ होनेवाले चतुरस्र आकारके मण्डपके ६४×६४, ३२×३२ तथा १६×१६ ये तीन परिमाण बनगे। किन्तु भरतमुनिने तो ३२ हाथसे कमका कोई परिमाण बतलाया ही नही है। मण्डपकी एक दीवार ३२ हाथ अवश्य ही होनी चाहिए। तब १६×१६ हाथवाला चतुरस्र मण्डप कसे बन जावेगा ? इसलिए यह सिद्धान्त भरतमुनिके लेखके विपरीत होनेसे त्याज्य है।

डा० मनकद और प्रो० सुब्बारावके इस सिद्धा तके अनुसार त्र्यस्र मण्डप अवर है इसलिए उसका प्रारम्भ ३२ हाथसे होगा और उसके अगले दो भेद १८ हाथ तथा ८ हाथ के बनगे। ये दोनो भेद भी ३२ हाथसे कम होने के कारण भरतमुनिके लेखके विपरीत और असङ्गत है। अत इन दोनो महानुभावोने जो १०८ हाथ, ६४ हाथ और ३२ हाथको ज्येष्ठ आदि परिमाण वाले विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोके परिमाणोकी प्रारम्भिक सीमा माना है वह अनुचित है। वास्तवमें भरतमुनिके मतानुसार ये परिमाण ज्येष्ठता आदिके स्वरूपाधायक परिमाण हैं। विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनो आकारोके मण्डपोमें ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकार नौ तरहके मण्डप बनते हैं। उनमेसे सभी वर्गोमे ज्येष्ठकी एक भुजाका परिमाण १०८ हाथ, मध्यमकी एक भुजाका परिमाण ६४ हाथ और अवरकी एक भुजाका परिमाण ३२ हाथ अवश्य होता है। इसलिए भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोके मतानुसार नौ प्रकारके मण्डपोके परिमाण आदिकी व्यवस्था उसी प्रकार समझनी चाहिए जिस प्रकार पूव प्रस्तुत सूचीमे दी गई है।

यह समस्या क्यो आई—

डा० मनकदने और प्रो० सुब्बारावने पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोके विवरणमे असङ्गति की आशङ्का उठा कर उसका जो यह समाधान प्रस्तुत किया है उसके मूल कारणकी यदि मीमासा की जाय तो उनका यह सारा विवेचन केवल एक भ्रा त धारणाके ऊपर आधारित प्रतीत होता है। भरतमुनिने जो विकृष्ट आदि तीन आकारके प्रेक्षागृहोका वरण न किया है उनकी रचनाका भी कुछ विस्तारके साथ वरणन इस अध्यायमे पाया जाता है। १७वे श्लोकसे लेकर ८५वे श्लोक तक विकृष्ट का, ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र का और १०२ से लेकर १०५ श्लोक तक त्र्यस्र मण्डपका रचना प्रकार विशेष रूपसे दिखलाया गया है। वसे इन तीनो आकारके मण्डपोके ज्येष्ठ, मध्यम और अवर रूप तीन तीन भेद होते ह कि तु यहा उनके केवल एक एक प्रकारका ही रचनाप्रकार दिखलाया गया है। विकृष्ट मण्डपमे ६४ × ३२ हाथ वाले मण्डपका रचना प्रकार दिखलाया गया है। यह विकृष्ट श्रेणीका मध्यम मण्डप है प्रेक्षागृहाणा सर्वेषा तस्मा मध्यममिष्यते' [ना० शा० २ २१] इस श्लोकके अनुसार मध्यम मण्डप सबसे अच्छा समझा जाता हे इसीलिए विकृष्ट प्रकारके मध्यम मण्डपकी रचनाविधिका विस्तार पूवक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चतुरस्र मण्डपके भी एक भेदकी रचनाविधिका विस्तार पूवक वरणन ८६ से लेकर १०१ श्लोक तक किया गया है। भरतमुनिने इसका परिमाण ३२ × ३२ हाथका दिया है। विकृष्ट मण्डपके समान चतुरस्र श्रणीमे भी मध्यम मण्डपको उत्तम मान कर उसका ही विशेष रूपसे वरणन यहाँ किया गया है यह इन दोनो विद्वानोकी धारणा है। पूर्वोक्त सूचीके अनुसार ३२ × ३२ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम नही अवर मण्डप होता है। कि तु मध्यम मण्डपकी प्रशसाके आधारपर यह ३२ × ३२ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए इस धारणाके वशीभूत होकर इन दोनो विद्वानोने इस ३२ × ३२ हाथ वाले भेदको मध्यम मण्डप बनानेकी धुनमें यह सारी क्लिष्ट कल्पना की है। यही इस समस्याके उत्पन्न होनेका मूल कारण है। परन्तु अपनी इस क्लिष्ट कल्पना द्वारा उ होने इस समस्याका जो हल निकालनेका यत्न किया है वह ठीक नही बन पडा है यह बात हम अभी पिछले अनुच्छेदोमें दिखला चुके हैं।

समस्याका वास्तविक समाधान—

यह समस्या इसलिए उत्पन्न हुई थी कि डा० मनकद और प्रो० सुब्बाराव ३२ × ३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपको इस वगका मध्यम मण्डप मान कर चल रहे हैं। पर वास्तव में वह

चतुरस्र वर्गका मध्यम नही अवर मण्डप है। यदि इस बातको समझ लिया जाय तो यह जो कुछ शङ्का समाधान और विवेचन इन दोनो विद्वानोने किया है वह सब व्यथ हो जाता है। उसकी कोई आवश्यकता नही रहती है।

स्पष्ट रूपसे जब ३२×३२ हाथ वाला मण्डप चतुरस्र वर्गका अवर मण्डप है तो फिर ये दोनो विद्वान उसको मध्यम मण्डप सिद्ध करनेका यत्न क्यो कर रहे हं यह शङ्का उपस्थित हो सकती है। पर इसका कारण समझना कठिन नही है। इन दोनो विद्वानोके सामने इसके दो कारण हैं। उनमें मुख्य कारण तो यह है कि सभी प्रकारके मण्डपोमें मध्यम मण्डपकी प्रशसा की गई है इसलिए यहा जिस चतुरस्र मण्डपका भरतमुनि इतने विस्तारके साथ वणन कर रहे हं वह प्रशसित मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। उनकी इस धारणाकी पुष्टि दूसरे इस कारणसे भी होती है कि विकृष्ट आकार वाले मण्डप मे ६४×३२ हाथ वाले जिस मण्डपका यहा विस्तार पूवक वणन किया गया है वह उस वगका मध्यम मण्डप ही है। उसीके उदाहरणसे चतुरस्र वगका यह ३२×३२ हाथ वाला मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। और यदि यह मध्यम मण्डप नही है तो फिर जो मध्यम मण्डप हो उसका ही वणन यहाँ होना चाहिए था। उसको छोड कर अवर मण्डपका वणन क्यो किया गया है इसका कोई कारण उनकी समझमें नही आया। इमीसे उन्होने क्लिष्ट कल्पना द्वारा इसको ही मध्यम मण्डप सिद्ध करनेका यत्न किया है।

किन्तु उनका यह सारा यत्न अनुचित और असङ्गत है। यह मध्यम मण्डप नही अवर मण्डप ही है। मध्यम मण्डपको छोड कर इस अवर मण्डप का वणन क्यो किया गया है इसका कारण है। विकृष्ट मण्डपका विशेष वणन करते हुए भरतमुनिने ६४×३२ हाथके मध्यम मण्डप का ही वणन किया है। जहा यह परिमाण दिखलाया है उसके अगले ही श्लोकमे उन्होने इससे बडे आकारके मण्डपके बनानेका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है। वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—

चतुःषष्टिकरान् कुर्याद् दीघत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशत च विस्तारा मर्त्यानां यो भवेदिह ॥१७॥
अत ऊर्ध्व न कतव्य कर्तृभिर्नाट्यमण्डप।
यस्मादव्यक्तभाव हि तत्र नाट्य व्रजेदिति ॥१८॥

इस निर्देशके अनुसार ६४×३२ हाथसे बडे मण्डपका निर्माण नही किया जाना चाहिए। यही कारण है जिससे चतुरस्र मध्यम आकारको छोड कर अवर परिमाण वाले मण्डप का विस्तार पूवक वणन देनेकी आवश्यकता पडी। जसा कि ऊपर दिखलाया गया है चतुरस्र आकारके मध्यम मण्डपका परिमाण ६४×६४ हाथ होना चाहिए। परन्तु यदि इस परिमाण का मण्डप बनाया जाय तो उसका परिमाण ६४×३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपके परिमाण से दुगना हो जायगा। और वह भरतमुनिके 'अत ऊर्ध्व न कतव्य कर्तृभिर्नाट्यमण्डप' इस निर्देश का स्पष्ट उल्लङ्घन होगा। इसलिए भरतमुनिने यहा मध्यम परिमाण वाले चतुरस्र मण्डपको छोड कर अवर परिमाण वाले चतुरस्र मण्डपके ही बनानेका विधान किया है। यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब केवल एक बात रह जाती है। और वह है 'प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान् मध्यम मिष्यते' के द्वारा की गई मध्यम मण्डपकी प्रशसा। सो वह इस अवर मण्डपके विषयमें बाधक नही होती है। अपितु वह उसके विधानकी साधक ही होती है। ६४×३२ हाथ वाले मध्यम मण्डपकी प्रशसा इसलिए की गई है कि इससे बडे मण्डपमे नाट्य अव्यक्त अस्पष्ट हो जाता है। इसलिए इससे बडा प्रेक्षागृह न बना कर मध्यम परिमाण वाला ही प्रेक्षागृह बनाना चाहिए यह

उस प्रशसा परक श्लोकका अभिप्राय है । वही अभिप्राय यहा इस अवर मण्डपके विधानका समथक बन रहा है। ३२×३२ हाथ से बडा ६४×६४ हाथका मण्डप यदि बनाया जायगा तो उसका क्षेत्र फल पूव निर्धारित परिमाणसे चतुगणा हो जानेके कारण नाटचको बिगाड देनेका ही कारण हो जायगा। इसलिए वह वर्जनीय है । इसी कारण भरतमुनिने ६४×६४ हाथ वाले चतुरस्र मध्यम मण्डपको छोड कर ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपका विधान किया हे। वह चतुरस्र वगका अवर मण्डप हे, मध्यम मण्डप नही । उसे मध्यम मण्डप सिद्ध करने या समझनेका प्रयत्न सवथा अनुचित है ।

इस प्रकार सारी स्थिति पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० मनकद और प्रो० सुब्बारावने इस विषयमे जो कुछ लिखा है वह भ्रान्त धारणाके ऊपर आश्रित होनेसे असङ्गत और अनुपादेय है। और उनका सारा विवेचन भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोके अभिप्रायके विपरीत होनेके कारण सवथा हेय है ।

प्रो० सुब्बारावकी एक और भूल—

ऊपर नाट्य मण्डपोके १८ भद दिखलाए गए हैं। इनमेंसे ९ भेद हस्ताश्रित और ९ भद दण्डाश्रित भेद होते हैं। 'प्रमाणमेषा निर्दिष्ट हस्तदण्डसमाश्रयम्' [श्लोक २ ९] में हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो प्रकारके परिमाणोका उल्लेख किया गया है। चार हाथका एक दण्ड होता है। प्रो० सुब्बाराव ने हस्त और दण्डको अलग अलग परिमाण न मानकर 'हस्तदण्ड' श दसे हाथ भर का दण्ड' यह अथ ग्रहण किया है । इस अथके लिए उ होने डा० पी० के० आचायकी डिक्शनरी आफ हि दू आर्किटेक्चर' को प्रमाण रूपसे उद्धत किया है। उसमें हस्तदण्ड' शब्दका अथ 'एक हाथ या अठारह इचका मापदण्ड या पैमाना किया है। इसीके आधारपर प्रो० सुब्बारावने प्रेक्षागृहोके पूर्वोक्त अठारह भे दोमेसे नौ भेदोको निकालकर केवल नौ ही भेद माने हैं। और अभिनवगुप्तको भी अप्रमाण ठहराते हुए प्रेक्षागृहोके नौ ही सम्भावित भेद माने हैं। पर तु उनका यह सिद्धा त अशुद्ध और असङ्गत है। अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे 'एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टा 'लिखा है। और भरतमुनिने भी' चतुहस्तो भवेद दण्ड ' लिख कर हस्त और दण्डको अलग अलग माना है ।

डा० पी० के० आचायकी भूल—

प्रो० सुब्बारावके लेखके देखनेसे प्रतीत होता है कि उनकी इस भूलका उत्तरदायित्व मुख्य रूपसे उनपर न होकर डा० पी० के० आचायकी डिक्शनरीपर है। उस डिक्शनरीके आधारपर ही उ होने 'हस्तदण्ड' शब्दका अथ एक हाथ या अठारह इचका मापदण्ड किया है। इसलिए इस भ्रा त धारणाको उत्प न करनेका उत्तरदायित्व डा० आचायपर आता है। नाट्यशास्त्रके इस द्वितीय अध्यायमे १३ से लेकर सोलहवे श्लोक तक चार श्लोकोमें अणुसे लेकर दण्ड तकके परिमाणो का बडे स्पष्ट और असदिग्ध रूपमें वणन किया गया है। उसीमें 'चतुहस्तो भवेद् दण्ड' चार हाथका एक दण्ड होता है यह लिखा है। इतने स्पष्ट लेखके रहते हुए भी डा० आचायने 'हस्तदण्ड' शब्दका ऐसा अथ कर दिया यह आश्चयकी बात है।

इस भूलका कारण—

भरतमुनिके हस्त और दण्डके विषयमे इतने स्पष्ट लेखके होते हुए भी डा० आचाय और प्रो० सुब्बारावने जो यह भूल कर दी है उसका बाहर तो कुछ कारण दिखलाई नही देता है पर उनके अन्तमनके भीतर एक ऐसी ग्रन्थि बन गई है जिसने भरतमुनिके 'चतुहस्तो भवेद् दण्ड' जैसे

भरत०—'देवानान्तु भवेज्ज्येष्ठ नृपाणा मध्यम भवेत् ।
शेषाणा प्रकृतीनान्तु कनीय सविधीयते ।। ११ ।।

स्पष्ट लेखके रहते हुए भी इस प्रकारका अर्थ समझ लेनेके लिए बाध्य कर दिया है। १०८ हाथ ज्येष्ठ मण्डपका परिमाण बतलाया गया है। पर वह देवताओंके लिए है। मनुष्योके लिए तो ६४ × ३२ हाथ का मण्डप ही सबसे बडा मण्डप माना गया है जब ६४ × ३२ हाथसे अधिक परिमाणका मण्डप मनुष्योके लिए अनुपयुक्त है तब ६४ × ३२ दण्डके परिमाणसे बना मण्डप जिसकी प्रत्येक भुजा पूर्व मण्डपकी भुजाओ से चौगुनी और क्षेत्रफल १६ गुना बडा हो जायगा असम्भव ही है। इस लिए दण्ड समाश्रित मण्डपकी बात उनके मनमें बैठ नही सकी। हमारे मनमे भी नही बैठती है। फलत उन्होने 'हस्तदण्ड' को एक शब्द मान कर एक हाथ भरका या अठारह इचका माप दण्ड [पैमाना] उसका अर्थ किया है। यही इस भूलका कारण है।

दण्ड परिमाणको सङ्गति लगानेका प्रकार—

इस 'हस्तदण्ड समाश्रित' मण्डपकी सङ्गति लगानेके लिए प्रो० सुब्बारावने और डा० आचायने जो मार्ग निकाला है वह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोके लेखोके विपरीत होनेसे अमान्य है। पर वह समस्या तो है ही इसलिए उसका समाधान भी निकालना ही होगा। किन्तु वह समाधान भरतमुनि और अभिनवगुप्तके लेखके विपरीत न जाय इस बातका ध्यान रखना होगा। इस दृष्टि से इसके दो समाधान हो सकते हैं। एक समाधान अभिनवगुप्तके 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत' इस लेखके आधारपर यह निकलता है कि यद्यपि दण्ड समाश्रित मण्डप सर्वथा अव्यावहारिक हैं फिर भी सहस्र सवत्सर पर्यन्त चलने वाले दीर्घसत्रोके विधानके अनुसार ही दण्ड समाश्रित मण्डपो का भी विधान किया गया है। इस लिए उसमें कोई अनौचित्य नही है। दूसरा यह समाधान भी उपयुक्त होगा कि हस्त और दण्ड दो भिन्न भिन्न परिमाणके उसी प्रकार के पैमाने हैं जिस प्रकार आजके प्रचलित फुट और गजके पैमाने हैं। तीन फुटका एक गज होता है। चार हाथका एक दण्ड होता है। आजकल एक ही स्थानकी माप गज और फुट दोनो रूपोमें व्यवहारमें आती है। यह दीवार १०० गज लम्बी है या ३०० फुट लम्बी है दोनो ही व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार एक ही परिमाणको ६४ हाथ या १६ दण्ड दोनो रूपमें कहा जा सकता है। यह समाधानका दूसरा भाग है। इसमें १०८ हाथको दण्डके रूपमें बदल कर २७ दण्ड कहा जायगा। इसी प्रकार ६४ हाथको १६ दण्ड और ३२ हाथको ८ दण्ड कहा जायगा। इसीके अनुसार पीछे पृ० २५५ पर दी हुई सूचीमें हस्तश्रित परिमाणके साथ दण्डाश्रित परिमाणका उल्लेख भी किया जा सकता है। इस व्यवस्थासे मण्डपोके सोलह गुने बडे बन जानेसे अव्यावहारिक होनेकी आशङ्का भी नही रहती है और भरत या अभिनव गुप्तके लेखका विरोध भी नही होता है। इसलिए यही समाधान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

ज्येष्ठ आदि मण्डपोकी व्यवस्था—

भरत०—देवताओंका [अभिनय जिसमे किया जाय वह मण्डप] ज्येष्ठ, राजाओंका [का अभिनय जिसमे किया जाय वह] मध्यम तथा शेष लोगोंका [जिसमे अभिनय हो वह मण्डप] कनिष्ठ होना चाहिए। ११।

---

१ न अ देवताना भवेज्ज्येष्ठ। ठ म देवाना भवनम्।

देवानामिति—यत्र देवासुरप्राया एव नायक-प्रतिनायकास्तत्र [1]डिमादौ आरभटी-प्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात्, भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतर-[2]दीघतरदीघ-तालपरिग्रहादियोगाच्च [3]**अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात्** अष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यथ ।

यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्या, तेषा नियत-सख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न [4]बुद्धिपथमागत, सन्नपि दशरूपकादौ । स चानन्तरमेव दशयिष्यते ॥११॥

अभिनव०—देवताओंका अर्थात जहा देव और असुर सदृश ही नायक तथा प्रतिनायक हो उस 'आरभटीवृत्ति-प्रधान' 'डिम' आदिमे लम्बे-चौडे रङ्गमञ्चकी आवश्यकता होनेसे, भाण्ड युक्त [मदङ्ग आदि मढे हुए] वाद्योकी अधिकता होने से, और परिक्रमण आदि [अर्थात उछल कूद चलने फिरने अथवा डगो आदि] मे अधिक ऊचे एव अधिक लम्बे [स्थानकी आवश्यकता होने] तथा लम्बे ताल आदिका ग्रहण होनेसे [ज्येष्ठ मण्डपकी आवश्यकता होती है] अन्यत्र [अर्थात मध्यम अथवा कनिष्ठ मण्डपोमे उनके अभिनयका] व्यक्तभाव सम्भव न होनेके कारण एक सौ आठ हाथका [ज्येष्ठ] मण्डप होना ही चाहिए यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिका की वृत्तिका पाठ पूव सस्करणोमें दो स्थानोपर अशुद्ध छपा था जिसके कारण सारा वृत्तिभाग ही दुर्ज्ञेय सा बन गया था । पहिले स्थान पर—दीघतर तालपरिग्रहादियोगाच्च भक्तभावस्यासम्भवात् इस प्रकारका पाठ दिया गया था । इसमें 'भक्तभावस्य' की कोई सङ्गति नही लगती है । उसके स्थानपर व्यक्तभावस्य और उसके पूव 'अन्यत्र' पदका प्रयोग करके 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । उससे अथकी सङ्गति ठीक लग जाती है । 'अन्यत्र' अर्थात ज्येष्ठ मण्डपको छोडकर मध्यम अथवा कनिष्ठ परिमाण वाले मण्डपमे आरभटी प्रधान डिम' आदिका स्पष्ट रूपसे अभिनय नही हो सकता है । अत एव उसके लिए १०८ हाथ वाला ज्येष्ठ मण्डप ही होना चाहिए । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु पूव सस्करणोमें मुद्रित पाठसे उसकी प्रतीति नही होती है । अत यह पाठ अशुद्ध है । हमने जो सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारका अभिमत पाठ है ।

पूव व्याख्याकारोंका खण्डन—

इस कारिकाके देवाना' आदि पदोसे अभिनवगुप्तने यह अथ लिया है कि जिसमे देव आदि जैसे नायक प्रतिनायक हो उसके लिए ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । परन्तु दूसरे व्याख्या कारोने उससे यह अथ लिया है कि जिसमें देवता प्रेक्षक हो वहाँ ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । उनका खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि—

अभिनव०—जो [टीकाकार] यह व्याख्या करते है कि यहा प्रेक्षक रूपसे देव आदि अभिप्रेत हैं, प्रयोज्यरूपसे नहीं । उन [प्रयोज्यो] के परिमित होनेसे । वे दश-रूपकादिके विषयमे होनेपर भी हमारे अभिप्रायको नहीं समझ पाए हैं । उसको हम अगले ही श्लोकमे दिखलाते है ।

---

१ म तत्रहि धीरादावारभटी प्रधाने । २ म भ. उच्चतादीप्ततालकारापरिग्रहादि ।
३ म भ योगाच्चाभक्तभावस्यासम्भवात् । भक्तभावस्य । ४ भ स्मृतिपथमागत ।

[प्रक्षिप्त०—¹प्रेक्षागृहणा सर्वेषा प्रशस्त मध्यम मतम ।
तत्र पाठ्य च गेय च सुखश्रव्यतर भवेत् ॥
प्रेक्षागृहाणा सर्वेषा त्रिप्रकारो विधि स्मृत ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभि ॥
कनीयस्तु स्मृत त्र्यस्र चतुरस्र तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठ विकृष्ट विज्ञेय नाट्यवेदप्रयोक्तृभि ॥]

इसका अभिप्राय यह है कि ये तीनो प्रकारके मण्डप मनुष्योके ही लिए है । मनुष्य ही उन सबमें दशक या प्रेक्षकके रूपमे बठते हैं । देवता आदि बैठने केलिए नही आते हैं । इसलिए देवताओको प्रेक्षक मान कर जो व्यारया की गई है । वह ठीक नही है । हमने जो व्यारया की है वही व्याख्या होनी चाहिए । पर उसको प्र्तिपक्षी व्याख्याकारने समझा नही । हमारा यह अभिप्राय नही है कि देवता जिसमे अभिनय करने वाले हो वहाँ ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । क्योकि यह व्यारया भी पूव व्याख्याके समान असङ्गत हो जावेगी । देवता न कही प्रेक्षक बन कर आते हैं और न अभिनेता । इसलिए हमारा वह अभिप्राय नही है । हमारा अभिप्राय इन्ही प्रसिद्ध दशरूपको तक सीमित है । इन दश प्रकारके रूपकोमें 'डिम' सरीखे रूपक ऐसे हं जिन में देव असुर जसे नायक प्रतिनायक होते हैं । युद्ध उल्कापात आदि जैसे भयङ्कर दृश्य उनमे दिखलाए जाते हैं । उनका अभिनय छोटे स्थानमे ठीक तरहसे नही हो सकता है । अत उनकेलिए बडे ज्येष्ठ मण्डप की आवश्यकता है यह हमारा अर्थात अभिनवगुप्तका अभिप्राय है । इसी अभिप्रायको वे इसी अध्यायमे आगे १६ वे श्लोककी व्याख्यामें अधिक स्पष्ट रूपसे दिखलावगे ।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमें यहा पर न स्मृतिपथमागत स नपि दशरूपकादौ यह पाठ छपा था । इसमें 'स्मृतिपथ के स्थानपर बद्धिपथ पाठ होना चाहिए । वह अधिक अच्छा है । ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि हमारा अभिप्राय उन लोगोने समझा नही । इसके लिए 'न बुद्धिपथ मागत यहो पाठ होना चाहिए । इस वाक्यकी रचना भी पूव सस्करणोमें जिस रूपमें दी गई थी उससे अथ ठीक समझमें नही आता था । अत एव उस क्रममें सशोधन करके तथा 'स्मृति' के स्थानपर 'बुद्धि' पदका प्रयोग कर हमने सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ॥ ११ ॥

प्रक्षिप्त तीन श्लोक–

ग्यारहवी कारिकाके बाद तीन श्लोक कोष्ठके अ तगत करके दिए गए हैं । इनक ऊपर सख्या भी नही पडी है । नाटयशास्त्रकी लगभग ५० पाण्डुलिपियोमें से केवल तीन पाण्डुलिपियोमें ये ये श्लोक पाए जाते हैं । अभिनवगुप्तने इनके ऊपर कोई वत्ति भी नही लिखी है । इसलिए ये तीनो श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं । पूव सस्करणोमे उनको कोष्ठके भीतर ही दिया गया है । इनमे से पहिला और तीसरा ये दो श्लोक इसी अध्याय में २१ वे श्लोकके बाद फिर पाए जाते हैं । कि तु उस स्थानपर उन दो श्लोकोका पाठ नाटयशास्त्रकी केवल एक व चिन्हित पाण्डुलिपि मे ही मिलता है । अन्य किसीमें नही । वहा भी अभिनवगुप्तने इनपर वत्ति नही लिखी है । इस लिए ये श्लोक दोनो ही स्थानोपर प्रक्षिप्त माने गए हैं । इसी दृष्टिसे दोनो स्थानोपर उनको भिन्न टाइपमें कोष्ठके अन्तगत दिया गया है और उन पर सख्या नही डाली गई है ।

---

१ अ ब त पुस्तकेषु कोष्ठान्तगता श्लोका दृश्यन्ते ।

भरत०—प्रमाण यच्च निर्दिष्ट लक्षण विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणा सर्वेषा तच्चैव हि निबोधत ॥ १२ ॥

प्रमाण लक्षण यन्निर्दिष्टमिति जातावेकवचनम ॥१२॥

कानि प्रमाणानीत्याह अणू रजश्चेत्यादिना—

भरत०—अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
[1]अङ्गुल च तथा हस्तो [2]दण्डश्चैव प्रकीर्तित ॥ १३ ॥

तेषा लक्षणान्याह अणवोऽष्टावित्यादि—

भरत०—अणवोऽष्टौ रज प्रोक्त तान्यष्टौ बाल उच्यते ।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टक[3] भवेत ॥ १४ ॥

प्रथम सस्करणमें इन तीनो श्लोकोको कोष्ठमें तो दिया गया है। किन्तु उनपर १२, १३, १४ सख्याए डाल दी है। कितु द्वितीय सस्करणमें इन पर सख्याए निकाल दी है। अत दोनो सस्करणोमें सख्या क्रममें ३ का अ तर हो जाता है।

मापके प्रमाण—

अभी ऊपर दसवी कारिकामें यह कहा था कि ज्येष्ठ मण्डप एक सौ आठ हाथ मध्यम ६४ हाथ और कनिष्ठ मण्डप ३२ हाथ लम्बा होता है। इस मापके प्रसङ्गसे भरतमुनि आगे मापकी इकाइया या पैमाने दिखलावेगे उसकी भूमिका इस कारिकामें बनाते हैं—

भरत०—विश्वकर्माने [इन विकृष्ट आदि तीनो प्रकारके नाटय मण्डपोका] जो लक्षण [अर्थात आकार] और प्रमाण निर्दिष्ट किया है उसको भी भली प्रकार [नि शेषेण बोधत निबोधत] समझ लो। १२।

अभिनव०—जो प्रमाण और लक्षण निर्दिष्ट किया है यहा 'प्रमाण' तथा 'लक्षण' [इन दोनो पदोमे] जातिमे एकवचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि अगली कारिकामे जो १ अणू २ रज, ३ बाल ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड ये नौ प्रकारकी माप-साधन और तीनो प्रकारके मण्डपोके परिमाण आदि दिखलाए गए हैं उन सबका ग्रहण इनसे करना चाहिए ॥ १२ ॥

अभिनव०—वे प्रमाण कौनसे हैं यह 'अणू रजश्च' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते है—

भरत०—१ अणु, २ रज, ३ बाल, ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड [ये नौ प्रकार प्रमाण मापके लिए] कहे जाते है। १३।

परिमाणोंकी माप—

अभिनव०—उन के लक्षण 'अणवोऽष्टौ' इत्यादि [श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—आठ 'अणु' का एक 'रज' कहलाता है, और वे आठ [रज] मिल कर एक 'बाल' कहे जाते हैं। आठ 'वालो' की एक 'लिक्षा' होती है और आठ 'लिक्षा' का एक 'यूका' [परिमाण] होता है।१४।

---

१ ठ भ चव हस्तश्च। २ ठ म दण्डश्च परिकीर्तित । छ अ तथा दण्डक एवच।
३ अ यूका त्वष्टगुणा भवेत्।

यत प्रभृति दश्यता प्रवतते सोऽणु, [1]न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण । [2]द्व्यणुकत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वयुक्ता । परमाणुद्वयारब्धे तु द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमस्तु, कोऽत्र विरोध । इत्यलमवान्तरेण ॥१४॥

अभिनव०—जहासे दृश्यता प्रारब्ध होती है वह [त्र्यणुक ही यहा] 'अणु' [माना गया] है। प्रसिद्ध अणु परिमाण [वाला परमाणु अथवा द्व्यणुक यहा अणु शब्दसे] अभिप्रेत नही है। अर्थात् तीन द्व्यणुकोसे बने हुए अथवा [अन्योके मतमे] तीन परमाणुओसे बने हुए महत्-परिमाणोसे युक्त [त्र्यणुक हो यहा 'अणु' पदसे अभिप्रेत है क्योकि उनसे ही दृश्यताका आरम्भ होता है। उनसे पहलेके परमाणु तथा द्व्यणुक दोनो तत्त्व दृश्य नहीं होते है। इसलिए प्रसिद्ध अणु परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुक यहा अणु शब्दसे अभिप्रेत नहीं है]। दो परमाणुओसे बने हुए द्व्यणुकोमें अणु परिमाण भले ही रहे उससे यहा कौन सा विरोध आता है [अर्थात् जब हम यहा 'अणु' पदसे प्रसिद्ध अणु परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुकका ग्रहण न करके जहासे दृश्यता प्रारम्भ होती है उन त्र्यणुकोका ग्रहण करते है अर्थात् इस शब्दका प्रयोग पारिभाषिक अथमे करते है तो उसका प्रसिद्ध अथसे कोई विरोध नहीं होता है। जैसे व्याकरणशास्त्रमे 'नदी', 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोका पारिभाषिक अथमे प्रयोग होनेसे प्रसिद्ध अथके साथ उसका विरोध नही होता है। इसी प्रकार यहा अणु-शब्द पारिभाषिक अथमे प्रयुक्त है अत उसका प्रसिद्ध अथसे कोई विरोध नहीं है]। इसलिए अप्रासङ्गिक चर्चाकी अधिक आवश्यकता नही है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूवसस्करणोमें इस प्रकार छपा था। 'यत प्रभति दृश्यता प्रवतते सोऽणु । अणु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण । द्व्यणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ता'। इस पाठमें कई अशुद्धिया हैं। जहाँसे दृश्यता प्रारम्भ होती है वह 'अणु' है यह अणु शब्दका पारिभाषिक अथ यहाँ लिया गया है। वह दृश्यता त्र्यणुकसे प्रारम्भ होती है। त्र्यणुकका परिमाण 'अणु' नही 'महत्' परिमाण है। परन्तु अणु शब्दका पारिभाषिक अथमे प्रयोग होनेके कारण महत परिमाण युक्त त्र्यणुक ही यहा अणु शब्दसे अभिप्रेत है। उसके पूववर्ती परमाणु और द्व्यणुक जिनमे वस्तुत अणुपरिमाण रहता है यहाँ अणु शब्दसे अभिप्रेत नही है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए दूसरे वाक्यका पाठ 'न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण,' यह होना चाहिए। पूवसस्करणोमें 'अणु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण' छपा है। वह अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त इससे अगले वाक्यका पाठ भी पूव सस्करणोमें अशुद्ध है। अगले वाक्यमे त्र्यणुककी चर्चा की गई है और उसमें त्र्यणुककी रचनाका भी उल्लेख किया गया है। वहाँपर द्व्यणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा महत्त्वयुक्ता इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा है। यह पाठ ठीक नही है। नैयायिक और वशेषिक सिद्धान्तमें एक त्र्यणुककी रचना तीन द्व्यणुकोसे मानी गई है। दो द्व्यणुको अथवा दो परमाणुओसे नही। तीन द्व्यणुकोके बजाय तीन परमाणुओसे त्र्यणुककी उत्पत्ति मानने वाला भी कोई एकदेशी मत है।

---

१ म भ अणु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण । २ म भ द्व्यणुकद्वय परमाणुद्वयारब्धा अणव एव वा ।

भरत०—यूकास्त्वष्टा [1]यवो ज्ञेयो [2]यवास्त्वष्टौ तथागुलम् ।
[3]अगुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते ॥ १५ ॥

परन्तु दो परमाणुओ अथवा दो द्वचणुकोसे त्र्यणुककी उत्पत्ति मानने वाला कोई भी सम्प्रदाय नही है। इसलिए द्वचणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा' यह पाठ अशुद्ध है। उसमे 'द्वय' के स्थानपर दोनो जगह त्रय का प्रयोग करके द्वचणुकत्रय परमाणुत्रयारब्धा' पाठ होना चाहिए। इसके बाद जो 'अणव' शब्द पूव सस्करणोमें दिया गया था वह भी ठीक नही है। उसके स्थान पर 'त्र्यणव' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार 'द्वचणुकत्रय परमाणुत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वयुक्ता'। यह इस वाक्यका पाठ होना चाहिए। पूव सस्करणोमें इस वाक्यका पाठ बिल्कुल अशुद्ध रूपमें छपा था।

तीन द्वचणुकोसे त्र्यणुककी उत्पत्तिका कारण—

याय और वैशेषिक दशनोमे सबसे सूक्ष्म तत्त्व परमाणु' माना गया है। दो परमाणुओसे मिल कर एक 'द्वचणुक' और तीन द्वचणुकोको मिलाकर एक 'त्र्यणुक' बनता है। परमाणु एव द्वचणुक दोनोका परिमाण अणु परिमाण माना जाता है। परमाणुका अणु परिमाण नित्य अणु परिमाण है। क्योकि परमाणु नित्य है। द्वचणुकका अणु परिमाण जन्य अणु परिमाण है। क्योकि द्वचणुक ज य है। ये दोनो आखोसे दिखलाई नही देते हैं। उनमे दृश्यता नही रहती है। दृश्यता त्र्यणुकमे प्रारम्भ होती है। त्र्यणुकका परिमाण महत परिमाण कहा जाता है।

त्र्यणुकके कारणभूत द्वचणुककोका परिमाण 'अणु' है और काय रूप त्र्यणुकका परिमाण महत् है। त्र्यणुकमे इस महत् परिमाणकी उत्पत्तिके उपपादनकेलिए ही उसकी उत्पत्ति दो द्वचणुकोसे न मान कर तीन द्वचणुकोसे माननी होती है। बात यह है कि कायके महत परिमाण की उत्पत्ति या तो कारणके महत्त्व अर्थात महत परिमाणसे होती है और या कारणके बहुत्व अर्थात बहुत्व सख्यासे। घट पट आदिमें जो महत परिमाण पाया जाता उसकी उत्पत्ति कारण महत्त्वसे होती है। घटादिके जो कारण कपालादि है उनमें महत परिमाण है इसलिए उनके कायभूत घटादिमें भी महत् परिमाण आ जाता है। पर तु त्र्यणुकके विषयमें यह लागू नही होता है। क्योकि त्र्यणुकके कारण जो द्वचणुक है उनमें महत् नही, अणु परिमाण रहता है। इसलिए त्र्यणुकका महत परिमाण कारणमहत्त्वसे उत्पन्न नही होता है। इसलिए वह कारण बहुत्व जन्य है। अर्थात् त्र्यणुकके कारण भूत द्वचणुको मे बहुत्व सख्या रहती है इसलिए कायमें महत् परिमाण उत्पन्न होता है। यह बहुत्व सख्या दो द्वचणुकोमे नही रह सकती है। कमसे कम तीन होनेपर ही बहुत्व सख्या बनती है। इसलिए त्र्यणुककी उत्पत्ति दो द्वचणुकोसे न होकर तीन द्वचणुकोसे मानी जाती है। कुछ लोग तीन द्वचणुकोके बजाय तीन परमाणुओसे भी त्र्यणुक की उत्पत्ति मानते हैं। चाहे तीन परमाणुओसे मानें और चाहे तीन द्वचणुकोसे, हर हालतमे त्र्यणुकमे महत परिमाणकी उत्पत्तिकेलिए त्रित्व सख्याकी आवश्यकता है। दो सख्यासे काम नही चल सकता है। इसलिए पूव सस्करणोमे छपा हुआ द्वय' पाठ अशुद्ध ही है। उसके स्थानपर पाठ 'त्रय' ही होना चाहिए।

भरत०— आठ 'यूका' [परिमाण विशेष] का एक 'यव' [परिमाण विशेष] समझना चाहिए। और आठ यव का एक 'अगुल' होता है। इसी प्रकार चौबीस अगुलोंका एक 'हाथ' होता है। १५।

---

१ छ अ यव प्रोक्त। २ य अङ्गुल तु यवाष्टकम। अः यवास्त्वष्टावथागुलम्।
३ प अगुलानि चतुर्विंशद्धस्त इत्यभिधीयते।

चतुर्हस्तो भवेद् दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणत ।
अनेनेव [1]प्रमाणेन वक्ष्याम्येषा विनिर्णयम् ॥ १९ ॥

अनेनवेति 'देवाना तु भवेत' इत्यनेन [2]यदुक्तम । [3]तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणो **मण्डपो** डिमप्राये । यद्वक्ष्यति—

निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूययोयु क्त ।
युद्ध-नियुद्धाधषणसम्फेटकृतश्च विज्ञेय ॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीणश्च ।
षोडशनायकबहुल सात्वत्यारभटी[5]युतस्तु डिम ॥ इति ।

तथा मध्यमप्रमाणो[4] नपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ । यद्वक्ष्यति—

[6]नृपतीनाँ यच्चरित रसभावचेष्टित बहुधा ॥
सुख-दुखोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम इति ॥ १८-१२ ॥

भरत०—चार हाथका एक 'दण्ड' [परिमाण] माना गया है । इसी [हस्त दण्डसमाश्रित] परिमाणसे मैं इन [नाट्य मण्डपो] का निणय कहूगा । १९ ।

अभिनव—'अनेन' [यह कारिका प्रतीक भाग है] इस [परिमाण] से ही [मण्डपोका परिमाण कहूँगा] जैसा कि 'देवाना तु भवेत' इत्यादिसे बतला चुके है । [कि देवता आदिके चरित्रका अभिनय जिसमे हो वह ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए] । जैसे कि ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप [जिसमे देवताओ आदिके चरित्रका अभिनय होता है इस प्रकारके] 'डिम' जैसे [रूपको] मे [ही होना चाहिए] । जैसा कि ['डिम' का लक्षण आगे] कहेगे—

अभिनव०—बिजली गिरने, उल्का-पतन, सूय तथा चन्द्रमाके ग्रहण, लडाई-झगडे, बलात्कार, गाली-गलौज [सम्फेटो रोषवाक्यम्] आदिसे युक्त, तथा देवता, नाग, राक्षस यक्ष तथा पिशाच आदिसे व्याप्त, सोलह प्रकारके नायको वाला एव सात्त्वती तथा आरभटी [वृत्तियो] से युक्त 'डिम' को समझना चाहिए । यह ['डिम' का लक्षण किया गया है] ।

इस प्रकारके लक्षणोसे युक्त देवता आदिके चरितका प्रदशन कराने वाले 'डिमका अभिनय छोटे परिमाण वाले 'अवर' अथवा मध्यम परिमाण वाले मण्डपमे सम्भव नही है । उसके लिए ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप ही होना चाहिए यह ग्रथकारका अभिप्राय है ।

अभिनव०—और राजा आदि जसे चरित्रो वाले नाटकादिके अभिनयमे मध्यम परिमाण [वाला मण्डप उपयुक्त होता है] । जैसा कि [नाटकका लक्षण] कहेगे—

अभिनव०—नाना प्रकारके रस तथा भावोके व्यापारोसे युक्त, तथा सुख दुख-मय राजाओ आदिका जो चरित है वह नाटक कहलाता है ।

---

१ प विधानेन । २ व अनेन 'मण्डपा' । ३ म भ मण्डपा —तद्यथा ज्येष्ठप्रमाण । ४ म भ मध्यमप्रमाणम । ५ आरभटिका । ६ व I II निर्घातोल्कापातरुपरागेणेन्दु सूययोयु क्त । युद्ध नियुद्धाधषणसम्भवकृतश्च विज्ञेय । नृपतीना यच्चरित ।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ भी अत्यन्त अशुद्ध रूपमें पूव सस्करणोमे छपा है। प्रथम वाक्यमे वाक्यके आरम्भमें ही मण्डप' शब्द दिया गया है जो बिल्कुल अनुचित स्थानपर है। उसका प्रयोग 'ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये' इस रूपमें होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी जगह 'मध्यमप्रमाण' के स्थानपर 'मध्यमप्रमाण' पाठ छप गया था। वसे 'प्रमाण' शब्द नपु सक लिङ्ग होनेसे 'प्रमाण' प्रयोग बनता है। पर तु यहा वह पुल्लिङ्ग 'मण्डप' शब्दके विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अत मध्यमप्रमाण यह पुलिङ्गका ही प्रयोग होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये दोनो तो साधारण अशुद्धिया थी कि तु अगली अशुद्धि बडी भयङ्कर अशुद्धि है। राजा आदि सरीखे महापुरुषोके चरित्रका चित्रण नाटक आदिमें किया जाता है। उनका अभिनय मध्यम प्रमाण वाले मण्डपमें होना चाहिए। इस बातके प्रतिपादनकेलिए नाटकोमें राजा आदिके चरित्रका चित्रण होता है इस बातको नाटकके लक्षण द्वारा पुष्ट करनेके निमित्त ग्र थकार आगे नाटकका लक्षण उद्धत करना चाहते हैं। पर तु बडौदा वाले दोनों सस्करणोमें यहापर नाटकके लक्षणके बजाय 'डिम' का लक्षण फिर दुबारा छाप दिया गया है। डिम' लक्षण अभी ऊपर उद्धत किया जा चुका है। उसका ही पहिला श्लोक नाटकके लक्षणके रूपमें यहाँ फिर मुद्रित कर दिया गया था। केवल 'नृपतीना यच्चरित' इतना सा टुकडा नाटक लक्षणका दिया है। नाटक लक्षणके स्थानपर डिम लक्षणको दुबारा उद्धत कर देना भयङ्कर भूल है। हमने उसका सशोधन कर नाटक लक्षणका 'नपतीना यच्चरित' वाला पूरा श्लोक मूल पाठमें रखा है। पर वह नाटकका पूरा लक्षण नही है। नाटचशास्त्र के १८ वे अध्यायमें नाटकका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। उसमे नाटकके लक्षणसे सम्बद्ध मुरय भाग निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायक चैव।
राजर्षिवश्यचरित तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥ १० ॥
नानाविभूतिभियु त ऋद्धिविलासादिभिगु णैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढय भवति हि तन्नाटक नाम ॥ ११ ॥
नपतीना यच्चरित नानारसभावचेष्टित बहुधा।
सुखदु खोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम ॥ १२ ॥

ना० शा० अ० १८ । १० १२ ।

पूव सस्करणोमें नाटकके लक्षणके प्रदशक जो श्लोक दिए हैं वे ठीक नही हैं। इसके पहिले जो श्लोक 'डिम' के लक्षण रूपमें उद्धत किया गया था उसी श्लोकको लेखककी असावधानीसे दूबारा नाटकके लक्षणके रूपमें फिर उतार दिया गया है। यह बडी भयङ्कर भूल है। पाण्डुलिपिके लेखकको यह पता नही चला कि वह नाटकके लक्षणके स्थानपर 'डिम' का लक्षण जिसे कि अभी लिख चुका है दुबारा फिर उतार रहा है। यह सब प्रामादिक पाठ है। इसके स्थानपर नाटकका लक्षण दिया जाना चाहिए था। नाटच शास्त्रके १८ वें अध्यायमें नाटकके लक्षणमें कई श्लोक दिए गए हैं। उनमेसे 'नपतीना चरित' वाला जो श्लोक यहाँ अभिप्रेत है। इस लिए हमने केवल उस श्लोकको मूल पाठमे ले लिया है। और पुराने पाठको निकाल दिया है।

इस प्रकारके नाटकके अभिनयकेलिए मुख्य रूपसे मध्यम आकारका मण्डप ही उपयुक्त होता है। यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

शेषास्तु प्रकृतयो भाण प्रहसनादौ । 'यथा वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहायश्च[1] । [अ० १८-१०८]

तथा—

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम्[3] । इत्यादि । [१८-१०३]

अभिनव—शेष [सवसाधारण या तापस विप्र आदि] प्रकृतियां भाण प्रहसन आदिमे [आती है] जैसा कि [आगे] कहेगे—

अभिनव०—नाना अवस्थाओसे युक्त और एक पात्र वाला 'भाण' होता है।

'भाण' का सम्पूर्ण लक्षण नाटचशास्त्रके १८ वे अध्यायमे इस प्रकार दिया गया है—

भाणस्यापि तु लक्षणमत पर सप्रवक्ष्यामि ।। १०७ ।।
आत्मानुभूतशसी परसश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहायश्च ।। १०८ ।।
परवचनमात्मसस्थ प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितै ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव ।। १०९ ।।
धूत विटसम्प्रयोज्यो नानावस्था तरात्मकश्चव ।
एकाङ्को बहुचेष्ट सतत कार्यो बुधैर्भाण ।। ११० ।।

अभिनवगुप्तने यहा उसमेंसे केवल एक पक्ति यह दिखलानेकेलिए उद्धत की है कि दिव्य पात्रो और राजा आदि महापुरुषोके चरित्रोको छोडकर साधारणजनोके चरित्रोके आधारपर 'भाण' 'प्रहसन आदिकी रचना की जाती है और उनका अभिनय सबसे छोटे अवर मण्डपमें होता है। 'प्रहसन' का लक्षण निम्न प्रकार है—

प्रहसनमपि विज्ञेय द्विविध शुद्ध तथा च सङ्कीर्णम् ।
वक्ष्यामि तयोयु क्त्या पथक पथग लक्षणविशेषम् ।। १०२ ।।
भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम् ।
कापुरुषसप्रयुक्त परिहासाभाषणप्रायम् ।। १०३ ।।
अविकृतभाषाचार विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषय शुद्ध ज्ञेय प्रहसन तु ।। १०४ ।।
वेश्या चेट नपु सक विट धूर्ता ब धकी च यत्र स्यु ।
अनिभृतवेषपरिच्छद—चेष्टितकरणैस्तु सङ्कीर्णकम् ।। १०५ ।।
लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसयोग ।
स प्रहसने प्रयोज्यो धूतप्रविवादसम्पन्न ।। १०६ ।। [अ० १८]

'प्रहसन' के इसी लक्षणमेंसे ग्रन्थकार एक पक्ति आगे उद्धत करते हैं—

अभिनव०—तथा—

अभिनव०—सन्यासी [भगवत्], तपस्वी, ब्राह्मण या अन्योके हास्यवादसे युक्त [प्रहसन होता है] । इत्यादि ।

---

१ म भ मच्च । २ हायस्तु । ३ व सस्करणे हास्यवादसम्बद्धमिति नास्ति । ३ म भ 'नृपतिप्राय' इति नास्ति ।

एवम्भूतप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीय प्रमाणो मण्डप इति । एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिणयो **नृपतिप्राय** एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे, **सवसाधारण** कनीयसि, डिमरूप एव **च ज्येष्ठमण्डपे इति**, त वक्ष्यामि इति ।

अयमभिप्राय ज्येष्ठमाने नाटकादिप्रयोगसौकर्याभावात् मध्यम एव युक्त । स एव विनिणय । निणयो विविधोऽपि दिव्यनृपप्रकृत्यादिस्वभावो निश्चय आभिमुख्य अभिनयप्रयोगद्वारेण नीयते यत्रति ।।१६।।

अभिनव०—इस प्रकारके [सामान्य एव स्वल्प] पात्रोके प्रयोगमे कनिष्ठ प्रमाण वाला मण्डप होना चाहिए । इन [मण्डपो] के विषयमे जो विशेष 'निणय' अर्थात् राजा आदि [के चरित्र] से युक्त प्रयोग ही मध्यम मण्डपमे, सवसाधारण [विप्र आदिके चरित्र वाले प्रयोग] कनिष्ठ मण्डपमे और डिम सरीखे प्रयोग ही ज्येष्ठ-मण्डप होने चाहिए यह [जो विशिष्ट निणय है] उसको कहूगा ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि–ज्येष्ठ प्रमाण वाले मण्डपमे नाटक आदिके प्रयोग मे सौकय न होनेके कारण [उन नाटकादिके प्रयोगकेलिए] मध्यम [परिमाण वाला मण्डप] ही उपयुक्त होता है । यही [विशिष्ट निणय] 'विनिणय' है । विविध प्रकारका भी दिव्य तथा नृप आदिका स्वभाव जहाँ [जिस नाटकमे] प्रयोगके द्वारा निश्चय अर्थात् आभिमुख्य [साक्षात्कार] को प्राप्त कराया जाता है [उस नाटकादिका अभिनय मध्यम मण्डपमे ही होना चाहिए यही 'विनिणय' हे] ।

प्रथम सस्करणमे इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार से छपा था—

पाठसमीक्षा— एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिणय एव सवसाधारण मध्यमे मण्डपे कनीयसि च डिमरूप एव मण्डप त वक्ष्यामीति ।'

द्वितीय सस्करणमे उसे मित्र सुधार कर निम्न प्रकार पाठ दिया गया है—

'एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिणय एव सवसाधारण मध्यमे मण्डपे नाटकभाणप्रयोगात कनीयसि च डिमरूपे एव (च) मण्डप (प) त वक्ष्यामीति ।' ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हं । इनका कोई स्पष्ट अथ समझमें नही आता है । 'सवसाधारण मध्यमे मण्डपे' यह बात भी ठीक नही है । सवसाधारण भाण प्रहसन आदि रूपक भेदोका अभिनय मध्यम मण्डपमें नही अपितु कनिष्ठ मण्डपमें होना चाहिए । इसलिए इस सवसाधारण' पाठका सम्बन्ध अगले कनीयसि' पदके साथ है । इसलिए बीचमेसे 'मध्यमे मण्डपे' को हटा कर 'सवसाधारण ' के पहिले रखना पडेगा । मध्यम मण्डप नपतिप्राय चरित्रोकेलिए बतलाया गया है इसलिए उसके पूव 'नपतिप्राय' पाठ और होना चाहिए । इसके बाद 'डिमरूप एव मण्डप' पाठ भी ठीक नही है । उसमें 'मण्डप' के स्थानपर 'ज्येष्ठ मण्डपे' पाठ होना चाहिए । इस प्रकार पाठसशोधन करनेपर इस वाक्यकी रचना यो होगी—

'एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिर्णयो, नृपतिप्राय एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे' सवसाधारण कनीयसि, डिमरूप एव च ज्येष्ठमण्डपे इति, त वक्ष्यामीति' ।

इस प्रकारका पाठ होनेपर ही अथकी सङ्गति लगती है अन्यथा नही । इसलिए हमने सशोधित रूपमें इस पाठको प्रस्तुत किया है पूव सस्करणोके पाठ बिल्कुल अशुद्ध है ।।१६।।

त दर्शयति 'चतु षष्टिकरान्' इत्यादि—

भरत०—'चतु षष्टिकरान् कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्[2]।
[3]द्वात्रिंशत च विस्तारात, मर्त्यानां यो भवेदिह[4] ॥ १७ ॥

प्रयोक्तु पुरस्तात पष्ठतश्च [5]दीघत्व, पार्श्वयोर्विस्तार । मर्त्यानामित्यनेन [6]किमतोऽधिकप्रमाणमण्डपकरणात । [7]प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशय ॥१७॥

विकृष्ट मध्यम मण्डपका परिमाण—

अभिनव०—उस [प्रमाण विषयक विनिर्णय] को 'चतुषष्टिकरान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते है—

भरत०—इन [मण्डपो] मेसे जो मनुष्यो [के अर्थात राजादिके चरित्रका अभिमय करने] के लिए है उस [विकृष्ट मध्यम] मण्डपकी लम्बाई चौसठ हाथ और चौडाई बत्तीस हाथकी रखनी चाहिए । १७ ।

अभिनव—प्रयोग करने वालेके सामनेकी ओर और पीठकी ओर [मिला कर मण्डपकी लम्बाई] दीघत्व [समझना चाहिए] और [शेष] दोनो ओर [चौडाई] विस्तार [समझना चाहिए] । 'मर्त्यानां' इस [पद] से, व्यथमे [अधिक बडा] मण्डप बनानेसे क्या लाभ । क्योकि [बडे मण्डपमे किए जाने वाला] प्रयोग [अव्यक्त हो जाने से ठीक तरह] समझमे नही आसकता है । यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें इस स्थलका पाठ बडे अशुद्ध और अस्त व्यस्त रूपमें छपा है । उसमे १७ १८ दोनो कारिकाओके, और उनके साथ १६ वी कारिकाकी व्याख्याके कुछ भागको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस प्रकारसे अस्त व्यस्त रूपमें छाप दिया गया है कि किसीका भी अथ ठीक तरहसे समझ मे नही आता है । यो तो ये दोनो कारिकाए बडी सीधी सादी और सरल हैं । उनकी व्याख्या भी वसी ही सरल है किन्तु उसका पाठ पूव सस्करणोमे जिस प्रकारसे छापा गया है उसने इस स्थलकी अभिनवभारतीको एक दम दुरूह बना दिया है । उसको ठीक तरहसे समझनेके लिए हमें वाक्य विन्यासका नए सिरेसे दुबारा सस्कार करना होगा । पहिले इस पाठको जिस रूपमे वह पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है ठीक उसी रूपमें नीचे उद्धत करते हैं । पूव सस्करणोका पाठ निम्न प्रकार है—

'प्रयोक्तु पुरस्तात् पष्ठतश्च मण्डपेऽस्मिन् सति [पोस्मि नसति] करणार्हो । न भवती त्यथ । कृत भिरिति । किं तेषा वथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत् । तत्रति । अतोऽधिकप्रमाणे अत्यन्त यूनप्रमाणे चेत्यथ । नाट्यमिति । सकलावा तरभेदे प्रभेद दर्शयितुमिति । नाट्यताभि [ट्य यतोदभि] व्यक्त भवतीति । समुदायाभिप्रायेण म तव्यम् । तदेव दर्शयति मण्डप इति । दीघत्वम् । पार्श्वयोर्विस्तार । मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात किमित्यकारण प्रयोगेणैव [प्रयोगो नव] वेद्यते इत्याशय । एतदेवाह अत ऊर्ध्व नेति । अत इत्येवविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यथ । ऊर्ध्वमिति प्रमाणस्याधिक्य यूनातिरेकाभ्यामिति म तव्यम् । कतव्य इति ।

---

१ अ चतुष्टिभवेद्धस्ता । २ प दीघ व नाट्यमण्डपम । ३ ठ भ द्वात्रिंशेन तु । ड त द्वात्रिंशदेव विस्तार । द्य म विस्तारस्त्रिंशदेवास्य । ठ भ द्वात्रिंशतव विस्तारम् । ४ द्य म भवेदिति । ठ योजयदिह । ५ म भ मण्डपेऽस्मिन सति करणार्हो न भवतीत्यथे । ६ म भ मण्डपकरणात् । ७ प्रयोगेणव ।

इस पाठको पढनेसे इस अनुच्छेदका कोई भी अथ समझमे नही आता है। इसका कारण पाठको अस्त व्यस्त रूपमे मुद्रित करना है। यदि क्रमको ठीक करके भि न प्रकारसे वाक्य वि यास कर दिया जाय तो सारा अथ स्पष्ट हो जाता है।

अपने कथनको स्पष्ट करनेकेलिए हम प्रकृत सारे पाठको छ वाक्यो या खण्डोमे विभक्त कर दुबारा फिर नीचे उद्धत कर रहे हैं। इसमे पाठका आनुपूर्वी क्रम तो वही है जो बडौदा वाले सस्करणोमे दिया गया है। हमने केवल अलग अलग खण्डोमे उसका विभाजन कर दिया है। पूव सस्करणोके क्रमसे प्रकृत पाठ निम्न प्रकार छपा है—

१ प्रयोक्तु पुरस्तात पृष्ठतश्च।

२ मण्डपेऽस्मिन सति करणार्हो न भवतीत्यय। कतु भिरिति कि तेषा वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत। तत्रेति अतोऽधिकप्रमाणेऽत्य त यूनप्रमाणे चेत्यथ। नाटचमिति सकलावा तरभेदे प्रभेद दशयितुम्। नाटचतोऽभिव्यक्त [नाटच यतोऽभिव्यक्त] भवतीति समुदायाभिप्रायेण म तव्यम्।

३ तदेव दशयति मण्डप इति।

४ दीघत्वम्। पाश्वयो विस्तार।

५ मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात किमित्यकारण प्रयोगेणव वेद्यते इत्याशय।

६ एतदेवाह अत ऊध्वमिति। अत इति एवविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यथ। ऊध्वमिति प्रमाणस्याधिक्य यूनतातिरेकाभ्यामिति म त यम्। क्त य इति।

१७ १८ तथा १९वी कारिकाकी व्याख्याको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस स्थलकी अभिनवभारतीका पाठ इस रूपमें पूव सस्करणोमे छपा है। इसको बार बार पढनेपर भी उसका अथ ठीक तरहसे समझमें नही आता है। उसको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए हमें इन वाक्योका अपने क्रमसे पुनर्वि यास करना होगा। इसमे सत्रहवी और अठारहवी कारिकाओंकी पूण व्याख्या एक दूसरेके भीतर मिली हुई है। पहिले सत्रहवी कारिकाको लीजिए। सत्रहवी कारिकाके 'दीघत्वेन', 'विस्तारात्' और मर्त्यानाम्' इन तीन पदोकी व्याख्या इसमे की गई है। पर वह इकट्ठी नही, अलग अलग करके यहाँ छपी हुई है। उसको एक जगह पूरा करनेकेलिए हमे प्रथम तथा चतुथ तथा पञ्चम खण्डोको इकट्ठा करना होगा।

तदनुसार 'प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च 'दीघत्वम्'। पाश्वयो विस्तार'।

यह सत्रहवी कारिकाके 'दीघत्वेन' तथा 'विस्तारात' पदोकी व्याख्या बनती है। पूव सस्करणोमें इसके प्रथम और अ तिम भागोको पाँच छ पक्तियोके व्यवधानसे छापा गया था इस कारण उसका कोई अथ समझमे नही आता था। अब दोनो भागोको मिलाकर पढनेसे इस भागका अथ तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। दीघत्वका अथ लम्बाई और विस्तार शब्दका अथ चौडाई है। नाटच मण्डपमें प्रयोग करने वाले नट जिस ओरको मुख करके अभिनय करते हैं उस दिशामे प्रयोक्ताके आगे पीछेको मिला कर नाटच मण्डपकी लम्बाई या दीघत्व माना जाता है। और प्रयोक्ताके दाए बाए दोनो ओरकी दिशाका भाग नाटच मण्डपका विस्तार या चौडाई मानी जाती है। यही व्याख्या यहाँ अभिनवगुप्तने प्रस्तुत की है। कि तु पूव सस्करणोमें उसका 'प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च' इतना भाग तो प्रथम खण्डमें ठीक स्थान पर छापा गया था कि तु शेष भाग 'दीघत्वम्। पाश्वयो विस्तार' यह भाग पाँच छ पक्तियोके बाद चतुथ खण्डमे छापनेसे उनका अथ समझमें नही आता था अब उन दोनोको मिला देनेसे इस भागका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

पाठसमीक्षा—पाचवे खण्ड अर्थात अगले वाक्यमे इसी कारिकाके मर्त्यानां पदकी यारया दी गई है। किन्तु वह भी स्पष्ट नही हो रही है। इसका कारण उसके पाठका अशुद्ध रूपमे मुद्रण ही है। उसमे एक जगह तो 'प्रयोगेणैव [प्रयोगो नव]' इस प्रकार दो पाठ देकर पाठकी सशय ग्रस्तता पूव सस्करणके सम्पादक महोदयने ही सूचित कर दी है। पर उसके अतिरिक्त शेष पाठ भी बडा अस्पष्ट है। उसको थोडा सा बदल कर यदि 'मर्त्यानामित्यनेन अकारण मण्डपकरणात् किम्'। प्रयोगो नव वेद्यते इत्याशय' इस रूपमे रखा जाय तो कुछ अथ समझमे आ सकता है। इस दशामे उसका अथ यह होगा कि—'मर्त्यानाम्' इस पदसे यह आशय है कि मनुष्योके चरित्रके अभिनयके निमित्त इससे बडा मण्डप व्यथ बनानेमे क्या लाभ। यह निश्चय है कि उसमें प्रयोग ठीक तरहसे देखनेमे नही आवेगा। इस प्रकार सत्रहवी कारिका की अभिनवभारतीका सशोधित पाठ निम्न रूपमे होना चाहिए—

प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च दीघत्वम्। पाश्वयो विस्तार। मर्त्यानामित्यनेन अकारण मण्डपकरणात् किमिति। प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशय।

हमने इसी रूपमे सशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

अठारहवी कारिकाके पाठका अनुसधान—

पाठसमीक्षा—इसके बाद अठारहवी कारिकाकी व्यारया आती है। पर वह भी पिछले सस्करणोमे इकट्ठी नही अस्त व्यस्त रूपमे और व्युत्क्रमसे छापी गई है। ऊपर दिए हुए उद्धरणमेंसे षष्ठ खण्डको लिया जाय तो उसको देखते ही यह ज्ञात हो जाता है कि अठारहवी कारिकाकी व्यारया यहासे आरम्भ हो रही है। 'एतदेवाह अत ऊध्वमिति यह अठारहवी कारिकाकी अवतरणिका है। अत ऊध्वम्' यह उसीका प्रतीक भाग है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अठारहवी कारिकाकी अभिनवभारती यहासे आरम्भ होती है। परन्तु पूव सस्करणोमें इसको सबसे पीछे छापा गया है। इस खण्डमे १८वी कारिकाके 'अत' और 'ऊध्वम्' इन दो पदोकी व्यारया तो पूण हो गई है। उसके बाद 'कतव्य' यह पद प्रतीक रूपमे उद्धत किया है किन्तु उसकी व्याख्या यहाँ नही है। यह वाक्याश अधूरा रह गया है। उसकी पूर्तिकेलिए शेष पाठ हमे दूसरी जगह ढूढना होगा। और वह हमे ऊपरके उद्धरणमे द्वितीय खण्डमे मिलेगा। अर्थात् पहिले चतुथ खण्ड और उसके बाद द्वितीय खण्डको जोडनेसे अठारहवी कारिकाकी व्याख्या पूण होती है। इन दोनो खण्डोको इस सशोधित क्रमसे मिलानेसे अठारहवी कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

एतदेवाह 'अत ऊध्वम् इति। 'अत' इति एवविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यथ। 'ऊध्वम्' इति प्रमाणस्याधिक्य न्यूनतातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम्। 'न कतव्य' इति मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यथ 'कतृभि' इति किं तेषा वथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। 'तत्र' इति अतोऽधिकप्रमाणेऽत्य त न्यूनप्रमाणे चेत्यथ। 'नाटचम' इति सकलावा तरभेद प्रभेद दशयितुम्। नाटचमव्यक्त भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्।

पाठसमीक्षा—यह अठारहवी कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ होना चाहिए। इस क्रम दोषके अतिरक्त यह पाठ अन्य प्रकारसे भी दूषित है। इसमें पहिला दोष तो यह है कि कारिकाकी व्यारयामे 'कतव्य इति' इस रूपमे 'कतव्य' पदको प्रतीक रूपमें उद्धत किया गया है। किन्तु यहा इसके स्थान पर 'न कतव्य' यह प्रतीक रूपमें उद्धत होना चाहिए था। क्योकि मूल कारिकामे 'न कतव्य' पाठ आया है उसी न कतव्य' की यह व्यारया की जा रही है। 'कतव्य' की नही। अत 'न' जो भूलसे या कीट भक्षित होनेसे पूव सस्करणोमे छूट गया है उसको जोड कर ही यहाँ पाठ देना उचित है।

एतदेवाह् अत ऊर्ध्वं नेति—

भरत०—अत ऊर्ध्वं न कर्तव्य कर्तृभिर्नाटयमण्डप ।
यस्मादव्यक्त भाव हि तत्र नाटच व्रजेदिति ।।१८।।

'अत' इति एव विधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यथ । 'ऊध्वम्' इति प्रमाणस्याधिक्य न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम् । [3]न 'कतव्य' इति मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यह है कि नाटचतोऽभिव्यक्त भवति' यह जो पाठ पूव सस्करणोमें छापा गया है वह भी अशुद्ध है। पूव सस्करणके सम्पादक महोदयने भी 'नाट्य यतोऽभिव्यक्त भवति इस प्रकारका दूसरा पाठ भी उसके साथ छाप कर इस पाठकी सदिग्धताको सूचित किया है। कि तु जो दो प्रकारके पाठ पूव सस्करणोमें दिए गए है वे दोनो ही अशुद्ध हैं। वे दोनो पाठ ग्र थकारके अभिप्रायको व्यक्त करनेमें न केवल असमथ हैं अपितु उसके अभिप्रायके विपरीत भावको व्यक्त कर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोके मतोके विरोधी बन गए है। 'यस्माद व्यक्तभाव हि तत्र नाटच व्रजेत्' यह नाटचशास्त्रकी १८वी कारिकाका भाग है। इसकी व्याख्या ही अभिनवगुप्त यहा प्रस्तुत कर रहे हैं। अधिक बडा मण्डप न बनानेका कारण दिखलाते हुए भरतमुनिने यह कहा है कि बडे मण्डपमे नाटय अव्यक्त अस्पष्ट हो जावेगा इसलिए अधिक बडा मण्डप नही बनाना चाहिए। किन्तु इसकी व्याख्याका जो पाठ पूव सस्करणोमे छपा है वह इससे बिल्कुल उलटे अथको प्रकट करता है। 'नाटचतोऽभिव्यक्त भवति' और 'नाटच यतोऽभिव्यक्त भवति इन दोनो ही पाठोमे अव्यक्त' के स्थानपर 'अभिव्यक्त' पद दिया गया है जो अभिप्रायको एकदम उलट देता है। अत अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'नाटचमव्यक्त भवति' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए।

इस प्रकार प्रथम चतुथ और पञ्चम इन तीन खण्डोको मिला कर १७वी कारिका की, और पञ्चम तथा द्वितीय खण्डो को मिला कर १८वी कारिका की व्याख्या पूरी होती है। अभी बीचका तीसरा खण्ड और शेष है यह १९वी कारिकाका प्रतीक भाग है। उसको भी यहा अ स्थानमें मुद्रित किया है।

इस प्रकार १७, १८ और १९ इन तीन कारिकाओकी व्याख्याको मिलाकर अस्त व्यस्त रूपमे जो पाठ पूव सस्करणोमें मुद्रित हुआ है वह अशुद्ध और असगत है। हमने उसको सशोधित करके ही पाठ यहा प्रस्तुत किया है।

बडे प्रेक्षागृहसे हानि—

अभिनव०—इसी बातको 'अत ऊर्ध्वं' इत्यादि [श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—[मण्डप] निर्माताओको इससे अधिक [बडा या छोटा] मण्डप नहीं बनाना चाहिए क्योकि वहा [अर्थात अधिक बडे अथवा अधिक छोटे मण्डपोमे] नाटय अस्पष्ट बन जाएगा। १८।

अभिनव०—'अत' का अभिप्राय यह है कि, क्योंकि इस प्रकारका मध्यम मण्डप है इस कारणसे [बडा या छोटा मण्डप नही बनाना चाहिए] 'ऊर्ध्व' [पद] से प्रमाणका अधिक्य, न्यूनता और अधिकता दोनो दृष्टियोमे समझना चाहिए। 'न कर्तव्य'

१ ठ म तस्माण्नाटच। द तस्मिन्नाटच। २ ड व्रजेद्यत। छ म भवेदिति। ३. कर्तव्य।

भवतीत्यर्थ । 'कर्तुमि' इति किं तेषा वथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत् । 'तत्र' इति अतोऽधिकप्रमाणे, अत्यन्त न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थ । 'नाट्यम्' इति सकलावान्तरभेद प्रभेद[1] दर्शयितुम् । [2]नाट्य तत्राव्यक्त भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम् ।। १८ ।।

तदेव दर्शयति मण्डप इति–

भरत०—मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितस्वरम् ।
[3]अनिस्सरणधर्मत्वाद् [4]विस्वरत्व भृश व्रजेत् ।। १९ ।।

प्रकर्ष प्रकृष्ट, तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टो [5]ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन्, अथ य कनीयोमान तस्मिश्च । तत्र ज्येष्ठे पाठ्य यन्मुख्य[6] 'नाट्यस्यैषा तनू स्मृता' [अ० १४-२] इति दर्शयिष्यते, तद्विस्वरत्व विशेषेणोपतापकत्व निकटवर्तिना प्रति व्रजेत् । अत्र हेतु उच्च कृत्वा चरितोऽतिक्लेशेन सम्पादित स्वर [7]काक्वादिविभागो यत्र । तथा दूरवर्तिन सामाजिकान् प्रति विस्वरत्व विगतशब्दकत्व अनाकर्णनीयत्व व्रजेत । तत्र हेतु, अनिस्सरणधर्मत्वात् । निरन्तरे देशे सरण द्वितीयशब्दारम्भ स[8]यस्य धर्मो नास्ति । शब्दान्तरस्य प्रसराभावादित्यर्थ ।

का अभिप्राय यह है कि इस मध्यम मण्डपके विद्यमान होने पर [अन्य कोई मण्डप] बनाने योग्य नही है । 'कर्तुमि' का आशय यह है कि उनको व्यर्थ कष्ट देनेसे क्या लाभ है । वहाँ [तत्र] इस [पद] से इतनेसे अधिक परिमाण वाले अथवा अत्यन्त न्यून परिमाण वाले [मण्डप] मे [नाट्य अव्यक्त हो जाता है] यह अभिप्राय है । नाट्य यह पद [रूपकोके] समस्त भेद-प्रभेदोके दिखलानेकेलिए है । नाट्य उसमे अव्यक्त हो जाता हे यह बात समुदायके अभिप्रायसे कही है । [अर्थात् अत्यन्त बडे या छोटे मण्डपमे रूपकके सभी भेदोका अभिनय अव्यक्त हो जाता है] ।।१८।।

अभिनव०—इसी बातको 'मण्डपे' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है–

भरत०—विप्रकृष्ट [अर्थात अत्यन्त बडे तथा अत्यन्त छोटे दोनो प्रकारके मण्डपमे से ज्येष्ठ प्रमाण वाले बडे मण्डपमे] अत्यन्त उच्च स्वरसे उच्चारण किया गया पाठ्यभाग [निकटवर्तियोंकेलिए अत्यन्त उग्र होनेसे कष्ट दायक तथा दूरवर्तियोंके लिए सुनाई न देने वाला होनेसे कष्ट दायक अर्थात दोनोके लिए] विस्वर हो जाता है । [तथा अत्यन्त छोटे मण्डपमे वही पाठ्य] निकलने [अर्थात फलने] योग्य [अवकाशके] न होनेसे विस्वर हो जाता हे । १९ ।

अभिनव०—[बडेपन या छोटेपनका] प्रकर्ष [अर्थात् अन्तिम सीमा] प्रकृष्ट [शब्दसे गृहीत होती] हे । उसको अतिक्रमण कर जाने वाला । [मण्डप] विप्रकृष्ट अर्थात् ज्येष्ठ प्रमाण वाला, उसमे, और कनिष्ठ प्रमाण वाला उसमे भी [पाठ्य विस्वर हो जाता है] उनमेसे ज्येष्ठ [मण्डप] मे पाठ्य जिसको कि [१४वें अध्यायमे] 'यह

---

१ भ सकलावान्तरभेदे । २ म भ नाट्यतोऽभिव्यक्तम । व नाट्य मतोभिव्यक्तम ।
३ ज व म त अनभिव्यक्तवर्णत्वात । ज छ न अतिस्सरणधमत्वात् ।
४ उच्चरत्व भृश व्रजेत । ५ म भ किन्नियोगमान । तस्मिश्च । ६ म भ यन्मख्ये ।
७ म भ काक्षादि । भ काङ्क्षादि । ८ भ द्वितीयस्य ।

तथातिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चरितस्वर सदनिस्सरणधर्मत्वात् [1]अनुरण-नात्मकमधुरशब्दान्तरानारम्भात् **विनष्ट स्वरो माधुर्य**[2] यस्य तादृशत्व व्रजेत्। अनुरणन हि स्वरस्य [3]रूपमिति गेयाधिकारे वक्ष्याम । अनन समानयोगक्षमत्वात [4]**गीतातोद्यविस्वरत्वमपि** लक्षित भवति । तथा चोपसहरिष्यति 'गेय च' इति । विस्वर-त्वमिति 'स्वृ-शब्दोपतापयो' इत्यस्य रूपम् ॥ १९ ॥

[पाठ्य] नाट्यका शरीर कहा जाता है' इस [श्लोक] के द्वारा मुख्य [अङ्ग] बतलाया जायगा वह विस्वरत्वको अर्थात् निकटवर्तियोके प्रति अत्यन्त उपतापकत्वको प्राप्त हो जाता है। इसमे हेतु दिखलाते हैं [उच्चरितस्वरम्]। उच्च करके अर्थात् अत्यन्त क्लेशसे जिसके स्वर अर्थात् काकु आदिके विभागका ज्ञान होता है। और दूरवर्तियोके लिए 'विस्वरत्व' अर्थात् विगतस्वरत्व अर्थात् [अत्यन्त धीमा हो जानेके कारण न सुनाई देने योग्य] अश्राव्यत्वको प्राप्त हो जाता हे। उसका हेतु है 'अनिस्सरण-धर्मत्वात्'। समीपवर्ती देशमे जो द्वितीय शब्दकी उत्पत्ति वह निस्सरण धर्म [अर्थात् शब्दसे नई शब्द धाराकी उत्पत्ति रूप धर्म] जिसमे न हो अर्थात् अत्यन्त दूर पहुच जानेसे शब्दका प्रसार न होने से [पाठ्य विस्वर हो जाता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे एक स्थानोपर विशेष पाठ सशोधनकी आवश्यकता पडी है। अनुच्छेदके प्रारम्भमें कारिकामे आए हुए 'विप्रकृष्ट' शब्दकी व्याख्या की गई है। उसके साथ 'विप्रकृष्ट किन्नियोगमान तस्मिश्च इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा हुआ है। इसमे किन्नियोगमान इस भागका कोई अथ नही निकलता है और न उसकी कोई सङ्गति लगती है। इस प्रसङ्गको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रथकार यहाँ विप्रकृष्ट' शब्दसे ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनो प्रकारके मण्डपोका ग्रहण करना चाहते हैं। इसलिए विप्रकृष्ट' के बाद उसके अथके रूपमे पहिले 'ज्येष्ठप्रमाण' देना चाहिए। आगे तस्मिश्च' पाठ है इसलिए इसके बाद तस्मिन' यह पाठ और उसके बाद 'कनीयोमान' पाठ होना चाहिए तब उसके बाद 'तस्मिश्च' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इस प्रकार इस वाक्यका सशोधित पाठ प्रकष प्रकृष्ट तदतिक्रा तो विप्रकृष्टो ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन अथ य कनियोमान तस्मिश्च' यह होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—और अत्यन्त छोटे मण्डपमे [भी] उच्च स्वरसे बोला गया पाठ्य 'अनिस्सरणधर्म' वाला होनेसे अर्थात् अनुरणन रूप मधुर नए शब्द [अर्थात् मधुर गुञ्जन] का उत्पन्न करने वाला न होने के कारण जिसका स्वर अर्थात् माधुर्य विनष्ट होगया हे इस प्रकारका होजाता है। अनुरणन [गुञ्जन] ही स्वरका रूप हे यह गेयाधिकारमे [भरतमुनि स्वय ही] कहेगे। इसी [अर्थात् पाठ्य] के समान योग-क्षेम वाला होने से गीत और [आतोद्यो अर्थात्] वाद्योका विस्वरत्व भी लक्षित होता हे। इसीलिए [भरतमुनि] 'गेय' च इस प्रकारका उपसहार करेगे। 'विस्वरत्व' यह [शब्द] 'स्वृ शब्दोपतापयो' इस [धातु] का रूप है। [इसीलिए विस्वरत्व का अर्थ 'विशेषेण उपतापकत्व' किया है]।

---

१ भ अनुकरणात्मक। २ भ मधुरो। ३ ब पाठ्यसिद्धिरूपम्। ४ ब अधिकातोद्यविस्वरत्व।

प्रधानस्य पाठ्यस्य, प्रधानानुरणनभूतस्य गीतातोद्यादेर्विनाश प्रतिपाद्य अभिनय वगस्यापि प्रतिपादयति यश्चापीति—

भरत०—'यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वित ।
'स वेश्मन प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्तता पराम्' ॥ २० ॥

आस्यगतो मुखगतो भावो योऽनुभावलक्षणो दृष्टि वाष्प स्वेद-वैवर्ण्यादि, तथा मुकुटप्रतिशीषकादि, चकारादाङ्गिक । स वेश्मन प्रकृष्टत्वादतिविस्तीर्णत्वादव्यक्तता गच्छेत् । तथा प्रगत कृष्ट कषण दैर्घ्य यस्य तस्य भाव, तत, कनीयस्त्वाद्धेतो परा द्वितीयामव्यक्ततामतिसामीप्यकृता व्रजेत् । प्रथममतिदूरत्व कृत्वा सोवता । एवमुभय-मण्डपाभिप्रायेणेद[4] व्याख्येयम् । अन्यथा 'तस्मान्मध्यममिष्यते' इत्युपसहारो न श्लिष्यति ॥२०॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें विस्वरत्व शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने जो पक्ति लिखी है उसका पाठ पूव सस्करणोमें 'विनष्टस्वरा मधुरो यस्य' इस रूपमें छप गया था। परन्तु वह ठीक नही है। ग्रन्थकार विस्वर' पदका अवयवाथ दिखला रहे हैं। अत एव विनष्ट स्वरो माधुय यस्य' इस प्रकारका पाठ ठीक प्रतीत होता है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें 'अधिकातोद्यविस्वरत्व लक्षित भवति' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे छपा था। उसमें अधिकातोद्य' शब्दका कुछ अथ नही बनता है। अत वह अशुद्ध पाठ है। उसके स्थानपर गीतातोद्य' पाठ होना चाहिए। ग्रन्थकारने अगली २०वी कारिकाकी जो अवतरणिका लिखी है उसमें भी 'गीतातोद्यादेर्विनाश प्रतिपाद्य' लिखा है। इसके अनुसार भी उक्त स्थानपर 'गीतातोद्य' पाठ ही होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥ १९ ॥

अभिनव०—प्रधान भूत पाठ्य, और प्रधान [पाठ्य] के अनुरञ्जक गीत वाद्य आदिके विनाशका प्रतिपादन करके, अभिनय-वग [के विनाश] का भी प्रतिपादन 'यश्चापि' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—नाना प्रकारकी दृष्टियों [अर्थात मुद्राओं भाव भङ्गियो] से युक्त जो [अभिनेताओंके] मुखपरका भाव है, मण्डपके अति विस्तीण [अथवा अत्यन्त छोटा] होनेपर [भी] वह अत्यन्त अस्पष्टता को प्राप्त हो जाता है।२०।

अभिनव०—'आस्यगत' अर्थात् मुखपरका भाव अर्थात् जो [विशेष प्रकारकी] दृष्टि, आँसू, पसीना विवर्णता आदि अनुभाव रूप, तथा मुकुट, पगडी आदि [आहाय वेष भूषा] रूप, और चकारसे आङ्गिक [अभिनय गृहीत होता] है। वह भी मण्डपके अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण अस्पष्टताको प्राप्त हो जाता है तथा जिसका कृष्ट अर्थात् कर्षण अर्थात् दीघता प्रगत अर्थात् नष्ट हो गई है उसका भाव 'प्रकृष्टत्व'

---

१ ठ य यश्चाप्यास्यगतो रागो भावसृष्टिरसाश्रय । त नानाभावरसाश्रय । अ ब पश्चा प्यास्य गतो रासो भावदृष्टिरसाश्रय । व यस्य लास्यगतो भावो नानादृष्टिरसाश्रय ।

२ छ अ स च वेश्म । व स स वेश्म विप्रकृष्टत्वाद् । ३ छ अ इति । व म परम् ।

४ भ अभिप्रायेणतद् ।

तदाह प्रेक्षागृहाणामित्यादि–

भरत०–प्रेक्षागृहाणा सर्वेषा तस्मान्मध्यममिष्यते ।
[1]यावत् [2]पाठ्य च गेय च तत्र श्रव्यतर भवेत् ।। २१ ।।

मध्ये भव मध्यमम्, तदिष्यते । यत सर्वेणा [3]रूपकाणा सम्बधि यत् पाठ्य प्रधान तनूरूप [4]प्राणोपरञ्जकरूप च गीत, चकारादातोद्य च श्रव्यतर भवति । द्वितीय-चकारादभिनयान्तरमपि [5]दृश्यतर भवतीत्यथ ।। २१ ।।

हुआ । उससे अर्थात् अत्यन्त छोटा होनेके कारण 'परा' अर्थात् दूसरे प्रकार की, अतिसामीप्यके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तताको प्राप्त होता है । पहिले अतिदूरत्वके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तता कही थी । इस प्रकार दोनो मण्डपोके अभिप्रायसे व्याख्या करनी चाहिए । अयथा 'इसलिए मध्यम मण्डप ठीक है' यह उपसहार नही बनेगा । ।। २० ।।

अभिनव०—उसी [मध्यम मण्डपकी श्रेष्ठता] को 'प्रेक्षागृहाणा' इत्यादि [अगले इलोक] से कहते है—

भरत०—इसलिए सारे प्रेक्षागहोंमे मध्यम [प्रेक्षागह सर्वोत्तम] इष्ट [माना जाता] है । क्योकि उसमे जितना भी पाठय तथा गेय होता है वह सब अधिक स्पष्ट रूपसे सुनाई दे सकता है ।२१।

अभिनव०—मध्यमे होने वाला मध्यम [कहलाता] है । [मध्य शब्दसे 'मध्यान्म' सूत्रसे म प्रत्यय होकर मध्यमशब्द बनता है] । वह पसन्द किया जाता है । क्योकि सारे रूपको मे जितना पाठ्य प्रधान शरीर रूप, और उसका प्राण या उपरञ्जक रूप गीत, तथा चकारसे वाद्य है वह सब अधिक स्पष्ट होता है । दूसरे चकार [के ग्रहण] से अन्य अभिनय भी अधिक स्पष्ट रूपसे दिखलाई देते हैं यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्याके पाठमें दो स्थानोपर साधारणसे सशोधनकी आवश्यकता पडी है । 'तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूप' इस पुराने पाठमेंसे तनूरूप' अलग होना चाहिए । उसका सम्बध 'पाठ्य' के साथ है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं पाठ्य नाटचका शरीर माना गया है । शेष 'प्राणोपरञ्जकरूप' यह भाग अलग होना चाहिए । यह 'गीत' का विशेषण है । तीसरे स्थानके पाठमें अधिक महत्वका सशोधन है । द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि श्रव्यतर भवतीत्यथ' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था । परन्तु वह ठीक नही है । उसमें 'श्रव्यतर के स्थानपर 'दृश्यतर' पाठ होना चाहिए । इसका कारण यह है कि पाठ्य गीत तथा वाद्य जितना नाटकका श्रव्य भाग है उसकी श्रव्यताका प्रतिपादन तो पहिली ही पक्तियोमें हो चुका है । अब कोई श्रव्यभाग शेष नही रहता है । जो अन्य अभिनय शेष रह जाते हैं वे श्रव्य नही अपितु 'दृश्य' है । इसलिए द्वितीय' चकारादभिनयान्तरमपि दृश्यतर भवति' यह पाठ ही होना चाहिए । यहाँ 'श्रव्यतर' पाठ ठीक नही है । द्वितीय सस्करणमें भी उसके स्थानपर 'दृश्यतर' पाठ दिया गया है । अत हमने सशोधित रूपमे उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।२१।।

---

१ त ब यस्मात् । २ ड वाद्य च गेय च सुखश्रव्यतर भवेत् । अ पुस्तके अय श्लोको नास्ति । ३ म रूपाणाम । ४ तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूप च । भ प्राणभूतोप । म ततो' रूप प्राणभूतोप । ५ श्रव्यतरम् ।

[प्रक्षिप्त—प्रेक्षागृहाणा सर्वेषा त्रिप्रकारो विधि स्मृत ।
विकृष्ट चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभि ॥
कनीयस्तु स्मृत त्र्यस्र चतुरस्र च मध्यमम् ।
ज्येष्ठ विकृष्ट विज्ञेय नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभि ॥]

ननु यद्येवभूत प्रयोगक्रमस्तर्हि हस्तसमाश्रयेणैव विधिवक्तव्य । सोऽपि यत्र परिपूर्णो नोपकारी तत्र 'दण्डासमाश्रयेणातोद्यमानेन ।

२१वी कारिकाके बाद फिर दो श्लोक प्रक्षिप्त आ गए हैं। इसके पूर्व ११वी कारिका के बाद भी तीन श्लोक प्रक्षिप्त आए थे। उनमेंसे दो श्लोक बिल्कुल इसी प्रकारके थे। वे दुबारा यहाँ फिर अङ्कित कर दिए गए हैं। यहाँपर ये श्लोक केवल एक प्रतिमें ही पाए जाते हैं। इन पर अभिनवभारती नही है। प्रथम सस्करणमे तो उनपर २५, २६ सख्या पडी है और कोष्ठमे भी नही दिया है। पर द्वितीय सस्करणमें इनको कोष्ठमें दिया गया है और उन पर सख्या भी नही डाली गई है। अत वे प्रक्षिप्त हैं।

अगले श्लोककी पुनरुक्तिका परिहार—

इन दो श्लोकोके समान 'देवाना मानसी सृष्टि' इत्यादि अगला २२ श्लोक भी लगभग इसी रूपमें इसके पूर्व पाचवें श्लोकमे आ चुका है। यद्यपि अक्षरशः तो उसकी आवृत्ति यहा नही है किन्तु भावावृत्ति अवश्य है। इसलिए उसकी पुनरुक्तिका परिहार करनेकेलिए ग्रन्थकार उसकी व्याख्याके पूर्व यह अवतरणिका लिख रहे हैं। उनका भाव यह है कि जहाँ पहिली बार यह श्लोक लिखा गया था वहा यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि देवताओके लिए मण्डपकी रचना विधिका उपदेश क्यो नही दिया गया है। केवल मनुष्योकेलिए ही उसका उपदेश क्यो दिया जा रहा है। इस प्रश्नका उत्तर वहाँ इस कारिका द्वारा यह दिया गया था कि देवताओकी सारी सृष्टि उनके सङ्कल्प मात्रसे हो सकती है इसलिए उनको मण्डपकी रचनाविधि बतलानेकी आवश्यकता नही है। यहाँपर अब यह प्रश्न उठा है कि मनुष्योके लिए जब हस्त प्रमाणसे बना हुआ ज्येष्ठ मण्डप भी अनुपयुक्त हो जाता है तब दण्ड प्रमाणसे मण्डपका विधान करनेकी क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर करनेकेलिए यहा देवताओं और मनुष्योके भेदको दिखलाने वाली यह कारिका दुबारा लिखी गई है। इस प्रकार प्रयोजन भेदसे एक ही भावको दुबारा कहा गया है। अत एव यहाँ पुनरुक्तिकी आशङ्का नही करनी चाहिए। इसी बातको अगली पक्तियोमे लिखते हैं—

अभिनव०—अच्छा यदि इस प्रकारका प्रयोगका क्रम है [कि हस्त-प्रमाणसे बने ज्येष्ठ मण्डपमे भी वह अव्यक्त हो जाता है] तो फिर हस्त-प्रमाणको लेकर ही विधान करना चाहिए [दण्ड-प्रमाणको बिल्कुल छोड देना चाहिए] और [देवता असुर आदिके चरित्रके अभिनयमे] जहा कहीं वह [हस्त प्रमाण] पूर्ण रूपसे उपकारी न हो वहाँ [भी चार हाथ वाले] दण्डका आश्रय न लेकर [वीणा आदि] वाद्योके [दण्डके] प्रमाणसे नाट्य-मण्डपका विधान करना चाहिए। [अर्थात् यदि अधिक बडे परिमाणके 'प्रमाण' पैमाने से नापनेकी आवश्यकता पडे तो 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्ड' चार हाथ वाले दण्डके बजाय वीणा आदि आतोद्योके मानसे विधान किया जा सकता है। चार हाथ वाले दण्डको मापका साधन बनाना बिल्कुल व्यर्थ है]।

---

१ दण्डसमाश्रयेण।

अथ कदाचिद् दिव्यप्रकृति-प्रेक्षकाभिप्रायेण तदुच्यते तत्रापि क [1]स्तोका तरन्त-रत्वेन विशेष इति न्यायेन केह सम्भावना इत्याशङ्का पराकर्तु [2]श्लोको भावी । अत एव पूर्वश्लोकेन सह नात्र पौनरुक्त्य शङ्कितव्यम् । तस्यान्यथोपक्षेपात ।

[3]तञ्च श्लोकमाह 'देवाना' इत्यादि—

भरत०—देवाना मानसी सृष्टि-गृहेषूपवनेषु च ।
[4]यत्नभावाद्विनिष्पन्ना सर्वे भावा[5]हि मानुषा ॥ २२ ॥

अभिनव०—और यदि दिव्य प्रकृति [अर्थात् जिनका अभिनय किया जा रहा है उन देवता आदि] अथवा दिव्य प्रेक्षकोके अभिप्रायसे उसको कहा गया है [अर्थात दण्ड-प्रमाणसे बडे मण्डपका विधान किया गया है] तो उस [पक्ष] मे भी [हस्त प्रमाण और दण्ड प्रमाणसे नापनेमे] 'थोडा सा भेद होनेसे कौन सी विशेषता हो जाती है' [जिससे हस्त प्रमाण को छोड कर चौगुने बडे दण्ड प्रमाणसे मडप का विधान किया जाय । अर्थात तनिक सा भेद होनेसे कोई अन्तर नही पडता है इस कारण दड-प्रमाणसे मडपका विधान व्यर्थ है] इस युक्तिसे [उस दड समाश्रित मडप विधानकी] यहा क्या [सम्भावना] आवश्यकता [या उपयोगिता] है ? इस आशङ्काके निवारण करनेके लिए [देवताओ और मनुष्योका भेद बतलाने वाला कोई] श्लोक होना चाहिए । [इस दृष्टिसे यहा 'देवाना मानसी सृष्टि' इत्यादि श्लोकसे देवताओकी विशेषताका प्रतिपादन किया है] इस लिए [इसी भावका जो इस अध्यायका पाचवा श्लोक पहिले दिया जा चुका है उस] पूर्व श्लोककेसाथ इसकी पुनरुक्तिकी आशङ्का नही करनी चाहिए । क्योकि उसकी अवतारणा अन्य कारणसे की गई थी । [और इसकी अवतारणा अन्य प्रयोजनसे की गई है । इस प्रकार दोनोकी अवतारणा का प्रयोजन भिन्न-भिन्न होनेसे उनमे पुनरुक्ति नहीं समझी जा सकती है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ कुछ वाक्य रचनाके दोषके कारण और कुछ मुद्रणदोषके कारण जटिल सा हो गया है । उसके समझनेमे कठिनाई होती है । 'तत्रापि क स्तोका तरत्वेनेति न्यायेन का इति सम्भावना' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमे छपा है वह बडा अस्पष्ट सा और अशुद्ध सा प्रतीत होता है । उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है । उसके बीचमें 'विशेष' पद कदाचित् कीटदष्ट होनेसे लुप्त हो गया है । उसको जोडनेसे कुछ तो अर्थ बनता है पर फिरभी पूर्ण रूपसे स्पष्ट नही होता है । उसके स्थान पर 'तेन केह सम्भावना' पाठ रखने पर कुछ अर्थ बन जाता है ।इस प्रकार इस श्लोककी पुनरुक्तिका परिहार कर वृत्तिकार उसकी अवतारणा करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—उस 'देवाना' इत्यादि श्लोकको कहते है—

भरत०—देवताओकी गृहों तथा उपवनों [आदि] के विषयमें मानसी [अर्थात सङ्कल्प मात्र से साध्य] सृष्टि है और मनुष्योके सारे पदार्थ प्रयत्नके द्वारा बनते है ।२२।

---

१ क स्तोका तरत्वेनेति न्यायेन का इति [ह] सम्भावना । २ श्लोकोऽभावि । ३ तच्छ्लोकं । ४ छ म यत्र भावाद्विनिष्पन्ना । ब यत्नभावा । ५ च म भावास्तु ।

मनसस्तदीयस्य सत्वबहुलत्वात [1]तत्कृत इन्द्रियविसजनलक्षणो व्यापारोऽतिरूपव्यापी । [2]'उपवनेषु' इति अविविक्तविततेषु । का कथा मण्डपविषये । अत एव 'गृहेषु' इति बहुवचनमुपात्तम । तेन तदपेक्षया ते मण्डपा उक्ता इत्यथ । न त्वेव मानुषाणा राजसाना मन ॥ २२ ॥

तदाह [3]तस्माद्देवकृतैरिति—

भरत०—[4]तस्माद् देवकृतैर्भावै-र्न विस्पर्धेत मानुष ।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २३ ॥

यत एव तस्मान्मानुषस्यैव गेहस्य लक्षण सम्यक प्रवक्ष्यामि । तु शब्द एवकारार्थे ॥ २३ ॥

अभिनव०—उन [देवताओ] के मनके सत्त्व प्रधान होनेके कारण उसके द्वारा किया गया इन्द्रिय-विसजनरूप व्यापार [अर्थात् इन्द्रियोके उपयोगके बिना ही मानस-सङ्कल्प जन्य सृष्टि] अत्यन्त व्यापक है [अर्थात् उनका सात्त्विक मन अपने सङ्कल्प मात्र से किसी भी पदाथकी रचना कर सकता है] । 'उपवनोमे' अर्थात् [खाली उपवनोमे ही नही अपितु 'अविविक्त' अर्थात् अप्सराओ और नाना प्रकारकी भोग सामग्रीसे] भरे हुए और विस्तीण उपवनोमे [भी देवताओकी सङ्कल्प जन्य मानसी सृष्टि होती है तो फिर] मडप की तो कथा ही क्या [अर्थात् वह तो उनके लिए कोई बडा कार्य ही नही है] । इसी लिए 'गृहेषु' यह बहुवचन ग्रहण किया गया है । अत एव उन [देवताओ] के अभिप्रायसे वे [दड समाश्रित प्रमाण वाले] मडप कहे गए है । इन रजोगुण प्रधान मनुष्योके मन इस प्रकारके [अर्थात् मानसी सृष्टि करने मे समर्थ] नही है । उनको प्रयत्न पूवक ही भवनोका निर्माण करना होता है । अत एव उनकेलिए केवल हस्त समाश्रित मानसे मण्डपोका विधान किया है ॥२२॥

अभिनव०—'तस्मादवेवकृतै' इत्यादि [अगले श्लोक] से उसको [अर्थात् देवताओके पदार्थोके साथ मनुष्यको स्पर्धा नही करनी चाहिए इस बातको] कहते हैं—

भरत०—इसलिए देवताओंके बनाए [नाट्य मण्डप आदि रूप] पदार्थोके साथ मनुष्यको स्पर्धा नहीं करनी चाहिए । अब मै मनुष्यके उपयोगी मण्डपका लक्षण विस्तार पूवक कहूगा ।२३।

अभिनव०—क्योकि ऐसा है [अर्थात् देवता अपने मडप आदिको केवल सङ्कल्प मात्रसे बना सकते है किन्तु मनुष्योको उसकेलिए प्रयत्न करना होता है] इस लिए मै मनुष्यके उपयोगी नाट्य मडपका ही लक्षण भली प्रकारसे कहूगा । तु-शब्द यहा एव-कारके अथमे है [अर्थात् केवल मनुष्योके उपयोगी मडपोका ही विधान हस्त समाश्रित मानके अनुसार करूगा । दडसमाश्रितका नही] ॥ २३ ॥

---

१ तत्क्रियते इन्द्रियविसजनलक्षणे व्यापारेऽतिरूपव्यापि । २ उपवनेषु वनेष्वविततविततेषु । उपवनेष्वपि । ३ देवकृत । ४ अ पुस्तके इदमध नास्ति ।

सम्यगिति यदुक्त तदाह भूमेरित्यादि—

भरत०—[1]भूमेर्विभाग [2]पूर्वं तु परीक्षेत [3]प्रयोजक ।
ततो [4]वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत [5]यदृच्छया ॥२४॥

विभागो [6]हेयोपादेयत्वेन । वास्तित्वति [7]गृहम् । 'प्रमाण च' इति [8]वक्ष्यमाणरूपत्वेन । प्रारभेत कतु मिति शेष ॥ २४ ॥

त विभागमाह समेत्यादि—

भरत०—समा स्थिरा च [9]कठिना[10] कृष्णा गौरी च या भवेत् ।
भूमिस्तत्रैव[11] कर्तव्य कतृ भि-र्नाटचमण्डप ॥ २५ ॥

समा स्वभावान्नातिनिम्नोन्नतेत्यथ । स्थिरा अचलनस्वभावा । कठिना अनूषरा । कृष्णा गौरी चेति चो वार्थे । अन्ये तु व्यामिश्रितत्वमाहु । कतव्य इति करणाह ॥ २५ ॥

अभिनव०—भली प्रकार [कहूगा] यह जो कहा था उसको 'भूमे' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—प्रयोजक [राजा आदि] पहिले भूमिके विभागको भली प्रकार देखे उसके बाद अपनी इच्छाके अनुसार [विकृष्ट आदि आकारके] वास्तु [अर्थात गह] की [निर्दिष्ट] प्रमाणके अनुसार रचना प्रारम्भ करावे ।२४।

अभिनव०—विभाग अर्थात् हेय उपादेय रूपसे [भूमिके विभागको देखे] । वास्तु इससे गृह [अर्थात मडप] का ग्रहण होता है । और 'प्रमाण च' इससे आगे वर्णित प्रमाणके अनुसार [यह अभिप्राय है] । 'प्रारभेत' [अर्थात् रचना कराना] प्रारम्भ करे यहाँ 'कतु' शेष रह गया है । [अर्थात् ऊपरसे जोड लेना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—'वास्त्वति ग्रहण' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणोमे दिया गया था । पर न्तु यहाँ ग्रहण के स्थानपर 'गृहम पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योकि 'वास्तु पद की व्याख्या 'ग्रहण' नही गृह' ही हो सकती है । अत हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।।२४।।

अभिनव०—उस [भूमिके] विभागको 'समा' इत्यादिसे कहते है—

भरत०—जो भूमि समतल, मजबूत, ठोस, काली अथवा पीली [गौरी] हो उसी स्थान पर बनवाने वालोको नाटच मण्डप बनवाना चाहिए ॥२५॥

अभिनव०—'समा' अर्थात् जो स्वभावसे अधिक ऊची-नीची न हो । 'स्थिरा' हिलने वाली न हो । 'कठिना' [ऊषर] रेतीली न हो । 'कृष्णा गौरी च' यहा चकार 'वा' के अथमे है [अर्थात् काली या पीली हो] दूसरे [व्याख्याकार] तो [काली और पीली] मिश्रित हो यह कहते है । 'कर्त्तव्य' अर्थात् बनाना चाहिए ॥२५॥

---

१ प भूमिभाग परीक्षेत प्रथम नाटचवेश्मन । २ ड अ प्रथमम । ३ ठ म विचक्षण ।
४ ठ अ म वास्तु प्रमाण च । ५ ठ शुभेच्छया । ६ म हेयोपादानत्वेन ।
७ ग्रहणम । ८ इत्युपलक्ष्यमाणरूपत्वेन । ९ तु ।
१० म प्रकठिना । त ह्यकठिना । अ ब सुकठिना । ११ ठ म भूमिस्तत्र तु ।

कथमित्याह प्रथममित्यादि—

भरत०—प्रथम शोधन कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत[1]।
अस्थि-कील कपालानि[2] तृणगुल्माश्च शोधयेत् ॥ २६ ॥

शोधनमुपरिगताशुचिशकराद्यपसारणम् । ततो हलेनोद्धतगुल्मपाषाणादिका कुर्यात् । एतदेवाहास्थीत्यादिना ॥ २६ ॥

एव वाह्याभ्यन्तरतो भूमिशुद्धि निरूप्यानन्तरकरणीयमाह शोधयित्वेति—

भरत०—शोधयित्वा वसुमती प्रमाण निर्दिशेत् तत ।
[3]पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लसूत्र [4]प्रसारयेत् ॥ २७ ॥

[5]कथ प्रमाणनिर्देश इत्याह पुष्येति । शुक्लसूत्रत्व तावत पिष्टरञ्जनादिना ॥२७॥

[प्रक्षिप्त—[6][7]त्रीण्युत्तराणि सौम्य च विशाखापि च रेवती ।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥]

मण्डप निर्माणकी पूर्व पीठिका—

अभिनव०—कैसे [नाट्य मण्डपको बनावे] यह 'प्रथम' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—पहिले [भूमिको] साफ करके हलसे जोते । और हड्डी, कील कपालादि [अर्थात् खपडे आदि] और घास फूस एव झाड झखाड आदिको उसमेसे निकाल दे ॥२६॥

अभिनव०—शोधनसे तात्पय यह है कि ऊपरकी अशुद्ध मिट्टी तथा धूल [शकरा] आदिको हटा दे । उसके बाद हलसे [जोत कर] झाडी पत्थर आदिको दूर कर दे । इसी बातको 'अस्थि कील-कपालादि' पदसे कहा है ॥ २६ ॥

अभिनव०—इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी रूपसे भूमिकी शुद्धि करके उस के बाद क्या करना चाहिए यह बात 'शोधयित्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—पृथ्वीका [वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो तरहका] शोधन करके [आकार तथा] परिमाणका निश्चय करे । [उसकेलिए] पुष्य नक्षत्रका योग होनेपर सफेद सूत [मापके निशान लगानेके, दाग बेल करनेकेलिए] डाले ।२७।

अभिनव०—[मडपके] प्रमाणका निर्देश कैसे करे यह बात 'पुष्य' इत्यादि [उत्तरार्द्ध श्लोक] से कही है । शुक्लसूत्रत्व [अर्थात् यदि दागबेल करनेके लिए प्रयुक्त रस्सी मूज आदि का बना हो तो चूना या अन्य किसी की] पिट्ठी आदि के लेपसे [हो सकता है] ॥२७॥

प्रक्षिप्त श्लोक—'त्रीण्युत्तराणि' इत्यादि जो श्लोक हमने ऊपर कोष्ठमे दिया है वह प्रक्षिप्त श्लोक प्रतीत होता है । इसलिए उसे कोष्ठमें दिया गया है । पूव सस्करणोमें भी उसे कोष्ठमें ही मुद्रित किया गया था । किन्तु उनमें २७वें श्लोक के दोनो भागों के बीचमें उसका पाठ था । हमने बीचमेंसे हटा कर एक ओर २७वें श्लोकके बाद कर दिया है ।

---

१ प समुत्क्षिपेत् । त समुत्तुषेत् । २ ड कपालादि । ३ ठ म पुष्पनक्षत्रयोगे तु । ४, न निवापयेत । ५ कथमित्याह । ६ शुक्लसूत्रम् । ७ इद पद्य म त पुस्तकयोरेव दृश्यते ।

भरत०—कार्पास[1]वाल्वज वापि मौञ्ज बाल्कलमेव च ।
सूत्र [2]बुधैस्तु कर्तव्य [3]यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ २८ ॥

[4]चमकृत मानसूत्र न कार्यमिति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

भरत०—अर्द्धच्छिन्ने भवेत् सूत्रे स्वामिनो मरण ध्रुवम् ।
[5]त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा [6]राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ २९ ॥

स्वामिन प्रेक्षापते ॥ २९ ॥

भरत०—छिन्नाया चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
[7]हस्तात् प्रभ्रष्टया वापि [8]कश्चित्त्वपचयो [9]भवेत् ॥ ३० ॥

प्रयोक्तु-र्नाट्यचार्यस्य ॥ ३० ॥

भरत०—तस्मान्नित्य प्रयत्नेन [10]रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव [11]प्रयत्नेन मान नाटचगृहस्य तु ॥३१॥

प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिति अच्छेद्या [12]अनुभरणीया च रज्जु ।

मानसूत्र किसका बनावें—

भरत०—कपासका या वाल्व [सन आदि या अन्य घास] का या मूंज या बल्कल [वृक्षकी छाल] का सूत्र [अर्थात् रस्सी] चतुर [कारीगरो] को बनानी चाहिए जो टूट न सके ।२८।

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि चमडेका मान सूत्र [अर्थात फीता] नही बनाना चाहिए ॥ २८ ॥

भरत०—बीचमे [आधे परसे] सूत्र [रस्सी] के टूट जाने पर स्वामी [अर्थात् राजा आदि प्रेक्षापति] का निश्चित रूपसे मरण होता है । और तिहाई भागपर टूटनेसे राष्ट्रमे उपद्रव होता है ।२९।

अभिनव०—स्वामीका अर्थात् प्रेक्षापति [राजा आदि] का ॥ २९ ॥

भरत०—चौथाई भागपर टूटनेसे प्रयोग करने वाले [नाटचाचार्य] का नाश होता है और हाथसे छूट जानेपर कोई हानि अवश्य होती है ।३०।

अभिनव०—प्रयोक्ता अर्थात् नाट्याचार्यका ॥ ३० ॥

भरत०—इसलिए रस्सी [मान सूत्र या फीता] को सदा प्रयत्न पूर्वक पकडना चाहिए । और नाटच गृहकी नाप तौल सावधानीके साथ करनी चाहिए ॥३१॥

अभिनव०—प्रयत्न-पूर्वक रस्सीको ग्रहण करना चाहिए इससे (१) मानसूत्र ऐसा मजबूत हो जो टूट न सके और (२) लपेट कर इकट्ठा किया जा सके [अनुभरणीय हो] ।

---

१ ठ म बादर वापि वाल्कल मौञ्जमेव वा । न वाल्कल चापि वाल्वज मौञ्जमेव च । अ घ शाणज वापि वाल्कल मौञ्जमेव च । २ प बुधेन । ३ ग व त छेदो यस्य । ४ भ चात् चमकृत मानसूत्र नाकार्यं । ५ ड त्रिभागे । ६ न राज-कोपोऽभिधीयते । ज राष्ट्रक्षोभो । प राष्ट्रकोशश्च हीयते । ७ ठ हस्तात् । ज हस्तप्रकृष्टया चापि । ८ न कञ्चित् । ९ प तस्मात् पापचयो ।
१० प रज्ज्वा ग्रहण । ११ न विशेषेण । १२ अच्छेद्यानुरागरणीया ।

[1]तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथाऽवष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम्। नित्यमिति न केवल प्रथमपरिग्रहे यावदन्यदापि स्तम्भविनिवेशाय भूभागमान ग्रहणादावपीत्यथ । प्रयत्नेन मानमित्यूनाधिकादिदोषवजनायाय यत्न इत्यपौनरुक्तम् ।३१।

भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन [2]तिथ्या सुकरणेन च ।
ब्राह्मणास्तपयित्वा तु[3] [3]तत सूत्र प्रसारयेत ।।३२।।

मुहूर्तो ब्राह्मादि । तिथिभद्रादि [4]। करण विष्ट्यादिरहितम् ।।३२।।
[प्रक्षिप्त०—शान्तितोय ततो दत्वा तत सूत्र प्रसारयेत] ।

अभिनव०—उसको प्रयत्न-पूवक इस तरह सावधानीसे पकडना चाहिए कि हाथसे छूटने न पावे, इन दोनो प्रकारसे [प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते इसकी] योजना करनी चाहिए । 'नित्य इससे [यह आशय है कि] न केवल पहिली बारके पकडनेमे ही [सावधान रहना चाहिए] अपितु अन्य समयमे भी । जसे स्तम्भोके लगानेके लिए भूमिको नापने आदि [के कालो] मे भी [सावधान रहना चाहिए] यह अभिप्राय है । और [नाट्य गृह की नाप तोल] मान प्रयत्न पूवक करना चाहिए यह [दूसरी वार प्रयत्न शब्दका प्रयोग] न्यूनाधिक आदि दोषोके दूर करनेकेलिए है इसलिए [इसी कारिकामे आए हुए दूसरे 'प्रयत्न' शब्दके साथ इसकी] पुनरुक्ति नही है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूव सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है । 'तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम' यह पाठ पूव सस्करणोमें पाया जाता हे उसकी कोई सङ्गति नही लगती है । प्रयत्नेन 'रज्जुग्रहण' यह वाक्यके आरम्भमें आया है और 'उभयथा योज्यम' यह अ तमें, इन दोनोको मिलाकर मुख्य वाक्य बनता है । अर्थात प्रयत्नेन रज्जुग्रहणसे दो बातें निकालनी चाहिए एक तो रज्जु अच्छेद्य हो और दूसरे उसको सावधानीसे पकडा जाय जिससे हाथसे छूटने न पावे । ये दो बाते 'प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते' से सूचित होती है यह ग्र थकारका अभिप्राय है । यह अथ पूव पाठ से नही निकलता है । उसके स्थानपर 'तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथावष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम' इस प्रकारका पाठ होनेपर अथकी सङ्गति ठीक लगती है । अत हमने उसी पाठको प्रस्तुत किया हे ।।३१।।

मण्डपकी दागवेलका समय—

भरत०—अनुकूल मुहूत, अनुकूल तिथि तथा सुन्दर [दोष रहित] करण [कालका विभाग विशेष] मे ब्राह्मणोको [भोजनादिके द्वारा] तृप्त करा कर सूत छोडे [अर्थात मण्डपकी दाग बेल करवावे] ।।३२।।

अभिनव० मुहूतसे ब्राह्ममुहूत आदि [का ग्रहण करना चाहिए] । तिथिसे भद्रा आदि [शुभ तिथिका ग्रहण करना चाहिए] । करणसे विष्टि आदि [अशुभ करणोसे] रहित [तिथ्यधभागरूप कालविशेषका ग्रहण करना चाहिए] ।

---

१ तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम । न तथा ।
२ अ ब पुण्याह वाचयेत् तत । ३ ब तिथिहवा (नन्दा) दि ।
४ अ, ब पुस्तकस्य श्लोकार्धो न दृश्यते ।

सूयसिद्धा तके द्वितीय अध्यायमें करणोका वरान आया है। तिथ्यधभाग सर्वेषा करणाना प्रकल्पयेत' इस नियमके अनुसार तिथिका आधा भाग करण कहलाता है। ये करण दो प्रकारके माने गए हैं। एक ध्रुव-करण और दूसरे चल करण। ध्रुव करण चार हैं। उनके नाम १ शकुन, २ नाग, ३ चतुष्पद और ४ किंस्तुघ्न है। चल करण सात माने गए हैं। उनके नाम १ बव, २ बालव, ३ कौलव, ४ तैतिल, ५ गर, ६ बणिक और ७ विष्टि है।

इन करणोमे एक करण 'विष्टि' नामका भी है। पर तु वह सुकरणोकी गणनामे नही आता है। इसीलिए 'सुकरण' की व्याख्यामे अभिनवगुप्तने 'करण विष्ट्यादि रहितम' लिखा है।

पाठसमीक्षा—पाठ सशोधनकी दृष्टिसे इस स्थलपर हमने कुछ विशेष महत्त्वपूण परिवतन किया है। पूव सस्करणोमे यहा मूल श्लोकोका पाठ इस प्रकार था—

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च।
ब्राह्मणास्तपयित्वा ते पुण्याह वाचयेत् तत ॥३२॥
शा तितोय ततो दत्वा तत सून प्रसारयेत ॥
चतु षष्टि करान कृत्वा द्विधाभूतान पुनस्तत ॥३३॥

हमने यहा ३२वे श्कोकके चतुथ चरण 'पुण्याह वाचयेत तत ' को हटाकर उसके स्थान पर ३३वे श्लोकका द्वितीय चरण 'तत सूत्र प्रसारयेत्'। लगा दिया है। और ३२वे श्लोकके चतुथ चरणको ३३वे श्लोकके द्वितीय चरणके स्थानपर करके हमने पहिले निम्न प्रकार पाठ बनाया है—

ब्राह्मणास्तपयित्या तु तत सूत्र प्रसारयेत।
'शा तितोय ततो दत्वा पुण्याह वाचयेत तत '॥

इसके बाद 'शा तितोय' आदि आधे श्लोकको मूल पाठसे बिल्कुल निकाल दिया हे।

इस परिवतनका कारण यह है कि अभिनवभारतीकारने ३२ श्लोकके मुहूत तिथि करण आदि पूर्वार्द्धमें आए हुए पदोकी व्याख्या की है। उत्तरार्द्ध के पदोकी व्याख्या नही की है पर तु अगले श्लोककी जो अवतरणिका और प्रतीक दिया है उससे प्रतीत होता है कि ग्र थकारके सामने ३२ श्लोकका अ तिम चरण 'तत सून प्रसारयेत' और ३३वे श्लोकका आदि चरण 'चतु षष्टि करान् कृत्वा' यह भाग ही है। पुरानी सख्यासे ३२वी कारिकाकी व्याख्या समाप्त करनेके बाद अगली ३३वी कारिकाकी अवतरणिका करते हुए उ होने लिखा है कि—

सूत्रप्रसारणेन यत्कृत्य तदाह चतु षष्टिरित्यादि—

इससे यह प्रतीत होता है कि ग्र थकारकी दृष्टिमें अगली कारिका 'चतु षष्टि' आदिसे आरम्भ होती है और पहिली कारिका 'सून प्रसारयेत मे समाप्त होती है। यदि पूव सस्करणोका पाठ माना जाय तो अगली ३३वी कारिका 'चतु षष्टि करान' से नही अपितु 'शा तितोय' से प्रारम्भ होगी। उस दशामे इस स्थलकी अभिनवभारती की ठीक सङ्गति नही बनेगी। इसके अतिरिक्त 'शा तितोय' वाले पाठको बीचमे माननेसे अगले श्लोकोकाक्रम भी बिगड जाता है। अ व चिह्नित पुस्तकोमें भी यह श्लोकाध नही पाया जाता है। और अभिनवगुप्तने भी उसपर टीका नही की है। बलिक उसको निकालकर जो पाठ बनता है वही अभिनवगुप्तका अभिमत पाठ है। अत एव यह आधा श्लोक यहा प्रक्षिप्त है। इसलिए हमने उसको हटा दिया है। इससे अगले श्लोकोकी और अभिनवभारती दोनोकी सङ्गति ठीक लग जावेगी। पर तु यहासे आगे हमारा और द्वितीय सस्करणोकी श्लोक सख्यामें आधे श्लोकका अ तर हो जावेगा ॥३२॥

विकृष्ट आकारके मण्डपकी रूपरेखा और मानविधि—

अगले ३३ ३४ दो श्लोकोमें विकृष्ट मण्डपकी रूप रेखा दी गई है। ये दोनो श्लोक अत्य त महत्त्वपूण श्लोक हैं। उन्हे हम इस अध्यायका केन्द्र बिन्दु कह सकते हैं। इस अध्यायका

सूत्रप्रसारणेन यत् कृत्य तदाह चतुष्षटिरित्यादि—

भरत०—चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा [1]द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान् ।
पृष्ठतो यो भवेद् भागो [2]द्विधाभूतस्य तस्य तु ॥३३॥
[3]सममर्धविभागेन [4]रङ्ग-शीर्षं [5]प्रकल्पयेत् ।
[6]पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत ॥३४॥

सारा प्रतिपाद्य विषय इन दो श्लोकोके चारो ओर घूम रहा है । इस लिए इन दोनोके अथको [illegible] प्रकारसे समझ लेना चाहिए । इनमें नाटच मण्डपके विभिन्न भागोकी स्थितिका निर्देश करते [illegible] उसकी आधार शिला रखी जा रही है । जसा कि ऊपर कहा जा चुका है विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों प्रकारके मण्डपोमें मध्यम परिमाण वाले मण्डप ही उत्तम होते हैं । इसलिए यहा भरतमुनि सबसे पहिले विकृष्ट आकारके ६४×३२ हाथ वाले मध्यम परिमाणके नाटच मण्डपकी रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं । बिकृष्ट थर्थात आयताकार मध्यम परिमाण वाले नाटच मण्डपकी लम्बाई [दैर्घ्य] ६४ हाथ और चौडाई [विस्तार] ३२ हाथ होता है । इसको चार भागोमे विभक्त किया गया है । पहिले ६४×३२ को दो भागोमें विभक्तकर उसके दो ३२×३२ हाथके दो भाग बनाए । इनमेसे ३२×३२ का आगेका आधा भाग प्रेक्षकोके बठनेके लिए अलग रखा गया है । पिछले आधे भागको फिर दो टुकडोमे बाटकर १६×३२ के दो भाग बनाए । इनमेसे सबसे पीछेके १६×३२ हाथ वाले स्थानमें नेपथ्यगृह रखा गया है । और अगले १६×३२ हाथके स्थानको फिर दो सम भागोमे विभक्त कर उनमें ८×३२ हाथके दो भाग बनाए । प्रेक्षकोके समीपवर्ती स्थानमें मुख्य रङ्गपीठ और उसके पीछे नेपथ्यगृह तथा मुख्य रङ्गपीठके बीच वाले ८×३२ हाथके स्थानमे रङ्गशीषके निर्माणकी व्यवस्था करके भरतमुनिने नाटच मण्डपकी सक्षिप्त रूप रेखा इन दो श्लोको मे प्रस्तुत की है । इसी बात को आगे कहते हं—

अभिनव—[पूव श्लोकके अन्तमे जो 'तत सूत्र प्रसारयेत्' यह कहा हे उसमे कथित] सूत्र फलाने [अर्थात् दागबेल लगाने] से जो काय करना है उसको 'चतुष्षष्टि करान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात आयताकारके मध्यम-परिमाण वाले नाटच मण्डपकी रचनाके लिए] चौसठ हाथ [लम्बी तथा बत्तीस हाथ चौडी भूमि] को लेकर [उसकी ६४ हाथ वाली लम्बाई को] दो भागोंमे विभक्त करे [इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौडे अर्थात वर्गाकारके दो बराबरके क्षेत्र बन जावेंगे । इनमेसे अगले एक भागको प्रेक्षकोके बठनेकी व्यवस्थाके लिए छोड दें] और जो भाग पीछेकी ओर हो उसको फिर [१६×३२ हाथके] दो भागोमे बाट कर।३३।

भरत०—[प्रेक्षकोके बठने वाले अगले स्थानके समीपका जो १६×३२ हाथका टुकडा है उसको फिर ८×३२ हाथके दो भागोमे] आधा आधा बराबर बाट कर [प्रेक्षकोके बठनेके स्थानसे मिले हुए ८×३२ हाथके भागमे मुख्य अभिनय स्थल] 'रङ्ग' [अर्थात रङ्गपीठ] और [उसके पीछे ८×३२ हाथके स्थानमे] 'शीष' [अर्थात रङ्गशीष] की रचना करे । और [रङ्गशीषके भी] पीछेकी ओरके [१६×३२ हाथके अन्तिम] भागमे नेपथ्यगह बनवावे । ३४ ।

---

१ ब द्विधाभूतान् पुनस्तत । अ भूतान् पुन पुन । २ त ठ म द्विधाभूतोभवेच्च स ।
३ न त तस्याप्यर्धाधभागेन । प म तस्यार्धेन विभागेन । छ अ तस्याप्यध विभागे तु ।
४ रङ्गशीष । ५ प म प्रयोजयेत् । ६ अ म पश्चिमे तु पुनर्भागे ।

अभिनवगुप्तके अनुसार

विकृष्ट मण्डप ६४×३२ हाथ

(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी
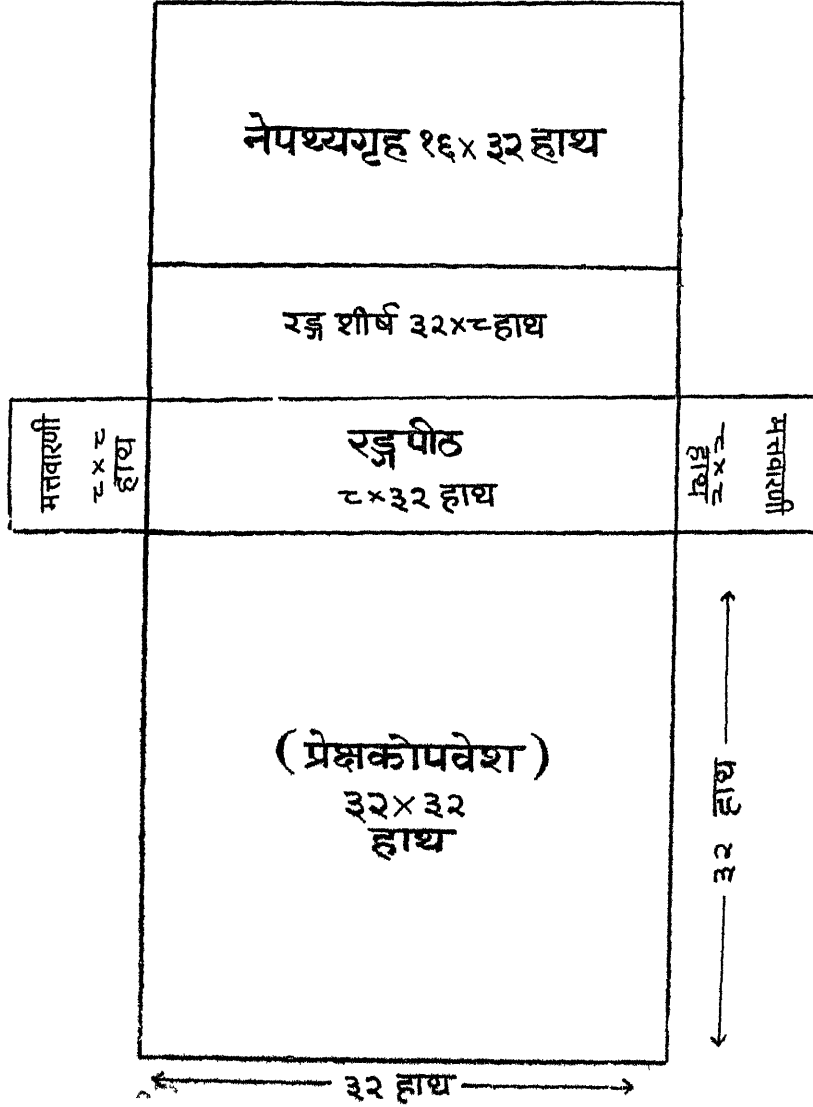
पाठसमीक्षा—इन श्लोकोके पाठमे अनेक प्रकारके पाठा तर पाए जाते है। उन पाठा ‹ गको हमने नीचे पाद टिप्पणीमे दे दिया है। कि तु एक विशेष पाठकी हम यहा विशेष रूपस आ ोचना करना चाहते है। क्योकि उसके कारण बडा अनर्थ हुआ है। इनमेसे ३४वे श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ सभी सस्करणोमे 'सममधविभागेन रङ्गशीष प्रकल्पयेत् इस रूपमे छपा है। हमारी सम्मतिमे रङ्गशीष प्रकल्पयेत' इस एक वचनाना त पाठके स्थानपर यहा रङ्ग शीष प्रकल्पयेत यह द्विवचना त पाठ होना चाहिए। इसका उपपादन हम इस आधारपर करते है कि ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौडा जो क्षेत्र मध्यम परिमाण वाले विकृष्ट या आयताकार नाट्य मण्डपके निर्माण के लिए नियत किया जाता है उसे यहा चार भागोमें विभक्त किया गया है। (१) सबसे पहिले द्विधा [illegible] लिख [illegible] भरतमुनिने ६४ × ३२ हाथके क्षेत्रकी लम्बाई दो भागोमें बाटा है। जिससे [illegible] × ३२ हा[illegible] दो वर्गाकार क्षेत्र बन गए। यह प्रथम बार विभाग हुआ और उससे बत्तीस बत्तीस हाथ लम्बाईके दो क्षेत्र तैयार हुए। (२) उसके बाद उन दो भागोमेंसे [पष्ठनो यो भवेद भागो] जो पिछला भाग है उसको फिर 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' लिखकर भरतमुनिने दो विभागोमे विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ३२ × ३२ हाथ वाला पिछला टुकडा १६ × ३२ हाथोके आकारके दो खण्डोमे विभक्त हो गया। इन १६ × ३२ हाथो वाले दो टुकडोमेसे जो अगला भाग है उसको फिर (३) 'सममधविभागेन' लिखकर भरतमुनिने दो बराबरके भागोमे विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ये दोनो टुकडे ८ × ३२ हाथके बन गए। (४) इनके पीछे १६ × ३२ हाथका एक टुकडा और बच रहा है। इस प्रकार चौसठ हाथ वाले भूमि-खण्डको बीचमे तीन बार या तीन रेखाओसे विभक्त करनेपर उसके चार खण्ड बन जाते हैं। इनमसे पहिला या सबसे आगेका खण्ड ३२ × ३२ हाथका, उसके बादका दूसरा खण्ड ८ × ३२ हाथका, फिर तीसरा खण्ड भी ८ × ३२ हाथका और सबसे पीछेका अ तिम खण्ड १६ × ३२ हाथका बनता है। सबसे आगेका ३२ × ३२ हाथ वाला भाग प्रेक्षकोके बैठनेका स्थान है। उसके बादका ८ × ३२ हाथ वाला भाग अभिनयका मुख्य स्थान है। इस पर खडे होकर पात्र गण अपना अपना अभिनय करते हैं। इस भागको 'रङ्गपीठ कहते हैं। इसके पीछे फिर ८ × ३२ हाथका स्थान आता है। यह तीसरा खण्ड है। इसका नाम 'रङ्गशीष है। सामा यत वाद्य आदि उपकरण इस भागमें रखे जाते हैं और वादकोके बैठनेका स्थान भी वही रहता है। अभिनयमें और अधिक स्थानकी आवश्यकता होने पर उसका उपयोग हो सकता है। इस दृष्टिसे ये 'रङ्गशीष और रङ्गपीठ' दोनो मिल कर अभिनयके दृश्य रूपको प्रस्तुत करनेके लिए अपेक्षित स्थानकी पूर्ति करते है। इन तीनो भागोके बाद सबसे पीछे १६ × ३२ हाथका एक भाग और बचता है वह चौथा भाग नेपथ्य गहके लिए नियत किया गया है। उस नेपथ्यगृहमे पात्र अपनी वेष भूषाके परिवतन आदिकी व्यवस्था करते हैं।

इस स्थान विभाजमकी चर्चाका प्रकृत पाठ सशोधनके साथ क्या सम्ब ध है यह शङ्का किसीके मनमें उत्पन्न हो सकती है। उसका उत्तर यह है कि यह स्थान विभाजन ही इस पाठ सशोधनकी कुञ्जी है। मूल श्लोकोमें सबसे आगे वाले ३२ × ३२ हाथके स्थानका कोई नाम आदि यहाँ दिया है। पर तु वह स्थान प्रेक्षकोके बठने का स्थान है यह बात यहाँ और आगे आए हुए विवरणो से स्वय स्पष्ट हो जाती है। सबसे पीछे वाले सोलह हाथके स्थानको भरतमुनिने पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्' लिखकर नेपथ्यगृहकेलिए नियत कर दिया है। अब बीचका १६ × ३२ हाथका स्थान रह जाता है। इसको जैसाकि हम कह चुके हैं भरतमुनिने सममधविभागे न' लिख कर दो समान भागोमे विभक्त किया है। इस प्रकार ८ × ३२ आकारके दो खण्ड बन

जाते हं। दो भागोमे विभाजनका अथ यही है कि इन दो भागोमें एक चीज तो बन नही सकती है। दो अलग अलग चीजे बनेगी। वे दो चीजे है 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष'। अगले ८ × ३२ हाथके स्थानमें 'रङ्गपीठ' और पिछले ८ × ३२ हाथके स्थानमें रङ्गशीष बनाया जाय यह भरतमुनिका अभिप्राय है। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इस सिद्धा तके अनुसार यहा 'रङ्ग' पदसे रङ्गपीठ' का और 'शीष पदसे 'रङ्गशीष का ग्रहण होता है। उन दोनोके बोधनकी दृष्टिसे यहा द्विवचना त 'रङ्ग शीर्षे' पदका प्रयोग होना चाहिए। रङ्गशीष' यह एक वचना त प्रयोग यहा ग्र थकारके अभिप्रायको व्यक्त नही कर पाता है। यदि यहाँ 'रङ्गपीठ' और रङ्गशीष' नामसे दो अलग-अलग भाग न बन कर केवल 'रङ्गशीष' नामक नामक एक ही भाग बनाना था तो फिर भरतमुनिने 'सममथविभागेन' लिख कर इस १६ × ३२ हाथ वाले टुकडेको ८ × ३२ हाथके दो भागो विभक्त क्यो किया है ? भरतमुनि द्वारा किया गया यह स्थान विभाजन यह सिद्ध करता है कि 'रङ्गपीठ' तथा 'रङ्गशीष' नामसे नाटच मण्डपके दो भागोकी रचना कराना भरतमुनिको अभिप्रेत है। उनके इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'रङ्ग शीर्षे' यह द्विवचना त पद ही प्रयुक्त होना चाहिए। अत इस युक्तिक्रमसे हम इस परिणाम पर पहुचते हे कि 'रङ्गशीष' यह एकवचना त पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'रङ्ग शीर्षे' यह द्विवचना त पाठ ही होना चाहिए। अत हम सशोधित रूपमें इसी पाठ को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस पाठदोषका भ्रामक प्रभाव—

यह पाठदोष देखनेमे बडा छोटा सा दोष जान पडता है। लिखनेकी दृष्टिसे उसमें केवल एकारकी एक मात्रा टूट कर या हट कर उसके स्थान पर बि दी मात्र रह गई हे। व्याकरणकी दृष्टिसे द्विवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग हो गया है। ये दोनो ही दोष बहुत साधारणसे दोष है। 'रङ्ग शीर्षे' के स्थान पर 'रङ्गशीष लिख जाना या छप जाना बहुत साधारण सी बात है। उसका कोई विशेष महत्त्व नही था। उसी प्रकार साधारण रीतिसे इसका सशोधन भी किया जा सकता था। कि तु यहापर वह दोष एक भङ्कर भूल बन गया है। इसी लिए यह सशोधन भी अत्य त महत्त्वपूण सशोधन या परिवतन बन गया है। इसका कारण यह है कि इसने बडे बडे विद्वानोको भ्रममे डाल दिया है। आधुनिक विद्वानोमें डा० मनमोहन घोष नाटचशात्रके विषयमें बडे प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। वे बहुत लम्बे समयसे नाटचशास्त्रके विषयमें अनुस धान काय कर रहे हैं। उ होने नाटचशास्त्रका अग्रेजी भाषामें सु दर अनुवाद भी किया है। पर वे इस पाठदोषके कारण बडे भयङ्कर सद्धा तिक भ्रममे पड गए हैं। इस लिए हमे यहाँ इस पाठ सशोधनके विषयमे विशेष रूपसे चर्चा करनेकी आवश्यकता पडी है।

नाटच मण्डपके विषयमे श्रीमनमोहन घोषका मत—

कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले 'इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली' पत्रिकाके सन् १६३२ के तृतीय अङ्कमे श्रीयुत डी० आर० मनकद महोदयने भरत नाटचशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर भारतीय नाटच मण्डपकी रचनाके विषयमें एक महत्त्वपूण लेख लिखा था। इसी लेखकी आलोचनामे श्री मनमोहन घोषने सन् १६३३ के 'इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली' लण्ड ६ पृष्ठ ५६१ पर एक लेख लिखा है। इस लेखमें घोष महोदयने दो विषयोपर मनकद महोदयसे अपना मतभेद प्रकट किया है। पहिली बात तो उन्होने यह सिद्ध की है कि नाटच मण्डपमें 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' दो अलग अलग भाग नहीं हैं अपितु वे दोनो शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय शब्द हैं। और दूसरी बात उ होने यह लिखी है कि मूल लेखक श्री मनकदने नाटचमण्डपका

जो चित्र बनाया है उसमें आधा भाग 'रङ्गपीठ' 'रङ्गशीष' तथा 'नेपथ्यगृह'की रचनाके लिए दे दिया है और प्रेक्षकोके बठनेके लिए केवल आधा स्थान रखा है। घोष महोदयका कहना है कि यह बात उचित नही की गई है। उनके मतानुसार तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोके बैठनेके लिए होना चाहिए और केवल एक चौथाई भागमें नेपथ्यगृह' और 'रङ्गपीठ' की रचना होनी चाहिए। ये दो नई बाते श्रीघोष महोदयने अपने इस लेखमें प्रस्तुत की है। इनमे से पहिली बात अर्थात् 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीष ये दोनो एक ही स्थानके बोधक पर्यायवाचक शब्द हैं दो अलग अलग स्थान नही हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिए उन्होने निम्नाङ्कित युक्तियाँ उपस्थित की हैं—

१ नाटचशास्त्रके प्रथम अध्यायमें ब्रह्माने नाटच मण्डपके विभिन्न स्थानोकी रक्षा की जो व्यवस्था की है उसमें 'रङ्गशीष' का कोई उल्लेख नही किया गया है जब कि 'रङ्गपीठ' की चर्चा दो बार की गई है। 'रङ्गपीठ' की दो बार चर्चा निम्न श्लोकोमें की गई है—

> पाश्र्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्र स्थितवान स्वयम्।
> स्थापिता मत्तवारण्या विद्युद दैत्यनिषूदनी ॥१ ६०॥
> रङ्गपीटस्य मध्ये तु स्वय ब्रह्मा प्रतिष्ठित ।
> इष्टचथ रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥१ ६५॥

२ द्वितीय अध्यायमें निम्नाङ्कित दो श्लोकोमे नाटच मण्डपके विभिन्न भागोका निर्देश किया गया है—

> चतु षष्टिकरान कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान ।
> पृष्ठतो यो भवेद भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु ।
> सममधविभागेन रङ्गशीष प्रकल्पयेत् ।
> पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥२ ३२ ३३॥

इन श्लोकोमे केवल 'रङ्गशीष' का उल्लेख किया गया है। 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नही है। इससे प्रतीत होता है कि पहिले अध्यायमे जिसको 'रङ्गपीठ' नामसे कहा है उसी भागको यहाँ 'रङ्गशीष' नामसे कहा गया है।

३ द्वितीय अध्यायके ७२, ७३ और ७५ श्लोकोमें फिर केवल 'रगशीष' का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

> एवविध प्रकत य रगशीष प्रयत्नत ।
> कूमपृष्ठ न कतव्य मत्स्यपृष्ठ तथैव च ॥२ ७२॥
> शुद्धादशतलाकार रङ्गशीर्षं प्रशस्यते ।
> रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्र विचक्षणैः ॥२ ७३॥
> एव रङ्गशिर कृत्वा दारुकम प्रयोजयेत् ।
> ऊहप्रत्यूहसयुक्त नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥२ ७५॥

इन श्लोकोमे 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नही है। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम अध्याय में जिस स्थानको 'रङ्गपीठ' नाम से कहा गया है उसी स्थानको द्वितीय अध्यायके उपयुक्त दोनो स्थलोमे रङ्गशीष नामसे निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'रङ्गशीष प्रशस्यते' के स्थानपर 'रङ्गपीठ प्रशस्यते' इस प्रकारका पाठान्तर भी किन्ही सस्करणोमे पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराने समयमें भी नाटचशास्त्रका कोई पाठक रङ्गपीठ और

'रगशीष' को एक ही स्थानका वाचक शब्द मानते थे। यह 'रगशीष' का उल्लेख विकृष्ट मण्डपकी रचनाके प्रसगमे आया है।

४ त्र्यस्र रङ्गमण्डपकी रचनाका वरान द्वितीय अध्यायके १०२ तथा १०३ तथा १०४ श्लोकोमे निम्न प्रकार किया गया है—

त्र्यस्र त्रिकोण कतव्य नाटयवेश्म प्रयोक्तृभि ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठ तु कारयेत् ।।
द्वार तेनैव कोणेन कत य तस्य वेश्मन ।
द्वितीय चव कतव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत ।
विधियश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रय ।
स सव प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि ।।२ १०२ १०४।।

इस त्र्यश्र रङ्गमण्डपकी रचनामें केवल रङ्गपीठका उल्लेख किया गया है। रङ्गशीष का कोई उल्लेख नही है। इससे भी यह प्रतीत होता है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीष अलग अलग भाग नही हैं।

५ द्वितीय अध्यायके श्लोक सख्या ८८ से लेकर १०१ तक चतुरस्र मण्डपकी रचना का उल्लेख किया गया है। इसमें भी चार स्थानोपर स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठ शब्दका और एक स्थान पर रङ्गशीष शब्दका प्रयोग निम्न प्रकार किया गया है—

तत्राभ्य तरत कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता ।
दश प्रयोक्तृभि स्तम्भा शक्ता मण्डपधारणे ।।२ ९०।।

हस्तप्रमाणरुत्सेध भू मिभागसमुत्थित ।
रङ्गपीठावलोक्य तु कुर्यादासनज विधिम् ।।२ ९१।।

नेपथ्यगृहक चैव तत कार्यं प्रयत्नत ।
द्वार चैक भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ।।२ ९६।।

अष्टहस्त तु कतव्य रङ्गपीठ प्रमाणत ।
चतुरस्र समतल वेदिकासमलकृतम् ।।२ ९८।।

समुन्नत सम चैव रगशीष तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नत काय चतुरस्रे सम तथा ।।२ १००।।

इस प्रकार चतुरस्रकी रचनामे चार जगह रगपीठका उल्लेख है केवल एक जगह रगशीषका प्रयोग है। उस स्थलपर भी पाठान्तरमे 'रगपीठ' पाठ भी पाया जाता है। इससे भी रङ्गपीठ तथा रङ्गशीष शब्द एक ही स्थानके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोमें मुख्य रूपसे रङ्गपीठ शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्यायमे मण्डपकी जो रक्षा व्यवस्था की गई है उसमे भी रङ्गपीठ शब्दका ही प्रयोग किया गया है। केवल विकृष्ट मण्डप की रचना में रङ्गशीष शब्दका प्रयोग किया गया है। उसे वहाँ रङ्गपीठ का पर्यायवाचक ही समझना चाहिए। इसलिए रङ्गपीठ और रङ्गशीष ये दोनो वस्तुत अलग अलग भाग नही है अपितु वे एक ही स्थानके नामान्तर मात्र हैं यह श्री मनमोहन घोषका मत है।

डा० घोष द्वारा प्रस्तुत मण्डपचित्र—

अपने इस सिद्धान्तके अनुसार उन्होने विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोके जो चित्र बनाए है उनमे तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए और केवल एक चौथाई भाग रङ्गपीठ तथा नेपथ्यगृहके लिए रखा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए तीनो प्रकारके नाट्य मण्डपोके चित्र नीचे दिए जा रहे हैं—
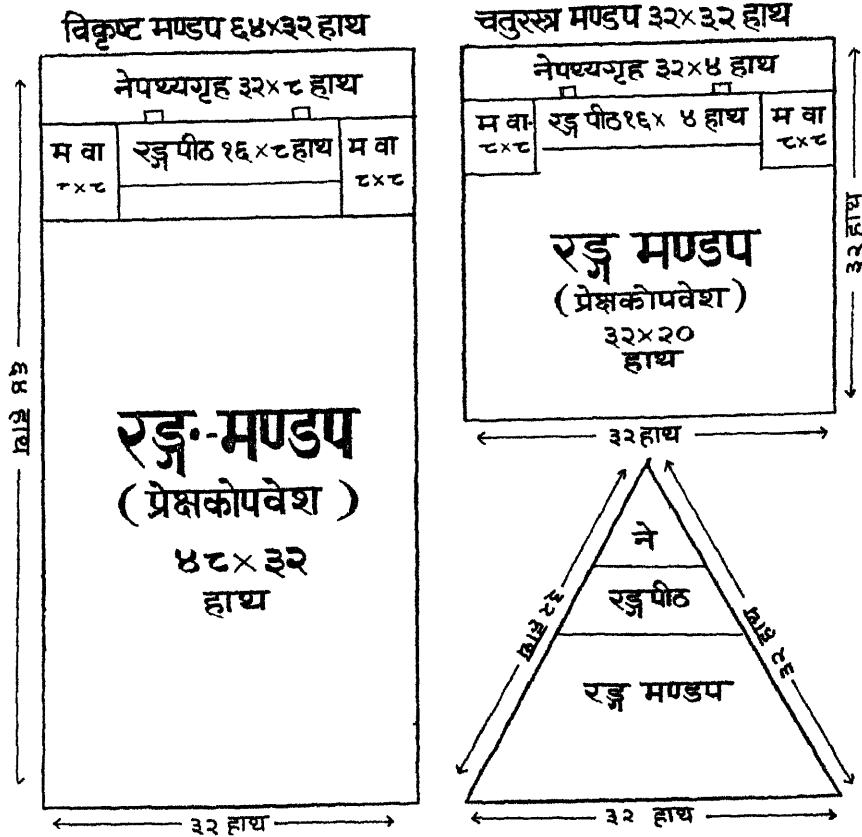
श्री मनमोहन घोषकी इस विवेचनामें एक प्रश्न और उपस्थित हुआ है और वह है यवनिका या पर्देके स्थानका प्रश्न। यद्यपि दूसरे अध्यायमें जहाँ कि नाट्य मण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है यवनिका का कोई उल्लेख नही आया है किन्तु नाट्यशास्त्रमें आगे चल कर कई स्थानोपर उसका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

तत सर्वैस्तु कुतुपै सयुक्तानीह कारयेत्।
विघटय वै यवनिका नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ना० ५ १२॥
ध्रुवाया सप्रवृत्ताया पटे चैवापकर्षिते।
काय प्रवेश पात्राणा नानार्थरससम्भव ॥ना० १३ ३॥

आदि स्थलोमें 'यवनिका या 'पट' आदिका उल्लेख आता है। यह 'यवनिका' कहाँ प्रयुक्त होती है इस बातका विवेचन करते हुए अभिनवभारतीकारने स्पष्टरूपसे 'तत्र यवनिका रगपीठ तच्छिरसोमध्ये।' [प्रथम सस्करण पृ० २१२] लिखकर रगपीठ और रगशीषके बीचमें यवनिकाका स्थान निर्धारित किया है। कि तु श्री मनमोहन घोष रगपीठ तथा रगशीषको अलग अलग नही मानते हैं इसलिए उ होने अभिनवभारतीके इस स्पष्ट निर्देशको भी ठुकरा कर नेपथ्यगृह के द्वारोपर पडे हुए पर्दोको ही यवनिका मान लिया है। इस प्रकार श्री मनमोहनघोष महोदय ने अपने उक्त लेखमें तीन सिद्धा त स्थापित किए हैं—

१ रगपीठ और रगशीष अलग अलग नही हैं। अपितु ये दोनो शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय शब्द हैं।

२ नाटय मण्डपका तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोके बठनेके लिए होना चाहिए और एक चौथाई भागमें रगपीठ और नेपथ्यगृह केवल दो भाग होने चाहिए।

३ नेपथ्यगृहके द्वारो पर पडे पर्दोंके नाम ही 'यवनिका' 'पटी' आदि हैं।

डा० मनमोहन घोषके मतकी आलोचना—

दुर्भाग्यवश डा० मनमोहन घोषके ये तीनो ही सिद्धा त निता त मिथ्या और भ्रममात्र हैं। उनके भ्रमका मूल कारण इन श्लोकोके अर्थको ठीक तरह से न समझ सकना है। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं भरतमुनिने इन श्लोकोमे ६४×३२ हाथ के नाटयमण्डपके क्षेत्रको तीन बार विभक्त करके उसके चार भाग बनाए हैं। किसी क्षेत्रको विभाजित करनेकेलिए यदि उसमे एक रेखा खीची जाय तो उस क्षेत्रके दो विभाग हो जावेंगे। दो बार रेखाए खीचनेपर क्षेत्रके तीन भाग हो जावेगे। और तीन विभाजक रेखाए खीचनेपर क्षेत्र चार भागोमे विभक्त हो जावेगा। भरतमुनिने यहाँ १ द्विधा कुर्यात्' २ द्विधाभूतस्य तस्य तु' और ३ 'सममर्धविभागेन' तीन बार विभाजनका निर्देश करके इस क्षेत्रके चार भाग कर दिए हैं। पर घोष महोदयके अनुसार नाटयमण्डपके चारके स्थानपर केवल तीन भाग ही रह जाते हैं। इसलिए उनका सिद्धा त ठीक नही है। उ होने श्लोकोमें रङ्गशीष तथा नेपथ्यगृह इन दो भागोकी चर्चा देखी और तीसरे प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानको समझ कर तीन ही विभाग मान लिए। यदि 'रगशीष' इस एकवचना त पाठके स्थानपर 'रग शीर्षे' यह द्विवचना त पाठ उनके सामने होता तो वे इस प्रकारके भ्रममे नही पड सकते थे। भरतमुनि-कृत यह चार प्रकारका स्थान विभाजन उनकी समझमें आ जाता और उनके अलग अलग नामोका परिज्ञान भी हो जाता। उनके ऊपर दिखलाए हुए तीनो भ्रान्त सिद्धा तोका मूल आधार यही 'रगपीठ' और 'रगशीष' को अलग न समझने की भूल है। शेष दोनो सिद्धा त इसी मौलिक भ्रा त धारणाके फलिताथ हैं। यदि इस मौलिक भूलका सशोधन हो जाय तो शेष दोनो भूलोका सशोधन स्वय ही हो जायगा। यदि रगपीठ और रगशीषकी अलग अलग स्थिति मान ली जाती है तब अभिनवभारतीके स्पष्ट निर्देशकी उपेक्षा करके न तो नेपथ्यगृहके पर्दोंको 'यवनिका' कहनेकी आवश्यकता रहती है और न इस बातके समझनेमें कोई कठिनाई रहती है कि 'यवनिकाका' स्थान 'रगपीठ' और 'रगशीष' के बीचमें ही होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सारे अनर्थका कारण यह पाठदोष ही है। इसलिए हमने इतने विस्तारके साथ इसकी विवेचना की है।

श्री मनकद द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

श्री मनमोहन घोष महोदयने श्री डा० मनकदके लेखके विरोधमे जो लेख लिखा था उसकी प्रत्यालोचना श्री डा० मनकद महोदयने स्वय भी 'इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली' के १९३३ के अङ्कमें पृ० ९७३ ९७७ में की थी। यह पाठ सशोधन तो उनके ध्यानमे नहीं आया पर तु उ होने कुछ अ य मूल श्लोकोके आधरपर 'रगशीष' तथा 'रगपीठ' की अलग अलग स्थिति भरतमुनि को अभिप्रेत हे इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है। मुख्य रूपसे उ होने निम्न श्लोको द्वारा इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है—

समुन्नत सम चव रगशीष तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नत काय चतुरस्रे सम तथा ॥ना० २ १००॥

इस श्लोकमें समुन्नत तथा सम दो प्रकारके रगशीर्षोंकी चर्चा करते हुए विकृष्ट मण्डपमें समुन्नत तथा चतुरस्र मण्डपमें सम रगशीषके बनानेका विधान किया है। यहा किसकी अपेक्षा समुन्नत अर्थात् अधिक ऊचा रगशीष बनाना चाहिए यह जिज्ञासा होती है उसकी निवृत्ति रगपीठ के द्वारा होती है। अर्थात् विकृष्ट मण्डपमें रगपीठकी अपेक्षा रगशीष कुछ ऊचा समुन्नत होना चाहिए और चतुरस मण्डपमें रगपीठ तथा रगशीष दोनो सम अर्थात् एक ही ऊचाईके होने चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। इस बातका निर्देश अभिनवभारतीकारने भी इस श्लोक की टीकामें किया है।

२ इसके बाद रगशीष तथा रगपीठका भेद सिद्ध करनेके लिए उ होने निम्नाङ्कित दूसरा श्लोक भी उद्धत किया है—

रगपीठ तत कार्यं विधिदृष्टेन कमरणा।
रगशीष तु कत य दारुषट्क समन्वितम् ॥२-६८॥

इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे रगशीष तथा रगपीठ दोनोका ही अलग अलग उल्लेख किया गया है। इस आधारपर डा० मनकदने श्री मनमोहन घोषके सिद्धान्तका खण्डन करके अपने पक्षको पुष्ट करनेका यत्न किया है।

श्री डा० राघवन द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

घोष महोदयके उपयु क्त लेखकी प्रत्यालोचना रूपमे श्री डा० राघवन महोदयका भी उसी वष १९३३ के उसी 'इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली' मे पृ० ९९१ पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें उ होने मुख्य रूपसे अभिनवभारतीके विविध उद्धरणोके द्वारा रगशीष एव रगपीठकी अलग अलग स्थिति सिद्ध करनेका यत्न किया है। अभिनवभारतीमे तो स्पष्ट रूपसे अनेक स्थलोपर इन दोनोकी भिन्नताका प्रतिपादन किया है। कुछ उद्धरण जो श्री राघवन महोदयने प्रस्तुत किए थे निम्न प्रकार हैं—

१ रगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यथ। तथा च रगपीठापेक्षया रगशिर उन्नत वक्ष्यते। (पृ० ६९ प्रथम सस्करण)

२ समुन्नतमिति रगपीठापेक्षया। (पृ० ७० प्रथम सस्करण)

३ तत्र रगपीठ रगशिरसो वक्तव्यशेष निरूपयति अष्टहस्त त्विति (पृ० १०२)

इस प्रकार उस समय भी डा० मनमोहन घोषके मतकी पर्याप्त आलोचना हुई थी और सभी विद्वानोने उनके मतका खण्डन किया था। कि तु उनकी भूलका मूल तत्त्व क्या है इसकी ओर किसीका ध्यान नही गया था। वह मूल तत्त्व इस स्थलका पाठदोष और उसके कारण इन श्लोकोके अथका न समझना है।

अभिनवगुप्तके अनुसार

विकृष्ट मण्डप ६४×३२ हाथ

(२) आयताकार मत्तवारणी –
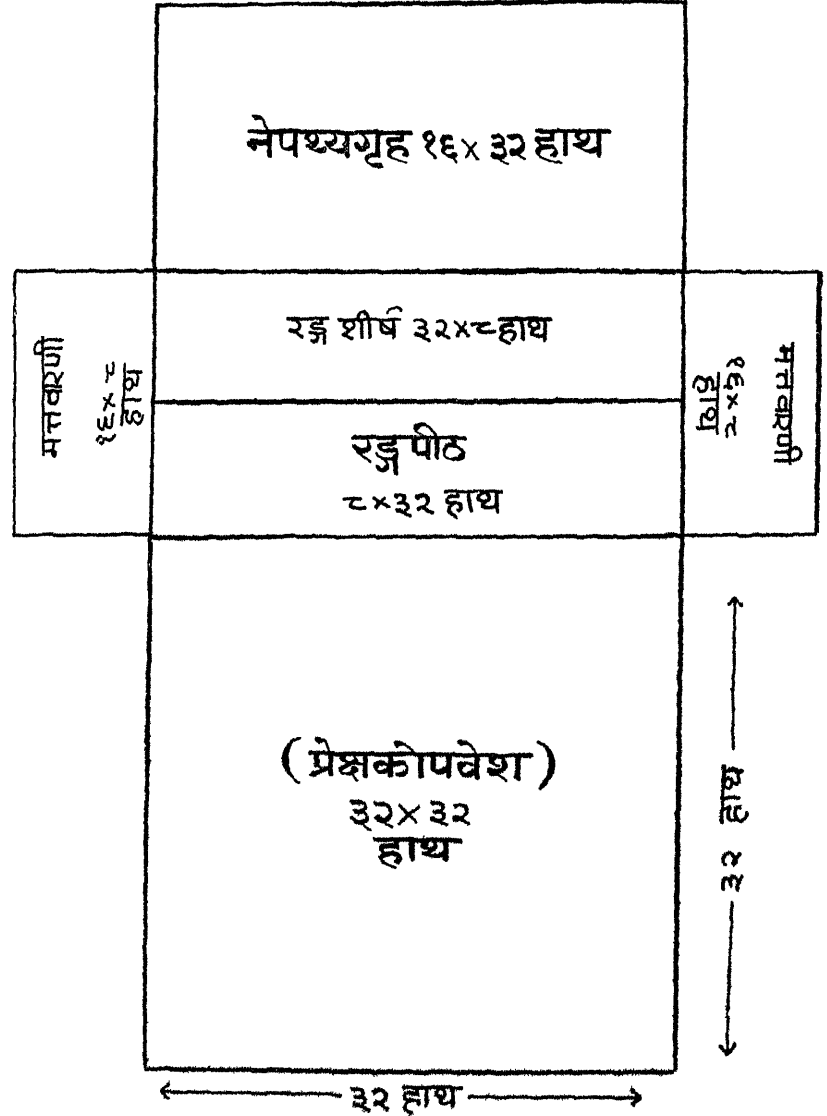
चतुष्षष्टिहस्ता दर्घ्याद, विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्कर क्षेत्र गहीत्वा मध्ये सूत्र विस्तारेण दद्यात् । तत्र यत् प्रयोक्तु पृष्ठग भविष्यति तदेव पृष्ठम् । तस्य मध्ये [1]पुनर्विस्तारेण सूत्र दद्यात, तत षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवत । तत्राग्रगत[2] भागमर्धेन विभज्य रङ्गपीठ मुख्य, ततोऽष्टहस्त रङ्गशिर, प्रविशता पात्राणा चा त स्थान, नाट्यमण्डपस्य ह्यु त्तानवदवस्थितस्य [3]शिर । तत्पष्ठे तु दैर्घ्याद्धि षोडशहस्त नेपथ्यगह भवति । विस्तारात्तु द्वात्रिंशत्करमेव तत् । नेथ्यादिक च तत्र गृह्यते । तदाह—पश्चिमे चेति ।

नाटयमण्डपका सूत्रपात—

ऊपर कहे हुए इन दो मूल श्लोकोमे विकृष्ट अर्थात आयताकार वगके मध्यम परिमाण वाले नाटच मण्डपकी जो रूप रेखा बतलाई गई है उसके अनुसार टीकाकार अभिनवगुप्त उसके चारो भागोका विभाजन कर सूत्रपातन या दागबल करानेकी व्यवस्था करते हुए लिखतेहै—

अभिनव०—चौसठ हाथ लम्बा [दर्ध्यात] और बत्तीस हाथ चौडा [विस्तार] क्षेत्र लेकर [चौसठ हाथवाली जो लम्बाई है] उसके बीचमे [बत्तीस हाथकी] चौडाई की ओर से [अर्थात चौडाईके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक] सूत छोडे [अर्थात् दागबेल करे । इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौडे दो भाग बन जाते हैं] उनमे से जो प्रयोग करने वालेकी पीठकी ओर होगा वही [भाग कारिकामे 'पृष्ठतो यो भवेद् भागो' मे] 'पृष्ठ' [शब्दसे कहा गया] है। उसके बीचमे फिर चौडाईमे [अर्थात पहिले कही हुई बत्तीस हाथ वाली चौडाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक] सूत छोडे । इस प्रकार [उस ३२×३२ हाथ वाले पिछले भागके] सोलह हाथ [१६×३२ हाथ] के दो भाग बन जाते है । उनमे से अगले [१६×३२ हाथ वाले] भागको [फिर] आधा बाट कर [सामनेकी ओर ८×३२ हाथ वाले भागमे] मुख्य 'रङ्गपीठ' और उसके बाद [पीछेकी ओर वाले ८×३२ हाथके क्षेत्रमे] आठ हाथ [गुणित बत्तीस ८×३२ हाथ] का 'रङ्गशीष' अर्थात् [नेपथ्यगृहसे रङ्गपीठपर] आने वाले और [रङ्गपीठपर अभिनय करने वाले] पात्रोके बीचका स्थान, और ऊपरकी ओर सिर करके सोए हुए [मनुष्य] के समान स्थित नाट्यमण्डपका शिर [अर्थात् रङ्ग-शीष] होगा । उस [अर्थात् रङ्गशीष] के पीछे [पूर्व कहे हुए दैध्य अर्थात्] लम्बाई मे १६ [वैसे १६×३२] हाथका नेपथ्यगह होता है । पर वह [पूव कहे हुए विस्तार अर्थात] चौडाईमे तो बत्तीस हाथका ही होता है । उसमे [नेपथ्य] वेष भूषा आदिका ग्रहण [अर्थात् परिवर्तन आदि] किया जाता है । जैसा कि [मूल कारिकामे] 'पश्चिमे च' ['विभागेऽथ नेपथ्यगहमादिशेत' इत्यादि] से कहा है [तदनुसार नाट्य-मण्डपके सबसे पिछले भागमे १६×३२ हाथका नेपथ्यगृह होता है] ।

---

१ विस्तारेण । २ पृष्ठगतम् । ३ रङ्गपीठ मुख्य तदष्टहस्त शिर ।

तत्र रङ्गपीठ विस्तारत 'द्वत्रिशद्धस्त दैर्घ्यतस्त्वष्टहस्त' इति केचित् । अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति । सवथा तावद्रङ्गपीठस्यापि विकृष्टत्व विधेयमिति तात्पयम् । यद्वक्ष्यते—

'रङ्गो विकृष्टो भरतेन काय' [ना० १२-२०] इत्यादि ॥३३-३४॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूव सस्करणोमें अत्य त अशुद्ध छपा है । मुरय अशुद्धिया इसमे दो हैं । पहिली जगह 'अग्रगत भाग' के स्थानपर 'पष्ठगत भाग' यह पाठ छाप दिया गया है । द्वितीय विभाजन द्वारा सोलह सोलह हाथ वाले दो भागोके बन जानेके बाद उनमेसे एक भागको बराबर दो भागोमें बाट कर रङ्गपीठ और रङ्गशीषकी रचनाकी व्यवस्था इस वाक्यमें की जा रही है । ये दोनो चीजे पष्ठगत' भागमें नही कि तु 'अग्रगत' भागमें बनती हैं । पष्ठगत भाग तो नेपथ्यगहकेलिए है । अत यहा 'पष्ठगत' के स्थानपर 'अग्रगत' पाठ होना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यहा अस्थान पाठकी है । 'रङ्गपीठ मुख्य ततोऽष्टहस्त' इतना पाठ वस्तुत विभज्य' और रङ्गशिर ' के बीचमें जहा हमने भिन्न टाइपमे छापा है होना चाहिए था । कि तु पूव सस्करणोमें उसे 'ह्य ुत्तानसुप्तवदवस्थितस्य के बाद छाप दिया गया था । इस पाठके अस्थानमे छप जानेसे सारा अथ ही गडबडा गया है । इस पाठको अस्थानमे छप जानेके कारण ही श्री मनमोहन घोष तथा अ य विद्वानोको यहा रङ्गशीष तथा रङ्गपीठकी अलग स्थितिका ज्ञान न हो सका । यदि इस अस्थान पाठको सशोधित करके यथा स्थान दे दिया जाय जैसा कि हम दे रहे हैं तो सारा अथ स्पष्ट हो जाता है । और रगशीप तथा रगपीठ दोनोकी स्थिति भी हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाती है ।

इस प्रसगमे दध्य' और 'विस्तार' शब्दोका प्रयोग क्रमश लम्बाई तथा चौडाईकेलिए किया गया है । लम्बाई सदा चौडाईसे अधिक होती है । इसलिए ६४×३२ हाथ वाले क्षेत्रमें जो लम्बाई थी वह तीसरे विभाजनमें १६×३२ के दो क्षेत्र बन जाने पर चौडाई बन जाती है । क्योकि वह बत्तीस हाथ वाली पहिली चौडाईकी अपेक्षा कम हो जाती है । कि तु मूल रूपमें जो भाग लम्बाई वाला था उसको अ तमें कम हो जानेपर भी चौडाई न कह कर कुछ लोग लम्बाई ही कहते हैं । इस दृष्टिसे रगपीठकी लम्बाई और चौडाईके विषयमे दो मत हो गए हैं । कुछ लोग रगपीटको बत्तीस हाथ चौडा और आठ हाथ लम्बा कहते हैं और कोई इसीको उलट कर बत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा कहत हैं । दोनो दशाओमे वह क्षेत्र आयताकार ही रहता है । वर्गाकार नही बनता है । इसी बातको ग्र थकार अगली पक्तियोमें लिखते हैं—

अभिनव०—कोई लोग यह कहते है कि रङ्गपीठ चौडाईमे बत्तीस हाथ और लम्बाईमे आठ हाथ होता है । दूसरे लोग इसीको उलट देते है [अर्थात् बत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा होता है यह कहते है दोनो ही दशाओमे उसके आकारमे कोई अन्तर नही आता है] सभी दशाओमे रङ्गपीठको आयताकार ही बनाना चाहिए यह अभिप्राय है । जैसा [१२वें अध्यायमे भरतमुनि स्वय ही] कहेंगे कि—

[भरत अर्थात्] नाट्य व्यवस्थापकको रङ्ग [अर्थात् रङ्गपीठ] सदा [विकृष्ठ अर्थात्] आयताकार ही बनाना चाहिए ।

इत्यादि ।

---

१ षोडश । २ अष्टहस्ता ।

[प्रक्षिप्त०—विभज्य विविधान भागान् यथावदनुपूर्वश ।]

एव मानविधिमभिधाय 'इष्टकास्थापनरूपे निवेशने विधिमाह—'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादिना—

भरत०—शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ।
[1]शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषै-र्मृदङ्गपणवादिभि ॥३५-३६॥
[3]सर्वातोद्यै प्रणुदितै स्थापन कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि [4]पाषण्डाश्रमिणस्तथा ॥३७॥

[प्रक्षिप्त०—काषायवसनाश्चव विकलाश्चैव ये नरा] ।

'सममधविभागेन' इत्यादि ३४वे श्लोकके बाद विभज्य विविधान भागान' इत्यादि आधा श्लोक पूव सस्करणोमें और पाया जाता है । हमारी सम्मतिमे यह श्लोकाध प्रक्षिप्त है । इसके तीन कारण हैं—१ इसपर अभिनवगुप्तकी विवति नही है । २ अभिनवगुप्तने इसके पूव 'तदाह पश्चिमे चेति' से ३४वी कारिकाके उत्तरार्द्धका प्रतीक भाग दिया है । और इसके आगे शुभे नक्षत्र योगे' से अगली कारिकाका प्रतीक भाग दिया है । अर्थात पश्चिमे च विभागे' वाले भागकी व्याख्या के बाद अगली कारिका आ जाती है । बीचमें विभज्य विविधान भागान्' आदि श्लोकाध प्रक्षिप्त रह जाता है । ३ तीसरी बात यह है कि यदि इस श्लोकाधकी स्थिति मानी जाय तो फिर आगेके सब श्लोकोका क्रम बिगड जाता है । अतः हमने इस श्लोकाधको प्रक्षिप्त माना है ।

इसके पहिले ३२वी कारिकाके साथके शा ततोय' इत्यादि श्लोकाधको प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठस्थ किया जा चुका है । दोनोको मिलाकर एक श्लोक पूरा हो जाता है । अत यहा पर हमारी और द्वितीय सस्करणकी श्लोक सख्यामें एक सख्याका अ तर हो जाता है । पर तु सख्याका क्रम दूसरे सस्करणके सख्याक्रमसे मिलता चले इसलिए हमने यहा ३५वें श्लोकपर ३५ तथा ३६ दो सख्याए डाल दी हैं ।

स्थापनविधि, आधारशिलाका वि यास—

अभिनव०—इस प्रकार [३३ ३४ दो श्लोकोमे मण्डपकी नापने आदि सम्बन्धी] मानविधिको कहकर आधार शिला [नीवकी ईंट] रखने रूप स्थापन विधिको 'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादि [अगले दो श्लोको] से कहते है—

भरत०—शुभ नक्षत्रका योग [उपस्थित] होनेपर शङ्ख दु दुभि आदिके निर्घोष एव मृदङ्ग पणव आदि [वाद्योंकी ध्वनियो] के साथ मण्डपकी आधारशिला रखे ॥३५ ३६॥

भरत०—सब प्रकारके बाद्योको बजाते हुए [मण्डपकी आधारशिलाकी] स्थापना करनी चाहिए और [उस समय] अनिष्ट [वस्तुए] तथा [पाखण्डी धूत जनों अथवा 'पाषण्डाश्रमिण 'अर्थात्] स यासियोको दूर भगा देना चाहिए ॥३७॥

इसके बाद फिर काषायबसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नरा' यह आधा श्लोक पूव सस्करणोमें ऐसा पाया जाता है जिसके कारण अगले श्लोकोका क्रम बिगडता है । और उसपर अभिनवभारती भी नही मिलती है । अत एव हमने उसको भी प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमे कर दिया

---

१ भ इष्टकास्थापने विधिमाह । २ ड अ सार्धं दु दुभि निर्घोष-म दङ्गपटहादिभि ।
३ ठ म सवतूयनिनादश्च । न सर्वालोकनिनादश्च । ज सर्वातोद्यनिनादस्तु ।
क भेरीतूयनिनादश्च गायनीगायनवहु । ४ अ मण्डपाश्रयिणस्तथा ।

भरत०—निशाया च बलि कार्यो नानाभोजनसयुत[1] ।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रित ।। ३८ ।।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो [2]रक्तान्नो दक्षिणेन च ।
पश्चिमेन बलि पीतो [3]नीलश्चैवोत्तरेण तु ।। ३९ ।।

[4]दशसु तिर्यगूर्ध्वाधोरूपासु दिक्षु बलि काय इत्युक्त्वा, चतसषु दिक्षु बलिविधि-रुक्त ।। ३८ ३९ ।।

है । इस प्रकार यहा हमारी और द्वितीय सस्करणकी श्लोक सख्यामे डेढ श्लोकका अ तर हो गया है । प्रथम सस्करण और द्वितीय सस्करणकी इस अध्यायकी श्लोक सख्यामे तीन श्लोकोका अ तर १२वे श्लोक से चला आरहा है । अत यहा तक प्रथम सस्करणसे हमारी सख्यामें साढे चार श्लोको का अ तर हो गया है ।

नीव रखते समयका बलिविधि—

भरत०—[नीव रखनेके दिन] रात्रिके समय नाना प्रकारके भोजनो तथा सुगधित पुष्प फलादिसे युक्त [बलि अर्थात्] सजावट, [अभिनवगुप्त अभी प्रथम अध्यायमे 'बलिप्रदान होमश्च' इत्यादि १२६ वे श्लोककी टीकामे 'बलि पूर्वोक्तरचनाविशेष' इस प्रकार बलि का अथ रचना विशेष या सजावट कर चुके है] । दशो दिशाओमे करनी चाहिए ।। ३८ ।।

भरत०—पूव दिशामे शुक्ल अन्नसे युक्त, दक्षिणमे रक्त अन्नसे युक्त, पश्चिममे पीत वणका और उत्तरमे नील वण [के अन्नो से युक्त बलि अर्थात्] सजावट करनी चाहिए ।। ३९ ।।

पाठसमीक्षा—इस ३९ वे श्लोकका पाठ नाटयशास्त्रके सभी सस्करणोमे अशुद्ध पाया जाता है । पूववर्ती सभी सस्करणो में इसका पाठ इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

पूर्वेण शुक्ला नयुतो नीला नो दक्षिणेन च ।
पश्चिमेन बलि पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ।।

इसमे 'नील' पद और 'रक्त पद अशुद्ध स्थानोपर पहुँच गए ह । द्वितीय चरणमें जो नील' पद आया है वह चतुथ चरणमे होना चाहिए । और चतुथ चरणमे जा रक्त पद आया है वह द्वितीय चरणमें होना चाहिए । इसका कारण यह हे कि रक्तवणका सम्बन्ध दक्षिण दिशासे और नीलवणका सम्ब ध उत्तरदिशासे माना जाता है । आगे इसी अध्यायमे ४८ ५२ तक भरतमुनि स्वय भी इस प्रकारका वणन करेंगे । इसलिए यहा भी रक्तवर्णका सम्ब ध दक्षिण दिशाके साथ और नीलवणका सम्ब ध उत्तर दिशाके साथ दिखलाना चाहिए । इस दृष्टिसे 'नीला नो दक्षिणेन च' के स्थान पर 'रक्ता नो दक्षिणेन च' और 'रक्तश्चवोत्तरेण तु' के स्थानपर 'नीलश्चवोत्तरेण तु' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार [३८ वें श्लोकमे] तिरछी [अर्थात् पूव पश्चिम आदि चार दिशाओ तथा ईशान आदि चार उपदिशाओ] तथा ऊपर नीचे [कुल मिलाकर] दशो दिशाओमे [बलि] सजावट करनी चाहिए यह कह कर [उसके बाद ३९वे श्लोकमे] चार दिशाओमे बलिविधिका वणन हो गया ।।३६-३७।।

---

१ न व त नानाभोजनसश्रय । श्र सञ्चय ।
२ च त व नीलश्चव तु दक्षिण । ठ म निधानो दक्षिणेन च । नीलाश्रो । छ म नीलो याम्येन चव हि । ३ रक्त । ४ म पुस्तके इद वाक्य न दृश्यते ।

नान्यथेत्यभिप्रायेण व्यापक विधिमाह यादृशमित्यादिना—

भरत०—[1]यादृश दिशि यस्या तु दैवत परिकल्पितम् ।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृत ।। ४० ।।

तेनाग्नेये रक्तवण इत्याद्य ह्यम् । मन्त्रा [2]रङ्गपूजाविधौ वक्ष्यमाणा । ते च कमशसोपयोगिनो [3]नेह युक्ता विज्ञेया । म त्रेण स्मत कम करोति इति हि स्मति । अन्ये तु तद्देवताक श्रुतिमन्त्रैरेव बलिकमत्याहु । तल्लिङ्ग रित्यन्ये ।। ४० ।।

भरत०—स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्य घृतपायसम् ।
मधुपकस्तथा राज्ञे कतृ भ्यश्च गुडौदनम् ।। ४१ ।।

चकारो भिन्नक्रम । न केवल मानोपक्रमे ब्राह्मणतपण यावत् स्थापनेऽपि इत्यथ ।। ४१ ।।

अन्य प्रकारसे [अर्थात जिस दिशामे जो विधान किया गया उससे भिन्न] नहीं करना चाहिए इसके लिए व्यापक रूपसे विधिको 'यादश' इत्यादिसे कहते है—

भरत०—जिस दिशामे जिस प्रकारके देवताकी कल्पना की गई हे उस दिशामे उसी प्रकारकी मन्त्रोसे युक्त सजावट [बलि] करनी चाहिए ।।४०।।

अभिनव०—इसलिए आग्नेयकोणमे [उसके अधिष्ठातृ देवता अग्निके रक्तवण होनेके कारण] रक्तवण [की सजावट बलि] होनी चाहिए इत्यादि समझ लें। 'मन्त्र' रङ्ग पूजाके विधानोमे कहे जाने वाले है। और वे [वदिक मन्त्र] कमकी प्रशसामे उपयोगी हैं इसलिए यहा [सजावटके प्रसङ्गमे] उनका विधान युक्त नही है। मन्त्रोसे स्मृत कमको [प्रतिपादन] करती है यह 'स्मृति' है। [अत स्मात मन्त्रोसे ही बलिविधि करना चाहिए। यह अभिनवगुप्तका मत है]। अन्य व्याख्याकार तो उस उस देवता वाले वेद मन्त्रोसे ही बलि कम करना चाहिए यह कहते है। तीसरे उस उस देवताके लिङ्ग वाले मन्त्रोसे बलिकम मानते है ।। ४० ।।

स्थापनाके अवसरपर विशेष भोजन—

नाटय मण्डपके स्थापनविधिके अवसरपर भरतमुनि सब लोगोके लिए विशष भोजन की व्यवस्था करनेका विधान करते हं—

भरत०—[नाटय मण्डपकी] स्थापना [अर्थात आधारशिला रखे जाने] के अवसरपर ब्राह्मणोको घत मिश्रित खीर [का विशेष भोजन] देना चाहिए। राजाको मधुपक [अर्थात घत एव मधु मिश्रित दधि] तथा [कत भ्य अर्थात नाटय मण्डपके बनाने वाले] कारीगरोको गुड भात देना चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—[इस कारिकामे 'ब्राह्मणेभ्यश्च' इस पदमे आया हुआ] 'चकार' भिन्नक्रम है [अर्थात् जहा वह पढा गया है वहापर उसका अन्वय नही होता है। उसका अन्वय अन्य स्थानपर होता है। इसका अभिप्राय यह हे कि यह 'चकार' यद्यपि

---

१ ठ म यस्या यच्चाधिदव तु दिशि सम्परिकीर्तितम् । अ छ यस्या यथाधिदेवस्तु दिगीश परिकीर्तित । २ म वरणपूजाविधौ । भ रणपूजाविधौ । ३ हेन ।

[प्रक्षिप्त,—नक्षत्रेण तु कतव्य मूलेन स्थापन बुध ।]

भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन[1] तिथ्या सुकरणेन च ।

एव तु स्थापन कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ४२-४३ ॥

एव मानविधि स्थापनविधि भित्तिविधि च कृत्वा स्तम्भविधि काय इति दशयति 'भित्तिकमरिण' इति—

'ब्राह्मणेभ्य ' के बाद आया है किन्तु उसका अन्वय 'स्थापने' के बाद होता है। 'स्थापने च' इससे भरत मुनि यह सूचित करते है कि] न केवल माप करते समय [अर्थात् नाट्य मण्डपकी दागबेल करते समय] ही ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए अपितु स्थापनविधि [अर्थात् आधारशिला रखनेके] के अवसरपर भी [ब्राह्मणोको भोजन आदिसे सत्कृत एव तृप्त करना चाहिए] ॥ ४१ ॥

४१ व श्लोकके बाद फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आ गया है। 'नक्षत्रेण तु कतव्य मूलेन स्थापन बुध यह श्लोकाध स्थापनविधिके कालका निर्देश कर रहा हे। स्थापनविधिका आरम्भ ३६ वे श्लोकसे हुआ है। यह श्लोकाध यदि वास्तविक होता तो उसका स्थान स्थापनविधिके आरम्भमे होना चाहिए था। यहा ४१ वे श्लोकपर तो स्थापनविधि समाप्त हो चुका है। इस स्थलपर इस श्लोकका पाठ सवथा अप्रासङ्गिक और अनुचित है। दूसरी बात यह है कि यह श्लोकाध यदि यहा बना रहता है पूर्व प्रसङ्गोके अनुसार अगले श्लोकोकी स्थितिको बिगाडता है। इस लिए यह श्लोकाध प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्त ने उस पर वत्ति भी नही लिखी है। इस कारण हमने इस को प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके अ तगत मुद्रित किया है। इस प्रकार हमारी और द्वितीय सस्करणकी श्लाक सरयामे यहा तक एक और सरयाका अर्थात् कुल दो सरयाओका अ तर हो गया है। पर तु पहिलेके समान द्वितीय सस्करणके साथ सरयाक्रमकोमिलाए रखनेके लिए हम अगले ४२ वे श्लोक पर फिर ४२+४३ दो सरयाए डाल रहे हैं ॥ ४१ ॥

भित्तिकम—

नाटच मण्डपकी आधारशिला या नीव रख चुकनेके बाद उसकी दीवारोकी चुनाईका काय आरम्भ होना है। इसके लिए भरतमुनिने 'भित्तिकम' शब्दका प्रयोग किया है। अगले श्लोक मे वे भित्तिकमकी चर्चा करते हैं।

भरत०—अनुकूल मुहूत, अनुकूल तिथि और सु दर करण [कालका विशेष भाग] मे इस प्रकार [अर्थात पूव प्रतिपादित शलीसे नाटच मण्डपकी] स्थापना [अर्थात नीव रखनेका काय] करके भित्तिकम [अर्थात् दीवारोकी चुनाईका काय] प्रारम्भ करे ॥ ४२ ४३ ॥

स्तम्भस्थापन—

इस प्रकार भित्तिकमका प्रतिपादन करलेके बाद भरतमुनि आगे स्तम्भ विधिका प्रतिपादन करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि भित्तिकम वहाँ तक ही करना चाहिए जहाँसे कि खम्भोका आरम्भ करना है। इसी बातको आगे कहते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार १ मानविधि [उसके बाद] २ स्थापनविधि और [फिर] ३ भित्तिविधिको कर चुकनेके बाद स्तम्भविधि [अर्थात् खम्भोके खडे करने का कार्य] करना चाहिए यह बात 'भित्तिकर्मणि निवृ त्ते'[2] इत्यादिसे दिखलाते है—

---

१ म तिथ्यानुकरणेन च। ड म तिथ्यानुकरणेन च। २ म. भ निवृ त्ते।

भरत०–भित्तिकर्मणि [1]निर्वृत्ते स्तम्भाना स्थापन तत ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ।। ४४ ।।

स्थापनमुच्छ्रयणम् ।। ४४ ।।

[प्रक्षिप्त—[1]स्तम्भाना स्थापन कार्य रोहिण्या श्रवणेन वा ।]

भरत०–आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ।
स्तम्भाना स्थापन [2]कार्य प्राप्ते सूर्योदये शुभे ।। ४५ ।।

भरत०—[मण्डपकी कुर्सी तक] भित्तिकमके पूण हो जानेपर [उत्तम] तिथि तथा नक्षत्रका योग होनेपर और सुन्दर करण [काल विशेष] मे [मण्डपके] खम्भोकी स्थापना करनी चाहिए । ४४ ।

अभिनव०—[स्तम्भोका] स्थापन अर्थात् खडा करना ।। ४४ ।।

यहा फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आगया है । इसमें स्तम्भोके स्थापनके काल या नक्षत्रका उल्लेख किया गया है। पर इसके पहिले वाले श्लोकमे ही इस कालका निर्देश किया जा चुका है इस लिए यह अनावश्यक दीखता है । अनावश्यक ही नही अपितु भरतमुनिकी भावनाके विपरीत जान पडता है। पिछली कारिकामें भरतमुनिने स्तम्भविधिके आरम्भ करनेका कोई निश्चित काल नही बतलाया है । कोई भी शुभ तिथि और नक्षत्र इस कायकेलिए उपयुक्त हो सकता है । किन्तु इस श्लोकाधमे उसे निश्चित रूपसे रोहिणी या श्रवण नक्षत्रमें ही करना होगा । इस प्रकार यह श्लोकाध पूव श्लोककी भावनाके विपरीत होने भरतमुनिके भावको व्यक्त नही कर रहा है । अत एव प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त इसके बीचमें आ जानेपर अगले श्लोको की व्यवस्था फिर बिगड जाती है। और अभिनवभारती भी इसपर नही है। इसलिए हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके भीतर मुद्रित किया है ।

इस प्रकार इस अध्यायमे अनेक स्थानोपर प्रक्षिप्त श्लोक बादको बढाए गए मिलते हं । कि तु वे सहजमे ही पकडमें आ जाते हैं। उसकी दो कसौटिया हं । एक तो उनकी स्थिति से अगले श्लोकोकी अथ व्यवस्था गड बड हो जाती है। और दूसरे उनपर अभिनव भारती नही मिलती है । इन दो कसौटियोसे इस प्रकारके प्रक्षिप्त श्लोक सरलतासे पकडमें आ जाते हैं ।

कही कही और भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनपर अभिनवभारती नही है कि तु उ हे हमने प्रक्षिप्त नही माना है । ऐसे श्लोक वे हैं जिनमे एक ही बातका वणन कई श्लोकोमे गया है । वहा एक दो श्लोकपर टीका है एकपर नही तो वहाँ उसको भी मूल श्लोक माना जा सकता हे । जैसे अगला ही श्लोक इसका उदाहरण है। ४४ वें और ४५ वे श्लोकोमें स्तम्भ स्थापनके विधिका वणन है । स्थापन शब्द इन दोनो श्लोकोमे आता है । अभिनवगुप्तने इस 'स्थापन' शब्द की व्यारया 'उच्छ्रयणम्' की है । यह व्याख्या दोनो श्लोको पर लागू हो सकती है इसलिए हमने इनमेसे किसीको प्रक्षिप्त नही माना है।

भरत०—तीन रात्रि तक उपवास किए हुए और अत्यन्त एकाग्र चित्त आचायकेद्वारा शुभ दिवसमे सूर्योदयके समय स्तम्भोकी स्थापनाका काय करना चाहिए । ४५ ।

---

१ ब आचार्येण सुप्रक्तेन कार्यं सूर्य्योदये शुभे ।

२. न चब कार्यं सूर्योदये बुध । ख चब कार्यं सूर्योदये शुभे ।

भरत०—[1]प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसस्कृत[2] ।
सवशुक्लो विधि कार्यो दद्यात् पायसमेव च ॥ ४६ ॥
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।
सर्व रक्त प्रदातव्य द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ॥ ४७ ॥
वैश्यस्तम्भे विधि कार्यो दक्षिण-पश्चिमाश्रये[3] ।
सव पीत प्रदातव्य द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्[4] ॥ ४८ ॥
शूद्रस्तम्भे विधि काय पश्चिमोत्तरसश्रये[5] ।
नीलप्राय [6]प्रयत्नेन [7]कृसर च द्विजाशनम् ॥ ४९ ॥

प्रथम [8]ईशानकोणस्थ तस्य विशेषणै अनुवादलिङ्गविधिकल्प्य[9] । शुभ सवत्र

इस प्रकार इन दो श्लोकोमे स्तम्भविधिके काल आदिका निर्देश किया गया है। इसके बाद अगल चार श्लोकामें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र स्तम्भ नामोसे चारो उपदिशाओमें चार स्तम्भोकी स्थापनाका विधान किया गया है । उपदिशाओ मे पूव उत्तरके बीचका कोण ईशान कोण पूव दक्षिणके बीचका कोण आग्नेयकोण, दक्षिण पश्चिमके बीचका कोण नऋ त्यकोण और पश्चिम उत्तरके बीचका कोण वाय य कोण कहलाता हे । इनमे क्रमश ब्राह्मण स्तम्भ आदि चारो स्तम्भो की स्थापनाका वणन करते हुए भरतमुनि आगे चार श्लोक लिखते हं—

भरत०—[उत्तर पूव दिशाके बीचके ईशान कोणमे स्थित] प्रथम ब्राह्मण स्तम्भमे घृत तथा सषप [सरसो] से सस्कृत सम्पूण शुक्ल पदार्थोसे सम्पन्न विधि करना चाहिए और [ब्राह्मणोको खानेके लिए भी] खीर ही देनी चाहिए । ४६ ।

भरत०—उसके वाद [पूव दक्षिणके बीचके आग्नेय कोण वाले] क्षत्रियस्तम्भमे वस्त्र, माल्य अनुलेपन आदि सब कुछ लाल रगका ही देना चाहिए और द्विजोको गुड भात देना चाहिए ।४७।

भरत०—दक्षिण पश्चिमके बीचके [नऋ त्य कोण] दिग्भागमे [स्थित] वश्यस्तम्भमे [वस्त्र माल्य आदि] सब कुछ पीले रगका देना चाहिए और द्विजोको घी भात देना चाहिए ।४८।

भरत०—पश्चिम तथा उत्तरके बीच [वायव्य कोण] मे स्थित शूद्र स्तम्भमे प्रयत्न पूवक [वस्त्र माल्य अनुलेपन आदि सबकुछ] नील प्रधान होना चाहिए और द्विजोको खानेकेलिए खिचडी देनी चाहिए । ४९ ।

अभिनव०—पहिला [स्तम्भ उत्तर पूवके बीचका] ईशान कोणमे स्थित [ब्राह्मण-स्तम्भ] हे। [यह बात] उसके विशेषणोसे अनुवाद तथा लिङ्गविधिसे प्रतीत होती है। [अर्थात् उसमे जो सर्व शुक्लविधिका विधान किया गया है और उसका जो 'ब्राह्मण-स्तम्भ नाम है इस सबसे प्रतीत होता हे कि यह ईशान कोणमे स्थित स्तम्भ ही होना चाहिए] । खीर सब जगह अच्छी मङ्गल जनक होती हे इसलिए [यहा उसके

१ ख च न्दन च भवेद्ब्राह्म क्षात्र खादिरमेवच । धावाख्य वैश्यवर्ण स्यात्त्वछत्र सवद्रुम स्पृतम् ॥ इत्यधिक पाठ्यते । २ ग व सस्कृते । ३ म भ दिग्भागे पश्चिमोत्तरे । ४ न व त घताशनम । ५ सम्यक पूर्वोत्तराश्रये । ६ ठ म त प्रदातव्यम । ७ प व कृसरा च । च कृशरा । ८ म. भ आग्नेय-कोण । ९. कल्प्यम् ।

पायसमिति । द्विजेभ्य इति प्रकरणात् । 'ततश्चेति तदन्त इत्यर्थं । सवस्य विध्यनु-सारेणव भोजन शुक्लादिवणमिति मन्तव्यम् ॥४६-४६॥

देनेका विधान किया गया] है। द्विजोको [खीर दी जाय] यह बात प्रकरणसे निकलती है [क्योकि आगे सब श्लोकोमे द्विजोके ही भोजनका वरणन है]। सबको विधिके अनुसार ही शुक्ल आदि वणका भोजन देवे यह समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोमें मूल श्लोको तथा टीका दोनोमे अशुद्ध पाठ पाया जाता है और वे अशुद्धिया उपदिशाओसे सम्बन्ध रखने वाली है। इन चार श्लोकोमे नाटच मण्डप के चारो कोनोपर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारो वर्णोंके नामसे चार स्तम्भोकी स्थापना का विधान किया गया है। मण्डपके चारो कोण ईशान आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य इन चारो उपदिशाओ मे पडते हैं। उत्तर पूवके बीचके कोणका नाम ईशान कोण है। पूव दक्षिणके बीच का कोण आग्नेय कोण कहलाता है। दक्षिण पश्चिमके बीचका कोण नऋत्य कोण और पश्चिम उत्तरके बीचका कोण वायव्य कोण कहलाता है। भरतमुनिने प्रथम और द्वितीय स्तम्भ अर्थात ब्राह्मण और क्षत्रिय स्तम्भोको किस कोणमें स्थापित किया जाय इसका कोई निर्देश नही किया है। किन्तु पूव सस्करणोके पाठके अनुसार तीसरे वैश्य स्तम्भ को दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' अर्थात् पश्चिम और उत्तरके बीचके वाय य कोणमे तथा चौथे शूद्र स्तम्भको पूर्वोत्तराश्रये' अर्थात् उत्तर पूवके बीचके ईशान कोणमे स्थापित करनेकी बात कही है। इससे यह बात अपने आप निकल आती है कि दूसरे क्षत्रिय स्तम्भको दक्षिण पश्चिमके बीचके नऋत्य कोणमे और प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भको पूव दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमें स्थापित करना चाहिए। इसीलिए इसकी अभिनव भारतीके आरम्भमे पूव सस्करणो मे प्रथम त्वाग्नेय कोण' लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ग्र थकारने यहा कोणोकी गणना आग्नेयकोणसे आरम्भ की है। और वहीसे क्रमश ब्राह्मणादि स्तम्भोकी स्थापनाका प्रतिपादन किया है।

वैसे तो कोणोकी गणनाका आरम्भ कहीसे भी किया जा सकता है। इसलिए आग्नेय कोणसे भी हो सकता है। परन्तु जसे दिशाओकी गणना पूव दिशासे आरम्भ की जाती है अन्य किसी दिशासे उसका आरम्भ प्राय नही किया जाता है। इसी प्रकार उपदिशाओ या कोणोकी गणना पूव उत्तरके बीचके ईशान कोणसे प्रारम्भ करना उचित होता है। उस दशामें प्रथम ब्राह्मण स्तम्भका स्थान आग्नेय कोणके बजाय ईशान कोणमे होना चाहिए। और यह स्थान मूल श्लोको मे पठित विशेषणो और पदार्थोंके सम्ब धके आधारपर भी ठीक बठता है। इन श्लोकोमें भरतमुनि ने प्रथम ब्राह्मण स्तम्भके साथ शुक्ल पदार्थोका सम्ब ध वर्णित किया है। ३६ ४०वी कारिकाओ के अनुसार यह शुक्ल पदार्थोंका सम्ब ध प्राय पूव दिशा और ईशान कोणके साथ ही पाया जाता है। इसी प्रकार दूसरे क्षत्रिय स्तम्भके साथ रक्त वणके पदार्थोका सम्ब ध दिखलाया गया है। वह दक्षिण दिशा या अग्नेयकोणके साथ ठीक बैठता है। इसलिए हमारी दृष्टिमें इन स्तम्भोकी स्थापनाका आरम्भ ईशानकोणसे होना चाहिए था। शुक्ल पदार्थोका सम्बन्ध आग्नेयकोणके साथ नही बनता है। अभिनवगुप्त भी ४०वी कारिकाकी व्याख्यामें लिख चुके हैं कि तेन आग्नेये रक्तवण इत्याद्यूह्यम्'। इस दृष्टिसे, और अग्नेयकोणके अधिष्ठाना अग्निको रक्तवणका देवता माना गया है इसलिए भी रक्तवणसे सम्बद्ध क्षत्रिय स्तम्भकी स्थापना आग्नेयकोणमें होनी चाहिए। और शुक्ल पदार्थोंसे सम्बद्ध ब्राह्मण स्तम्भकी स्थापना ईशान [शिव] रूप शुक्लवणके अधिष्ठातृ देवतावाले ईशानकोणमे उचित है आग्नेयकोणमे नही।

[प्रक्षिप्त०—पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ।
निक्षिपेत् कनक मूले कणाभरणसश्रयम् ॥
ताम्र चाध प्रदातव्य स्तम्भे क्षत्रियसज्ञके ।
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजत सम्प्रदापयेत ॥
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ।
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्य स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ॥

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी बात है अर्थात् यदि शुक्ल पदार्थोसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्राह्मण स्तम्भकी स्थापना ईशानकोणमे उचित प्रतीत होती है तो फिर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोने उसे आग्नेय कोणमे स्थापित करनेकी बात कैसे लिखी है। इसका उत्तर यह है कि यह सब अनथ कदाचित् पाठ दोषके कारण हुआ हो। पाठके ठीक कर देनेसे वह दोष भी दूर हो सकता है। अभिनवभारतीके पाठमे तो केवल प्रथम आग्नेयकोण' के स्थान पर 'प्रथम ईशानकोण' इतना परिवतन कर देनेसे सारा काय ठीक हो जाता है। यदि इतनी ही बात होती तो यह पाठ सशोधन सरलतासे किया जा सकता था। कि तु यहा तो वश्य स्तम्भके विषयमे दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' और शूद्रस्तम्भके विषयके सम्यक पूर्वात्तराश्रये' यह भरतका पाठ आडे आ रहा है। यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि हम औचित्यकी रक्षा करना चाहे तो हमे भरतमुनिके इस पाठको भी ठीक करना होगा। वश्य स्तम्भमे जहा 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' पाठ पाया जाता है वहा पर दक्षिण पश्चिमाश्रये यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार शूद्र स्तम्भ वाले श्लोक में सम्यक पूर्वोत्तराश्रये' के स्थानपर पश्चिमोत्तरसश्रये' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें ये ही पाठ प्रस्तुत किए हैं ॥४६ ४९॥

पांच प्रक्षिप्त श्लोक —

इनके बाद पाच प्रक्षिप्त श्लोक पाए जाते हैं। ब्राह्मण स्तम्भ तथा क्षत्रिय स्तम्भ आदि स्तम्भोकी स्थापनासे सम्बद्ध ४६ ४९ श्लोकोपर तो अभिनवभारती मिलती है। कि तु इसके बाद स्तम्भके मूलमे काञ्चन आदि रखनका वणन जिन श्लोकोमें किया गया है उन अगले पाच श्लोकोपर अभिनवभारती नही मिलती है। इसके विपरीत स्तम्भोकी स्थापना विषयक श्लोकोकी व्याख्याके अन्तमें उ होने 'सवस्य विध्यनुसारेणैव भोजन शुक्लादिवणमिति मन्तव्यम् ।' यह जो पक्ति लिखी है उससे प्रतीत होता है कि कृसर च द्विजाशनम्' तकके पूर्वोक्त श्लोको तकका ही पाठ उनके सामने था। मूलमे कनक आदि रखनेका विधान करने वाले इन श्लोकोका पाठ उनके सामने नही था। अत हमने इन पाँच श्लोकोको प्रक्षिप्त माना है। कि तु द्वितीय सस्करणके साथ सख्याका साम्य बनाए रखनेकेलिए अ तिम श्लोकपर ५० ५४ तक इकट्ठी सख्या डाल दी है।

प्रक्षिप्त—पहिले कहे हुए [उत्तर पूवके बीचके ईशान कोणमे स्थित] ब्राह्मण स्तम्भ में शुक्ल वणके माल्य तथा अनुलेपन [आदिका प्रयोग करे] और उसके मूलमे कर्णाभूषणके सोने को रखे।

प्रक्षिप्त—[पूव दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमे स्थित] क्षत्रिय नामक स्तम्भमें नीचे [मूलमें] ताबा रखना चाहिए और [दक्षिण पश्चिमके बीचके नैऋ त्य कोणमें स्थित] वैश्य स्तम्भ की जड़मे चादी रखावे।

प्रक्षिप्त—[पश्चिम-उत्तरके बीचके वायव्य कोणमे स्थित] शूद्र स्तम्भके मूलमे लोहा देवे। और सभी स्तम्भोके मूलमें [उनके साथ कहे धातुओ के अतिरिक्त] सोना [भी] डालना चाहिए।

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ।
स्तम्भाना स्थापन काय पुष्पमालापुरस्कृतम् ।।
रत्नदानै सगोदानै वस्त्रदानैरनल्पकै ।
ब्राह्मणास्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत् तत ।। ५०-५४ ।।

भरत०—अचल [1]चाप्यकम्प्य च तथैवावलित[2] पुन ।
[3]स्तम्भस्योत्थापने सम्यग् दोषा ह्येते प्रकीर्तिता ।। ५५ ।।

अचलमिति स्थानान्तरानिवेशलक्षणमनेनोक्तम् । अविद्यमाना चलना यस्येति । अकम्पमिति तत्रैव स्थानशिथिलता येन न भवति । अवलितमिति वलयाकृत्यादिना परिवतन यस्य करणीय न भवति । दोषसूचकत्वाद् दोषकारित्वाच्च दोषा ।। ५५ ।।

स्तम्भ स्थापनके दोष और उनके फल—

प्रक्षिप्त—स्वस्ति वाचन और पुण्याहके घोषके एव जय शब्दके घोषके साथ पुष्प मालाओसे सजे हुए स्तम्भोको खडा करना चाहिए।

प्रक्षिप्त—गोदान सहित प्रचुर मात्रामें किए हुए रत्नोके दानसे ब्राह्मणोको प्रसन्न करके तब स्तम्भोको खडा करे।

स्तम्भ खडा करना—

भरत०—[उसके बाद स्तम्भोको इस प्रकारसे खडा करे कि] वे स्थिर हों [इधर उधर सरकें नही], हिलें नही [अकम्प्य] और घूमे नही [अवलितम्]। क्योंकि स्तम्भोंके ठीक तरहसे खडे करनेमे [प्राय] ये दोष कहे गए है [आजाते है]।

अभिनव०—अचल इससे दूसरे स्थानको न सरकनेकी बात कही गई है। जिस मे चलना [गति] न हो [यह इस 'अचल शब्दका अथ है]। 'अकम्प' इससे उसी स्थानपर [रहते हुए भी] ढीला न होना सूचित किया है। 'अवलित' इससे वलयकी तरह अर्थात् गोलाकारमे घूमना जिससे न हो। [यह सूचित किया है। भावी अनिष्टरूप] दोषके सूचक होनेसे और अनिष्टके जनक होनेसे इनको 'दोष' कहा जाता है। ५५।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके मूल पाठमें प्रथमसस्करणमें द्वितीय चरणके अन्तिम भागमें 'तथवाचलित' पाठ छाप दिया गया था। वह अशुद्ध था। उसके स्थानपर तथैवावलित' पाठ होना चाहिए था। इसी प्रकार उसी भागकी टीकामें भी अचलितमिति' पाठ छपा था वह भी अशुद्ध था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि 'अचल पद श्लोकमे पहिले ही आ चुका है। यहाँ द्वितीय चरणमे भी फिर 'अचलित' पाठ रखनेसे पुनरुक्ति होगी। दूसरे इसी कारिकाके आरम्भमें इस पदकी व्यारया 'वलयाकृत्यादिना परिवतन यस्य करणीय न भवति' यह की गई है। यह यह व्याख्या भी सूचित करती है कि यह 'अचलित' पदकी नही अपितु 'अवलित' पदकी व्याख्या है। इसलिए यहा अचलित' नही 'अवलित' पाठ ही होना चाहिए। अत हमने मूल तथा टीका दोनों जगह 'अवलित' पाठ ही रखा है। द्वितीय सस्करणमें भी यह सशोधन कर दिया गया है।।५५।।

---

१ च चाप्यकम्प्यञ्च। २ य तथो चलितमेव तु। तथवाचलित पुन।
३ छ व स्तम्भानुत्थापयेत। ड त स्ताम्भमुत्थापयेत्।

तान् दोषानाह अवष्टिरित्यादि—

भरत०—[1]अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतो[2] भयम् ।
कम्पने परचक्रात्[3] तु भय भवति[4] दारुणम् ॥ ५६ ॥
दोषैरेतैर्विहीन तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्[5] ।
[6]पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौ ॥ ५७ ॥

दातव्येति । द्विजायेति दातव्यबलाल्लभ्यते ॥ ५७ ॥

भरत०—शेषाणा [7]भोजन कार्य स्थापने[8] कर्तृसश्रयम् ।
[9]मन्त्रपूत च तद्देय नाट्याचार्येण धीमता ॥ ५८ ॥
पुरोहित नृप चैव भोजयेन्मधुपायसै[10] ।
कर्तनपि तथा सर्वान् कृसरा लवणोत्तराम्[11] ॥ ५९ ॥

अभिनव०—[स्तम्भोके स्थापनमे सम्भावित जो तीन दोष कहे गए है] उन दोषोको 'अवृष्टि' इत्यादि [अगली कारिका] से कहते है—

भरत०—[खडा करते समय स्तम्भके चलन अर्थात् इधर उधर] सरक जानेपर अवष्टि [अर्थात् वर्षाके न होनेकी सम्भावना, और वलन अर्थात्] उसी स्थानपर घूम जानेसे मृत्युका भय और हिल जानेपर शत्रु पक्षसे दारुण भय होता है ॥ ५६ ॥

भरत०—इन [तीनो] दोषोसे रहित कल्याणकारी रूपसे स्तम्भोको खडा करे और पवित्र ब्राह्मण स्तम्भके खडा करनेपर [ब्राह्मणको] दक्षिणा [के रूप] मे गायका दान करना चाहिए ॥५७॥

अभिनव०—'दातव्या' इससे दातव्य पदके प्रयोगके सामर्थ्यसे 'ब्राह्मणको' [देनी चाहिए] यह बात [स्वय] प्राप्त हो जाती हे ॥ ५७ ॥

भरत०—शेष [क्षत्रिय, वश्य तथा शूद्र] स्तम्भोके स्थापन [के अवसर] पर [नाटच मण्डपके] निर्माताके द्वारा [अर्थात् निर्माताके व्ययपर सब लोगोको] भोजन कराया जाना चाहिए। और बुद्धिमान नाटचाचाय मन्त्रोसे पवित्र [किए हुए] उस भोजनको देनेकी व्यवस्था करे । ५८ ।

भरत०—[उस भोजनमे] पुरोहित और राजाको मधुमिश्रित खीर खिलावे और सब कारीगरो [कर्तृन्] को लवण प्रधान खिचडी खिलावे ॥ ५९ ॥

इन दोनो कारिकाओमेसे पहिलीमे कर्तृसश्रयम्' पद आया है वहाँ कर्ता शब्दसे मण्डप के निर्माण कराने वालेका, और दूसरी कारिकामें आए हुए 'कर्तन्' पदसे मण्डपके निर्माण करने वाले कारीगरोका ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक स्तम्भविधिका सामा य रूपसे निरूपण कर अब आगे उनको खड़ा करते समय उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रको बतलाते हैं । कि तु वह वास्तवमें कोई वेद मन्त्र नही केवल एक सामा य श्लोक है उसके पहिले ओङ्कार और अ तमे 'स्तम्भाय नम ' बोल कर उसको म त्र का रूप देनेका यत्न किया गया है । यह शैली मध्यकालमें बहुत अपनाई जाती रही है ।

१ छ ब अदृष्टि । २ न मृतितो । ३ त परचक्रेभ्य । न कम्पिते परराष्ट्रेभ्य ।
४ ठ म वदति । ५ च्छुभम । ६ त व म पवित्रम । ७ ड व त स्थापने ।
८ ड व त भोजनम् । ९ ठ म मन्त्र पुत च । १० ठ त पायसम् । म वथ पायसम
११ च म सरम । त कृसरान् लवणोत्तरान ।

भरत०—सर्वमेव विधि कृत्वा सर्वातोद्यै प्रवादितै ।
अभिमन्त्र्य यथान्याय [1]स्तम्भानुत्थापयेच्छुचि ॥ ६० ॥

अभिमन्त्र्येति[2] समूहोचितो यो मन्त्रस्तमाह यथेति—

भरत०—यथाचलो गिरिर्मेरु-हिमवाश्च महाबल[3] ।
जयावहो नरेन्द्रस्य [4]तथा त्वमचलो भव ॥ ६१ ॥

प्रणव-नमस्कारमध्यवर्ती चाय पठितव्य[5] इति वास्तुविद्याविद । 'अचलो भव' इत्यपूर्वविधि तदनुवादेन 'जयावहो भव' इत्यस्य न पौनरुक्त्यम् ॥ ६१ ॥

भरत०—स्तम्भद्वार च भित्ति च नेपथ्यगृहमेव च ।
एवमुत्थापयेत् [6]तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६२ ॥

एवमिति, तेन भित्तौ स्त्रीत्वेन गृहे नपुसकत्वेनोह काय ॥ ६२ ॥

भरत०—इस प्रकार [भोजन तथा दक्षिणा सम्बन्धी] सारे विधिको करके और सारे वाद्योके बजानेके साथ शुद्ध पवित्र होकर तथा विधिवत् अभिमन्त्रित करके [स्तम्भको] उठावे ॥६०॥

अभिनव०—'अभिमन्त्रित करके' इसमे [अभिमन्त्रित करनेके लिए] जो समूह मे पढने योग्य मन्त्र है उसको 'यथा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'समूहसूचित' पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था। उनके स्थान पर 'समूहोचित' पाठ होना चाहिए। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर केवल सूचित' पाठ दिया गया है। पर तु ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। मध्यकालीन धारणाके अनुसार वेदमन्त्र समूहोचित अथात सबके सुनने योग्य नही होते हैं। अत उनके स्थान पर समूहमें सबके सामने पढे जाने योग्य इस मन्त्रको दिया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसलिए यहा 'समूहसूचित' नही 'समूहोचित' यही पाठ होना चाहिए। अत हमने समूहोचित' पाठ प्रस्तुत किया है।

भरत०—जिस प्रकार मेरु पवत और महान् हिमालय अचल है राजाके लिए जयका आवाहन करने वाले [हे स्तम्भ] उसी प्रकार तुमभी अचल हो ॥ ६१ ॥

अभिनव०—'प्रणव' [ओङ्कार] तथा 'नम' के बीचमें इसको पढना चाहिए, यह शिल्पकला-विशारदोका मत है। [अर्थात् इसके आदिमे ओङ्कारका और अन्तमे स्तम्भाय नम' का पाठ और करना चाहिए]। 'अचल हो' यह अपूर्व विधि है। उसका अनुवाद करके जयावहत्वका विधान हे [वह गुणविधि है] अत पुनरुक्ति नहीं है।

भरत०—इस प्रकार शिल्पविद्याको जानने वाला [कारीगर] स्तम्भद्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगहको भी विधिविहित प्रकारसे बनावे। ६२।

अभिनव०—[इस प्रकार स्तम्भोके समान भित्ति तथा नेपथ्यगृहके उठाते समय] भित्तिमे ['त्वमचला भव' इस प्रकार] स्त्रीलिंगका, और गृहमे ['त्वमचल भव' इस] नपुसक लिङ्गका 'ऊह' [अर्थात् परिवतन] कर लेना चाहिए ॥ ६२ ॥

---

१ च भ स्तम्भमुत्थापयेत्। २ म भ समूहसूचितो। व सूचितो।
३ न वत यथाचल। ४ म यथा त्वमचलो वह। यथा। ५ म भ पठित इति। ६ प्राज्ञ।

भरत०—रङ्गपीठस्य 'पाश्वें तु कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतु स्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणत ॥६३॥

पाश्व इति विशेषानुपादानात्, 'तयोस्तुल्यम्' [२ ६४] इति च द्विवचनाल्लिङ्गाद् भाविनोद्वयो पाश्वयोरिति लभ्यते । स्तम्भाश्चत्वारो बहिमण्डपान्निष्कासन कृत्वा ध्रिय ते मण्डपक्षेत्राद्बहि । तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भद्वय, ततोऽपि बहिर्भित्ते अष्टहस्ता तर । स्तम्भापेक्षयापि अष्टहस्तान्तर स्तम्भद्वयमित्येव अष्टहस्तविस्तारा समचतुरस्रा मत्तवारणी भवति । आयामस्तु प्रमाणमिति ये वदन्ति तेषा मते दैर्घ्यादिष्टहस्त विस्तारात् षोडशहस्त इत्येव विकृष्टता 'मत्तवारण्या भवति ॥ ६३ ॥

भरत०—रङ्गपीठके दोनों ओर [दोनों बगलोमे] रङ्गपीठके मापकी और चार खम्भोंसे युक्त मत्तवारणियो [दो बरामदों] की रचना करनी चाहिए । ६३ ।

अभिनव०—[यद्यपि 'रङ्गपीठस्य पाश्वें' यह एक वचनका प्रयोग है परन्तु दाहिने या बाये] किसी विशेष [पाश्व] का ग्रहण न होनेसे तथा ['उत्सेधेन तयोस्तुल्य' इत्यादि अगली ६४ वीं कारिकामे] उन दोनो [मत्तवारणियोके बराबर इस] मे 'तयो' इस द्विवचन रूप लिगसे बननेवाले दोनो पाश्वोंमे [अर्थात रङ्गपीठके दोनों ओर मत्तवारणी बनाना चाहिए] यह सिद्ध होता हे । ['चतु स्तम्भसमायुक्ता' मे जो मत्तवारणीके चार स्तम्भ कहे है वे] चारो स्तम्भ मण्डपसे बाहर निकाल कर बनाए जाते है । इस लिए [रङ्गपीठकी] दीवारकी समाप्तिपर [दीवारसे मिले हुए किन्तु मण्डपसे बाहरकी ओर] दो खम्भे [रङ्गपीठकी मापके अनुसार रङ्गपीठकी आठ हाथकी चौडाईके दोनो सिरोपर आठ हाथके अ तरसे] और उससे भी परे भित्तिके बाहरकी ओर एक-दूसरेसे और [पूर्व लगाए हुए दोनो] स्तम्भोसे भी आठ हाथोके अन्तरपर दो और स्तम्भ बनेंगे । इस प्रकार आठ हाथोकी लम्बाई-चौडाईकी चौकोर वर्गाकार दोनो [मत्तवारणी] बरामदे होते हैं । जो लोग यह कहते हैं कि [मत्तवारणियो का भी] आयताकार परिमाण होना चाहिए उनके मतमे [विकृष्ट मडपमे रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनोको मिलाकर] सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौडी इस प्रकार मत्तवारणियोकी विकृष्टता बनजाती है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अ तमें 'इत्येव विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति इस प्रकार का पाठ पूव सस्करणोमे छपा है । कि तु वह अशुद्ध है । यहांपर मत्तवारणियोकी रचनाका प्रकरण चल रहा है । उसीके आकारके विषयमें दो मत दिए गए हैं । पहिले मतके अनुसार मत्तवारणी वर्गाकार होती हैं । उसकी लम्बाई और चौडाई दोनो ही आठ आठ हाथकी होती हैं । यही अभिनवगुप्तका अपना मत है । कि तु दूसरे लोग रगपीठके समान मत्तवारणियोको भी आयताकार बनाना चाहते हैं । उनके मतमें उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौडाई आठ हाथकी होगी । इस प्रकार मत्तवारणी विकृष्ट या आयताकार दोनो प्रकारकी बन जावेगी । पहिले मतके अनुसार विकृष्ट मण्डपमें मत्तवारणियोकी रचना केवल रगपीठके किनारोंपर होगी । रगपीठकी चौडाई आठ

---

१ पश्चात् । २ रङ्गपीठस्य ।

हाथ है इसलिए मत्तवारणी ८×८ हाथकी वर्गाकार चतुरस्र आकारमें बनेगी। दूसरे मतमें जो उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौडाई आठ हाथकी मानते हैं यह मत्तवारणी रगपीठ और रगशीष दोनोके किनारोपर बनेगी। विकृष्ट मण्डप रगपीठमे और रगशीष दोनोकी चौडाई आठ आठ हाथ है जो मिलकर सोलह हाथ बन जाती है। इस प्रकार दोनो भागोको मिला कर उनके किनारोपर मत्तवारणी बनानेसे वे १६×८ हाथकी विकृष्ट अर्थात् आयताकार बन जावेंगी। चतुरस्र मण्डपमे रगपीठ ८ हाथ और रगशीष ४ हाथका दोनो मिलकर १२ हाथ लम्बे होते हैं। इस लिए उसमें आयताकार मत्तवारणी १२×८ हाथ की ही हो सकती है। उसको १६×८ की

अभिनवगुप्तके अनुसार मत्तवारणी कीदो स्थितिया

(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी
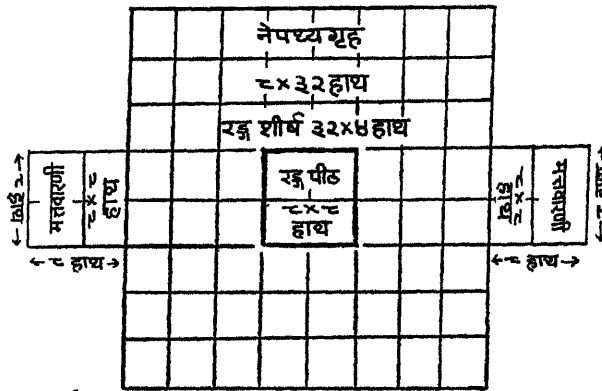
'अष्टहस्त विस्तीरा समचतुरस्त्रा मत्तवारणी भवति'

(२) आयताकार मत्तवारणी –
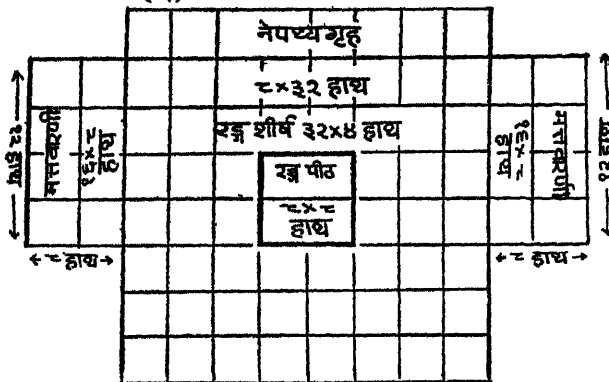
आयामस्तु प्रमाणमिति येवदन्ति तेषामते दैर्घ्यदिष्ट हस्ता विस्ताराच्छोडशहस्ताइत्येव विकृष्टता मत्तवारण्या भवति

बनाने के लिए ४ हाथका क्षत्र नेपथ्यगृहके सामनेसे लेना होगा। ऊपर हमने चतुरस्र मण्डपमे आयताकार मत्तवारणीका चित्र इसी आधारपर बनाया है। विकृष्ट मण्डपमे तो रगपीठ और

रगशीष दोनो आठ आठ के ही होते हैं । इस लिए उसमें १६×८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी रगपीठ तथा रगशीषके सामने ही बन जाती है । पीछे दिए हुए विकृष्ट मण्डपके चित्रमे उसको देखा जा सकता है । हर हालतमे यहा मत्तवारणीकी ही विकृष्टताका वणन किया जा रहा है । रगपीठकी विकृष्टताका यह वणन नही है इसलिए यहाँ रगपीठस्य' के स्थानपर 'मत्तवारण्या' पाठ ही होना चाहिए । अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारती युक्त वडोदावाले दोनो सस्करणोमें तथा मूल नाट्य शास्त्रके अ य सब सस्करणोमें भी इस ६३वी कारिका का पाठ निम्न रूपमें मुद्रित हुआ है ।

रङ्गपीठस्य पाश्र्वे तु कतव्या मत्तवारणी ।
चतु स्तम्भसमायुक्ता रगपीठप्रमाणत ॥

इस पाठमें 'पाश्र्वे' 'कत०या' 'मत्तवारणी' और 'चतु स्तम्भसमायुक्ता ये सब ही शब्द एकवचना त प्रयुक्त हुए हैं । जिससे प्रतीत होता है कि रगपीठके एक ओर मत्तवारणीकी रचना होनी चाहिए । कि तु अभिनवगुप्तने उसकी व्याख्यामें 'भाविनो द्वयो पाश्वयो' अर्थात् दोनों किनारोपर मत्तवारणीका विधान माना है । इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो मूल श्लोक का पाठ कुछ ठीक नही जचता है । यद्यपि अभिनवगुप्तके सामने भी श्लोकका यही पाठ था और उ होने उसके सशोधनका कोई सङ्केत नही किया है कि तु इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए—

पाश्वयो रगपीठस्य कतव्यौ मतवारणौ ।
चतु स्तम्भसमायुक्तौ रगपीठप्रमाणत ॥

इस प्रकारका पाठ अधिक उचित होता । ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भमें इसी प्रकारका पाठ रहा होगा । फिर किसी समय नामैव स्त्रीति पशलम्' इस सिद्धा तके अनुसार 'मत्तवारणौ' को स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' बना दिया गया । जिसके परिणाम स्वरूप 'कतव्या मत्तवारणी' यह पाठ आ गया । हमारी दृष्टिमें यह पाठ उचित नही है कि तु अभिनवगुप्तने उसीको माना है अत हमने उसमें कोई परिवतन नही किया है । फिर भी इस विषयमे कुछ विशेष विवेचना हम आगे दे रहे हैं ।

'मत्तवारणी' की समस्याएँ—

'मत्तवारणी' की समस्या नाटचशास्त्रकी सबसे अधिक जटिल और महत्त्वपूण समस्या है । आधुनिककालके अनेक विशिष्ट विद्वानोने इसके विषयमें विचार कर तथ्य निणय करनेका यत्न किया है कि तु वे किसी ठीक परिणामपर नही पहुँच सके हैं । 'मत्तवारणी' शब्दसे सम्बद्ध समस्याके भी कई भाग है । उसका ठीक शब्द या नाम क्या है ? उसका ठीक अथ क्या है ? उसका ठीक स्थान और आकार क्या है ? और उसकी सख्या कितनी है ? ये सभी प्रश्न इस समस्याके साथ जुडे हुए अत्य त महत्त्वपूण अवा तर प्रश्न है । मूल नाटच शास्त्रमें और उसकी अभिनव भारतीमें सवत्र 'मत्तवारणी' शब्द ही मुद्रित हुआ है इसलिए स्वभावत आधुनिककालके और प्राचीनकालके सभी विद्वानोने 'मत्तवारणी' शब्दका ही प्रयोग किया है । कि तु यह शब्द सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है । उसकी अपेक्षा 'मत्तवारण' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । शब्दके व्यवहार विषयमें कोश या साहित्य दो ही मुख्य प्रमाण होते हैं उन दोनो हीकी दृष्टिसे 'मत्तवारणी' शब्द उपयुक्त नही है यह बात हम आगे दिखलावेंगे । तब मत्तवारणी' के विषयमें पहिली समयस्या तो यह है कि यहा मत्तवारणी' शब्दका प्रयोग किया जाना चाहिए अथवा 'मत्तवारण' शब्दका । यह पहिली समस्या शब्दसाधुत्वसे सम्ब घ रखती है । दूसरी समस्या उसके अथसे सम्ब घ रखती है । 'मत्तवारण' या 'मत्तवारणी' जो कोई भी शब्द उपयुक्त है उसका अर्थ क्या है ? यह दूसरा

विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक विद्वानोमे इसके अर्थके विषयमें बडा मतभेद पाया जाता है। इस विषयमें हम डा० मनकद, प्रो० सुब्बाराव प्रो० भानु० तथा श्रीमती कु० गोदावरी केतकरके मतोका उल्लेख आगे करेगे। इन चारोने 'मत्तवारणी' शब्दकी भिन्न भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। इसके बाद तीसरा प्रश्न नाट्यमण्डपमे उसके स्थान निर्धारणके विषयमें है। नव्य विद्वानोमें प्रो० सुब्बारावको छोड कर शेष सबने लगभग एक रूपमे ही 'मत्तवारणी' का स्थान निर्धारित किया है। किन्तु इससे यह परिणाम नही निकाला जा सकता है कि इस विषयमें उनका निर्णय प्रामाणिक है। वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। इन सबने 'मत्तवारणी' का जो स्थान निर्धारित किया है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके एक दम विपरीत बैठता है। चौथी समस्या उसकी संख्यासे सम्बन्ध रखती है। 'मत्तवारणी' एक है या दो ? और पाचवा प्रश्न उसके आकारसे सम्बन्ध रखता है। इन सबका विवेचन नाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें विस्तार पूर्वक किया तो गया है किन्तु इन दोनो ग्रन्थोके अशुद्ध पाठने इस समस्याको बडा जटिल बना दिया है।

इस सारी जटिलताका मूल कारण मूल नाट्यशास्त्रका प्राचीन संस्करणोमें पाया जानेवाला 'रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी यह पाठ ही है। किसी प्रारम्भिक लिपिकार के प्रमादसे 'कर्तव्यौ मत्तवारणौ के स्थानपर 'कर्तव्या मत्तवारणी' पाठ मूलमें आ गया। और उसने ही सारी समस्याए पैदा कर दी है। यदि इस पाठको ठीक कर दिया जाय तो इस सम्बन्ध की सारी समस्याए समाप्त हो जाती है। हम आगे इसके स्पष्टीकरणका प्रयत्न करते है।

मत्तवारणी शब्दका अर्थ—

इस प्रसङ्गमें मूल नाट्यशास्त्र और अभिनवभारतीमे जहापर 'मत्तवारणी' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहा उसके स्थानपर 'मत्तवारणौ' पाठ दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। इस शब्दके कारण बडा भ्रम और अनर्थ हुआ है। इसलिए वह बडा महत्त्वपूर्ण शब्द है। हमें शब्दके प्रयोग और अर्थ दोनो दृष्टियोसे उसके विषयमे विचार करना है। किन्तु इस दृष्टिसे यह शब्द जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन और दुर्ज्ञेय भी है। उसका अर्थ जानने केलिए कोश ग्रन्थोके, पर्यालोचनकी आवश्यकता पडती है। बिना कोशकी सहायताके उसका अर्थ समझमें नही आ सकता है। वैसे 'मत्तवारणी' शब्द कोश ग्रन्थोमें या साहित्यमें कही भी नही मिलता है। 'मत्तवारण' शब्द मिलता है। कोश' मे इस शब्दका अर्थ बरामदा है। किन्तु इसका ज्ञान कोश ग्रन्थोके देखनेसे ही होता है। 'शब्दकल्पद्रुम' नामक वृहत्कोशमें 'मत्त वारयतीति मत्तवारण' यह व्युत्पत्ति करके 'प्रासादवीथीना वरण्ड' यह मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। अन्य कोश ग्रन्थोमे तथा साहित्य ग्रन्थोमे भी 'मत्तवारणी' शब्द नही पाया जाता है किन्तु उसके स्थानपर 'मत्तवारण' शब्द पाया जाता है और उसका प्रयोग सर्वत्र 'वरण्डा' अर्थमें ही किया गया है। 'कुट्टिनीमतम्' नामक ग्रन्थमें 'दिव्यधरा धरभूमिरिव राजति मत्तवारणोपेता' इस रूपमें मत्तवारण' शब्दका प्रयोग पाया जाता है। उसके टीकाकारने भी 'प्रासादवीथीना वरण्ड' यह 'मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। महाकवि सुबन्धुकी 'वासवदत्ता' में भी मत्तवारणयोवरण्डकेण' इस रूपमें 'मत्तवारण' इस शब्दका ही प्रयोग मिलता है। इस सब स्थलोपर 'मत्तवारण' शब्द ही मिलता है। 'मत्तवारणी शब्द नाट्यशास्त्रको छोड कर और कही नहीं मिलता है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि मत्तवारण' शब्दके स्थानपर 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार ही कदाचित 'मत्तवारणी' शब्दको प्रयुक्त कर दिया गया है।

यदि केवल सौन्दर्याधानकेलिए ही यह परिवर्तन किया गया है तो जिस किसीने भी 'मत्तवारण' शब्दको स्त्रीलिंग बना कर 'मत्तवारणी' इस रूपमें उसका प्रयोग किया है उसने

साहित्यक दृष्टिसे उसमें माधुय भले ही उत्पन्नकर दिया हो कि तु उसके साथ ही उसने अनेक बडी समस्याएँ पदा कर दी हैं। नाटचशास्त्रके 'मत्तवारणी विषयक श्लोकका पाठ 'रङ्गपीठस्य पाश्र्वे तु कतव्या मत्तवारणी इस रूपमे छपा है। इसमें 'पार्श्वे, 'कतव्या' और 'मत्तवारणी' सभी शब्द एक वचन है। इसलिए श्लोकसे स्वरसत यह अथ प्रतीत होता है रङ्गपीठके एक ओर ही 'मत्त वारणी' की रचना की जानी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्तने रङ्गपीठके दोनो ओर मत्तवारणियोके या वरण्डोके बनानेका विधान दिया है। यदि वह स्त्रीलिंगका प्रयोग न होता तो 'पाश्वयो रगपीठस्य कतव्यौ मत्तवारणौ इस प्रकारका पाठान्तर मान कर दोनो ओर मत्तवारण या वरण्डा बनानेकी समस्या ठीक तरहसे हल हो जाती। न तो इस पाठा तरके माननेमें कोई कठिनाई होती और न दोनो ओर वरण्डा बनानेकी बात समझनेमे कोई कठिनाई होती। वतमान स्थितिमे स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' शब्दके पाठके कारण रगपीठके दोनो ओर मत्तवारणी बनानी चाहिए इस बातको समझानेकेलिए अभिनवगुप्तको विशेष प्रयत्न करना पडा, फिर भी बात कुछ जचती सी नही है। हो सकता है कि यहापर मूल रूपसे पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दके ही द्विवचना त रूप 'मत्तवारणौ' का प्रयोग रहा हो जो किसी लिपिकारके प्रमादवश या अ य किसी कारणसे स्त्रीलिग 'मत्तवारणी' के रूपमें परिवर्तित हो गया हो। उसने ग्रन्थके समझनेमे और रगपीठके दोनो ओर वरण्डोके विधानकेलिए अनेक कठिनाइया उत्पन्न कर दी हैं। विशेषत मत्तवारणियोके इस अपेक्षित द्वित्वका उपपादन करना एक समस्या बन गई है। इस समस्याका सबसे सु दर हल केवल यही है कि मत्तवारणी शब्द जब कि किसी कोशमें भी नही पाया जाता है तब इसको हटा कर कोश आदिमे उपलब्ध और साहित्यमे प्रयुक्त प्रचलित पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दको उसके स्थानपर प्रयुक्त किया जाय। उस दशामें 'मत्तवारण' सम्बन्धी दोनो श्लोकोमे द्विवचनका प्रयोग कर उनका पाठ 'पाश्वयो रगपीठस्य कतव्यौ मत्तवारणौ और अध्यध हस्तोत्सेधेन कतव्यौ मत्तवारणौ इस प्रकारका पाठ माननेसे प्रकृत स्थलकी सारी समस्या हल हो जाती है। किन्तु अभिनव गुप्तने 'मत्तवारणी' पाठ ही माना है अत हमने अभीष्ट होनेपर भी सशोधन नही किया है।

मत्तवारणीकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके लेखके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि रगपीठके दोनो ओर मत्त वारणियो या वरण्डोकी रचना होनी है। जब यह मालूम हो जाता है कि मत्तवारणका अथ वरण्डा है तो उसकी रचना कैसे होनी चाहिए यह बात भी बहुत सरलता ही से समझमें आ जाती है। वरण्डा सदा ही मुख्य भवनके बाहरकी ओर बनता है। मुख्य भवनके भीतरकी ओर नही। इसलिए नाटच मण्डपके साथ रगपीठके बराबरमें जो मत्तवारणी या वरण्डा बनेगा वह भी उसके बाहरकी ओर बनेगा भीतर की ओर नही। इसीलिए अभिनवगुप्तने बहुत स्पष्ट रूपसे मण्डपसे बाहरकी ओर इस मत्तवारणी या वरण्डेकी रचनाका प्रतिपादन किया है। कि तु नव्य विद्वानोमेंसे किसीकी भी समझमें इसका अथ नही आया। इसलिए वे उसकी स्थिति भी नही समझ सके हैं। डा० घोष और डा० मनकद दोनोने मुख्य मण्डपके भीतर ही मत्तवारणियोके लिए स्थान निकालनेका यत्न किया है। श्री मनमोहन घोष महोदयने विकृष्ट मण्डप आनिके जो चित्र बनाए हैं उन्हे हम इसके पूव ही दे चुके हैं। उनको देखनेसे विदित होता है कि उन्होने मत्तवारणियोको मुख्य मण्डपके भीतर ही बना डाला है। यह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत होनेसे भयङ्कर भूल है। इसका एक मात्र कारण इस शब्दके अथ का न समझना ही रहा है। यदि यहा पर कोशके सहारे उसका वरण्डा अथ विदित हो जाता तो उस दशामें उसकी स्थिति मुख्य भवनके बाहर होनी चाहिए यह बात भी सहज ही समझमें आ जाती और यह भयङ्कर

भूल न होती। इसी लिए शब्द प्रयोगकी महिमाका वर्णन करते हुए महाभाष्यकारने लिखा है—

एक शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात ।।

'स्वरत' या 'वर्णत' अशुद्ध रूपमे यदि एक भी शब्दका प्रयोग हो जाता है तो वह वाणी का वज्र बन जाता है और वह वाग्वज्र यजमानका ही नाश कर देता है। यहा 'स्वरतोऽपराध' का जो इन्द्रशत्रु' यह उदाहरण भाष्यकारने दिया है उसमें स्वरापराधने यजमानकी हिंसा कैसे की यह बात सहजमें समझमें नही आपाती है। किन्तु वर्णापराध या मात्रापराध यजमान और पुरोहित दोनोका नाश कस कर देता है इसके समझनेके लिए 'मत्तवारणी' का यह उदाहरण बडा सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण है। जहापर 'मत्तवारणो लिखा जाना चाहिए या वहाँ ो की मात्रा के स्थान पर 'ी' की मात्रा लग जानेसे 'मत्तवारणी' लिख दिया गया। इस एक मात्राके व्यतिक्रम ने ऐसा अनर्थ उत्पन्न किया और एसा तूफान खडा कर दिया कि जिसमें बडे बडे विद्वानोका विवेक जीर्ण शीर्ण पत्तोकी नाई हवामें उड गया। किसी कोश ग्रन्थमे मत्तवारणी' शब्द नही आया है इसलिए सामान्य रूपसे भी यह बात समझमें आ सकती थी कि यहा 'ी' की मात्रा भूलसे लग गई है उसको ठीक कर "ो' की मात्रा लगा कर मत्तवारणो' पाठ बना देना चाहिए। किन्तु इस 'मात्रापराध' का कुछ ऐसा जादू चला कि उसने इधर सशोधन करानेके बजाय दूसरी ओर उल्टा 'कर्तव्यौ के स्थानपर कर्तव्या' और 'पार्श्वयो' के स्थानपर 'पार्श्वे' पाठ करा दिया। शताब्दियो तक यह व्यतिक्रम चलता रहा और पकडमें नही आ सका। स्वय अभिनवगुप्तको भी जिन्होने ग्रन्थके आरम्भमें ही 'उपादेयस्य सम्पाठ तदयस्य प्रतीकनम्' के शब्दोमें पाठ सशोधनकी प्रतिज्ञा की थी यह व्यतिक्रम धोखा दे गया। अगले ही श्लोकमे 'तयो' यह द्विवचन 'मत्तवारणो' केलिए ही प्रयुक्त हुआ है इसको देखते हुए भी 'तयो' के द्विवचनकी सगति लगानेके लिए क्लिष्ट कल्पना द्वारा व्याख्या तो उन्होने की किन्तु इस मात्रा सशोधनका ध्यान उनको नही आया। इस प्रकार इस मात्रापराध' ने न केवल उस 'मात्रापराध' करने वाले यजमानका ही हनन किया है अपितु स्वय भरतमुनिके विस्पष्ट भावका भी हनन कर दिया है। और उसका फल उस यजमान को भोगना पडा या नही यह तो नही कहा जा सकता है किन्तु उसके बाद शताब्दियो तक उसका प्रभाव रहा है। आज तक भी उस 'मात्रापराध' से भरतमुनिके पाठक त्रस्त हो रहे हैं।

मत्तवारणीके विषयमे प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना—

प्रो० सुब्बारावके नामका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। वे बडौदा विश्वविद्यालयके 'फैकल्टी आफ टक्नालाजी एण्ड इजीनियरिंग' के डीन हैं। नाट्यशास्त्रके बडौदावाले प्रकाशित द्वितीय सस्करणके अन्तमें प्रेक्षागहकी रचनाके विषयमे उनका एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होने इस 'मत्तवारणी' के विषयमे एक सवथा नई कल्पना प्रस्तुत की है। और उस सारी कल्पनाका आधार 'पार्श्वे' 'कर्तव्या' और मत्तवारणी' इन तीनो शब्दोमें प्रयुक्त एकवचन है। अभिनवगुप्त और अन्य नव्य विचारकोने तो रगपीठके दोनो ओर दो मत्तवारणियोका प्रतिपादन किया है किन्तु प्रो० सुब्बारावने एक ही मत्तवारणीका प्रतिपादन किया है। उन्होने 'मत्ताना वारणाना श्रेणि मत्तवारणी' यह मत्तवारणी शब्दका अर्थ किया है और रगपीठके सामनेकी ओर धरातलसे डेढ़ हाथ उठे हुए भागकी दीवार पर जो प्लास्टर किया जाय उसमें मत्त हाथियोके चित्र बनाए जाय। यह प्लास्टरमें बनी हुई मत्त हाथियोकी पक्ति ही मत्तवारणी है यह उनका मत है।

अपने इस अर्थकी सम्पुष्टिके लिए उन्होने अगले चरणमे आए हुए 'चतु स्तम्भसमायुक्ता' इस पदके पाठमे 'भ' के स्थान पर 'ब' करके 'चतु स्तम्भसमायुक्ता' के बजाय 'चतु स्तम्ब-समायुक्ता'

पाठ माना है। 'स्तम्ब' शब्दका अर्थ हाथियोंके बाधनेका खम्भा या आलान है। इसी लिए हाथीके पर्यायवाची शब्दो 'स्तम्बेरम' शब्द भी आता है। स्तम्बेरमा मुखरशृंखलकर्षिणस्ते' इस कालिदास के श्लोकोमें 'स्तम्बेरमा' शब्द हाथियोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। प्रो० सुब्बारावका कहना है कि नाट्यशास्त्रके उक्त श्लोकमे 'स्तम्भ' के स्थानपर 'स्तम्ब' पाठ ही मानना चाहिए। इस प्रकार चार स्तम्बोसे युक्त मत्तवारणीकी श्रेणी रगपीठके केवल एक भागमे अर्थात सामनेकी ओर प्लास्टरमें अकित की जाएगी उसका नाम मत्तवारणी है। यह प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना है। इस कल्पनाके अनुसार उन्होने मत्तवारणीका चित्र भी उपस्थित किया है। उस चित्रको हम नीचे दे रहे हैं।
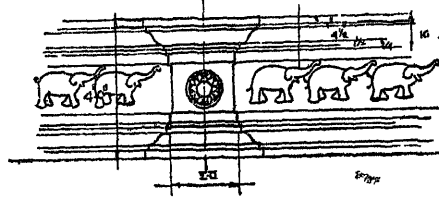
उसकी आलोचना—

प्रो० सुब्बारावकी यह कल्पना एकदम नई और अपूर्व कल्पना है। वे स्थापत्य कलाके विशेषज्ञ हैं इसलिए स्थापत्य कालकी दृष्टिसे उनकी यह कल्पना बडी सुन्दर और उपयोगिनी है। किन्तु हमें तो यह देखना है कि क्या वह भरतमुनिके अभिप्रायके अनुरूप है। और क्या अभिनवगुप्त उसका समर्थन कर रहे हैं। हम इस समय भरतके नाट्य मण्डपपर विचार कर रहे हैं। यदि यह कल्पना भरतके अभिप्रायके अनुकूल बैठ जाती है तब तो वह उपादेय हो सकती है। यदि उनके अभिप्रायके साथ उसकी सगति नही लगती है तो फिर स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे वह कितनी भी उत्तम क्यो न हो वह उपादेय नही हो सकती है। क्योकि वह भरतके अभिप्रायको व्यक्त नही करती है। इस कसौटीपर यदि हम प्रो० सुब्बारावकी इस कल्पनाको कसते हैं तो यह कल्पना एक दम असगत प्रतीत होती है। भरतमुनिके प्रेक्षागृहमे इस प्रकारकी मत्तवारणीका कोई स्थान नही है।

प्रो० सुब्बारावने अपनी इस कल्पनाकी पुष्टिके लिए 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम' इस कारिकामे आए हुए 'तयो' पदकी विशेष व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'तयो' पदसे यहा 'मत्तवारणी रगमण्डपयो' अर्थात मत्तवारणी और रङ्गमण्डप दोनोका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु तनिकसे ही विचार से उनका यह अर्थ बिल्कुल असगत है यह बात स्पष्ट हो जाती है। उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमण्डपम' इस स्थानपर 'तयो' पदका प्रयोग हुआ है। उसका अभिप्राय यह है कि 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या 'मत्तवारणी' इस पूर्वकथित नियमके अनुसार रगपीठके दोनो ओर प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानसे डेढ हाथ ऊचे जो मत्तवारणी या वरण्डे बनाए जावे 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्य रगमण्डपम' उनके ही बराबरकी ऊचाईका रगपीठ भी बनाना चाहिए। रगपीठ उन दोनोसे नीचा नही होना चाहिए। अन्यथा दोनो ओरसे आड हो जानेसे उसपर का दृश्य देखनेमें बाधा पडेगी। यह भरतमुनिके 'तयो' पदका अभिप्राय है।

इस अभिप्रायकी दृष्टिसे यदि प्रो० सुब्बारावजीकी व्याख्यापर विचार किया जाय तो उसकी कोई सङ्गति नही लगती है। वे 'तयो' का 'मत्तवारणीरङ्गमण्डपयो' यह अर्थ कर रहे हैं। तब 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' इस श्लोकभागका यह अर्थ होगा कि मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर ऊचाईका रङ्गमण्डप बनाना चाहिए। इस अर्थकी क्या सङ्गति हुई ? मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर रङ्गमण्डपको बनाना चाहिए। यह अर्थ एक दम असङ्गत है।

'तयो ' की व्याख्यामे रङ्गमण्डपको नही लिया जा सकता है। रङ्गमण्डपसे भिन्न अन्य ही दो वस्तुओ का ग्रहण 'तयो पदसे करना होगा । तभी तयो उत्सेधेन तुल्य' की सङ्गति 'कर्तव्य रङ्गमण्डपम् के साथ लग सकती है । इसलिए 'तयो पदसे 'मत्तवारण्यो ' दोनो मत्तवारणियो अर्थात् दोनो ओरके वरण्डोका ही ग्रहण करना होगा । ऐसा अर्थ करनेपर 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है । दोनो ओरकी मत्तवारणियो अर्थात वरण्डोके बराबर रङ्गपीठकी ऊचाई रखनी चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पनाका भरतमुनिके इस अभिप्रायके साथ कोई सम्बन्ध नही बनता है। इसलिए उनकी कल्पना स्थापत्य कलाकी दृष्टिसे सुन्दर होते हुए भी उपादेय नही हो सकती है।

मत्तवारणीकी वास्तविक स्थिति—

हम देख चुके हैं कि मत्तवारण' या मत्तवारणी' शब्दका अर्थ वरण्डा है । वरण्डेकी स्थिति सदा ही मुख्य भवनसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। इसलिए रङ्गपीठके दोनो ओर बनाई जाने वाली जिन दो मत्तवारणियोका विधान यहाँ किया गया है उनकी स्थिति भी रङ्गपीठसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। यही उनकी वास्तविक स्थिति है। 'चतुस्तम्भ समायुक्ता' की व्याख्या करते हुए 'स्तम्भाश्चत्वारो वहिर्मण्डपान्निष्कासन कृत्वा ध्रियन्ते' यह जो पक्ति अभिनव गुप्तने पृ० ३१० पर लिखी है उससे स्पष्ट प्रतीत होता हे कि यही सिद्धान्त अभिनवगुप्तको अभिमत है।

अभिनवगुप्तने कार्य शैलगुहाकार द्विभूमिर्नाट्यमण्डप (२ ८०) इस श्लोकके 'द्विभूमि पदकी व्याख्या के प्रसगमें भी एक पक्ष यह दिखलाया है कि 'मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रसादाट्टालिकाप्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये' अर्थात मत्त वारणीका जो भाग मण्डपसे बाहर निकला है उसके बराबर बराबर चारो ओर दूसरी भित्ति या खम्भोको लग देनेसे चारो ओर बाहरको जो बरण्डा बन जाता है वह द्विभूमि है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि अभिनवगुप्त के मतमे मण्डप क्षेत्रसे बाहर की ओर ही मत्तवारणीकी स्थिति होती है। इसलिए अन्य लोगो ने जो मण्डप क्षेत्रके भीतर अथवा श्री सुब्बारावजीने जिस रूपमें मत्तवारणीकी स्थिति दिखलाई है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत होनेके कारण अनुपादेय है।

प्रो० भानुका मत—

मत्तवारणीकी व्याख्याके विषयमें एक और भी मत है जो प्रो० सुब्बाराव आदिके मत से कही अधिक अच्छा और तर्क सगत है। यह मत प्रो० भानु महोदयका है। प्रो० भानु महाराष्ट्र के एक माने हुए प्रमुख विद्वान् हैं। उन्होने भरत नाट्यशास्त्रका मराठी भाषामें सुन्दर अनुवाद किया है। इस अनुवादमें उन्होने मतवारणीकी व्याख्याके प्रसङ्गमे इस शब्दकी अन्वर्थ व्याख्या प्रस्तुत की है। मत्तवारणी शब्दका सीधा सादा सा अर्थ यह है कि 'मत्तोका वारण करने वाली' मत्तवारणी होती है। उन्होने इसी अर्थको लिया है। और उसकी उपयोगिता भी दिखलाई है। उनका कहना यह है कि नाटक देखते समय किसी अत्यन्त भावपूर्ण दृश्यको देख कर कभी कभी प्रेक्षकोमे कुछ लोग उन्मत हो उठते हैं। वे उग्र भावावेशमे मचपर अभिनय करने वाले पात्रो के पास पहुँचना चाहते हैं। यदि ऐसे लोगोको मच पर पहुँच सकनेका अवसर मिल जाय तो सारा नाटक वही समाप्त हो जाय। इसलिए इन लोगोको रोकनेकी दृष्टिसे रङ्गपीठके सामनेकी ओर छोटी सी दीवार या कटहरा आदि लगा देना आवश्यक है। इस रोकके कारण मचपर जानेकेलिए उतावले मत्त लोगोका वारण हो जाता है इसलिए उस रोकको ही 'मतवारणी' कहते हैं।

भरत०—अध्यर्धहस्तोत्सेधेन[1] कर्तव्या मत्तवारणी ।
उत्सेधेन [2]तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गपीठकम्[3] ॥६४॥

इस मतकी आलोचना—

जहा तक शब्दकी अ वथता और मतवारणीकी उपयोगिताका सम्ब ध है प्रो० भानुकी यह व्याख्या बडी सु दर और उपादेय प्रतीत होती है । पर तु उनको स्वीकार करनेमे एक बडा दोष हैं । जिनके कारण उसको स्वीकार नही किया जा सकता है । वह दोष यह है कि यह व्याख्या अभिनवगुप्तके अभिप्रायके सवथा विपरीत है । जैसा कि ऊपरके लेखसे विदित हो चुका है अभिनवगुप्त रङ्गपीठके सामनेकी ओर नही अपितु उसके अगल वगलमे दोनो ओर मत्तवारणियोके बनाने का विधान कर रहे हैं । भरतमुनिका भी यही अभिप्राय है । ऐसी दशामें रगपीठके सामनेकी ओर मत्तवारणीकी बनानेका कोई प्रश्न ही नही उठता है । फिर सामनेकी ओर रोक खडी कर देनेसे प्रेक्षकोके लिए असुविधा उत्प न हो जावेगी । नाट्यका बहुत सा अभिनय उस रोक या मत्तवारणीकी कारण स्पष्ट रूपसे देखनेमे बाधा पडेगी । अ य लोगोकी दृष्टिमे भानु महोदयने जिस अ वथताके बलपर इस प्रकारकी व्याख्या की है वह अ वथता ही ठीक तरहसे नही बनती है । मत्तान वारयतीति मत्तवारण ' इस प्रकार पुल्लिगमें 'मत्तवारण' पद बन जायगा । कि तु स्त्रीलिगमें उसके स्थानपर 'कारिणी' 'हारिणी' के समान 'मत्तवारिणी' प्रयोग होना चाहिए । इसी लिए कु० गोदावरी केतकर आदिने यहा 'मत्तवारिणी' पाठ माना है । कि तु यह तो कोई बडा दोष नही हैं । 'षिद् गौरादिभ्यश्च' इस पाणिनि सूत्रमे गौरादिगण पठित शब्दोसे स्त्रीलिग में ङीष प्रत्ययका विधान किया गया है । और साथ ही गौरादिगणको आकृतिगण माना गया है । अर्थात् केवल गौरादिगणमे पठित शब्दोसे ही नही अपितु उनके सदृश अ य शब्दोसे भी ङी ष हो सकता है । इसी सूत्रके आधारपर मत्तवारण शब्दसे ङीष प्रत्यय करके व्याकरणके द्वारा मत्तवारणी शब्दकी सिद्धि की जा सकती है । फिर भी भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोको मत्तवारणीका यह अथ अभिप्रेत नही है जो प्रो० भानु महोदय नेलिया है । अत प्रो० भानु महोदयकी यह व्याख्या ठीक नही है ।

भरत०—[रङ्गमण्डप अर्थात सामाजिकोके बठनेके स्थानसे] डेढ हाथकी ऊचाईकी 'मत्तवारणी' बनानी चाहिए और [रङ्गपीठके दोनो किनारोपर बनाई गई] उन दोनो [मत्त वारणियो] की बराबर ऊचाईका ही रङ्गपीठ बनाना चाहिए । ६५ ।

पाठसमीक्षा—इस ६४ वे श्लोकके पाठमें नाटय शास्त्रके समस्त सस्करणोमें श्लोकान्तमें 'कतव्य रङ्गमण्डपम्' इस प्रकार का पाठ छपा है । इसमे 'रङ्गमण्डपम्' पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' पाठ होना चाहिए । श्लोकके पूर्वार्द्धमें रङ्गमण्डप अर्थात सामा जिकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्तवारणीके डेढ हाथ ऊचा रखनेका विधान किया गया है । उत्तरार्द्धमें 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कतव्य रङ्गमण्डपम्' लिख कर यदि रङ्गमण्डप अर्थात प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानको ही फिर मत्तवारणियो के बराबर ऊचा कर दिया गया तो फिर यह सारा ही विधान व्यथ हो जाता है । इस लिए यहाँ 'रङ्गमण्डपम्' यह पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' होना चाहिए । उसका अथ यह होगा कि मत्तवारणियो की जितनी ऊचाई हो उतनी ही ऊचाई रङ्गपीठकी करनी चाहिए । यही भरतमुनिका अभिप्राय है । इसकी पुष्टि इसी श्लोक की व्याख्यामें लिखी हुई अभिनव गुप्तकी 'तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान रङ्गपीठस्य' इस पक्तिसे भी होती है । इस लिए हमने संशोधित रूपमें 'रङ्गपीठकम्' पाठ ही प्रस्तुत किया है ।

---

१ न अध्यधहस्तोत्सेधा च । २ च व म तया तुल्यम् ३ रङ्गमण्डपम् ।

'रङ्गमण्डपापेक्षया साधहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या । अन्येषा हस्तमानोऽत्र । तयोरिति द्विवचन ज्ञापकमेतच्चरिताथमितीह नोपेक्षितव्यम्' । तस्या एव यावान् उत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य । तेन अन्नभूभागापेक्षया साधहस्तप्रमाणोन्नत रङ्गपीठमित्युक्त भवति । तेन मत्तवारण्यालोकेन नात्यथ रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता । एतच्च उत्सेधन इत्येकवचनेन सूचित, अन्यथा उत्सेधाभ्यामित्युच्येत ।। ६४ ।।

अभिनव०—रङ्ग मण्डप अर्थात प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्त-वारणीको डेढ हाथ ऊचा रखना चाहिए। अन्य आचार्योके मतमे इसमे [अर्थात् मत्तवारणी तथा रङ्गपीठकी ऊचाईके विषयमे डेढ हाथके बजाय केवल] एक हाथ का परिमाण माना गया है। [उत्सेधेन तयोस्तुल्य इस पाठमे] 'तयो' यह द्विवचन [इस बातका] ज्ञापक है [कि मत्तवारणी रङ्गपीठके दोनो किनारोपर बनाई जानी चाहिए] और यह [उस द्विवचनका फल पिछली ६४ वी कारिकाकी व्याख्यामें] दिखलाया जा चुका हे। इसलिए यहा उस [द्विवचन] की उपेक्षा नही की जा सकती है। [अर्थात् यह द्विवचनका प्रयोग अत्यन्त साथक है]। उस [मत्तवारणी] की ही जितनी ऊचाई है उतनी ही ऊचाई रङ्गपीठकी भी रखनी चाहिए। इसलिए [रङ्ग मण्डपके] निचले भू-भाग [अर्थात् प्रेक्षकोके बठने वाले स्थान] की अपेक्षा रङ्गपीठ डेढ हाथ ऊचा होता है यह अभिप्राय प्रकट होता हे। इसलिए मत्त-वारणीकी आडसे रङ्गपीठ की दुष्प्रेक्षता बिल्कुल नही होती है [अर्थात रङ्गपीठका सारा दृश्य अच्छी तरह दिखलाई देता है] यह बात 'उत्सेधेन' इस एकवचनसे सूचित की है। अन्यथा [उत्सेधेन इस एक वचनके स्थानपर द्विवचनान्त] 'उत्सेधभ्या' यह कहते। ['तयोरत्सेधाम्या' न कह कर 'तयोरुत्सेधेन' जो कहा है उससे यह सूचित होता है कि मत्तवारणी और रङ्गपीठ दोनोकी एक सी ऊचाई होनेके कारण मत्त-वारणीकी आड नही पडती है अत रङ्गपीठपरका सब दृश्य बहुत अच्छी तरह दिखलाई देता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका प्रारम्भ पूव सस्करणोमें निम्न प्रकारसे होता है—अन्येषा हस्तमानोऽत्र (मानमत्र) यथा रङ्गपीठापेक्षया च साधहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या'। पर तु यह पाठ अशुद्ध और अस्त व्यस्त रूपमे मुद्रित हुआ है। अन्येषा हस्तमानोऽत्र' इस वाक्य द्वारा अन्यमत प्रस्तुत किया गया है। इसके पहिले अपना मत उपस्थित किया जाना चाहिए तब उसके बाद 'अन्येषा' के मता तरका प्रसग प्राप्त होता है। इस पहिले मतको द्वितीय वाक्यके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। दूसरे वाक्यमें मत्तवारणीकी ऊचाई डेढ हाथ कही गई है। इस विषयमे अन्योका मत यह है कि यह ऊचाई एक हाथ ही होनी चाहिए। यहा प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अन्येषा हस्तमानोऽत्र' इस वाक्यको अगले वाक्यके अन्तमे 'मत्तवारण्या' के बाद होना चाहिए। पूव सस्करणोमें जहा इसको छाप दिया गया है वह उसका उचित स्थान नही है। अत हमने इस क्रमको बदल कर ही सशोधित पाठ यहा प्रस्तुत किया है।

---

१ म भ 'अन्येषा हस्त मानोऽत्र यथा रगपीठापेक्षया २ म भ नापेक्षित इति।

पाठसमीक्षा—इसी भागमें 'रगपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणमें छापा है वह भी अशुद्ध है। उसमें 'पीठ' शब्द अशुद्ध छप गया है। 'रगपीठापेक्षया' के स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया' पाठ होना चाहिए। मत्तवारणी रगपीठकी अपेक्षा यदि ऊची होगी तब रगपीठपर प्रकाशकी कमी हो जानेसे उसपरका दृश्य ठीक दिखलाई नहीं देगा। इस लिए इसी अनुच्छेदकी अगली पक्तियोमे अभिनवगुप्तने 'रग' अर्थात प्रेक्षकोके बठनेवाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठ तथा मत्तवारणी दोनोके ऊचे रखे जानेकी बात लिखी है। इस लिए यहा 'रगपीठापेक्षया' यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया' यह पाठ होना चाहिए। उसमें 'रगमण्डप शब्दसे प्रेक्षकोके बठनेके स्थानका ग्रहण होता है। अत हमने सशोधित रूपसे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

रङ्गपीठ ऊचा बनाया जाय या नीचा—

नाट्य मण्डपकी रचनामें सबसे मुख्य स्थान रङ्गपीठका है। वही नाट्य मण्डपमे उपस्थित प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टिका केद्र होता है। सारा अभिनय, जिसकेलिए कि नाट्य मण्डपकी रचना की गई है इस रगपीठके ऊपर ही अभिनीत होता है इस लिए नाट्य मण्डपकी रचनामें उसका स्थान सबसे मुख्य है। इसकी रचनाके दो प्रकार हो सकते हैं एक तो यह कि उसे सामाजिको या प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा ऊचा बनाया जाय। और दूसरा यह कि उसे प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा नीचा रखा जाय। श्री डा० मनमोहन घोषने अपने अग्रेजी अनुवादमे दूसरी शैलीको अपनाया है। अर्थात प्रेक्षकोके बठनेके स्थानकी अपेक्षा रगपीठको नीचा रखना उचित माना है। इसका करण 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी। उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमण्डपम्'॥ इस श्लोकका पूर्व सस्करणोमे छपा हुआ अशुद्ध पाठ ही है। इसमें 'रगमण्डपम शब्द अशुद्ध है। उसके कारण ही यहाँ भ्रम उत्पन्न हो गया है। 'रग मण्डप' शब्द मुख्यत दो अर्थोंमें प्रयुक्त हो सकता है। कभी वह सारे नाट्यमण्डपका वाचक हो सकता है। कभी केवल सामाजिकोके बैठने के स्थानकेलिए उसका प्रयोग हो सकता है। किन्तु इन दोनो मेंसे दूसरा अर्थात् प्रेक्षको के बैठनेके स्थान वाला अर्थ ही मुख्यार्थ है। इस श्लोकमें यदि 'रगमण्डपम्' का अर्थ सामाजिकोके बठनेका स्थान लिया जाय तो उसका भाव यह हो जायगा कि प्रेक्षकोके बैठनेका स्थान ऊचा रहना चाहिए। इसका फलितार्थ यह होगा कि अभिनय करनेका स्थान रगपीठ नीचा रहेगा। कितु यह स्थिति भरत और अभिनवगुप्त के अभिप्रायके अनुरूप नही है। उनके मतमे अभिनय करनेका मुख्य स्थान अर्थात् रगपीठ जिसके भीतर रगशीर्ष तथा नेपथ्यगह भी समाविष्ट हैं प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा डेढ हाथ ऊचा होना चाहिए। डा० मनमोहन घोष और डा० मनकद आदि अन्य व्याख्याताओने पूर्व सस्करणोमें मुद्रित पाठके आधारपर इस श्लोकका पहिला अर्थ ही लिया है। उनके अनुसार रगपीठकी अपेक्षा प्रेक्षकोके बैठने वाला स्थान अधिक ऊचा रहना चाहिए। किन्तु भरत और अभिनवगुप्तके मतमे यह अर्थ उचित नही है। उनके मतमे रगपीठको प्रेक्षक भागसे ऊचा बनाना चाहिए। इसका मोट सा एक कारण तो यह है कि रगपीठ और रगशीर्ष नामोमें आए हुए 'पीठ' तथा 'शीर्ष' ये दोनो शब्द उन्नत स्थानके ही सूचक हैं। रगपीठको 'पीठ' तभी कहा जा सकता है जबकि वह अपने पासके स्थानसे अर्थात् सामाजिकोके बैठनेके स्थानसे ऊचा हो। इसी प्रकार उससे भी कुछ अधिक ऊचा होनेपर ही रगशीर्षके लिए शीर्ष' शब्दका प्रयोग सगत होता है। इस प्रकार ये दोनो शब्द यह ध्वनित करते हैं प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा अभिनय किए जानेका स्थान अधिक ऊचा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रगपीठको नीचे रखनेपर प्रकाश आदिका अवरोध हो जाने से वह दुष्प्रेक्ष्य भी बन

जावेगा। और उसकी प्रधानता भी नष्ट हो जावेगी। इसलिए उसको ऊचा रखने वाला पक्ष ही अधिक सगत है। भरतमुनि एव अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल वही पक्ष ठीक बैठता है। अत एव डा० घोष और डा० मनकदका रङ्गपीठको नीचा रखने वाला मत ठीक नही है।

अभिनवगुप्तका मत—

यह सिद्धा त हमने अभी सामा य युक्तियोके आधारपर स्थापित किया है। पर अभिनव गुप्तके लेखके आधारपर भी उसीकी पुष्टि होती है। इस स्थलपर रगपीठको ऊचा बनानेका प्रति पादन करने वाला अभिनवगुप्तका निम्न लेख इसी कारिकाकी व्याख्यामे आया है—

रगमण्डपापेक्षया साधहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या। अ येषा हस्त मानोऽत्र। तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रगपीठस्य। तेन अघ्नभूभागापेक्षया साधहस्तप्रमाणो-नत रगपीठमित्युक्त भवति। तेन मत्तवारण्यालोकेन नात्यथ रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता।

ये शब्द स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठके उ नत होनेका समथन कर रहे हैं। 'तस्या' [अर्थात मत्तावारण्या:] 'यावानुत्सेध तावान रगपीठस्य। इस वाक्यका स्पष्ट अथ यह है कि जितनी ऊची मत्तवारणी बनाई जावे उतना ही ऊचा रगपीठ बनाना चाहिए। इसीको अगली पक्तिमें और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा हे कि 'तेन अघ्नभूभागापेक्षया साधहस्तप्रमाणो नत रगपीठमि त्युक्त भवति' अर्थात बीचके प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा रगपीठ डेढ हाथ ऊचा होता है। इसी बातका अगले वाक्यमे फिर समथन करते हुए उ होने लिखा है कि तेन मत्तावारण्यलोकेन नात्यथ दुष्प्रेक्षता रगपीठस्य' इसका अभिप्राय यह है कि इसी लिए अर्थात रगपीठ और मत्तवारणीकी ऊचाई एक सी होनेसे रङ्गपीठकी दुष्प्रेक्ष्यता नही होती है। इसके विपरीत यदि रगपीठकी अपेक्षा मत्तवारणी अधिक ऊची रखी जाय और रगपीठको उसकी अपेक्षा नीचा बनाया जाय तो फिर मत्तवारणीकी आडमे आ जानेसे रगपीठ अत्य त दुष्प्रक्ष्य हो जायगा। उसपर हाने वाला अभिनय ठीक तरहसे नही दिखलाई देगा।

अभिनवगुप्तका यह लेख स्पष्ट रूपसे इस सिद्धा तका समथन कर रहा है कि प्रेक्षकोके बठने वाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठको जिसके भीतर रगशीष तथा नेपथ्यगहको भी समाविष्ट हे अधिक ऊचा रखना ही उचित हे। ऐसी दशामे इस स्थलके पहिले वाक्यमें 'रगपीठापेक्षया' यह जो पाठ पूव सस्करणोमें छपा है वह अशुद्ध पाठ है यह मानना आवश्यक है। क्योकि अगली प्रबल युक्तियोके साथ उसका विरोध हो रहा है। इसलिए वह निश्चित रूपसे अशुद्ध पाठ है। उसमे 'पीठ' शब्द प्रमादवश अशुद्ध हो गया है। 'रगपीठापेक्षया के स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया यह पाठ होना चाहिए। यहा रगमण्डप' शब्दका अथ प्रेक्षकोके बठनेका स्थान होगा। उस रगमण्डपकी अपेक्षासे अर्थात प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानसे मत्तवारणीको डेढ हाथ ऊचा बनाना चाहिए। यह उसका अथ हो जाएगा।

भरतमुनिका मत

केवल अभिनवगुप्त ही नही अपितु स्वय भरतमुनि भी स्पष्ट रूपसे रगपीठको ऊचा रखनेका ही निर्देश कर रहे हैं। आगे २ ६६व श्लोकमें उ होने 'पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नत' लिख कर रगशीष बनानेके स्थानपर भूमिको ऊचा उठानेके लिए काली मिट्टीके भराव करनेकी व्यवस्था की है। इस भरावकी व्यवस्थासे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत मुनि स्वय रगपीठ जिसमें कि रगशीष तथा नेपथ्यगह भी सम्मिलित है प्रेक्षकोके बठनेके स्थानसे ऊचा रखनेके पक्षमे ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनो ही रगपीठको ही उन्नत रखनके समथक हैं। ऐसी दशामें डा० घोष तथा डा० मनकद आदिने जो सामाजिकोके बठनेके स्थान की अपेक्षा रगपीठको नीचा करनेका सिद्धा त स्थिर किया है वह सब असगत है। कारिकाके अशुद्ध पाठके कारण ही यह सब अनथ हुआ है।

रङ्गावतरण—

रगपीठको नीचा रखनेकी भ्रा त धारणा केवल डा० घोष तथा डा० मनकद तक ही सीमित नही है अपितु पाश्चात्य शलीके सभी विद्वान् इस दोषमे ग्रस्त हो रहे हैं। और वे प्रेक्षकोके बठनेके स्थानकी अपेक्षा ही नही अपितु नेपथ्यगहकी अपेक्षा भी रगपीठको नीचा मानते हैं। केवल एक डा० वेवर ऐसे व्यक्ति ह जिन्होने नेपथ्यगहकी अपेक्षा रगपीठको ऊचा माना है। शेष सभी विद्वान उसको नेपथ्यगहकी अपेक्षा भी नीचा मानते हैं। इसके समथनमें उनकी मुख्य दो युक्तिया हैं। एक तो वे नेपथ्य शब्दका निवचन नि पत' धातुसे करते हैं। जिससे नीचेको उतरा जाय वह नेपथ्य है। यह उनकी दृष्टिसे नेपथ्य शब्दका अथ है। नेपथ्य गहसे रगपीठपर ही आया जाता है इसलिए नेपथ्यगह रगपीठकी अपेक्षा ऊचा होना चाहिए यह उनका आशय है। अपने इस निवचन तथा युक्तिके समथनमे वे नाटकोमें प्रयुक्त होनेवाले रगावतरण' शब्दको भी उद्धत करते हैं। 'रगावतरण' शब्दका वे यह अथ लेते हैं कि नेपथ्यगहसे रगमें अर्थात रगपीठ पर अवतरण उतरना होता है इसलिए रगपीठ नेपथ्यगहकी अपेक्षा नीचा होना चाहिए। यह इन विद्वानोका कहना है।

किन्तु इनकी प्रस्तुत की हुई दोनो ही युक्तिया एक दम सारहीन हैं। सस्कृतके विद्वानो ने नेपथ्य शब्दका निवचन 'नि+पत' मे नही किया है। अमरकोशके टीकाकार, प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षितके पुत्र, भानुजि दीक्षितने नेत्रस्य नेतुर्वा पथ्य नेपथ्यम' यह नेपथ्य शब्दका निवचन किया है। इसमे नि+पतन या उतरनेकी भावना कही नही है। इसलिए इस आधारपर नेपथ्यगहकी अपेक्षा रगपीठके नीचा बनाए जानेके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना सवथा युक्तिविरुद्ध और असगत हो जाता है। अब रहा 'रगावतरण' शब्दका प्रयोग सो उसमें अवतरणकी भावना तो निकलती है। पर उससे उस पक्षकी जिसमे कि प्रेक्षकोके बैठनेके स्थान और नेपथ्यगह आदि सबसे रगपीठको नीचा बनाने का सिद्धान्त माना गया है पुष्टि नही होती है। रगपीठको प्रेक्षकोकेके बैठनेके स्थानसे ऊचा रखनेवाले अभिनवगुप्तके मतमें भी 'रगावतरण का वह अथ बन सकता है जो ये विद्वान् लेना चाहते हैं। अभिनवगुप्तके मतमें प्रेक्षकोके बठने वाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठ डेढ हाथ ऊचा होता है। और रगपीठकी भी अपेक्षा रगशीष थोडा और ऊचा होता है। रगशीषके पीछे नेपथ्यगृह होता है। उस नेपथ्यगह और रगपीठके बीचमें रगशीष 'प्रविशता पात्राणा चा त स्थानम्' आने वाले और मञ्चपर अभिनय करनेवाले पात्रोके बीचका स्थान 'रगशीष' होता है। वह रगपीठकी अपेक्षा थोडा सा उन्नत होता है। इसलिए रगशीष परसे होकर प्रविष्ट होने वाला नया पात्र जब रगपीठ पर आता है तो उसको 'रगावतरण' शब्दसे कहा जा सकता है। इससे यह तो कहा जा सकता है कि नेपथ्यगह और रगशीषकी अपेक्षा रगपीठ थोडा सा नीचा होता है। इसके माननेमें कोई कठिनाई नही है। अभिनवगुप्त भी इस बातको मानते हैं। तभी उन्होने 'रगशीष' को चित्त सोए हुए पुरुषके शिरके समान माना है। और स्वय भरतमुनिने भी विकृष्टे तून्नत काय चतुरस्रे सम तथा' श्लोक (२ १००) लिखकर विकृष्ट मण्डपमे रगशीषको रगपीठकी अपेक्षा कुछ उन्नत बतलाया है। इस लिए नेपथ्यगृह भी रगपीठसे कुछ ऊचा हो सकता है। किन्तु इससे उस सिद्धान्तका समथन नही होता है जो प्रेक्षकोके बैठनके स्थानकी अपेक्षा भी रगपीठको नीचा सिद्ध करनेके लिए पाश्चात्य शैलीके विद्वानो द्वारा अपनाया गया है ॥६४॥

भरत०——तस्या माल्य च धूप च गन्ध वस्त्र तथैव च ।
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलि ॥६५॥

माल्यधूपाद्यत्र निर्माणकाल एव देयम् । तदधिष्ठातृणा भूतादीनामुग्रत्वेन यत्नोपचरणीयत्वात् ॥ ६५ ॥

[प्रक्षिप्त—[1]आयस तत्र दातव्य स्तम्भाना कुशलरध ।
[2]भोजने कृशराश्चव दातव्य[3] ब्राह्मणाशनम ॥६६॥]

तदाह—एव विधिपुरस्काररिति—

भरत०——एव विधिपुरस्कारै कर्तव्या मत्तवारणी[4] ।
रङ्गपीठ तत कार्य विधिदृष्टेन कर्मणा ॥६७॥

पुरस्कार शव्देन देया वस्त्रादय । विधिर्वास्तुविद्याशास्त्रोक्त ॥ ६७ ॥

भरत०—उस [मत्तवारणीपर [निर्माणकाल मे] नाना वणकी मालाएँ धूप ग थ वस्त्र आदि [ब्राह्मणो तथा कारीगरो आदिको] देने चाहिए। क्योकि उस प्रकारका बलि [सजावटका सु दर द्रव्य] भूतो अर्थात प्राणियो] को प्रिय होता है। ६४।

अभिनव०—मालाए और धूप आदि निर्माणकालमे ही देना चाहिए। उसके अधिष्ठाताओमे भूत आदिके उग्र स्वभाव वाले होनेसे यत्न-पूवक उनको स तुष्ट करना आवश्यक होनेसे [इन सब वस्तुओका दान करना चाहिए] ॥ ६५ ॥

अभिनव०—इसी बातको 'विधिपुरस्कारै' आदि [अगले श्लोक] से कहते है—

प्रक्षिप्त श्लोक—

इस ६५ वे श्लोकके बाद 'आयस तत्र दात य' आदि एक श्लोक और पाया जाता है। इसपर अभिनवभारती नही है। इसके विपरीत ६५वी कारिकाकी वृत्तिके बाद एव विधि पुरस्कार' से ६७ वी कारिका के प्रतीकको ही अभिनवगुप्तने उद्धत किया है। अत बीचकी ६६वी कारिका प्रक्षिप्त ही है। अत हमने उसको कोष्ठके भीतर दिया है। उसका अथ निम्न प्रकार है—

प्रक्षिप्त०—उनमेंसे चतुरो [अर्थात् निपुण कारीगरो] को स्तम्भोके मूलकी जडोमे लोहा डालना चाहिए। और भोजनमे ब्राह्मणोके खाने योग्य [प्रचुर धतादिसे युक्त] खिचडी देनी चाहिए।६६।

अभिनव०—इसी बातको 'एव विधिपुरस्कार' इत्यादिसे कहते हे—

भरत०—इस प्रकार [वास्तुविद्या शास्त्रमे प्रतिपादित] विधिके अनुसार [वस्त्रादि रूप विविध] पुरष्कारो [के दान] के साथ मत्तवारणीकी रचना करनी चाहिए। और उसके बाद विधि विहित प्रकारसे रङ्गपीठका निर्माण करना चाहिए। ६७।

अभिनव०—पुरस्कार शव्दसे देय वस्त्रादि का ग्रहण होता हे । विधिसे वास्तुविद्याके शास्त्रमे कहे हुए विधिका गहण करना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद मे 'पुरस्कारशब्देन' क 'बाद' देया वस्त्रादय 'पाठ पूव सस्करणोमें नही पाया जाता है। पाण्डुलिपिमे लिपिकारके प्रयाससे छूट गया जान पडता है। पर तु उसको जोडे बिना कोई अथ नही बनता है। इसलिए हमने उसकी पूर्ति कर दी है ॥६७॥

---

१ न आसन चात्र । ठ म पायस चात्र । २ च भोजन कृशरा । ३ च त व दातव्या ।
४ तस्या । ५ एव विध ।

रङ्गपीठे कतव्ये रङ्गशिरस्तावदाह रङ्गशीषमिति—

भरत०—रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्य षड्दारुकसमन्वितम्[1] ।

कार्य द्वारद्वय चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु[2] ॥६८॥

नेपथ्यगहमित्तिपुरोगौ[3] स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्यो`य निवेश्य तयोर्मुख तदपेक्षया चतुहस्तान्तार स्तम्भद्वय, तेषामधस्तन काष्ठमुपरितन चेति षड दारूणि । यत्र षड् दारूणि तत् षड्दारुकम् । सज्ञाया कन् । तत् तेन विचित्ररचनोपेतत्व लभ्यते । अत्र नेपथ्यगृहस्य द्वारद्वय कार्यम । एक दक्षिणत, अपरमुत्तरत । तच्च द्वारद्वयमापादितकूपराभिनत्या भवति । तत्पात्राणा विश्रान्त्य, आगच्छता च गुप्त्यै रङ्गस्य शोभायै रङ्गशिर कार्यम् । अ ये तु—

पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डित स्तम्भद्वयोपेतमिह त्रिद्वारकम् ।[4]

इति षड्दारुकमाहु ।

अभिनव०—रङ्गपीठकी रचनाके प्रसङ्गमे पहिले रङ्गशीषको [बनाना चाहिए । इस बातको] 'रङ्गशीर्ष' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—[शिल्प शास्त्रोमे प्रतिपादित विधिके अनुसार रङ्गपीठकी रचना करनी चाहिए । उसमे भी सबसे पहले] छह [सुन्दर] काष्ट खण्डोसे युक्त रङ्गशीषकी रचना करनी चाहिए । और उसमे नेपथ्यगहके दो द्वार बनाने चाहिए ।

अभिनव०—नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तरपर स्थित दो स्तम्भोको खडा करके उनके मुखादि [अर्थात् छोटे-छोटे दो द्वार बनाने] की अपेक्षासे [उन दोनो स्तम्भोके पास, पर विपरीत दिशामे] चार हाथके अन्तर पर और दो खम्भे तथा उनके ऊपर नीचेकी दो लकडिया [सब मिल कर] छह काष्ठ खण्ड होते हे । जिसमे छह दारु अर्थात् काष्ठ खण्ड हो वह 'षड्दारुक' [कहलाता] है। षड्दारु [शब्दसे] सज्ञा [अर्थमे] कन् प्रत्यय [करके षड्दारुक शब्द बनता] है। इस [षड्दारुकताके कथन] से [रङ्गशीषका] विचित्र रचनासे युक्त होना सूचित होता है इस [रङ्गशीष] मे नेपथ्यगृहके [जाने-आनेके लिए] दो दरवाजे बनाने चाहिए । एक दक्षिणकी ओर और दूसरा उत्तरकी ओर । और वे दोनो दरवाजे ऊपरकी ओर कोहनीकी तरह [मुडे हुए आपादित कूपराभिनत्या] महराबदार होने चाहिए । इस प्रकार [अभिनय करते समय रिक्त] पात्रोके विश्राम करनेके लिए तथा [नेपथ्यहगृमेसे निकल कर] आने वाले पात्रोको [सहसा प्रेक्षकोकी दृष्टिसे] बचानेके लिए एव रङ्गपीठकी शोभाके लिए रङ्गशीषकी रचना करनी चाहिए ।

अभिनव०—अन्य [व्याख्याकार] तो [यह कहते है कि]—

अभिनव०—दोनो किनारोके [दो खम्भो], उनके ऊपर तथा नीचेकी [दो] लकड़ियो [और उनके बीचके] दो खम्भोसे सुशोभित तिदरी [षड्दारुक कहलाती है] ।

इसको [अर्थात् उसमे लगी हुई छ लकडियोको] 'षड्दारुक' कहते हैं ।

---

१ न मसवृतम् । २ न च । ३ लग्नौ । ४ म भ अच्छपातम । अच्छपातकथा ।

'अन्ये तु [2]ऊह स्तम्भशिरसो दूरनिगत काष्ठम । [3]प्रत्यूहस्ततो विनिगता तुला । [4]निर्यूहास्तुलान्तान्निसृता फलकभित्तिमया । [5]सञ्जवनफलका निर्यूहान्नि सृता आकाशे भित्तिव्यारया । [6]स्तम्भाश्रिता सिंहादयो व्यालादयश्चानुब धा । [7]कुहराणि पवतपुर निकुञ्जगह्वररूपाणीति 'षड्दारुकम्' । सवत्र च पक्ष दक्षिणोत्तरगत द्वारद्वय पात्राणा प्रवत्तिभेदकृतात् प्रदक्षिणा प्रदक्षिणप्रवेशत्वात् ॥६८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकाधके अ तम पूवसस्करणोमें पेतमिह्राच्छपातम् पाठ पाया जाता है । पर तु उसकी यहा कोई सङ्गति नही लगती है । इस समय यह 'षडदारुक की व्यारयाका प्रसग चल रहा है । यह षडदारुक पदकी दूसरी व्याख्या है । इसमे पूव,सस्करणोमें मुद्रित 'अच्छपातम' पाठकी कोई सगति नही लगती है । कि तु जिस प्रकारकी रचनाका वणन किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्राचीन काल की 'तिदरी' का वणन है । यहा दोनो पाश्व अर्थात् दोनो किनारोके खम्भो उनके बीच दो खम्भो और उनके ऊपर नीचेकी दो लकडियोको मिला कर जिस 'षडदारुक' का वणन किया है वह तीन द्वार वाले बरामदेके रूपकी तिदरी बन जाती है । इसका उपयोग प्राचीन शलीके भवनोमें बहुत होता है । रङ्गपीठके साथका रङ्गशीष भी इस प्रकारकी तिदरी सा हो जाता था । और उसके सामनेका यह सारा भाग छह काष्ठ खण्डोसे ही बनता था । इसलिए दूसरे लोगोने इस प्रकारकी बनी तिदरी में लगे छह कण्डोको ही षडदारुक मानकर षडदारुक' की व्याख्या इस प्रकार की है ।

'षडदारुकम' की तीसरी व्याख्या—

'षडदारुक' की दो यारयाओ को देनेके बाद तीसरी व्याख्या आगे देते हैं । इसमे १ ऊह २ प्रत्यूह, ३ नियू ह ४ सञ्जवन ५ अनुब ध तथा ६ कुहर इनको षडदारुक कहा गया है । उनके पारिभाषिक अथ निम्न प्रकार हैं ।

अभिनव०—अन्य [तीसरे व्याख्याकार] १ 'ऊह' अर्थात स्तम्भके ऊपरके सिरेसे निकला हुआ काष्ठ । २ 'प्रत्यूह' अर्थात् उससे आगे निकली हुई तुला । ३ नियू ह अर्थात तुलाके किनारोसे निकले हुए तख्तोकी दीवार और ४ सञ्जवन अर्थात् भित्तिके समान आकाशमे निकले हुए तख्ते, ५ खम्भोपर बने हुए सिंह आदि और साप या हाथी आदि अनुवन्ध ६ कुहर अर्थात [उन तख्तोके ऊपर खुदे हुए] पवत नगरोकी कुञ्जे तथा गह्वर आदि रूप, ये 'षड्दारुक है यह कहते हे । [इन तीन प्रकारकी व्याख्याओसे 'षड्दारुक' पदकी कोई भी व्याख्या मानें] सभी पक्षोमे पात्रोकी प्रवृत्तिकी भिन्नताके कारण प्रदक्षिण और अप्रदक्षिण प्रवेश केलिए दक्षिण तथा उत्तर की ओर [रङ्गशीष और पहले कहे हुए नेपथ्यगहके बीचमे] दो दरवाजे बनाए जाने चाहिए ।

---

१ व II उर्ध्वं । तह स्तद्दूर निगतकाष्ठादप्रवत्यूहस्ततो (हतो) ।
२ ऊह स्तम्भशिरसो दूरनिगत काष्ठाद ।
३ प्रत्यूह स्ततो [ऊहात] विनिगता तुला ।
४ नियू हास्तुला तान्नि सृता फलकभित्तिमया ।
५ सञ्जवनफलका सृता आकाशे भित्ति व्याख्या ।
६ स्तम्भाश्रिता सिंहादयो व्यालादयश्च अनुब धा ।
७ कुहराणि पवतपुर निकुञ्ज-गह्वर रूपाणि ।

रङ्गशीर्षपर 'षडदारुक' की तीन स्थितिया
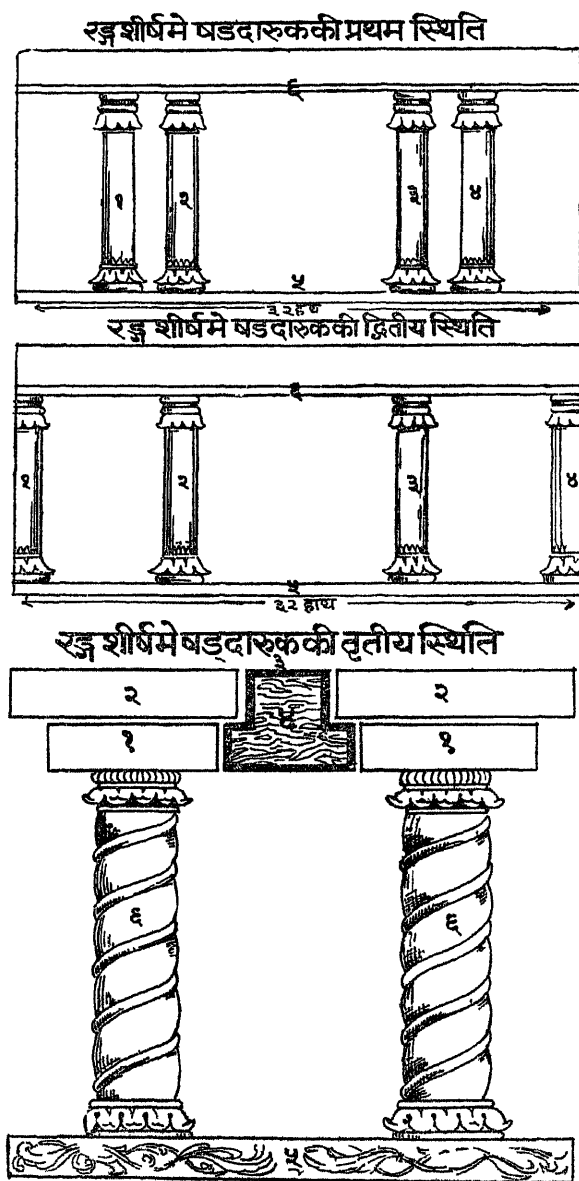
षडदारुककी प्रथम व्याख्या—

यहा अभिनवगुप्तने मूल कारिकामे आए हुए 'षट्दारुक' पदकी तीन व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। इन तीन प्रकारकी व्याख्याओके अनुसार 'षडदारुक' की तीन स्थितियोको प्रदर्शित करनेकेलिए हमने ऊपर तीन चित्र दिए हैं। उनमेंसे प्रथम चित्र पहिली व्याख्याके अनुसार बनाया गया है। इसका भाव यह है कि नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने उससे लगे हुए, अथवा रङ्गपीठ और रङ्गशीषकी

सीमापर पहिले काष्ठके सु दर चार खम्भे खडे किए जाय । ये चार काष्ठ हो जावेगे । उनके ऊपर तथा नीचेके दोनो काष्ठोको मिला कर कुल छः काष्ठ हो जाते हैं । ये काष्ठ बहुत सु दर कारीगरी से युक्त होने चाहिए । इस प्रकार रङ्गशीष षडदारुसमन्वित' हो जावेगा । ये चार खम्भे जिस तरह से खडे करने हैं उसपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहिले दो खम्भे एक दूसरे से आठ हाथ के अ तरपर खडे किए जावेगे। रङ्गशीषके इस भागकी लम्बाई ३२ हाथ है । इसमें यदि एक दूसरे से आठ हाथकी दूरीपर दो खम्भे खडे कि जावेगे तो वे दोनो ओरकी अ तिम दीवारसे १२ १२ हाथकी दूरी पर रहेगे । ३२ हाथ लम्बे स्थानमें दोनो ओरकी दीवरोसे बारह बारह हाथ की दूरीपर जो खम्भे खडे किए जावगे उनकी एक दूसरेसे आठ हाथकी दूरी रहेगी । अब दोनो ओरकी दीवारोसे बारह बारह हाथकी दूरी पर जो खम्भे खडे किए गए हैं उनके पास अपने अपने पास की दीवारोकी ओर चार चार हाथकी दूरीपर दो खम्भे और खडे किए जाय । ये दोनो खम्भे अपने समीपकी दीवारोसे आठ आठ हाथकी दूरीपर होगे । इन चारो खम्भोके ऊपर और नीचेकी ओर सरदल और देहरीके रूपमे दो सु दर लकडी लगाई जावेगी । चार खम्भे और उनके साथके सरदल तथा देहरी मिलाकर 'षड्दारुक' बन जाते हैं । इनको हमने प्रथम चित्रमे दिखलाया है । इस प्रकार रङ्गशीषमें दोनो किनारोपर और बीचमें कुल तीन द्वार तो आठ आठ हाथके भी और दो द्वार चार चार हाथके बन जाते हैं। जो उसके सौ दय को बढाने वाले होते हैं ।

षडदारुककी दूसरी व्याख्या—

'षड्दारुकम् पदकी दूसरी व्याख्यामें भी पहिली व्याख्याके समान ही चार स्तम्भ लगाए गए हैं कि तु उनकी स्थितिमें कुछ अ तर है। उसमें दोनो पाश्वों अर्थात् अगल बगलकी दोनो भित्तियो के सहारे दो स्तम्भसदृश भाग रहेग । इन पाश्वद्वयके बीचमे दो स्तम्भ बनेंगे । इन पाश्वद्वय स्तम्भद्वय और ऊपर नीचेके काष्ठोको मिला कर 'षडदारुक' होते हैं। यह दूसरे व्याख्याकारोका मत हैं। इस व्याख्याके अनुसार षड्दारुकका द्वितीय चित्र हमने ऊपर दिया है । चित्रोको देखने से प्रथम और द्वितीय व्याख्याके अ तगत षड्दारुक की स्थिति और उनका भेद स्पष्ट हो जाता है ।

षडदारुककी ततीय व्याख्या—

'षडदारुक' की तृतीय व्याख्या कुछ पारिभाषिक शब्दोके ऊपर आश्रित होने से तनिक क्लिष्ट हो गई है। इसमे १ ऊह, २ प्रत्यूह ३ नियू ह ४ सञ्जवन, ५ अनुब ध और ६ कुहर इन छ को षडदारुक' कहा है। ये छहो पारिभाषिक शब्द हैं इसलिए ग्र थकारको उनकी भी व्याख्या करनेकी आवश्यकता पडी है । इस व्याख्यामे दो खम्भोके बीचमे ऊह प्रत्यूह आदि रूप षड्दारुककी स्थिति रहती है । इन सब भागोको हमने सामने 'षडदारुक' की तृतीय स्थिति वाले चित्रमें दिखलाया है । खम्भेके सिरके ऊपर सबसे बाहर निकला हुआ पहिला काष्ठ खण्ड १ 'ऊह' कहलाता है । इसके ऊपर दूसरा काष्ठ खण्ड होता है जो उससे भी अधिक बाहर निकला रहता है इसको २ प्रत्यूह' या तुला' कहते हैं । तीसरा तुलासे बाहर दो खम्भोके बीच लगे हुए भिति सदृश तख्तोके चौखटेके समान जो होता है वह ३ नियू ह' कहलाता है । इस नियू ह रूप चौखटेके भीतर भितिके सदृश जो तख्ते लगाए जाते हैं उनको ४ 'सञ्जवनफलक कहते हैं । इन चारके अतिरिक्त ५ अनुबन्ध' और ६ 'कुहर ये दो भाग षड्दारुकके और शेष रह जाते हैं । इनमें 'अनुबन्ध' तो उसको कहते हैं जो खम्भोके ऊपर सिंह सप आदिके चित्र ऊपर उभरे हुए बने होते हैं। और ६ 'कुहर' उस प्रकारकी कारीगरीको कहते हैं जो खम्भोके ऊपर भीतरकी ओर गडढा करके खुदी होती है । यह छ प्रकारका जो दारुकम होता है उसीको यहा षडदारुक' कहा गया है । ये सब काय प्रत्येक दो स्तम्भोके बीचमे हो सकती है ।

पाठसमीक्षा—यहा 'षडदारुकम्' पदकी जो तीसरी व्याख्या दी गई है वह वास्तवमें तो आगे आने वाले ७४ ७५ श्लोकोकी व्याख्या है। इसलिए यह पाठ वहा होना चाहिए। यहा तो उसकी उपयोगिता गौणरूपसे ही मानी जा सकती है। वहाका पाठ होते हुए भी यहा उसकी सङ्गति लग जाती है और उसके अ तमे 'इति षडदारुकम् पद, प्रकृतमे उसकी उपयोगिताको सूचित करते हैं और 'सवत्र च पक्षे' यह जो उसके आगेका पाठ है उससे भी इसकी प्रकृतमे उपयोगिता प्रतीत होती है इसलिए हमने इस पाठ को यथा स्थान रहने दिया है। अ यथा यह पाठ वस्तुत उ ही ७४ ७६ श्लोकोकी व्याख्यामे जाना चाहिए था। अब भी उसको वहाँ दुबारा देना ही होगा क्योकि उसके बिना वहाँ उन श्लोकोका अथ नही बन सकता है। इसलिए हमने इस पाठको दोनो जगह स्थान दिया है ॥६८॥

प्रो० सुब्बारावके अनुसार षडदारुक—

जसी कि हम पहिले चर्चा कर चुके हैं प्रो० सुब्बारावने नाटयशास्त्रके आधारपर प्रेक्षागहका मानचित्र उपस्थित करनेका यत्न किया है। जिसमें उसके भिन्न भिन्न भागोको अपने विवेकके अनुसार नियत करनेका उ होने यत्न किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रयत्नमें उ होने मत्तवारणीका जो स्वरूप और स्थान निर्धारित किया है वे दोनो ही भरतमुनि तथा अभिनवगुप्तके लेखोके अनुसार सङ्गत नही होते हैं। इसलिए उनको उपादेय नही माना जा सकता है। यही स्थिति उनकी षडदारुकके विषयमें भी हुई है। रङ्गपीठके अगल बगलमें मत्तवारणीके बनानेके स्थानपर उ होने लकडीका एक एक चौखटा लगा दिया है। इस चौखटेके चारो ओरकी चारो लकडी और उनके कोनोको मिलाती हुई दो लकडिया ये सब मिल कर छ काष्ठ खण्ड हो जाते हैं। इनको ही श्री सु बाराव षडदारुक नामसे कहते हैं। उ होने 'षडदारुक' का जो चित्र दिया है वह निम्न प्रकार है।

श्री सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत

षड्दारुकका चित्र
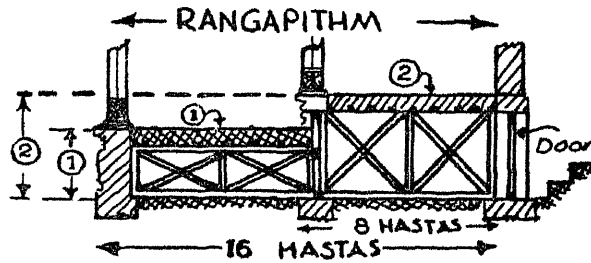
SECTION ACROSS रङ्गपीठ OF विकृष्ट

ऊपर हम अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'षडूदारुकम्' की तीन प्रकारकी व्याख्या और उनके अनुसार बने हुए चित्र देख चुके हैं। प्रो० सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत यह चौथा चित्र हम देख रहे हैं। इसको यदि पूव चित्रोके साथ तुलना की जाय तो नाट्य मण्डपके सौ दर्याधानमें इसकी उन तीनोके सामने कोई भी स्थिति नही है। यह सुब्बाराव महोदयकी केवल अपनी अत्य त हीन श्रेणीकी कल्पना है। भरत या अभिनवगुप्तके साथ उसका कोई सम्ब ध नही है। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत मान चित्र अभिनवगुप्तकी दृष्टिसे प्रमाणिक नही है।

भरत०—पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नत ।
[1]लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृणशर्करम्[2] ॥६९॥
लाङ्गले शुद्धवर्णौ[3] तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नत ।
कर्तार [4]पुरुषाश्चात्र [5]येऽङ्गदोषविवर्जिता ॥७०॥

शुद्धवर्णौ शुक्लौ । धुर्यौ दान्तौ ॥६९ ७१॥

[प्रक्षिप्त—[6]अहीनाङ्गैश्च बोढव्या मृत्तिका पीवरैर्नरै[7] ।
एवंविध प्रकर्तव्य रङ्गशीर्ष प्रयत्नत ॥७१॥]

भरत०—कूर्मपृष्ठ न कर्तव्य मत्स्यपृष्ठ तथैव च ।
शुद्धादर्शतलाकार रंगशीर्ष प्रशस्यते ॥७२॥

कूर्मपृष्ठमिति समन्ततो निम्न मध्ये च वर्तुलरूप मन्द, तादृगेव मध्ये दीर्घरूप मत्स्यपृष्ठ, तदुभय नात्र कार्यम । शुद्धादर्शसम दर्पणतुल्य कार्यम् ॥७२॥

रङ्गपीठको ऊचा करनेके लिए भरावकी व्यवस्था—

भरत०—[रङ्गपीठ रङ्गशीर्ष, तथा नेपथ्यगृह जिस भागमे बनते हैं उस भागको शेष भूमिभागसे डेढ़ हाथ ऊचा रखना चाहिए यह बात पहिले कही जा चुकी है । उसको ऊचा उठाने के लिए डेढ हाथका मिट्टीका भराव करना होगा उस] भराव करनेकेलिए प्रयत्न करके हलसे जोत कर इट पत्थर, घास फूस और धूलिसे रहित काली मिट्टी डालनी चाहिए ॥६९॥

भरत०—[जिस हलसे उस भूमिको जोता जाय उस] हलमे सफेद रगके बलवान दो बल जोडने चाहिए और उसको चलाने वाले ऐसे पुरुष होने चाहिए जिनमे किसी प्रकारका अङ्ग दोष न हो ।७०।

अभिनव०—'शुद्धवर्णौ' अर्थात् सफेद रगके । 'धुर्यौ' अर्थात् अत्यन्त बलवान् [बल हलमे जोतने चाहिए] ॥ ६९ ७० ॥

प्रक्षिप्त—अङ्गहीनता रहित और पुष्ट मनुष्योको मिट्टी ढोनेका काय करना चाहिए । इस प्रकारका रङ्गशीष प्रयत्न पूवक बनाना चाहिये ।७१।

रङ्गपीठका धरातल कसा हो—

भरत०—[रङ्गशीषका धरातल या फश] कछुएकी पीठ सा या मछलीकी पीठ सा नहीं बनाना चाहिये अपितु शुद्ध दपणके तलके समान एकसा समतल रङ्गशीष अच्छा समझा जाता है ।७२।

अभिनव०—कछुएकी पीठ सा अर्थात् चारो ओरसे नीचा और बीचमे थोडा-सा [मन्द] भाग उठा हुआ [कूम पष्ठ कहलाता है] और उसी प्रकारका [अर्थात् चारो ओर नीचा और] बीचमे [दीघरूप] लम्बाभाग उठा हुआ मत्स्य पृष्ठ होता है । वे दोनो प्रकारके तल इसमे नहीं बनाने चाहिए । शुद्ध दपणके समान समतल रखना चाहिए ॥ ७२ ॥

---

१ प लाङ्गले च । २ ठ शकराम् । म शकरा । ३ ज व शुद्धवर्णे ।
४ न पुरुषाश्चव । ठ म पुरुषास्तत्र । ५ च व शब्ददोषविवर्जिता ।
६ ठ अहीनाश्चव । ७ पिटकैनव

भरत०—रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्र विचक्षणै ।
वैदूर्य दक्षिणे पार्श्वे स्फटिक पश्चिमे तथा ।।७३।।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनक भवेत ।
एव रङ्गशिर कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ।।७४।।

रत्नानि तदायुध तद्वर्णानुरूपत्वेन यथायोगम । कृत्वेति पूव विभज्य बुद्धया इति यावत् ।।७३-७४।।

'दारुकम' इत्युक्त विभजति 'ऊह प्रत्यूह सयुक्त' इत्यादिना 'स्तम्भश्चाप्युपशोभितम्' इत्य तेन—

भरत०—ऊह-प्रत्यूहसयुक्त नानाशिल्पप्रयोजितम् ।
नानासञ्जवनोपेत बहुव्यालोपशोभितम् ।। ७५ ।।
'सुसालभञ्जिकाभिश्च समन्तात् समलकृतम ।
नियू ह-कुहरोपेत नानाग्रथितवेदिकम् ।। ७६ ।।

भरत०—और इस [के फश] मे रत्न लगाने चाहिए । पूवकी ओर हीरा, दक्षिण की ओर वदूय, तथा पश्चिमकी ओर स्फटिक [चतुर कारीगरोको लगाना चाहिए] ।७३।

भरत०—उत्तरकी ओर [प्रवाल] मू गा, तथा बीचमे सोनेका प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार रङ्गशीषको बना कर उसमे लकडीका काम कराना चाहिए ।७४।

अभिनव०—[रङ्गशीषकी भिन्न भिन्न दिशाओमे जो रत्नोका निर्देश किया गया है वह] उसके [अर्थात् उस दिशाके अधिष्ठातृ देवताके] आयुध अथवा उसके वर्णके अनुरूप होनेसे यथा योग्य किया गया हे । 'करके' इसका अभिप्राय यह है कि पहिले बुद्धिमे उसका विभाग सोच कर [तब दारुकम को प्रारम्भ करावे] ।

इस अनुच्छेदमे तदायुध तद्वर्ण शब्दोका प्रयोग आया है । पूव दिशाका देवता इन्द्र है । और वज्र इन्द्रका आयुध है । इसलिए पूव दिशामें वज्रका विनियोग तदायुधत्वेन' ही किया गया है । शेष रत्नोका विधान अधिष्ठातृ देवता के वर्णके आधारपर किया गया है ।।७३ ७४।।

रङ्गशीषकी काष्ठकला—

अभिनव०—'दारुकम प्रयोजयेत्' यह [जो पिछली कारिकामे] कहा था उसका 'ऊहप्रत्यूहसयुक्त' से लेकर 'स्तम्भश्चाप्युपशोभितम्' तक [चार श्लोकोमे विभाग अर्थात्] विस्तार दिखलाते है—

भरत०—ऊह प्रत्यूह [इनका व्याख्या टीकामे करेंगे] से युक्त, नाना प्रकारकी कारीगरी [शिल्प] से समन्वित, भित्तिके समान प्रतीत होने वाले अनेक [चित्रकारी युक्त] तख्तों [सञ्जवनो] से विभूषित, अनेक सप [आदि के चित्रों] से अलकृत [दारुकम करावे] ।७५।

भरत०—सब ओरसे सुन्दर पुतलियो [सुसालभञ्जिकभि] से अलकृत नियू ह [बाहर निकले हुए अर्थात् उभरे हुए चित्रों तथा] कुहर [अर्थात काष्ठ फलको भीतर खुदे हुये चित्रो] से युक्त नाना प्रकारकी वेदिकाओ के चित्रोंसे सुशोभित—।७६।

---

१ भवेयुश्चात्र विन्यस्ता विविधा सरलभञ्जिका ससालभञ्जिकाक्षि' । अवालभञ्जिकाय. ।

नानाविन्याससयुक्त　चित्रजालगवाक्षकम् ।
सुपीठधारणीयुक्त　कपोताली–समाकुलम् ।। ७७ ।।
नानाकुट्टिमविन्यस्तै　स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम ।
एव　काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म　प्रयोजयेत् ।। ७८ ।।

अत्रोहप्रत्यूहौ अन्वय व्यतिरेकौ तर्कोपयागिनौ केचिदाहु । अ ये तु, ऊह स्तम्भशिरसो दूरनिगत काष्ठम । प्रत्यूहस्ततो विनिगता तुला । निर्यू हास्तुलान्तान्निस्सृता फलकभित्तिमया । सञ्जवनफलका निर्यू हान्नि सृता आकाशे भित्तिव्याख्या । स्तम्भाश्रिता सिहादयो व्यालादयश्चनुबन्धा । कुहराणि पवतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि । सालभञ्जिका काष्ठमय्य कान्ता प्रतिकृतय । नानाकृतिभिग्रथिना वेदिकाश्चतुरश्रिका यत्र । चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि वतु लच्छिद्रात्मकानि यत्र । पीठानि स्तम्भोपरि, तेषु धारिण्यस्तुला । कपोताली विटङ्कपाली । कुट्टिमस्य नानात्व रङ्गशिरो रङ्गपीठ मत्तवारणीद्वयभदात । सवत्रैव तथाविध दारुकम् । रक्तसितनीलपीतादिभेदाद्वा ।

भरत० — नाना प्रकारकी शलियोसे बनाये गये विचित्र प्रकारकी जालियो तथा झरोखो से सजे हुए, सुन्दर पीठ [अर्थात खम्भोके ऊपरका भाग] और [उन पीठो के भी ऊपरकी] धारणियो से युक्त, तथा [चित्रमयी] कवतरोकी छतरी [या पक्ति] से भरी हुई—।७७।

भरत० — नाना प्रकारके फर्शोपर खडे किए खम्भों [के चित्रो] से सुशोभित [रङ्गशीषपर] दारुकम अर्थात लकडीके कायको करावे] । और इस प्रकार दारुकम [अर्थात लकडी के कायकी सजावट आदि] करानेके बाद भित्ति कम [अर्थात दीवालो की सजावट आदिका काय] करावे ।७८।

अभिनव०—यहा ऊह प्रत्यूहका अथ कुछ लोग तकमे उपयोगी अन्वय व्यतिरेक [ऊहापोह] करते है । अन्य लोग स्तम्भोके ऊपरी सिरेसे बाहर निकले हुए काष्ठको 'ऊह' और उससे भी बाहर निकली हुई तुलाको 'प्रत्यूह' कहते हैं । खम्भोके ऊपरकी [तुलाओके किनारेसे] आगे निकले हुए भित्ति रूप तख्ते 'निर्यू ह' [कहलाते] हैं । निर्यू हसे [भी आगे] आकाशमे भित्तिके सदृश निकले हुए तख्ते सञ्जवन [कहलाते] हैं । खम्भोपर बने हुए सिंह आदि और सप आदि अथवा हाथी आदि अनुवन्ध [पदसे अभिप्रेत] है । पवत नगरोके कुञ्ज तथा गह्वर आदि रूप कुहर [कहलाते] है । सालभञ्जिका अर्थात् काष्ठकी बनी हुई सुन्दर मूर्तिया [पुतलिया] । नाना प्रकारके आकारोमे बनाई गई वेदिकाए अर्थात् चबूतरे । विचित्र अर्थात् नानाप्रकारके चौकोर या अठकोने छिद्रो वाली जालियां, और गोल छिद्रो वाले झरोखे जिसमे हो । सुन्दर पीठ अर्थात् खम्भो के ऊपरकी ठेवी, उनके ऊपरकी धारणी अर्थात् तुलाए । कपोताली अर्थात् कबूतरोके बैठनेकी छतरी । [कुट्टिम अर्थात] फशका नानाविधित्व रङ्गशीष, रङ्गपीठ तथा दो मत्तवारणियोके भेदसे होता हे । सब जगह उसी [फशके] अनुसार लकडी लगानी चाहिए । अथवा लाल सफेद नील पीत आदि भेदसे [फशका] नानात्व समझना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—७५ ७८ तककी चार कारिकए 'दारुकम अर्थात् रङ्गशीषके ऊपरकी जानेवाली लडकीकी कारीगरीके विषयमें लिखी गई है। अत उन चारोको मिला कर ही अभिनव गुप्तने उनकी व्यारया लिखी है। पर तु पूव सस्करणोमे इस स्थलका पाठ बडे अस्त व्यस्त ढगसे मुद्रित हुआ है उससे इन कारिकाओकी व्याख्या ठीक नही बनती है। पूव सस्करणोमें मुद्रित पाठ इस प्रकार है—

'दारुकर्मेत्युक्त विभजति—ऊहप्रत्यूहसयुक्तामित्यादिना स्तम्भैश्चाप्युपशोभितमित्यन्तेन। अनेकसालभञ्जिका काष्ठमभ्य का ता प्रकृतय। नानाकृतिभिग्र थिता वेदिकाश्चतुरश्रिका यत्र। चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि च वतु लच्छिद्रात्मकानि यत्र। पीठानि स्तभ्योपरि। तेषु धारिण्यस्तुला। कपोताली विटकपाली कुट्टिमस्य नानात्व रङ्गशिरोरङ्गपीठमत्त वारणीद्वयभेदात्। सवत्र तथाविधिदारुकम्। रक्तसितनीलपीतादि भेदाद्वा। अत्रोह प्रत्यूहाव वय व्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदाहु।

इस पाठमे कारिकाओके प्रमुख ऊह प्रत्यूह नियूह सञ्जवन कुहर आदि शव्दोकी कोई व्यारया नहीं दी गई है। व्यारयाका आरम्भ सालभाञ्जिकाके अथसे किया गया है। ऊह प्रत्यूह आदि शव्दोकी व्यारया यहा न देनेका कारण जसा कि इस अनुच्छेदके पाठके विषयमें हम पहिले लिख चुके ह यह हो सकता है कि इसका लगभग आधा भाग पहिले ६८वी कारिकामे आए हुए 'षडदारुकम' पदकी व्यारयाके रूपमें दिया जा चुका है। इसी कारण पूव सस्करणोमें उस भाग को यहा मुद्रित नही किया था। परन्तु यह उचित नही है। वे सब शब्द इन कारिकाओके मुरय शब्द ह। यहा उनकी व्याख्या अवश्य होनी चाहिए। ६८वी कारिकामे तो केवल प्रसङ्गत, उनको उद्धत किया गया था। वह मुरय रूपसे यहाका ही भाग है इसलिए यहा उस पाठको अवश्य देना चाहिए। अ यथा इन कारिकाओका कोई अथ स्पष्ट नही हो सकेगा। अत हमने उस पाठको यहा भी दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी बात यह है कि ७५वी कारिकामें आए हुए ऊह प्रत्यूह शब्दोकी दो प्रकारकी व्यारया की गई है। कुछ लोग ऊह प्रत्यूह शब्दसे तकके उपयोगी अ वय व्यतिरेक का ग्रहण करते हैं और दूसरे लोग खम्भोके ऊपर निकले भागोका ग्रहण इन शब्दोसे करते हैं। इन दानोका इकट्ठा निर्देश यहा सबसे पहिले ७५वी कारिकाकी व्यारयाके अवसरपर होना चाहिए था। पर तु पूव सस्करणोमें जिस रूपमे पाठ मुद्रित किया गया है उसमे इन दोनोमेंसे कोई भी भाग इस स्थानपर नही रखा गया है। 'अ ये तु उह स्तम्भशिरसो दूरनिगत काष्ठ' आदि एक भाग ६८वी कारिकाकी व्यारयामे डाल दिया गया है। और 'अत्रोहप्रत्यूहाव वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ केचिदाहुहु इस दूसरे अशको ७८वी कारिकाकी व्यारयामें सबसे अ तमे डाल दिया गया है। ये दोनो बाते ठीक नही हुई हैं। उन दोनो पाठोको व्यारयाके आरम्भमे साथ साथ रखना उचित था। और 'अत्रोपप्रत्यूहाव वयव्तिरेकौ तर्कोपयोगिनौ केचिदाहु' इस भागको पहले तथा 'अ ये तु आदिको बादमे रखना चाहिए था। अत हमने इसी क्रमसे पाठको प्रस्तुत किया है। जो लोग ऊह प्रत्यूहका तर्कोपयोगी अ वय व्यतिरेक अथ करते ह उनका आशय यह है कि दारुकम करते समय तकसे सब बातोके औचित्यका विचार करलें। यो तो इन भागोको जहा पूव सस्करण मे छापा गया है वहा भी उनकी सङ्गति लग जाती है। परन्तु यदि उन दोनो भागोको यहा नही रखा जाता है तो इन श्लोकोंका अथ पूरा नही होता है। अत एव हमने उन दोनो पाठो को यहा उचित रूपसे एक साथ स्थान देकर अथको सुसङ्गत करनेका यत्न किया है।

भरत०—स्तम्भ वा नागदन्त वा वातायनमथापि वा ।
[1]कोण वा सप्रतिद्वार द्वारविद्ध[2] न कारयेत् ।। ७९ ।।

प्रतिद्वारमवान्तरद्वारम । द्वारेण विद्ध परस्परसम्मुखीभूतमध्य न कुर्यात् । नागदन्त [3]स्तम्भोध्वस्थ शकुक पुत्रिकाधारणार्थम, गजमुखमिति केचित ।।७९।।

पाठसमीक्षा—इनके अतिरिक्त पूव सस्करणोके पाठमे कुछ और भी छोटी छोटी त्रुटिया इस स्थल पर रह गई है । अत्रोहप्रत्यूहाव वव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमे 'अ वयव्यतिरेकौ तर्कापयोगिनौ' पाठ होना चाहिए । इसी प्रकार का ताप्रकृतय ' के स्थान पर का ता प्रतिकृतय पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

यहा भरतमुनिने प्रक्षागहके निर्माणमे षडदारुक' की स्थापना या दारुकमके प्रयोगपर बडा बल दिया हे । उनसे भी अधिक बल अभिनवगुप्तने इस कायपर दिया है । इसका कारण यह है कि काष्ठ कमके बिना महत्त्वपूण भवनोके यथाथ सौ दयकी अभि यक्ति नही हो पाती है । बडे बडे भवनोमे केवल दरवाजे और खिडकियोके किवाडोके लिए ही नही अपितु पक्की भित्तियो के सहारे भी भीतरकी ओर काष्ठ खण्डोका प्रयोग किया जाता है । उनके प्रयोगसे भवनोका सौ दय बहुत अधिक बढ जाता है । आधुनिक ससद भवनमे, राष्ट्रपति भवन आदि मे भी दीवारोके सहारे काष्ठके खम्भो और दीवारोके रूपमे लगे हुए काष्ठके तख्तोका बहुत प्रयोग किया जाता है । यह सब केवल भवनोके सौ दर्याधानके लिए ही किया जाता है । इसी प्रकार यहा भरतमुनिने प्रेक्षागहोके निर्माणमे सौ दय लानेके लिए दारुकमका विधान किया है । और यह षड्दारुकका वि यास भी उसी दृष्टिसे किया गया है । इस प्रकारकी दारुकम या षडदारुक की व्यवस्थासे प्रक्षागहाका सौ दय निश्चित रूपसे ही द्विगुणित हो जाता होगा । प्लास्टर की हुई दीवारोमें भी उतना सौ दय नही आ सकता है जितना कि उनके साथ दारुकमका प्रयोग होने पर आ सकता है ।।७५ ७८।।

काष्ठविधिका वणन समाप्त करते हुए पिछली कारिकाके अ तमे ही 'भित्तिकम प्रयोजयेत्' लिखकर भरतमुनिने अगले भित्तिकमका निर्देश किया है। उसीको कहत ह—

भरत०—[भित्तिकममे यह ध्यान रखे कि—] स्तम्भ या खू टी अथवा झरोखा या कोना अथवा अवान्तर द्वार किसीको द्वारके सामने [द्वारविद्ध] न बनाना चाहिए ।७९।

अभिनव०—प्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वारको द्वारविद्ध न करे अर्थात् दोनो द्वारोका मध्य भाग एक दूसरेके सम्मुख न होना चाहिए । नागदन्तका अथ खम्भेके ऊपरकी खू टी है । जो पुतली [चित्रादि] के लगानेके लिए लगाई जाती है । कोई उसको गजमुख कहते हे ।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि आजकल जो मकान बनाए जाते हैं उनमें खिडकिया, या खिड़की और दरवाजे या वातायन सदा आमने सामने रखे जाते हैं जिससे वायुका आवागमन आर पार हो सके । परन्तु यहा नाटच भवनमें अधिक वायुके आवागमनसे कायमे वाधा उपस्थित होनेके कारण दरवाजेके सामने दरवाजा या खिडकीके सामने खिडकी आदिके बनानेका निषेध किया गया है । इसी कारण अगली ८१वी कारिकामें म दवातायनोपेत' विशेषण का प्रयोग किया गया है ।।७९।।

---

१ काष्णायिस प्रति । २ ठ म दारुविद्धम् । ३ स्तम्भोध्वनीयस्थाशक [नीडस्थाङ्कुकम् ।

भरत०——काय शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाटचमण्डप ।
मन्दवातायनोपेतो [1]निर्वातो [2]धीरशब्दवान् ॥८०॥

द्वे भूमी रङ्गपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेति केचित् । मत्तवारणीबहिर्निगमन-प्रमाणेन सवतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन [3]देवप्रसादाट्टालिका प्रदक्षिणसशी द्वितीया भूमि-रित्यन्ये । उपरि मण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे । अद्विभूमिरित्येके । उपाध्यायास्तु वीप्सागभ व्याचक्षते । द्वे द्व भूमी [4]निम्ना, उन्नता, ततोऽप्युन्नता इति [5]निम्नोन्नतक्रमेण यत्र । रङ्गपीठनिकटात् प्रभति द्वारपयन्त यावद्रङ्गपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति । एव हि परस्परानाच्छादन सामाजिकानाम, शैलगुहाकारत्व, स्थिरशब्दादित्व च भवति । म दत्व वातायनाना [6]जालकादियोगात् कायम् ॥८०॥

नाटचमण्डपकी रचनाका प्रकार—

भरत०—पवतकी गुफाके समान दो प्रकारकी [अर्थात पहिले नीची और फिर क्रमश ऊची होती हुई] भूमिसे युक्त [अथवा दो मजिला, अथवा बठनेकेलिए मुख्य मण्डपके चारो ओर ब द बरामदासे युक्त] हलकी हवा पहुचानेवाले वातायनोसे समन्वित, [तेज] वायुसे रहित, तथा गम्भीर शब्द करनेवाला नाटच मण्डप बनाना चाहिए ॥८०॥

अभिनव०—[द्विभूमि शब्दका तीन प्रकारका अथ हो सकता है उसे क्रमश कहते है] (१) दो भूमि अर्थात् रङ्गपीठके नीचे तथा ऊपरकी [भूमिसे युक्त] यह कोई [व्याख्याकार] कहते है। (२) मत्तवारणी जितनी मण्डपसे बाहर निकली हो उसीके बराबर दूसरी भित्ति बनाकर देवमन्दिरकी अट्टालिकाके चारो ओरकी परिक्रमा मागके समान दूसरी भूमि [से युक्त] यह अन्य लोग कहते हैं। (३) [मण्डपके] ऊपर दूसरी मजिलके बनानेसे [द्विभूमि नाट्य मण्डप बनाना चाहिए] यह तीसरे [व्याख्याकारो] का मत है। कुछ [चौथे व्याख्याकार द्विभूमिके बजाय यहा] अद्विभूमि [एक सी भूमिसे युक्त हो अथवा एक ही मजिलका हो] इस प्रकार कहते हैं [अर्थात् शैलगुहाकारो अद्विभूमि इस प्रकारका पदच्छेद करते है]। हमारे [अर्थात् अभिनव गुप्तके] उपाध्याय [अर्थात् गुरु भट्टतोत] तो [द्विभूमि पदकी] वीप्सा गर्भ व्याख्या करते है। [वीप्सा गभका अभिप्राय यह हे कि वीप्सा अथमे द्वित्व हो जाता है इसलिए यहा] दो दो प्रकारकी भूमि जिसमे हो अर्थात् क्रमसे नीची, फिर ऊची, फिर उससे भी ऊची, इस प्रकार रङ्गपीठके पाससे लगाकर द्वार तक रङ्गपीठके समान ऊचाई [अन्तमे] हो जाय। इस प्रकार बठनेकी ऐसी व्यवस्था करनेसे (१) प्रेक्षकोको एक-दूसरीकी आड नही पडती है (२) पवत गुफाके समान आकार भी बन जाता है और (३) स्थिर शब्द आदि भी बन जाता है। वातायनोकी मन्दता [उनमे] जाली आदिके [बनाने] के द्वारा करनी चाहिए ॥ ८० ॥

---

१ ठ म त निवातो । २ ठ म त धीर शब्दभाक् ।
३ म भ देवप्रसादाद्धा [ट्टा] रिका । ४ म निम्नाते ।
५ म भ निक्रमेण । ६ म, भ जालकपान । जालकवात ।

अभिनवगुप्तके अनुसार

द्विभूमियुक्त विकृष्ट मण्डप
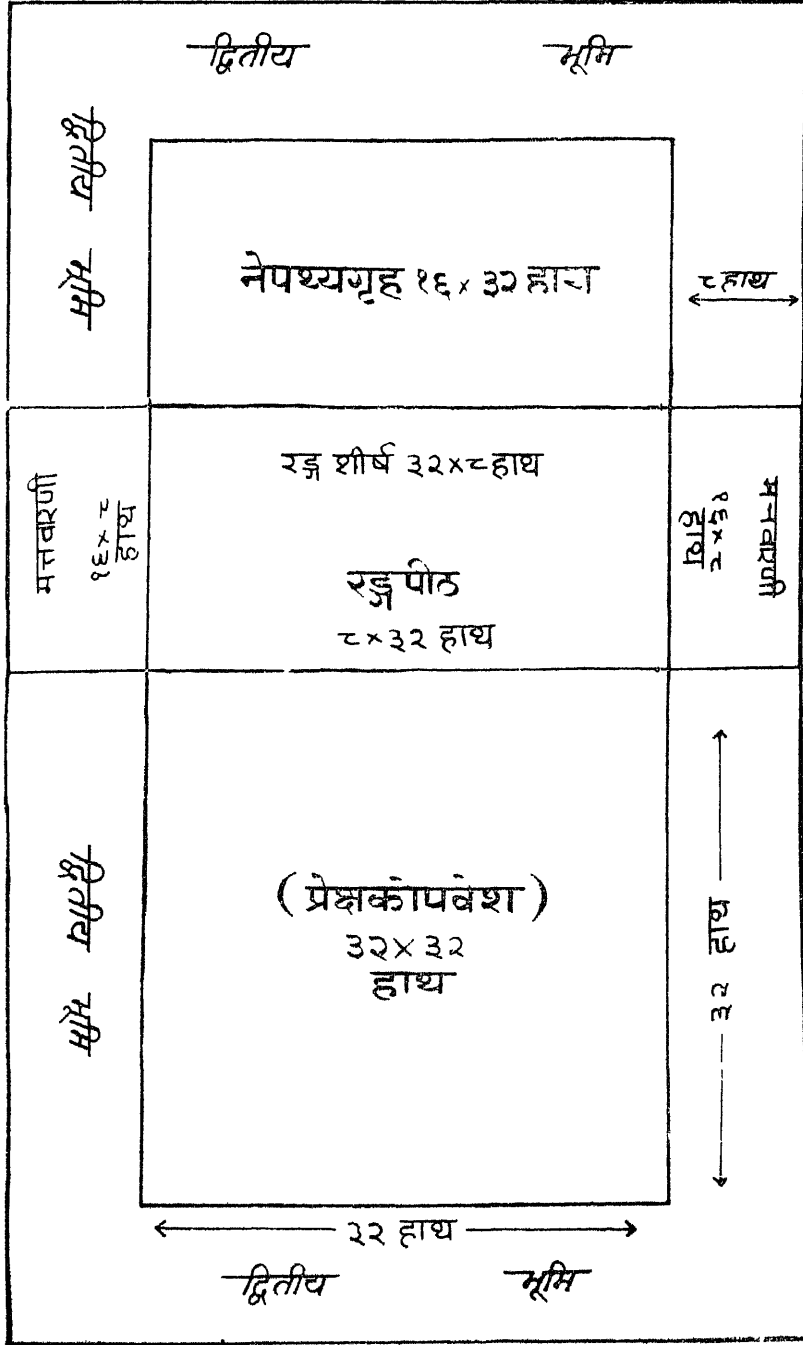
श्री सुब्बाराव महोदय द्वारा प्रस्तुत
नाट्य-मण्डपके चित्र
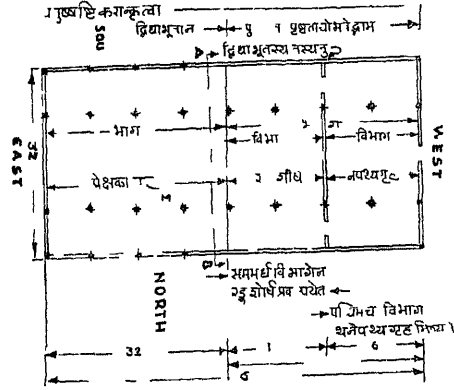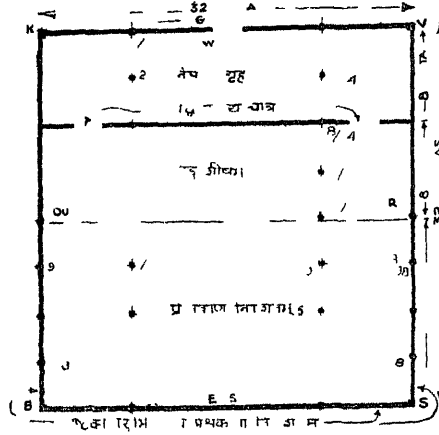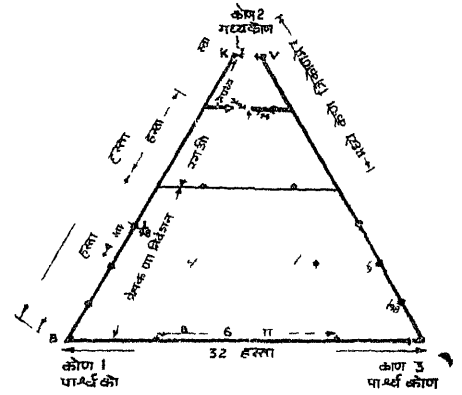
चतुरस्र-मण्डपका आभ्यन्तर दृश्य
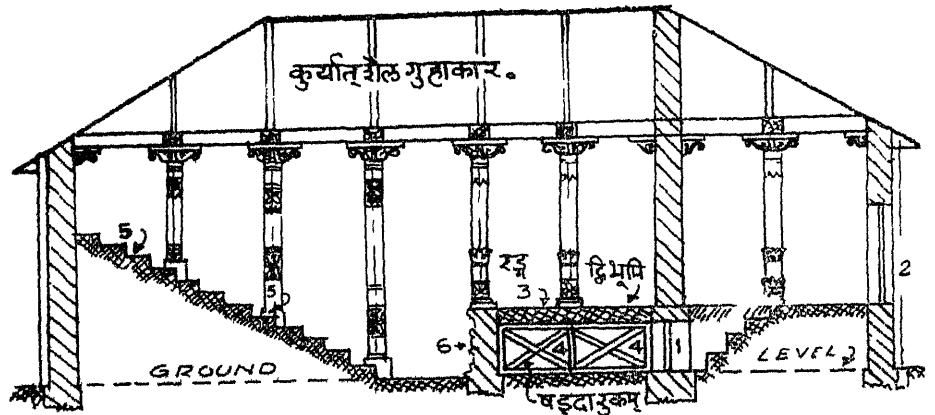
भरत०—तस्मान्निवात कतव्य कतृ भिर्नाट्यमण्डप ।
[1]गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य भविष्यति[2] ॥ ८१ ॥

[3]कुतुप सफेटक गायकवादकसमूह । कु नाट्यभूमि, ता तपति उज्ज्वलयतीति कृत्वा । कुत शब्द पातीत्य ते । गम्भीरत्व तत्रव शब्दस्य भ्रमणादन्योन्यप्रतिश्रुतिकार-समारम्भपूणत्वाच्च[4] ॥८१॥

भरत०—भित्तिकर्मविधि कृत्वा भित्तिलेप प्रदापयेत ।
सुधाकर्म [5]बहिस्तस्य विधातव्य प्रयत्नत ॥८२॥

भित्तिलेपो भग्नशङ्खबालुकाशुक्तिकालेप ।

भरत०—[6]भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सवत [7] ।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत ॥८३॥

निवति मण्डप—

भरत०—इसलिए कारिगरोको [अथवा बनवाने वालोको] नाटच मण्डप निवात [अर्थात जिसमे अधिक वायुका प्रवेश न हो सके इस प्रकारका] बनाना चाहिए जिससे उसमे कतुपों [अर्थात सम्भाषण करनेवालो तथा गायक वादको] के स्वरकी गम्भीरता बन सके । ८१ ।

अभिनव०—'कुतुप' का अथ सम्भाषण करने वालो तथा गायक एव वादकोका समूह है । [कुतुप शब्दसे सम्भाषक गायक तथा वादकोको ग्रहण क्यो होता है इसके स्पष्टीकरणके लिए 'कुतुप शब्दका अवयवाथ दिखलाते है कि—] 'कु' अर्थात नाट्य भूमिको 'तपति' अर्थात उज्ज्वल—शोभायमान—करता है [अर्थात् सम्भाषक गायक वादक आदिके द्वारा ही नाट्यभूमिकी शोभा होती हे इसलिए वे सब मिलकर 'कुतुप' कहलाते हे] । दूसरे व्याख्याकार [कुतप शब्दकी उत्पत्ति इस प्रकार करते है कि] 'कुत' अर्थात् शब्दकी 'पाति' रक्षा करता हे । [इसलिए नाट्यमण्डप स्वय अथवा सभाषक 'कुतुप' का समूह कहलाते है] यह [कुतुप शब्दका अथ है] कहते है । शब्दकी गम्भीरता उसी [नाट्य मण्डप] के भीतर घूमनेके कारण, एक दूसरेकी प्रतिध्वनिको उत्पन्न करनेसे [मण्डपके] भर जानेके कारण [पूणत्वात] होती है ।

दीवारो पर प्लास्टर तथा सफेदी—

भरत०—भित्ति रचनाका विधिको समाप्त करके भित्तियोपर भित्ति लेप [अर्थात प्लास्टर] करवावे । और उस [मण्डप] के बाहरकी ओर सफेदी सावधानीसे करावे ॥८२॥

अभिनव०—भित्तिलेप [अर्थात्] पिसे हुए शङ्ख बालू तथा शुक्तिका पलस्तर [करावे] ॥८२॥

भरत०—भित्तियोपर पलस्तर हो जाने और उनकी घुटाई हो जानेके बाद उनके दक दम चिकनी [समासु] और चमकदार [जातशोभासु] हो जाने पर उनपर चित्र रचना करवावे ॥८३॥

---

१ ज न गाम्भीय सुस्वरत्व च । न सगम्भीर्यादवस्वयम । २ ठ म भवेदिह । ३ म भ कराप्त । ४ समारम्भसम्पूर्णाच । ५ ठ विधिस्तस्य । ठ म तथवास्य कुर्याद्वाह्यम । ६ ठ म भित्तिष्वपि च लिप्तासु । न भित्तिकमसु लिप्तासु । ७ परिवृत्तासु सवश

[1]चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषा स्त्रीजनास्तथा ।
[2]लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरित चात्मभोगजम् ॥८४॥

लताबन्धा [3]द्रमिडाभिनयसन्निवेशा वा, मालत्यादिलतागता वातोद्यवेष्टनवचित्र्य-प्रकारा वा, वक्ष्यमाणपिण्डीबन्धप्रकारविशेषाश्च ॥८३ ८४॥

एतदुपसहरति एव विकृष्टमिति—

भरत०—एव विकृष्ट कर्तव्य नाटचवेश्म प्रयोक्तृभि ।
[4]पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ॥ ८५ ॥

यद्यपि समचतुरश्रोऽत्र एव शक्य ऊहितु तथापि विस्पष्टार्थ वक्ष्यामीत्याशयेन पुन शब्देनोपक्रमते पुनरेवेति । ननु विकृष्टे स्तम्भविभागरङ्गयोजनादि नोक्त, तत कथ

भरत०—और चित्र रचनामे पुरुषो एव स्त्रियोके चित्र बनवावे और [कामशास्त्रमे वर्णित द्रमिड अभिनयकी रचना विशेष रूप] लताब ध, तथा अपने भोग विलास [की रुचि] के अनुसार चरित्रोका चित्रण करवावे ॥८४॥

अभिनव०—लताबन्ध अर्थात् [कामशास्त्रोक्त] द्रमिड अभिनयके सन्निवेश, अथवा मालती आदिकी लताओके वायुसे हिलनेपर वृक्षोमे लिपटनेके प्रकार, अथवा आगे कहे जाने वाले [जाघो एव] पिडलियोके लपेटनेके प्रकार-विशेष [लताबन्ध कहलाते] है उनको भित्तियोपर चित्रित करवावे] ॥८४॥

२४वे श्लोकसे लेकर इस ८४व श्लोक तक ६० श्लोकोमे ग्रन्थकारने विकृष्ट अर्थात् आयताकार नाटच मण्डपकी रचनाका बहुत विस्तारकेसाथ वर्णन किया है। इसमे पहिले रङ्ग मण्डपकी वाह्य रूप रेखा दी है। जिसमे प्रेक्षागृहकी ६४ हाथ लम्बाईका आधा भाग ३२ हाथ प्रेक्षकोके बठनकेलिए छोड कर शेष आधेको नेपथ्यगृह रङ्गशीष तथा रङ्गपीठ इन तीन भागोमें विभक्त किया है। फिर रगशीषके षडदारुकत्व' का निरूपण किया उसके बाद मत्तवारणीके निर्माणकी चर्चा की है। फिर उसके दारुकम भित्तिकम चित्र कम और द्विभूमिकत्व आदिका वर्णन किया है। अभी इसमे छतको रोकने के लिए जो खम्भे लगने हैं उनका वर्णन नही आया है। उसे आगे चतुरस्र मण्डपके विधानमें कहेगे। उनका सम्ब ध यहा भी हो जावेगा। अगले श्लोकमें विकृष्ट मण्डपकी रचनाका उपसहार और चतुरस्र मण्डपकी अवतरणिका करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—'एव विकृष्ट' इत्यादि [अगले श्लोक] से इस [अर्थात् विकृष्ट आयताकार प्रेक्षागृहकी रचनाके विषय] का उपसहार करते है—

भरत०—प्रयोग करनेवालोको विकृष्ट [अर्थात आयताकार] नाटच मण्डपकी रचना इस प्रकारसे [जो प्रकार कि ऊपर दिखलाया गया है] करनी चाहिए। अब आगे चतुरश्र [अर्थात् चौकोर वर्गाकार नाटच मण्डप] का लक्षण कहेगे ॥८५॥

अभिनव०—यद्यपि इस [विकृष्ट-मण्डपकी रचना] से ही समचतुरस्र [अर्थात् वर्गाकार मण्डपकी रचना] का भी अनुमान किया जा सकता है फिर भी उसको स्पष्ट

१ च चित्रकर्माणि। २ त लतावद्धाश्च। ३ व द्रुभलतादिव ध सन्निवेशा वा।
४ ठ म त अत परम।

प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कायां आवृत्यानेनैवोत्तरम। चतुरश्रसम्बन्धि यल्लक्षण तत्पुनयस्मा-द्वक्ष्यामो यदस्य[1] विकृष्टस्य सम्बधित्वेन, तस्मान्नापूर्ण विकृष्टलक्षणम्। तथा यदस्य लक्षणमुक्त तच्चतुरश्रेऽपि सञ्चारणीयमिति पुन-शब्देन दर्शयति। तेन अतिदेश अनागतापेक्षणाख्य दोष तत्र परिहरति[2] ॥ ८५ ॥

चतुरश्रमाह—

भरत०—[3]समन्ततश्च कर्तव्यो हस्ता द्वात्रिंशदेव हि।
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डप ॥ ८६ ॥

समन्तत इति सर्वेष्वन्तेषु चतसृष्वपि दिक्षिवत्यर्थ ॥ ८६ ॥

करनेके लिए 'दुबारा कहूगा' इस अभिप्रायसे 'पुनरेव' [हि वक्ष्यामि] इस 'पुन' शब्दसे [चतुरस्र मण्डपके निर्णयका] प्रारम्भ करते है। [यहा यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि] विकृष्ट [की रचनाके प्रसग] मे [छतको रोकनेके लिए जिन खम्भोके बनाने की आवश्यकता है उन] खम्भोके विभागको और रगयोजना [अर्थात बैठनेकेलिए आसनादिकी व्यवस्था] को भी यहा नही कहा उनको कसे समझा जायगा? इस प्रकारकी शङ्का होनेपर इसी ['पुनरेव हि वक्ष्यामि'] की आवृत्ति द्वारा [उसका] उत्तर भी कहा गया है। [इसका आशय यह है कि] चतुरस्र [मण्डप] सम्बन्धी जो लक्षण उसको फिर इस विकृष्ट [मडप] के सम्बन्धी रूपमे कहेगे [अर्थात चतुरस मडपके विषयमे जो स्तम्भ विभाग तथा आसन व्यवस्था कही जायगी उसे विकृष्ट मडपमे भी लागू कर लेना चाहिए]। इसलिए विकृष्टका लक्षण अपूर्ण नही रहता है। और इस [विकृष्ट मण्डप] का जो लक्षण है उसे चतुरस्रमे भी लागू करना चाहिए यह बात भी पुन शब्दसे दिखलाई है। इसके द्वारा चतुरस्रके लक्षणको विकृष्टमे तथा विकृष्टके लक्षणको चतुरस्रमे भी लागू कर लेना चाहिए इस बातके 'पुन' शब्द द्वारा स्पष्ट रूपसे कह देनेके कारण] उसमे अतिदेश [अर्थात् अन्य-के धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध करना] तथा अनागतापेक्षण [अर्थात् आगे आने वाले चतुरस्रके लक्षणसे स्तम्भ विभाग तथा आसन व्यवस्थाके प्रथम कथित विकृष्टमण्डपमे ग्रहण करने] के दोषोका उसमे [अर्थात् विकृष्ट मण्डपके लक्षणमे] परिहार हो जाता है ॥८५॥

वर्गाकार चतुरस्र नाट्य मण्डप—

अभिनव०—चौकोर [वर्गाकार मण्डप] को 'समन्तत' इत्यादि [अगले श्लोको] से कहते है—

भरत०—नाट्यके जाननेवालोको पवित्र भूमि खण्डमे [स्थित] चारों ओरसे ही बत्तीस हाथका [चतुरस्र वर्गाकार] नाट्य मण्डप बनाना चाहिए ॥८६॥

अभिनव०—'समन्तत' सब ओर अर्थात चारो ही दिशाओमे [बत्तीस बत्तीस हाथका वर्गाकार चौकोर नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए] यह अभिप्राय है ॥ ८६ ॥

---

१ म भ घदस्य। पदस्य। २ म भ तत्र पुराति [योत्रपति]।
३ ठ म त समन्ततस्तु कर्तव्यो हस्तो।

[प्रक्षिप्त—यो विधि पूर्वमुक्तस्तु लक्षण [1]मङ्गलानि च ।
[2]विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ॥ ८७ ॥]

भरत०—चतुरश्र सम कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ।
वाह्यत सर्वत कार्या भित्ति [3]श्लिष्टेष्टका दृढा ॥ ८८ ॥

प्रविभज्य चेति पूर्ववदेवेत्यर्थ ॥ ८८ ॥

प्रक्षिप्त श्लोक—इस श्लोकके बाद मूल नाटचशास्त्रमे यो विधि इत्यादि एक श्लोक और पाया जाता है—पर तु इसपर अभिनवगुप्तने कोई व्याख्या नही लिखी है । इसलिए यह श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा मान कर हमने उसको यहा कोष्ठमें दिया है । उसका अर्थ निम्न प्रकार है ।

[प्रक्षिप्त०—जो विधान, लक्षण, और मगल आदि पहिले विकृष्ट [नाटच मण्डपके प्रकरण] में कहे जा चुके हैं उन सबको [उसी प्रकार से] चतुरस्र [नाटच मण्डपके बनाते समय] मे भी करवाए ॥८७॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि विकृष्ट मण्डपकी रचनामे जो जो बाते कही जा चुकी है उनको चतुरस्र मण्डपकी रचना भी समझ लेना चाहिए । उनके यहा दोहराए जानेकी आवश्यकता नही है । जो बाते वहा छोड दी थी उनको यहा चतुरस्र मण्डपके प्रकरणमें लिखेगे । वे छूटी हुई बाते मुख्यत दो हैं । एक स्तम्भविधि और दूसरी आसनविधि । स्तम्भविधिका अभिप्राय यह है कि नाटच मण्डपकी छतको रोकनकेलिए मण्डपके भीतर खम्भे खडे करनेकी व्यवस्था करनी होगी । खम्भे खडे करनेका सामा य विधान और चारो कोनेपर खडे किए जाने वाले ब्राह्मण स्तम्भ आदि चार स्तम्भोका वर्णन तो विकृष्ट मण्डपकी रचनामे भी हो चुका है । कि तु यहाँ छतके रोकनेकी दृष्टिसे मण्डपके भीतर कहा कहापर और कितने खम्भे लगाने चाहिए इस बातका विस्तार पूर्वक वर्णन करगे । इसका वर्णन पहिले नही किया गया है । इसी प्रकार 'आसन विधि' अर्थात मण्डपके भीतर प्रेक्षकोके बैठनेकी व्यवस्था किस प्रकार की जाय इसका भी वर्णन पहिले नही हुआ है । उसे भी यहा कहेगे । ये दो बातें चतुरस्र मण्डप के प्रसङ्गमें विशेष रूपसे कहनी है । वे विकृष्ट मण्डपके प्रकरणमे नही कही गई है । इसलिए उनको विकृष्ट मण्डपमें भी उचित रूपसे जोड लेना चाहिए । जितनो प्रक्रिया विकृष्ट मण्डपके प्रसङ्गमें लिखी जा चुकी है उसे यहाँ दुबारा नही लिखेगे । विकृष्ट मण्डपके अनुसार ही चतुरस्र मण्डपमें उसको समझ लेना चाहिए ।

भरत०—चतुरस्र [क्षेत्र] को बराबर करके और फीते [सूत्र] से [चारो ओर ३२×३२ हाथ बराबर बराबर प्रविभज्य] नाप कर उसके बाहरकी ओर चारो ओर [विकृष्टके विधानके अनुसार] पक्की इटोकी मजबूत दीवार बनवा दे ॥८८॥

अभिनव०—'प्रविभज्य च' अर्थात् पहिलेके समान [३२×३२ हाथ नाप कर पक्की दीवार बनवा दे] यह अभिप्राय है ॥ ८८ ॥

चतुरस्र मण्डपमे स्तम्भ व्यवस्था—

अब चतुरस्र मण्डपमे कहाँ कहाँ और कितने खम्भे खडे करने चाहिए इस बातको आगे दिखलावेगे । खम्भोकी यह व्यवस्था भरतमुनिने तीन बारमे की है । पहिली बारमें दश खम्भोका विधान ९८वे श्लोकमे किया है । उसके बाद छ स्तम्भोका विधान ९३वे श्लोकमें और आठ स्तम्भोका विधान ९३वे श्लोकमें किया है । इस प्रकार १०+६+८=२४ चौबीस स्तम्भ

---

१ ठ मण्डपानि च । म मण्डयानि च । २ ठ म व चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाटचवेश्मन ।
३ क श्लिष्टष्टकादय ।

यदि वाह्यतो भित्तिरभ्यन्तरे किमित्याह तत्राभ्यन्तर इति—

भरत०—[1]तत्राभ्यन्तरत कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता ।
दश प्रयोक्तृभि स्तम्भा [2]शस्ता मण्डपधारणे ।। ८६ ।।

चतुरस्र मण्डपके भीतर लगते हैं। इसके पहिले मण्डपके बाहरी कोनोपर ब्राह्मण आदि स्तम्भोके नामसे चार स्तम्भोका विधान विस्तार पूवक किया जा चुका है। उनको मिला कर इन स्तम्भो की सख्या २८ हो जाती है। इनमेंसे मडपके भीतर लगने वाले २४ स्तम्भोको मण्डपके भीतर कहा कहा और किस प्रकार लगाया जाय इसके विषयमे प्राचीन टीकाकारोके अनेक मत पाए जाते हैं। इनमेसे (१) शङ्कुक (२) अय' भट्ट लोल्लटादि, (३) वार्तिककार और (४) उपाध्याय भट्टतोत इन चारके मतोका अभिनवगुप्तने यहा विशेष रूपसे उल्लेख किया है। उनमेंसे सबसे पहिले शङ्कुकके मतके अनुसार स्तम्भ व्यवस्थाका स्वरूप दिखलावेगे। इसमें भी सबसे पहिले दश स्तम्भोके स्थानका निर्धारण इस ८९ वे श्लोकमें करते हैं।

अभिनव०—यदि बाहरकी ओर दीवार [बनवा दी जाय] तो फिर भीतर क्या करे यह बात 'तत्राभ्यतरत' इत्यादि [अगले श्लोकसे] कहते है—

भरत०—उसमे भीतरकी ओर [मत्तवारणी सहित] रङ्गपीठ पर [अर्थात रङ्गपीठके समीप] मण्डपको धारण करनेमे समथ दस खम्भे प्रयोक्ताओको खडे करने चाहिए ।।८६।।

शकुकके मतानुसार चतुरस्र मण्डपका क्षेत्र विभाजन—

जसाकि ऊपर लिखा जा चुका है भरत मुनिने नाट्यमण्डपके भीतर लगाए जाने वाले २४ स्तम्भोके १० ६ ८ के तीन भागोमें विभक्त कर तीन बारमे लगानका विधान किया है। किस बारमें कौन कौन स्तम्भ कहा और कसे लगाने चाहिए इस बातको खूब खोल कर स्पष्ट रूपसे समझानेका सबसे अच्छा प्रयत्न भरतके व्याख्याकार 'शकुक' ने किया है। इसीलिए अभिनव गुप्तने सबसे पहिले 'शकुक' के मतानुसार ही स्तम्भ व्यवस्थाको यहाँ प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। 'शकुक' ने स्तम्भोके स्थानोको ठीक तरहसे समझानेके लिए रङ्गमण्डपके क्षेत्रको पहिले ६४ वर्गाकार समभागोंमे विभक्त कर लिया है। ३२×३२ हाथके रङ्गमण्डपके सम्पूर्ण क्षेत्रको ६४ वर्गाकार समभागोमें विभक्त करनेके लिए उन्होने ३२×३२ हाथ वाले क्षेत्रको चारो ओरसे आठ आठ भागोमें बाट दिया है। इस प्रकार बाट देनेसे सारा क्षेत्र ४×४ हाथके आकार वाले ६४ वर्गाकार सम भागोमे विभक्त हो जाता है।

इस क्षेत्र विभाजनके बाद शकुक' ने स्तम्भोके स्थानोकी चर्चा करनेके पहिले रङ्ग मण्डपके भीतरी भागमे बनाए जाने वाले रङ्गपीठ, रङ्गशीष और नेपथ्यगृहके स्थानका निर्धारण किया है। मत्तवारणी भी यद्यपि रङ्गमण्डपका एक प्रमुख भाग है किन्तु उसकी रचना रङ्गमण्डप के भीतरकी ओर नही अपितु उसके बाहरकी ओर होती है इसलिए शकुक ने रङ्गमण्डपके भीतरी भागमे बनाए जाने वाले रङ्गपीठ आदि प्रमुख भागोके स्थान निर्धारणके प्रसङ्गमे उसकी कोई चर्चा नही की है।

रङ्गमण्डपके मुख्य भागोके स्थानका निर्धारण करते समय शकुकने सबसे पहिले रङ्ग पीठका स्थान निर्धारित करनेका यत्न किया है। वैसे तो रगपीठ, रगशीष आदिके स्थानका

---

१ न कृताभ्यन्तरत कार्यं रङ्गपीठ यथाविधि । ठ म त रङ्गपीठे यथा दिशम ।

२ व शस्ता मण्डपलक्षणे । न शुभा मण्डप धारिण । त शक्या मण्डप रक्षणे ।

निर्धारण विकृष्ट मण्डपके प्रसगमें भी किया जा चुका है। किन्तु उसका उपयोग चतुरस्र मण्डपमे नही किया गया है। चतुरस्र मण्डपके रगपीठकी रचना विकृष्ट मण्डपसे बिल्कुल भिन्न प्रकारकी है। ६४×३२ हाथके आयताकार विकृष्ट मण्डपमें ३२×३२ हाथका आधा भाग प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए छोड देनेके बाद पिछले आधे भागमें ८×३२ हाथका रगपीठ, ८×३२ हाथका रगशीष और १६×३२ हाथका नेपथ्यगृह बनानेका विधान किया गया था। पर यहा चतुरस्र मण्डपमें उस नीतिका अवलम्बन नही किया गया है। विकृष्ट मण्डपके रगपीठका आकार भी ८×३२ हाथ आयताकार था। पर तु चतुरस्र मण्डपके रगपीठका आकार वर्गाकार है, आयताकार नही। इसलिए 'शकुक' ने उपयु क्त विधिसे ६४ सम भागोमें विभक्त किए हुए क्षेत्रके ठीक मध्यवर्ती भागमें चार कोष्ठोको लेकर ८×८ हाथका चतुरस्र रगपीठ बनानेका विधान किया है। मध्यभागमे रगपीठके बनानेसे सामनेकी ओर प्रेक्षकोके बैठनेके लिए आधेसे कम भाग शेष रह जाता है। विकृष्ट मण्डपमें रगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोके बैठनेके लिए रखा गया था। उसी प्रकार यदि चतुरस्र मण्डपमें भी रगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए रखा जाय तो रगपीठके सामनेकी ओर १६×३२ का क्षेत्र छोडना चाहिए। परन्तु ठीक मध्यमें ८×८ हाथका वर्गाकार रगपीठ बना देनेपर रगपीठके सामनेकी ओर केवल १२×३२ हाथका स्थान प्रेक्षकोके बैठने के लिए शेष रह जाता है। अर्थात् ३२×४=१२८ वग हाथ जगह कम हो जाती है। इसके बदले मध्यभागमें बने हुए ८×८ हाथके वर्गाकार रगपीठके दोनो ओर १२×८—९६ वग हाथ का स्थान रिक्त रह जाता है। दोनो ओरके इस छियानवे वग हाथके क्षेत्रको जोड दे तो ९६+९६ =१९२ वग हाथका क्षत्र बच रहता है। इसका प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए उपयोग करनेपर उस कमीकी पूर्ति हो जाती है।

रग मण्डपके मध्यभागमें ८×८ हाथका रगपीठ बनानेपर जैसे सामनेकी ओर ३२×१२ हाथका क्षेत्र बचता है इसी प्रकार रगपीठके पीछेकी ओर भी ३२×१२ हाथका क्षेत्र बचता है। आगे वाला क्षेत्र प्रक्षकोके बठनेके काममे आता है। तो पिछले क्षेत्रमें रगशीष तथा नेपथ्यगृहकी रचना होती है। पीछे वाले इस ३२×१२ हाथके क्षेत्रमेंसे रगपीठके पास वाला जो ३२×४ हाथका क्षेत्र है उसको शकुकने रगशीषके निर्माणकेलिए, और उसके पीछे के ३२×८ हाथके अवशिष्ट सारे क्षेत्रको नेपथ्यगृहके निर्माणकेलिए निर्धारित किया है।

इस प्रकार चतुरस्र मण्डपका ३२×३२ हाथका सारा क्षेत्र चार भागोमें विभक्त हो जाता है। बीचमें ८×८ हाथका रगपीठ है। उसके पीछे ३२×४ हाथका रगशीष, और उसके भी पीछे ३२×८ हाथका नेपथ्यगृह बनता है। शेष भाग प्रेक्षकोके बैठनेके लिए रह जाता है।

शकुकके मतानुसार किए गए रगमण्डपके इस क्षेत्र विभाजनको प्रदर्शित करनेकेलिए हमने एक चित्र फलक प्रस्तुत किया है। इसके भीतर चार छोटे छोटे चित्र हैं। इनमेसे पहिले चित्रमे सारे क्षेत्रको वर्गाकार ६४ भागोमे विभक्त करके दिखलाया गया है। दूसरे चित्रमे रग मण्डपके ठीक मध्य भागमें ८×८ हाथके रगपीठके स्थानका निर्धारण किया गया है। तीसरे चित्र में ३२×४ के रगशीष तथा ३२×८ हाथके नेपथ्यगृहका स्थान निर्धारित किया गया है। और चौथे चित्रमें प्रेक्षकोपवेश सहित सब भागोको इकट्ठा दिखलाया गया है। चित्रोके चारो कोनो पर जो ० गोलाकार चिह्न बने हैं वे विकृष्ट मण्डपमें कहे हुए ब्राह्मण स्तम्भ आदि चारों स्तम्भोके स्थान हैं।

(१) चतुरस्त्र-मण्डपके विविध भागोंका स्थान-निर्धारण
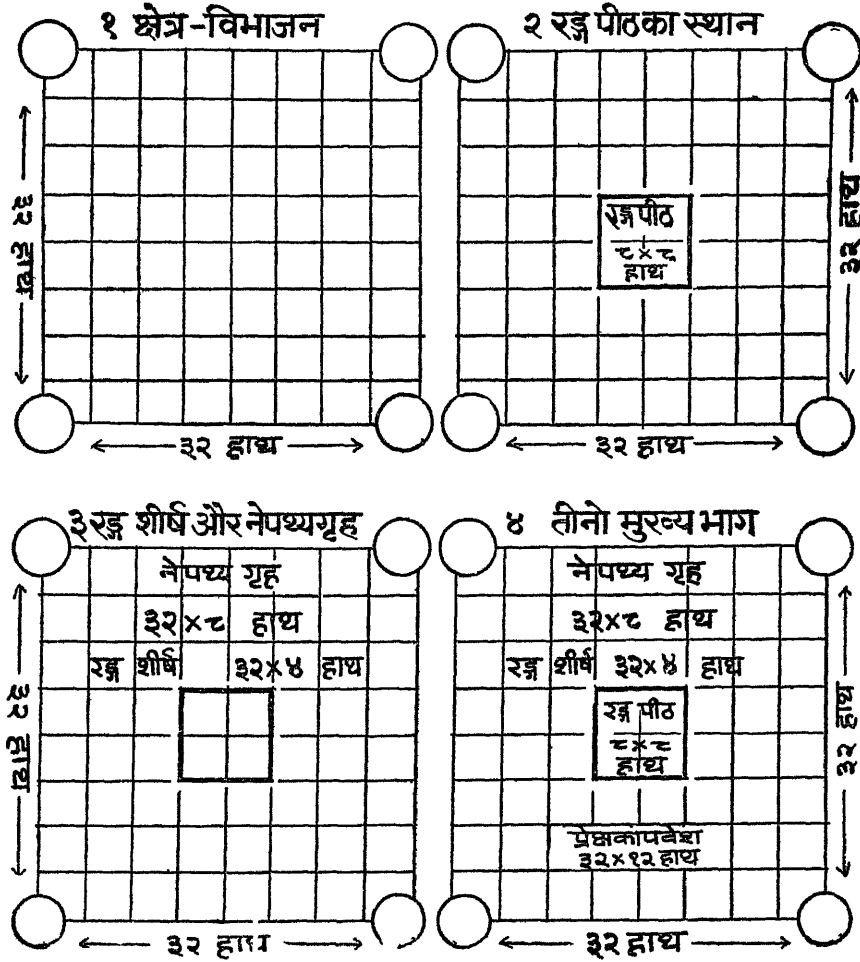
शंकुक द्वारा किए गए क्षेत्र विभाजनको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

अष्टभिर्भागैं सवत क्षेत्र विभजेत, येन चतुरङ्गफलकवच्चतुष्षष्टिकोष्ठ भवति। तत्र मध्यमकोष्ठचतुष्के रङ्गपीठ सवतोऽष्टहस्त 'कुर्यात्। तस्य पश्चिमे भागे प्राक् पश्चिम द्वादशहस्त, दक्षिणोत्तरतो द्वात्रिंशत्कर तत् क्षेत्रमवशिष्यते। अत्र यद् रङ्गपीठेन स्वोकृत तद्धि हस्ताष्टकमेव। यदवशिष्ट क्षेत्र तन्मध्याद्रङ्गपीठनिकटगत प्राक्-पश्चिमतश्चतुहस्त विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्त [2]क्षेत्राश विभज्य तावत्प्रमाणमव पश्चिमभागे षड्दारुकसस्थान रङ्गशिर कुर्यात। ततोऽपि पश्चिमे [3]यावदवशिष्ट तावदेव नेपथ्य गृहम्[4]।

एव स्थिते रङ्गपीठ लक्षयित्वा दश स्तम्भा षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता देया। तत्र कोणचतुष्टये तावच्चत्वार। तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुहस्तान्तरो दक्षिणदिश्येक स्तम्भ। तथैव नैऋतस्तम्भाद् द्वितीय। एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्। पूवभागे ऐशानाग्निगतात् स्तम्भद्वयात चतुहस्तान्तर स्तम्भद्वयमिति षट्, कोणगाश्चत्वार इति ये दश त एव।

अभिनव—[चतुरस्र मण्डपके ३२×३२ हाथ वाले] क्षेत्रको चारो ओरसे आठ आठ भागोमे बाट ले जिससे [शतरज या] चौपडके तख्तेके समान चौसठ कोष्ठ वाला [क्षेत्र] बन जाता है। उसमे बीचके चार कोष्ठोमे चारो ओरसे आठ आठ हाथ का [वर्गाकार ही] रगपीठ बनावे। उसके पश्चिम [पीछे] की ओर पूव पश्चिम बारह हाथका और उत्तर दक्षिण बत्तीस हाथका वह क्षेत्र बच रहता है। इसमे रङ्गपीठके भीतर जो भाग आया है वह केवल आठ हाथका ही है। जो [१२×३२ हाथका] क्षेत्र [पीछेकी ओर] बचा है उसमेसे रङ्गपीठके समीपका पूव पश्चिम चार हाथका और चौडाईमे [विस्तारेण उत्तर दक्षिण] ३२ हाथके क्षेत्रको लेकर [रगपीठसे] पश्चिमकी ओर उतने ही बडे [४×३२ हाथके] षड दारुकवाले रगशीषकी रचना करावे। और उससे भी पश्चिममे जितना भाग [८×३२ हाथ का] बचा है उस सबका [अर्थात् ८×३२ हाथका] नेपथ्यगृह बनावे।

शकुकके मतानुसार प्रथम बारके दस स्तम्भोकी व्याख्या—

इस प्रकार रगमण्डपमे उसके प्रमुख भागोका स्थान नियत कर चुकने के बाद शकुकनेके मतसे भरतमुनि प्रतिपादित प्रथम दश स्तम्भोका स्थान नियत करनेका यत्न करते हैं।

अभिनव०—इस प्रकार [रङ्गपीठ, रङ्गशीष तथा नेपथ्यगृहकी रचना] हो जानेपर रङ्गपीठको ध्यानमे रखकर [अर्थात रङ्गपीठको केन्द्र मानकर उसके समीप] षडदारुक स्तम्भोसे भिन्न दश खम्भे [आगे कहे हुए प्रकारसे] लगाने चाहिए। उन [दस खम्भो] मेसे पहिले चार खम्भे [रङ्गपीठके] चार कोनोमे लगावे। फिर उन मेसे [पूव-दक्षिण कोणमे स्थित] आग्नेय स्तम्भसे चार हाथके अन्तरपर दक्षिणकी ओर एक [पाचवा] खम्भा रखे। इसी प्रकार [दक्षिण-पश्चिम-कोणमे स्थित] नैऋत-स्तम्भसे [दक्षिणकी ओर चार हाथपर] दूसरा [छठा] खम्भा रखे। इसी

---

१ नास्ति। २ क्षेत्राशाद्विभाज्य ३ 'यावदवशिष्ट' नास्ति। ४ नेपथ्य ग्रहणम्।

भरत०—स्तम्भाना[1]वाह्यतश्चापि [2]सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभि कार्यं प्रेक्षकाणा निवेशनम् ॥९०॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधै-र्भू मिभागसमुत्थितै ।
रङ्गपीठावलोक्य तु [3]कुर्यादासनज विधिम् ॥९१॥

बहि सामाजिकासनानि, सर्वेभ्यो वा बहि, अतिसामीप्ये दृष्टिविघातात् । अत एव आह रङ्गपीठावलोकने साधुभूतमिति । अनेन द्विभूमित्वमेवानुसहितम् ॥९० ९१॥

अन्तरे स्तम्भविधिमाह षडन्यानिति—

भरत०—[4]षडन्यानन्तरे चैव पुन स्तम्भान् [5]यथादिशम् ।
विधिना [6]स्थापयेत् तज्ज्ञो दृढाम् मण्डपधारणे ॥९२॥

रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात् चतुहस्तान्तरौ अन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ, तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूव स्तम्भ, ततश्चतुहस्तान्तर दक्षिण-

---

प्रकार उत्तरकी ओर भी [ईशानकोणके स्तम्भसे तथा वायव्य कोणके स्तम्भ से उत्तर की ओर चार-चार हाथ पर दो स्तम्भ लगाना चाहिए] । पूवकी ओर ईशान [पूव-उत्तरके बीचका कोण] तथा आग्नेय [पूव दक्षिणके बीचका] कोणमे स्थित दोनो स्तम्भोसे चार हाथके अन्तरपर पूवकी ओर दो स्तम्भ [लगावे] । इस प्रकार छह ये, और चार [रङ्गपीठके चारो] कोनोके इस प्रकार मिला कर दश हो जाते है ॥८९॥

आसन व्यवस्था—

भरत०—और स्तम्भोके बाहरकी ओर प्रेक्षकोंके बठनेकेलिए इटो तथा लकडी आदिसे सीढियोके सामान आकृतिमे पीठ बनावे । ९१ ।

भरत०—भूमि भागसे एक हाथ ऊपर उठे हुए आसनोका निर्माण करे जहासे कि रगपीठ भली प्रकार दिखलाई दे सके । ९१ ।

अभिनव०[इन दश स्तम्भोके] बाहरकी ओर सामाजिकोके आसन बनावे । अथवा [आगे कहेजाने वाले अन्य] सब स्तम्भो के बाहर आसन बनावे क्योकिअत्यन्त समीप होनेसे देखनेमे बाधा होती है । इस लिए 'रङ्गपीठावलोक्य' 'जहासे रङ्गपीठ भली प्रकार दिखाई दे' यह कहा है । इससे द्विभूमिकत्वकी ही पुष्टि होती है ॥९० ९१॥

शकुकके मतानुसार द्वितीयवारके छह स्तम्भोंकी व्याख्या—

अभिनव०—बीचके अन्य स्तम्भोको विधिको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—और फिर उस [स्तम्भविधि] को जानने वाला कारीगर उचित दिशाओमे मण्डपको धारण करनेमे समथ छह अन्य मजबूत स्तम्भोको लगावे । ९२ ।

अभिनव—रङ्गपीठके दक्षिणकी ओर लगाए गए दोनो स्तम्भोसे चार-चार हाथके अन्तर पर और एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तर पर दो, और दक्षिण पूवके

---

१ ढ म बाह्यत स्थाप्यम । २ त सोपानकृतपीठकम । म सोपानकृति पीठकम ।
३ ठ म कुर्यादासनिक विधिम । ४ व षडन्यान दद्यात । ५ ञ यथादरम ।
६ क धारयेतुतज्ज्ञो । ठ म स्थापयेत् प्राज्ञो गूढा मण्डप ।

स्तम्भ कुर्यादिति पूवन्यस्ताना वक्षिरणस्तम्भाना दक्षिरणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम् । एवमुत्तरस्यामपि ॥९२॥

भरत०—अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्[1] ।
विद्धास्यमष्टहस्त च पीठ तेषु ततो न्यसेत्[2] ॥ ९३ ॥

तेषामुपरीत्यधिकानष्टौ दद्यात् । तत्र दक्षिरणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तर पूवस्थापितस्तम्भाद भित्तश्चैक स्तम्भ दद्यात पूवम् । एवमुत्तरभित्तेदक्षिरणभागे । तत पूवभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण द्वौ, ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ द्वौ इत्यष्टौ ।

विद्धमास्य मुख यस्य तत् । पद्मादिविरचितमुखस्तम्भेष्वष्टहस्त पीठ निक्षिपेत् । विद्धास्यस्योपरि हस्तप्रमाणधारिणीना तुलाना धारका स्तम्भाश्रया ।

आग्नेय स्तम्भके सामने जो दूसरा पूवका स्तम्भ है उससे चार हाथकी दूरीपर दक्षिणकी ओर दक्षिण स्तम्भको लगावे । इस प्रकार पहिले स्थापित किए हुए दश स्तम्भोमेसे दक्षिणकी ओर स्तम्भो तथा दक्षिण भित्तिके बीचमे तीन स्तम्भ हुए । इसी प्रकार उत्तरकी ओर भी [रङ्गपीठके उत्तरकी ओर लगे हुए दो स्तम्भोसे चार चार हाथके अ तरपर उत्तर दिशामे दो स्तम्भ तथा ईशानकोणमे स्थितके स्तम्भसे पूवकी ओर जो चार हाथपर स्तम्भ लगा था उससे चार हाथ उत्तरकी ओर तीसरा स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये छह स्तम्भ हो गए] ॥ ९२ ॥

शकुक मतसे अगले आठ स्तम्भोकी व्यवस्था—

भरत०—उनके बाद फिर आठ स्तम्भ और भी लगावे उनके ऊपर आठ आठ हाथोंके शहतीर [पीठ] जिनके मुख एक दूसरे के भीतर घुसे हुए हो [विद्धास्य] रखे । ९३ ।

अभिनव०—उनके बाद आठ स्तम्भ और अधिक लगावे । [उनके स्थानका विवरण इस प्रकार होगा कि—] उनमेसे दक्षिण मित्तिके उत्तरकी ओर पहिले स्थापित किए हुए [छ स्तम्भोमेसे तृतीय] स्तम्भ तथा दक्षिण मित्ति दोनोसे चार हाथके अन्तरपर एक स्तम्भ पूर्वकी ओर लगावे । इसी प्रकार उत्तरकी दीवारसे दक्षिणकी ओर [पूव लगे छटे स्तम्भ और उत्तर-भित्ति दोनोसे चार हाथकी दूरीपर दूसरा स्तम्भ लगावे] । उसके बाद पूवकी दीवार से चार हाथकी दूरीपर रगके दो भाग मान कर उनके आनुरूप्यसे दो, और फिर उनसे भी चार-चार हाथके अन्तर पर दो दो स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये आठ [स्तम्भ] हो जाते है ।

जिनके मुख एक दूसरेके भीतर घुसे हुए हैं इस प्रकारके आठ आठ हाथके शहतीर पद्म आदि रूपमे बने हुए मुखोसे युक्त इन स्तम्भोके ऊपर रखे । और मुखोके जोडके ऊपर एक-एक हाथकी तुलाओ [अर्थात् तोडो] को रोकने वाले काष्ठ खण्ड स्तम्भोके ऊपर रखे ।

१ ठ म कारयेत । २ ठ म सस्थाप्य च पुन पीठमष्टहस्तप्रमाणत । ड विद्धास्य च पुन पीठमष्टौ हस्तप्रमाणत ।

इति चतुरश्रे स्तम्भविधि । तमेव विकृष्टे त्रिकोणेषु च स्वबुद्ध्या योजयेदिति श्री शङ्कुकाद्या ।

यह चतुरस्र [मण्डप] मे स्तम्भोका विधान हुआ । इसीको विकृष्ट तथा त्रिकोण मण्डपोमे भी अपनी बुद्धिके अनुसार समन्वय करके ठीक तरहसे लगावे यह श्री शकुक आदि [प्राचीन टीकाकारो] का मत है ।

शकुकमतसे प्रथम दशस्तम्भ—

अभिनव गुप्तने स्तम्भ व्यवस्थाके विषयमे सबसे पहिले जो यह शकुक का मत दिया है । उसको कुछ और खोलकर समझानेकी आवश्यकता है । भरतमुनिने सबसे पहिले दश स्तम्भोके लगानेका विधान करते हुए लिखा है—

तत्राभ्यन्तरत कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता
दश प्रयोक्तभि स्तम्भा शस्ता मण्डपधारणे ।। २ ६० ।।

अर्थात् नाट्यमण्डपके भीतर और रङ्गपीठके ऊपर मण्डप [की छत] को धारण करनेमें समथ उत्तम दस स्तम्भ लगाने चाहिए । यहा भरत मुनिने रङ्गपीठ के ऊपर दस स्तम्भोके लगानेकी बात लिखी है । परन्तु चतुरस्र मण्डपका रङ्गपीठ तो केवल आट हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा है । उस पर तो दस स्तम्भ लगनेकी सम्भावना नही है । इसलिए व्याख्याकार [शकुक] ने 'रगपीठोपरिस्थिता' का अथ रगपीठ लक्षयित्वा किया है अर्थात रगपीठ' को ध्यानमे रखकर 'रगपीठ' को केन्द्र मान कर उसके आस पास दस स्तम्भोकी स्थापना करनी चाहिए । यह उस भरत वचनका अथ शकुकने लगाया है । उसके अनुसार उन्होने रगपीठके आस पास इन दश स्तम्भोके लगानेकी व्यवस्था दिखलाते हुए लिखा है—

(४) तत्र कोण चतुष्टये तावच्चत्वारः ।
(१) तत्राग्नेय स्तम्भाच्चतुहस्तान्तरो दक्षिण दिश्येक ।
(१) तथव नैऋतस्तम्भाद्र द्वितीय ।
(२) एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम् ।
(२) पूवभागे ऐशानाग्निगतात स्तम्भद्वयाच्चतुहस्तान्तर स्तम्भद्वयमिति पट् । कोणगताश्चत्वार इति ये, दश त एव ।

अर्थात् इन दस स्तम्भोमेसे पहिले चार स्तम्भ रगपीठके चारो कोनोपर लगाने चाहिए ।

उसके बाद रगपीठके दक्षिण-पूव दिशाओके बीच में 'आग्नेय' कोणमें रगपीठ पर जो स्तम्भ लगाया है उससे दक्षिणकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [पाचवा] स्तम्भ खडा करना चाहिए ।

इसी प्रकार पश्चिम दक्षिण दिशाओके बीचके 'नैऋत' कोणमे 'रगपीठ' पर जो स्तम्भ लगाया था उसके भी दक्षिणकी ओर चार हाथ की दूरीपर एक [छठा] स्तम्भ लगाना चाहिए ।

इसी प्रकार उत्तर दिशामें पश्चिम उत्तरके बीचमे स्थित बायव्य' कोणमें रगपीठके ऊपर जो स्तम्भ लगाया था उससे उत्तरकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [सातवा] तथा पूव उत्तरके बीचके 'ईशान' कोणमें रगपीठपर लगाये हुए स्तम्भसे उत्तरकी ओर चार हाथके अन्तर

अगला [आठवां] स्तम्भ लगाना चाहिए।

रंगपीठके पूर्व भागमें ईशानकोण तथा आग्नेयकोणमें जो दो स्तम्भ लगाए गए थे उन दोनोंसे चार चार हाथोंके अन्तरपर पूर्वकी ओर शेष दो स्तम्भ और लगाने चाहिए। इस प्रकार रंगपीठके चारों कोनोंपर चार, और उनसे चार चार हाथोंके अन्तरपर दो दक्षिणमें, दो उत्तरमें, और दो पूर्वमें ये छः स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार दश स्तम्भोंकी यह संख्या पूर्ण हो जाती है।

'शंकुक' के मतानुसार स्तम्भ व्यवस्था को प्रदर्शित करने वाला चित्र फलक भी हमने प्रस्तुत किया है। पूर्व चित्र फलकके समान उसमें भी चार छोटे छोटे अवान्तर चित्र हैं। उनमें से प्रथम चित्रमें इसी वर्णनके अनुसार हमने दश स्तम्भोंका स्थान निर्धारण किया है जो नीचे दिए हुए चित्रमें देखा जा सकता है।
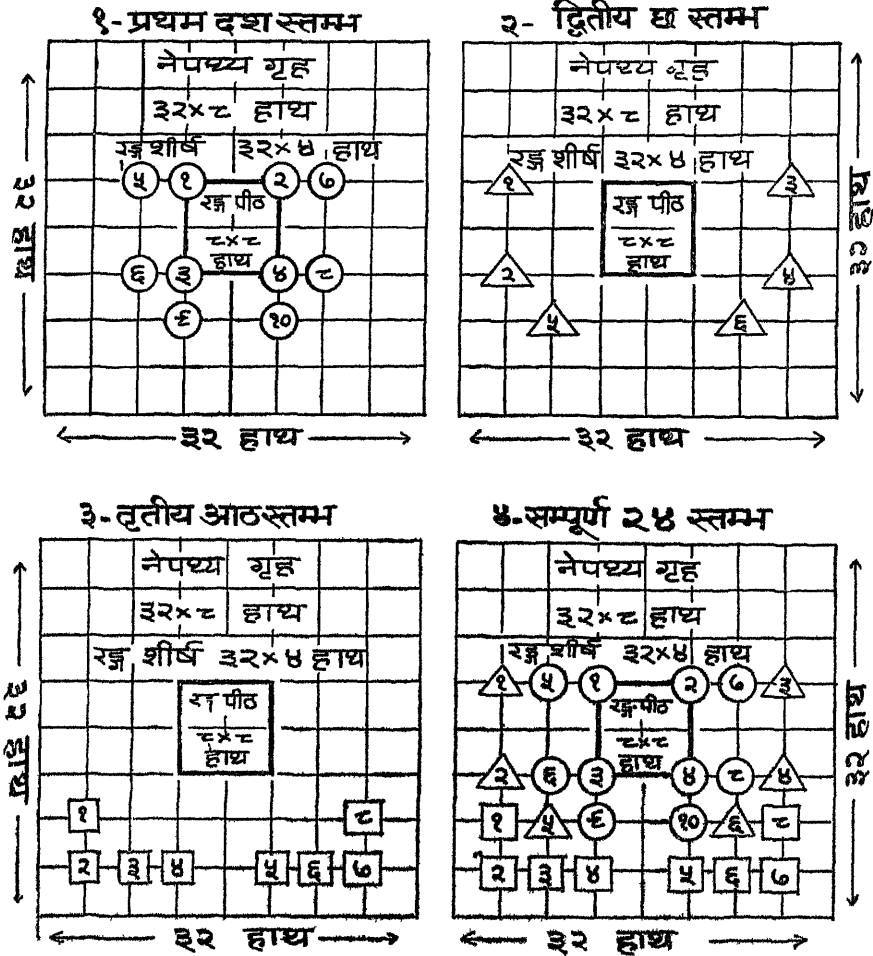
शकुकमतमे दूसरे छ स्तम्भ—

यह पहिले दश स्तम्भोकी व्यवस्था हुई। इसके बाद दूसरे छ स्तम्भोका पर्याय आता है। भरतमुनिने इन छ स्तम्भोका विधान करते हुए लिखा है—

षड यान तरे चव पुन स्तम्भान यथादिशम्।
विधिना स्थापयेत् तज्ञो दृढान् मण्डपधारणे ॥२ ९२॥

अर्थात उसके बाद स्तम्भ विधिको जानने वाला निपुण शिल्पी मण्डप [की छत] को धारण करनेमे समथ और मजबूत छ स्तम्भोको इनके भीतर लगावे।

भरतमुनिने इनके स्थानके विषयमें अधिक कुछ निर्देश नही दिया है। शकुकने उनके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न किया है। अभिनवगुप्तने उसका जो विवरण दिया है वह निम्न प्रकार है—

रगपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात चतुर्हस्ता तरौ द्वौ।

तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽयस्तु पूव स्तम्भ ततश्चतुर्हस्ता तर दक्षिणस्तम्भ कुर्यात्। इति पूव यस्ताना दक्षिणस्तम्भाना दक्षिणभित्त श्चा तराले स्तम्भत्रयम्। एव मुत्तरस्यामपि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रगपीठके दक्षिणकी ओर जो दो स्तम्भ पहिले लगाए जा चुके हैं उनसे चार चार हाथकी दूरीपर दक्षिण दिशाकी ओर दो स्तम्भ लगाने चाहिए।

उसके बाद रगपीठके दक्षिण पूवके बीचके आग्नेय कोणक सामने पूव दिशाकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे दक्षिणकी ओर ही चार हाथकी दूरीपर इनमेंसे तीसरा स्तम्भ लगावे। इस प्रकार पहिले लगाए हुए स्तम्भो और दक्षिणी दीवारके बीचने तीन नए स्तम्भ लग गए।

ठीक इसी प्रकारसे उत्तर भागमे पहिले लगाए हुए दोनो स्तम्भोसे चार चार हाथो की दूरीपर उत्तरकी ओर दो स्तम्भ लगावे। फिर ईशान कोणमे रगपीठपर लगाये हुए स्तम्भ से पूवकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे उत्तर की ओर चार हाथकी दूरीपर तीसरा स्तम्भ लगावे। पहिले लगाए हुए स्तम्भोसे उत्तरकी ओर उन स्तम्भो तथा उत्तर भित्तिके बीचमें भी ये तीन स्तम्भ हो गए। इस प्रकार तीन स्तम्भ दक्षिणकी ओर तथा तीन स्तम्भ उत्तर की लगा देनेसे इन छ स्तम्भोकी सख्या पूरी हो जाती है।

अभिनवगुप्तने 'शकुक' के मतानुसार छ स्तम्भोका जो यह विवरण दिया है ठीक इसीके अनुसार हमने अपने शकुक मतानुसारिणी स्तम्भ व्यवस्थाको प्रदर्शित करने वाले चित्र फलकके द्वितीय चित्रमें इन छ स्तम्भोको स्थान प्रदर्शित किया है। जिसे ऊपर दिए हुए उस चित्रमे देखा जा सकता है।

शकुकमतसे तृतीय आठ स्तम्भ—

इन दस और छ स्तम्भोके बाद भरतमुनिने तीसरी बारमें फिर आठ स्तम्भोका विधान करते हुए लिखा—

अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चव तेषामुपरि कल्पयेत। ना०शा० २ ९३

अर्थात् इन १०+६ सोलह स्तम्भोके बाद फिर आठ स्तम्भ और लगावे। भरतमुनिने इन स्तम्भोके लगाए जानेके ठीक स्थानका कोई निर्देश नही किया है। शकुकने उनके ठीक स्थानका निर्धारण किया है। शकुकके मतको अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे दिखलाया है—

तत्र दक्षिणदिग्भित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तर पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्च, एक स्तम्भ दद्यात् पूर्वम् ।

एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणदिग्भागे ।

तत पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रगभागद्वयानुसारेण द्वौ द्वौ ।

ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ । इत्यष्टौ ।

इसका यह अभिप्राय है कि इन आठ स्तम्भोमेंसे पहिले दक्षिण भित्तिसे उत्तरकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगा चुके हैं उससे और भित्तिसे दोनोसे, चार चार हाथकी दूरीपर अर्थात दोनोके बीचमे एक स्तम्भ लगावे ।

इसी प्रकार उत्तर दिशा वाली भित्तिसे दक्षिणकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया जा चुका उससे और भित्तिसे दोनोसे चार चार हाथके अन्तरपर अर्थात् दोनोके बीचमे एक स्तम्भ लगावे ।

उत्तर और दक्षिणकी दिशामे ये ही दो स्थान खाली थे । इन स्तम्भोके लगने से वे दोनो स्थान भर गए । अब चित्रपर दृष्टि डालनेसे विदित होगा कि अब पूर्व भित्तिके पास वाली एक पक्ति ऐसी शेष रह जाती है जिसपर अभी तक कोई स्तम्भ नही लगा है । इसमे बीचमे द्वारका भाग छोड देनेपर द्वारके दोनो ओर तीन तीन स्तम्भ लगानेका स्थान शेष है । शकुकने इन आठ स्तम्भोमेसे बचे हुए शेष छ स्तम्भोको इन्ही स्थानोपर लगानेका विधान किया है । इसका प्रतिपादन उन्होने इस प्रकार किया है—

उसके बाद पूर्व भित्तिसे चार चार हाथकी दूरी पर [द्वारके दोनो ओर स्थित] रगके दोनो भागोमें दो दो स्तम्भ लगावे ।

उसके बाद फिर उनसे भी चार चार हाथके अन्तरपर [द्वारके दोनो ओर एक एक मिलाकर] दो स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये आठ स्तम्भ पूरे हो जाते हैं ।

यह शकुककी तीसरी बारमें लगाये जाने वाले आठ स्तम्भोकी व्यवस्था है । शकुक की स्तम्भ व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेकेलिए जो चित्र फलक हमने प्रस्तुत किया है उसमे तृतीय चित्रमें ठीक इसी लेखके अनुसार आठ स्तम्भोका स्थान दिखलाया गया है ।

इस प्रकार शकुकने बडे सरल और सुन्दर ढगसे इन १०+६+८ चौबीसो स्तम्भोके लगानेका स्थान निर्धारित कर दिया है । चित्र फलकके चतुर्थ चित्रमें उन सब स्तम्भोको एक साथ मिलाकर उनका स्थान दिखला दिया गया है ।

यह स्तम्भ विधि केवल चतुरस्र मण्डपकी दिखलाई गई है । विकृष्ट और त्र्यस्र मण्डपो में भी आवश्यक सुधारोके साथ अपनी बुद्धिके अनुसार इसकी योजना कर लेनी चाहिए यह शकुकका मत है । इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न पक्तिमे लिखा है—

'इति चतुरस्रे स्तम्भविधि । तमेव विकृष्टे
त्रिकोणेषु स्वबुद्धया योजयेदिति श्री शकुकाद्या ।

अन्य भट्टलोल्लटादिका मत—

शकुकके मतसे स्तम्भ व्यवस्थाका विवेचन ऊपर किया जा चुका है । भरतमुनिके अन्य व्याख्याकारोने इससे कुछ भिन्न प्रकारसे इस स्तम्भ व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है । इनमेसे भट्टलोल्लटादिकी व्यवस्था सबसे अधिक सरल एव शङ्कुक मतके निकटतम व्याख्या पाई जाती है । उसका उल्लेख अभिनव गुप्तने एक पक्तिमें इस प्रकार किया है—

अन्ये तु 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहु ।

अर्थात 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इत्यादि श्लोकाध द्वारा भरतमुनिने जिन आठ स्तम्भोके लगानेका विधान किया है उनको अ य व्याख्याकार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध मानते हैं।

ये अन्य व्यारयाकार कौन है इस बातका अभिनवगुप्तने यद्यपि नामग्रहण पूवक उल्लेख नही किया है फिर भी कुछ आभास इस आधारपर मिल सकता है कि भरतमुनिके रससूत्र की व्याख्याके प्रसङ्गमें भट्टलोल्लट भट्टनायक और शङकुक के मतोका विशेष रूपसे उल्लेख किया
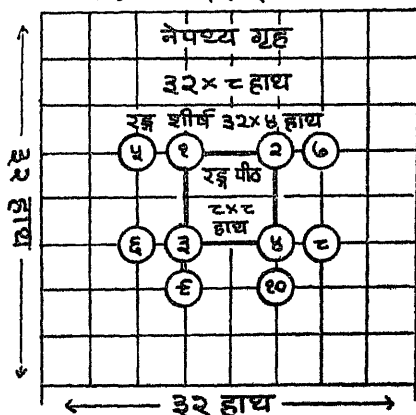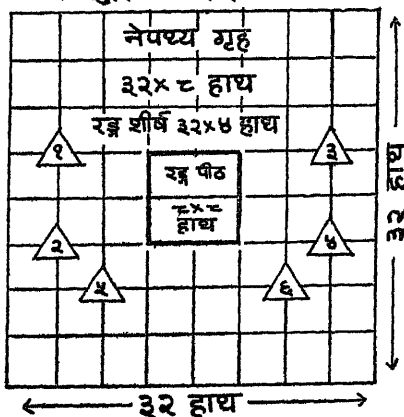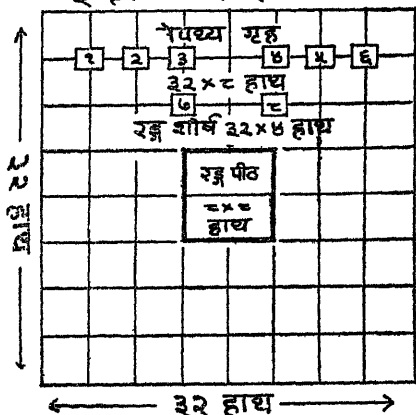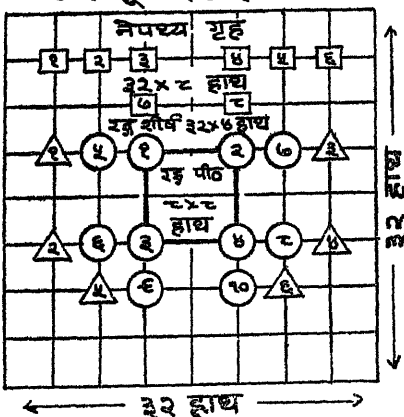
अन्ये तु—'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहु ।

गया है । जिससे यह प्रतीत होता है कि ये भरतके मुख्य व्याख्याकार है । इनमें से शङ्कुकके मतका उल्लेख अलगसे पहिले किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त भरतमुनिके दो और व्याख्याकारोका मत अभिनवगुप्तने वार्तिककृत तथा उपाध्याया पदो से नामग्रहण पूवक आगे दिया है । इसलिए यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि यहाँ अभिनवगुप्तने अन्ये' पदसे जिस मतका उल्लेख किया हे वह भट्टलोल्लट या भट्टनायकका ही मत होना चाहिए । इसलिए हमने उसे भट्टलोल्लटादिके मतके नामसे निर्दिष्ट किया है ।

इस मतका जिस रूपमे यहा उल्लेख किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि इस मतका प्रतिपादन करने वालोका केवल अन्तिम आठ स्तम्भोके स्थानके विषयमे मतभेद है । शेष १० और ६ स्तम्भोके स्थानके विषयमे वे शङ्कुकके मतको ही स्वीकार करते ह । इस दृष्टिसे हमने इन भट्टलोल्लटादिके मतानुसार स्तम्भ व्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र फलक प्रस्तुत किया है उसमें १० तथा ६ स्तम्भोका स्थान उसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार शङ्कुक मतमे । केवल अन्तिम आठ स्तम्भोको इस लेखके अनुसार नेपथ्यगृहमे दिखलाया है । इस चित्र फलकको पिछले पष्ठपर दे दिया है । उसके ततीय चित्रमे इन आठ स्तम्भोको स्पष्ट रूपसे नेपथ्यगृहमें देखा जा सकता है ।

अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोके अनुसार इस व्यवस्थाको 'अन्ये तु'—इत्यादिसे अगले अनुच्छेदमे दिखलाते हैं । इन अन्य व्याख्याकारोके मतमें भी सामान्यत पूर्वोक्त व्यवस्था ही अपनाई गई है । केवल थोडा सा भेद यह किया गया है कि अन्तमें जिन आठ स्तम्भोका विधान किया गया है इनको ये व्याख्याकार रङ्गमण्डपके सबसे पिछले भागमे नेपथ्यगृहमें लगानेका विधान करते हं । इसी बातको अगली पक्तिमें लिखा है—

अभिनव०—[भट्टलोल्लट आदि] अन्य [व्याख्याकार] तो 'फिर आठ स्तम्भो को' इत्यादि [९३ वी कारिकामे कहे हुए] इन [अन्तिम आठ स्तम्भो] को नेपथ्यगृह-विषयक मानते है ।

इस अन्तरका प्रभाव—

अन्य व्याख्याकारोने जो इन आठ स्तम्भोकी स्थितिमे परिवतन किया है उसका प्रभाव प्रेक्षकोकेलिए सुविधाजनक होता है । शकुकादिकी प्रथम व्यवस्थामें इन आठ स्तम्भोको प्रेक्षकोपवेश वाले भागमें लगाया गया था । उस भागमे स्तम्भोकी अधिक सख्या हो जानेपर प्रेक्षकोके बठनेके लिए स्थानकी भी कमी होती है और देखने वालोके लिए देखनेमे भी इन स्तम्भोसे बाधा होती है । इसलिए उस भागमें जितने ही कम स्तम्भ रखे जावे उतना ही अच्छा है । इसी दृष्टिसे भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोने इन आठ स्तम्भोको यहांसे हटा कर नेपथ्यगृहमे लगानेका विधान किया है ।

चतुरस्र मण्डपमें लगाए जाने वाले चौबीस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न पूववर्ती अनेक टीकाकारो ने किया है । उन सबमे मतभेद पाया जाता है । इसलिए इस विषयका निरूपण कठिन हो गया है । इनमें से श्री शकुक तथा भटटलोल्लट आदि दो आचार्योंके मतोका, अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत विवरण यहाँ समाप्त हो जाता हैं । इन दोनो मतोमें स्तम्भोका जो स्थान निर्धारित होता है उसे हम दो चित्र फलको द्वारा ऊपर दिखला चुके हं । अब इसके आगे ग्रन्थकार इसी विषयमें वार्तिककारके मतका वर्णन करेगे ।

तीसरा वार्तिककारका मत—

ऊपर स्तम्भ व्यवस्था विषयक दो मतोका उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त ग्र थकारने यहा तीसरे मतका भी उल्लेख किया है जिसको उ होने 'वार्तिककार' का मत बतलाया है। बडोदा वाले प्रथम सस्करणके पृष्ठ १७२ तथा १७४ पर अभिनवगुप्तने इसी वार्तिकका उल्लेख 'हृषवार्तिकम् नामसे किया है। हृषवार्तिक की रचना मुख्यत आर्या छ दमे की गई थी। कही कही उसमे गद्याशका भी समावेश था। उसी ग्र थसे पाच श्लोक उद्धत कर ग्र थकारने यहा वार्तिककारके मतको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—ग्र थकारने यहा वार्तिककारका मत दिखलानेकेलिए जिन श्लोकोको उद्धत किया है उनका पाठ बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें अत्य त अस्त व्यस्त एव अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है। अत एव उन श्लोकोकी व्याख्या आरम्भ करनेके पूव उन श्लोकोके पाठका सशोधन कर लेना आवश्यक है। पूव सस्करणोमे उन श्लोकोका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

वार्तिककृत तु—

अ तर्नेपथ्यगृह स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वार ।
ये चत्वारो दशवमुक्ता भव त्येते ॥
भित्ते स्तम्भाना च स्याद तरमष्टहस्तमेवा ते । इति ।
दत्तौऽथ्यवाताथ सोऽथा नाना भवेदुक्त ।
चत्वार पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥
षट सा तरास्तथा ये कार्या इति शास्त्रतात्पयम् ।
पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ॥
तेषामष्टाव येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा ।
तैरुत्क्षिप्तरिह तत स्यादालोक समस्तरगस्य ॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय सम ततो रगे ।
येनालोक प्युपरि काष्ठासु ॥ इति ।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोमें दस, फिर छ और फिर आठ तीनो बारमे लगने वाले स्तम्भोकी व्यवस्था उसी प्रकार दिखलाई गई है जिस प्रकार शकुकादि वाले प्रथम मतमें दिखलाई गई थी। अर्थात यह मत बीचके अ ये तु' वाले मतके समान नही है। 'अ ये तु' वाले द्वितीय मतमे तो प्रथम बार दस और द्वितीय बारके छ स्तम्भोकी व्यवस्था शकुकादिके मतोके समान मान ली गई थी। केवल अ तिम बारके आठ स्तम्भोंके विषयमे उनका मतभेद था। पर वार्तिककार के इस मतमें सभी स्तम्भोकी व्यवस्था शकुकादिके मतसे भि न प्रकारसे की है। समानता केवल इतनी है कि जिस प्रकार शकुकादि वाले प्रथम मतमे तीनो बारके स्तम्भोकी व्यवस्था अलग अलग दिखलाई गई थी इसी प्रकार वार्तिककारके मतमे भी तीनो बारके स्तम्भोकी व्यवस्था अलग अलग दिखलाई गई है। कि तु इन श्लोकोका जो कुछ पाठ हमारे सामने उपस्थित है वह बडा निराशा जनक है। उससे कुछ अथ समझ सकना बडी टेढी खीर है। उसका अथ समझनेकेलिए हमे उनके क्रममे भी परिवतन करना होगा और उनके पाठका सशोधन भी करना होगा। इसलिए हम आगे इसी विषयमे विचार प्रारम्भ करते हैं।

---

१ बत्तीसवें श्लोकके बाद आधा श्लोक प्रक्षिप्त था। ९३ श्लोक के बाद भी 'स्थाप्य चव तत पीठ मष्ट हस्तप्रमाणत ' यह आधा श्लोक प्रक्षिप्त है। अत द्वितीय सस्करण से सख्या क्रम को मिलाए रखने के लिए यहां से एक ही श्लोक पर ९३ ९४ सख्या डाल रहे है।

पाठसमीक्षा—सबसे पहिले श्लोकमें दस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण किया गया है। भरतमुनिने भी पहिली बारमे दस स्तम्भोका विधान किया है। अत भरतमुनिके क्रमके अनुसार होनेसे इस श्लोकका स्थान तो ठीक ही है कि तु इसका पाठ ठीक नही है। इसके पाठमे तीन स्थानोपर त्रुटियाँ पाई जाती हैं। श्लाकमे दस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण इस प्रकारसे किया गया है कि दसमेसे दो स्तम्भ तो नेपथ्यगृहमे लगाए जावे और चार स्तम्भ पीठ अर्थात रगपीठके ऊपर लगाए जावे। ये छ स्तम्भ हुए। इनमेंसे पीठपर लगाए जाने वाले चार स्तम्भोका विधान श्लोकके पीठकाश्च चत्वार इस भागमे किया गया है। इसमे पीठकाश्च पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर पीठगाश्च चत्वार' पाठ होना चाहिए। यह पहिली कि तु बहुत सामा य सी अशुद्धि है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूव सस्करणोमें मुद्रित पाठमे दूसरी त्रुटि यह पाई जाती है कि उसके उत्तराद्धके आरम्भ में कुछ पाठ बिल्कुल लुप्त हैं। इस स्थानकी पाठकी पूर्ति किए बिना इस श्लोकका कुछ भी अथ नही बनता है। इसलिए उसकी पूर्ति करना आवश्यक है। इस लुप्त पाठमें अवशिष्ट बचे हुए चार स्तम्भाके स्थानका निर्देश करना है। यह स्थान निर्देश शकुकादिके पूर्वोक्त मतके आधारपर किया जा सकता है। उस अवस्थामे इन चारो स्तम्भोका स्थान रगपीठपर लगाए हुए चारो स्तम्भोसे परे उनके पार्श्वोमें अथात् दोनो ओर उनसे आठ आठ हाथके अ तरपर होगा। इस व्यवस्थाको मान लेनेपर यह बात सरलतासे समझमे आ सकती है कि यहा पर जो पाठ लुप्त हो गया है वह परितो पद है। उसको जोड देनेपर 'परितोऽये चत्वारो दशैवमुक्ता भव त्येते' इस प्रकारका पाठ बन जाता है। और उससे श्लोकका अथ ठीक तरह से समझमें आ जाता है। 'परित ' पदमे सावविभक्तिक तसिल प्रत्यय है। 'उभयत के समान उसका अथ दोनो ओर होता है। अर्थात शेष चार स्तम्भ रगपीठपर पहिले लगाए हुए स्तम्भोके दोनो ओर लगाए जाते हैं। इन श्लोकोके पाठपर विचार करते समय हमे इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि ये आर्या छ दमें लिखे गए हं। आर्या' मात्रिक छ द है। उसके पूर्वाद्धमें चार चार मात्राओ वाले सात गण और अ तमें एक गुरु वण रहता है। उसके उत्तराद्धमें यह विशेषता होती है कि उसका षष्ठ गण चार मात्राओके बजाय केवल एक मात्रा वाला अर्थात केवल एक लघु अक्षरका होता है। इस दृष्टिसे जब हम इस श्लोकके उत्तराद्धके आरम्भमे लुप्त पाठके विषयमे विचार करते हं तो वहा चार मात्राओका एक गण लुप्त है। अर्थात् चार मात्राओ वाला एक शब्द यहा होना चाहिए यह बात तो छ दकी दृष्टिसे आई। और अथकी दृष्टिसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यहा इस प्रकारका शब्द होना चाहिए जिससे यह अथ निकल सके कि शेष चार स्तम्भ रगपीठपर लगे हुए चारो स्तम्भोसे हटकर उनके दोनो ओर अगल बगलमे होने चाहिए। इन सब बातो को ध्यानमें रखते हुए यहा सबसे अधिक उपयुक्त 'परितो' पाठ पडता है। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठ को प्रस्तुत किया है।

आर्या छ दके लक्षणको घटाते हुए इस श्लोक का पाठ निम्न प्रकार लिखा जायगा—

१	२	३	४	५	६	७	गु०
अ त	नेप	थ्यगृह	स्तम्भौ	द्वौ-पी	ठगाश्च	चत्वा	र।
परितो	ऽयेच	त्वारो	दशैव-	मुक्ता	भ-	व त्ये	ते॥

चार चार मात्राओके गणोके हिसाबसे यह पाठ लिखा गया है। सबसे ऊपर की पक्तिमें गणोकी सख्या डाल दी है। श्लोकके पूर्वाद्धमें सात गण और अ तमे एक गुरु है। उत्तराद्धमें भी इसी प्रकार सात गण और अन्तमें एक गुरु है। अ तर इतना है कि षष्ठ गणमें केवल 'भ' एक लघु

अक्षर है। आर्याके लक्षणके अनुसार पूर्वार्द्धमें विषम सख्या वाले गण जगण अर्थात मध्यगुरु गण नही होने चाहिए। सो नही है। षष्ठ गण जगण अर्थात् मध्यगुरु ही होना चाहिए सो है। इस प्रकार अर्थ और छ द दोनोकी दृष्टिसे हमारा सशोधित पाठ ठीक बठता है।

वार्तिककारके मतके अनुसार स्तम्भोकी व्यवस्थाका प्रदशक चित्रफलक हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। उसमें इस प्रथम बारकी दस स्तम्भोकी व्यवस्थाको प्रथम चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसमे और शकुकादि वाले प्रथम मतमे की गई इन दश स्तम्भोकी व्यवस्थामे मुख्य अतर यह है कि प्रथम मतमे रगपीठके सामनेकी ओर जिन दो स्तम्भोको लगाया गया था उनको वार्तिककारने वहाँसे हटा कर पीछे नेपथ्यगृहमें लगा दिया है।

(४) वार्तिककारके मतानुसार चतुरस्र मण्डपकी स्तम्भ व्यवस्था
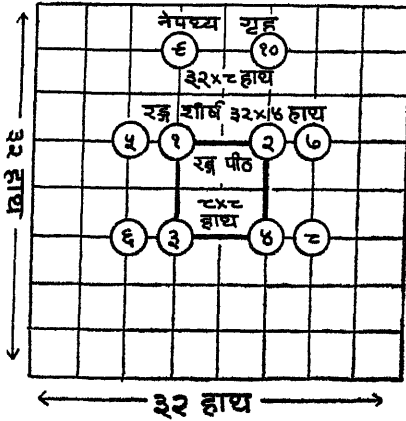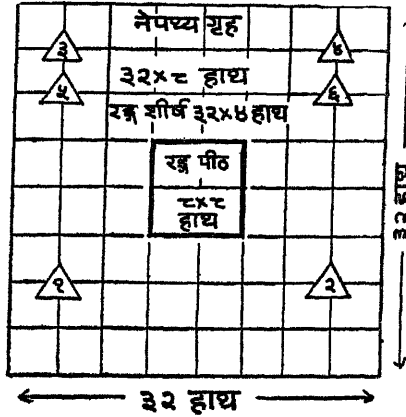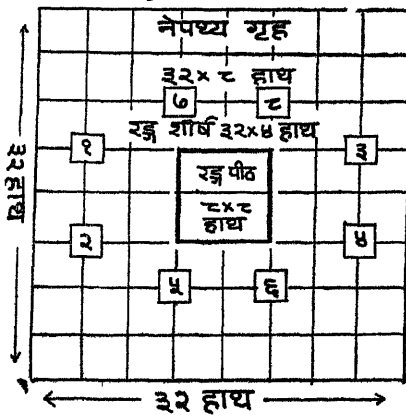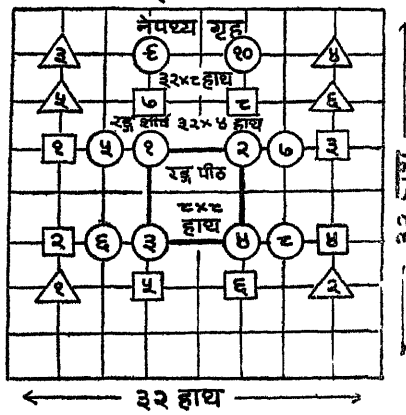
अगले श्लोकके क्रम तथा पाठका अनुस धान—

पाठसमीक्षा—इस प्रथम श्लोकके बाद पूव सस्करणोमे—

भित्ते स्तम्भाना च स्याद तरमष्टहस्तमेवा ते ।
दत्तोऽध्यवाताथ सोऽथा नाना भवेदुक्त ।।

यह श्लोक मुद्रित किया गया है । कि तु यह श्लोक स्थान भ्रष्ट और अ स्थानमें पठित है । इसका स्थान तीनो प्रकारके स्तम्भोकी व्यवस्थाके बाद होना चाहिए । इसका कारण यह है कि इस श्लोकमें भरतमुनि निर्दिष्ट स्तम्भोमेंसे किसी विशेष वगके स्थानका निर्देश नही किया गया है कि तु उनके विषयमें सामा य बात कही गई है । इस समय तो भरतमुनि द्वारा तीन बारमें जिन स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है उनके स्थान निर्धारणका विषय चल रहा है । पहिले वह पूरा हो ले तब उसके बाद सामा य बातोके विचारका प्रश्न आवेगा । इस श्लोकके पूर्वार्द्धमे तो यह बात कही गई है कि स्तम्भोके लगाते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोका भित्तिसे और एक स्तम्भका दूसरे स्तम्भसे आठ हाथसे अधिक अ तर न होना चाहिए । 'स्याद नर अष्टहस्त मेवा ते अधिकसे अधिक आठ हाथका ही अ तर होना चाहिए । यह सामा य बात ही इस श्लोकमे कही गई है । उसका कथन सब स्तम्भोके स्थान निर्धारण कर चुकनेके बाद करना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके उत्तराद्ध भागका पाठ भी पूव सस्करणोमें अत्य त अशुद्ध रूपमे मुद्रित हुआ है । 'दत्तोऽध्यवाताथ सोऽथा नाना भवेदुक्त' इस पाठका कोई अथ समझमे नही आता है । वार्तिककार अपने ढगसे भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित १०, ६, ८ = २४ स्तम्भोके स्थान का निर्धारण कर चुके हैं । पर तु उनका कहना यह है कि यह हमारी की हुई स्तम्भ व्यवस्था ही एकमात्र अ तिम व्यवस्था नही है । उनका वि यास अ य प्रकारसे भी किया जा सकता है । कि तु स्तम्भ यवस्था करते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोसे भित्तियो या अ य स्तम्भोका अ तर आठ हाथसे अधिक न होने पावे । इस बातको ध्यानमें रखनेके बाद फिर रग मण्डपकी रचना करने वाले 'स्थपति' अपनी सुविधानुसार अ य प्रकारसे भी स्तम्भोको लगानेकी व्यवस्था कर सकते हैं । यह वार्तिककारका अभिप्राय है । जो इस उत्तराद्धके द्वारा प्रकट किया गया है । पर तु पूव सस्करणोमें जो पाठ छपा है उससे यह अभिप्राय नही निकलता है । इस अभिप्राय को ध्यानमे रख कर यदि इस उत्तराद्ध भागके पाठका सशोधन किया जाय तो 'दत्तोऽयथा क्रमस्तेषा वा कश्चिद भवेदिह' यह इस स्थानका निकटतम एव उपयुक्ततम सशोधित पाठ हो सकता है । पर तु इतना स्पष्ट है कि पूर्वार्द्धके समान इस उत्तराद्ध भागका भी स्थान यहापर नही है । पहिले सारे स्तम्भोका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद ही इसकी चर्चा की जा सकती है । उसके पहिले नही । इसलिए यह निश्चित बात है कि पूव सस्करणोमें यह श्लोक यहाँ अ स्थानमें ही मुद्रित है । सब स्तम्भोका स्थान निर्धारण हो जानके बाद ही उसका स्थान आ सकता है । इसलिए हमने उसको यहासे हटा कर उसी स्थान पर मुद्रित किया है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पाठमे एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि इसके पूर्वार्द्ध तथा उत्तराद्ध दोनो भागोका क्रम भी परिवर्तित होना चाहिए । अर्थात् उत्तराद्ध-भाग जिसमे अ य प्रकारसे भी स्तम्भ व्यवस्था की जा सकती है यह बात कही गई है वह पहिले, और भित्तियो तथा स्तम्भोके आठ हाथसे अधिक अ तर न रखनेकी बात जिसमें कही गई है वह पूर्वार्द्ध भाग बादको आना चाहिए । इस लिए 'दत्तो' इत्यादि भाग हमारे सशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम भाग तथा 'भित्ते' आदि चतुथ श्लोकका आदि भाग है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूर्वाद्ध भागका पाठ आर्या छन्दकी दृष्टिसे 'भित्ते स्तम्भाना च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवा ते' ठीक है। किन्तु उत्तराद्ध भागका पाठ अशुद्ध है। उसमें पर्याप्त सशोधन की आवश्यकता है। हमने जो सशोधित पाठ नीचे दिया है वही पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। गणोकी व्यवस्था इसी पाठमें ठीक बनती है। आर्या छन्दके लक्षणका समन्वय करते हुए इस श्लोकके सशोधित पाठको इस प्रकार हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि इतने 'दत्तो' इत्यादि भाग हमारे सशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम तथा भित्ते' इत्यादि चतुर्थ श्लोकका प्रारम्भिक भाग है।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
भित्ते स्तम्भा ना च स्याद न्तरम ष्टहस्त मेवा न्ते।
दत्तोऽ यथाक्र मस्ते षा वा कश्चि न्द्र वेद न्न॥

द्वितीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—वार्तिककारके ग्रन्थसे उद्धत किए गए श्लोकोमें इन दो श्लोकोके बाद अगले दो श्लोक निम्न प्रकार दिए गए हैं—

चत्वार पीठगता. पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
षट सान्तरास्तथा ये कार्या इति शास्त्र [तात्पयम्]॥
पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा॥

पाठसमीक्षा—पूववर्ती श्लोकके समान इन दोनो श्लोकोका भी पाठ तथा क्रम दोनो अशुद्ध हैं। इन श्लोकोके पाठमें पहिली बात जिसकी ओर कि अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है, यह है कि उनमें पहिली पक्ति तथा तीसरी पक्तिका पाठ बिल्कुल एकसा है। तीसरी पक्तिके आरम्भमे 'चत्वार' पद छूट गया है। शेष पाठमें कोई अन्तर नही है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इनमेसे एक पक्ति किसी लिपिकारके प्रमादसे ही दुबारा अङ्कित कर दी गई है। इसलिए उसको वहासे निकाल देना अनिवाय है। तीसरी पक्तिको हटा देनेके बाद तीन पक्तिया शेष रह जाती हैं। इनमेंसे पहिली पक्तिमें 'चत्वार' और 'याविह द्वौ द्वौ' पदोसे कुल मिला कर आठ स्तम्भोकी चर्चा की गई है। उसके बाद दूसरी पक्तिमे स्पष्ट रूपसे ही 'षट' पदसे छ स्तम्भोका उल्लेख किया गया है। और अन्तिम अर्थात चौथी पक्तिमे फिर 'अष्टावन्ये' पदसे फिर आठ स्तम्भोकी चर्चा की गई है। इस स्थितिपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम तथा चतुथ दोनो पक्तिया एक दूसरेसे सम्बद्ध पक्तिया हैं। क्योकि उन दोनोका विषय आठ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण है। अत उन दोनोको मिला कर एक पूरा श्लोक बन जाता है। उनके बीचमें आई हुई षट सान्तरा' इत्यादि दूसरी पक्तिको पूव सस्करणोमे जो इन दोनो भागोके बीचमे छाप दिया गया है। वह बिल्कुल असङ्गत है। इसलिए उस पक्तिको हटा देनेके बाद अगले श्लोकका निम्न प्रकारका पाठ शेष रह जाता है—

चत्वार पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा॥

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें आठ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण किया गया है यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। किन्तु उसका पाठ शुद्ध नही है। जैसा कि इस श्लोकके देखनेसे प्रतीत होता है इस श्लोकमे रङ्गपीठके ऊपर चार और उसके आगे पीछे दो दो इस प्रकार कुल मिला कर आठ स्तम्भोका स्थान निर्धारित किया गया है। किन्तु इसके पूव प्रथम श्लोकमे जिन दस स्तम्भोका स्थान निर्धारण किया गया था उनमें ही पीठगाश्च चत्वार' लिख कर ग्रन्थकार

रङ्गपीठके ऊपर चार स्तम्भोका स्थान निर्धारण कर चुके हैं। अब दुबारा आठ स्तम्भोसे चार स्तम्भ रगपीठ पर लगानेका कोई अवसर नही रहता है। इसलिए यहा चत्वार पीठगता' यह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। उसे सशोधित करना ही होगा।

पाठसमीक्षा—जब यह स्तम्भ रङ्गपीठपर नही लग सकते हैं तब इनका स्थान कहाँपर होना चाहिए यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका समाधान करनेकेलिए हमे पिछले लगाए हुए दस स्तम्भोकी स्थिति और इस श्लोकमे बतलाई हुई अन्य चार स्तम्भोकी स्थितिको ध्यानसे देखना होगा। वार्तिककारके मतानुसार दी हुई स्तम्भ व्यवस्थाके चित्रोमेंसे चित्र न० १ को देखनेसे प्रतीत होता है कि रगपीठके चारो कोनोपर चार स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। उनके बाद रगपीठके दोनो ओर चार हाथकी दूरीपर दो दो तथा पीछेकी ओर नेपथ्यगृहमें रङ्गपीठ वाले स्तम्भोसे आठ आठ हाथके अ तरपर दो, कुल मिलाकर दस स्तम्भ और खडे किए जा चुके हैं। यह वतमान श्लोक पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ से रगपीठके आगे और पीछेकी ओर दो दो स्तम्भोंके लगानेका विधान कर रहा है। चित्रके देखनेसे विदित होगा कि पीछेकी ओर रगपीठसे आठ हाथकी दूरीपर दो स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। परन्तु अभी रगपीठसे चार हाथकी दूरीपर कोई स्तम्भ नही लगे हैं वे स्थान खाली हैं। इसी प्रकार रङ्गपीठके आगे भी चार चार हाथकी दूरी वाले दोनो स्थान खाली हैं। इसलिए आगे और पीछेकी ओर जिन स्तम्भोका स्थान निर्धारण किया जा रहा है वे दोनो ओर रगपीठसे चार चार हाथकी दूरीपर लगेगे। यह बात स्पष्ट हो जाती है। तब शेष चार स्तम्भ भी रङ्गपीठके अगल बगलमे दोनो ओर पहिले लगे स्तम्भोसे चार चार हाथकी दूरीपर लगाए जाने चाहिए। यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार इन आठो स्तम्भोका स्थान निर्धारित हो जाता है। स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब पाठका सशोधन कठिन नही रहता है। जिन चार स्तम्भोको यहा चत्वार पीठगता' पीठपर लगानेका उल्लेख पाया जाता है वे पीठपर न लग कर पीठके दोनो ओर लगाए जाने हैं। इसलिए 'चत्वार पीठगता' के स्थानपर 'चत्वार पाश्वभ्यिा पाठ उचित प्रतीत होता है। इसलिए इस श्लोक भागका पाठ इस प्रकार बनता है—

'चत्वार पाश्वभ्यिा पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।

पाठसमीक्षा—श्लोकके उत्तरार्द्ध भागके पाठमें भी थोडी सी अशुद्धि है। तेषामष्टाव ये ऽप्युपरि निवेश्या' इस प्रकारका जो पाठ पूव सस्करणोमे छपा है उसके स्थानपर 'ते चाप्यष्टाव ये ह्युपरि निवेश्या' पाठ अधिक उपयुक्त है। इस पाठके माननेसे अथ अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'तेषा पद उतना सङ्गत नही होता है। और खटकता सा प्रतीत होता है। अत हमने उसको भी सशोधित करके ही सशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

आर्या छ द के लक्षणका समन्वय करते हुए इस श्लोकके सशोधित पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
चत्वा	र पा	श्वभ्यिा	पश्चा	दग्रे च यावि	ह द्वौ	द्वौ।	
ते चा	प्यष्टा	वन्ये	ह्युपरि नि वेश्या	य	उद्दि	ष्टा॥	

इस सशोधित पाठके अनुसार वार्तिककारके मतमें स्तम्भ व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेवाले चित्रमें इन आठ स्तम्भोके लगानेका स्थान चित्र सख्या ३ में वर्गाकार चिह्नो द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

तृतीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

दस स्तम्भो तथा आठ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण ऊपरके दो श्लोकोमें किया जा चुका अब छ स्तम्भोके स्थानके निर्धारणका काय शेष रह जाता है। यह काय 'षट सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्' इस पक्ति द्वारा किया गया है। कि तु इसका पाठ अपूर्ण है। आर्या छ दके लक्षणके अनुसार इसमे सप्तगण गोपेता चार मात्रा वाले सात गण और अ तमे एक गुरु होना चाहिए कि तु वह सख्या पूरी नही होती है। उसमे तीन मात्राओकी कमी रह जाती है। इसकी पूर्तिके लिए हमने इति के बाद भवति' पद बढाया है। इसके बढानेसे आर्याके लक्षणके अनुसार षष्ठ गण मध्य गुरु जगण बन जाता है। इसलिए भवति' पदका, जोकि पूव सस्करणोमें नही दिया गया था समावेश करके ही हमन इसका पाठ प्रस्तुत किया है।

यह इस श्लोकके पूर्वार्द्ध की चर्चा हुई। अब इस श्लोकके उत्तराद्ध भागके पाठपर भी विचार करना आवश्यक है। यहा तक भरत मुनिने तीन बारमें जिन १० ८ और ६ स्तम्भोके लगानेका विधान किया था वार्तिककारने अपने मतके अनुसार उनके लगानेका क्रम दिखला दिया। कि तु उनका यह भी विचार है कि एक मात्र हमारा दिखलाया हुआ क्रम ही अ तिम क्रम नही है। स्तम्भोके लगानका कोई अ य क्रम भी हो सकता है। अपने इस भावको उन्होने दत्तोऽन्यव ताथ ' आदि श्लोकाध द्वारा व्यक्त किया है। वार्तिककारके अपने मतानुमार स्तम्भ व्यवस्थाके पूण होनेके बाद स्वाभाविक क्रमसे उसी श्लोकाधका स्थान आता है। अत हमने इसके उत्तराद्ध भागके रूपमें उसी भागको प्रस्तुत किया है। कि तु उसका पूव सस्करणोमें दिया हुआ दत्तोऽन्यवाताथ सोऽथा नाना भवेदुक्त ' यह पाठ बिल्कुल अशुद्ध एव असङ्गत है। हमने उसके स्थान पर दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषा वा कश्चिद भवेदत्र' पाठ रखा है। इस प्रकार इन दो भागोको मिला कर तृतीय श्लोकका पाठ निम्म प्रकार लिखा जा सकता है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
षट सा तरास्त थान्ये कार्या इति भव ति शास्त्र तात्प यम्।
दत्तो ऽन्यथा क्र मस्ते षा वा कश्चि द्भ वेद त्र॥

इस पक्तिके अनुसार शेष छ स्तम्भोका कोई विशिष्ट स्थान निर्धारित नही किया गया है अपितु सान्तरा सावकाशा अवकाश या स्थानके अनुसार उनके लगानेका विधान किया गया है। ऊपर दो श्लोकोमें स्थान निश्चित करके उन उन स्थानोपर १०+८ अठारह स्तम्भोके खडा करनेका विधान किया गया था। उनके बाद जो कुछ स्थान बच रहे हैं उनमे उपयोगिताके अनुसार इन छ स्तम्भोको लगाया जाना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी कारण उन्होने इस छ स्तम्भोकी व्यवस्थाको आठ स्तम्भोकी व्यवस्थाके बाद रखा है। वसे भरतमुनिके क्रमसे देखा जाय तो छ स्तम्भोकी व्यवस्था आठ स्तम्भोकी व्यवस्थाके पहिले आनी चाहिए थी। किन्तु वार्तिककारने दस स्तम्भो और आठ स्तम्भोका तो स्थान निश्चित रूपसे निर्धारित कर दिया है और शेष बचे हुए स्थानोमें उपयोगिताके अनुसार इन छ स्तम्भोके लगानेका विधान किया है। इस लिए इसको आठ स्तम्भोकी व्यवस्थाके बाद ही स्थान दिया है। वार्तिककार' के मतानुमार स्तम्भ व्यवस्थाको दिखलाने वाले चित्रमें इन छ स्तम्भोका स्थान दूसरे चित्रमें त्रिभुजाकार चि हो द्वारा दिखलाया गया है।

चतुथ श्लोकका पाठानुसन्धान—

ऊपर हमने बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें मुद्रित पाठके अनुसार वार्तिककारके मतको प्रस्तुत करने वाले साढे पाँच श्लोक उद्धृत किए थे। इनमेसे एक (सातवी) पक्ति दुबारा छप

गई थी। उमको निकाल देने पर पाँच श्लोक या दस पक्तिया शेष रह जाती है। इनमें से तीन श्लोको के द्वारा क्रमश १०, ८, ६ स्तम्भोके स्थानका क्रम निर्धारित किया जा चुका है। अब शेष बचे हुए दो श्लोकोमें इस स्तम्भ व्यवस्थासे सम्बद्ध अ य सामा य बाते कही गई हैं। उनमें पहिले श्लोकमें दो बाते कही गई हैं। पहिली बात तो यह कही गई है कि किसी भी प्रकारसे स्तम्भ व्यवस्था की जाय इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी स्तम्भका भित्तियोसे या दूसरे स्तम्भोसे आठ हाथसे अधिक अ तर न रहने पावे। यह जो आठ हाथसे अधिक अ तर न रहनेकी बात कही गई है वह मण्डपकी छतके पटावकी दृष्टिसे कही गई है। भित्तियो और खम्भोके ऊपर कडी आदि डाल कर ही तो छतका पटाव किया जायगा। आठ हाथका अ तर रहने तक तो कडी आदि सरलतासे डाली जा सकती हैं। कि तु बीचका कू ड इससे अधिक हो जानेपर उसमे कठिनाई होगी। इस लिए आठ हाथसे अधिक अ तर न रखनेकी ओर विशेष रूपसे ध्यान दिलाया गया है। इससे कम चार हाथके अ तर पर भी स्तम्भ रखे जा सकते हैं। कि तु इससे अधिक अ तर नही देना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय है।

इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमें दूसरी बात जो कही गई है वह इस स्तम्भ व्यवस्थाके प्रयोजनको सूचित करती है। स्तम्भोके लगानेका एक मात्र प्रयोजन मण्डपके ऊपर छतके पटावकी व्यवस्था करना है। इसकेलिए वार्तिककारने यह श्लोकाध लिखा है। कि तु इसका पाठ सवथा अशुद्ध है। 'तरुत्क्षिप्तरिह तत स्यादालोक समस्त रङ्गस्य' इसमे स्यादालोक समस्त रङ्गस्य' यह पाठ असङ्गत है। इसका सम्ब ध इस श्लोकसे नही अपितु अगले श्लोकसे है। वस्तुतः इस श्लोकका अ तिम चरण अगले श्लोकमें और अगले श्लोकका अ तिम चरण इस श्लोकमे मिला दिया गया है। इस लिए यह गडबड हो गई है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें भी तीन मात्राओ की कमी पड रही थी। उस सबको ठीक करनेके बाद आर्या छ दके लक्षण घटानेकी दृष्टिसे इस श्लोकके पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
भित्ते	स्तम्भा	ना च	स्याद	तरम-	ष्टहस्त	मेवा	ते।
तरुत	क्षिप्तैः	स्यादिह	चाधा	रो ह्यु प	रि	काष्ठा	सु॥

पञ्चम श्लोकका पाठानुस धान—

इस प्रकार पाच श्लोकोमेंसे चार श्लोकोका पाठानुस धान कर चुकनेके बाद अब एक अ तिम श्लोक शेष रह जाता है। पूव सस्करणोमें उसका पाठ निम्न प्रकार दिया है—

सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय सम ततो रङ्गे।
येनालोक प्युपरि काष्ठासु॥

इसमें श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका पाठ एक तो वैसे ही वह अपूर्ण है। बीचमेंसे कुछ पाठ लुप्त हो गया है। पर जो कुछ शेष बचा है वह भी अशुद्ध और असङ्गत रूपमे मुद्रित किया गया है। इस श्लोकमें वार्तिककार रङ्ग मण्डपमें चारो ओर प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए सोपानाकृति' अर्थात् सीढियोकी तरह क्रमश ऊपर उठते हुए आसनोकी रचमा करनेका विधान कर रहे हैं। 'सोपानाकृति' आसनोके निर्माण करनेका यह प्रयोजन है पीछे बैठने वाले लोगोको आगे वालोकी आड न पडे। और उनको भी आगे का सब दृश्य ठीक दीखता रहे। इस दृष्टिसे इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका

वार्तिककृत्तु—

अन्तर्नेपथ्यगह स्तम्भौ द्वौ पीठगाश्च चत्वार ।
परितोऽन्ये चत्वारो दशवमुक्ता भवन्त्येते ॥ १ ॥
चत्वार पाश्वाभ्या पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ।
ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा ॥ २ ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति भवति शास्त्रतात्पयम् ।
दत्तो ऽन्यथा क्रमस्तेषा वा कश्चिद् भवेदत्र ॥ ३ ॥

पाठ येनानाच्छादनया स्यादालोक समस्तरङ्गस्य यह होना चाहिए। इसका अथ यह हुआ कि यहा पूव सस्करणोमे लुप्तपाठका जो स्थान छोड दिया है वहाँ पर 'अनाच्छनया' पाठ होना चाहिए और ह्युपरि काष्ठासु यह जो पाठ चतुथ चरणके रूपमे छापा गया है वह अस्थान पाठ है। उसका उचित स्थान यहा नही अपितु इससे पूव वाले श्लोकके अ तमे है। लिपिकारके प्रमादवश चतुथ श्लोक और पञ्चम श्लोकके अ तिम चरणोको परस्पर बदल दिया गया है। अर्थात् पञ्चम श्लोकका चतुथ चरण चतुथ श्लोकके अन्तमें, और चतुथ श्लोकका अ तिम चरण पञ्चम श्लोकके अ तमे छाप दिया गया था। इस क्रमको ठीक करनेकी आवश्यकता है। उसको ठीक किए बिना दोनोमेंसे किसी भी श्लोकका अथ समझमें नही आ सकता है। अत हमने इस समस्त अस्त यस्ता और अशुद्ध पाठका उद्धार एव सशोधन कर वार्तिककारके मतका सुसम्बद्ध सशोधित पाठ मूलमे प्रस्तुत करनेका यत्न किया है।

आर्या छ दके लक्षण सम वयकी दृष्टिसे इस श्लोकको निम्न प्रकार लिखा ज सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	अ
सोपा	नाकृति	पीठक	मत्रवि	धेय	सम त-	तो र	गे।
येना	नाच्छा	दनया	स्यादा	लोक	स्तु	रङ्ग	स्य ॥

वार्तिककारके इन पाचो श्लोकोका पाठ पूव सस्करणोमें बडा अशुद्ध और अस्त व्यस्त रूपमे छपा था। हमने उसे यथा सम्भव शुद्ध एव व्यवस्थित रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। पूव प्रदर्शित युक्तिक्रमके अनुसार जो सशोधित पाठ निर्धारित होता है उसे मूल पाठके रूपमें रख कर आगे उन पाचो श्लोको का अथ देते हं।

अभिनव०—वार्तिककार तो [स्तम्भोकी व्यवस्था निम्न प्रकार करते है]—

अभिनव०—[पहिले दस स्तम्भोमेसे] दो स्तम्भ नेपथ्यगृहके भीतर, चार स्तम्भ रङ्गपीठके ऊपर और शेष चार [रङ्गपीठके] दोनो ओर अगल बगलमे [आठ आठ हाथकी दूरीपर लगाने चाहिए]। इस प्रकार ये [प्रथम बार] कहे हुए दश [स्तम्भ] हो जाते हैं।१।

अभिनव०—[उसके बाद आठ स्तम्भोमेसे] चार रङ्गपीठके अगल बगलमे [रगपीठ तथा पूव स्तम्भोके बीचमे चार हाथके अन्तरपर] और [रगपीठके] आगे तथा पीछे दो-दो इस प्रकार [दूसरी बारमे कहे हुए] वे आठ [स्तम्भ] भी लगाने चाहिए ॥२॥

भित्ते स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।
तैरुत्क्षिप्त स्यादिह चाधारो ह्युपरि काष्ठासु ॥ ४ ॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय समन्ततो रङ्गे ।
येनानाच्छादनया स्यादालोकस्तु रङ्गस्य ॥ ५ ॥

अन्येऽपि चैवविधा बहव प्रवादा ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता ।

अभिनव०—और शेष [बचे हुए स्थानोमे] अवसरानुकूल [बचे हुए] छ [स्तम्भ] लगावे यह शास्त्रका तात्पय होता है । अथवा नाना प्रकारका अन्य कोई क्रम भी इनको दिया जा सकता है ॥३॥

अभिनव०—किन्तु प्रत्येक दशामे [यह ध्यान रखना चाहिए कि] भित्तिसे स्तम्भो का [तथा एक स्तम्भसे दूसरे स्तम्भके बीचका] अन्तर अधिक अधिक आठ हाथका हो [इससे अधिक नही । कम से कम तो चार हाथ तक हो सकता है] । इस प्रकार उनके खडे किए जानेसे ऊपरकी ओर [छतके लिए ठीक] आधार मिल जाता है ॥४॥

अभिनव०—[इस स्तम्भ व्यवस्थाके बाद] इस रगभूमिमे सब ओर [अर्थात् तीन ओर] प्रेक्षकोके बठनेकेलिए सीढिओकी तरह [क्रमश ऊपर उठते हुए] आसनोकी रचना करे । जिससे [पीछे वालोके लिए] आड न होकर सब लोगोको रगपीठका भली प्रकारसे दशन हो सके ॥५॥

अभिनव०—इस प्रकारके अन्य भी मत [स्तम्भ व्यवस्थाकेविषयमे] पाए जाते हैं । ग्रन्थके विस्तारके भयसे उनको नही लिखा है ।

भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्था—

इस प्रकार यहा तक अभिनवगुप्तने स्तम्भ व्यवस्थाके विषयमे सबसे पहिले शङ्कुकादिके मतका उसके बाद अन्ये' पदसे भट्टलोल्लट या भट्टनायक आदि अन्य व्याख्याताओके मतका उसके बाद वार्तिककारके मतका विशेष रूपसे उल्लेख किया है । उसके बाद इस विषयमें अन्य मतभी पाए जाते है इस बातका निर्देश अन्ये चैवविधा प्रवादा ' इस वाक्य द्वारा किया है । इस प्रकार चार व्याख्याकारोके मतोको देनके बाद अब ग्रन्थकार 'इत्युपाध्याया ' पदसे अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतका निर्देश करने जा रहे हैं ।

पाठसमीक्षा—किन्तु इस स्थलका पाठ बडा अस्त व्यस्त और अशुद्ध रूपमें पूव सस्करणो मुद्रित हुआ है । सामान्य रूपसे उसका अथ समझ सकना बडा दुष्कर काय है । उसमें पाठकी अशुद्धिया भी हैं और पाठके पौर्वापयका व्यतिक्रम भी है । इसलिए जब तक इन दोषोका परिहार कर पाठको क्रमबद्ध और सशोधित न कर दिया जाय तब तक वह समझमें नही आ सकता है । इसलिए उसकी व्याख्या करनेके पूर्व हम उसको सशोधित तथ क्रमबद्ध करनका यत्न करेगे । सबसे पहिले एक बार पूव सस्करणोमें वह पाठ जिस रूपमे मुद्रित हुआ है उसको यहा दे देना आवश्यक है । उसके बाद उसके विषयमें अन्य विचार हो सकेगा । बडोदा वाले दोनो सस्करणोंमे इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

'अय चन्द्रमोदर [चात्र सार] इत्युपाध्याया । इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता अधोभूमिः रङ्गपीठ रङ्ग इति । तेषु चाय स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्त ।

तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह 'तत्राभ्य तरत ' इति। विस्तारे द्वादशहस्ताया मेव च चतु [हस्ता तरा] दातव्या । द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्ता तरावन्यो यापेक्षया चाष्टहस्ता तरौ । अन्यो य तयोर तर तथा काय येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चतुलासु दश । एनत स्तम्भदशक व्यतिरिक्ताया भूमावासनविधिरित्याह स्तम्भाना वाह्यतश्चापीत्यादि। पूववद्व्याख्येयम् । अथ रङ्गपीठे स्तम्भ यासमाह षड यानित्यादि । उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति । रङ्गपीठस्य यत्पठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कत यम् । चकाराद य [प्रवेशाथम्] । जनप्रवेशनद्वारम् । त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सगृहीत भवति । सवग्रहणाद यूनाधिकत्वमत्र दशयन् विकृष्टे स्तम्भा नामाधिक्य मनुजानीते ।

त्र्यश्ररङ्गपीठे तु प्रतिरङ्गमध्य इति । रङ्गोऽन्त तच्छिर । तत पष्ठत र गेयादिवा भित । कमप्रवचनीयो वजनद्योतक । रङ्गपीठ वजयित्वा तदभ्य तरमण्डपस्य । तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठे प्रतियोगस्तम्भा इत्यष्टहस्ता तराश्चत्वार । तदन तर स्तम्भ द्वयमिति षडप्यतेऽष्टहस्ता तर ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुहस्तायाम द्वात्रिंशद्धस्तविस्तार यद्रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये । प्रतितुल चाष्टहस्ता [न्तर स्तम्भचतुष्टय] वजयित्वेत्यिष्टौ भवति । अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त चतुहस्ता तरालेऽपि तिरश्चीन देयम् । येस तुलित चित्र भवति । एतदाहाष्टौ स्तम्भानितित्यादि । शादसौमौयादिको वा सिरयमुपरीति । रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यथ । तथा च विकृष्टमण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उ नत वक्ष्यते । तत्र नियमादष्टस्तम्भा यस्य ते । अपि तु दृढा यसनीया इति दशयति तत्र स्तम्भा ' इति ।

पाठसमीक्षा—यह पूव सस्करणोमें मुद्रित इस स्थलका पाठ है। अनेक बार ध्यान-पूवक पढ जानेपर भी इसका कुछ अथ समझमें नही आता है। उसको अनेक बार पढ कर यदि हम उसके विषयको समझना चाहे तो मोटे मोट रूपसे उसमें सात विषयोका प्रतिपादन दिखलाई देता है।

१ प्रथम अनुच्छेदमें 'इत्युपाध्याया ' पद आया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्र थकार यहां अपने उपाध्यायके मतका प्रतिपादन कर रहे हैं।

२ द्वितीय अनुच्छेद के आरम्भमें एतत स्तम्भदशक यतिरिक्ताया भूमावासनविधि रित्याह' इससे प्रतीत होता है कि इसमें आसनविधिका वणन किया गया है।

३ उसी अनुच्छेदमें षड यानित्यादि से प्रतीत होता है कि इसमे यहांपर छ स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है।

४ उसके बाद उसी अनुच्छेदमें द्वारद्वयम्'। 'जनप्रवेशनद्वारम्'। इत्यादि पदोको देख कर यह प्रतीत होता है कि इनमे द्वारविधिका भी वणन किया गया है।

५ उसके बाद अगले तृतीय अनुच्छेदके आरम्भमें' त्र्यश्ररङ्गपीठ शब्दके प्रयोगको देख कर यह प्रतीत होता है कि इसमें त्र्यत्र रङ्गपीठका भी वणन किया गया है।

६ उसके आगे फिर 'षडप्येतेऽष्टहस्तान्तर' पद आता है। उसको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहा फिर छ स्तम्भोके लगानेकी चर्चा की जा रही है।

७ उसके बाद प्रतितुल चाष्टहस्ता तर स्तम्भचतुष्टय वजयित्वेत्यष्टौ भवति' इस पक्तिको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहापर आठ स्तम्भोके लगानेका वणन है।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इन पक्तियोमें अनेक विषयोका वर्णन पाया जाता है। जिनमेंसे कुछका तो इस प्रकरणके साथ सम्बन्ध है किन्तु कुछ विषय ऐसे भी है जिनका प्रकृत प्रकरणसे कोई भी सम्बन्ध नही है। उदाहरणकेलिए द्वार विधिसे सम्बद्ध पक्तियोको निर्दिष्ट किया जा सकता है। यह स्तम्भ व्यवस्थाका प्रकरण चल रहा है। द्वार व्यवस्थाका नही। द्वार व्यवस्थाका वर्णन आगे आवेगा। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इन द्वार व्यवस्था विषयक पक्तियोको यहाँ असाव धानताके कारण अन्य स्थानमे मुद्रित कर दिया गया है। वे अर्थको समझनेमें गडबड पैदा कर रही है। इसके अतिरिक्त जिन पक्तियोका वर्तमान प्रकरणसे सम्बन्ध है उनको भी इस पाठमे अस्त व्यस्त रूपमे दिया है जिससे उनका अर्थ भी समझमें नही आता है। और तीसरा दोष यह है कि अनेक स्थानोपर पाठ अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा होनेके कारण एक दम अज्ञेय बन गया है। इन सब बातोको ठीक तरहसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे हम आगे इस उद्धरणके पाठको १४ खण्डोमें विभक्त करके आगे दे रहे हैं। इस खण्ड विभागके बाद हम यह दिखलानेका यत्न करेगे कि इनमें से किन किन खण्डोका परस्पर सम्बन्ध है। और किस क्रमसे उनका पाठ ग्रन्थकारको अभीष्ट हो सकता है।

१ अथ चन्द्रसोदर इत्युपाध्यायाः। इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रङ्गपीठ रङ्ग इति। तेषु चाद्य स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्त। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह— तत्राभ्यन्तरत ' इति। विस्तारे द्वादशहस्तायाम मेव च चतु [हस्तान्तर] दातव्या। दौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तारौ, अन्यो यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽन्य तयोरन्तर तथा कार्य येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चतुलासु दश। [दश स्तम्भ विधि श्लोक ९१]

२ एतत् स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह—'स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इति। पूर्ववद्व्याख्येयम्। [आसन विधि, श्लोक ९१]

३ अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह— षडन्यान इत्यादि। [षड स्तम्भ विधि श्लोक ९२]

४ उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति। [द्वारविधि]

५ रङ्गपीठस्य यत पृष्ठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य [प्रवेशा र्थम्] जनप्रवेशद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सगृहीत भवति। [द्वारविधि श्लोक १०१]

६ सर्वग्रहणाद यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते। [श्लोक १०४]

७ त्र्यश्ररगपीठे तु प्रतिरगमध्ये इति।

८ रगोऽत्र तच्छिर। तत पृष्ठत। र गे यादिवाभित।

९ कमप्रवचनीयो वर्जनद्योतक। रगपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य।

१० तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वार। तदनन्तर स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरम्।

११ ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायाम द्वात्रिंशद्धस्तविस्तार यद्‌ रगशिर तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्तान्तर स्तम्भचतुष्टय वर्जयित्वा

इत्यष्टौ भवति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त चतुहस्ता तरालेऽपि तिरश्चीन देयम्। तेन तुलित चित्र भवति। एतदाह अष्टौ स्ताम्भभान इत्यादि।

१२ शादसौमौयादिको वा सिरयमुपरीति।

१३ रगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यथ । तथा च विकृष्टमण्डपे रगपीठापेक्षया रगशिर उ नत वक्ष्यते। तत्र नियमादष्ट स्तम्भा यस्य ते।

१४ अपि तु दृढा यसनीया इति दशयति तत्र स्तम्भा इति।

(५) भट्टतौतके मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था
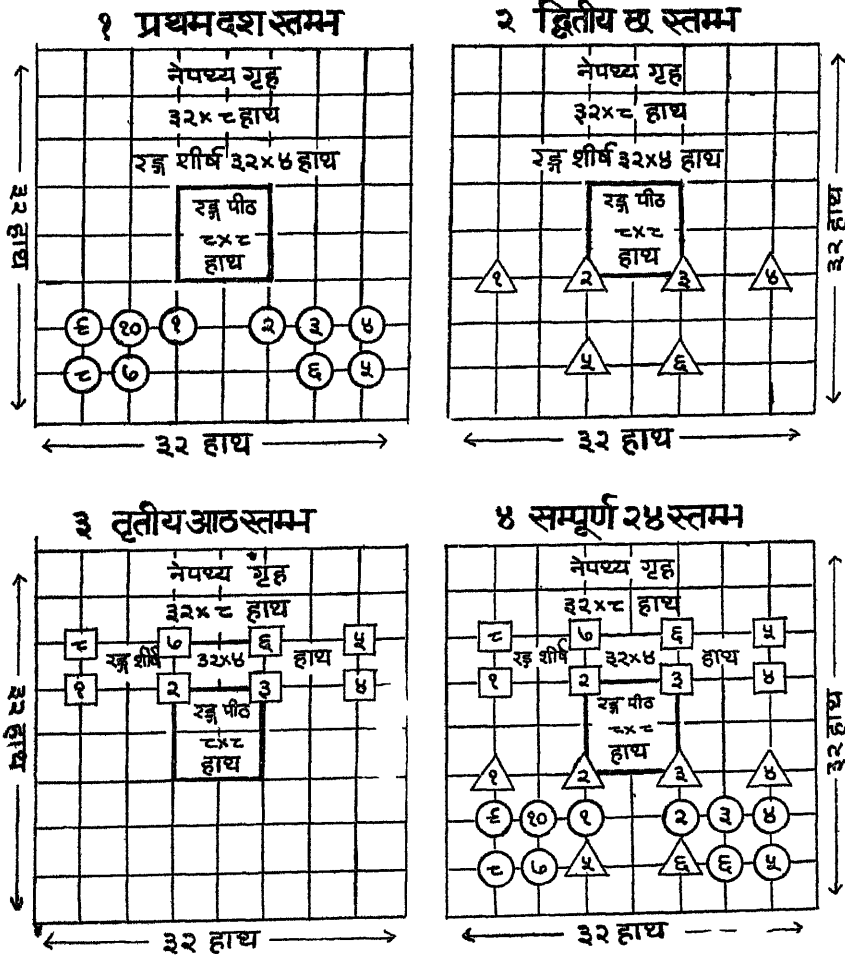
प्रथम श्लोक [९०] की व्याख्याका पाठानुसंधान—

पाठसमीक्षा—इनमें से प्रथम खण्डमें दश स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है। यह भरतमुनिके ९० सख्या वाले श्लोककी व्याख्या रूपमे लिखा गया है। और ठीक स्थानपर मुद्रित है। किंतु उसका पाठ बहुत अशुद्ध है। अथ च द्रसोदर इत्युपाध्याया' से इस खण्डका आरम्भ होता है परंतु यह 'श्रीगणेश' ही गलत हो गया है। च द्रसोदर' पदकी यहाँ कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए वह अशुद्ध है। यह प्रथमग्रासे मक्षिकापात हुआ। 'अथ च द्र सोदर के स्थानपर यहाँ 'अथ चात्र सार' यह पाठ होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है स्तम्भ व्यवस्था विषयक अनेक मतोको दिखलानेके बाद अभिनवगुप्त सक्षेपमे अपने गुरु भट्टतोतके मतको दिखलाना चाहते हैं। अथ चात्र सार पदसे अभिनवगुप्तने उसीका उपक्रम किया है। अत यह अथ च द्रसोदर के स्थान पर हमने अथ चात्र सार इत्युपाध्याया' यह पाठ प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्तने प्रथम बारमें लगाए जाने वाले दश स्तम्भोका स्थान 'अधोभूमि अर्थात प्रेक्षकोके बैठने वाले स्थानमे नियत किया है। मूल श्लोकके तत्राभ्य तरत पदसे उ होने भीतरी भाग अर्थात प्रेक्षकोके बैठने वाले स्थानका ग्रहण किया है। और उसकेलिए अधोभूमि' शब्दका प्रयोग किया है। चतुरस्र मण्डपमे यह 'अधोभूमि' वाला क्षेत्र ३२ हाथ लम्बा और बारह हाथ चौडा निकलता है। इसी क्षेत्रमे प्रथम बारके दश स्तम्भ लगानेका विधान भट्टतोत ने किया है। इसीका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने 'अधोभूमौ स्तम्भानाह— तत्राभ्य तरत इति। लिखा है। भट्टतोत के मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र फलक ऊपर दिया जा चुका है। इसके प्रथम चित्रमें अधोभूमिमें दश स्तम्भोके स्थान दिखलाए गए हैं। इनमे केवल दो स्तम्भो के बीचमे आठ हाथोका अ तर है और शेष सब स्तम्भ एक दूसरेसे चार हाथके अ तरपर लगे हुए हैं। अभिनवगुप्तन 'द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्ता तरौ अ यो यापेक्षया चाष्ट हस्ता तरौ' लिख कर दो स्तम्भोके विषयमे इसी प्रकारकी व्यवस्था की है। हमने १ २ सख्या वाले दो स्तम्भोके जो स्थान चित्रमे एक दूसरेसे आठ हाथके अ तरपर नियत किए हैं वे अपनी अपनी ओर वाली भित्तियोसे १२ १२ हाथकी दूरीपर भी हैं। उनका निर्धारण अभिनवगुप्तकी इसी पक्तिके आधारपर किया गया है। अब शेष आठ स्तम्भोके स्थानकी बात रहती है। उसके लिए यहा अभिनवगुप्तने 'विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुर्हस्ता तरा दातव्या' यह पक्ति लिखी है। इस निर्देशके अनुसार १२ हाथ चौडी 'अधोभूमि' में चार चार हाथके अ तरपर आठ स्तम्भो के लगानेकी जो कुछ व्यवस्था हो सकती है उसके अनुसार हमने उनके स्थान भी प्रथम चित्रमे निर्धारित कर दिए हैं। इन दश स्तम्भोमे दो दो स्तम्भोको मिलाकर उनके ऊपर एक-एक तुला' या 'सरदल' या 'शहतीर डाली जायगी। इस बातको अभिनवगुप्तने इसी खण्डके अ तमें 'इत्येव पञ्चतुलास दश' इस पक्तिसे निर्दिष्ट किया है।

पाठसमीक्षा—यह दश स्तम्भोके स्थान निर्धारणकी व्यवस्था तो ठीक बन गई परंतु उसमे एक विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है। भरतमुनिने इन दश स्तम्भोके लगानेका निर्देश करते हुए 'तत्राभ्या तरत कार्या रङ्गपीठोपरिस्थिता। दश प्रयोक्तृभि स्तम्भा शक्ता मण्डपधारणे' यह श्लोक [स० ९०] लिखा है। इसमें इन दश स्तम्भोको 'रङ्गपीठोपरिस्थिता' अर्थात् रङ्गपीठके ऊपर स्थित कहा है। किन्तु प्रकृत लेखके अनुसार 'भट्टतोत' ने उनका स्थान 'अधोभूमि' में निर्धारित किया है। यह भट्टतोतकी स्तम्भ व्यवस्थाका भरतमुनिकी स्तम्भ व्यवस्था के साथ विरोध उपस्थित होता है। भट्टतोतके सामने भी यह समस्या आई थी। उ होने

उसके समाधानकेलिए कुछ यत्न भी किया है। कि तु पाठ दोषके कारण वह स्पष्ट रूपसे समझ मे नही आता है। फिर भी जो कुछ पाठ उपस्थित है उससे ऐसा अनुमान होता है कि उ होने इस समस्याके समाधानके दो माग निकाल हैं। पहिले मागके अनुसार वे 'उपरि' शब्दसे ऊपर' अथ न लेकर आगे या सामन अथका ग्रहण करना चाहते ह। उस अवस्थामे रङ्गपीठोपरि स्थिता' का रङ्गपीठके सामने अर्थात् अधोभूमिमें स्थित यह अथ सरलतासे ही हो जायगा। भट्टतोत की 'उपरि शब्दकी यह याख्या बिल्कुल ठीक है। इसी याख्याको मान कर उ होने इन दश स्तम्भोको अधोभूमि' मे लगानेका विधान किया है।

पाठसमीक्षा—ऊपर दिए हुए युक्ति क्रमसे यह बात बिल्कुल निश्चित है कि भट्टतोत 'ऊपरि शब्दसे आगे' या सामन अथ ले रहे हैं। कि तु इस भावको व्यक्त करने वाली जो पक्ति उ हाने लिखी थी उसका पाठ ऐसा भ्रष्ट और अस्त व्यस्त हो गया है कि उसको पहिचान सकना भी कठिन है। ऊपर दिए हुए १६ खण्डोमें चौथे खण्डके रूपमें जो पक्ति दी गई है वही पक्ति भट्टतोतके इस अभिप्रायको व्यक्त करने वाली पक्ति है। 'उपरि रङ्गपीठमुखापलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति' यह, वह पक्ति है जो भट्टतोत ने उपरि' शब्दकी व्याख्याके रूपमें लिखी थी। कि तु पूव सस्करणोके पाठके अनुसार एक तो वह स्थान भ्रष्ट हो गई है और दूसरे अशुद्ध रूपमे छपी है इसलिए न तो उसका ही कोई अथ लगता है और न प्रकृत विरोध परिहार का कोई माग दिखलाई देता है। स्थानकी दृष्टिसे उसका स्थान प्रथम खण्डके बाद होना चाहिए। तब यह बात समझमे आ सकती है कि इस पक्तिके द्वारा ग्रथकार प्रकृत विरोधके परिहारका यत्न कर रहे हैं। पर फिर भी उसके अशुद्ध पाठके कारण विवक्षित अथ उससे सरलतासे नही निकल सकेगा। इसका मुख्य कारण इस पक्ति मे आया हुआ वारुणकोणे' पद हे। यह एक दम अशुद्ध पाठ है। वारुणी दिशा पश्चिम दिशा कहलाती है। 'अधाभूमि' जिसमे कि भटटतोत इन दश स्तम्भोके लगाने की व्यवस्था कर रहे हैं रङ्गपीठके पश्चिमकी ओर नही, पूवकी ओर है। पूव वाला भाग ही रङ्गपीठके सामन वाला भाग है। उसी पूव भागका 'रङ्गपीठोपरि रङ्गपीठके सामनेका भाग कहा जा सकता है। उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूवभागे यह ग्र थकारका अभिप्राय है। किन्तु वारुणकोणे' ने इस भावको बिल्कुल नष्ट कर दिया हे। इसलिए यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर पूवभागे' पाठ ही होना चाहिए। पर समस्या इतनेसे भी हल नही होती है। रङ्गपीठ मुखोपलक्षितस्य' में षष्ठी विभक्ति भी अटपटी प्रतीत होती है। उसके स्थानपर सप्तमी विभक्ति होनी चाहिए। 'उपरि का अथ 'रङ्गपीठ मुखोपलक्षिते पूवभागे हो सकता है। इसी पक्तिमें 'वा नेपथ्यगृहस्य' शब्द भी दिए हुए हैं। इन शब्दोकी यहा कोई आवश्यकता तो नही दीखती है पर जब दिए ह तो उनका अथ अथवा नेपथ्यगृह के पूवभाग मे यह करना चाहिए। ऐसी दशामे इस पक्तिका सशाधित पाठ 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते नेपथ्यगृहस्य वा पूर्वभागे इस प्रकार दिया जा सकता है। इस प्रकार चतुथ खण्डको सशोधित करके प्रथम खण्डके अ तमें उसको देना चाहिए। पूव सस्करणोमे उसको जहाँ दिया गया है वहाँ उसका कोई अथ नही लगता है।

पाठसमीक्षा—भट्टतोतने अधोभूमि' में दश स्तम्भोके लगानेकी यवस्था की है उसका भरतमुनिके 'रङ्गपीठोपरिस्थिता' इस भरत वाक्यके साथ जो विरोध प्रतीत होता उसके परिहार करनेके दो माग भट्टतोतने दिखलाए हैं। उनमेंसे एकका उल्लेख ऊपरकी पक्तियोमे कर दिया गया है। इस सारे प्रकरणको देखनेसे प्रतीत होता है कि इस विरोध—परिहारका एक माग उ होने और भी दिखलाया है। कि तु पाठदोषके कारण उसका समझ सकना भी कठिन है। यह माग

ऊपर दिखलाए हुए १६ खण्डोमेसे नवम खण्डमें 'कम प्रवचनीयो वर्जान द्योतक रङ्गपीठ वर्जयित्वा तदभ्य तर मण्डपस्य इस पक्तिके द्वारा दिखलाया गया है। इस पक्तिका भाव यह है कि यहा परि' प्रवचनीय वजन अथमे है। 'अप परी वजने इस पाणिनि सूत्रके अनुसार वजन' अथमे 'अप तथा 'परि' की कमप्रवचनीय सज्ञा होती है। यहा परि कमप्रवचनीय' के रूपमे प्रयुक्त हुआ है इसलिए उसका अथ वजन है। इसका फलिताथ यह हुआ कि रङ्गपीठोपरिस्थिता का अथ 'रङ्गपीठ वजयित्वा' रगपीठको छोडकर भीतरकी ओर अर्थात अधोभूमि' में दश स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकारकी व्याख्या द्वारा भरत मुनिके श्लोकके साथ प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारका दूसरा माग ग्र थकारने दिखलाया है। और वह बहुत ठीक माग है। कि तु इसमे थोडा सा अ तर पडता है। वह अ तर यह है कि भरतमुनिके श्लोकमें रगपीठोपरिस्थिता पाठ पाया जाता है। उसका पदच्छेद रङ्गपीठ+उपरि स्थिता होता है। उस पाठमे परि' नही 'उपरि' पदच्छेद ही निकलता है। यदि यहा परि' कसप्रवचीयका प्रयोग माना जाय तो कमप्रवचीययुक्ते द्वितीया' इस पाणिनि सूत्रके अनुसार 'रगपीठ पदमें द्वितीया विभक्ति होकर 'रग पीठ परि स्थिता' पाठ मानना होगा। इस पाठके माननेमे और कोई दोष नही आता है केवल पाठभेद होता है। इस प्रकार भट्टतोतने रगपीठोपरिस्थिता' तथा 'रगपीठ परि स्थिता' दो प्रकारके पाठ मानकर भरतमुनिके पाठके साथ दश स्तम्भोके अधोभूमिमें लगानेकी व्यवस्थाके विरोधका परिहार दिखलाया है।

इस प्रकार ऊपर दिए हुए १४ खण्डोमेंसे १+ +६ तीन खण्डोको मिलकर भरत मुनि ने ९० सख्या वाले एक श्लोककी भट्टतोत कृत व्याख्या पूण होती है। इसलिए इन तीनो खण्डोको एक साथ मिलाकर ही हमने सशोधित पाठ यहा प्रस्तुत किया है।

बीचमे आसन विधि—

प्रथम दश स्तम्भोके स्थान निर्धारणके बाद ९१ ९२ श्लोकोमे भरतमुनिने यह प्रतिपादन किया है कि इन स्तम्भोके बाहरकी ओर सीढियोकी तरह क्रमश ऊचे होते हुए आसनोकी रचना करे। यहा स्तम्भ व्यवस्थाका प्रश्न मुख्य रूपसे चल रहा है इसलिए भट्टतोतने इस आसन विधिकी विशेष व्याख्या न करके केवल एक पक्तिमें उसका निर्देश कर दिया है। पूव प्रदर्शित १६ खण्डोमे 'एतत्स्तम्भ यतिरिक्ताया भूमौ आसन विरिरित्याह— स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इति। पूव वद्व्या रव्येयम्'। यह द्वितीय खण्ड इस आसनविधिसे सम्ब ध रखता है। इससे भट्टतोतको कोई विशेष बात नही कहनी थी इसलिए 'पूववद्व्यारयेयम्' अर्थात पूव व्याख्याकारोके समान ही इसकी व्याख्या कर लेना चाहिए इतना ही लिखकर इसे छोड दिया है।

छ स्म्भोकी व्यवस्था विषयक पाठका अनुस धान—

दश स्तम्भो और उसके बाद बीचमें आसन विधिका वणन करनेके बाद, अगले श्लोक [स ९३] में भरतमुनिने दूसरी वार लगाए जाने वाले छ स्तम्भोको लगानेका विधान किया है। भट्टतोतने सारी स्तम्भ व्यवस्थाको तीन भागोमे बाटा है। 'इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रगपीठ रङ्ग इति। तत्र चाय स्तम्भवि यास विधि विच्छेद उक्त' यह भट्टतोत की व्याख्याका प्रारम्भिक भाग है। इसमे उ होने प्रेक्षागृहको अधोभूमि, रगपीठ और रगशीष तीन भागोमे विभक्त कर तीन वारमें विधान किए गए स्तम्भोके लगानेका विधान किया है। इस पक्तिसे भट्टतोतने यह भी सूचित किया है कि भरतमुनिने जो तीन वारमें अलग अलग स्तम्भोके लगानेका विधान किया है उसका यही कारण है कि तीनो बारके कहे हुए स्तम्भ अलग अलग भागोमे लगाए जाते हैं। और इनके लगानेका क्रम अधोभूमिसे आरम्भ होकर रगपीठपर होता हुआ रगशीष पर समाप्त

होता है। अर्थात पहिली वारमें कहे हुए दश स्तम्भ 'अधोभूमि' में उसके बाद कहे हुए छ स्तम्भ रगपीठपर और सबसे अ तमे कहे हुए आठ स्तम्भ रगशीषपर लगाने चाहिए इस अभिप्रायसे भटटतोतका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इसी अभिप्रायसे रगपीठपर छ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण करनेकेलिए भट्टतोतने 'अथ रगपीठे स्तम्भ यासमाह षड्यान इत्यादि यहासे व्याख्या प्रारम्भ की है। कि तु इस स्थलका पाठ भी पूव पाठोके समान अस्त-व्यस्त और अशुद्ध रूपमे पूव सस्करणोमे मुद्रित हुआ है इसलिए वह ठीक समझमें नही आता है। यह पक्ति तो स्पष्ट है। उसमे रगपीठके ऊपर लगाए जाने वाले छ स्तम्भोका वणन किया जा रहा है यह बात सहज ही समझ में आजाती है। कि तु इसके आगे गाडी एक दम रुक जाती है। पूव सस्करणोमे मुद्रित पाठका ऊपर हमने जो १६ खण्डोमें विश्लेषण किया हे उसमे यह पक्ति ततीय खण्डके रूपमे दी गई है। पर अगला चौथा खण्ड इस प्रकरणसे बिल्कुल भी सम्ब ध नही रखता है। उसका सम्ब ध द्वार विधिसे है। इसकी चर्चा हम आगे करगे। छ स्तम्भोकी व्यवस्थाका प्रतिपादन करने वाला यह वाक्य यहा अपूण रह जाता है। इसका पूरक भाग दसव खण्डमें मिलता है। 'तत्र द्वात्रिशद्धस्तेषु रगपीठ प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्ट हस्ता तराश्चत्वार । तदन तर स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्ता तरम् यह दशम खण्डका पाठ है। इसको पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह पक्ति छ स्तम्भोकी व्यवस्थासे सम्ब ध रखती है। पूव सस्करणोके पाठमे जिस स्थानपर इसको मुद्रित किया गया है वहा पर न अगले वाक्यके साथ इसका कोई सम्ब ध जुडता है और न पिछले वाक्यके साथ कोई सम्ब ध है। वहापर वह एक दम व्यथ पडी हुई है और अगले पिछले वाक्योका अथ समझनेमे भी बाधक बन रही है। इस दशम खण्डको तृतीय खण्डके साथ मिलाकर पढनेसे उन दोनोका सम्ब ध स्पष्ट हो जाता हे। इसलिए उनके इस तरह अलग होजानेका कोई भी कारण क्यो न हो, यह निश्चित है कि ये दोनो खण्ड एक दूसरे सम्बद्ध है। साथ साथ ही मुद्रित करना चाहिए। तभी उनका अथ समझमें आसकता है। अ यथा नही। इसलिए हमने इन दोनो खण्डोको मिलाकर मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—पर अभी इतनेसे ही समस्या हल नही होती है। दशम खण्डका पाठ अ स्थान पतित होनेके अतिरिक्त अशुद्ध भी है। पूव सस्करणोमें मुद्रित 'तत्र द्वात्रिशद्धस्तेषु रगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्ता तराश्चत्वार । इस पक्तिमे 'प्रतिकोण स्तम्भा' यह पाठ अशुद्ध है। चतुरस्र मण्डपकी लम्बाई बत्तीस हाथ है। इसमें 'अष्टहस्ता तराश्चत्वार' आठ आठ हाथकी दूरीपर चार स्तम्भोके लगानेका विधान किया जा रहा है। ये चारो स्तम्भ रगपीठके चारो कोनोपर नही, अपितु रगपीठके सामने की ओर अधोभूमि तथा रगपीठकी सीमापर लगाए जाने चाहिए। भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका जो चित्र फलक हमने पीछे प्रस्तुत किया है उसमे द्वितीय चित्रमे इनका ठीक स्थान देखा जा सकता है। रगपीठके कोणोपर लगाने से ये चारो स्तम्भ 'अष्ट हस्ता तरा' तो हो सकते हैं कि तु भट्टतोतके मतमे वहा इनका स्थान अभिप्रेत नही है। इनमे से केवल दो स्तम्भ रगपीठके सामने वाले दो कोनोपर पडते हैं। रगपीठ के पिछले दोनो कोनोपर आगे कहे जाने वाले आठ स्तम्भोमेसे दो स्तम्भ लगाए जावेग। इसलिए यहा जो 'प्रतिकोण स्तम्भा इति पाठ दिया गया है वह ठीक नही है। इसके इन शब्दो के रहते और कोई निकटतम पाठ भी ठीक नही बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द यहा अधिक आगए हैं। इनको हटाकर 'रगपीठ पूवकोणयो द्वौ तत्सनिहितौ चापरौ द्वावित्यष्टहस्ता तराश्चत्वार। तदन तर स्तम्भद्वयमध्येभूमाविति षडप्येतेऽष्टहस्ता तराः। 'यह निकटतम पाठ बनता है। अत

हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है। यद्यपि इन छ स्तम्भोको रगपीठपर लगानेकी प्रतिज्ञा की गई थी कि तु चतुरस्तु मण्डपके रगपीठकी लम्बाई चौडाई केवल ८x८ हाथ होती है। उसमे तो आठ आठ हाथके अ तर पर ६ स्तम्भ किसी प्रकार नही लग सकते। इसलिए रगपीठके समीपवर्ती स्थानमे भी आवश्यकतानुसार स्तम्भोके लगानेकी यवस्था करना अनिवाय है। विकृष्ट मण्डपके रङ्गपीठकी लम्बाई ३२ हाथ होती है उसमे एक ओरकी सीमापर आठ आठ हाथके अ तरपर चार स्तम्भ लगाए जा सकते हैं। ठीक उसी प्रकार चतुरस्र मण्डपमें भी रङ्गपीठ के समीपस्थ भागमें स्तम्भ लगानेकी व्यवस्था की जा सकती है। इसी आधारपर हमने भट्टतोत के मतानुसार स्तम्भ व्यवस्था दिखलाने वाले चित्र फलकके द्वितीय चित्रमें इन स्तम्भोका स्थान निर्धारण करनेका यत्न किया है।

इस प्रकार हमने यहा तक यह देखा कि भट्टतोतके मतको प्रस्तुत करने वाले अभिनव भारतीके प्रकृत पाठको जिन सोलह खण्डोको विभक्त किया गया था उनमेसे—

१+४+९ तीन खण्डोको मिलाकर श्लोक स० ९० की ्याख्या पूरी होती है।

२ दूसरा खण्ड ९१, ९२ श्लोको की व्यारया के रूप मे लिखा गया है।

३+१० दो खण्डोको मिला कर श्लोक स० ९३ की व्याख्या बनती है।

इस प्रकार अब तक सोलह खण्डोमेंसे ६ खण्डोकी स्थिति का पता चला। अब हम इसके आगे पञ्चम और षष्ठ दो खण्डोकी विवेचना करेंगे।

पञ्चम और षष्ठ खण्डोकी विवेचना—

पचम और षष्ठ दोनो खण्ड ऐसे हैं जिनका प्रकृत स्तम्भ व्यवस्थाके विषयसे कोई सम्ब ध ही नही हे। उनको बिलकुल अशुद्ध रूपमे यहाँ अ स्थानमें ही छाप दिया गया है। रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठ रङ्गशिर तत्र द्विलीयमिति राश्यपेक्षयकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगत—पात्रप्रवेशाय कतव्यम्। चकाराद यप्रवेशाथ जनप्रवेशद्वारम्। त्रीणि वा कायाणि इति यता तर सगृहीत भवति।' यह पचम खण्ड का पाठ है। इसको पढते ही स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्ड में नेपथ्यगत पात्रोके प्रवेश तथा सामाजिकोके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले द्वारोका वरान किया जा रहा है। उसका प्रकृत स्तम्भ विधिसे कोई सम्ब ध नही है। भरतमुनिके १०३ सरया वाले श्लोकका द्वितीय चैव कतव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत' यह उत्तरार्द्ध भाग है। इसमे जो 'रङ्गपीठस्य पृष्ठत' यह पाठ आया है उसीकी व्याख्या इस पचम खण्डमें 'रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयम्' इत्यादि रूपमें की गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पचम खण्ड श्लोक स० १०३ की व्याख्यासे सम्ब ध रखता है। यहा तो अभी श्लोक सरया ९३ की व्याख्या चल रही है। दस श्लोको बाद आने वाले १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्याको यहाँ छाप कर भयङ्कर अनथ किया गया है। अत हमने उसको यहासे हटा कर यथास्थान पहुँचा दिया है।

पाठसमीक्षा—लगभग यही स्थिति षष्ठ खण्ड की है। 'सवग्रहणाद यूनाधिकत्वमत्र दशयन विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते।' यह षष्ठ खण्डका पाठ है। इसमें स्तम्भोकी चर्चा अवश्य है कि तु उसका प्रकृत ९३ सरया वाले श्लोककी व्याख्याके साथ तनिक भी सम्ब ध नही है। यह पक्ति वस्तुत १०४ सरया वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्ब ध रखती है। 'विधियश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रय। स तु सव प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि।' यह भरतमुनिका १०४ सख्या वाला श्लोक है। इसमे 'स तु सव प्रयोक्तव्य' यहाँ सव' शब्दका प्रयोग हुआ है। उसी 'सर्व' शब्दके प्रयोगपर ग्रन्थकारने 'सवग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दशयन्' आदि टिप्पणी दी है।

इस टिप्पणीका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने चतुरस्र मण्डपमें कहे हुए सारे विधानको त्र्यस्र मण्डपमे भी लागू करनेकी जो बात यहाँ कही है वह सारा विधान विकृष्ट मण्डपमें ज्योका त्यो लागू नही होता है। विशेष रूपसे चतुरस्र मण्डपकी स्तम्भ व्यवस्था विकृष्ट मण्डपमें लागू नही होती है। उसमें स्तम्भोकी सख्या अधिक भी हो सकती हे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पक्ति १०४ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्ब ध रखती है। यहाँ ९३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यामे उसका कोई स्थान नही है। लिपिकारके प्रमादवश ही यह पाठ यहा अ स्थानमें समाविष्ट और मुद्रित हो गया है। अत हमने भी उसको यहासे हटा कर यथास्थान पहुँचा दिया है।

सप्तम अष्टम खण्डकी विवेचना —

पाठसमीक्षा—पचम और षष्ठ खण्डोके समान सप्तम और अष्टम खण्ड भी पूव सस्करणोमे यहाँ अ स्थानमे दे दिए गए है। इन दोनो खण्डोका सम्ब ध भी भरतमुनिके १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे है। क्योकि इन दोनो खण्डोमें भी द्वार विधिकी विवेचना की जा रही है। 'द्वितीय चव कत य रङ्गपीठस्य पृष्ठत' यह भरतमुनिका श्लोक है। इसमे रङ्गपीठ के पीछेकी ओर द्वार बनानेका निर्देश किया है। इन द्वारोकी रचना नेपथ्यगृहसे रङ्गशीष और रङ्गपीठपर पात्रोके प्रवेशकेलिए होती है। इसलिए इनकी रचना रङ्गशीष तथा नेपथ्यगृहके बीचकी दीवारमे होती है। रङ्गपीठके पीछे तो द्वार बनानेका कोई स्थान नही है। रगपीठके पीछे रगशीष हे और उसके पीछे नेपथ्यगृह। उस नेपथ्यगृह वाली भित्तिमें द्वार बनते है। वे द्वार रगपीठके पीछे नही अपितु रगशीषके पीछे हुए। इसलिए भटटतोतने भरतमुनिके 'रगपीठस्य पृष्ठत' मे आए हुए रगपीठ शब्दसे रगशीष का ग्रहण किया है। और उसके दोनो ओर द्वार लगानेका विधान किया है। अपने इसी अभिप्रायको उन्होने रङ्गोऽय तच्छिर। तत पृष्ठत' इन शब्दोके द्वारा व्यक्त किया है। इस पृष्ठभूमिके साथ जब हम इन शब्दो को पढते हैं तो तुर त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पक्ति भरतमुनिके १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्ब ध रखती है।

पाठसमीक्षा—अभी इस पक्तिका 'र गे यदि वा भित' इस भागकी सङ्गति लगानेको रह गई है। 'द्वितीय चव कतव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत' में एक द्वारका विधान किया गया है। किन्तु व्याख्याकारोने इसे राश्यपेक्षयैकवचनम्' या जातावेकवचनम्' आदि लिख कर एकवचनसे भी दो द्वारोका ग्रहण किया है। यदि एक द्वार ही माना जाय तो वह रङ्गशीषके बीच में बनेगा और यदि दो द्वार माने जाय तो वे नेपथ्यगृह वाली दीवार में रङ्गशीषके उत्तर दक्षिण दोनो भागोमे बनगे। इसी बातको यहा 'रङ्गमध्ये, यदि वाऽभित इन शब्दोसे व्यक्त किया है। र गे मे कुछ लुप्त पाठके चिह्न पूव सस्करणोमें दिए गए थे। वहा पर रङ्गमध्ये' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार अष्टम खण्ड स्पष्टत १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बद्ध है।

पाठसमीक्षा—यही बात सप्तम खण्डके विषयमें है। यह खण्ड भी १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे ही सम्ब ध रखता है। ५, ६ और ८ खण्डोमें चतुरस्र मण्डपके द्वारोका विधान किया गया है। इस सप्तम खण्डमे त्र्यस्र मण्डपके द्वारका विधान किया गया है। त्र्यस्र मण्डपके 'प्रतिरङ्ग अर्थात 'रङ्गशीष' के बीचमे द्वार बनेगा यह बात त्र्यस्र रङ्गपीठे तु प्रतिरङ्ग मध्ये इस पक्तिसे सूचित की है। इस प्रकार ५+८+७ खण्ड १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्या से और छठा खण्ड १०४ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्ब ध रखते हैं। यहाँ उनको अ स्थानमे ही मुद्रित कर दिया गया है अत हमने उस सबको यहाँ से हटा कर यथा स्थान पहुँचा दिया है।

इस पृष्ठभूमिमें अब तक संशोधित पाठका रूप निम्न प्रकार बनता है—

अय चात्र सार इत्युपाध्याया —इह प्रेक्षागृहस्य त्रिधा कल्पना कृता, अधोभूमि, रङ्गपीठ रङ्ग इति। तेषु चाय स्तम्भवि यासविधिविच्छेद उक्त ।

तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह— तत्राभ्य तरत इति । विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुहस्ता तरा दातव्या । द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्ता तरौ अ यो यापेक्षया चाष्टहस्ता तरौ । अ योऽ य च तयोर तर तथा काय येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्च तुलासु दश। उपरि' इति रङ्गपीठमुखोपलक्षिते, नेपथ्यगृहस्य वा पूवभागे इत्युक्त भवति। यद्वा रङ्गपीठ परिस्थिता' इति पाठे कम प्रवचनीयो वजनद्योतक । रङ्गपीठ वजयित्वा तदभ्य तर मण्डप इत्यथ ।

१+४+९ खण्डोको मिलाकर यह भट्टतोतके मतानुमार ६० सख्या वाले श्लोक की व्याख्या हुई।

एतत्स्तम्भ व्यतिरिक्ताया भूमावासनविधिरित्याह स्तम्भाना बाह्यतश्चापि' इति। पूववद व्याख्येयम् ।

यह द्वितीय खण्ड में ६१ ६२ श्लोकोकी व्याख्या हुई।

अथ रगपीठे स्तम्भ यासमाह— षड यानित्यादि'। तत्र द्वात्रिशद्धस्तेषु रगपीठस्य पूव कोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वाविति अष्टहस्ता तराश्चत्वार । तद तर स्तम्भद्वयमधो भूमाविति षडप्येतऽष्टहस्ता तरा ।

यह ३ और १० खण्डोको मिलाकर ६२ सख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई।

रगपीठस्य यत् पष्ठ रगशिर, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षया एकवचनम्। तेन द्वारद्वय मेव रगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कत यम्। चकाराद यप्रवेशाथ जनप्रवेशद्वारम। त्रीणि वा कार्याणि यता तरे इति सगृहीत भवति। रगोऽत्र तच्छिर। तत पष्ठत । रगमध्ये यदि वा ऽभियत। त्र्यस्नरगपीठे तु प्रतिरगमध्ये इति।

यह ५ ७, ८ खण्डोको मिला कर १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई।

सव ग्रहणाद यूनाधिकत्ययत्र दशयन विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते।

यह छठा खण्ड १०४ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बद्ध हुआ। इस प्रकार यहा तक १ से लेकर १० खण्डो तकके पाठकी आलोचना हो चुकी।

अगले [६३] श्लोककी व्याख्याका पाठानुस धान—

पूर्वोक्त १४ खण्डो में से अगले ११, १२, १३ खण्ड भरतमुनिके ६३ सख्या वाले श्लोक की व्याख्या रूपमें लिखे गए हैं। भट्टतोतके निर्दिष्ट क्रमके अनुसार अधोभूमि तथा रगपीठपर लगाए जाने वाले १० और ६ स्तम्भोके स्थानोका निर्धारण हो चुकनेके बाद अब रगशीषपर लगाए जाने वाले स्तम्भोके स्थान निर्धारणका प्रश्न आता है। भरतमुनिने इस ६३ सख्या वाले श्लोकमें रगपीठपर आठ स्तम्भोके लगानेका विधान किया है इस प्रकारकी व्याख्या भट्टतोतने की है। यही व्याख्या आगे ११ से १३ तक तीन खण्डोमे दी गई है। वैसे तो इन तीनो खण्डोके अलग अलग विभाजनकी आवश्यकता नही थी तीनोको एक साथ ही दिया जा सकता था। किन्तु बीचके बारहवें खण्डका पाठ कुछ गडबड़ है इसलिए उसको अलग करनेसे पाठ तीन खण्डोमे विभक्त

हो गया है। बारहवें खण्डका पाठ पूव सस्करणोमें 'शादसौभौयादिको वा सिरयमुपरीति' इस रूपमे छपा है। पर तु इसका कोई अथ समभमे नही आता है। मूल श्लोकमें तेषामुपरि कल्पयेत' पाठ आया है। इसका अथ भट्टतोत यह करते हैं कि रगपीठपर लगे हुए स्तम्भोके ऊपर अर्थात् रगशीषपर शेष आठ स्तम्भोको लगावे। इसीकी चर्चा इस बारहवें खण्डमे की जा रही है। कि तु पाठके अशुद्ध होनके कारण वह तनिक भी समभमें नही आरही है। इस खण्डमें केवल एक 'उपरि' शब्द समभ मे आता है उससे यह अनुमान होता है कि इसमे मूल श्लोकके तेषामुपरि कल्पयेत' वाले भागकी व्याख्या की जा रही है। इससे अगले खण्डमे रगपीठस्य यदुपरि शिरो रूपमित्यथ:' पाठ आता है उससे यह विदित होता है मूल श्लोक के 'ऊपरि' पदकी व्याख्या 'रगपीठस्य उपरि' यह की जारही है। मूल श्लोकमे तेषामुपरि' यह बहुवचनका पाठ है कि तु उसकी व्याख्याये रगपीठस्य उपरि' यह एक वचनका पाठ है। इससे यह अनुमान होता है कि भट्टतोत यहा तेषामुपरि' इस बहुवचना त पाठके स्थानपर 'तस्योपरि' यह एकवचना त पाठ भाव कर तस्योपरीति रगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यथ' इस प्रकारकी यरया कर रहे हैं। इस अवस्थामें सिरयमुपरीति' इसके स्थान पर 'तस्योपरीति' यह पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। अब जो शेष भाग शादसौभौयारिको वा' रह गया है इसमे 'वा' पदसे यह प्रतीत होता है कि यह एक वचना त तस्योपरि' वाली व्यारया दूसरे पक्षमें प्रस्तुत की जा रही है। अर्थात् पहिले तेषा' इस बहुवचनको लेकर तेषा पूवनिर्दिष्टाना—उपरीत्यथ इस प्रकारकी एक व्याख्या पहिले प्रस्तुत की जा चुकी है। उस व्याख्यामे 'स्थानी' अर्थात् रगपीठपर लगाए जाने वाल स्तम्भोका ग्रहण किया था। दूसरी व्याख्यामे स्थानी' अर्थात स्तम्भोके बजाय स्थानवशात्' एकवचना त तस्य' यह पाठ मान कर यह दूसरी व्यारया प्रस्तुत की गई है। यह ग्र थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस पष्ठभूमिमें यदि हम इस स्थलके पाठका निकटतम सशोधित रूप देखना चाहे तो तेषा पूवनिर्दिष्टानामुपरीत्यथ । स्थान वशादसौ एकवचना तो वा 'तस्योपरीति'। यह पाठ बनेगा। इस पाठके माननेसे ही अथकी सगति लग सकती है। अ यथा नही। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है। इन सशोधनोके बाद आठ स्तम्भोको लगानेका विधान करने वाल ९३ सख्या वाले श्लोककी भट्टतोतकृत यारयाका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुहस्तायाम द्वात्रिशद्धस्तविस्तार यत रगशिर, तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रति तुल चाष्टहस्ता तर स्तम्भचतुष्टयमिति ते मिलित्वा अष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त चतुहस्ता तराले तिरश्चीन देयम। तेन तुलित चित्र भवति। एतदाह—अष्टौ स्तम्भान् इत्यादि। स्थानवशादेक वचना त वा तस्योपरि इति। रगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यथ। तथा च विकृष्टमण्डपे रगपीठापेक्षया रगशिर उ नत वक्ष्यते। तत्र नियमादष्ट स्तम्भा यस्य ते।

इसके पूव रगपीठपर छ स्तम्भोके लगानेका विधान किया था। अब रगशीषपर आठ स्तम्भोके लगानेका विधान किया जा रहा है। इस रङ्गशीषपर लगाए जानेवाले आठ स्तम्भोके विषयमें भटटतोतने 'तत्र नियमादष्ट स्तम्भा यस्य ते' यह टिप्पणी विशेष रूपसे दी है। इसस भट्टतोत यह सूचित कर रहे हैं कि इसके पूव रङ्गपीठपर जिन छ स्तम्भोका विधान किया था वे सब रङ्गपीठपर नही लग सके थे। रङ्गपीठके समीप अधोभूमिमे भी लगाने पडे थे। उनको 'वतमान सामीप्ये वतमानवद्वा' के यायसे रगपीठसामीप्याद रगपीठगत मानना पडा था। कि तु ये आठ स्तम्भ 'नियमात्' अवश्य ही रङ्गशीषपर लगाने होगे।

रङ्गशीषपर लगाए जानेवाले इन आठ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण भट्टतोत इस प्रकार करते हैं कि रङ्गपीठके पीछे बारह हाथ चौडा और बत्तीस हाथ लम्बा जो क्षेत्र बचता है उसमें चार हाथ चौडा बत्तीस हाथ लम्बा क्षेत्र रङ्गशीष कहलाता है। इसके पूव तथा पश्चिम दोनो ओरकी सीमापर बत्तीस हाथकी लम्बाईमे आठ आठ हाथके अ तरपर चार चार स्तम्भ लगावे।

कु गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत

नाट्य-मण्डपके चित्र
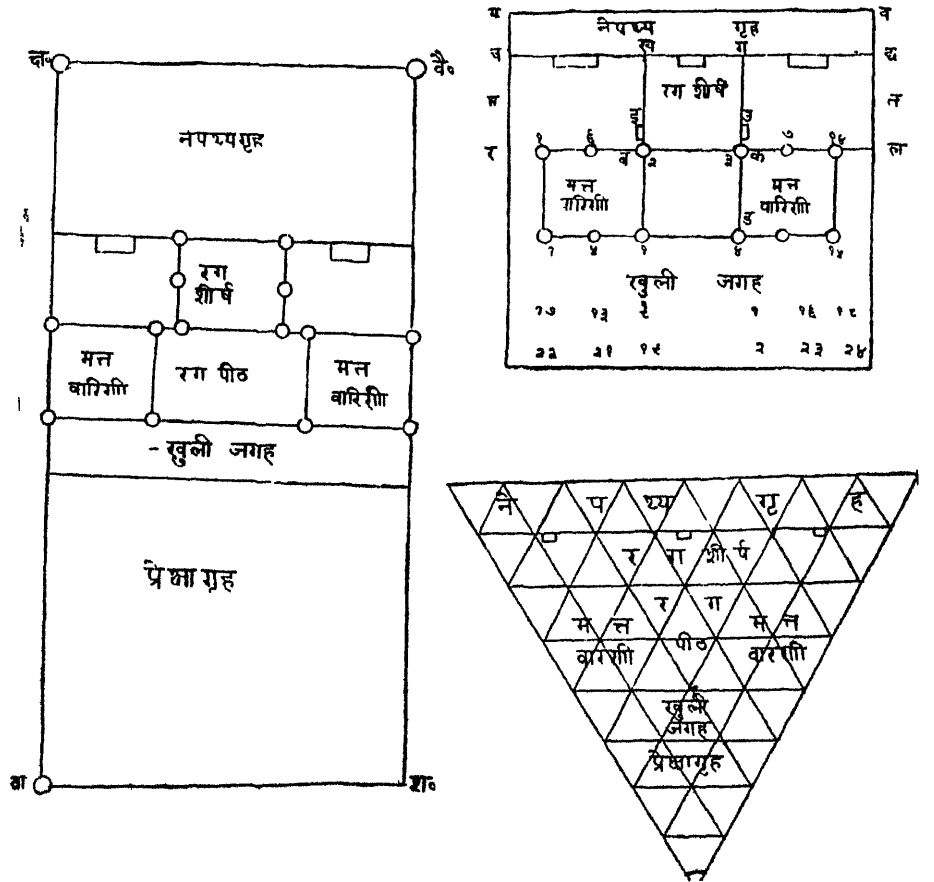
इस प्रकार रगशीषपर कुल मिला कर आठ स्तम्भ हो जाते हैं। इन स्तम्भोके ऊपर दोनो ओर पूरी बत्तीस हाथकी लम्बाईकी एक एक तुला—सरदल शहतीर डाले। इन दोनो लम्बी शहतीरोके भीतर छेद करके चार हाथकी चौडाईवाले भागके शहतीर भी उनमें जोड दे। इस प्रकार यह शहतीरोका जाल सा बन जायगा। उसके ऊपर मजबूत छत बनाई जा सकेगी। तेन तुलित चित्र भवति'। यह भट्टतोतके अनुसार अंतिम आठ स्तम्भोकी व्यवस्था हुई। भट्टतोतके मतानुसार प्रस्तुत किए गए चित्र कलकके तीसरे चित्रमें आठ स्तम्भोका स्थान दिखलाया है।

इस प्रकार भट्टतोतके मतानुमार स्तम्भव्यवस्थाको दिखलानेवाली अभिनवभारतीके पाठका परिष्कार होजानेके बाद जब हम इसी पाठको मूलरूपमें देकर उसका अनुवाद दे रहे हैं।

(६) उक्त चारोमतोमे सम्पूर्ण स्तम्भोका तुलनात्मक चित्र
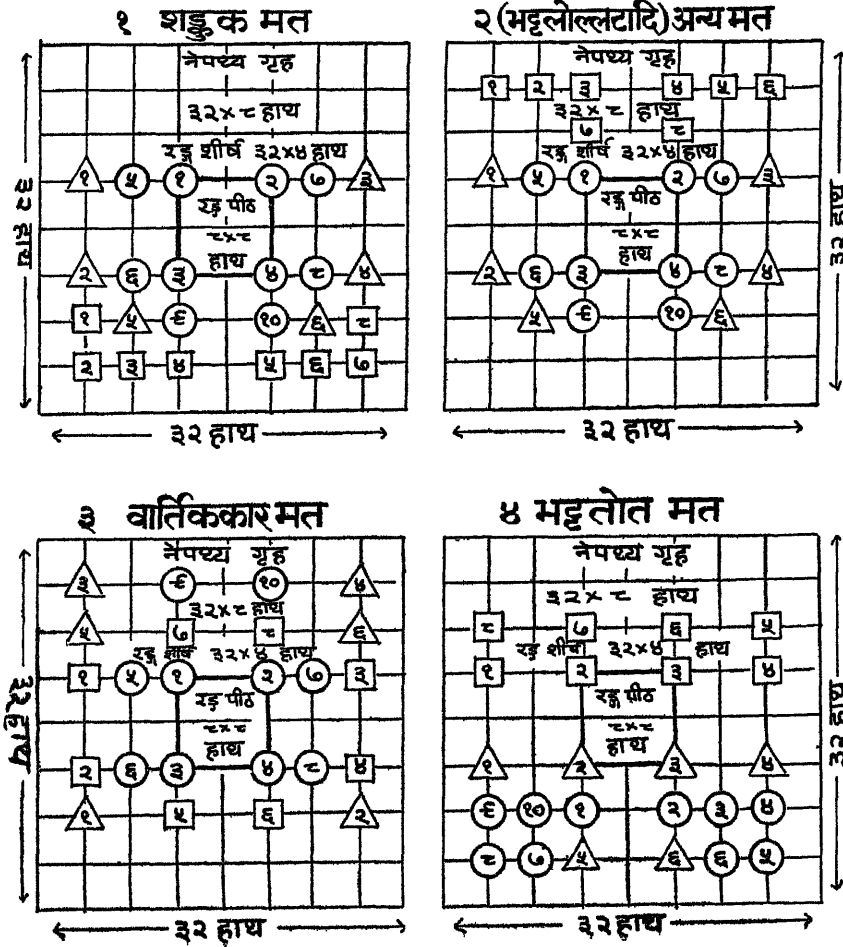
अथ चात्र सार' इत्युपाध्याया —

इह प्रेक्षागहस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रङ्गपीठ रङ्गशिर[१] इति। तेषु चाय स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्त। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—' तत्राभ्यन्तरत' इति। विस्तारे **द्वात्रिंशद्धस्तायाम एव** द्वौ द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया' **अन्योन्यापेक्षया चापि चतुहस्तान्तरौ कार्यौ ततोऽष्टहस्तान्तरौ चान्यौ द्वौ द्वावित्यष्टौ। तेषा** अन्तर च तथा काय येन द्वारविद्धता न भवतीति। **द्वौ चावशिष्टौ स्तम्भौ रङ्गपीठस्य पूर्वभागस्थयो स्तम्भयो पार्श्वस्थौ अन्योऽन्य अष्टहस्तान्तरौ कार्यावित्येव पञ्चतुलासु दश**[३]।

अभिनव०—इसका सार यह है [जो कि आगे किया जा रहा है] यह [हमारे] उपाध्याय [भट्टतोत] का [मत] है।

यहाँ प्रेक्षागहका तीन प्रकारका विभाग [कल्पना] किया गया है। १ अधोभूमि [अर्थात रङ्गभूमि जिसमे प्रेक्षकोके बैठनेकी व्यवस्था की जाती है], २ रङ्गपीठ तथा ३ [नेपथ्यगृह सहित] रङ्गशीष। उन [तीनो भागो] मे ही यह भिन्न भिन्न प्रकार का [विच्छेद] स्तम्भ विन्यासविधि कहा गया है। उसके अनुसार 'तत्राभ्यन्तरत' इत्यादि [इस श्लोक] से अधोभूमिमे [दश] स्तम्भो [के लगानेके विधि] को कहते है। [प्रेक्षागृहकी] ३२ हाथकी चौडाईमे ही [उत्तर तथा दक्षिण दोनो दिशाओकी] दोनो दीवारोसे, तथा एक-दूसरे से भी चार-चार हाथकी दूरीपर दो दो स्तम्भ लगाने चाहिए। और [इस प्रकार दोनो ओरकी दीवारोके पास चार स्तम्भ हो गए] फिर [उन्ही भित्तियोसे] आठ आठ हाथकी दूरीपर दो दो स्तम्भ और लगाने चाहिए [ये चार स्तम्भ और हो गए]। इस प्रकार [दो बारमे कुल मिला कर] आठ [स्तम्भ] हो गए। उनमे इस प्रकारका अन्तर रखना चाहिए कि कोई स्तम्भ दरवाजेके सामने न पडे। [द्वारविद्धता न भवति। दश स्तम्भोमेसे आठके पूर्वोक्त प्रकारसे लग जानेके बाद] शेष बचे हुए दो स्तम्भ रगपीठके पूवभागकी ओर लगे हुए दोनो स्तम्भोके बगलोमे परस्पर आठ आठ हाथके अन्तरपर लगाने चाहिए। इस प्रकार पाच तुलाओमे दश [स्तम्भ हो जाते है। यह चौथे प्रकारसे दश स्तम्भोकी व्यवस्था हुई]।

इस प्रकार भटटतोतके अनुसार यह प्रथमवार कहे हुए दश स्तम्भोके लगानेकी व्याख्या हुई।

---

१ चन्द्रसोदर। २ रङ्ग। ३ विस्तारे द्वादशहस्तायाममेव च चतु (हस्तान्तरा) दातव्या। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तराव यो यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽ य च तयोरन्तर तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चसु तुलासु दश।

'उपरि' रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूवभागे इत्युक्त भवति । यद्वा 'रङ्गपीठ परिस्थिता' इति पाठे कमप्रवचनीयो वजनद्योतक । रङ्गपीठ वजयित्वा तदभ्यन्तर-मण्डपे इत्यथ ।

एतत्स्तभ्यव्यतिरिक्ताया भूमौ आसनविधिरित्याह 'स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इति । पूववद्व्याख्येयम् ।

अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यान्' इत्यादि । तत्र द्वात्रिशद्धस्तेषु रङ्गपीठस्य पूवकोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वौ । इति अष्टहस्तान्तराश्चत्वार । तदनन्तर स्तम्भद्वय इति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरा ।

अभिनव०—['रङ्गपीठोपरिस्थिता' मे आए हुए 'उपरि' शब्दका 'सामने' या 'आगे' अथ लेकर कहते हैं कि—] रङ्गपीठके मुखसे पूवभागमे [सामनेकी ओर [अधोभूमिमे दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है। अथवा ['रङ्गपीठोपरिस्थिता' के स्थानपर] 'रङ्गपीठ परि स्थिता' ऐसा पाठ माननेपर ['अपपरी वजने' सूत्र से 'परि' की कमप्रवचीय सज्ञा हो जानेसे 'परि' यह] कमप्रवचीय वजनका द्योतक है। [इसका यह अभिप्राय हुआ कि] रङ्गपीठको छोड कर उसके अगले भागमे [अर्थात् अधोभूमिमे पूर्वोक्त दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है।

अभिनव०—इन [दश] स्तम्भोसे बची हुई भूमिमे आसनोकी रचना करनी चाहिए इस बातको 'स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इत्यादिसे कहा है। इसकी व्याख्या पूव [व्याख्याकारो] के समान [ही] कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार यहा तक अधोभूमिमे प्रथम दश स्तम्भोका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद द्वितीय बारमें विधान किए हुए छह स्तम्भोका स्थानका रङ्गपीठपर और उसके आस पास होना चाहिए इस बातकी विवेचना भटटतोतके मतानुसार अभिनवगुप्त आगे दिखलाते हैं।

अभिनव०—अब रङ्गपीठपर स्तम्भ लगानेको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—उनमे बत्तीस हाथकी लम्बाईमे रङ्गपीठके पूव दिशा वाले दोनो कोनोपर दो [स्तम्भ], और उनके समीप [उत्तर दक्षिणमे आठ आठ हाथके अन्तरपर] दो [स्तम्भ लगावे] इस प्रकार आठ-आठ हाथोके अन्तरपर चार [स्तम्भ] हो गए। उसके बाद [रङ्गपीठके कोनोपर स्थित दोनो स्तम्भोसे पूवकी ओर आठ आठ हाथोके अन्तरपर] दो स्तम्भ [अधोभूमिमे] लगावे। इस प्रकार ये छहो [स्तम्भ] आठ-आठ हाथके अन्तरपर हो जाते हैं।

---

१ अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह षडन्यानित्यादि। उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्य गहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति। रङ्गपीठस्य यत्पष्ठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्य पेक्षयकवचनम। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय चकारादन्यप्रवेशाथम। जनप्रजेशनद्वार च त्रीणि वा कार्याणि मता तर इति सगहीत भवति। सवग्रहणादन्यूना धिकत्वमत्र दशयन विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते। त्र्यस्ररङ्गपीठे तु प्रतिरगमध्य इति। रगोत्र तच्छिरस्तत पृष्ठत र गेयदि वामित ।

ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुहस्तायाम द्वात्रिशद्धस्तविस्तार यद् रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्तान्तर स्तम्भचतुष्टयमिति वत-यित्वाष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त, चतुहस्तान्तराले तिरश्चीन देयम्। तेन तुलित चित्र भवति। एतदाह—'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि।

[1]स्थानवशादेकवचन वा 'तस्योपरि' इति। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूप-मित्यथ। तथा च विकृष्ट मण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नत वक्ष्यते तत्र नियमा-दष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते।

इस प्रकार दश तथा छह स्तम्भोके स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब तीसरी बारमें विधान किए गए आठ स्तम्भोके स्थान निर्धारणका आरम्भ करते हैं। जसा कि पहिले कहा जा चुका है, भटटतोतने इन आठ स्तम्भोका स्थान 'रङ्गशीष' पर निर्धारित किया है। उसको अभिनवगुप्त अगली पक्तियोमें इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—उस [रङ्गपीठ] के पीछे बारह हाथ चौडा [और बत्तीस हाथ लम्बा] जो भाग बचता है। उसमेसे [रगपीठके समीपमे] चार हाथ चौडा और बत्तीस हाथ लम्बा जो रगशीष है उसके ऊपर दो शहतीर डालने चाहिए। प्रत्येक शहतीरके नीचे आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार [दोनो ओरकी तुलाओके नीचेके स्तम्भोको] मिलाकर [कुल] आठ स्तम्भ [रगशीषपर] हो जाते है। इनमे ही बीचकी चार हाथकी [चौडाई वाली] दूरी मे भी आठ आठ हाथके अन्तरपर एकको दूसरेके [भीतर छिद्र करके उसके] मुखमे समाकर चौडाईमे भी [शहतीर] लगाने चाहिए। इससे [शहतीरोका] सन्तुलित चित्र बन जाता है। इसी बात को 'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि से कहा है।

इस व्याख्यामे तेषामुपरि' पदमे तेषा' पद से स्थानी' अर्थात रङ्गशीषपर लगने वाले स्तम्भोका ग्रहण किया गया है। पर वस्तुत स्थानी' स्तम्भोके बजाय यदि स्थान अर्थात् रङ्गशीषका ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इस दृष्टिसे भटटतोत 'तेषा' के स्थानपर एकवचना त 'तस्य' पाठ मान कर दूसरी व्याख्या देते हैं—

अभिनव०—अथवा स्थानके अभिप्रायसे 'तस्योपरि' यह एकवचन [का पाठ] है। [उस पक्षमे 'तस्य' अर्थात् 'रगपीठस्य'] रगपीठके ऊपर जो रगशीष रूप भाग है उसपर [आठ स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है। [यहाँ 'रगशीष' को रगपीठके ऊपर कहा है] इसीलिए [विकृष्टे तून्नत कार्यं चतुरश्रे सम तथा। इस श्लोक स० १०० मे] विकृष्ट मण्डपमे रगपीठकी अपेक्षा रगशीर्षको ऊचा बतलाया जायगा। उस [रगशीषपर] आठ स्तम्भ अवश्य [नियमसे] लगाए जाते है। [अर्थात् पहिले कहे हुए जो छह स्तम्भ रगपीठ पर लगाने चाहिए थे उनमे, तथा प्रथम बार कहे हुए दश स्तम्भोके स्थानमे कुछ परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु ये आठ स्तम्भ नियम-पूर्वक रगशीर्ष पर अवश्य ही लगाने चाहिए यह अभिप्राय है]।

---

१ शादसौभौपादिको वा।

[1]तेऽपि दृढा न्यसनीया इति दर्शयति तत्र स्तम्भा इति—

भरत०—तत्र स्तम्भा प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।

[2]धारणीधारणास्ते च [3]शालस्त्रीभिरलकृता ॥९५॥

[4]अथावशिष्टेषु हस्तेषु विधिमाह नेपथ्यगृहमिति—

भरत०—नेपथ्यगृहक चैव तत कार्यं प्रयत्नत [5] ।

द्वार चैक भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्[6] ॥९६॥

रङ्गपीठप्रवेशनमितिवचनेनेदमाह—कक्ष्याविभागेन तावद् द्वे द्वारे । तेन द्वारमिति जातावेकवचनम् । एकशब्दश्च राश्यभिप्रायेण । राशिकरणे च निमित्त पात्रप्रवेशोपायनम् । तथा च कक्ष्याध्याये वक्ष्यति—

ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूव प्रकीर्तिते ।

तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये काय प्रयोक्तभि ॥१३-२॥

इस प्रकार यहा तक भटटतोतके मतानुसार की जाने वाली स्तम्भ व्यवस्थाका वणन हुआ । इस व्यवस्थाके अनुसार हमने जो चित्र फलक प्रस्तुत किया है उसे पीछे दे चुके हैं इसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय चित्रोमें क्रमश इनका स्थान दिखलाया है ॥९३ ९४॥

अभिनव०—वे [सब स्तम्भ] भी मजबूत लगाने चाहिए यह [बात] 'तत्र स्तम्भा' इत्यादि [अगली ९५वीं कारिका] से दिखलाते है—

भरत०—उस [स्तम्भविधि] को समझने वाले [कारीगरो] को मण्डप [की छतको धारणकेलिए] धारणियो [शहतीर कडी आदि] को धारण करने वाले [अत्यन्त दृढ़ एव] पुतलियों [शालस्त्री आदि] से अलकृत स्तम्भ लगाने चाहिए ॥९५॥

अभिनव०—इस [अधोभूमि, रङ्गपीठ और रङ्गशीषकी स्तम्भ व्यवस्था] के बाद [प्रेक्षागृहके] बचे हुए [३२×८] हाथो [वाले भाग] के विषयमे 'नेपथ्यगृह' इत्यादिसे विधि कहते हैं—

भरत०—उसके बाद [रङ्गशीषके पीछे बचे हुए आठ हाथ चौडे तथा बत्तीस हाथ लम्बे स्थानमे] नेपथ्यगहकी रचना प्रयत्न पूवक करनी चाहिए और उसमे रङ्गपीठमे प्रवेश कराने वाले एक प्रकारके [दो] द्वारोको बनाना चाहिए ॥९६॥

अभिनव०—रङ्गपीठमे प्रवेश कराने वाले इस [एक वचनके प्रयोग] से यह कहा है कि [आगे १३वे अध्यायमे कहे जाने वाले] कक्ष्या विभागमे दो द्वारोका कथन करेंगे इसलिए यहा 'द्वार' यह एकवचन जाति परक है । और [द्वार चैकमे] एक शब्द राशिके अभिप्रायसे है । राशिकरण [अर्थात् वर्गीकरण] का कारण पात्रप्रवेशनोपायत्व है । इसीलिए कक्ष्याध्याय [नामक १३वें अध्याय] मे कहेगे कि—

अभिनव०—मैंने जो नेपथ्यगृहके दो द्वार पहिले कहे थे उनके बीचमे प्रयोग करने वालोको भाण्डो [अर्थात् वाद्यो] को रखना चाहिए ॥९६॥

---

१ अपितु । २ ठ धारणी धारितास्ते च । म धारणीवारतस्ते च । ३ शालास्त्रीभिरल कृता । त सालस्त्री । ४ अथवावशिष्टेषु । ५ ठ म प्रयोक्तृभि । ६ ठ म प्रवेशने ।

भरत०—'नेपथ्याभिमुख कार्यं द्वितीय द्वारमेव तु ।
जनप्रवेशन[2] चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ॥६७॥

तृतीय द्वार नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति । अन्यत्तु जनप्रवेशनद्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात । द्वारवत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम् ।

ननु किमपेक्ष्यमाभिमुख्यम् ?

कक्ष्यापेक्षायैव **पूर्वादिरित्युक्तम्**[3] । यद्वक्ष्यति च—

यतो मुख भवेद भाण्डद्वार नेपथ्यकस्य तु ।
सा म तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता ॥१३-१०॥

इति । एव चतुर्द्वार नाट्यगृहम् । अन्ये त्वाद्यद्वारद्वय वाद्येन हेतुना, अपर द्वारद्वय नट-जनसामाजिकजनप्रवेशार्थ, अन्यद द्वारद्वय पार्श्वस्थित कुर्यादालोकसिद्ध्यर्थमिति षड्द्वार नाट्यगृहमाचक्षते ॥६७॥

भरत०—और नेपथ्यगहके सामनेकी ओर [अर्थात पिछले भागमे बीचमे] नटोका प्रवेश करानेवाला [द्वितीय अर्थात] अगला [तीसरा] द्वार बनवावे । और अगला [चौथा] द्वार रङ्ग मण्डपके सामने बनवावे [यह प्रेक्षागहका मुख्य द्वार होता है] ॥६६॥

अभिनव०—[नट जनोके प्रवेशके लिए] नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार होता है जिससे भार्याको लेकर नट परिवार प्रवेश करता है । अगला [चौथा] द्वार तो [प्रेक्षागृहके] सामने पूव दिशाकी ओर सामाजिक लोगोके प्रवेशकेलिए [मुख्य द्वारके रूपमे] बनवाना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा आभिमुख्य [अर्थात सामना या पूवदिशा] किसकी दृष्टिसे कहा गया है ?

अभिनव०—[उत्तर] कक्ष्या विभागके अनुसार पूर्व आदि [दिशाओकी व्यवस्था] माननी चाहिए । जसा कि [कक्ष्याध्याय नामक १३वे अध्याय] कहेगे—

अभिनव०—जिस ओर नेपथ्यगृहका भाण्डद्वार [वाद्योके रखनेका द्वार] हो नाट्यके प्रसङ्गमे विद्वानोको उस दिशाको पूव दिशा समझना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार [नेपथ्यगृहमे दो वाद्योके द्वार, तीसरा नटोके प्रवेशका द्वार और चौथा प्रेक्षागहका सामाजिकोके प्रवेशकेलिए, मुख्यद्वार सब मिल कर] नाट्यगृहके चार द्वार होते है [यह एक मत है] ।

अन्य [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि पहिले दो द्वार वाद्योकेलिए दूसरे दो द्वार नटजनो तथा सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए और अगल-बगलमे प्रकाशके आनेकेलिए अगले दो द्वार बनाने चाहिए । इस प्रकार नाट्यगृहके छह द्वार बतलाते है । [इन द्वारोंकी स्थितिका प्रदर्शक चित्र हम आगे दे रहे हैं ।]

---

१ जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत । रङ्गस्याभिमुख काय द्वितीय द्वारमेव तु ॥
२ प्रवेशने चैवयादि मुख्येन । जनप्रवेशन च । ३ पूर्वादिभि ।
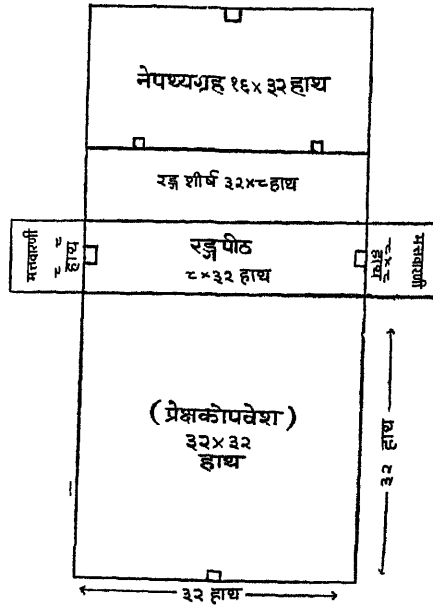
द्वारविधि—

चतुरस्र मण्डपकी रचनाका प्रकरण चल रहा है। इसमे अभिनवगुप्तने अनेक आचार्योंके मनोका उल्लेख करते हुए स्तम्भविधिका वर्णन बहुत विस्तारके साथ किया है जो अभी समाप्त हुआ है। स्तम्भ विधिके बाद सक्षेपमें नेपथ्यगहकी रचनाका उल्लेखकर अब द्वार विधिका विवेचन करते हैं। भरतमुनिने ९६ तथा ९७ दो श्लोकोमें द्वारविधिका वर्णन किया है किन्तु उनके वे दोनो श्लोक अत्यन्त अस्पष्ट हैं। मूल श्लोकोको देखे तो उनका अर्थ समझना कठिन है। अभिनवगुप्तने उनकी सङ्गति लगानेका विशेष यत्न किया है। भरतमुनिने ९६वे श्लोकके 'द्वार चैक भवेत्तत्र रग पीठ प्रवेशनम्' इस लेख द्वारा रगपीठपर प्रवेशन कराने वाले एक द्वारका उल्लेख किया है। किन्तु यह लेख स्वय भरत मुनिके तेरहवे अध्यायके द्वितीय श्लोकके जिसको कि अभिनवगुप्तने यहा उद्धृत भी किया है विपरीत है। उसमे 'ये नेपथ्य गहद्वारे मया पूर्व प्रकीर्तिते' से दो द्वारोका उल्लेख किया गया है। किन्तु यहा एक ही द्वारका वर्णन है। इस विरोधका परिहार करनेकेलिए अभिनवगुप्तको बडा प्रयास करना पडा है। उन्होने द्वार इस एकवचनको जातावेक वचनम्' लिखकर जातिमें एक वचन माना है। अर्थात एक प्रकारके दो द्वार बनाना चाहिए यह अर्थ किया है। पर यह समस्या यही पर समाप्त नही होती है। भरतमुनिने 'द्वार' इस एकवचनके साथ 'द्वार चैक भवेत्तत्र' में अलगसे एक' शब्दका भी प्रयोग कर दिया है। 'द्वार' इस एकवचनको जाति परक मान लेनेके बाद भी 'एक' पद दो द्वारोके माननेमे बाधक हो रहा है। इसलिए अभिनवगुप्तको इसकी सगति लगानेकेलिए भी विशेष प्रयास करना पडा है। उन्होने एक शब्दश्च राश्यभिप्रायेण। राशिकरणे च निमित्त पात्रप्रवेशोपायत्वम् लिखकर 'एक' शब्दकी सगति लगानेका यत्न किया है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने बडे प्रयत्न पूर्वक भरतमुनिके इस श्लोकके तेरहवे अध्यायके द्वितीय श्लोक के साथ होनेवाले विरोधका परिहार करनेका यत्न किया है। पता नही भरतमुनिने इस प्रकारका प्रयोग क्यो किया है। जिसकी व्याख्यामें इतनी अधिक खीच तान करनेकी आवश्यकता पडी है।

इस श्लोकके पाठमे 'द्वार चक भवेत्तत्र के स्थान पर द्वारद्वय भवेत्तत्र पाठ कर देनेसे अभीष्ट अर्थ बडी सरलतासे निकल आता और यह ऽयथकी खीचा-तानी न करनी पडती । पर तु अभिनवगुप्तने यही पाठ माना है इसलिए हमने उसमें सशोधन नही किया है । कि तु भरतमुनिका यह पाठ हमे रुचिकर नही है । 'द्वारद्वय भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम् यह पाठ बडा सु दर और उपयुक्त पाठ है । यदि अभिनवगुप्तका लेख बाधक न होता तो हमें यही पाठ मा य होता ।

ये दोनो द्वार रगशीष और नेपथ्यगहके बीच वाली दीवारके मध्य वि दुसे दोनो ओर समान दूरीपर बनाए जाते थे । और जसा कि १३वे अध्यायके द्वितीय श्लोकमें कहा गया है । 'तयोर्भाण्डस्य वि यास ' इन दोनोके बीचमे वाद्यो' को रखा जाता था । और गायक तथा वादक इ हीके बीचमें बैठते थे तथा इ हीके द्वारा पात्रगण नेपथ्यगहसे रगशीष और रगपीठ पर आते जाते थे ।

इन द्वारोसे पात्रोके प्रवेश और निगमनके कुछ विशेष नियम थे जिनका उल्लेख नाट्य शास्त्रके तेरहवें अध्यायमे विस्तार पूवक किया गया है । इन नियमोके अनुसार आव ती तथा दाक्षिणात्या प्रवत्तिके पात्र उत्तर द्वारसे प्रवेश कर उत्तर द्वारसे ही बाहर जाते थे । और पाञ्चाली तथा ओडमागधी प्रवत्तिके पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेशकर दक्षिण द्वारसे ही बाहर जाते थे । १३वे अध्यायमे प्रवत्तियोका बहुत विस्तारके साथ वणन करनेके बाद भरतमुनिने रगपीठपर प्रवेशके सम्ब धमे निर्देश करते हुए लिखा है—

द्विधा क्रिया भवत्यासा रङ्गपीठपरिक्रमे ।
प्रदक्षिणप्रवेशा च तथा चवाप्रदक्षिणा ।। ५२ ।।
आव ती दाक्षिणात्या च प्रदक्षिणा पीठक्रमे ।
अपसव्यप्रवेशा तु पाञ्चाली चौड्रगमागधी ।। ५३ ।।
आव त्या दाक्षिणात्याया पार्श्वद्वारमथोत्तरम् ।
पाञ्चल्या औड्रगमागध्या योग्य द्वार तु दक्षिणम् ।। ५४ ।।'

इन श्लोकोसे यह बात भी स्पष्ट होती है कि नेपथ्यगृहसे रगपीठपर पात्रोके प्रवेशकेलिए दो ही द्वार होते हैं । एक द्वार नही । इसलिए द्वार चैक भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम्' यह लेख ठीक नही है । द्वारद्वय भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम्' यह पाठ अधिक युक्ति युक्त है । या फिर अभिनवगुप्तके लेखानुसार विशेष व्याख्या द्वारा इस प्रकारका अथ करना होगा जिससे यहा दो द्वारोकी स्थिति मानी जा सके ।

भरतमुनिने आव ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्तिक पात्रोके उत्तर द्वारसे और पाञ्चाली तथा औड्रमागधी प्रवृत्तिके पात्रोके दक्षिण द्वारसे प्रवेश करनेका जो नियम ऊपरके श्लोकोमें दिया है उसकी व्याख्यामे अभिनवगुप्तने लिखा है—

दक्षिणोत्तरव्यतिरेकेण परिक्रमणस्थानस्याभावात नैकटचाद् द्वे द्वे प्रवृत्ती एकीकृत्य प्रयोगाभिधानम् । तत्र दक्षिणात्य उत्तरेण द्वारेण प्रविश्य पश्चिमाया दिशि परिक्रम्य, ततोऽपि दक्षिणस्या, तत पूवस्या, तत उत्तरस्या परिक्रमेत् । परिक्रम्य च तस्यामेव विश्यात्मनिवेदन कुर्यात् । तदुक्त दक्षिणाभिमुख' इति । तत उत्तरस्या पूर्वा, ततोऽपि दक्षिणा, तत पश्चिमा प्राप्य उत्तर द्वारेणैव निष्क्रामेत ।

इसका अभिप्राय यह है कि रगपीठपर प्रवेशके द्वार दो ही हैं । उनके अतिरिक्त रगपीठ पर प्रवेशका और कोई मार्ग नहीं है । इसलिए समीपवर्ती देशो वाली दो दो प्रवृत्तियोको मिला

कर पात्रोके प्रवेशका विधान किया गया है। दाक्षिणात्य और आव ती प्रवृत्तिका पात्र उत्तर द्वारसे प्रविष्ट होकर इस प्रकारसे घूमता हुआ दक्षिणमे जाकर खडा हो कि—उत्तर द्वारसे प्रवेश करके पहिले थोडा सा पश्चिमको मुडे फिर दक्षिणको फिर पूवको और फिर उत्तरकी ओर चले। इस प्रकार सारे रगपीठका चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारके सामने ही आकर खडा होकर काय पूण करे। फिर उसी प्रकार उत्तरसे पूव दक्षिण पश्चिम उत्तर होता हुआ सारा चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारसे ही बाहर जावे। इसी प्रकारकी व्यवस्था दक्षिण द्वारसे प्रवेश और निगमन करने वाले पाञ्चाली तथा औड्रमागधी प्रवत्ति वाले पात्रोके विषयमेंभी समझनी चाहिए।

भारतीय रगमञ्चपर जिस प्रकार विभिन्न प्रवत्तिके पात्रोके प्रवेशकेलिए विभिन्न द्वारो की व्यवस्था की गई है कुछ इसी प्रकारकी व्यवस्था यूनानी और चीनी नाटकोमेंभी पाई जाती है। यूनानी रगमञ्चपर समीपका पात्र दाहिनी ओरसे और दूरका पात्र बाइ ओरसे आता है। पर इनमे भारतीय नियमसे यह भेद है कि भारतीय रगमञ्चपर जो पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेश करता है वह चक्कर काटकर फिर उसी दक्षिण द्वारसे बाहर जाता है। इसके विपरीत यूनानी और चीनी रगमञ्चोपर दाहिनी ओरसे प्रविष्ट होने वाला पात्र बाइ ओरसे बाहर जाता है और बाइ ओरसे प्रविष्ट होने वाले पात्र दाहिनी ओरसे बाहर जाते हैं।

पूव पश्चिमके दो द्वार—

पाठसमीक्षा—ऊपर दो द्वारोका वणन किया गया है वे नेपथ्यगृहसे रगपीठपर पात्रोके प्रवेश करनेके द्वार हैं। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकी दृष्टिसे उनका कोई उपयोग नही है। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकेलिए दो और द्वारोकी आवश्य कता है। एक रगपीठके सामनेकी ओर होना चाहिए जिससे सामाजिक लोग नाटचमण्डपके भीतर प्रविष्ट हो सके। यही नाटच मण्डपका मुख्य द्वार समझना चाहिए। दूसरा द्वार नट जनोके प्रवेशकेलिए प्रेक्षागृहके पिछले भागमे होना चाहिए जिससे नटोका परिवार नेपथ्यगृहके भीतर प्रवेश कर सके। इन दोनो द्वारोका उल्लेख भरतमुनिने इस ६७वें श्लोकमें किया है। कि तु पूर्व श्लोकके समान इस श्लोकका पाठ भी पूवसस्करणोमे बडा अस्पष्ट है।

जनप्रवेशन चा यदाभिमुख्येन कारयेत।
रगस्याभिमुख काय द्वितीय द्वारमेव तु ॥ ६७ ॥

पाठसमीक्षा—यह इस श्लोकका पाठ है। इसमे दो द्वारोका विधान है यह बात तो निकलती है पर तु उसका अथ पूणतया स्पष्ट नही होता है। इसमे 'आभिमुख्येन कारयेत्' और 'रगस्याभिमुख काय। ये दोनो वाक्य अथको गडबड कर रहे हं। 'जनप्रवेशन चा यदाभिमुख्येन कारयेत' इस भागसे स्पष्ट रूपसे सामनेकी ओर सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले मुख्य द्वारका उल्लेख किया गया है। तब जो श्लोकाध शष रह जाता है वह नेपथ्यगृहमें नटोके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले नेपथ्यगृहके तृतीय द्वारका वणन कर रहा है यह स्वय सिद्ध हो जाता है। किन्तु श्लोकका जो कुछ पाठ मिलता है उससे स्पष्टत इस अथकी प्रतीति नही होती है। इसके पूव नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध दो द्वारोका उल्लेख ६६वे श्लोकमें किया गया था। ९७वे श्लोकमे जिन दो द्वारोका वणन किया गया है उनमेंसे एकका सम्ब ध नेपथ्यगृहसे है। 'येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति' लिखकर अभिनवगुप्तने जिस द्वारका उल्लेख किया है वह 'तृतीय द्वार नेपथ्यगृहस्य' नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार है। और जनप्रवेशन चा यद' लिखकर भरतमुनिने 'जनप्रवेश' अर्थात सामाजिकोके प्रवेशके लिए जिस द्वारका उल्लेख किया है वह

चतुर्थ द्वार है। प्रथम और द्वितीय द्वार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसी प्रकार तृतीय द्वार भी नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसलिए ९६व श्लोकमे वर्णित नेपथ्यगृह वाले दो द्वारोके बाद उससे सम्बद्ध ततीय द्वारका वर्णन होना चाहिए। और उसके बाद 'जनप्रवेशन अर्थात सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए नियत चतुर्थ द्वारका वर्णन होना चाहिए। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ९७ वे श्लोकके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध भागोके क्रममे परिवर्तन करना होगा। इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागमें जनप्रवेशन अर्थात सामाजिकोके प्रवेश वाले चतुर्थ द्वारका वर्णन किया गया है इसलिए उसको बादमे और पूर्व सस्करणोमे जो भाग उत्तरार्द्धके रूपमें छपा है उसको पहिले अर्थात पूर्वार्द्धके रूपमें रखना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस क्रमपरिवर्तनके अतिरिक्त ततीय द्वारका वर्णन करने वाले उत्तरार्द्ध भागके पाठमे कुछ और भी सशोधन करने होगे। ततीय द्वारका प्रयोजन अभिनवगुप्तने यह बतलाया है कि उस द्वारसे नट परिवार नाट्य मण्डपके भीतर प्रवेश करता है। इस दृष्टिसे इस ततीय द्वारका स्थान नेपथ्यगृहके पीछेकी ओर अर्थात नाट्य मण्डपके पश्चिम भागमे होना चाहिए। ऐसी दशामें 'रगस्याभिमुख काय की सगति ठीक नही लगती है। नेपथ्यगृहके पश्चिमकी ओर जो द्वार बनाया जायगा उसको 'रगस्याभिमुख' रगके सामनेका द्वार साधारणत नही कहा जा सकता है। नेपथ्यगृहके सामनेका भाग कहा जा सकता है। रगमण्डपके सामनेकी ओर तो मण्डपका मुख्य द्वार सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए बनना ही है। नटजनोका नेपथ्यगृहमें प्रवेश कराने वाला ततीय द्वार नाट्य मण्डपके पीछेकी ओर जहाँ बनता है उसे नेपथ्यगृहके सामने कहा जा सकता है। इसलिए यहा रगस्याभिमुख काय' के स्थानपर नेपथ्याभिमुख काय पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके आगे द्वितीय द्वारमेव तु' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमे छपा है। कि तु वह भी ठीक प्रतीत नही होता है। यह द्वार द्वितीय द्वार नही अपितु तृतीय द्वार है। अत 'द्वितीय द्वारमेव तु के स्थानपर 'ततीय द्वारमेव तु' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार इन सब बातो को ध्यानमे रखनेपर इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

नेपथ्याभिमुख काय ततीय द्वारमेव तु।
जनप्रवेशन चा यदाभिमुख्येन कारयेत ॥

ऐसा पाठ रखनेसे श्लोकका अर्थ पूर्ण तथा स्पष्ट हो जाता है। उस दशामें भी नेपथ्याभिमुख' शब्दकी विशेष व्याख्या करनी होगी। कि तु रगस्याभिमुख काय द्वितीय द्वारमेव तु' इस पाठकी तो कोई सगति ही नही लगती है। 'नपथ्याभिमुख काय ततीय द्वारमेव तु' यह पाठ उसकी अपेक्षा कही अधिक सगत बैठता है अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठका प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—यह भरतके मूल श्लोकके पाठका सशोधन हुआ। कि तु इस स्थलकी अभिनवभारतीके पाठमे भी कुछ त्रुटि है। पूर्व सस्करणोमें इस प्रसगकी अभिनव भारतीका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

जनप्रवेशन च ततीय द्वार नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति। अ"यत्तु द्वारमाभिख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात। द्वारवत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम्।

इस पाठमे 'जनप्रवेशनच' पाठ अस्थानमें छप गया है। इसे 'अ यत्तु' के बाद रखना चाहिए। उस दशामें 'अ"य तु जनप्रवेशन द्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात्' यह सुसगत पाठ बन जाता है। अत हमने सशोधित रुपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अथ रङ्गपीठ-रङ्गशिरसोवक्तव्यशेष निरूपयति अष्टहस्तन्त्विति—

भरत०——अष्टहस्त तु कर्तव्य रगपीठ प्रमाणत ।
'चतुरश्र समतल वेदिकासमलकृतम् ॥६८॥

²वेदिका शोभायुक्ता कार्या ॥६७॥

भरत०——पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कतव्या मत्तवारणी ।
चतु स्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वत ॥६६॥

पूवप्रमाणमध्यर्घहस्तोत्सेघत्वम् ॥६८॥

शेष दो द्वार—

यह चार द्वारोकी विवेचना आई । अभी 'षड्द्वार' वाले पक्षके अनुसार दो और द्वारोका प्रश्न शेष रह गया है । इन दो द्वारोके विषयमें अभिनवगुप्तने केवल इतना लिखा है कि अन्य द्वारद्वय पार्श्वस्थित कुर्यादालोक सिद्धचथम्' । अर्थात् प्रकाशके आनेकेलिए दो और द्वार पार्श्वोंमे अर्थात् अगल बगल में बनावे । इस आलोककी विशेष आवश्यकता रगपीठ पर ही होती है इसलिए रगपीठके अगल बगलमे जहाँ मत्तवारणी बनी है वहीपर ये दोनो द्वार बनाने चाहिए । जसा कि पहिले लिख आए हैं मत्तवारणी बरामदेको कहते हैं । मुख्य भवनसे बरामदेमें आनकेलिए द्वार भी अवश्य होता है । इसलिए ये दोनो द्वार मत्तवारणीके स्थानपर ही होने चाहिए । उनसे रगपीठ पर आलोककी सिद्धि भी होगी और बरामदेमें जानेका रास्ताभी निकलेगा ।

अभिनव०—अब आगे रङ्गपीठ तथा रङ्गशीषके विषयमे जो कुछ कहनेको शेष रह गया है उसको 'अष्टहस्त' इत्यादि [अगली कारिका] से निरूपण करते हे—

भरत०—आठ हाथके चौकोर समतल और वेदिकासे अलकृत रगपीठका निर्माण प्रमाणके अनुसार करना चाहिए ॥६८॥

अभिनव०—[रङ्गपीठकी] वेदिका शोभायुक्त [सुन्दर] बनानी चाहिए ।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणमें मूलके 'वेदिकासमलकृत' की व्याख्याका पाठ 'वेदिके शोभायुक्ते कार्ये' इस प्रकार द्विवचनमें दिया गया था । परन्तु रगपीठमें तो दो वेदिकाए नही होती है वह तो समतल एक वेदिकायुक्त ही होता है । अत द्विवचन परक पाठ ठीक नही प्रतीत होता है । हमने उसे एकवचन परक वेदिका शोभायुक्ता काया इस प्रकार सशोधन करके ही प्रस्तुत किया है ॥९८॥

भरत०—वेदिका [अर्थात रगपीठ] के अगल-बगल [दोनो ओर] पूव निर्दिष्ट प्रमाणके अनुसार चार स्तम्भोसे युक्त मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए ॥६६॥

अभिनव०—पूव निर्दिष्ट प्रमाणका अभिप्राय यह है कि डेढ हाथ ऊची । [क्योकि पहिले यह कहा जा चुका है कि सामाजिकोके बैठने वाले भू भागसे डेढ हाथ ऊचाईपर रगपीठ तथा मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए] ॥६६॥

---

१ ठ थ चतुरश्रे । २ वेदिके शोभायुक्ते कार्ये ।

भरत—समुन्नत सम चैव रगशीर्ष[1] तु कारयेत् ।
विकृष्टे [2]तून्नत कार्य चतुरश्रे सम तथा ॥१००॥

समुन्नतमिति रगपीठापेक्षया । एतच्चेह प्रसगात सूचयति[3] । यद विकृष्टे तेनव प्रकारेण स्तम्भत्रयी अप्यधिका कतव्या । अन्तरमप्यत्रैव दर्शितम् ॥८६॥

अथ त्र्यश्रस्यातिदेशद्वारेण लक्षण कतु मुपक्रममाह **एवमिति**[4] ।

भरत०—एवमेतेन विधिना चतुरश्र गृह भवेत् ।
अत पर प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥१०१॥

भरत०—[रगपीठकी अपेक्षा] ऊचा और समतल [दो प्रकारका] रगशीष बनाना चाहिए । विकृष्ट [अर्थात आयताकार प्रेक्षागह] मे [इन दोनोमेसे] समुन्नत [अर्थात रगपीठकी अपेक्षा ऊचा] और चतुरस्र [प्रेक्षागहोमे दूसरा अर्थात] समतल [रङ्गशीष] बनाना चाहिए ॥१००॥

अभिनव०—समुन्नत अर्थात रङ्गपीठकी अपेक्षा [ऊचा रङ्गशीष विकृष्ट मण्डपमे बनाना चाहिए । और चतुरस्र मण्डपमे समतल रङ्गशीष बनाना चाहिए] । इससे प्रसगत यह बात भी सूचित की है कि विकृष्ट मण्डपमे इसी प्रकारसे तीनो वार के [अर्थात् १०, ८, ६] स्तम्भोकी सख्या भी अधिक [अर्थात् दुगनी] कर देनी चाहिए । इसीसे [अत्रव, विकृष्ट तथा चतुरस्र दोनो प्रकारके प्रेक्षागृहोका] अन्तर भी दिखलाया हे [सूचित किया है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें एक स्थानपर पाठ सशोधनकी आवश्यकता पडी है । पहिली जगह सूचयन् यह पाठ पूव सस्करणोमें छपा था पर तु वह सुसगत नही होता था । उसके स्थानपर सूचयति यद यह पाठ होना चाहिए । दूसरे स्थानपर 'विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रय्य प्यधिका कत०्या' इस प्रकारका पाठ पूव सस्करणमे छपा था पर तु वह भी स्पष्ट नही प्रतीत होता है । चतुरस्र मण्डप ३२×३२ हाथका कहा गया है और उसमे तीन बारमे १०, ६ तथा ८ कुल मिलाकर २४ स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है । विकृष्ट मण्डपका आकार ६४×३२ हाथका अर्थात इस चतुरस्र मण्डपसे दुगना बतलाया गया है । इसलिए उसमें स्तम्भोकी सख्या भी द्विगुण करनी होगी । उसके बिना काम नही चल सकता है । पूव सस्करणके 'स्तम्भत्रयी अप्यधिका कतव्या' इस पाठसे वह अथ स्पष्ट रूपसे नही निकलता है । इसलिए 'अधिका' के स्थानपर 'द्विगुणा' पाठ अधिक अच्छा रहता । पर तु हमने यहा उस पाठका सशोधन न करके अधिका' का अथ ही 'द्विगुणा कर दिया है ॥१००॥

त्र्यस्र मण्डप—

अभिनव०—इसके बाद [अन्यके धमका अन्यत्र सम्बन्ध निर्देश रूप] अतिदेश के द्वारा त्र्यस्र [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृह] का लक्षण करनेकेलिए 'एव' इत्यादि [अगले श्लोकसे] उपक्रम करते हैं—

भरत०—इस प्रकार इस [पूर्व निर्दिष्ट] विधिसे चतुरस्र प्रेक्षागृहका निर्माण होता है । अब इसके बाद त्र्यस्र [त्रिकोणात्मक] प्रेक्षागृहका लक्षण कहेगे ॥१०१॥

---

१ ठ म रङ्गपीठ । २ ठ म प्युन्नत । ३ सूचयन् । ४ त्र्यश्रमिति ।

भरत०—त्र्यस्र त्रिकोण कतव्य नाटयवेश्म प्रयोक्तृभि ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठ तु कारयेत् ॥ १०२ ॥

त्र्यश्रमिति लक्ष्य,[1] त्रिकोणमिति लक्षणम् । उभयानुग्रहाच्च विकृष्ट चतुरश्र मानद्वयमेव भवति । मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम । तथव [2]रङ्गशिरो नेपथ्य-गह च ॥ १०१ ॥

त्र्यस्र प्रेक्षागह का वणन—

भरत०—प्रयोग करने वालोको [तीसरे प्रकारका] त्र्यस्र नाटयगह त्रिकोणात्मक बनाना चाहिए । और उसके बीचमे त्रिकोणात्मक ही रङ्गपीठ भी बनाना चाहिए । १०२ ।

अभिनव०—[इस कारिकामे त्र्यस्र और त्रिकोण दोनो पद आए है । इनमे से] 'त्र्यस्र' यह लक्ष्यपद [अर्थात् जिसका लक्षण करना है उसका सूचक] है और 'त्रिकोण' यह लक्षण पद हे [अत दोनोके समानार्थक होनेपर भी पुनरुक्ति नहीं होती हे] । [ऊपर कहे हुए विकृष्ट तथा चतुरस्र] दोनो [प्रकारके मडपो] का सम्बन्ध [अनुग्रह] होनेसे [यह त्रिकोणात्मक त्र्यस्र प्रेक्षागह] विकृष्ट और चतुरस्र दोनो प्रकारके परिमाण वाले होते है । [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागहकी प्रत्येक भुजा विकृष्ट मडपके आकारके समान ६४ हाथकी भी हो सकती है और चतुरस्र मण्डपके परिमाणके अनुसार ३२ हाथकी भी हो सकती है। अर्थात् त्र्यस्र-मण्डप दोनो आकारके बन सकते है] । उनके बीचमे रगपीठ भी त्रिकोणात्मक ही बनाना चाहिए । इसी प्रकार रगशीष तथा नेपथ्यगृह भी [त्रिकोण होने चाहिए] ।

त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृहकी रचनाका एक चित्र नीचे दिया जा रहा है । इस विवरणके अनुसार इसमे रगपीठ रगशीष तथा नेपथ्यगह तीनो त्रिकोणात्मक होने चाहिए पर बन नही रहे हैं केवल रङ्गपीठ ही त्रिकोणात्मक बन सकता है । रगपीठके पीछे जिन द्वारोके बनानका विधान चतुरस्र मण्डपमें किया गया है उनमेसे एक रगपीठका जो कोण रूप शीप है उसमें दिखलाया हैं अथवा यदि वाभित ' के अनुसार उसके दोनो ओर बन सकते हैं ।

---
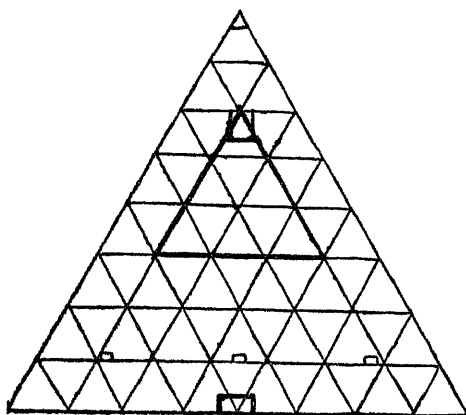
१ 'लक्ष्य' इति नास्ति । २ रङ्गशिरस ।

डा० मनमोहन घोषके मतानुसार त्रिविध नाट्य मण्डपोके चित्र हम पीछे पृ० २९३ पर दे चुके हं। इनमें जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें केवल नेपथ्यगृह त्रिकोणात्मक है। भरतमुनि त्र्यस्र मण्डपमें रगपीठको भी त्रिकोण बनानेका विधान कर रहे हैं। वह बात उस चित्र मे नही आई है। इसलिए वह चित्र भरतमुनिके अभिप्रायके अनुसार नही है। कु० गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत नाटच मण्डपोके चित्र भी पृष्ठ ३७४ पर दिया जा चुका है। इनमे जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें रगशीष, रगपीठ और नेपथ्यगह तीनोमेसे एक भी त्रिकोणात्मक नही दिखलाया गया है। और उसकी स्थिति भी उल्टी रखी है इसलिए यह चित्र भी भरतमुनि और अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप नही बनता है।

इन सब चित्रोके अतिरिक्त त्र्यस्र मण्डपकी दो स्थितिका और हो सकती है। इनके चित्र हम आगे दे रहे हैं। इनमें रगपीठ रगशीष तथा नेपथ्यगह तीनोको त्रिकोणात्मक दिखलाया गया है। सम्भव है इसमेसे किसी प्रकारकी रचना अभिप्रेत हो।
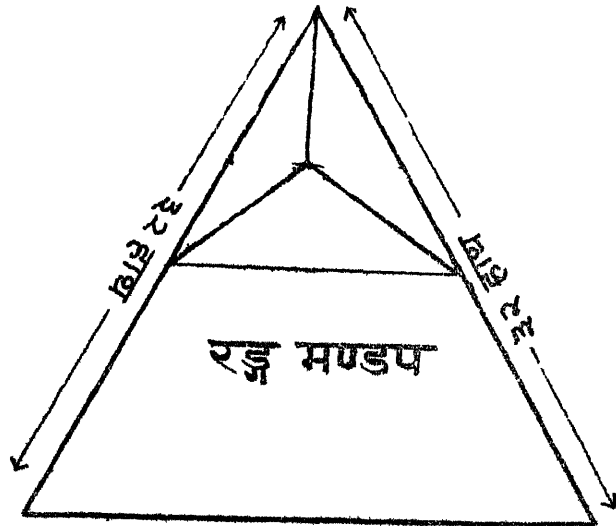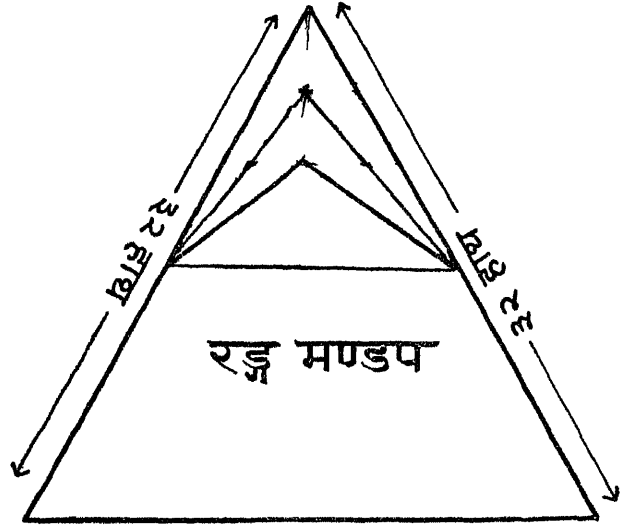
भरत०—द्वार [1]तेनैव कोणेन कर्तव्य [2]तस्य वेश्मन ।
द्वितीय चैव कर्तव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत ॥ १०३ ॥

तेनैव कोणेनेति [3]एन्द्रीगतेन । द्वार जनप्रवेशनम् । रङ्गपीठस्य यत पृष्ठ रङ्गशिर, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय । [4]चकारान्नटप्रवेशार्थं नेपथ्यगृहद्वार च । त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तर सगृहीत भवति ॥ १०३ ॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अभिनवभारतीमें हमने दो स्थानोपर पाठ सशोधन किया है । पूव सस्करणोमे 'त्र्यश्रमिति । त्रिकोणमिति' । इस प्रकारका पाठ छपा था । उसकी सगति स्पष्ट नही लगती थी । दोनो पद पुनरुक्तसे प्रतीत होते थे । बत्तिकार उनका यह भेद करते हैं कि 'त्र्यश्र' यह लक्ष्यपद है और 'त्रिकोण' यह लक्षण है । 'त्रिकोणमिति लक्षणम् इस पाठके अनुरोधसे 'त्र्यश्रमिति लक्ष्य पाठका होना उचित प्रतीत होता है । इसी प्रकार पूव सस्करणोमें 'तथैव रगशिरसो नेपथ्यगह च' यह पाठ भी अशुद्ध छपा था । इसमें रगशिरसो' इस षष्ठय त पदके स्थानपर रगशिरो यह प्रथमा त पाठ होना चाहिए अत हमने सशोधित रूपमें इन पाठोको ही प्रस्तुत किया है ॥ १०२ ॥

भरत०—[और इस त्र्यस्र प्रेक्षागहका] द्वार भी उसी कोण मे [अर्थात उसी ओर जिस ओर कि विकृष्ट तथा चतुरस्र मण्डपोमे बतलाया था, अर्थात मुख्य द्वार पूव की ओर] बनाना चाहिए । [और पात्र प्रवेश वाले द्वारके अतिरिक्त] दूसरे [प्रकारके अर्थात वाद्य वाले पूर्वोक्त दोनों] द्वारकी रचना रङ्गपीठके पीछेकी ओर करनी चाहिए । १०३ ।

अभिनव०—उसी कोणमे [अर्थात् जिस कोणमे विकृष्ट तथा चतुरस्र मण्डपो मे द्वार बनाए गए थे] अर्थात् पूवकी ओर [ऐन्द्री दिशा—पूव दिशाकी ओर द्वार बनावे] । द्वारसे सामाजिकोका प्रवेश कराने वाले ['जनप्रवेशन'] द्वारका ग्रहण करना चाहिए । रङ्गपीठका जो पिछला भाग अर्थात रङ्गशीष, उसमे दूसरा द्वार [बनावे] यह राशि [अर्थात एक ही वर्ग] की दृष्टिसे एकवचनका प्रयोग किया गया है । इसलिए नेपथ्यसे आने वाले पात्रोके प्रवेशके लिए रङ्गशीष [और नेपथ्यगृह के बीच] में दो द्वार ही बनाने चाहिए । [एक नही] और 'चकार' से नट लोगो के प्रवेशकेलिए नेपथ्यगृहके [पीछेकी ओर] द्वार बनाना चाहिए । अथवा ['षड्द्वार नाट्यगृहम्' इस मतमे एक द्वार नेपथ्यगृहके पीछे और दो द्वार मत्तवारणियोमे इस प्रकार मिलाकर] तीन द्वार ही बनाने चाहिए इस दूसरे मतका सग्रह [भी चकारसे] होता है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनव भारतीका पाठ भी पूव सस्करणोमें अत्य त अशुद्ध और अस्त व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है । हम पहिले पृष्ठपर लिख चुके हैं कि ९३ सख्या वाले श्लोक की व्याख्यामें दिए खण्डो में द्वार विधिका वणन पाया जाता है इसलिए उस भागका

---

१ द्वारमेकेन । २ प न तु प्रकाशने । ३ बारुणीगतेन । 'येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कतव्ये' इत्यधिक पाठ । ४ चकाराद य प्रवेशाथ जनप्रवेशद्वार च ।

सम्ब ध उस कारिकासे न होकर आगे द्वार विधिका वर्णन करने वाली १०३ सख्या वाली कारिका से है। इसलिए उस पाठको वहासे उठाकर यहा लाना पडा है। उस स्थाना तरित पाठको हमने यहाँ भिन्न टाइपमें मुद्रित किया है। इसमें द्वितीये चव कत थ रङ्गपीठस्य पष्ठत ' इस उत्तराध भागकी व्याख्या की गई है। यह बात मूल कारिकाके इस भाग तथा व्याख्याके रगपीठस्य यत्पष्ठ रगशिर तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैक वचनम्' इस भागके देखते ही प्रतीत हो जाती है। इस लिए हमने इस पाठको प्रकृत कारिकासे ही सम्बद्ध मान कर उसको यह। स्थाना तरित किया है।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाके द्वार तेनैव कोणेन कतव्य तस्य वेश्मन' इस पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या करने वाली एक पक्ति पूव सस्करणो मे यहा यथा स्थान छापी गई थी। किन्तु उसका पाठ पूव सस्करणोमे तेनैव कोणेनेति। वारुणीगतेन। द्वार जनप्रवेशनम्। येन तस्मि नेव कोणे द्वारे कतव्ये। इस प्रकार छपा था। कि तु यह पाठ अशुद्ध है। 'द्वार तेनैव कोणेन कतव्य तस्य वेश्मन' इस पक्तिके द्वारा भरतमुनिने त्रिकोण नाटच मण्डपके मुख्य द्वारके बनानेका निर्देश किया है। जसा कि चतुरस्र मण्डप और विकृष्ट मण्डपके प्रकरणमे हम देख चुके हैं नाटचगृहोका मुख्य प्रवेश द्वार पूवकी ओर ही होता है। इसलिए त्र्यस्र मण्डपका जनप्रवेशद्वार या मुख्य द्वार पूव दिशामे ही होना चाहिए। कि तु पूव सस्करणोमें तेनैव कोणेन' का अथ 'वारुणीगतेन' किया गया है। वारुणी दिशा पश्चिम दिशाका नाम है। उस दिशामे जनप्रवेशन द्वार का बनाना सगत नहीं है इसलिए 'वारुणीगतेन पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर ऐन्द्रीगतेन' पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोमे ६३ सख्यावाली कारिकाकी व्याख्याके साथ अ स्थानमें मुद्रित जिस पाठको हमने यहा स्थानानारित किया है उसमेभी कुछ अशुद्धि है। द्वितीये चैव कत य रगपीस्य पष्ठत' इस उत्तराधभागकी व्याख्या करते हुए उसमें रगशीषमें दो द्वार बनानेका विधान किया गया है। इतनी बात तो ठीक है। पर इसके बाद इसी कारिका भागमे आए हुए चकारकी व्याख्या करते हुए चकाराद यप्रवेशाथ जनप्रवेशनद्वार च। त्रीणि वा कार्याणि इति मता तर सगृहीत भवति'। यह पक्ति पाई जाती है। पर तु इस पक्तिका पाठ अशुद्ध है। इसमें 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण करना चाहिए यह बात इस पाठसे प्रतीत होती है। कि तु 'जनप्रवेशद्वार' का विधान तो कारिकाके पूर्वार्द्ध भागमें ही किया जा चुका है। यहाँ उसका दुबारा वर्णन असगत है। अब तककी व्याख्याके अनुसार त्र्यस्र मण्डपके पूव दिशामें बनने वाले मुख्य द्वार या 'जनप्रवेशन द्वार' तथा रगशीषमे बनने वाले दोनो द्वारो अर्थात कुल मिलाकर तीन द्वारोका वर्णन किया जा चुका है। अब 'चकार' से केवल बचे हुए द्वारोका ही ग्रहण हो सकता है। इसके पूव ३८० पष्ठपर हम यह देख चुके हैं नाटच मण्डपके द्वारोंके सम्ब ध' चतुर्द्वार नाटचगृहम्' तथा 'षडद्वार नाटचगृहम्' ये दो मत पाए जाते हैं। त्र्यस्र मण्डपके तीन द्वारोका वर्णन पहिले हो हो चुका है। इसलिए 'चतुर्द्वार' वाले पक्षमे एक, तथा षडद्वार' वाले पक्षमें तीन द्वार बननेको शेष रह गए हैं। इ ही अवशिष्ट द्वारोका ग्रहण यहाँ 'चकार' से होता है। यह बात ग्र थकार यहाँ लिख रहे हैं। और वह भी दोनो मतोका उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं यह बात 'त्रीणि वा कार्याणि इति मता तर सगृहीत भवति' इस पक्ति स्पष्ट होजाता है। ऐसी दशामे यह निश्चय है कि 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण सम्भव नही है। इसलिए पूव सस्करणोमे 'चकाराद य प्रवेशाथ जनप्रवेशन द्वार च' यह जो पाठ छपा है वह निश्चित रूपमें अशुद्ध है। यहा वास्तवमे नेपथ्यगृहमे नटोके प्रवेशके लिए बनाए जाने वाले पिछले द्वारका ग्रहण 'चकार' से होता है। यह ग्र थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'चकारा नटजनप्रवेशनाथ नेपथ्य गृह द्वार च' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

भरत०—[1]विधिर्यश्चतुरश्रस्य मित्तिस्तम्भसमाश्रय[2]।
स तु सव प्रयोक्तव्य त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभि ॥ १०४ ॥

सवग्रहणादन्यूनाधिकत्यमत्र दशयन् विकृष्टे स्तम्भानाभाधिक्यमनुजानीते। त्र्यश्ररगपीठे तु प्रतिरगमध्य इति। रगोऽत्र तच्छिर, तत पृष्ठत यदि वामित ॥१०४॥

[3]अग्रिमाध्यायसगति सूचयति 'एवमेतेन' इति—

भरत०—एवमेतेन विधिना कार्या [4]नाटचगृहा बुधै।
[5]पुनरेषा प्रवक्ष्यामि [6]पूजामेव यथाविधि ॥१०५॥

यह व्याख्या चतुर्द्वार' वाले पक्षके अनुसार हुई। यदि षडद्वर नाटचगहम्' वाला पक्ष माना जाय तो नेपथ्यगह वाले द्वारके अतिरिक्त मत्तवारणियोमे बनने वाले दोनो द्वारोका भी ग्रहण इस चकारसे होता है। इस अभिप्रायसे 'त्रीणि वा कार्याणि इति मता तर सगहीत भवति यह पक्ति ग्र थकारने लिखी है।

भरत०—मित्तियो तथा स्तम्भोंके विषयमे जो विधि चतुरस्र मण्डपमे बतलाया गया है, प्रयोक्ताओंको उस सबका प्रयोग त्र्यस्र मण्डपमे भी करना चाहिए। १०४।

अभिनव०—'सव' पदके ग्रहणसे यहा [अर्थात् त्र्यस्र मण्डपमे चतुरस्र मण्डप की अपेक्षासे] न्यूनता या अधिकता नहीं होनी चाहिए इस बातको दिखलाते हुए विकृष्टमे स्तम्भोकी अधिकताको स्वीकार किया गया है। [त्र्यस्रमण्डपमे चतुरस्र मण्डपकी भित्ति तथा स्तम्भोसे सम्बद्ध सम्पूर्ण विधिका अनुसरण करना चाहिए इसका अभिप्राय यह है कि विकृष्टमे उसका पूण रूपसे पालन करनेकी आवश्यकता नही है। अत उसमे स्तम्भोकी अधिकताकी स्वीकृति ध्वनित होती हे। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। यह बात आगे कहते है। चतुरश्र मण्डपमे रङ्गशीषके दोनो ओर दो द्वार बनानेका विधान किया था। त्र्यस्र मण्डपमे इतना सशोधन हो सकता है कि त्रिकोण 'प्रतिरङ्ग' अर्थात् रङ्गशीषके बीचमे एक द्वार रचा जाय। अथवा दोनो ओर भी हो सकते हैं]। त्र्यस्र रगपीठमे तो प्रतिरग अर्थात् रगशीषके मध्यमे [एक द्वार बनाना चाहिए]। रङ्ग शब्दसे रगशीषका ग्रहण करना चाहिए। उसके पीछे [एक द्वार बनाना चाहिए] अथवा उसके दोनो ओर [दो द्वार बनाने चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अभिनवभारतीका पाठ भी पूव सस्करणोमें ६३वी कारिका की व्याख्याके बीचमे छप गया था। हमने उसको यहांपर यथा स्थान छापा है॥ १०४॥

अभिनव०—'एवमेतेन' आदि [अगले श्लोक] से अगले [तृतीय] अध्याय [मे कहे हुए पूजन विधान] की सगति दिखलाते हैं—

भरत०—इस प्रकार इस [पूर्वोक्त] विधिसे विद्वानोको [अनेक प्रकारके] नाटचगहोंकी रचना करनी चाहिए। इसके बाद मैं शास्त्रके अनुसार इन [मण्डपोके अधिष्ठात देवताओं] के पूजनके विधिका वणन [अगले अध्यायमे] करूगा।१०५।

---

१ म द्वितीय चतुरश्रस्य। क विधेयश्च पुरस्तस्य। २ ड म समन्वित।
३ सङ्गति। ४ म काय नाटचगृह बुध। ५ च म तत ऊध्व। ६ च य पूजामेषा।

डा प्रसन्नकुमार आचार्य द्वारा प्रस्तुत

नाटय-मण्डपके चित्र
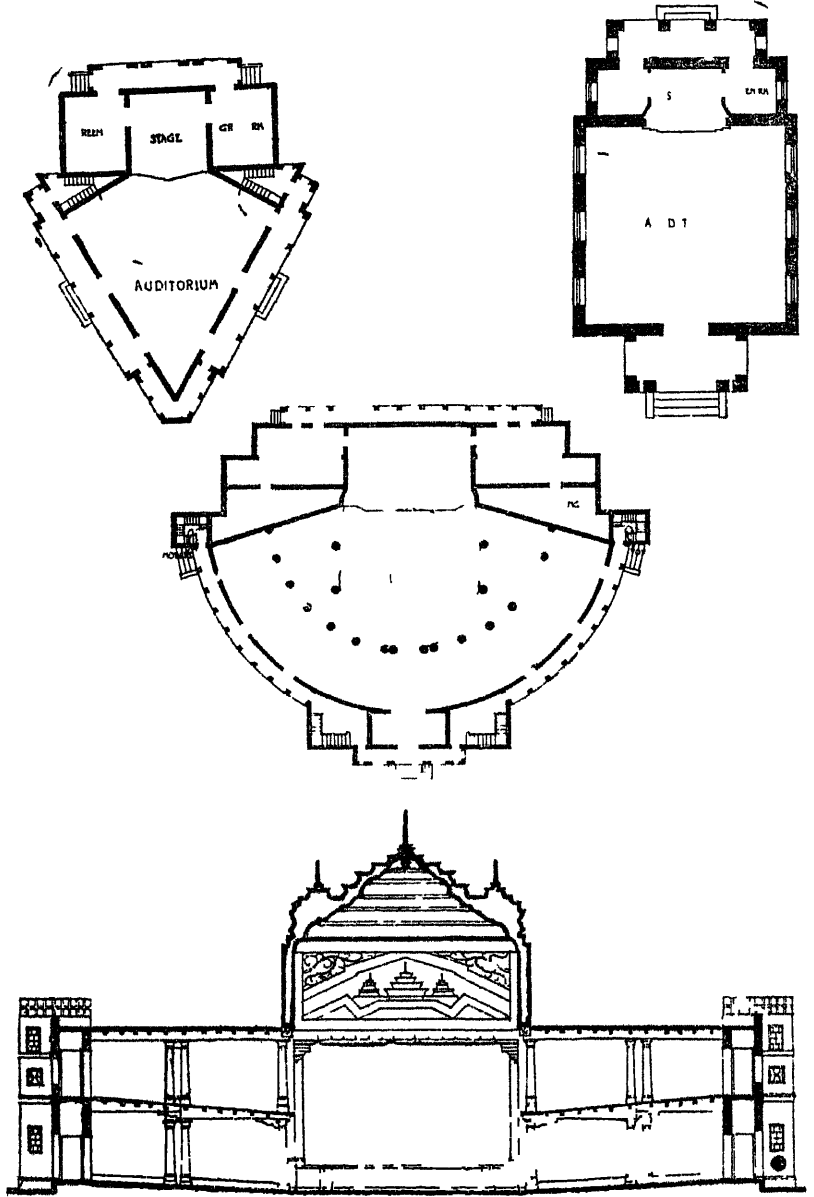
ये चित्र अभिनव भारती अथवा भरत नाट्यशास्त्रके आधारपर नही बनाए गए हैं। परन्तु चित्रकारकी सुरुचिपूर्ण कल्पनाका परिचय अवश्य देते हैं।

एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपा [1]पूर्वोक्ताष्टादशभेदकलनयेत्यथ । बुधैरित्यूहापोहविद्भि । पुनरिति यद्यपि गदिता सर्वे शुभदा तथापि [2]पूजा वक्ष्यामीति पुन शब्दाथ । तच्च विधानेनोक्तम् । [3]तदाह यथाविधीति । एषामिति मण्डपस्था देवता अनेन उपचारादुक्ता ॥१०५॥

इति भारतीये नाटचशास्त्रे मण्डपविधानो नाम द्वितीयोऽध्याय ।

[4]द्वितीये मण्डपाध्याये वृत्तिरेषा शुभा कृता ।
मयाभिनवगुप्तेन दृष्टया सन्तोऽनुगृह्यताम ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचाय विरचितायामभिनवभारत्या भारतीय नाट्यशास्त्रविवतौ मण्डपाध्यायो द्वितीय ।

अभिनव०—इस विधिसे बहुत-से मण्डप पूर्वोक्त अठारह भेदोको समझ कर [आवश्यकतानुसार] नाना प्रकारके मण्डप बनाने चाहिए । यह अभिप्राय है । 'बुधै ' इसका अथ ऊहा-पोह करनेमे समथ है । यद्यपि [इसी अध्यायमे] सारे कल्याण प्रद व्यापारोको पहिले ही कहा जा चुका है फिर भी पूजनके विधिको कहूगा यह 'पुन ' शब्दका अभिप्राय है । और वह [पूजनका प्रकार शास्त्रीय] विधानके अनुसार कहा जायगा यह बात [कारिकामे आए हुए] 'यथाविधि' इस पदसे कही गई है ।'एषा' इनके [पूजाविधिको कहूगा] इससे उपचारसे मण्डपमे रहने वाले देवताओ [की पूजा] का निर्देश किया गया है । ॥ १०५ ॥

श्री भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्रमे मण्डपविधान नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

अभिनव०—[भरत नाट्यशास्त्रके] मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्यायके ऊपर मुझ अभिनवगुप्तने यह सुन्दर [अभिनवभारती] वृत्ति लिखी हे । हे विद्वज्जनो आप लोग उसको देखकर [मुझे] अनुगृहीत करें ।

पाठसमीक्षा—अभिनवगुप्तने अपनी अभिनवभारती' में प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें मगलाचरण और अ तमें समाप्ति सूचक श्लोक लिखे हैं । इस द्वितीयाध्यायकी समाप्तिमें उन्होने समाप्ति सूचक श्लोक लिखा था, पर तु उसका ठीक पाठ उपल ध नही होता है । प्रथम सस्करण में उसका केवल एक चरण 'दृष्टचा स तोऽनुगह्यताम्' इस रूपमें मुद्रित किया था । दूसरे सस्करणमे उसको भी निकाल दिया गया है । अ तिम श्लोकमे अभिनवगुप्त प्राय अध्यायके नाम और अपने नामका उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति करते हैं । इसी आदश पर हमने अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप पाठकी पूर्ति करकेयह स्वनिर्मित अ तिम श्लोक यहा दे दिया है ।

श्री महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचाय विरचित अभिनवभारती नामक नाट्यशास्त्रकी टीकामे 'मण्डपाध्याय' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचाय विश्वेश्वर सिद्धा तशिरोमणिविरचिते 'अभिनवभारती सञ्जीवन भाष्ये द्वितीयो ऽध्याय समाप्तः ।

---

१ 'न तु' इत्यधिकम् । २ पूजामिति । तथापि वक्ष्यामीति । ३ तत्र हि । ४ अस्मदीय ।

इति

अध्यायद्वयात्मक

प्रथमो भाग

।। समाप्त ।।

खण्ड: २

अथ

रसाध्यायो नाम

षष्ठोऽध्यायः

प्रारभ्यते

षष्ठोऽध्यायः

[1]आप्याय न्ती जगत्कृत्स्न प्रक्षरन्ती रसामृतम् ।
चन्द्रमूर्ति प्रभोवन्दे सरसा सुमनोहराम् ॥

अथ अभिनवभारती सञ्जीवनभाष्ये षष्ठोऽध्याय

अध्यायसङ्गति—

अभिनवभारती के प्रथम तथा द्वितीय दो अध्यायोकी याख्या इसके पूव की जा चुकी है। उसके बाद बीचके ३, ४ तथा ५ इन तीन अध्यायोको छोडकर अब षष्ठाध्यायकी व्याख्या आरम्भ कर रहे हैं। बीचमे तीन अध्यायोको छोड देनेका कारण उनके साहित्यिक मूल्यकी यूनता है। इनमेसे तीसरे अध्यायका नाम 'रङ्गदवतपूजन' है। द्वितीय अध्यायमे रङ्गपीठके निर्माण और उसके विविध भागोकी रक्षाके लिए देवताओकी नियुक्तिका वणन किया गया है। तीसरे अध्यायमें इ हीं रङ्गके अधिष्ठातृ देवताओकी पूजाका विधान है। उस पूजन विधिका कोई साहित्यिक मूत्य नही है। इसलिए अभिनवगुप्तने भी उसको विशेष महत्व नहीं दिया है। उ होने इसके बहुत थोडेसे भागपर अपनी विवृति लिखी है वह भी सक्षिप्त टिप्पणीके रूपमे। तीसरे अध्यायमें १०२ श्लोक है। उनमेंसे अधिकाशपर अभिनवगु तने टीका नही लिखी है। इस अध्यायमे कुल मिला कर अभिनवभारतीकी तीस बत्तीस पक्तियाँ मिलती हैं। इसलिए उसका विशेष साहित्यिक मूल्य न होनेसे हमने भी यहाँ उसकी व्यारया प्रस्तुत नही की है।

उसके बाद चतुथ अध्यायका नाम 'ताण्डवलक्षण' है। इसमें ताण्डवके समय किए जाने वाले नाना प्रकारके अङ्गहारो आदिका वणन है। उसका ताण्डव नृत्यकी दृष्टिसे तो उपयोग है कि तु साहित्यिक मूल्य कुछ भी नही है। इसलिए हमने उसको भी छोड दिया है। पाचवे अध्याय का नाम 'पूवरङ्गविधान' है। उसका भी साहित्यक दृष्टिसे विशेष मूल्य नही है। इसलिए उसको भी छोड कर हमने यहा छठे अध्यायकी व्यारया आरम्भ की है। इस छटे अध्यायका नाम 'रसाध्याय है। साहित्य शास्त्रकी दृष्टिसे यह 'रसाध्याय' सबसे अधिक महत्त्वपूण अध्याय है। इसलिए बीचके तीन अध्यायोको छोडकर इस अध्यायको आरम्भ किया गया है।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

अभिनव०—[इस रसाध्यायके निरूपणके आरम्भमे] मै समस्त जगत्को तृप्त करने वाली और रस रूप अमृतको प्रक्षरण करने वाली भगवान् [शिव] की सरस और अत्यन्त मनोहारिणी चन्द्रमूर्तिकी वन्दना करता हू।

पाठसमीक्षा—इस अध्यायकी अभिनवभारतीका आरम्भ बडे अस्त व्यस्त रूपसे हुआ है जैसा कि हम अब तक देखते आए हैं बडौदासे प्रकाशित अभिनवभारतीके पूववर्ती दोनो सस्करण अत्य त अशुद्ध हैं। इस अध्यायके आरम्भमें भी हम पाठकी वही दुदशा वहा पाते हैं। सबसे पहिली बात यह है कि इस अध्यायके आरम्भका मङ्गलाचरण उन दोनो सस्करणोमे लुप्त है। उसके स्थानपर पाठलोप सूचक बि दु लगे हुए है। जिससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ मङ्गलाचरण

---

१ अस्मदीय श्लोक।

भरत०—[1]पूर्वरङ्गविधि श्रुत्वा पुनराहुमहत्तमा ।
[2]भरत मुनय सर्वे [3]प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न ॥१॥

पूवरङ्गविधि श्रुत्वेति । पञ्च प्रश्नानिति—रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न ।

का श्लोक लुप्त हे । इस लोपका कारण क्या है इस पर कोई प्रकाश नही डाला गया है । इस लुप्त मङ्गल श्लोककी पूर्ति हमने अपने श्लोकके द्वारा कर दी है । हम पहिले लिख चुके हैं कि अभिनवगुप्तने प्रत्येक अध्यायके आरम्भमे शिव की आठ मूर्तियोंमेंसे किसी एक मूर्तिको नमस्कार करनेकी योजना बनाईहुई है । इस योजनाके अनुसार विगत पाँच अध्यायोमे वे १ पृथिवी, २ जल ३ तेज, ४ वायु और ५ आकाश रूप पञ्चभूतात्मक पाच मूर्तियोको नमस्कार कर चुके हैं । इनके बाद चन्द्र, सूय और आत्मा ये तीन मूर्तिया और शेप रह जाती हैं । इस छठे अध्यायका नाम 'रसाध्याय' है । शिवमें चन्द्रमूर्ति अमृतरससे परिपूर्ण और सबको आह्लादित करन वाली परम मनोहारिणी मूर्ति है । इसलिए इस रसाध्यायके आरम्भमे उस रसमयी, अमृतमयी चन्द्रमूर्तिको नमस्कार करना ही सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इस दृष्टिसे हमारा अनुमान है कि यहा अभिनवगुप्तने चन्द्रमूर्तिको ही नमस्कार किया होगा । अब दुर्भाग्यवश अभिनवगुप्तके अपने शब्द उपलब्ध नही हैं फिर भी उनके अभिप्रायके अनुसार चन्द्रमूर्तिको नमस्कार परक एक श्लोक हमने यहा दे दिया है । उसके बिना केवल बिन्दु लगा कर अध्यायका आरम्भ करना उचित प्रतीत नही होता हे ।

इस अध्यायकी अवतरणिका—

भरत०—[विगत पञ्चमाध्यायमे निरूपित] पूवरङ्गके विधानको सुनकर फिर सारे महत्तम ऋषि गण भरतमुनिसे बोले कि हमारे [प्रथमाध्यायमे ये पूछे हुए] पाच प्रश्नोका उत्तर [और अधिक स्पष्ट रूपसे] देनेकी कृपा करे ।१।

प्रथम अध्यायके आरम्भमें भी मुनिगणोने भरतमुनिसे पाच प्रश्न पूछे थे । उनका समाधान पिछले अध्यायोमें दिखलाया गया है । पाच अध्यायोंके बाद अब मुनिगणोने भरतमुनिके सामने फिर पाँच प्रश्न उपस्थित किए हैं । इन प्रश्नोका समाधान अगले अध्यायोमे करेगे । यो तो ये नए प्रश्न हैं जो प्रथमाध्यायमे पूछे गए प्रश्नोसे बिल्कुल अलग है । किन्तु अभिनवगुप्त उनको पूव प्रश्नोका ही विस्तारमात्र मानते हैं । जसा कि वे आगे लिखेगे । पूव पाच प्रश्नोका समाधान कहा तक हुआ है इसका निरूपण अभिनवगुप्तने प्रथमाध्याकी छठी कारिकाकी व्याख्या करते समय किया था । उसमे उन्होने अन्य व्याख्याकारोके दो मतोको दिखलानेके बाद अपना यह मत दिखलाया था कि उन पाँचो प्रश्नोका उत्तर किसी विशेष भागमे नही अपितु छ सहस्र श्लोकोके इस सारे नाटचशास्त्रके भीतर दिया गया है । इसी दृष्टिसे यहा पूछे जाने वाले इन नए प्रश्नोको भी अभिनवगुप्त पूव प्रश्नोका विस्तार मात्र मानते हैं ।

अभिनव०—[पञ्चम अध्यायमे वर्णित] पूवरङ्गके विधानको सुनकर [यह अध्यायसङ्गति दिखलाने वाला कारिकाका प्रतीक भाग हे] । पाँच प्रश्नो [का समाधान कीजिए । इसमे मुनिगण जो पाँच प्रश्न पूछना चाहते है उन] को [आगे दिखलाते हैं । उनमेसे] रसोको 'रस' क्यो कहा जाता है यह एक [अर्थात् पहिला] प्रश्न है ।

१ पुस्तके अयं श्लोको नास्ति । तत्स्थाने 'ऋषय ऊचु' इति पठयते ।
२, म मुनयो भरतम् । ३ पञ्च प्रश्नान प्रब्रीहि न ।

भावाश्चैव कथ प्रोक्ता कि वा ते भवयन्त्यपि इति द्वितीय प्रश्न । सग्रह कारिका निरुक्तलक्षणजिज्ञासापरा अवशिष्टास्त्रय प्रश्ना ।

यद्यपि पूवमपि पूवमपि प्रश्नपञ्चकमुपन्यस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूप विवेचित, तथापि नाट्यगत्वे सम्यड् निर्ज्ञाते निर्णीति भवति, न वचनमात्रात । अनेनैवाभिप्रायेण दशरूपकनिरूपणे प्रथमप्रश्नार्थो निगमयिष्यते—

['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि प्रथमाध्यायकी १६वी कारिकामे रसो को नाट्यके अङ्गोमे गिनाया गया था इसलिए उनका निरूपण तो उचित है किन्तु भावोको वहाँ अगोमे नही गिनाया गया है तब] भावोको क्यो कहा, और वे भाव क्या करते है यह [भावविषयक] द्वितीय प्रश्न हे । सग्रह, कारिका और निरुक्त [अर्थात् उद्देश लक्षण तथा परीक्षा] के लक्षणादि परक शेष तीन प्रश्न है । [इस प्रकार मिल कर पाच प्रश्न हो जाते है] ।

पाठसमीक्षा—पूव सस्करणोके पाठमे यहासे अध्यायका आरम्भ ही हो रहा है कि तु यहाका अभिनवभारतीका पाठ बडा गडबड है । पूव सस्करणोमें इस प्रकार पाठ छपा है—

पूवरङ्गविधि श्रुत्वेति । पच प्रश्नानिति । रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न ।

अर्थात पाच प्रश्नोमेसे एक प्रश्नका स्वरूप तो वहा दिया गया है और उसके बाद पाठलोप सूचक बि दु लगा दिए गए हैं । इन बि दुओके पूव जो 'इत्येक प्रश्न' पाठ दिया है इससे प्रतीत होता है कि इसके आगे पूछे जाने वाले पाचो प्रश्नोका उल्लेख यहा ग्र थकार करन चाहते हैं । इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थलके लुप्तपाठमे अवशिष्ट चार प्रश्नोका उल्लेख होना चाहिए । जो किसी कारणसे यहा उपलब्ध नही हो रहा है । भरतमुनिने अपनी अगली दो कारिकाओमे इन प्रश्नोको प्रस्तुत किया है । उ हीमे अभिनवगुप्तने यहा 'रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न यह प्रथम प्रश्न बनाया है । इसका स्पष्ट रूपसे यह अथ होता है कि अवशिष्ट चार प्रश्न भी उ ही कारिकाओके आधारपर यहा दिए जाने चाहिए । इसी दृष्टिसे हमने उन कारिकाओमें पूछे गए शेष चार प्रश्नोको यहा देकर इस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है ।

ये प्रश्न पूव प्रश्नोके विस्तारमात्र हैं—

इस अध्यायके आरम्भमें भरत कारिकामे जो 'प्रश्नान पचाभिधत्स्व न' कहा गया है । उसका सम्ब ध वसे आगे पूछे जाने वाले पाँच प्रश्नोसे प्रतीत होता है कि तु अभिनवगुप्त उसे पहिले ही पाच प्रश्नोसे सम्बद्ध मानते ह । इसी बातका प्रतिपादन वे अगली पक्तियोमें निम्न प्रकारसे करते हैं—

अभिनव०—यद्यपि पहिले [प्रथमाध्यायमे] भी पाच प्रश्नोको उपस्थित करके सामान्य रूपसे [नाट्यके] अगादिका निरूपण किया था कि तु नाटकमे [उनका समन्वय] पाए जानेपर ही उसका भली प्रकार निणय [ज्ञान] हो सकता है, केवल कह देने मात्रसे नही [इसीलिए अभी पहिले पूछे गए प्रश्नोका समाधान स्पष्ट न हो पानेके कारण ही मुनियोने 'प्रश्नान् पचाभिधत्स्व न' कह कर अपने पूव प्रश्नोके और अधिक स्पष्टाकरणकी यह प्राथना की है] । इस अभिप्रायसे [नाट्यशास्त्रके १९वे अध्यायमे] दश रूपकोके निरूपणके प्रसगमे [प्रथम अध्यायमे पूछे गए 'नाट्य-वेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न नाट्यवेदकी रचना क्यो हुई है इस] प्रथम प्रश्नके विषयका [निम्नाकित प्रकारसे] उपसहार किया जावेगा कि—

''भविष्यति युगे प्रायो भविष्यति युगे प्रायो भविष्य्न्त्यबुधा नरा '। इत्यादि। तथा—

''बुद्धय कम शिल्पानि वचक्षण्य कलासु च'। इत्यादि।

अभिनव०—आगे आने वाले युगमे प्राय मूख लोग अधिक होग [उनको कतव्य अकतव्यकी शिक्षा देनेके लिए नाटकोकी रचना करनी चाहिए।

अभिनव०—इत्यादि। तथा—

अभिनव०—ज्ञान' कम शिल्प और कलाओमे निपुणता [यह सब बाते योग्य व्यक्तियोके न रहनेसे नष्ट हो जाती है। उनकी रक्षाकेलिए भी नाटकोकी रचना करना चाहिए]। इत्यादि।

अभिनवगुप्तने यहाँ १९ व अ"यायसे दो श्लाकोके आधे आधे भाग यहाँ उद्धत किए हैं। और उनके द्वारा उ होने प्रथम प्रश्नके उपसहार किए जानकी बात कही है। जसाकि इन श्लोकाध भागोसे स्पष्ट प्रतीत होता है ये दोनो श्लोक नाटकका रचना कारणका प्रतिपादन कर रहे हं। अर्थात् 'नाट्यवेद कथ ब्रह्म नुत्प न इस प्रश्नके साथ उनका सम्ब ध हे। अत एव यहा की अभि नवभारती में जो प्रथम प्रश्नाथो निगमयिष्यते' लिखा है उससे प्रथमाध्यायमे पूछे गए प्रथम प्रश्नका ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पूछे गए प्रथम प्रश्नसे उसका कोई सम्ब ध नही है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हे।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदक आरम्भमे भी हमे पाठपूर्ति करनेकी आवश्यकता पडी है। जसा कि हम पिछले पष्ठ पर दिखला चुके हैं, अभिनवभारतीके पूववर्ती दानो सस्करणोमे रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न'। इसके बाद पाठलोप सूचक बि दुओ की लम्बी पक्ति लगी हुई है। उसके बादका पाठ तथापि नाट्यगतत्वे' से आरम्भ होता है। बीचमे पाठलोप सूचक बि दु लगे हुए हैं। इस बीचके लुप्त पाठके भीतर दो अश आते हैं। एकका सम्ब"ध पाच प्रश्नोका स्वरूप दिखलाने वाले पूव अनुच्छेदके साथ है और दूसरेका अगल अनु"छेदके साथ। पूव अनुच्छेदसे सम्बद्ध भागमे पाँच प्रश्नोके स्वरूपकी चर्चा होनी चाहिए इस दृष्टिसे हमने उसकी पूर्ति करके पहिले भागका पाठ प्रस्तुत किया है। इसके बाद अगले अनुच्छेदसे सम्ब"ध रखने वाले पाठकी पूर्ति हमने यद्यपि' से आरम्भकर विवचित' तकके पाठ द्वारा की है।

पाठसमीक्षा—इस पाठपूर्तिका आधार यह है कि मुद्रित पूव सस्करणोमे पाठ लोप सूचक बि दुओके बाद जो पाठ उपलब्ध होता है उसका आरम्भ तथापि' पदसे होता है। यत्तदो र्नित्यसम्ब ध' इस नियमके अनुसार 'यत शब्दके बाद 'तत शब्दका प्रयोग आवश्यक हे। इसी 'यद्यपि' और तथापि' शब्दोका प्रयोग भी सहनियत है। यद्यपि' शब्दके साथ तथापि' का अथवा 'तथापि' शब्दके साथ 'यद्यपि' शब्दका प्रयोग अपरिहाय है। इस दृष्टिसे जब मुद्रित पाठका आरम्भ 'तथापि' शब्दसे हो रहा हे तब यह निश्चित है कि बीचमें जिस वाक्यका पाठ लुप्त हो गया है उसका आरम्भ 'यद्यपि' शब्दसे हुआ होगा। इस आधार पर हमने अपने कल्पित वाक्यको 'यद्यपि' पदसे प्रारम्भ किया है। यह तो वाक्यके प्रारम्भ करनेकी बात हुई। अब उस लुप्त वाक्यका विषय क्या होना चाहिए यह बात भी 'तथापि नाट्यगतने सम्यङ्ग् निर्ज्ञाते निर्णति भवति न वचन मात्रात्' इस उपलब्ध पाठके द्वारा समझी जा सकती है। इस वाक्यसे यह प्रतीत होता है

---

१ ना० शा० १९ १५०। २ ना० शा० १९ १५१।

सिद्धयध्याये च द्वितीयप्रश्नार्थो निर्णेष्यते—
'तुष्यन्ति तरुणा कामे' इत्यादिना ।

कि पहिले प्रश्नोके समाधानका जो यत्न पहिल किया गया है वह पर्याप्त नही है । इससे लुप्त वाक्यका पाठ क्या होना चाहिए इसका अनुमान किया जा सकता है उसी आधारपर हमने यद्यपि पूर्वमपि प्रश्नपञ्चकमुप यस्य सामा यतोऽङ्गादिस्वरूप विवेचित इस लुप्त पाठको कल्पना कर यहा पाठपूर्ति करनेका यत्न किया है ।

यहाँ अभिनवगुप्तने नाटयशास्त्रके १६ व अध्यायसे जिन दो श्लोकोके आधे आधे भाग उद्धत किए हैं उनके पूरे पूरे श्लोकोके उद्धत करनेसे ही उनका अथ स्पष्ट हो सकेगा इसलिए हम आगे उन श्लोकोका पाठ उद्धत करते हैं जो कि निम्न प्रकार है—

[1]भविष्यति युगे प्रायो भविष्य त्यबुधा नरा ।
ये चापि हि भविष्यति ते यत्नश्रुतबुद्धय ॥ १५० ॥
बुद्धय कम शिल्पानि वचक्षण्य कलासु च ।
सर्वाण्येतानि नश्यति यदा लोक प्रणश्यति ॥ १५१ ॥

इन दोनो श्लोकोके एक एक भागको अभिनवगुप्तने यहा उद्धत किया है । परतु इन श्लोकोके भी अथको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए इनके पहिले और पिछले एक एक श्लोकको यहाँ उद्धत कर देना उचित होगा । उन दोनोके आगे पीछेके दो श्लोकोका पाठ निम्न प्रकार है—

[2]लोकस्वभाव सप्रेक्ष्य नराणा च बलाबलम् ।
सम्भोग चैव युक्ति च तत काय तु नाटकम ॥ १४९ ॥
[3]तदेव लोकभाषाणा प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
मृदुशब्द सुखाथ च कवि कुर्यात तु नाटकम् ॥१५२॥

इन चारो श्लोकोमें नाटकोके निर्माणके प्रयोजन तथा प्रकारका वणन किया गया है इसलिए अभिनवगुप्तने 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मा नुत्प न इस प्रथम प्रश्नका उपसहार दिखलानकेलिए उनको उद्धत किया है । प्रथमाध्यायमे अभिनवगुप्तने क्लिष्ट और यड लुग त आदि प्रक्रियाओके द्वारा विकृत शब्दोके नाटकोमें प्रयुक्त करनेका निषध करते हुए चक्रीडितप्रभतिभि विकृतैश्च शब्दै युक्ता न भाति ललिता भरतप्रयोगा' आदि श्लोक उद्धत किया था । उसी प्रकार यहा १५२ व श्लोकमे 'मृदुशब्द सुखाथ च कवि कुर्यात तु नाटकम् से जो मदु शब्दो वाले और सुबोध अथ वाले नाटकको रचना करनेका विधान किया है उसके समथनकेलिए भरतमुनिने उसी अभिप्रायका निम्न श्लोक आगे दिया है—

[4]चैक्रीडिताद्य शब्दस्तु काव्यब धा भवति ये ।
वेश्या इव न ते भाति कमण्डलुधर द्विज ॥ १९ १५३ ॥

इससे प्रतीत होता है कि यह उपमा भरतमुनिको बहुत प्रिय है ।

अभिनव०—और सिद्धयध्याय [नामक २७वे अध्याय] मे [प्रथमाध्यायमे पूछे गए 'कस्य वा कृते' इस] द्वितीय प्रश्नके अथका निणय—

अभिनव०—"नवयुवक [तरुण लोग] काम [प्रधान नाटको] मे सन्तुष्ट [प्रसन्न] रहते है" इत्यादिसे किया जायगा ।

---

१ ना० शा० अ० २७ श्लोक० १४६, १५२

एवमन्यत्रापि तत्र तत्रेति । एतच्च तद्व्याख्यानाप्रसङ्ग एव दर्शयिष्याम । पूर्वप्रश्नितवस्तुतत्त्वनिर्णय एव क्रियतामिति तात्पर्यम् ॥१॥

प्रश्नान् पञ्चेति—

भरत०—ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

'ये रसा' इत्यादि यत् प्रश्नत्रयं तत्रायं भाव —इहाङ्गगणनायां 'जग्राह पाठ्यम्' [१ १७] इत्यादौ पाठ्यगीतयोस्तावत् सुप्रसिद्धं रूपम् । अभिनयानामपि—

महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यसि । [८-१५]

यह श्लोक भी यहा पूरा उद्धृत नही हुआ है । पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

तुष्यन्ति तरुणा कामे विदग्धा समयान्विते ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिण ॥ २७ ५८ ॥

इस श्लोकमें कहा गया है कि तरुण पुरुष काममें, विरक्त पुरुष मोक्षमे अर्थलिप्सु अर्थमे और पण्डित धर्ममें प्रसन्न रहते हैं । इसलिए उन उन की रुचियोके अनुसार उन उनकेलिए धर्म, अर्थ काम मोक्ष आदि प्रधान नाटकोकी रचना करनी चाहिए । इस प्रकार यह श्लोक 'कस्य वा कृते' इस प्रश्नका निर्णय करता है इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने उसको उद्धृत किया है ।

अभिनव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी [समझ लेना चाहिए] । इस बातको उनके व्याख्यानके प्रसगमे ही हम कहेगे । इसलिए पहिले [प्रथमाध्यायमे पूछे गए] प्रश्नोके विषय [तत्त्व] का ही निर्णय करना चाहिए यह तात्पर्य है ।

तब यहा नए प्रश्न क्यो दिए है ?

इस प्रकार अभिनवगुप्तने षष्ठाध्यायकी प्रथम कारिकामे आए हुए 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न' इस प्रार्थनाका सम्बन्ध प्रथमाध्यायके आरम्भमे पूछे गए पाच प्रश्नोके स्पष्टीकरणके साथ ही लगाया है । यहाँ षष्ठाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोके साथ नही । तब यहा यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि भरतमुनिको 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न' से प्रथमाध्यायमें कहे हुए प्रश्नोका ही स्पष्टीकरण कराना था तो फिर यहाँ छठे अध्यायमें पाँच प्रश्न क्यो उपस्थित किए हैं ? इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्त अगली कारिकामें यह करते हैं कि भरतमुनिने यहाँ ये जो पाँच प्रश्न उठाए हैं उनका प्रयोजन भी प्रथमाध्यायमे पूछे गए प्रश्नोका स्पष्टीकरण कराना ही है ॥ १ ॥

अभिनव०—पाच प्रश्नोको [स्पष्ट करें उनमेसे प्रथम यह है कि]—

भरत०—नाट्यके पण्डितगण नाट्यमे जिनको 'रस' इस नामसे पढ़ते हैं उनको किस कारणसे 'रस' कहा जाता है इसको बतलानेकी कृपा करें । २ ।

अभिनव०—'ये रसा' इत्यादि जो दो प्रश्न है उनका [अर्थात् उनके पूछनेका] यह अभिप्राय है कि—[नाट्यके पाठ्य, गीत, अभिनय और रस रूप चार] अङ्गोकी गणनामे [जिनका वर्णन] 'जग्राह पाठ्य' इत्यादि [प्रथमाध्याय की १७ वी कारिकामे किया गया है । उनमे] से पाठ्य और गीतका स्वरूप तो स्पष्ट ही है [अत एव उनके विषयमे पुन प्रश्न करनेकी आवश्यकता नहीं है] और अभिनयोका भी—

अभिनव०—'महागीतोमे अर्थोको भली प्रकार अभिनय करोगे' । और—

यदा प्राप्त्यथमर्थाना तज्ज्ञरभिनय कृत । [४-२६१]

इत्यादिबलाच्च स्वरूप हृदयङ्गमम्[1] ।

ये तु 'रसानाथवरणात्' [१-१७] इति रसा उक्तास्ते तावत् प्रसिद्धा । षडम्लादयो न प्रकृतौ न विकृतौ युक्ता । ये त्वन्ये श्रृङ्गारादय केचन रसशब्देन सह प्रयुक्ता — 'श्रृङ्गाररससम्भव' [४ २६६] इति, 'ततो रौद्ररस श्लोकम' [५ १३२] इति, तत्रापि श्रृङ्गारादिषु कथ रसशब्दवाच्यत्वम् । रसनेन्द्रियग्राह्ये हि रसशब्द प्रसिद्ध ।

अभिनव०—जब [नाट्यमे प्रदर्शित] अर्थोकी [प्राप्ति अर्थात] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिकेलिए [तज्ज्ञ] अभिनयके जानने वालोने अभिनय [का निर्माण] किया है।

अभिनव०—इत्यादि वचनोके बलसे [अभिनयोका] स्वरूप भी हृदयङ्गम हो जाता है। [इसलिए अभिनयके विषयमे भी प्रश्न करनेका आवश्यकता नही है]।

यहा अभिनवगुप्त यह दिखला रहे हैं कि जब इस अध्यायके आरम्भके प्रथम श्लोक मे कथित 'प्रश्नान पञ्चाभिधत्स्व न' में प्रथमाध्यायमें कहे हुए पाच प्रश्नोका ही ग्रहण करना अभीष्ट है तब यहापर रस भाव आदि विषयक प्रश्न क्यो उठाए गए हैं। इसका कारण उनकी दृष्टिमें पूव प्रश्नोका अधिक स्पष्टीकरण करानेकी इच्छा ही है। प्रथमाध्यायकी १७ वी कारिकामें कहे गए चार अङ्गोमेंसे पाठ्य, गीत और अभिनय इन तीन अङ्गोका स्वरूप तो स्पष्ट हो जानेसे उनके विषयमे जिज्ञासा नही रहती है। रसका विषय स्पष्ट नही हुआ है इस लिए रसके विषयमें यहा प्रश्न किया गया है। अत यह प्रश्न पूव प्रश्नके स्पष्टीकरणकेलिए ही है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'मुख्य तावदभिनयो हृदयगत' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे छपा था कि तु उसका अथ स्पष्ट नही होता था। द्वितीय सस्करणमे उसका सशोधन करके स्वरूप नातीव हृदयङ्गमम्' इस प्रकारका पाठ दिया गया है कि तु यह भी ठीक नही है। उनके स्थानपर स्वरूप हृदयङ्गमम् पाठ होना चाहिए। ग्रन्थकार यहा यह बात कह रहे हैं कि नाटचके पाठ्य और गीतके समान अनिनयका स्वरूप भी समझमे आ गया है इसलिए उन तीनो अङ्गोके विषयमे यहाँ दुबारा प्रश्न न करके केवल रसके विषयमें विशेष रूपसे स्पष्टीकरण कराने की दृष्टिसे फिर प्रश्नान पञ्चाभिधत्स्व न कहा गया है। इस अथकी ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'स्वरूप हृदयङ्गमम् यही पाठ होना चाहिए।

अभिनव०—किन्तु 'अथववेदसे रसोको [लिया गया]' इस [कारिका भाग] से जिन रसोको कहा गया हे वे [मुख्य रूपसे रसपद वाच्य रसनेन्द्रियग्राह्य] अम्ल आदि छ रस न [नाटक की] प्रकृति [अर्थात् मुख्य नाटक] मे उपयुक्त होते है और न विकृतिमे [अर्थात् नाटकके डिम समवकार आदि भेदोमे उपयुक्त होते हैं]। और 'श्रृङ्गार, रसके होने पर' तथा 'रौद्र रसके श्लोकको' [अ० ५-१३२] इत्यादि [वचनो] मे जो श्रृङ्गारादि किन्हीका रस शब्द के साथ प्रयोग किया गया है वहाँ भी [यह शङ्का होती हे कि] श्रृङ्गारादिमे रस पदवाच्यता कसे होती हे ? क्योकि रसना इन्द्रियसे गृहीत होने वाले [गुण] केलिए ही 'रस' शब्दका प्रयोग होता है। [श्रृङ्गारादि तो रसना ग्राह्य नहीं होते हैं तब इनकेलिए 'रस' शब्दका प्रयोग क्यो होता हे ?]

---

१ मुख्य तावदभिनयो हृदङ्गत । ख नातीव हृदयङ्गमम् ।

न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्येत । 'खिन्नाना रसभावेषु', [५-१५६] इत्यादावादरातिशयप्रतीते । तेन प्राधान्यादङ्गाभिनयप्रश्नान्तर्भूतमप्येतत पुन प्रश्नितमित्यथ । पुन प्रश्नाभिप्रायेणव 'आख्यातुमर्हसि' इत्युपपन्नम् । पूर्वाख्यानेषु तु 'पुनरुक्तमभिधत्स्व' इत्युक्तत्वात् । वै शब्दोऽक्षरमात्रायाम् । अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति' शब्दो, 'रसा इति पठ्यन्ते' इति ॥२॥

अभिनव०—और यह [रसका] विषय अनादरका स्थान भी नही है कि उसको बिना विचारे ही छोड दिया जाय। क्योकि 'खिन्नाना रसभावेषु' [५ १५६] इत्यादि वचनसे [उस रसके विषयमे] अत्यन्त आदर प्रतीत होता है । [इसलिए उसके विषयमे यह जिज्ञासा होना सवथा स्वभाविक हे] इसीलिए ['जग्राह पाठ्य' आदि १-१७ कारिकामे नाटकके] अगो और अभिनय विषयक प्रश्नोके भीतर आ चुकनेपर भी [रसकी] प्रधानताके कारण यहाँ फिर [उसके विषयमे प्रश्न] पूछा जा रहा है। पुन पूछे जानेके अभिप्रायसे ही 'एतदाख्यातुमर्हसि' 'इसको बतलानेकी कृपा करें' यह कथन सगत होता है । पहिले बतलाए हुए अथके विषयमे दुबारा पूछनेपर तो [यह बतलावें 'एतदाख्यातुमर्हसि' न कह कर] 'कही हुई बातको फिर समझानेकी कृपा करें' इस प्रकार कहा जाता है । [यहाँ उस प्रकारका प्रयोग न करके 'एतदाख्यातुमर्हसि' कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि रसके विषयमे पहिले नही कहा गया है । उसको कहनेकी कृपा करे । इस प्रकार यह रस विषयक प्रथम प्रश्न सवथा सगत हे यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है । उसमे आए हुए दो शब्दोपर विशेष टिप्पणी करते है] 'व' शब्द पादपूर्तिकेलिए [अक्षरमात्राया] आया हे । इसलिए 'ये रसा इति पठ्यन्ते' मे 'इति' शब्द [पादपूर्ति के लिए नहीं अपितु 'शब्दप्रादुर्भाव' अर्थात [रस इस] शब्दके स्वरूप बोधनकेलिए प्रयुक्त हुआ है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूवसस्करणोमे निम्न प्रकार छपा था—

तत्रापि शृङ्गारादिषु कथ रसशब्दवाच्यत्वम् । वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम् । रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसशब्द प्रसिद्ध । न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते । खिन्नाना रसभावेषु इत्यादावादरातिशयप्रतीते । अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्दो 'रसा इति पठ्यन्ते इति ।

पाठसमीक्षा—इस प्रसङ्गको पढनेसे पाठकको तुरत ही प्रतीत हो जाता है कि 'वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम्' और 'अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्द' ये दोना वाक्य स्थानभ्रष्ट हो रहे हैं । शेष वाक्योका एक प्रसङ्ग है । एक प्रवाह है । ये दोनो वाक्य उस प्रसग और उस प्रवाहमे अपना स्थान नही बना पा रहे हैं । एक सुसगत वाक्य प्रवाहके बीच आकर वे अथबोधमे बाधक ही बन रहे हैं । इसलिए वहा उनका स्थान ठीक नही है । शेष वाक्योमें एक युक्तिक्रम चल रहा है । ये दोनो वाक्य उस युक्तिक्रमसे असम्बद्ध केवल पद टिप्पणात्मक वाक्य है । अत उस युक्तिक्रमके समाप्त होनेके बाद ही इन वाक्योका स्थान हो सकता है । इसलिए हमने इन स्थानभ्रष्ट और पद टिप्पणात्मक दोनो वाक्योको पूव स्थानसे हटा कर शेष वाक्योके युक्तिप्रवाहके समाप्त हो जानेके बाद स्थान दिया है ॥२॥

---

१ भ म अक्षरसाया अक्षरक्षमायाम् ।

रसोको प्रथमाध्यायमे नाटचके अङ्गोमे दिखलाया गया है इसलिए यहा उनकी चर्चाको तो कथञ्चित सङ्गत भी कहा जा सकता है, परतु भावोकी तो पहिले कही कोई चर्चा नही हुई है । फिर उनका निरूपण यहा क्यो किया जा रहा है। यदि 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात आदि [१ १७] इलोकमें कहे हुए पाठ्यादिको ही 'भाव मान कर यहा भावोकी चर्चा की जा रही हो तो भाव' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा अथ क्या लिया जायगा । यह दूसरा प्रश्न यहा अथत उपस्थित होता है । 'भाव' शब्दकी 'भव तीति भावा ' तथा 'भावय तीति भावा ' ये दो प्रकारकी व्युत्पत्तिया हो सकती हैं । इन दोनोमेसे यहा कौन सी व्युत्पत्ति लेनी चाहिए यह अर्थाक्षिप्त तीसरा प्रश्न है । इनमेंसे अतिम अर्थात भावय तीति भावा ' इस व्युत्पत्तिको माननेपर वे किनको भावित करते हैं कि वा ते भावयन्त्यपि यह भाव विषयक चौथा प्रश्न उपस्थित होता है । इस प्रकार मुरय रस विषयक एक, भाव विषयक चार प्रश्न मिलकर पाच प्रश्न हो जाते हं । सग्रह कारिका आदि विषयक अगली एक प्राथना अलग है । प्रथम कारिकामें इन्ही पाच प्रश्नोका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने 'प्रश्नान् पचाभिधत्स्व न ' यह लिखा है ।

इन पाँच मुरय प्रश्नोमें इस तृतीय श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'सग्रह 'कारिका' तथा निरुक्त' के स्वरूपके विषयमें जो प्रश्न पूछा गया है उसमे प्रयुक्त इन शब्दोके अथ क्रमश 'उद्देश,' 'लक्षण तथा परीक्षा हैं। याय दशनमे त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवत्ति, उद्देशो लक्षण परीक्षा चेति' लिख कर ग्र थकारने शास्त्रकी तीन प्रकार की प्रवत्तिका वणन किया है । यह तीन प्रकार की प्रवत्ति न केवल यायशास्त्रमें ही अपितु सभी शास्त्रोमें पाई जाती है । उद्दश का अथ नाम मात्रसे वस्तुका कथन करना है । नाममात्रेण वस्तुसकीतन उद्देश ' यह उद्देश' का लक्षण है । जसे यायदशनमें प्रमाणादि १६ पदार्थोंका प्रतिपादन किया गया है । यायके प्रथम सूत्रमें ही सोलहो पदार्थोके नाम गिना दिए गए हैं । इसलिए वह प्रथम सूत्र 'उद्दशसूत्र' कहलाथा है । सभी शास्त्रोके आरम्भमें प्रतिपाद्य विषयोका नाम मात्रसे कथन होता है । इसलिए उद्देश' की प्रक्रिया सभी शास्त्रोमें अपनाई जाती है । उद्देशके बाद लक्षणका स्थान आता है । लक्षण तु असाधारण धमवचनम्' अर्थात् असाधारण धमके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं । और 'लक्षितस्य लक्षण मुपपद्यते न वा इति विचार परीक्षा' । लक्षितका जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नही इस विचारका नाम परीक्षा है । उद्देश, लक्षण, परीक्षाके स्थानपर यहा नाटचशास्त्रमे सग्रह कारिका तथा निरुक्त शब्दोका प्रयोग किया गया है । इनके द्वारा विषयका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए इन तीनोके स्वरूप का परिज्ञान भी आवश्यक है इस दृष्टिसे तीसरे श्लोकमें इनके स्वरूपके विपयमें भी प्रश्न किया गया है ।

१ सग्रह अर्थात उद्देश, २ कारिका अर्थात लक्षण, तथा ३ निरुक्त अर्थात परीक्षा विषयक प्रश्न यहा क्यो उपस्थित किया गया है इसके दिखलानकेलिए ग्र थकारने 'तत्वत ' यह पद श्लोकमे रखा है । यह पद विशेष रूपसे ध्य न देने योग्य है । यद्यपि प्रसिद्ध रूपमे यह एक ही पद प्रतीत होता है । परतु वस्तुत यहाँ तत्+तु+अत इन तीन पदोको मिला कर यह तत्वत ' पद बनाया गया है । 'तत' अर्थात् पूर्वोक्त रस या भाव विषयक प्रश्नोका कथन, 'तु' अर्थात तो अत ' अर्थात इन उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा रूप सग्रह कारिका तथा निरुक्तके द्वारा ही होता है इसलिए इनके स्वरूपके विषयमें भी यहा प्रश्न किया गया है ।

श्लोक का अथ निम्न प्रकार है—

भरत०—[1]भावाश्चैव [2]कथ प्रोक्ता किं वा ते भावयन्त्यपि[3]।
सग्रह[4] कारिका चैव[5] निरुक्त चैव तत्त्वत ॥३॥

भावाश्चेति—च शब्दस् तु शब्दार्थे। भावास्त्वपठिता अपि कथ प्रोक्ता। अथ पाठ्यादय एव भावास्तत्किमेषा रूपम्। तेनादरविषयत्वात रसे प्रश्नानन्तरम्। अभूतावृत्या विस्मयस्थानत्वाद् भावेषु प्रश्नचतुष्कम्।

तथाहि—रससहभावेन भावा केचन प्रोक्ता 'खिन्नानाम्' इत्यत्र। ते च केन प्रकारेणोक्ता। 'जग्राह' इत्यादौ हि तेषा नामापि न श्रुतम्। अथैतेष्वेव भावशब्द प्रवर्तित। तत्रापि 'भवन्तीति' व्युत्पत्ति, 'भावयन्तीति' वा। किमेतत्? किमुत्पादयन्ति,

---

भरत०—[और अभिनयके अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली प्रथमाध्यायकी १७वी कारिकामे भावोंका किसी भी रूपमे कथन न होने पर भी यहाँ] १ भाव क्यों कहे गए है। २ और वे किसको भावित [सस्कृत अथवा प्रतीत] करते है? [इन दोनो प्रश्नोका उत्तर देने की कृपा करें। और उनके साथ ही [उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप] १ सग्रह, [उद्देश], २ कारिका [लक्षण], तथा ३ निरुक्त [परीक्षा] को भी [बतलानेकी कृपा करें] क्योंकि वह [भाव आदिका कथन] तो इन [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] के द्वारा ही होता है। ३।

अभिनव०—'भावाश्च' यहाँ 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमे प्रयुक्त हुआ हे। भाव तो [पहिले १-१७ मे] पठित न होने पर भी [यहाँ] क्यो कहे गए है? [यह भाव विषयक मुख्य प्रश्न हे]। और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि श्लोकमे कहे गए] पाठ्य आदि [अङ्ग] ही भाव [अभिप्रेत] है तो उनका क्या स्वरूप है? [यह दूसरा अवान्तर प्रश्न उपस्थित होता है]। इसलिए आदरका विषय होनेसे रसके विषयमे [प्रश्नान्तर अर्थात्] दुवारा प्रश्न किया गया है। [और वह ठीक है]। किन्तु पूर्व कथित न होनेसे [अभूतावृत्या, यहां भावोका निरूपण क्यो किया गया हे इस बातके यहा] विस्मय-जनक होनेके कारण भावोके विषय मे [१ भावा कथ प्रोक्ता तथा 'कि वा ते भावयन्ति' ये दो प्रश्न तो यहा शब्दत कथित हैं और भाव शब्दकी व्युत्पत्ति विषयक 'कि भवन्तीति भावा' अथवा 'भावयन्तीति भावा' ये दो प्रश्न अथत आक्षिप्त होते है। इन सबको मिलाकर] चार प्रश्न होते है।

अभिनव०—जैसे कि 'रसभावेषु खिन्नानाम्' यहा रसके साथ साथ किन्ही भावोका कथन किया गया है। वे यहा क्यो कहे गए हैं? 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि [श्लोक] मे [जहाँपर नाट्यके अगोका वर्णन हुआ हे वहाँ] तो इन भावो का नाम भी नही आया है [इसलिए यहाँ उन भावोका कथन कैसे किया गया। यह भाव विषयक पहिला प्रश्न है]। और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' १-१७ इत्यादि श्लोकमे कहे हुए] इन्ही [पाठ्यादि] केलिए ही 'भाव' शब्दका प्रयोग किया गया है तो उसमे भी 'भवन्तीति भावा' यह [भाव शब्दकी] व्युत्पत्ति अभिप्रेत है अथवा

---

१ प ब भावाश्चापि। २ न म हि ये प्रोक्ता। ३ त ब भावयति हि।
४ अ ब कारिकाश्चैव। ५ अ चापि।

अथ व्याप्नुवन्ति ? द्वयो किं कम स्यात् ? इति 'वा' शब्देन' 'च' शब्देन, 'अपि' शब्देन 'एव' शब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्ना । एव प्राधान्यात् प्रश्नपञ्चकान्तरम् । वस्तुत पुन पञ्चप्रश्नी पूर्वोक्तैवेय विस्फायते ।

[1]सग्रहादि चाभिधत्स्व ।

ननु तैरिह कि प्रयोजनम् । आह 'तत् तु अत' [तत्त्वत] इति । 'तु' शब्दो हेतौ । तदिति आख्यान परामृष्टम् । यतस्तदाख्यान 'अत' एभ्य सग्रहादिभ्य[2] त्रिप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य एव । तस्मान्नोऽभिधत्स्व ।३।

'भावयन्तीति भावा' यह [व्युत्पत्ति अभिप्रेत है । दोनो ही व्युत्पत्तियोमे पाठ्यादि केलिए 'भाव' शब्दका प्रयोग सगत नहीं होता है । इसलिए] यह क्या है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं । दोनो ही व्युत्पत्तियाँ प्रकृतमे असगत हैं । क्योकि उक्त व्युत्पत्तियोके अनुसार पाठ्यादि क्या [किसीको] उत्पन्न करते हैं, अथवा व्याप्त करते हैं ? [अर्थात् भवन्ति या भावयन्ति का अर्थ उत्पादयन्ति न करके व्याप्त करते है यह अर्थ करे तो भी उन दोनो उत्पादयन्ति अथवा व्याप्नुवन्ति इन दोनो पक्षोमे] उन दोनो [क्रियाओका] कर्म क्या होगा [अर्थात् वे 'भाव' किसको उत्पन्न या व्याप्त करेंगे । ये इस प्रकार प्रथम श्लोकमे आए हुए 'वा' शब्द 'अपि' शब्द 'च' शब्दसे और 'एव' शब्दसे अथ आक्षिप्त होकर भावोके विषयमे चार प्रश्न हो जाते है । इस प्रकार [रस तथा भाव दोनोके] प्राधान्यके कारण [प्रथमाध्यायमे पूछे गए अग विषयक पाच प्रश्नोके अन्तगत होनेपर भी यहा] ये पाच प्रश्न पूछे गए हैं । वास्तवमे तो [प्रथमाध्यायमे पूछे गए] पहिले ही पाच प्रश्नोको यहा अधिक स्पष्ट करनेका यत्न किया गया है ।

अभिनव—[इन रस भावादि विषयक पाच प्रश्नोके साथ ही] सग्रह [उद्देश, लक्षण परीक्षा रूप सग्रह, कारिका तथा निरुक्त] आदिको भी बतलानेकी कृपा करें ।

यह इस श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव है । इसपर यह शङ्का हो सकती है रस भाव आदि विषयक प्रश्न तो ठीक हैं । पर तु सग्रह आदिकी चर्चा यहा क्यो की गई है । इस शङ्काका समा धान श्लोकमे आए हुए 'तत्त्वत' पदके तत+तु+अत + पदच्छेद करके दिखलाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] उन [सग्रह, कारिका तथा निरुक्तके कथन करने] से यहा क्या लाभ है ? [इस प्रश्नका उत्तर] कहते है, 'तत्+तु+अत' । 'तु'-शब्द हेतुके अर्थमे है । 'तत्' इस पदसे [रस भावादिके आख्यान] कथनका निर्देश किया गया है । क्योकि [रस भावादिका] वह कथन इन सग्रह आदि रूप तीन प्रकारके उत्तम उपायो द्वारा ही होता है इसलिए [उनको भी] हमे बतावें । [रस भावादिके कथनके उत्तम उपाय रूप होनेसे उनका कथन करना भी उपयोगी है । इस प्रकार रस आदिके समान ही उद्देश अथवा सग्रह, लक्षण अर्थात् कारिका, और परीक्षा अथवा निरुक्त आदिमे प्राधान्य विवक्षित होनेके कारण उन उद्देश लक्षण परीक्षा रूप सग्रह, कारिका तथा निरुक्तका कथन करना उचित है] ।।३।।

---

१ सग्रहादिति । २ उद्देश लक्षण परीक्षादिषु वक्ष्यामि इति ।

तीन कारिकाओंकी व्याख्याका साङ्कर्य —

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ पूर्व संस्करणोंमें बड़े अस्त व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। उसमें तीसरी चौथी तथा पांचवीं इन तीन कारिकाओंकी व्याख्याके पाठको एक दूसरेके साथ मिलाकर एक विचित्र खिचड़ी सा मिश्रण कर दिया गया है कि उसका कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता है। पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठ निम्न प्रकार है—

ननु तैरिह किं प्रयोजनम्। आह तत्त्वत इति। तु शब्दो हेतौ। तदित्याख्यानं परामृष्टम्। यतस्तदाख्यानमत एवाभ्यः सग्रहादिभ्य उद्देशलक्षणपरीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह। निखिलेन सग्राह्यलक्षणीयनिर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामिति त्रयप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य। तस्मान्नोऽभिधत्स्वेति। पुनः शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनि पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग्वाक्यमुवाच। न तु तदीय वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुनः शब्दार्थः। मुनेश्चाय भाव रसादिषु समुच्चयार्थश्च। तदभिधानेऽयत्न किंचिद भिधेयमवशिष्यत इत्येवशब्द। यथाक्रममिति पूर्वसग्रह उद्देशप्रकार वादित्यादिक्रमेण स्वबुद्धि विषय बहुमान गृह्णतामनीपामित्यभिप्रायेण भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

अर्थसंगतिके लिए हम इस पाठको निम्न प्रकारसे ११ खण्डोंमें विभक्त करके फिरसे लिखते हैं—

१ ननु तैरिह किं प्रयोजनम् १ आह तत्त्वत' इति। तु शब्दो हेतौ। 'तत इति आख्यान परामृष्टम्। यतस्तदाख्यान अत' एव एभ्य सग्रहादिभ्य।

२ उद्देश लक्षण परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह— निखिलेन सग्राह्य लक्षणीय निर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामि इति।

३ त्रय प्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य। तस्मान्नोऽभिधत्स्व।

४ पुनः शब्दो भिन्नक्रम। भरतमुनि पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग वाक्यमुवाच।

५ न तु तदीय वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुन शब्दार्थः।

६ मुनेश्चाय भाव।

७ रसादिषु समुच्चयार्थश्च।

८ तदभिधानेऽयत्न किंचिदवशिष्यत इत्येव शब्द।

९ यथाक्रममिति पूर्वसग्रह उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण।

१० स्वबुद्धिविषय बहुमान गृह्णताममीष इत्यभिप्रायेण।

११ भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

इस प्रकार हमने पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठको ग्यारह खण्डोंमें विभक्त करके दुबारा लिख दिया है। क्रममें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। केवल उसे ११ खण्डोंमें विभक्त कर दिया गया है। अब उन खण्डोंके क्रमके विषयमें विचार करेंगे।

तृतीय कारिकाका पाठानुसन्धान—

इनमें प्रथम तथा तृतीय खण्डको एक साथ मिलानेपर वाक्यकी संगति ठीक लगती है। प्रथम खण्डमें तृतीय कारिकामें आए हुए तत्त्वत' पदकी व्याख्या की जा रही है। व्याख्याकार ने इस 'तत्त्वत' पदको तत तु अत इन तीन भागोंमें विभक्त कर उसकी व्याख्या की है। 'तत' पदसे आख्यान अर्थात् आगे जिस विषयका प्रतिपादन करना है उसका ग्रहण किया है। 'तु'—शब्दको हेत्वर्थक माना है। और 'अत.' पदमें पञ्चम्यर्थमें तसिल प्रत्यय करके 'एभ्य' के अर्थमें

'अत ' पदका प्रयोग माना है। इस प्रकार तत तु अत ' इन तीन पदोको मिलाकर बने हुए इस 'तत्वत ' पदका यह अथ हुआ कि रस भाव आदि प्रतिपाद्य विषयको सग्रह कारिका और निरुक्त अर्थात उद्देश लक्षण परीक्षा पूवक कहनेकी कृपा करे क्योकि वह' अर्थात प्रकृत विषयका प्रतिपादन इन उद्देश लक्षण परीक्षाके द्वारा ही होता है। इसलिए उन सग्रहादि तीनोके सहित ही कहनेकी कृपा करे। यह मुनियोकी प्राथनाका भाव है। इस अभिप्रायको देखते हुए पूव मुद्रित पाठके प्रथम तथा तृतीय खण्डोको मिला कर—

ननु तरिह किं प्रयोजनम् ? आह तत्वत ' इति। तु शब्दो हेतौ। तदित्यारयान परामृष्टम्। यतस्तदारयान 'अत ' एव, एभ्य सग्रहादिभ्य त्रिप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य एव, तस्मन्नोऽभिधत्स्वेति।

इस प्रकारका पाठ ही उस अशकी व्यारयाको ठीक सुसगत रूपमें प्रस्तुत करता है। बीचमे द्वितीय खण्डका पाठ आकर इस सगतिको अस्त व्यस्त कर देता है। इसलिए हमने उसको बीचमें से हटा कर और प्रथम तथा तृतीय खण्डोको मिलकर ही इस तृतीय कारिकाकी व्यारया का पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इस क्रम सशोधनके अतिरिक्त इस पाठमें दो सशोधन और भी करने पडे हैं। पूव सस्करणोमें 'आभ्य सग्रहादिभ्य ' पाठ छपा है। वह अशुद्ध है। उसमें 'आभ्य ' के स्थानपर एभ्य ' पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'एव' पदका प्रयोग सदुपायेभ्य ' के बाद होना चाहिए था जो प्रमादवश 'अत ' के बाद छप गया था। 'अत पदकी व्यारया 'अत एभ्य सग्रहादिभ्य त्रिप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य एव' इस प्रकार होनी चाहिए। इसमें अतिम एव' पद पूव सस्करणोमें अस्थानमें छप गया है। उसके कारण व्याख्या निर्जीव सी होती है। अत उसका स्थानान्तरण आवश्यक मानकर हमने उचित स्थानपर उसका समावेश कर दिया है। तीसरे स्थानपर 'त्रयप्रकाररूपेभ्य ' पाठ पूव सस्करणोमे दिया गया है। वह भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'त्रिप्रकाररूपेभ्य पाठ होना चाहिए। अत हमने इन सब अपेक्षित सशोधनोको करके ही मूलपाठ को प्रस्तुत किया है।

चतुथ कारिकाका पाठानुसधान—

पाठसमीक्षा—इस प्रकार प्रथम तथा तृतीय खण्डोको मिला कर तृतीय कारिकाकी व्यारया हुई। इसके बाद चतुथ कारिकाकी व्यारया आनी चाहिए। किन्तु द्वितीय खण्डमे 'निखिलेन' पदकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यह 'निखिलेन' पद चौथी नही अपितु पाँचवी कारिकामें आया है। इसलिये यह स्पष्ट है कि यह खण्ड यहा अस्थान मुद्रित है। चौथी कारिका की व्यारया चतुथ खण्डसे प्रारम्भ होती है। उसमें 'पुन शब्दो भिन्नक्रम ' लिख कर पुन शब्दकी व्याख्या की गई है। यह 'पुन ' शब्द चतुथ कारिकामे ही आया है। अत चतुथ खण्डसे चौथी कारिकाकी व्याख्या ही आरम्भ होती है। पर यह व्यारया यहां पूण नही हो रही है। उसके साथ पचम तथा एकादश दो खण्डोको जोडना चाहिए। इन खण्डोको इस कारिकाकी व्याख्याके साथ ही जोडनेका कारण यह है कि इन दोनो खण्डोकी अन्यत्र कहीं भी कोई सगति नही लगती है। चौथी कारिकाकी व्याख्या तो इन दोनों खण्डोके बिना भी पूरी मानी जा सकती है। किन्तु इन दोनो खण्डोकी सगति अन्यत्र कही भी नही लगेगी। अत उन दोनो का जोड कर—

पुन शब्दो भिन्नक्रम। भरतमुनि पुन रसभावा विकल्प्य ते निश्चीय तेऽनेन तादृग्वाक्यमुवाच। मुनेश्चाय भाव भवद्भिर्यु क्तमेतदुक्तमिति। [न तु] तदीय वचनमुक्तमुत्तरदानेन समादृत्येति पुन शब्दाथ।

**भरत०—तेषा तु वचन श्रुत्वा मुनीना भरतो मुनि ।
प्रत्यवाच पुनर्वाक्य रसभावविकल्पनम् ।।४।।**

इस रूपमे ४+६+११ तथा ५ इस क्रमसे चार खण्डोको मिलाकर चौथी कारिकाकी व्याख्या पूर्ण होती है । इसमें भी इस क्रम-निर्धारणके अतिरिक्त कुछ पाठ सशोधनोकी भी आवश्यकता होती है । पूर्व सस्करणोमें 'न तु तदीय वचनमुक्तमत्तरदानेन समाहत्येति पुन शब्दार्थ' इस प्रकारका पाठ छपा है । यह पाठ उपयुक्त प्रतीत नही होता है । इसमे 'न तु' पद खटकते हैं । भरतमुनिने मुनियोके वचनका आदर करके उत्तर देना आरम्भ किया यह भाव तो उचित प्रतीत होता है । कि तु 'न तु पदोके रहने पर अर्थ इससे बिल्कुल उल्टा हो जाता है । अत ये दोनो पद यहा अधिक छप गए हैं । वे अर्थ की सगतिमें बाधक होते हैं । उनको हटा देनेके बाद और 'मुनेश्चाय भाव भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति । तदीय वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहत्येति पुन शब्दार्थ' यह पाठ सुसगत बन जाता है । अत कारिकाकी अभिनवभारतीका हमने यही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

पञ्चम कारिकाका पाठानुसन्धान—

इस प्रकार पूर्व सस्करणोमे मुद्रित इस पाठ सन्दर्भमेंसे प्रथम तथा तृतीय खण्ड तृतीय कारिकाकी व्याख्या तथा ४+६+११+५ ये चार खण्ड मिलकर चतुर्थ कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । ग्यारह खण्डोमेसे इन छ खण्डोको हटा देनेके बाद जो ५+७+८+९+१० पाच खण्ड शेष रह जाते हैं वे मिलकर पचमी कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । इन सबको क्रमश मिलाकर लिखनेसे पञ्चम कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

उद्देश लक्षण परीक्षादिषु प्राधान्यात तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम् । तदाह निखिलेन, सग्राह्य लक्षणीय निर्वचनीयात्मनोपराक्षित सग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामीति । रसादिषु समुच्चयार्थश्च । तदभिधानेऽ यत्र किंचिदवशिष्यत इत्येवशब्द । यथाक्रममिति पूर्व सग्रह उद्देशप्रकारत्वादिक्रमेण । सबुद्धिविषय बहुमान गृह्णतामभीषामित्यभिप्रायेण ।

पाठसमीक्षा—इनमें अन्तिम दो वाक्यो अर्थात नवम तथा दशम खण्ड वाले वाक्योके पाठमें भी कुछ सशोधनकी आवश्यकता है । कारिकामें आए हुए 'यथाक्रमम्' पदकी व्याख्या नवम खण्ड वाले वाक्यमें की गई है । किन्तु उसका पाठ अटपटा सा है । पूर्व सग्रहा उद्देशप्रकारत्वदित्यादिक्रमेण इस पाठका कुछ अर्थ नही लगता है । अत हमने उसके स्थानपर 'यथाक्रममिति पूर्वोक्तसग्रह कारिकादिक्रमेण' यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इससे अगले अर्थात् दशम खण्ड वाले वाक्यका पाठ भी कुछ अपूर्ण सा प्रतीत होता है । उसकी समाप्ति 'इत्यभिप्रायेण' शब्दसे हो रही है । यहा वाक्य पूरा नही हो पा रहा है । उसके आगे कुछ छूटा हुआ है । और वह छूटा हुआ पाठ 'व' शब्द है । यहा कारिकामें आए हुए 'व' पदकी व्याख्या कर रहे हैं । 'अह व कथयिष्यामि' में आए हुए 'व' पदसे ग्रन्थकारने यह अभिप्राय निकाला है कि क्योकि मुनिगण अपने बुद्धिग्राह्य इस विषयका 'सबहुमान' अत्यन्त आदर पूर्वक ग्रहण करनेको उद्यत हैं इसलिए उनको 'निखिलेन' सम्पूर्ण रूपसे सब बातें बतलाऊगा । इस प्रकार 'व' शब्दसे मुनियोंकी तत्परताको सूचित किया है इस अभिप्रायको लेकर ग्रन्थकारने यहा 'स्वबुद्धिविषय सबहुमान गृह्णतामभीषा [निखिलेन कथयिष्यामि] इत्यभिप्रायेण व शब्द । यह पक्ति लिखी है । अत हमने 'व शब्द' का समावेश करके ही यहां सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

भरत०—उनके वचनको सुनकर भरतमुनि फिर रस तथा भावके निश्चय करने वाले [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे । ४ ।

पुन शब्दो भिन्नक्रम । भरतमुनि पुन रस भावविकल्प्यते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग् वाक्यमुवाच । मुनेश्चाय भावो भवद्भिर्यु क्तमेतदुक्तमिति । तदीय वचनमुत्तर-दानेन समादृत्येति पुन -शब्दाथ ॥४॥

भरत०—अह व कथयिष्यामि निखिलेन तपोधना ।
सग्रह 'कारिका चैव निरुक्त च यथाक्रमम्' ॥५॥

उद्देश लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षित सवमभिधेयम् । तदाह निखिलेन । रसादिषु समुच्चयार्थश्च । तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यते इत्येवशब्द । यथाक्रममिति पूर्वोक्त सग्रह कारिकादि-क्रमेण । स्वबुद्धिविषय लबहुमान गृह्णतामभीषामित्यिमिपायेण 'व' शब्द ॥५॥

अभिनव०—[श्लोकमे आया हुआ] 'पुन' शब्द भिन्न क्रम है [अर्थात् जहा वह पढा गया है उसका अन्वय वहाँ न होकर अन्य स्थानपर भरतमुनिके बाद होता है] । भरतमुनि फिर रस तथा भावका [विकल्प विशेष रूपसे कल्पना अर्थात्] निश्चय जिसके द्वारा किया जाता है इस प्रकारके [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे । [भरत] मुनिका यह अभिप्राय है कि आप लोगोने यह ठीक ही कहा है [अर्थात् आपने जो प्रश्न उठाए है वे ठीक हैं] । उनके [मुनियो] कहे हुए वचनको उत्तर देनेके द्वारा आदर करके [भरतमुनि बोले] यह 'पुन' शब्दका अथ है । [अर्थात भरतमुनिने रस भाव आदिका आगे जो निरूपण किया है वह मुनियोके यहाँ पूछे गए प्रश्नके उत्तर रूपमे ही तथा पूव क्रमके अनुसार प्राप्त होनेसे किया है] ॥४॥

भरत०—हे तपोधन मुनियो मैं सग्रह [उद्देश], कारिका [लक्षण] तथा निरुक्त [परीक्षा, तथा उनके साथ ही रस भाव आदि] को यथाक्रम आप लोगोंको पूण रूपसे बतलाऊगा । ५ ।

अभिनव०—उद्देश, लक्षण, परीक्षादि की प्रधानता होनेके कारण वहीसे सग्राह्य, [नाममात्रसे कथन करने योग्य], लक्षणीय तथा परीक्षणीय सबका कथन प्रारम्भ करना चाहिए । इसी बातको 'निखिलेन' आदिसे कहा है । [श्लोकमें आया हुआ] च-शब्द रस [भाव] आदिके समुच्चयाथमे हे । [अर्थात् च-शब्दके प्रयोगसे सग्रह कारिका आदिके साथ रस भाव आदि का भी समुच्चय होनेसे सग्रह आदिके साथ रस भाव आदिका भी वर्णन करूगा यह अर्थ निकलता है] । उन [रस भावादि] का कथन करनेके बाद और कुछ कहनेको शेष नहीं रहता हे इस अथमे 'एव' शब्दका प्रयोग किया गया है । 'यथाक्रम' कहनेका अभिप्राय यह हे कि पहिले कहा हुए उद्देश [सग्रह], लक्षण [कारिका] आदिके क्रमसे [ही इन सबका प्रतिपादन करेंगे] । अपनी बुद्धिके विषयको [अर्थात् भरतमुनिके कथनको] आदर पूर्वक ग्रहण करने वाले आप सब [प्रश्नकर्त्ता मुनियो] को सब विषय बतलाऊगा इस अभिप्रायसे 'व' शब्द [का ग्रहण किया] है ॥५॥

---

१ अ कारिकाश्चव । २ अ यथाविधि ।

तान्निदशयन मुनिराह—'न शक्यमस्य' इति—

भरत०—न शक्यमस्य नाटचस्य गन्तुमन्त कथञ्चन ।
[1]कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानाना शिल्पाना [2]चाप्यनन्तत ॥६॥

शक्यमिति सामान्योपक्रमात् माध्यस्थ्यविवक्षा । गन्तुमिति प्राप्तुम् । अन्तो निश्चय । 'कथचन' इति अमु सग्रहादिप्रकार वजयित्वान्येन प्रतिपदनिरूपणादिनेत्यथ । यत्किल प्रतिपद निरूपयितु न शक्य तल्लक्षणद्वारेणोच्यते । लक्षणस्यैवाङ्गमुद्देश-परीक्षे । तस्य विषयप्रदशने परिशुद्धौ च तयोर्व्यापारात । न चात्र प्रतिपद-निरूपण युक्तमिति ।

अत्र हेतुमाह—बहुत्वादिति । ज्ञानाख्यानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि । शिल्पानि चित्र पुस्तादिकर्माणि । तेषामनन्तत्वादन्ताभावात् ॥६॥

अभिनव०—उस [सग्रह आदिकी उपयोगिता] को दिखलाते हुए 'न शक्यमस्य' इत्यादि [श्लोक] से [भरत] मुनि कहते है—

भरत०—[लक्षण प्रक्रियाके बिना] इस नाटच [के सम्पूर्ण विषयों] का अन्त [निश्चय] प्राप्त करना किसी प्रकार भी सम्भव नही है । क्योकि ज्ञानके [विषयोंके] असख्येय तथा कलाओंके अनन्त होनेसे [लक्षणके बिना प्रतिपदपाठसे अन्त प्राप्त करना सम्भव नहीं है] ॥६॥

अभिनव०—[श्लोक मे आया हुआ] 'शक्य' यह [पद] माध्यस्थ्य द्योतनके अभिप्रायसे सामान्य रूपसे कहा गया है । 'गन्तु' का अर्थ प्राप्त करना है । 'अन्त' का अर्थ 'निश्चय' है । 'कथञ्चन' का अभिप्राय यह है कि इस सग्रह [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] आदि रूप मागको छोडकर प्रत्येक वस्तुके अलग-अलग निरूपण [प्रतिपदनिरूपण] आदिके द्वारा [इन सबका ज्ञान सम्भव नही हे] । जिस [विषय] को प्रतिपद रूपसे [अलग अलग प्रत्येक बातको] निरूपित करना सम्भव नही हे उसका लक्षण द्वारा [सरलतासे] प्रतिपादन किया जाता है । लक्षणके ही अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा हे । क्योकि उस [लक्षण] के विषयके प्रदशन [में उद्देशका, अर्थात् जिनका लक्षण करना है उनके नाम निर्देशका] और [लक्षणकी] शुद्धताके विषयमे [क्रमश उद्देश तथा परीक्षा] दोनोका व्यापार होनेसे [उद्देश तथा परीक्षा दोनो लक्षणके ही अङ्ग माने जाते है] । यहा [रस भावादिका] प्रतिपद निरूपण सम्भव नही है । [अत एव लक्षण और उसके अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा द्वारा उन सबका विवेचन यहाँ किया जायगा] ।

अभिनव०—[प्रतिपद-निरूपणके द्वारा अन्त प्राप्त करना सम्भव नही है] इसका कारण [श्लोकके उत्तरार्द्ध मे] 'बहुत्वात्' बहुत होनेसे इस [पद] से कहते हैं । ['बहुत्वाज्ज्ञानाना' इसमे] व्याकरण आदि शास्त्र 'ज्ञान' पदसे कहे गए है । 'शिल्प' का अभिप्राय चित्रकला तथा लेपन [वार्निश आदि अथवा काष्टकला आदि पुस्त लेप्यादि कर्माणि] आदि कमसे है । उनके अनन्त होनेसे अर्थात् उनका कोई अन्त न होनेसे [असख्येय होनेसे बिना लक्षणके प्रतिपदपाठसे पार पाना सम्भव नहीं है]

---

१ नि ब कस्माद्बहुत्वाद् भावानाम् । २ न चापि सत्वत ।

एतदेवोपोद्बलयति 'एकस्य' इति—

भरत०——एकस्यापि न व [1]शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि [2] ।

[3]गन्तु कि पुनरन्येषा ज्ञानानामर्थतत्त्वत ।।७।।

नाट्याङ्गभूतस्य कस्यचिदिति शेष । अथस्याभिधेयस्य । तत्त्वत —तनन विस्तार । तेन । अन्येषामिति अङ्गभूतस्यापि या यङ्गभूतत्वेनाया तीत्यथ ।।७।।

सग्रहादयस्त्वत्र सदुपाया इति दशयति किन्त्विति ।

भरत०——किन्त्वल्पसूत्रग्रन्थाथमनुमानप्रसाधकम् ।

नाट्यस्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसग्रहम् ।।८।।

इस विषयकी चर्चा करते हुए व्याकरण महाभाष्यमें लिखा है कि—

'अथैतस्मिन शब्दोपदेशे सति किं शब्दाना प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ कतव्य । गौरश्व पुरुषो हस्ती शकुनिमृ गो ब्राह्मण इत्येवमादय शब्द पठित या । नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दाना प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ । एव हि श्रूयते बृहस्पतिरि द्राय दिव्य वषसहस्र प्रतिपदोक्ताना शब्दाना शब्दपारायण प्रोवाच न चा त जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इ द्रश्चाध्येता दि य वषसहस्रमध्ययनकाल न चा त जगाम । किं पुनरद्यत्वे य सवथा चिर जीवति स वषशत जीवति ।"

इसका भाव यह है कि इन्द्रको बृहस्पतिने प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दशास्त्र पढानेका प्रयत्न दिव्य सहस्र वष पय त किया पर तु उस विधिसे वे शब्दशास्त्र का अ त न पा सके । तब आज कलके लोग जिनकी अधिक से अधिक आयु सौ वषकी होती है प्रतिपद पाठ द्वारा किसी विषयका पार पा जावें यह कैसे सम्भव है ।

अभिनव०—इसी बातको 'एकस्यापि' इत्यादि से स्पष्ट करते है—

भरत०—क्योंकि किसी एक भी विद्याके [अपार] सागरका पार पाना सम्भव नही है फिर [नाट्य सम्ब धी] अ य विद्याओं [या अङ्गो] के अत्य त विस्तारके कारण पार जानेकी तो बात ही क्या कही जाय । ७ ।

अभिनव०—नाट्यके अङ्गभूत किसी एक भी [ज्ञान सागरका पार पाना सम्भव नही है] यह शेष है। अथ अर्थात् प्रतिपाद्य विषयके 'तत्त्वत' अर्थात् विस्तारके कारण । 'तनन' का अथ विस्तार है उस [विस्तारके कारण] से । 'अन्योके' इसका अभिप्राय यह है कि [नाट्यके मुख्य] अङ्गोके भी अङ्ग रूपसे जो [विषय] आते हैं [उन अवान्तर अङ्गो का] ।। ७ ।।

अभिनव०—सग्रह [उद्देश लक्षण परीक्षा] आदि ही इस विषयमे ठीक उपाय हो सकते है यह बात 'किन्तु' इत्यादि [अगली कारिका] से दिखलाते है—

भरत०—कि तु [नाट्य विषयोके सुचारु एव सरल रूपसे बोध करानेकेलिए] सूत्र [अर्थात लक्षण] तथा ग्र थ [अर्थात भाष्य या परीक्षा] के बीजभूत [अल्प] और [केवल व्यतिरेकी अनुमान रूप] लक्षणके [आधार भूत लक्षणीय अथके कथन द्वारा] साधक इस नाट्यके [प्रतिपाद्य विषय रूप] रस भाव आदिके सग्रह [अर्थात नाममात्रेण वस्तुके कथन रूप उद्देश] को [आगे १०वीं कारिका मे] कहूगा । ८ ।

---

१ न ब म त शक्यमन्तम। २ अ म तु । ३ न ज्ञातुमथ हि। ४ अ अल्पग्रथसूत्राथम ।

नाट्यस्य नाट्यविषयस्यार्थस्य। सग्रह सक्षिप्य गृह्यतेऽनेनेति तमुद्देशम्। 'प्रवक्ष्यामीति। कथ, रसभावादि कृत्वा, प्राधान्यात् तदुपक्रममित्यर्थ । कि तेनेत्याह—अनुमान लक्षरण, तद्धि केवलव्यतिरेकिहेतुरूपम्। तस्य चोद्देशर्धर्मिरण प्रकल्पयन् प्रकृष्ट साधक, आश्रयासिद्धत्वशङ्काशमनेन पक्षधर्मत्वमूलाङ्गपोषकत्वात्।

अभिनव०—नाट्यके अर्थात् नाट्यके [प्रतिपाद्य] विषयके, सग्रह अर्थात जिसके द्वारा [विस्तीर्ण प्रतिपाद्य] विषयको सक्षेप करके ग्रहरण किया जाता है उस उद्देश [नाममात्रेण वस्तुसकीर्तनमुद्देश] को [कहूगा]। कैसे [कहूगा कि], रस भाव आदिके द्वारा अर्थात् प्रधान होनेके कारण उन [रस भाव आदि] से प्रारम्भ करके। उसका [अर्थात् सग्रह, या उद्देश अथवा नाममात्रसे रसभावादिके कथनका] क्या लाभ होगा? यह कहते हैं कि—[उससे] अनुमान अर्थात् लक्षरण, केवल व्यतिरेकि-हेतु रूप [अनुमान] होता है। उस [अनुमान अर्थात् लक्षरण] के उद्देश [अर्थात् जिसका लक्षण किया जा रहा है उस] धर्मीको निश्चित करता हुआ [उद्देश या सग्रह, अनुमानका] प्रकृष्ट साधक होता है। [उद्देशके द्वारा हेतुके आश्रय अर्थात् पक्ष के निश्चित हो जानेसे] आश्रयासिद्धिकी शकाका निराकरण करके अनुमानके पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्गके पोषक होनेसे [सग्रह या उद्देश अनुमानका प्रकृष्ट साधक होता है]।

इस प्रसगमें ग्रन्थकारने 'आश्रयासिद्ध' तथा 'पक्षधर्म' शब्दोका प्रयोग किया है। ये दोनो शब्द न्यायशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं। इनमेसे पहिले 'पक्ष' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। न्यायमें 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष' यह पक्षका लक्षण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ साध्य सन्दिग्ध अवस्थामे रहता है उसको 'पक्ष' कहते हैं। जसे पर्वतो वह्निमान धूमवत्वात्' इस अनुमानमे पर्वत पक्ष' है। क्योकि जब तक अनुमान द्वारा पर्वतमें वह्निकी सिद्धि नही हो जाती है तब तक उसमें अग्निका सन्देह ही रहता है। इसलिए पर्वत पक्ष' कहलाता है। धूम, 'हेतु' है। उसका पर्वत रूप पक्षमे रहना आवश्यक है। यदि धूम 'पक्ष' अर्थात पर्वतमें न रहे तो उससे पर्वतमें वह्निकी सिद्धि भी नही हो सकती है। पर्वत रूप पक्ष' में धूम रूप 'हेतु की विद्यमानताको ही 'पक्षधर्मता' कहते हैं। अनुमानके मुख्य दो अङ्ग होते हैं। एक व्याप्ति और दूसरा 'पक्षधर्मता'। इनमेसे 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि' जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है इस साहचर्य नियमका नाम 'व्याप्ति' है। इस व्याप्तिके द्वारा सामान्य रूपसे, जहा धूम होगा वहा अग्नि होगा इस साध्यसामान्यकी सिद्धि होती है। और 'धूमवाश्चाय पर्वत' इस पर्वतपर धूम है इस 'पक्षधर्मता' के द्वारा पर्वत रूप विशेष स्थलपर वह्निकी सिद्धि होती है। विशेष स्थलपर साध्यकी सिद्धिकेलिए 'पक्षधर्मता' का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता' ये दोनो अनुमानके मुख्य अङ्ग माने जाते हैं। इनके अभावमे अनुमानकी सिद्धि नही हो सकती है।

कही कही इस प्रकारका अनुमान वाक्य भी प्रयुक्त किया जाता है जिसमें हेतुका आश्रय या पक्ष सर्वथा अविद्यमान् होता है। जैसे 'गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' आकाश कमल सुगन्धयुक्त है, कमल होने से, तालाबमें उत्पन्न हुए कमलके समान। इस अनुमान वाक्यमे 'गगनारविन्द' अथवा आकाश पुष्प पक्ष है। परन्तु आकाश पुष्प तो कोई वस्तु नही है।

---

१ वक्ष्यामीति।

तस्य सग्रहस्य स्वरूपमाह—सूत्रभाष्यग्रन्थयो लक्षणपरीक्षयो- र्योऽर्थोलक्ष्य-परीक्षितव्यलक्षण, सोऽल्प सकुचितो नाममात्रेणोद्देश्यतया यत्र ॥८॥

अन्येऽप्येवमेव मन्यन्त इति दशयति विस्तरेणेति—

भरत०—विस्तरेणोपदिष्टानामर्थाना सूत्रभाष्ययो ।
'निबन्धो य समासेन सग्रह त विदुर्बुधा ॥६॥

अत इस प्रकारका हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' कहलाता है । उससे साध्यकी सिद्धि नही हो सकती है । जब हेतुके पक्षका अस्तित्व ही नही है तब उसकी पक्षधमताकी कोई सम्भावना भी नही है । अत आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' 'पक्षधमता-रहित' होनेके कारण साधक नही होते हैं । उद्देश, लक्षण, और परीक्षामेंसे उद्देश भाग आश्रय या पक्षकी विद्यमानताको स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करनेके कारण 'आश्रयासिद्धि' का निवारक और पक्षधमताका पोषक होकर अनुमानका साधक होता है । इसी लिए ग्र थकारने सग्रह या उद्देशको अनुमानका प्रसाधक कहा है ।

अनुमान शब्दका प्रयोग यहाँ 'लक्षण' केलिए किया गया है । वैसे असाधारण धमके कथनको लक्षण कहते हैं । पर तु कही कही उस असाधारण धम अथवा लक्षणका हेतु रूपमें भी प्रयोग किया जाता है । जब लक्षण हेतु रूपमे प्रयुक्त होता है तो वह केवलव्यतिरेकी हेतु रूपमे ही काम आता है । इसलिए ग्र थकारने यहाँ 'लक्षण' को केवलव्यतिरकि अनुमान रूप कहा है । और उद्देशको आश्रयासिद्धिके वारण द्वारा पक्षधमताके पोषक होनेसे उस अनुमान या लक्षणका प्रकृष्ट साधक माना है ।

अभिनव०—[कारिकाके 'अल्पसूत्रग्रन्थाथम्' इस विशेषण द्वारा] उस सग्रह [उद्देश] के स्वरूपको कहते हैं । सूत्र [लक्षण] तथा [उस लक्षण रूप सूत्रकी परीक्षा रुप ग्रन्थ अथवा] भाष्य ग्रन्थ अर्थात् लक्षण एव परीक्षाका जो लक्षणीय तथा परीक्षणीय [अथ अर्थात्] विषय, वह जहाँ [उद्देशमे] अल्प [अर्थात् नाममात्रसे] कथित होनेके कारण सकुचित है [वह 'अल्पसूत्रग्रन्थाथम्' का अथ हुआ । इस प्रकारके विशेषण वाला उद्देश या सग्रह होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥८॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने मतके अनुसार सग्रह अथवा उद्देशका लक्षण किया है । इसी मतकी पुष्टिके लिए अन्य आचार्योंके मतके अनुसार भी सग्रहका लक्षण अगली कारिकामे देते हैं ।

अभिनव०—अन्य [आचाय] भी [सग्रह या उद्देशका स्वरूप] इसी प्रकार मानते है यह 'विस्तरेण' इत्यादि [नवम कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—सूत्र [अर्थात लक्षण] तथा भाष्य [अर्थात परीक्षा] मे विस्तार पूवक प्रतिपादन किए जाने वाले पदार्थोंका [नाममात्रेण कीतन रूप उद्देश भागमे समासेन] सक्षेप रूपसे जो [निबन्ध अर्थात] कथन करना है उसको विद्वान लोग 'सग्रह' [सक्षेपेण नाममात्रेण कथन] मानते हैं ।६।

---

१ निवद्धो ।

सूत्रं लक्षणम् । भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । 'अल्पौ सूत्र-ग्रन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति तु व्याख्यानमनेन श्लोकेन संवदते'[1] ॥९॥

संग्रहं दर्शयति 'रसा भावा' इत्यादिना—

भरत०—[2]रसा भावा ह्यभिनया [3]धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥१०॥

च शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोपदेशात् ।

पिछली कारिकामें 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण 'संग्रहम्' के साथ प्रयुक्त किया था उसकी इस कारिकाके अर्थके साथ सङ्गति दिखलानेकेलिए यहां उसकी व्याख्या करते हैं—

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'सूत्र' पदका अर्थ लक्षण है। और उस लक्षणके स्पष्टीकरण रूप परीक्षाको भाष्य कहा है। जिस [उद्देश रूप] अर्थमें [पूर्वोक्त] लक्षण तथा परीक्षा [सूत्र तथा ग्रन्थ या भाष्य] अल्प [अर्थात् बीज रूपसे विद्यमान] है उस प्रकारका अर्थ [प्रतिपाद्य विषय] जहां हो वह [अल्पसूत्रग्रन्थार्थम् इस विशेषणसे युक्त संग्रह हुआ। 'अल्पसूत्राग्रन्थार्थम्' पदके द्वारा पूर्व कारिकामें की हुई 'संग्रह' शब्दकी] यह व्याख्या इस [नवम श्लोकके साथ सङ्गत होती है [अर्थात् यहां जो 'संग्रह' का लक्षण किया है उसीके अनुसार पहिली कारिकामें 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण रखा गया है] ।

पाठसमीक्षा—द्वितीय संस्करणमें श्लोकेन न संवदते इस प्रकारका पाठ छापा गया है। वह एकदम अशुद्ध है। उससे सारा अर्थ ही उलट जाता है। प्रथम संस्करण में 'न' नहीं था। वही पाठ ठीक था। द्वितीय संस्करणमें 'न' जोड़कर पाठ अशुद्ध कर दिया है ॥९॥

अभिनव०—रसा भावा इत्यादि [दशम कारिका] से [प्रतिपाद्य विषयका] संग्रह [नाममात्रेण कथन रूप 'उद्देश'] कहते हैं—

भरत०—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियां, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान और रङ्ग [यह संक्षेपमें इस नाट्यशास्त्रके प्रतिपाद्य ग्यारह विषयोंका नाममात्रेण कथन या 'उद्देश' रूप] संग्रह है ।१०।

यद्यपि यहां नाट्यके ११ अङ्गोंका 'उद्देश' रूपसे कथन किया है। परन्तु वह भरतमुनि का अपना मत नहीं अपितु प्राचीन नाट्याचार्य 'कोहल' का मत है। भरत मतमें आङ्गिक वाचिक तथा आहार्य तीन प्रकारका अभिनय, गान तथा वाद्य ये सब मिल कर नाट्य के केवल पांच अङ्ग ही अभिमत हैं। फिर भी यहां कोहलके अभिमत ११ अङ्गोंका संग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है यह बात वृत्तिकार अगली पंक्तियोंमें दिखलाते हैं।

अभिनव०—[कारिकामें आया हुआ] 'च' शब्द 'इति' शब्दके अर्थमें [प्रयुक्त हुआ] है। [यद्यपि भरतमुनिके सिद्धान्तमें आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य] तीन प्रकार का अभिनय, गान एवं वाद्य [मिल कर] नाट्यके पांच अङ्ग [ही] होते हैं

---

१ न संवदते । २ ज य रसभावा । ३ ज ब अ धर्मवृत्ति । त धर्मवृत्त ।

"च' शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रय गीतातोद्य चेति पञ्चाङ्ग नाटचम्।
अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते, तत्सगृहीत-स्यापि पुनरत्रोद्देशात्। निर्देशे चतत्क्रमव्यत्यासनात्। अ तभू तस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदशनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

अभिनव०—'च' शब्द 'इति' शब्दके अथमे [प्रयुक्त] है। [आहार्य अभिनवको छोड कर आङ्गिक वाचिक तथा सात्त्विक] तीन प्रकारका अभिनय तथा गीत और वाद्य ये [मिल कर] नाट्यके पाच अङ्ग [भरतमुनिके मतमे] होते है।

परन्तु इस [दशम] श्लोकके द्वारा [प्राचीन नाट्याचाय] कोहलके मतसे ११ अङ्गोका वणन किया गया है। भरतके मतसे नहीं। उन [कोहलाचाय] के द्वारा कथित [एकादश अङ्गो] का भी यहाँ [भरत मुनिके द्वारा] फिर कथन यह कर दिया गया है। निर्देश [करने] मे [कोहलाभिमत अङ्गो] के क्रमका परिवतन कर देनेसे [अर्थात् क्रममे परिवतन करके यहा उल्लेख किया गया है]। और [भरतमुनिके प्रतिपादित अङ्गोमे] अन्तभू त होने पर भी प्रयोजनवश [एकादश अङ्गोका] फिर दुबारा कथन देखा जानेसे तथा क्रमके विवक्षित न होनेसे [यहा कोहलाभिमत अङ्गो को भिन्न क्रमसे कथन किया गया है]।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें कोहूलाचायके अभिमत एकादश नाटयाङ्गोका उद्देश किया गया है यह बात वृत्तिभागसे ज्ञात होती है। परन्तु मूल ग्रन्थमे इस दशम श्लोकके बाद निम्नाङ्कित एक श्लोक इसी विषयमें और भी पाया जाता है—

उपचारस्तथा विप्रा मण्डपाश्चेति सवश।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाटचसग्रह॥

वृत्तिकारने नाटचके एकादश अगोका निर्देश किया है। इस अधिक श्लोकमें तीन अग और अधिक गिनाए हैं उनको मिला कर १४ अग हो जाते हं। पर तु श्लोकमे त्रयोदश सख्याका उल्लेख किया गया है। यह ठीक प्रतीत नहीं होता है। फिर वृत्तिके अनुसार ११ अग ही कहे गए हैं अत यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पडता है। उसको प्रक्षिप्त मान कर ही हमने मूल पाठमे स्थान नही दिया है। द्वितीय सस्करणमें भी उसे निकाल दिया गया है।

नटगत रसानुभूति—

इसके बाद वृत्तिग्र थमे यह विषय उठाया गया है कि रसानुभूति नटको होती है या नही। यद्यपि यह विषय यहा प्रासगिक प्रतीत नही होता है। उसकी चर्चा भी ग्र थकार स्वय आगे करग। फिर भी यहा उसका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए उसकी व्याख्या करना आवश्यक है। इस प्रश्नकी विवेचनामे ग्र थकारने यहा दो मतोका उल्लेख किया है। एक 'औद्भट

---

१ 'च शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रय गीतातोद्ये चेति पञ्चङ्ग नाटचम्'। [नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात। दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम] अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्सगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात। निर्देश चतत क्रमव्यत्यासनात। अ तभू तस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देश दशनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

[1]नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम । इत्यौद्भटा । नैतदिति भट्टलोल्लट । रसभावानामपि वासना वशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् । वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम ॥१०॥

मत' का और दूसरा भट्टलोल्लटके मतका । आगे जहां ग्र थकारने रसकी चर्चा की है वहा भटटलोल्लट, भटटनायक, श्री शकुक तथा अपने मतकी चर्चा की है वहा उद्भटके मतकी चर्चा नही की है। काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचायने भी अभिनवभारतीके आधारपर जो रसोकी विवेचना की है उसमें भी उद्भटके मतकी चर्चा नही की है पर तु यहा उद्भटके मतकी चर्चा पाई जाती है। ग्र थकार इस विषयका विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यदि नटमे रस भाव आदिका योग माना जाय [अर्थात् यदि नट को रसकी अनुभूति होती है यह माना जाय] तो [किसी पात्रके] मरण आदिके अवसर पर [नटमें तज्जन्य] उस [शोकादि] का आवेश, और [उसके कारण उसके बोलते समय] लय आदिका भङ्ग हो जाना चाहिए [जो कि होता नही है। इसलिए नट मे रसानुभूति भी वस्तुत नही होती है। परन्तु कभी कभी] नटमे उस [रसप्रतीति] की भ्रान्ति हो जाती है [अर्थात् नटमे रसकी प्रतीति वस्तुत सम्भव नही है यदि कभी उसकी प्रतीति होती है तो उसको भ्रान्तिमात्र समझना चाहिए] यह उद्भटके अनुयायियोका मत है। परन्तु यह [उद्भटका कथन] ठीक नहीं है—यह भट्टलोल्लट का मत है। [लोल्लटके मतानुसार सहृदयोके समान] वासनाके आवेशके कारण नटमे भी रस तथा भावो [की अनुभूति] का सम्भव होनेसे [नटको रसास्वादकर्ता मानना चाहिए।] और [शिक्षा एव अभ्यास आदिके] अनुसन्धानके कारण [रसानुभूति कालमे भी] लयादिका अनुसरण हो जाता है [लयादिका भङ्ग नहीं होता है]। हम इस विषयमे अपना सिद्धान्त आगे विस्तार पूवक दिखलावेंगे। इसलिए यहाँ अधिक नही लिखते है।

पाठसमीक्षा—इस स्थलपर दो विषयोंका विवेचन किया गया है। एक तो कोहल मत से नाटचके एकादश अगोका और दूसरा नटगत रसानुभूतिका। नटगत रसानुभूतिके विषयमे दो मत दिए हैं एक उद्भटका और दूसरा लोल्लटका। परन्तु पाठ दोषके कारण प्रकरणका अथ नही लगता है। पूव-सस्करणोमें इस स्थलका पाठ बडा भ्रष्ट है। उसमें इन दोनो विषयोकी पक्तियोको एक दूसरेमें इस प्रकारसे मिला दिया गया है कि उसके कारण अथकी सगति नही लगती है। पुराने सस्करणोका पाठ निम्न प्रकार था—

---

१ नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्वावेशो लयादिभगश्च स्यात । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम [अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशागत्वमुच्यते न तु भरते तत्सगृहीतस्यापि पुनरन्नोद्दशात्। निर्देशे चलत्कम व्यत्यासात्] इत्यौत्भटा । नैतदिति भट्टलोल्लट । रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वित निष्याम इत्यास्तां तावत् ।१०।

अभिनयत्रय गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्ग नाटचम् । नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभगश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशागत्वमुच्यते । न तु भरते । तत्सगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् । निर्देशे चतत क्रमव्यत्यासना दित्यौद्भटा । नैतदिति लोल्लट । रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भावदनुसधिलाच्च लयाद्यनुसरणाद तभू तस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदशनात । क्रमस्य चाविवक्षितत्वात । वय त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम इत्यास्ता तावत् ।

इस पाठकी कोई सगति नही लगती है। इसको सुसङ्गत और क्रमबद्ध करनेके लिए हम उसे पहिले सात खण्डोमें विभक्त करके नीचे लिखते हैं—

१ अभिनयत्रय गीतातोद्य चेति पञ्चाङ्ग नाटचम् ।

२ नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभगश्च स्यात । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम ।

३ अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशागत्वमुच्यते । न तु भरते । तत्सगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात । निर्देशे चैवत्क्रमव्यत्यासनात ।

४ इत्यौद्भटा । नतदिति भटटलोल्लट ।

५ रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसधिबलाच्च लयाद्यनुसरणात ।

६ अ तभू तस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदशनात् । क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति ।

७ वय त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम ।

पाठसमीक्षा—इन सात खण्डोंमेसे द्वितीय तथा पञ्चम खण्ड स्पष्ट रूपसे शेष सब खण्डो से अलग हो रहे हैं। उनमें नटगत रसानुभूतिकी चर्चा की गई है। १, ३ ६ खण्डोमें नाटचके एकादशाङ्गोकी चर्चा की गई है। इस प्रकार ये दोनो भाग बिल्कुल अलग है। ४ और ७ दो खण्ड ऐसे हैं जो इन दोनो विषयोके साथ जुड सकते हैं। उनमें भटट उद्भट तथा भटटलोल्लटके मतभेद का प्रदशन किया गया है। वैसे यह मतभेद एकादश अङ्गोंके विषयमे भी लागू हो सकता है और नटगत रसानुभूतिके विषय में भी लागू हो सकता है। इसलिए इसकी सङ्गति दोनोके साथ जोडी जा सकती है पर उनकी विशेष सगति नटगत रसानुभूतिकी चर्चा करने वाले २+५ खण्डो के साथ ठीक बठती है। इसलिए हमने १, ३ और ६ इन तीन खण्डो को मिलाकर एकादश अगोकी चर्चा करने वाला एक अनुच्छेद और २+४+५+७ चार खण्डो को मिलाकर नटगत रसानुभूतिकी चर्चा करने वाले द्वितीय अनुच्छेदका पाठ निर्धारित किया है। जो निम्न प्रकार बनता है—

अभिनयत्रय गीतातोद्य चेति पञ्चाङ्ग नाटचम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एका दशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्सगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनात्। अतभू तस्यापि प्रयोजन वशेन पुनरुद्देशदशनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादि भङ्गश्च स्यात्। दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रम। इत्यौद्भटा। नैतदिति भट्टलोल्लट। वम त्वत्र तत्वमग्रे वितनिष्याम।

हमने इस स्थलके पाठका सशोधन करके इसी क्रमसे उसे ऊपर छापा है। तभी इस पाठकी सगति लगती है ॥१०॥

अथ कारिका लक्षयत्यल्पाभिधानेनेति—

भरत०—अल्पाभिधानेनार्थो य समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रत [1]सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी [2] ॥ ११ ॥

अननार्थस्य [3]लक्षणरूपस्य, तद्वाचकस्य सूत्रस्य, तत्सक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य कारिकात्व दर्शयति । अनेन लक्षणवाक्य द्विधेति तात्पर्यम् । योऽर्थोऽल्पै शब्दै समासेन बहुतरलक्ष्यसग्रहेण सूत्र वाचकमाश्रित्योच्यते सोऽथ कारिका, ज्ञप्तिसाधकत्वात् तदर्थिनी [4]कारिका । सूत्रत सूत्रणेन । एतेन सूत्रमपि कारिका । तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका ।

कारिका या लक्षण का स्वरूप—

इस प्रकार 'सग्रह' अथवा 'उद्देश' का स्वरूप प्रतिपादन करने और नाट्यविद्याके प्रतिपाद्य अगोका नाममात्रेण कथन करनेके बाद अगली कारिकामे ग्रथकार लक्षण का स्वरूप प्रदर्शित करेंगे । 'लक्षण के लिए ग्रथकारने 'सूत्र', 'कारिका' और लक्षण तीन शब्दोका प्रयोग यहा किया हे । इसके कारण इन शब्दोका अर्थ परस्पर सङ्कीर्ण और दुर्बोध सा हो गया हे । फिर भी इन सब शब्दोको पर्यायवाचक माना जा सकता है । इसी दृष्टिसे सूत्र तथा कारिका' के स्वरूपका परिचय अगले ११वे श्लोकमें निम्न प्रकार देत हैं—

अभिनव०-इसके बाद 'अल्पाभिधानेन' इत्यादि [११वें श्लोकके द्वारा] कारिका [अर्थात् लक्षण] का प्रतिपादन [लक्षण] करते है ।

भरत०—सक्षेप रूपसे परिमित शब्दो वाले सूत्रके द्वारा जिस अर्थका कथन विद्वानो द्वारा किया जाता है उस अर्थको प्रदर्शन कराने वाली उस [उक्ति] को कारिका कहते हे ।११।

अभिनव०—इस [श्लोक] के द्वारा (१) 'लक्षण' रूप अर्थ [के, कारिकात्व को प्रदर्शित करते है] । (२) उस [लक्षण] के वाचक सूत्र और (३) उसके सक्षिप्त अर्थके विवरण स्वरूप श्लोकका [भी] कारिकात्व प्रतिपादन किया गया हे । [अर्थात सूत्र, उसके अर्थको प्रतिपादन करने वाले श्लोक, तथा उसके प्रतिपाद्य विषय या लक्षण इन तीनोको 'कारिका' नामसे कहा जा सकता हे] । इससे लक्षण वाक्य [सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक] दो प्रकार का होता है, यह तात्पर्य निकलता हे । जो अर्थ अधिक विषयको सग्रह कराने वाले थोडेसे शब्दोके द्वारा सक्षेप रूपसे वाचक सूत्रके द्वारा कहा जाता हे (१) वह अर्थ, (२) ज्ञानका साधक होनेके कारण उस अर्थका प्रतिपादन करने वाली [उक्ति भी] 'कारिका' कहलाती है । सूत्रसे अर्थात् सूत्रके द्वारा । इससे (३) सूत्र भी कारिका [कहलाता] है । उसकी अपेक्षासे जो बादको श्लोक रूपमे पढी जाय वह [श्लोक रूप] भी कारिका होती है ।

इस श्लोकमे ग्रन्थकारने 'योऽर्थ अल्पाभिधानेन समासेन उच्यते' जो अर्थ परिमित शब्दो वाले सूत्रसे कहा जाता है उस लक्षण रूप अर्थको भी 'कारिका' कहा है । उस अर्थ के

---

१ सानुमन्तव्या । सा तु मन्तव्या । २ प्रयोगिनी । ३ अनेनार्थस्य कारिकात्व लक्षणरूपस्य दर्शयति । ४ प्रयोगिनी ।

तथाहि—सूचनात्मकत्वात् सूत्राल्लब्धो योऽर्थो लक्षणात्मक स एव 'वृत्तबन्धे नोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेद दर्शयन् धर्म कारिका। क्रियतेऽनेन ज्ञप्तिरिति कारिका लक्षणमिति यावत। तदर्थ-प्रकाशकत्वाच्छ्लोकोऽप्युपचारात कारिका।

एतदुक्त भवति—उद्दिष्टस्य धर्म्यन्तरव्यवच्छेदक लक्षण वक्तव्यम्। तच्च पूर्व सूत्रेण ततोऽप्यकृताक्षेपोत्तरप्रपञ्चेन तद्विवरणमात्ररूपेण सुखग्राह्येण श्लोकेन। उभयोरपि हि लक्षणमेव प्रतिपाद्यम्। तदेव कारिकोच्यते। सूत्रश्लोकावुपचारादिति।११।

बोधक 'सूत्र' को भी कारिका माना है। और उस सूत्र के अर्थ या लक्षणको कुछ अधिक विस्तार से कहने वाले श्लोकको भी कारिका' माना है।

अभिनव०—इसलिए-[बहुतर अर्थके द्योतक] सूचनात्मक सूत्रसे प्राप्त जो लक्षण रूप अर्थ वह ही पद्यात्मक रूपमे कहा जाने, तथा स्वल्प शब्दोके द्वारा निरूपित होनेपर लक्षणीय अर्थका [समान जातीय तथा असमान-जातीय] अन्य धर्मियोसे भेद कराने वाले [लक्षण रूप] प्रकषको प्रकाशित करने वाला धम 'कारिका' कहलाता है। जिसके द्वारा [पदार्थके स्वरूपका] बोध कराया जाय वह 'कारिका' होती है। अर्थात लक्षण [को ही कारिका कहते है]। उस [लक्षण रूप] अर्थके प्रकाशक होने से [वृत्तबन्ध अर्थात् पद्यात्मक रचना रूप] श्लोक भी उपचारसे 'कारिका' [कहलाता] है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद का पाठ भी पूव सस्करणो मे अत्य त अशुद्ध रूप मे निम्न प्रकार छपा है—

सूचनात्मकत्वात् सूत्राल्ल धोऽर्थो लक्षणात्मक स एव सम्यगिति श्रव्य [सम्यगति श्रव्य] तया पर्णाण्यने नेति [वर्णनात्मनेति] वृत्तव धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकष धम्य तराद् व्यवच्छेद दशयन् धम कारिका।

इसमें 'सम्यगिति' से लेकर 'वर्णनात्म' आदि पाठ असङ्गत है। द्वितीय सस्करणमें इसका सशोधन कोष्ठोके भीतर दिखलाते हुए सम्यगतिश्रव्यतया वर्णनात्मनेति इस प्रकार का सुझाव दिया गया है। पर वह भी ठीक नही है। वस्तुत यह पाठ यहा अधिक है।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—उद्दिष्ट [नाममात्रसे कथित] अर्थके [सजातीय तथा विजातीय] अन्य धर्मियोसे भेदक धर्मको 'लक्षण' कहना चाहिए। [सजातीय-विजातीय व्यवच्छेदो हि लक्षणार्थं]। वह पहिले सूत्रके द्वारा [किया जाना चाहिए] फिर शङ्का समाधान या खण्डन मण्डन आदिके बिना उस [सूत्र] के व्याख्या-त्मक और सरलतासे समझमे आ सकने वाले श्लोक [रूप कारिका] के द्वारा [प्रतिपादन किया जाना चाहिए]। इन [सूत्र तथा उसके श्लोकात्मक व्याख्या अथवा कारिका] दोनोका प्रतिपाद्य [विषय] लक्षण ही होता है। वह [श्लोक द्वारा प्रति-पादित अर्थ लक्षण] ही 'कारिका' कहलाता है। सूत्र तथा श्लोक [दोनो भी] उपचार से [कारिका कहे जाते है] ॥११॥

---

१ सम्यगिति श्रव्य [सम्यगति श्रव्य तया वर्णाभ्येनेति वर्णात्मनेति। इत्यधिकोऽसङ्गतश्च पाठ।

अथ परीक्षात्मक निरुक्त लक्षयति श्लोकद्वयेन नानेत्यादिना—

भरत०—नानानामाश्रयोत्पन्न निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसयुक्त नानासिद्धान्तसाधितम् ॥१२॥

निरुक्तका लक्षण—

इस प्रकार 'उद्देश' तथा 'लक्षण' का विवेचन करनेके बाद अब परीक्षा या 'निरुक्त' की विवेचना अगले दो श्लोकोमें करते हैं। इनमेसे प्रथम श्लोकमें चार विशेषणो द्वारा उसकी विशेषताका या स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'स्वरूप लक्षण' किया गया है। और वृत्तिकारने अथ करते समय द्वितीय श्लोकमे निरुक्त अथवा परीक्षाका 'तटस्थ लक्षण' किया गया है। पहिले द्वितीय श्लोक का भावाथ देकर उसके बाद प्रथम श्लोकको प्रतिपन्न व्याख्या की है। द्वितीय श्लोकमें दो जगह 'अथ' पदका प्रयोग हुआ है उससे कुछ कठिनता-सी उपस्थित हो जाती है। इसलिए उसकी व्याख्या विशेष रूपसे करनी होगी। वृत्तिकारने अथसूचक' में आए हुए अथ' शब्दको लक्षणीय अथका और 'स्थापितोऽथ' में आए हुए 'अथ' शब्दको लक्षणका वाचक माना है। लक्षणका सम वय अनेक व्यक्तियोमें होता है इसलिए व्यक्तिभेदसे भिन्न लक्षणीय अथका सूचक यह 'अथसूचक' में आए हुए द्वितीय 'अथ' शब्दका वाच्य है। जो लक्षणात्मक अथ अर्थात लक्षण स्थापित होता है यह प्रथम स्थान पर 'स्थापितोऽथ' प्रयुक्त 'अथ' पदका वाच्य होता है। यह लक्षण रूप अथ जहाँ स्थापित किया जाय इसका अभिप्राय यह है पूर्वोत्तर पक्ष रूप जिस कथामें खण्डन मण्डन या आक्षेप प्रतिसमाधानके बाद सिद्धा त रूपसे लक्षणकी स्थापना की जाती है वह कथा या विचार 'परीक्षा या 'निरुक्त' कहलाता है। यह निरुक्त' का लक्षण हुआ। वह आक्षेप प्रतिसमाधान आदि कैसे होते हैं इस बातका प्रतिपादन प्रथम श्लोकके विशेषणो द्वारा किया गया है।

अभिनव०—[सग्रह तथा कारिका अर्थात् उद्देश एव लक्षणके बाद] 'नाना-नामाश्रयोत्पन्न' इत्यादि दो श्लोकोके द्वारा परीक्षात्मक निरुक्तका लक्षण करते हैं—

भरत०—[यह निरुक्त या परीक्षा कसे प्रवृत्त होती है यह कहते हैं] १ अनेक प्रकारके जो नाम [अर्थात् प्रातिपदिक अथवा सुब त पद] उनके आश्रयसे उत्पन्न [अर्थात् इस लक्षणमे अमुक पदका प्रयोग क्यो किया गया है इस प्रकार पदकृत्य की विवेचना पूवक परीक्षाकी प्रवृत्ति होती यह है बात प्रथम विशेषण द्वारा सूचित की]। २ [इन नाम पदोमे भी कोई रूढि पद तथा कोई यौगिक पद होते हैं। परीक्षा मे उनके इन रूढ तथा यौगिक अर्थोका विवेचन किया जाता हैं इस बातको दूसरे विशेषण द्वारा बतलाते हैं] रूढि [निघण्टु] तथा यौगिक [निगम अर्थोकी विवेचना] से युक्त [इस प्रकार पहिले विशेषण द्वारा लक्षणमें आए हुए पदोंके पदकृत्यकी आवश्यकताका तथा द्वितीय विशेषण द्वारा उसमे आए हुए पदोंके रूढ तथा यौगिक अर्थोंकी विवेचनाको सूचित किया गया है।] ३ [लक्षणमें कहीं-कहीं क्रिया तथा कारक आदिके विवेचनकी भी आवश्यकता होती है। इसका प्रतिपादन अगले विशेषण द्वारा करते हैं] क्रिया [धात्वथ तथा उस क्रियाके हेतु रूप] कारक [की विवेचना] से युक्त। [इस प्रकार इन तीन विशेषणों द्वारा लक्षणकी शब्द परीक्षाका प्रदर्शन कराया गया। अगले चौथे विशेषण द्वारा उसकी अथ परीक्षाकी ओर संकेत करते हैं]। नाना प्रकार के [पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्षके वादियों द्वारा स्वीकृत सवत त्र या प्रतितन्त्र आदि रूप] सिद्धान्तोंसे साधित [लक्षणकी आक्षेप प्रतिसमाधान पूर्वक परीक्षाको निरुक्त कहते हैं]।१२।

---

१ अ नाटयम्तु।

भरत०—'स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचक[1] ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्त तत्प्रचक्षते ॥१३॥

समासेन सक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्याथस्य लक्षणीयस्य य सूचकोऽर्थो लक्षणात्मक स यत्राक्षेपप्रतिसमाधानलक्षणे वस्तुनि सति स्थापितो भवति तत्परीक्षारूप निरुक्तम् । न चैव परिभाषा, किन्त्वथमात्रम । एतन्निभज्याक्षेपप्रतिसमाधानाभ्या लक्षणस्य वचनमिति । एतदाह धात्वथवचनेनेति ।

कथ तल्लक्षण स्थाप्यते, इत्याशक्य क्रियाविशेषणाभिधानद्वारेणाक्षेपप्रतिसमाधानप्रकार दशयति 'नानेत्यादिना' । नानाप्रकाराणि यानि 'नामानि' लक्षणवाक्येऽथप्रतिपादका सुबन्ता शब्दास्तानाश्रित्य 'उत्पन्न' उत्पाद आक्षेपप्रतिसमाधानयोयत्र । ननु नामपदेषु कथमाक्षपप्रतिसमाधाने ? आह, निघण्टनाभिधानकोशेन रूढिषु, अन्येषु प्रकृतिप्रत्ययविभागनिगमनया 'अन्वित' अन्वयो यत्रोत्पादे ।

भरत०—सक्षेप रूपसे अथका सूचक [लक्षण रूप] अथ जित [आक्षेप प्रतिसमाधानात्मक कथा] मे धात्वथके निवचन द्वारा स्थापित किया जाता है उसको 'निरुक्त' कहते हैं ।१३।

अभिनव०—समास अर्थात् सक्षेपसे अनेक व्यक्तियो [लक्ष्यार्थों] के भेदसे भिन्न लक्षणीय अथका सूचक जो लक्षण रूप अथ, वह आक्षेप प्रतिसमाधान [खण्डन-मण्डन] रूप जिस वस्तुके होनेपर स्थापित किया जाता है वह परीक्षा रूप 'निरुक्त' [कहलाता] है । इस प्रकार यह [व्याकरण शास्त्रमे गुण वृद्धि आदिके समान निरुक्त की] परिभाषा नही है अपितु [आक्षेप प्रतिसमाधानाभ्या लक्षणस्य निभज्य लक्षणस्य वचन निरुक्त इस निवचन के अनुसार निरुक्त पदका] अथमात्र है । पूर्वोत्तर पक्ष [आक्षेप प्रतिसमाधानादि] के द्वारा अलग करके लक्षणका कथन करना ही निरुक्त है । यह बात [श्लोकके तृतीय चरण] 'धात्वर्थवचनेन' इत्यादिसे [निवचन द्वारा] कहते है । [यह १३वी कारिकाकी व्याख्या हुई] ।

अभिनव०—[निरुक्त अथवा परीक्षा द्वारा] उस लक्षणकी स्थापना कैसे की जाती है ऐसी शङ्का करके [कारिकाकार] 'नाना' इत्यादि [१२वें श्लोकमे दिए हुए] क्रिया विशेषणोके कथन द्वारा आक्षेप प्रतिसमाधानके प्रकारको दिखलाते है । नाना प्रकारके जो नाम अर्थात् लक्षणवाक्यमे [आए हुए] अथके प्रतिपादक सुबन्त शब्द, उनके आश्रयसे 'उत्पन्न' अर्थात् आक्षेप प्रतिसमाधानकी 'उत्पत्ति' जिसमे होती है वह [निरुक्त है] । [प्रश्न] अच्छा तो नाम पदोमें आक्षेप—प्रति समाधान आदि कैसे होता है [यह प्रश्न है इसका उत्तर] कहते हैं—निघण्टु अर्थात् शब्दकोशकेद्वारा रूढि [शब्दों] मे, और अन्य [यौगिक अथवा योगरूढ] शब्दोमे प्रकृति-प्रत्ययके विभाग रूप निगमनसे युक्त 'अन्वित' अर्थात् अन्वय जिस उत्पादमे होता है [वह निरुक्त है]

---

१ किन्त्वथ मेत । न० त० साधितो । २ अ० सूत्रयो ।

यानि च लक्षणवाक्ये तिङन्तानि पदानि तेषु प्रकारमाह—'धात्वथस्य' क्रियाया 'हेतूना' च क्रिया-निमित्ताना कारकाणा 'सयोजन' विचारो यत्र स्थापने। इयता लक्षण-वाक्ये[1] पूव शब्दपरोक्षा दर्शिता। अय शब्द कथमत्रार्थे वतते इत्याक्षेप, इत्थमिति च प्रतिसमाधानम। एतत् प्रदर्शितवस्तुप्राणितमेव[2]।

अथपरीक्षामपि दर्शयति—नानाप्रकारै सवतन्त्र प्रतितन्त्रादिभि सिद्धान्तै प्रमाण-मूलैरथ 'साधित' आक्षेपोत्तरयो साधना यत्र स्थापने। एव परीक्षाऽनेन दर्शिता। तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्।

अभिनव०—और लक्षण वाक्यमे जो तिङन्त पद होते है उनमे [आक्षेप-प्रतिसमाधानके] प्रकारको कहते है—धात्वथ अर्थात् क्रिया और क्रियाके निमित्तभूत कारकोका सयोग या विचार जिस स्थापनामे किया जाय [वह निरुक्त अथवा परीक्षा कहलाती है]। यहा तक [दो क्रिया विशेषणोके द्वारा] लक्षण वाक्यमे पहिले शब्दपरीक्षा [की जाती है यह बात] दिखलाई। [उस शब्द-परीक्षामे इस बातकी विवेचना की जाती है कि] यह शब्द इस [विशेष] अथमे कसे आया है यह आक्षेप [का स्वरूप] हुआ। इस प्रकार [यह शब्द इस अथमे प्रयुक्त किया गया है] यह प्रतिसमाधान हुआ। यह [आक्षेप और समाधान] प्रदर्शित वस्तु [अर्थात लक्षण] का प्राण [स्वरूप] ही है।

इस प्रकार लक्षण वाक्योमें आए हुए पदोकी शब्द परीक्षाका निरूपण कर चुकनेके बाद लक्षण वाक्यकी अथविषयक परीक्षाका वणन अतिम विशेषण द्वारा करते हैं—

अभिनव—[अन्तिम क्रियाविशेषण द्वारा लक्षण वाक्यकी] अथ परीक्षाको भी दिखलाते है। नाना प्रकारके 'सवतन्त्र' 'प्रतितन्त्र' आदि सिद्धान्तो अर्थात प्रमाणमूलक अर्थोकेद्वारा 'साधित' अर्थात् [सिद्धान्तकी] स्थापनामे आक्षेप-प्रतिसमाधानकी साधना जिसमे की जाय [वह परीक्षा कहलाती है। उसीको यहा 'निरुक्त' पदसे कहा गया गया है]। इस प्रकार इस [श्लोक] के द्वारा परीक्षाका प्रतिपादन किया गया। तन्त्रादि न्याय उस [परीक्षा] के अङ्ग हैं।

'नानासिद्धान्तसाधितम्' इस क्रिया विशेषणमें आए हुए सिद्धान्त पदकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकारने सवतन्त्रादि सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है। और अन्तमें 'तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्' कह कर फिर उन तन्त्रादि सिद्धान्तोकी ओर सकेत किया है। इसलिए इनको समझ लेना आवश्यक है। 'इद इत्थभूत च इत्यभ्यनुज्ञायमानोऽथ सिद्धान्त'। यह बात ऐसी है इस रूपमें स्वीकार किए जाने वाला अथ 'सिद्धान्त' कहलाता है। उस 'सिद्धान्त' के न्यायदशनमें चार भेद किए गए हैं। १ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २ प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३ अधिकरण सिद्धान्त, ४ अभ्युपगम सिद्धान्त। 'तन्त्र' शब्दका अथ 'शास्त्र' है। जो सिद्धान्त सब शास्त्रोमें सामान्य रूपसे माना जाय उसको 'सवतन्त्र-सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिया हैं। वे रूपादि विषयोको ग्रहण करती हैं इत्यादि बातें सब ही शास्त्रोमें समान रूपसे मानी जाती हैं इसलिए उनको 'सवतन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं।

---

१ भ वाक्येन। २ प्रणीतमेव।

निरुक्तमपि¹ चतुर्धा नाम्ना वा ऊर्ध्व खमस्योलूखल । धातुना वा रस्यत इति रस द्वाभ्या वा पिशितमश्नातीति पिशाच । समयेन च ।

'प्रतित त्र सिद्धा त का अर्थ है अलग अलग शास्त्रोके सिद्धा त । जो सिद्धा त भिन्न भिन्न शास्त्रोमे विशेष रूपसे माने जाते हैं सब शास्त्रोमें नही, वे प्रतित त्र सिद्धा त कहलाते हैं । जैसे सांख्यदर्शनमें 'सत्कायवाद' सिद्धा तका वर्णन आता है । उसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु है उसका कभी नाश नही होता और जो वस्तु नही है उसकी कभी उत्पत्ति नही हो सकती है । नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ' यही 'सत्कायवाद' का सिद्धा त है । यायादि दर्शन इसको नही मानते हैं । उनके मतमे उ पन्न होने वाले पदार्थका नाश अवश्य होता है । और उत्पत्तिके पूर्व घटादि अर्थ विद्यमान नही होते हैं । इसलिए असत घटादिकी उत्पत्ति भी होती है । अत एव सत्कायवाद सिद्धा त सवमा य न होनेसे 'प्रतित त्र सिद्धा त' कहा जाता है । तीसरा 'अधिकरण सिद्धा त' है । 'अधिकरण' का अर्थ आधार है । जो सिद्धा त अ य अनेक सिद्धा तोका आधारभूत सिद्धा त हो, अर्थात जिस एक सिद्धा तके मान लेनेपर अ य अनेक बाते स्वय सिद्ध हो जावे उसको 'अधिकरण सिद्धा त' कहते हं । जैसे यदि यह मान लिया जाय कि इस ससारका बनाने वाला कोई है तो उसके सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता नित्यता विभुत्व आदि गुण स्वय सिद्ध हो जाते हं । इसलिए यह 'अधिकरण-सिद्धा त' कहलाता है । चौथा अभ्युपगम सिद्धा त है । अभ्युपगम' का अर्थ स्वीकार करना' है । जो सिद्धा त वस्तुत अभिमत न होने पर भी किसी कारणवश थोडे समयके लिए स्वीकार कर लिया जाय उसको 'अभ्युपगम सिद्धा त' कहते हैं । अभिमत न होनेपर भी कभी कभी १ उस सिद्धान्तकी विशेष परीक्षाकेलिए अथवा २ अपने पाण्डित्यके प्रकाशनकेलिए कुछ समयके लिए उसे स्वीकार कर लिया जाता है । उस अवस्थामे उसको अभ्युपगम सिद्धा त' कहते हैं।

कारिकामे उत्प न, अ वित, सयुक्त तथा साधित ये चार क्त प्रत्यया त पद आए हैं । इन चारोमे वृत्तिकारने भूतार्थमें क्त प्रत्यय न मान कर भावमें क्त प्रत्यय माना है । इसीलिए 'उत्पन्न ' की याख्या 'उत्पाद ' 'अ वित' की व्याख्या 'अ वय ' सयुक्त' की व्याख्या सयोजन' तथा साधितम की व्याख्या साधन' की है ।

अभिनव०—निरुक्त भी चार प्रकारका होता है । [यहा निरुक्त पद परीक्षा का वाचक नही अपित निर्वचनका बोधक है । शब्दोका निर्वचन चार प्रकारका होता है यह दिखलानेमे यहा ग्रन्थकारका तात्पर्य है] । १ प्रातिपादिक [नाम] के द्वारा [निर्वचन जसे ओखलीके वाचक 'उलूखल' पदका निर्वचन] 'ऊर्ध्व ख अस्य इति उलखलम्' जिसके ऊपर आकाश है यह [उलूखल शब्दका निर्वचन 'ऊर्ध्व' तथा 'ख' इन नाम पदोके आधार पर किया गया है] । अथवा २ धातु द्वारा [भी निर्वचन किया जाता है । जसे] 'रस्यते इति रस ' जिसका आस्वाद किया जाय वह 'रस' है [यह निर्वचन 'रस्यते' इस क्रिया या 'रस धातुके द्वारा किया जाता है] । ३ अथवा [नाम तथा धातु] दोनोके द्वारा [भी कही निर्वचन किया जाता है । जैसे] पिशित अश्नातीति पिशाच ' पिशित अर्थात् कच्चे मासको जो खाता है वह 'पिशाच' हे [यह निर्वचन 'पिशित' इस नाम तथा 'अश्नाति' इस क्रिया दोनोके द्वारा किया जाता हे] । अथवा ४ सकेत [समय] के द्वारा [भी चौथे प्रकारका निर्वचन होता हे] ।

१ तच्चतुर्धा ।

सोऽपि त्रिधा। लौकिको यथा भू सत्तायाम्। वैदिको यथा दीधीङ् दीप्तिदेवनयो, वेवीङ् वेतिना तुल्ये। प्रतिशास्त्र पाषद, यथा गान्धववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्द। तदेतदुक्त नानेत्यादिना। निरुक्तस्य तु प्रयोजन सक्षपेणार्थावधारणम्। तदुक्त स्थापित इति ॥१२-१३॥

अथोद्दिष्टाना विभाग सूचयति सग्रहो यो मयेति—

भरत०—सग्रहो यो मया प्रोक्त समासेन द्विजोत्तमा।
विस्तर तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्त सकारिकम् ॥१४॥

तस्येति सग्रहस्य। सग्रह एव विस्तारितो विभाग इत्यथ। कि तदुक्तावेव सर्वं सम्पन्नम्? नेत्याह 'सनिरुक्त' परीक्षापयन्तमित्यथ। अन्तवचनेऽव्ययीभाव। न चालक्षितस्य परीक्षेत्याह 'सकारिकम्'। कारिकासम्पदोपेत, सम्पत्तौ समास ॥१४॥

अभिनव०—और वह [सकेत] भी तीन प्रकारका होता है। १ लौकिक [सकेत] जसे 'भू सत्तायाम्' [यह लौकिक सकेत का उदाहरण है]। २ वैदिक [सकेत] जैसे 'दीधीङ' धातु दीप्ति तथा [देवन] पासोसे खेलनेके अथमे प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार वेवीङ धातु वीगतौ धातुके समान [गत्यथमें] है। दीधीङ् आदि पाच धातु वेदमे ही प्रयुक्त होते हैं इसलिए यह वैदिक सकेतका उदाहरण है। ३ प्रत्येक शास्त्रके [पार्षद अर्थात् शाखा या] अङ्ग रूपमे परिभाषित सकेत जैसे गान्धर्व वेदमे गीतविशेषके अथमे 'ओवेणक' आदि शब्द। यही बात 'नानानामाश्रयोत्पन्न' इत्यादि [श्लोक] से कही है। निरुक्त का प्रयोजन साररूप सक्षेपसे अथका निणय करना है। इसीलिए निरुक्त लक्षणमे 'स्थापित' यह कहा है ॥१३-१४॥

अभिनव०—अब सग्रहो यो इत्यादि से उद्दिष्टोके विभागको कहते है—

भरत०—हे द्विजवरो मैने सक्षेपसे [कथन रूप] जो सग्रह' [उद्देश] कहा है उसीके विस्तार [विभाग] को लक्षण [कारिका] तथा परीक्षा [निरुक्त] सहित करूगा। १४।

अभिनव०—उसका अर्थात् उद्देश [सग्रह] का। अर्थात उद्देशका ही विस्तार कर देना विभाग कहलाता है। [प्रश्न—] क्या उस विस्तार या विभागके कथनसेही सब कुछ कार्य होजायगा। [उत्तर—] नहीं। [केवल विभागके कथन कर देनेसे कार्य पूरा नही हो सकता है] इसीलिए [कारिकाकार] कहते हैं—'सनिरुक्त' अर्थात् परीक्षा सहित [कथन करेंगे। अर्थात्] परीक्षा पर्यन्त [उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा तीनोका कथन करेंगे] यह अभिप्राय है। 'सनिरुक्त' पदमे 'अव्यय विभक्ति समीपसमृद्धि' इत्यादि सूत्रसे 'अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते इति साग्नि अधीते' इत्यादिके समान 'निरुक्तपयन्त इति सनिरुक्तम्' इस प्रकार] अन्त [अर्थके] वचनमे 'अव्ययीभावसमास' है। और बिना लक्षणके परीक्षा नहीं हो सकती है इसलिए 'सकारिकम्' कहा है। कारिका अर्थात् लक्षण की सम्पत्तिसे युक्त [विस्तारको कहूगा]। यह समास 'सम्पत्ति' अर्थमे है। [अत 'सकारिक' का अर्थ 'कारिकासम्पदोपेतम्' होता है] ॥ १४ ॥

तत्र विभाग तावदाह 'शृङ्गार-हास्य' इत्यादिना 'नाट्यसग्रह' [६-३१] इत्यन्तेन—

भरत०—शृङ्गार-हास्य-करुण-[1]रौद्र-वीर-भयानका ।
वीभत्साद्भुतसञ्ज्ञौ[2] चेत्यष्टौ [3]नाट्ये रसा स्मृता ॥१५॥

तत्र नाट्य नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेय समस्तनाटकान्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थ । स च यद्याप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषा जडाना सविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानात्, नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभाव ।

ऊपर उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा या सग्रह कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्र प्रवृत्तिका प्रणन किया गया था । इनके अतिरिक्त इस शास्त्र प्रवृत्तिका एक अङ्ग विभाग और होता है । ग्रन्थकारने उसको अलग न मानकर उद्देशके भीतर ही उसका अन्तर्भाव कर लिया है । सग्रह एव विस्तारितो विभाग ' सग्रह या उद्देशका ही विस्तार कर देनेसे विभाग बन जाता है । यह भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोका मत है । न्याय शास्त्रके वार्तिककार उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरी' के निर्माता जयन्त भट्टने भी इसी प्रकार विभागका अन्तर्भाव 'उद्देश' के भीतर ही किया है । उन्होने लिखा है—

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । उद्दिष्टविभागस्च न त्रिविधाया शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवति । तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्त । न उद्दिष्टविभागस्य उद्देश एवान्तर्भावात । कस्मात् ? लक्षणसामान्यात । [न्यायवार्तिक १ १ ३ । तथा न्यायमञ्जरी पृ० १२ ।]

अभिनव०—उसमे सबसे पहिले 'शृङ्गार हास्य' इत्यादि [१५वें श्लोक] से लेकर 'नाट्यसग्रह ' [६ ३१] यहा तक विभागका कथन करते है—

भरत०—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक आठ रस नाट्यमे माने जाते हैं । १५ ।

अभिनव०—नटके द्वारा किए जाने वाले [नटगत] अभिनयके प्रभावसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई देने वाला [साक्षात्कारायमाण], एकाग्र मनकी निश्चलताके कारण अनुभव होने वाला, समस्त नाटको और किसी किसी काव्य विशेषसे [भी] प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य [कहलाता] है । वह यद्यपि [भिन्न भिन्न प्रकारके नायक-नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंके अपरिसङ्ख्येय होनेके कारण] अनन्त विभावादि रूप है तथापि समस्त अचेतन विभावोके ज्ञानमे [पर्यवसित होनेसे] और उस [ज्ञान] का भोक्ता [आलम्बन विभाव रूप किसी पात्र विशेष] मे [पर्यवसान होने से] और [इस प्रकारके अनेक] भोक्ताओका प्रधान भोक्ता [अर्थात् नायक] में पर्यवसान होनेके कारण नायक (कहलाने वाले भोक्ता विशेषके [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप [अर्थ नाट्य] होता है ।

१ ज अ म बीर रौद्र । २ द व त सञ्ज्ञावचेत्यष्टौ । ज वीभत्सावभुत शान्ताश्च नव नाट्यरसा स्मृता । ३ म त नाट्यरसा ।

सा चैकचितवत्ति स्वकीय परकीयमिति[1] प्रतीयमानानन्तचित्तवृत्त्यन्तरशतविशेषितालौकिकगीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणालकारगीतातोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूत काव्यमहिमप्रयोगमालाभ्यासविशेषाश्रयत्वात **स्वपरभावात्** प्रच्याविता, अनएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकारणकतटस्थप्रमातप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, परिमितस्वात्माश्रयतानिर्भासनाविरहाच्च[2] लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत्[3] चित्तवृत्यन्तरजननाक्षमा अत एव निर्विघ्नस्वसवेदनात्मकविश्रान्तिलक्षणेन[4] रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गह्यमाणत्वाद् रसशब्देनाभिधीयते ।

तेन रस एव नाट्यम् । यस्य व्युत्पत्ति फलमित्युच्यते । तथा च 'रसाद् ऋते' [६ ३१ वृत्तिभागे] इत्यत्रैकवचनोपपत्ति ।

अभिनव०—और वह [प्रधान चित्त वृत्तिरूप नायककी] एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतोके [नाटक या काव्यमे आए हुए] गेय पदादि, लास्य [नृत्य विशेष] आदिके दश अगो से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण, अलकार गीत वाद्य आदिके सयोग द्वारा [अत्यन्त] सौन्दयको प्राप्त, काव्यके महिमा तथा नटके द्वाराकी जाने वाली प्रयोग परम्परा एव अभ्यास विशेषके प्रभावसे, [ये विभाव आदि मेरे है या दूसरेके है इस प्रकारके] स्वकीय परकीय भावसे रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जानेसे [नायक की अपनी चित्तवृत्ति] सामाजिकोको भी अपनी सत्ताके भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामाजिककी चित्तवृत्तिके तादात्म्य [अभेद साधारणीकरण] होनेके कारण ही अनुमान तथा आगम [रूप परोक्षात्मक] एव [इन्द्रियसयोगादि रूप साधनोकी अपेक्षा न रखने वाले अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले] योगि-प्रत्यक्षसे उत्पन्न [करणक] तटस्थ [उदासीन, रसादि का अनुभव न करने वाले] प्रमाता एव प्रमेयसे विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्तिसे भिन्न रूपसे प्रतीत होने वाली, [नायक-विशेषके] अपने परिमित स्वरूपके आश्रयसे प्रतीत न होनेके कारण, लौकिक प्रमादादिसे उत्पन्न अपनी रति और शोकके [वर्णनके] समान [लज्जा नाशादिरूप रसविरोधिनी] अन्य चित्तवृत्तिके उत्पादनमे अक्षम होनेसेही निर्विघ्न अनुभूतिकी विश्रान्ति रूप आस्वादन नामसे कहे जाने वाले व्यापारके द्वारा गृहीत होनेके कारण [रस्यते इति रस इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'रस' शब्दसे कही जाती है ।

अभिनव०—इसलिए रसका ही नाम नाट्य है । जिस [रस] की अनुभूति ही [नाट्यका] फल कहलाती है । अत एव 'रसादृते' रससे भिन्न [६-३३ की मूल गद्यात्मक व्याख्यामे दिए हुए] इस 'रसात्' [पद] मे एकवचनकी सगति लगती है ।

---

१ परमिति । २ स्वात्मान्याश्रयता । ३ यद्ज (तज्ज) हानादि । ४ हर्ष ।

ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटसदृशीव [1]असत्यानि वा, अन्विताभिधान-[2]सदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयसदृशीव[3] तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते । [4]तद्वक्ष्यते 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति । तेन प्रथम रसा । ते च नव । शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति ।

अभिनवभारतीका यह अनुच्छेद कठिन एव ध्यान देने योग्य है। इसमे ग्रन्थकारने नाट्यको रसस्वरूप ही कहा है। और रसानुभूतिका स्वरूप प्रदर्शित किया है। नाटकादिसे जो रसानुभूति होती है उसकी विशेष प्रक्रिया दिखलाते हुए सबसे पहिले ग्रन्थकारने 'साधारणीकरण' का निर्देश किया है। साधारणीकरणका अभिप्राय नाटकके विभावादिमें स्वकीय परकीय भावना का विलोप है। काव्यके महिमा एव नटके अभिनयके प्रभावसे विभावादिमे स्वकीय परकीय की भावनाका विलोप हो जाता है। इसीको 'साधारणीकरण' कहते है। यदि यह साधारणीकरण का अलौकिक व्यापार न हो तो दूसरेकी रतिको देखने और अपनी रतिके प्रदर्शन दोनोके ही लज्जादि जनक होनेसे रसानुभूति नही हो सकती है। इसलिए रसानुभूतिकी प्रक्रियामे ग्रन्थकारने सबसे पहिले 'साधारणीकरण' की प्रक्रियाका प्रतिपादन किया है।

दूसरी बात उन्होने यह कही है कि रसानुभूति अनुमान, आगम तथा योगिप्रत्यक्ष आदि से विलक्षण होती है। इसका कारण यह है कि रसकी अनुभूति साक्षात्कारात्मक होती है। अनुमान तथा आगमसे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष या साक्षात्कारात्मक न होकर परोक्ष होता है। इसलिए साक्षात्कारात्मक या अपरोक्ष रसानुभूति, परोक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाणसे उत्पन्न ज्ञानसे भिन्न प्रकारकी होती है। इसके साथ ही वह साक्षात्कारात्मक अथवा अपरोक्ष ज्ञान रूप योगिप्रत्यक्ष से भी भिन्न होती है। क्योकि योगि प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक होनेपर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नही रखता है। परन्तु रसानुभूतिकेलिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदिकी आवश्यकता होती है। इसलिए ग्रन्थकारने रसनुभूतिको अनुमान, आगम तथा यागि प्रत्यक्ष सबसे विलक्षण माना है।

तीसरी बात जो उन्होने इस अनुच्छेदमे कही है वह यह है कि नाटकके अनेक विभावादि या पात्रादिके व्यापारोसे एक ही रसकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् नाटकका जो प्रधान रस होता है वह समस्त पात्रोके व्यापारसे निष्पन्न होता है। उसके साथ अन्य रसोकी स्थिति नगण्य सी होती है। इस बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमे तीन उदाहरण देते हैं।

अभिनव०—इसलिए मुख्यभूत महारससे, (१) स्फोटके समान असत्य भूत [अन्य रस] अथवा (२) अन्विताभिधानके समान उपायात्मक सत्य रूप [अन्य रस], अथवा (३) अभिहितान्वयके समान वह [प्रधान रस] जिनका समुदाय रूप है इस प्रकारके अन्य रस [प्रधान रसके] अंश रूपमे स्थितसे दिखलाई देते, और वर्णन किए जाते हैं। इसीलिए आगे [रस] काव्यके अर्थोंको भावित करते है [काव्यार्थान् भावयन्ति'] यह कहा जायगा। इसलिए [काव्यार्थ भावनामे प्रधान होनेके कारण] सबसे पहिले रसोको कहा गया है। और वे रस नौ होते है। परन्तु नाटकमे शान्तरसको न मानने वाले तो [बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसा स्मृता' के स्थान पर 'बीभत्साद्भुत सज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता' इस रूप मे] 'अष्टौ' ऐसा पाठ मानते है।

---

१. स्फोटदृशीव। २ दृशीव। ३ दृशीव। ४ तद्वक्ष्यन्ते।

स्फोटवाद सिद्धा तमें जैसे पदस्फोठमे वर्णोंकी, एव वाक्मस्फोटमें पदोकी असत्य स्थिति होती है इसी प्रकार नाटकके प्रधान रसमें अ य रसोकी असत्य स्थिति होती है। यह बात स्फोट सह शीव असत्यानि' इस अशसे ग्र थकारने सूचित की है।

स्फोटवाद' वैयाकरणोका सिद्धा त है। साधारणत अनेक वर्णोंके योगसे पदोकी तथा अनेक पदोके योगसे वाक्यकी रचना मानी जाती है। पर तु स्फोटवादमें न पदोमे वर्णोंकी पथक् सत्ता मानी जाती है और न वाक्यमें अलग अलग पदोकी स्वत त्र सत्ता मानी जाती है।

पदे न वर्णा विद्य ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्य त प्रविवेको न कश्चन ॥

इस सिद्धा तके अनुसार वर्ण, पद तथा वाक्य सब अखण्ड हैं। वाक्योमे पदो तथा पदो मे वर्णोंकी स्वत त्र सत्ता नही है। अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड पदकोही 'वाक्यस्फोट' तथा 'पदस्फोट' कहते हैं। ये स्फोट' ही अथके बोधक होते हैं इसीलिए 'स्फुटति अर्थो यस्मात इति स्फोट' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनको 'स्फोट' कहा जाता है। यदि 'स्फोट' को न मानकर अलग अलग पदो तथा वर्णोंको माना जाय और उनके सयोगसे पदो अथवा वाक्यकी रचना मानी जाय तो ध्वन्यात्मक वर्णोंके तत्काल तिरोहित हो जानेके कारण उनके समुदाय रूप पदो तथा वाक्योकी रचना सम्भव ही न होगी। तब उनसे अथ प्रतीतिका भी सम्भव नही होगा। इसलिए वैयाकरण पद विभाग रहित 'वाक्यस्फोट' तथा वर्णविभाग रहित पदस्फोट' को ही अथ बोधक मानते हैं। और इस स्फोटात्मक शब्दको नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्दको अनित्य मानते हैं। और स्फोटवाद को भी नही मानते हैं फिर भी वर्ण समुदायात्मक पद, तथा पदसमुदायात्मक वाक्यकी प्रतीतिके उपपादनके लिए वे पूववर्णानुभवजनितसस्कारसहकृत चरमवर्णके श्रवणसे सदसद अनेक वर्णाव गाहिनी पदप्रतीतिको मानते हैं। इसी प्रकार वाक्यस्फोटके स्थान पर वे पूवपदानुभवजनितसस्कार सहकृत अ त्यपदश्रवणसे सदसद अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति को मानते हैं। पर तु वैयाकरण इनके स्थानपर नित्य पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट मानते हैं।

ग्र थकारने यहाँ नाट्यरसका निरूपण करते हुए स्फोटका उदाहरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्फोटवादके अनुसार वाक्य अथवा पद रूप एक अखण्ड व्यक्तिकी प्रतीति होती है उसमें अवयवोकी प्रतीति असत्य कल्पनामात्र है इसी प्रकार नाट्यका रस, एक प्रधान रस ही होता है उसमें अन्य गौण रसोकी स्थिति स्फोटके अवयवोकी स्थितिके समान असत्य ही मानी जा सकती है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए ग्र थकारने अभिहिता वयवाद तथा अ विताभिधानवाद का भी उल्लेख किया है। ये दोनो सिद्धान्त मीमासकोके दो आचार्योंने माने हैं। अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट तथा अन्विताभिधानवादके प्रवतक उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र है। वाक्यसे अर्थ बोधकी प्रक्रियाके विषयमें मतभेद होनेके कारण ये दोनो सिद्धा त प्रसिद्ध हुए हैं। साधारणत पदोसे, पहिले उनके अर्थोंकी उपस्थिति होती है उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर अन्वय या सम्ब ध होकर पदाथ-ससर्ग रूप वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। इसको 'अभिहितान्व यवाद' कहते हैं। पहिले पदो के द्वारा पदार्थोंके अभिहित होने और उसके बाद उनके अन्वित होने के कारण इसका नाम 'अभिहिता वयवाद' रखा गया है। और वह कुमारिलभट्टका मत माना जाता है।

इसके विपरीत दूसरा सिद्धात 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। अविताभिधानवाद का अभिप्राय यह है कि वाक्याथ बोधमे पदोका अभिहित होनेके बाद अवय नही होता है अपितु पदोके द्वारा अवित अथ ही अभिहित होता है। इसीलिए इसको अविताभिधानवाद' कहते हैं। अविताभिधान माननेका कारण यह है कि व्यवहारसे पदोकी शक्तिका ग्रहण जब होता है तब व्यवहार तो केवल पदाथका नही होता है अपितु किसी अयके साथ अवित या सम्बद्ध अथका ही व्यवहार होता है। इसलिए सकेतग्रह कालमें अवितमेंही सकेतका ग्रहण होनेसे अवित अथका ही अभिधान, पदके द्वारा होता है। इसलिए उसका बादमे अवय माननेकी आवश्यकता नही है। यही 'अविताभिधानवाद' है। इसके प्रवतक कुमारिल भट्टके शिष्य प्रभाकर है।

प्रकृतमें इन दोनो वादोकी चर्चाका यह अभिप्राय है कि अविताभिधानवादमे पदाथ यद्यपि सत्य है वाक्याथबोधके समय उनकी अलग अलग प्रतीति भी होती है। परतु वह उपायभूत ही है वास्तवमे तो अवित पदाथ ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार नाटकके मुख्य रसके साथ अय रसोकी स्थिति 'अविताभिधानवाद' के उपायात्मक सत्यके रूपमें मानी जा सकती है। अथवा 'अभिहितावयवाद में पदार्थोंका बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूपसे वाक्याथका बोध होता है। इसी प्रकार नाटकमे अय सब रस, पदार्थोंके समान गौण होते हैं और प्रधान रसका बोध कराते हैं। प्रधान रस उन सबके समुदाय रूपमें होता है।

इस अनुच्छेद में जो तत्समुदायरूपाणि' पद रसातराणि' के विशेषण रूपमे प्रयुक्त हुआ है उसका सीधा अथ यह प्रतीत होता है कि उनके समुदाय रूप रसातर। परतु यह अथ सगत नही होता है क्योकि अय रस उस मुख्य रसके समुदाय रूप नही है। इसलिए स समुदायरूपो येषा तानि तत्समुदायरूपाणि' वह मुख्य रस जिनका समुदाय रूप है वे अय रस 'तत्समुदायरूपाणि रसातराणि' हुए इस प्रकारका समास करना चाहिए।

रसोका उद्देश करने वाली इस कारिकामें 'अष्टौ नाटचे रसा स्मृता' नाटकमे आठ रस माने जाते हैं यह कहा है। काव्यमें इन आठ रसोके अतिरिक्त शातरस भी माना जाता है। उसको मिला कर नौ रस हो जाते हैं। परतु नाटकमें शम' की पुष्टि न हो सकनेके कारण उसको रस नही माना जाता है इसलिए आठ ही रस माने जाते हैं। भरतमुनिने यद्यपि यहा आठ रसो का निर्देश किया है। परतु उसके साथ 'नाटचे' पद जोड कर यह भी सूचित किया है कि नाटच के अतिरिक्त अय काव्योमें शात रस भी हो सकता है। नाटकमें शात रस नही हो सकता है इसका उपपादन करते हुए दशरूपककारने लिखा है कि—

शममपि केचित् प्राहु पुष्टिर्नाटचेषु नैतस्य।
वरस्यायव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता ॥

अर्थात् यद्यपि कुछ लोग शमकी गणना भी स्थायिभावोमे करते हैं परतु नाटकमे उसकी पुष्टि नही हो सकती है। बल्कि उसके परिपोषणका प्रयत्न विरसताका कारण हो जाता है इसलिए नाटकमें आठ ही रस मानने चाहिए। दशरूपकके टीकाकार धनिकने इस विषयपर विस्तार पूवक विचार किया है। उहोंने शातरसके विषयमे अनेक प्रकारके मतोको दिखला कर अपना सिद्धात इस प्रकार लिखा है—

यथा तथास्तु। सवथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

अब कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान प्रति [1]हृद्यतेति पूव शृङ्गार । तदनुगामी च हास्य । निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्तत करुण । ततस्त-निमित्त रोद्र । स[2] चाथप्रधान । तत कामाथयोधनमूलत्वाद्वीर । स हि धमप्रधान । तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदन तर भयानक । तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति[3] । वीरस्य पयन्तेऽदभुत । यद्वीरेणाक्षिप्त फलमित्यनन्तर तदुपादानम् । तथा च वक्ष्यते 'पयन्ते कतव्यो नित्य रसोऽद्भुत' इति [ना० १८-४३] ।

ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिवमविपरीत निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफल शा त । तत्र स्वात्मावेशेन रसचवणेत्युक्तम् ॥१५॥

इस कारिकामें रसोका उद्देश्य एक विशेष क्रमसे किया है । इसी विशेष क्रमसे इनके नामोका निर्देश क्यो किया गया है इसका उपपादन मनोवज्ञानिक आधार पर बडे सु दर रूपमें वृत्तिकार अगल अनुच्छेदमे निम्न प्रकारसे करते हैं ।

अभिनव०—उनमे रति [काम] के सब जातियो [प्राणियो] मे सुलभ होनेसे और सबके अत्यन्त परिचित होनेसे सबके प्रति आल्हादक होनेके कारण सबसे पहिले शृङ्गार [रस] कहा गया है । उस [शृङ्गार] का अनुगामी हास्य होता है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्य रसका उल्लेख किया गया हे] । निरपेक्ष [नराश्यमय] भाव होनेके कारण उस [हास्य] से विपरीत करुण [रस] उसके बाद कहा गया है । उसके बाद उस [करुण रस] का निमित्तभूत रौद्र [रस रखा गया] हे । और वह [रौद्र रस] अथप्रधान होता हे । [इस प्रकार काम तथा अथप्रधान रसोका उल्लेख किया गया है] उसके बाद काम तथा अथ दोनोके धममूलक होनेसे [धमप्रधान] वीर रस [रखा गया] हे । क्योकि वह धमप्रधान होता है । और उस [वीर रस] का प्रयोजन [सार] भयभीतोका अभय प्रदान करना हे इसलिए उस [वीररस] के बाद भयानक [रस] का निर्देश किया गया है । उन [भयानक तथा बीभत्स रसो] के विभाव समान हो सकते हे इसलिए उसके बाद बीभत्स रसका उल्लेख किया गया है । वीरके बाद अद्भुत आया हे । क्योकि [अद्भुत रस या उसका स्थायिभाव विस्मय] वीर रससे आक्षिप्त, [वीर रसका] फल होता है इसलिए उसका ग्रहण बादको किया गया है । जैसा कि आगे कहेगे कि [नाटकोके] अन्तमे नियत रूपसे अद्भुत रसही रखना चाहिए ।

अभिनव०—इनके बाद [धर्म अथ और कामरूप] त्रिवगके साधनभूत प्रवृत्ति रूप धर्मके विपरीत निवृत्ति धर्म रूप मोक्ष जिसका फल है वह शान्त रस आता है । उस [शान्त रस] मे आत्मनिष्ठ हो जानेसे [आत्माके स्वरूपभूत] रसका आस्वाद होता है ॥ १५ ॥

---

१ हृत्येति । २ चायर्थप्रधान । ३ ततो बीभत्स इति यद्वीरेणाक्षिप्तम् ।

स च विभावादिबलादिति भावा वक्तव्या —

भरत०—'रतिह् सिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति[2] स्थायिभावा प्रकीतिता ॥१६-१७॥

तत्र नाज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्ते कवेनटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरण शक्यमिति स्थायिन उद्दिष्टा ।

तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयशमा' इति कैश्चित् पठित । उत्साह एवास्य स्थायीत्यन्ये । जुगुप्सेति केचित् । सव इत्येके । तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी । एतदथमेवोभयधर्मोपजौवित्वरयापनायामगलभूतोऽप्यसौ पूर्व निर्दिष्ट व्याभिचारिषु । [3]स्थायिषु च सख्या नोक्तेत्यपरे । अत एव स्थायिन एते तु व्यभिचारिणोऽपि भवन्ति । एतच्चाग्रे वितनिष्याम ॥ १७ ॥

प्रक्षिप्त श्लोक—इसके बाद पूव सस्करणो में निम्नाङ्कित श्लोक अधिक पाया जाता है । कि तु उसपर अभिनवगुप्तने कोई विवृति नही लिखी है । अत हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर मूल पाठमें स्थान नही दिया है । कि तु श्लोकोकी सख्याको पूव सस्करणोके साथ मिलानेके लिए अगले श्लोक पर १६ १७ दोनो सख्याए डाल दी हैं । प्रक्षिप्त श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है ।

एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायि सञ्चारि सत्त्वजान् ॥१६॥

द्वितीय नाटचाङ्ग भाव [क स्थायिभाव]—

अभिनव०—और वह [रस] विभावादिके द्वारा [अनुभूत] होता है इसलिए [उसके बाद] भावोका कथन करना चाहिए । [अत उनका कथन करते है]—

भरत०—रति, हास शोक, क्रोध, उत्साह तथा भय एव जुगुप्सा और विस्मय स्थायी भाव कहे गए हैं ।१६ १७।

अभिनव०—उनमे लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्तिके परिचयके बिना कवि अथवा नट उस [रत्यादि] के साथ सम्बद्ध विभावादिको उपस्थित करनेमे समथ नही हो सकता है इसलिए [भावोमे सबसे पहिले] स्थायिभावोका निर्देश किया गया है ।

अभिनव०—उन [स्थायिभावो] मे कुछ लोग '[विस्मयश्चेति' के स्थान पर] 'विस्मयशमा' ऐसा पाठ मान कर [शमको] शान्त रसका स्थायिभाव कहते है । दूसरे लोग उत्साहको ही इस [शान्तरस] का स्थायिभाव मानते है । कोई जुगुप्साको [शान्तरसका स्थायिभाव] बतलाते हे । और कुछ लोग सबको [शान्तरसका स्थायी भाव कहते है । किन्तु वास्तवमे तो] तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य [निर्वेद] ही इस [शान्तरस] का स्थायिभाव है । इसीलिए [निर्वेदमे] स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव दोनोंके धम रहते हे [अर्थात् निर्वेद शान्त रसका स्थायिभाव होता है और अन्य रसोमे व्यभिचारिभाव होता हे] इस बातके द्योतन करनेकेलिए ही अमगल रूप होनेपर

---

१ अ हासो रतिश्च । २ अ चव । ३ व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीवका इति तद तर सात्त्विका ।

भरत०—[1]निर्वेद-ग्लानि शङ्काख्यास्तथासूया मद श्रम ।
आलस्य चैव दैन्य च चिन्ता मोह स्मृतिधृति [2] ॥१८॥
व्रीडा चपलता[3] हर्ष आवेगो जडता [4]तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्य निद्रापस्मार एव च ॥१९॥
सुप्त [5]विबोधोऽ[6]मषश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा[7] मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिण ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावा समाख्यातास्तु नामत ॥ २१ ॥

व्यभिचारिण एते, एत एव च व्यभिचारिण, इत्युभयतो नियमार्थ सख्यो पादानम ॥ १८-२१ ॥

व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीवका इति तदनन्तर सात्त्विका —

भी व्यभिचारी भावो [की गणना कराने वाली अगली कारिकाओ] मे इस [निर्वेद] का सबसे पहिले पाठ किया गया है । [और इसी लिए] स्थायिभावोकी सख्याका निर्देश नही किया गया है । यह अन्य लोग मानते है । इसीलिए ये स्थायिभाव [अन्य रसोमे] व्यभिचारिभाव भी हो जाते है । इसका विस्तारपूर्वक निरूपण हम आगे करेगे ॥१६ १७॥

ख व्यभिचारिभाव—

भरत०—१ निर्वेद [वैराग्य], २ ग्लानि, ३ शका, ४ असूया, ५ मद, ६ श्रम, ७ आलस्य, ८ दैन्य, ९ चिन्ता, १० मोह ११ स्मृति, १२ धृति । १८ ।

भरत०—१३ लज्जा १४ चपलता, १५ हर्ष, १६ आवेग, १७ जडता । १८ गर्व, १९ विषाद, २० औत्सुक्य २१ निद्रा, २२ अपस्मार । १९ ।

भरत०—२३ स्वप्न, २४ विबोध २५ अमर्ष, २६ अकारगोपन [अवहित्था], २७ उग्रता २८ मति २९ व्याधि, ३० उन्माद ३१ मरण । २० ।

भरत०—३२ त्रास, और ३३ वितर्क ये तेंतीस नामसे गिनाए गए व्यभिचारिभाव समझने चाहिए । २१ ।

अभिनव०—ये [३३] व्यभिचारी [भाव] है और ये ही [३३] व्यभिचारी [भाव] है इस प्रकार दोनो ओर नियम करनेके लिए ['त्रयस्त्रिंशदमी भावा' आदि रूप मे] सख्याका ग्रहण किया गया है ॥ १८-२१ ॥

ग सात्त्विकभाव—

अभिनव०—और [सात्त्विक भावोके] व्यभिचारित्व तथा अभिनयोपजीवित्व दोनो धर्मो से युक्त होनेसे व्यभिचारिभावोके बाद सात्त्विकभावोको कहते हैं—

---

१ ज निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिशङ्कासूया । २ म मोहमतिस्मृती । ३ क चपलता चैव । ४ ब धृति । ५ न त सुप्तिर्विबोधो । ६ ड म प्रबोधो हर्षश्चाप्यवहित्थ । ७ ड भ रथो । म. मरतिर्व्याधिरुन्माद ।

भरत०—स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च [1]स्वरभङ्गोऽथ वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय [2]इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ।। २२ ।।

सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्त चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिता ।। २२ ।।

भरत०—आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्य सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारो ह्यभिनया ह्येते विज्ञेया नाटचसश्रया [3] ।। २३ ।।

'चत्वार' इति आहायस्यापि धनु प्रतिशीषकमुकुटादे प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽ तरगत्व सूचयति । 'नाटचयश्रया' इति—लोके तु कदाचि न भवन्त्यपि, गहीतत्वात, नाट्ये तु त एव[4] जीवितम् । अत एव रसभावानन्तरमभिनया उद्दिष्टा ।।२३।।

अभिनयाश्च लौकिक धर्म, तन्मूलमेव तदुपयोगिन सामयिक वानुवतन्त इत्यत-स्तदनन्तर धर्मी—

भरत०—लोकधर्मी नाटचधर्मी धर्मीति द्विविध स्मृत ।

भरत०—१ स्तम्भ २ स्वेद, ३ रोमाञ्च ४ स्वरभङ्ग ५ कम्पन ६ विवर्णता ७ आसू आना और ८ मूर्छा [प्रलय] ये आठ सात्त्विकभाव कहलाते है । २२ ।।

अभिनव०—सात्त्विक [भाव] व्यभिचारी भावोके धर्म तथा अभिनयके धम दोनोके युक्त होते है इसलिए अभिनय आदिसे अलग गिनाए गए हे ।। २३ ।।

तृतीय नाटचाङ्ग अभिनय—

भरत०—१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ आहाय [अर्थात् वेषभूषादिका] और ४ सात्त्विक [अर्थात् मानसिक व्यापारोका] नाटयमे स्थित ये चार प्रकारके अभिनय माने जाते हैं । २३ ।

अभिनव०—[कारिकामे आया हुआ] चार यह [पद] धनुष, पगडी [प्रति-शीषक] और मुकुट आदि [वेषभूषा रूप आहाय अभिनय] की भी साक्षात्कार बुद्धिके उपयोगमे अन्तरगता [विशेष उपयोगिता] को सूचित करता है । 'नाट्यसश्रया' इस [पद] का यह अभिप्राय है कि लोकमे तो परिचित होनेसे [उपयोगी] न भी हो किन्तु नाटकमे तो वे ही [आहाय वेषभूषादि] नाटकका प्राणस्वरूप हे । इसीलिए रस तथा भाव [के कथन करने] के बाद अभिनयोका कथन किया गया है ।। २३ ।।

चतुथ नाटचाङ्ग धर्मी—

अभिनव०—अभिनय, लौकिक धम तथा तन्मूलक उसके उपयोगी सामयिक [धम] का अनुगमन करते हैं इसलिए उसके बाद धर्मी [का कथन करते] हे—

भरत०—लोकधर्मी तथा नाटयधर्मी इस प्रकार धर्मी दो प्रकारका माना गया है ।

१०वी कारिकामें भरतमुनि ने ११ नाटचाङ्गोका उद्देश [नाममात्रेण कथन] किया था । जिनमेंसे (१) रस, (२) भाव, (३) अभिनय, इन तीन नाटचाङ्गोका वणन इसके पूव कर चुके हैं । अब इस कारिकार्द्धमें चतुथ नाठ्याङ्ग धर्मीका वणन कर रहे हं । उसके यहा दो भेद किए गए हैं, एक लोकधर्मी और दूसरा नाट्यधर्मी । नाटकमे कभी पुरुष पात्र (अभिनेता) स्त्रीका, और

---

१ म स्वरभेदो । म सादोऽथ । २ भावास्त्वष्टौ तु सात्त्विका । ३ नाटचकमणि । ४ तदेवा ।

भरत०—भारती सात्वती चैव [1]कैशिक्यारभटी तथा ।
चतस्रो वृत्तयो ह्येता [2]यासु नाट्य प्रतिष्ठितम् ।। २४ ।।

न चाभिनयोऽभिनेतव्यम तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण च तदुपकारिण्यो वृत्तय । द्वे तिस्र पच वेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्तम ।। २४ ।।

भरत०—आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा[3] चैवोड्रमागधी ।
पाचाली मध्यमा [4]चेति [5]विज्ञेयास्तु प्रवृत्तय ।। २५ ।।

ता अपि देशवशाद् भूयसा भव तीति तदव तर प्रवृत्तय ।। २५ ।।

कभी स्त्री पात्र (अभिनेत्री) पुरुषका रूप धारण करके भी अभिनय करते हैं। इस प्रकार का अभिनय नाट्यमें ही पाया जाता है इसलिए उसे 'नाट्यधर्मी' अभिनय कहा जाता है। इसके विपरीत जहां पुरुष, स्त्रीका, अथवा स्त्री पुरुषका रूप धारण न करके अपने यथावस्थित रूपमे अभिनय करते है उसको 'लोकधर्मी अभिनय कहा जाता हे। १२वे अध्यायमें लोकधर्मी तथा नाट्य धर्मीका भेद निम्न प्रकार दिखलाया गया है।

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूव द्विजोत्तमा ।
लौकिकी नाट्यधर्मा च तयावक्ष्यामि लक्षणम् ।।७०।।
स्वभावाभिनयोपेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवेन्नाट्य लोकधर्मी तु सा स्मता ।।७२।
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभाविकम ।
लीलाङ्गहाराभिनयनाट्यलक्षणलक्षितम् ।।७३।।
स्वरालङ्कारसयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम ।
यदीदृश भवेन्नाट्य नाट्यधर्मी तु सा स्मता ।।७४।।

पञ्चम नाट्याङ्ग वृत्ति—

भरत०—भारती, सात्त्वती और कौसिकी तथा आरभटी ये चार प्रकारकी वृत्तिया होती हैं जिनपर कि नाट्य आश्रित है। २४।

अभिनव०—अभिनय, अभिनेतव्य के बिना सम्भाव नही है इसलिए और दश-प्रकारके रूपकोसे सम्बन्धके कारण उनकी उपकारक वृत्तियाँ [कही] हें। दो, तीन या पांच [सख्या] के निराकरणकेलिए चार यह [सख्या] कही है ।।२४।।

षष्ठ नाट्याङ्ग प्रवृत्ति—

भरत०—१ आवन्ती, २ दाक्षिणात्या, ३ औड्रमागधी, ४ पाचाली तथा ५ मध्यमा ये [पांच प्रकारकी] प्रवृत्तियां समझनी चाहिए। २५।

अभिनव०—और वे [वृत्तियां] भी अधिकाशमें देशके आधारपर होती हैं इसलिए उन [वृत्तियों] के बाद प्रवृत्तियाँ कही गई है। ।। २५ ।।

---

१ ड त वृत्तिरारभटी तथा। २ ड त ह्येता कैशिक्या सह कीर्तिता। भ विज्ञेया नाट्यसश्रया। ३ प य चवार्थ। चवाप्र। ४ पांचालमध्यमा। ५ चैव। ६ प ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तय।

भरत०—दैविकी मानुषी चैव सिद्धि स्याद् द्विविधैव तु ॥ २६ ॥

सवमेतत् सिद्धिपयवसानमिति ततो द्विविधा सिद्धि । २६ ।

भरत०—[1]शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादय स्वरा ।

[निषादर्षभगान्धारमध्यपचमधैवता ।]

स्वरा पाठ्यगानसगहीता अपि पृथगुपात्ता । केवलानामपि प्रयोगोपरजकत्व यल्लक्ष्ये दृश्यते, यत्र अन्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमाथम् ।

भरत०—तत चैवावनद्ध च घन सुषिरमेव च ॥ २७ ॥

चतुर्विध तु विज्ञेयमातोद्य लक्षणान्वितम् ।

लक्षणान्वितमिति अन्यत्त् मल्लकपटफलक ज्वालामुख-पक्षवाद्यादि लौकिक नैतत्सगहीत बाध्यत्वादित्यथ । एतच्चान्ते वक्ष्यते[2] । यदपि चतुर्विध न सवमिद बहुलचमकारादिवाद्यमपि च वक्ष्यमाणलक्षणान्वितम । आतुद्यतेऽभिहन्यत इत्यथ ।२८।

सप्तम नाट्याङ्ग सिद्धि—

भरत०—दैविकी और मानुषी सिद्धि दो प्रकारकी ही होती है । २६ ।

अभिनव०—और यह सब [अभिनय] सिद्धिमे समाप्त होते है इसलिए उनके बाद दो प्रकारकी सिद्धिया कही हैं ॥ २६ ॥

अष्टम नाट्याङ्ग स्वर—

भरत०—[शरीरसे उच्चारण किए जाने वाले] शारीर, तथा [बासुरी आदि वाद्योसे निकलने वाले] वैणस्वर, षडजादि सात प्रकारके होते है [जिनके नाम निम्न प्रकार हैं । १ निषाद, २ ऋषभ, ३ गाधार, ४ मध्यम, ५ धवत ६ पचम ७ धवत] ।

अभिनव०—पाठ्य तथा गानमे ही स्वरोका अन्तर्भाव हो जाने पर भी [उनके विशेष महत्त्वके कारण] उनका पृथक ग्रहण किया गया है । [पाठ्य अथवा गानसे रहित] केवल स्वरोसे भी नाट्यका सौन्दय देखा जाता है जो अन्तरालाप नाम से प्रसिद्ध है उसके ग्रहण करनेके लिए स्वरोका पृथक ग्रहण किया गया है ।

नवम नाट्याङ्ग आतोद्य—

भरत०—[वीणा सितार आदिके समान फले हुए] तत, [मदग ढोलक आदिके समान मढे जाने वाले] अवनद्ध, [घण्टा घडियाल आदिके समान ठोस] घन, तथा [बासुरी आदिके समान छिद्रयुक्त] सुषिर, लक्षणोंसे युक्त [उत्तम श्रेणीके] चार प्रकारके वाद्य [आतोद्य] माने जाते हैं ।२८।

अभिनव०—लक्षणान्वित [उत्तम श्रेणीके] इस विशेषणसे मल्लकपटफलक ज्वालामुख और पक्षवाद्य [खजरी] आदि लौकिक वाद्योका बाधित होनेसे इनमे अन्तर्भाव नही होता है । यह बात आगे कहेंगे । और ये चार प्रकारके वाद्यही सारे वाद्य नही हैं । चमकार आदिके अनेक वाद्यभी आगे कहे जाने वाले लक्षणोसे अन्वित होनेसे वाद्य कहलाते हैं । [हाथ आदि अथवा वायु आदिके द्वारा] ताडित किए जानेसे [आतुद्यते अभिहन्यते इति आतोद्य इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आतोद्य [वाद्य] कहलाता हैं ॥ २८ ॥

---

१ शारीरा वणावाश्चव । २ लक्षते ।

भरत०—तत तन्त्रीगत[1] ज्ञेयमवनद्ध तु पौष्करम् ॥ २८ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेय सुषिरो वश एव च ।

पुष्करशब्दश्रवणादागत, पुष्करावर्तकदेवताधिष्ठित, पद्मपत्राकार, चमपुटभाष चेति पौष्करम् । हन्यते कलासाम्यार्थमिति घन । अत एव तालैकप्रमाणत्वात् स्वरवर्ण-सम्भवात् ताल इत्युक्त कास्यतालादि । एवकार काहलादिव्युदासाय ।

भरत०—प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[2] ॥२९॥
गान पचविध ज्ञेय ध्रुवायोगसमन्वितम्[3] ।

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थादिसूचक यद् गीयते तत् प्रवेशगानम् । प्रविष्टस्या-न्तगता चित्तवृत्ति सामाजिकान् प्रति प्रसादयितु प्रथयितु [4]प्रसादगानम । रसान्तराक्षेपार्थ आक्षेपगानम् । अन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसर, तत्र यद् गीयते तदान्तर गानम् । पात्रस्य निष्क्रमणे तु निष्क्रामगानम । प्रवेशादय उपचाराद गाने ।

भरत०—तन्त्रीगत [वीणा सितार आदि वाद्य] को 'तत [इस नामसे] और अवनद्ध अर्थात [मढे हुए मृदग आदि] को पौष्कर, [मजीरा आदि कासे आदिके बने] तालको घन [ठोस] तथा बासके [बासुरी आदि छिद्र युक्त बाजोको] 'सुषिर' समझना चाहिए ।२९।

अभिनव०—पुष्कर [अर्थात् मेघविशेष] के शब्दको सुन कर [उसके शब्दा-नुकरणके रूपमे] बनाया गया हे इसलिए, और पुष्करावर्तक [मेघविशेषके] देवतासे अधिष्ठित होनेवाला, कमलपत्रके समान आकार वाला, एव चमके मढावसे शब्द करने वाला [मृदग आदि वाद्य] पौष्कर [वाद्य कहलाता] हे । तालकी समानता लानेके लिए पीटा [बजाया] जाता है । इसीलिए कासेके बने हुए [घण्टा घडियाल] ताल आदि, तालमे अनुपम प्रमाण होनेसे और स्वर वर्णोके उत्पादक होनेसे ताल इस नामसे कहे जाते हे। ['सुषिरो वश एव च' मे आया हुआ] एवकार [पद] काहल [वाद्यविशेष] आदिके वारणकेलिए हे [कि वे सुषिर वाद्योमे न गिनेजावे] ॥ २९ ॥

दशम नाट्याङ्ग गान—

भरत०—ध्रुवा [टेक] से युक्त गान १ प्रवेशक, २ आक्षेपक, ३ निष्क्रामक, ४ प्रासादिक तथा ५ आन्तर इस प्रकारसे पाच तरह का गान होता हे ।३०।

अभिनव०—पात्रके प्रवेश करते समय उसके भाव प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक जो [गान] गाया जाता है वह प्रवेशक [गान] कहलाता है । प्रविष्ट हुए [पात्र] की अन्तर्गत चित्तवृत्तिको सामाजिकोके प्रति प्रसन्न अर्थात् प्रकट करनेके लिए जो [गान] गाया जाता है वह प्रसाद-गान होता है । प्रकृत [चल रहे] रससे भिन्न [अन्य] हास्यादि रसका आक्षेप करानेवाला गान आक्षेपगान कहलाता हे । अन्तर अर्थात् बीचके गति या घूमने आदिके अवसर, उनपर जो गाया जाता है वह आन्तरगान [कहलाता] है । पात्रके मचसे निकलते समय गाया जानेवाला [गान] निष्क्रामगान [कहलाता] है । प्रवेश आदि [शब्द] उपचारसे गानमे प्रयुक्त है ।

---

१ अ कृतम् । २. ज भ अथापरम् । ३. अ समुद्गकम । ४ म प्रासाद ।

प्रसादोऽस्य प्रयोजन प्रासादिकम् । अन्ये तु समासान्मत्वर्थीय ठक कृत्वा प्रासादिकमिति । ध्रुवा गीत्याधारो नियत पदसमूह । तत्र योगेन युज्यमानतया समन्वित तदथप्राधान्येन नियतरूपत्वादिति गानस्य गान्धर्वाद् भेद सूचित ।३०।

भरत०—चतुरस्रो विकृष्टश्च रगस्त्र्यश्रश्च कीर्तित[1] ॥३०॥

कक्ष्याविभागेन गत्युपकारेण सर्वाभिनयानुभावोपकारी गानातोद्योपकारी च मण्डप । यथोक्तम्—'यश्चाप्यास्यगतो भाव' [२ २०] इति । तथा 'गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य' इत्यादि [२ ८२] । रगेणैव च कक्ष्याविभाग सगृहीत इति नानुद्दिष्ट कक्ष्याया [२४-३०] ॥ ३० ॥

एतदुपसहरति एवमित्यादिना—

अभिनव०—[सामाजिकोके प्रति पात्रकी चित्तवृत्तिको प्रकट करना रूप] प्रसाद जिसका प्रयोजन है वह प्रासादिक [गान] कहलाता है । [यह प्रासादिक पदका निवचन है] । दूसरे [व्याख्याता] समाससे मत्वथ मे ठक्-प्रत्यय करके [प्रासादिक इस प्रयोगको] बनाते है । ध्रुवा गीतके आधारभूत निश्चित पदसमूहको कहते है । उसमे योग अर्थात् सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण उसकी प्रधानतासे युक्त गानका [अन्य साधारण गान रूप गान्धव अर्थात्] सगीतसे भेद किया गया है । ३० ।

ग्यारहवा नाट्याङ्ग रङ्ग —

इसी अध्यायकी दशम कारिकामें 'गान रङ्गश्च सग्रह' आदिसे नाटचके ११ अङ्गोका सग्रह दिखलाया गया था । उसके बाद १५ श्लोकसे ३०वे श्लोकके पूर्वार्द्ध तक रस भाव आदि १० अङ्गो का वर्णन कर चुके । अब आगे ११वे अङ्ग 'रङ्ग' का वर्णन करते हैं—

भरत०—वर्गाकार [चतुरस्र], आयताकार [विकृष्ट], त्रिभुजाकार [त्र्यश्र यह तीन प्रकार का रग अर्थात] मण्डप कहा गया है ।

अभिनव०—मण्डप [रगशीष, नेपथ्यगृह आदि रूपसे रगमचके] श्रेणीविभागसे [रगमच पर पात्रोके गमनागमनके समय] गतिमे उपकारक, समस्त अभिनयोमे उपकारी, तथा गाने और बजाने आदिका उपकारक होता है । जैसा कि [द्वितीय अध्याय २ २० मे] कह चुके है—जो इस [वक्ता] के मुखमे स्थित हुआ भाव है [वह भी बहुत बडे मण्डपमे अस्पष्ट हो जायेगा] यह । और [नाट्यमण्डपको वायु रहित बनाना चाहिए] जिससे गायक वादक आदिके समूह [कुतुप सफेटकगायवादकसमूह] का स्वर [मण्डपमे गूजनेके कारण] गम्भीर हो जावेगा । इत्यादि [रगभूमिके रगशीर्ष नेपथ्यगृह आदि रूप] श्रेणीविभाग रगके भीतर ही आ जाते हैं इसलिए [२४-३० मे] कक्ष्या विभागका कथन नही किया है । [अर्थात नाट्याङ्गोके अन्तगत ही मान लिया है] ॥ ३० ॥

अभिनव०—इसका ही उपसहार एव इत्यादि [श्लोक] से करते है—

---

१ अ त्र्यश्रश्चैव हि मण्डप ।

भरत०—एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसग्रह ।
अत पर प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥३१॥

एवमुद्देशविभागभेदेन द्विधा सग्रहमभिधाय लक्षणपरीक्षे वक्तु प्रतिजानीते 'अत परम्' इति । 'सूत्रग्रथविकल्पनम' इति सूत्र सूत्रक लक्षण वक्ष्यामि । तेनैव च कारिका सगृहीता । ग्रन्थो भाष्यम् । तत्कृत च विकल्पनमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता । सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधान व्याकुल शिष्यजन स्थितपक्षनिरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्या पाठ । ३१ ।

एव सूत्र भाष्य परीक्षा च प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रसविषयमेव सूत्रप्रभृति, प्रथम वक्तव्यमित्यत्र परिकरबन्ध घटयितुमाह तत्रेति—

भरत०—तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्याम ।

तत्र तेषा रसादीना मध्ये । एवकारोऽवधारणे । तावदिति क्रमे । अभित आदित सूत्रग्रन्थपरीक्षाक्रमेण विभज्याख्यास्याम ।

भरत ६—इस प्रकार [१५ ३० श्लोक तक] सक्षिप्त लक्षण सहित नाट्य [के ११ अङ्गों] का उद्देश कर दिया । अब इस [नाट्याङ्गोके उद्देश] के बाद उनके [सूत्र अर्थात्] लक्षण तथा [ग्रन्थ अर्थात्] भाष्य द्वारा [विकल्पनम अर्थात्] परीक्षाको कहुगा । ३१ ।

रस निरूपणकी अवतरणिका—

अभिनव०—इस प्रकार उद्देश तथा विभागके भेदसे [११ नाट्याङ्गोके] सग्रह [उद्देश] को दो रूपोमे कथन करके लक्षण तथा परीक्षाके कहनेकेलिए प्रतिज्ञा की है कि—इसके आगे [सूत्रग्रन्थविकल्पन प्रवक्ष्यामि] । सूत्र सूचक या लक्षणको कहूँगा । उसी [सूत्र] से कारिकाका भी ग्रहण हो जाता हे । 'ग्रन्थ' भाष्य है । उनके द्वारा होने वाला विकल्पन अर्थात् 'निरुक्त' नामसे कही जाने वाली आक्षेप-प्रतिसमाधान रूप 'परीक्षा' की प्रतिज्ञा की गई हे । सत्रका विवरण देने वाली कारिका तो सूत्र [के अर्थ] को भी प्रकाशित करती हुई विस्तृत आक्षेप तथा प्रतिसमाधान से घबराए हुए शिष्य जनोको [सक्षेपमे] सिद्धान्त पक्षका निरूपण करके लाभ पहुचाती है इस लिए भाष्यके बाद इस [कारिका] का पाठ आता हे । ३१ ।

अभिनव०—इस प्रकार 'सूत्र, भाष्य एव परीक्षाको कहुगा' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके [अब आगे] सबसे पहिले रस विषयक सूत्र भाष्य परीक्षा आदि कहना चाहिए इस विषयकी अवतरणिका बनानेकेलिए कहते है—

भरत०—उनमे सबसे पहिले रसोकी विशेष व्याख्या करेंगे ।

अभिनव०—उन रसादिके मध्यमेसे । एवकार अवधारण [अर्थ] मे है । और 'तावत्' यह [पद] क्रमका सूचक है । 'अभिव्याख्यास्याम ' का अर्थ अभित सब ओरसे विभज्य अलग-अलग करके [आख्यास्याम] कहेंगे ।

---

१ अ म व्यादिष्टो ।

भरत०—न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते ।

उद्देशक्रमस्यैव पर्यनुयोज्यतामाशङ्क्यापर क्रमहेतुमाह 'न हि' इति । हि यस्मात्, रस बिना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवतते, यतश्च त विनाथ प्रयोजन प्रीतिपुरस्सर [1]व्युत्पत्तिमय न प्रवतते, यतश्च रस प्रत्याहृते रसनात्मकप्रतीत्येकघन-विश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थं प्रविभागेन बुद्धौ न वतते, सवस्य जडस्य चित्तवृत्त्य तोरोपकृतप्रधानस्थायिनामधेयचित्तवृत्तिमग्नत्वेन विभावानुभावादिवगस्याव-भासात् । अतो व्याख्यातृ-नट-सामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत् पूवमुद्दिष्ट इति, तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति तात्पयम् ।

पूवत्र बहुवचनमत्र चैकवचन प्रयुञ्जानस्यायमाशय —

रसको प्रथम स्थान देनेके हेतु—

यद्यपि नाटयागोका जो उद्देश या नाममात्रेण कथन पहिले किया है उसी क्रमसे अब उनकी लक्षण परीक्षा आदि प्रारम्भ कर रहे हैं। फिर भी किसीके मनमें यह आशका हो सकती है कि उद्देशमे ही रसको सबसे पहिले क्यो रखा है । अत इसका समाधान करते हैं—

भरत०—क्योकि रसके बिना कोई अन्य [नाटयाग रूप] अथ प्रवृत्त नहीं हो सकता है [इसलिए रसको ही सबसे पहिले कहेगे] ।

अभिनव०—उद्देशके क्रम [मे जो रसको सबसे पहिले कहा उस] पर ही प्रश्न हो सकता है [कि वहीं रसको सबसे पहिले क्यो कहा है] उसी आशकाको अपने मनमे] करके [उसके निवारणकेलिए ग्रन्थकार] क्रम [रखने] का दूसरा हेतु 'न हि' इस पदसे बतलाते है। 'हि' का अथ 'यस्मात्' क्योकि यह है । (१) क्योकि रसके बिना विभावादि अथ व्याख्येय रूपसे बुद्धिमे नही आ सकता है, (२) और क्योकि उस [रस] के बिना आनन्द पूर्वक [कृत्योमे प्रवृत्ति तथा अकृत्यसे निवृत्तिके उपदेश या] ज्ञान रूप [नाटकका] प्रयोजन नही बन सकता है, और (३) क्योकि रसके प्रति आदर-बुद्धि रखने वाले एव केवल रसनात्मक प्रतीतिमे आनन्द अनुभव करने वाले [विश्रान्ते] सामाजिक वगमे रससे भिन्न भाव आदि रूप अन्य अथ स्पष्ट रूपसे समझमे नहीं आता है, [क्योकि विभाव अनुभाव आदि समुदाय रूप] समस्त अचेतन वर्गकी [विभावादिरूप] अन्य प्रतीतियो [चित्तवृत्तियो] से उपकृत स्थायी [स्थायिभाव] नाम वाली प्रधान चित्तवृत्तिके अन्तगत रूपसे ही [अचेतन] विभावादि वर्गकी प्रतीति होती है । [इसलिए रसके बिना भावादिकी प्रतीति नही हो सकती हैं| इसलिए व्याख्याता नट तथा सामाजिक [सभी] की दृष्टिसे उस [रस] की ही [समस्त नाट्यागोमे] प्रधानता है इसलिए रस ही [उद्देश क्रममे] सबसे पहिले कहा गया है । इस लिए [सबसे पहिले] उसीके लक्षण आदि करने चाहिए यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—पहिले [१५वें श्लोकमे 'अष्टौ नाट्यरसा' मे बहुवचन और यहाँ ['रसादृते' मे] एकवचनका प्रयोग करने वाले आचाय [भरतमुनि] का यह आशय हे कि—

---

१ भ त्ति निमयन्न व्युत्पत्ति प्रवतते ।

एक एव तावत्परमार्थतो रस सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभाग । सोऽपि न तदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते । एतच्चोद्देश एवास्माभिरभिहितचर, अभिधास्यते चाग्रे ।

एव क्रमहेतुमभिधाय रसविषय लक्षणसूत्रमाह—

भरत०—तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति'।

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेव व्याचख्यु—विभावादिभि सयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति । तत्र विभावश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् । अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपि तु भावानामेव येऽनुभावा । व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविन स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता ।

अभिनव०—[सारे] नाटकमे सूत्र रूपसे व्याप्त वास्तवमे एक ही प्रधान रस प्रतीत होता है। फिर उसीके भागकी दृष्टिसे [अवान्तर रस रूप] विभाग होते है। और वह [अन्य रसोका विभाग] भी उस [प्रधान रस] का मुखापेक्षी [आश्रित] हुए बिना नही रहता है। यह बात हम उद्देशके प्रसगमे पहिले ही कह चुके है। और आगे भी कहेगे।

अभिनव०—इस प्रकार [उद्देश्य मे] क्रम [रखने] के हेतुको बतला कर रस विषयक लक्षण सूत्रको कहते हैं—

भरत०—उनमे 'विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है'।

१ भट्ट लोल्लटकी व्याख्या—

अभिनव०—भट्ट लोल्लट आदि [व्याख्याताओ] ने [इस सूत्रकी] इस प्रकार व्याख्या की है कि—विभावादिका जो सयोग अर्थात स्थायिभावके साथ [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोका सयोग] उससे रसकी निष्पत्ति [अर्थात् उत्पत्ति] होती है। उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावो] मेसे विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिकी उत्पत्तिमे कारण होते है। अनुभाव शब्दसे यहा रसजन्य [कटाक्षादि रूप] अनुभाव विवक्षित नही है क्योकि उन [रसजन्य अनुभावो] की गणना रसके कारणोमे नहीं की जा सकती है [वे तो रसके कार्यभूत होते हैं]। अपितु [यहाँ रसके कारणभूत अनुभावोमे रत्यादि स्थायी] भावोके ही जो [पीछे उत्पन्न होनेके कारण] अनुभाव है [उनका ग्रहण विवक्षित है]। और [निर्वेद आदि] व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होनेसे ['युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इस नियमके अनुसार रति रूप तथा निर्वेदादि रूप दो प्रकारकी चित्तवृत्तिया एक समयमे नही हो सकती है इसलिए] यद्यपि स्थायिभावके साथ नहीं रह सकते है किन्तु यहा उस [स्थायिभावके] के सस्काररूपसे विवक्षित हैं। [इसलिए रस रूपसे स्थित रत्यादि स्थायिभावके साथ सस्कार रूपमे निर्वेदादि व्यभिचारिभाव रह सकते हैं]।

दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत् । तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस । स्थायी त्वनुपचित । स चोभयोरपि । मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति[1] ।

चिरन्तनाना चायमेव पक्ष । तथा हि दण्डिना स्वालकारलक्षणेऽभ्यधायि—

'रति शृङ्गारता गता रूपबाहुल्ययोगेन' । इति [काव्यादर्शे २-२८१]

अधिरुह्य परा कोटि कोपो रौद्रात्मता गत । [काव्य० २-२८३]

इत्यादि च ।

एतन्नेति शकुक ।

अभिनव०—[रसके उपपादनके लिए आगे दिए जाने वाले व्यञ्जनादि रूप] दृष्टान्तमे भी व्यञ्जनादिके बीचमे किसी [रस] की स्थायिभावके समान अनुद्भूत [वासनात्मक] रूपमे स्थिति होती है, और दूसरेकी व्यभिचारिभावके समान उद्भुत रूपमे । इस लिए 'विभाव अनुभाव आदिसे परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है' । और अपरिपुष्ट [स्थायिभाव रससे भिन्न] स्थायिभाव [कहलाता] है । [यह रस तथा स्थायिभावका भेद है] । वह [रस, अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट] दोनो मे रहता है । मुख्य रूपसे [जिसका अनुकरण नट करता है उस] अनुकार्य रामादिमे रहता है । तथा रामादि रूपताकी प्रतीति होनेके कारण [गौण रूपसे] नटमे भी [रस की प्रतीति होती है । रस-सूत्रकी यह व्याख्या भट्टलोल्लट आदि करते है] ।

२ भट्टलोल्लटके समान दण्डीका मत—

अभिनव०—और [दण्डी आदि] प्राचीन आचार्योका [भी] यही सिद्धान्त है । इसलिए दण्डीने भी अपने [काव्यादर्श नामक] अलकार ग्रन्थमे [२-२८१] कहा है—

अभिनव०—रूप बाहुल्य [उपचय] के कारण रति [स्थायिभाव] शृगार [रस] रूपताको प्राप्त हो जाती है । यह, और—

अभिनव०—अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ क्रोध [स्थायिभाव] रौद्र [रस] रूपताको प्राप्त होता है । [काव्यादर्श २ २८३] । इत्यादि ।

शकुक द्वारा भट्ट लोल्लट तथा दण्डीके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायिभावको ही रस माननेका सिद्धान्त] ठीक नहीं है । यह शकुकका कहना है । [रत्यादिको ही रस माननेके विरोधमे शकुकने ८ हेतु प्रस्तुत किए है] ।

उपचित रत्यादि स्थायिभावोको ही रस माननेवाले भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके विरुद्ध शकुकने आठ हेतु दिए हैं । इनका सग्रह निम्न प्रकार किया जा सकता है कि—

१ रत्यादि स्थायिभावोका साक्षात्कारात्मक ज्ञान तो विभावादिका सयोग होनेपर ही होता है । बिना विभावादिके स्थायिभावोका साक्षात्कारात्मक ज्ञान नही हो सकता है । और

---

१ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलादिति ।

विभावादिका योग होनेपर जो रत्यादिका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वह तो रस ही है। स्थायी भाव नही। अत रस तथा स्थायिभाव बिल्कुल भिन्न है। स्थायिभाव को ही रस नही कहा जा सकता है।

२ विभावादिके योगसे पहिले रत्यादिका जो ज्ञान होता है वह तो उनका केवल शब्द द्वारा परोक्षात्मक ज्ञान होता है उसको रस नही कहा जा सकता है। इसलिए विभावादिके योग मे पहिले जो स्थायिभावोकी स्थिति है उसको रस नही माना जा सकता है। क्योकि उसका ज्ञान शब्दके द्वारा परोक्ष ही हो सकता है। रसनात्मक साक्षात्कारात्मक नही। और विभावादिके योगके बाद जो रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है उसको स्थायिभाव नही कहा जा सकता है। इसलिए भी 'स्थायिभाव ही रस है' यह कहना ठीक नही है।

३ रत्यादिको ही रस रूप माननेमें शकुकने तीसरा दोष यह दिया है कि यदि विभावादि के योगके पहिले ही रसकी स्थिति मानी जाय तो फिर उसके अ य लक्षण करनेकी आवश्यकता नही रहती। अर्थात् विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' यह जो लक्षण भरतमुनि ने किया है वह सब व्यथ हो जाता है। क्योकि विभावादिके योगके पहिले ही रसकी स्थिति विद्यमान है।

४ चौथा दोष यह है कि यदि रत्यादिको ही रस माना जाय तो कभी रत्यादि सामान्य या मन्द रूपमे होते हैं कभी तीव्र और कभी मध्यम रूपमे। इसी प्रकार रसके भी अनेक भेद होने लगेगे। कि तु ऐसा नही होता है। रसमे यूनाधिक्य तर तम आदिका भेद नही होता है। स्थायिभावोमे तर तम आदिका मात्रा कृत भेद पाया जाता है। इसलिए स्थायिभावको ही रस नही कहा जा सकता है।

५ पाचवा दोप यह है कि आगे चल कर भरतमुनिने हास्यके स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि छ भेद दिखलाए हैं। ये भेद स्थायिभावके तो हो सकते हैं क्योंकि स्थायिभावमें मात्राका तारतम्य हो सकता है। पर तु हास्यरसमें तारतम्यका सम्भव न होने से रसके भेद नही हो सकते हैं। भरतमुनिने मुख्यत स्थायिभावकी दृष्टि से ये ही भेद कहे हैं।

६ और यदि मात्रा भेदसे रसके भेद मानने लगेंगे तो फिर कामकी जो दस अवस्थाए कही गई हैं उनमे मात्रादिके भेदसे असख्य रसभाव आदिकी प्रतीति होने लगेगी और एक शृगाररसके ही असख्य भेद बन जावगे।

७ फिर आपने स्थायिभावोके उपचयको रस कहा है सो शोकादि स्थायिभावोका उपचय नही अपितु कालक्रमसे अपचय या ह्रास ही होता है। पहिले पहिल जब शोकका अवसर उपस्थित होता है उस समय शोक तीव्रावस्थामे होता है उसके बाद क्रमश उसका ह्रास होता जाता है। इसलिए उसके उपचयका अवसर आना ही सम्भव नही है। तब उपचयके बिना करुणरसकी उत्पत्ति कैसे होगी यह सातवा दोष है।

८ इसी प्रकार रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोध, वीररसके स्थायिभाव उत्साह तथा शृगाररस के स्थायिभाव रति, आदिका भी सेवा या परिपोषणके अभावमे उपचय नही अपितु ह्रास देखा जाता है। पर रसानुभूतिमे वृद्धि ह्रासादि नही होते हैं इसलिए उपचित स्थायिभावको रस मानना उचित नही है। यह आठवा हेतु है। इस प्रकार शकुकने भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके 'उपचित स्थायिभाव ही रस रस है' इस सिद्धा तके खण्डनकेलिए आठ हेतु दिए हैं। अभिनवभारतीकार अगले अनुच्छेदमें उन हेतुओको निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

(१) विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिगाभावेनावगत्यनुपपत्ते, (२) भावाना पूर्वमभिधेयताप्रसगात्, (३) स्थितिदशाया लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, (४) मन्दतरतममाध्यस्थाद्यानन्त्यापत्ते, (५) हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्ते, (६) कामावस्थासु दशस्वसख्यरसभावादिप्रसगात्, (७) शोकस्य प्रथम तीव्रत्व कालात् तनु-मान्द्यदर्शन, (८) क्रोधोत्साहरतीना अमर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।

अभिनव०—(१) विभावादिके योगके बिना [या अभावमे] स्थायिभावके अनुमापक हेतुके न होनेसे [स्थायिभावकी] प्रतीति नहीं बन सकती है [इसलिए स्थायिभावको रस नही कहा जा सकता है। और यदि, शब्दसे स्थायिभावकी परोक्ष प्रतीति मानी जाय तो विभावादिके प्रयोगके] (२) पहिले भावोको [शब्दसे] अभिधेय माना होगा [वह परोक्षात्मक ज्ञान आस्वाद रूप या साक्षात्कारात्मक न होनेसे रस नही कहा जा सकता है]। (३) [विभावादिके प्रयोगके पहिले भी रसको] स्थित माननेपर ['विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' इत्यादि रूप जो रसकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया बतलाई है उन] अन्य लक्षणोकी आवश्यकता नहीं रहती है। (४) [यदि रत्यादि स्थायिभावोको ही रस माना जाय तो रत्यादिकी मात्रामे न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य का सम्भव होनेसे रसमे भी] मन्द, तर तम-मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। [परन्तु रसके एक रूप होनेसे उसमे मात्राकृत तारतम्य नही माना जाता है। और यदि स्थायिभावको ही रस मानें तो फिर रसके समान स्थायिभावको भी तारतम्य या मात्राकृत भेदसे रहित मानना होगा उस दशामे] (५) हास्य रसमे [स्थायिभावकी मात्रा के तारतम्यसे जो ६ भेद किए गए है उन] ६ भेदोका अभाव प्राप्त होने लगेगा। [और यदि स्थायिभावके तारतम्यसे रसका भेद मानेंगे तो] (६) कामकी दस अवस्थाओमे असख्य रस भाव आदि मानने होगे [जो कि युक्तिसगत नही है। इसलिए स्थायिभावको रस मानना उचित नही है। और आपने स्थायिभावके उपचय अथवा उपचित स्थायिभावको रस कहा है परन्तु शोकादि स्थायिभावोमे] (७) शोक प्रारम्भमे तीव्र होता हे उसके बाद कालक्रमसे मन्द होता जाता है [अत उसका उपचय सम्भव न होनेसे करुणरसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार] (८) क्रोध उत्साह तथा रति [आदि अन्य स्थायिभावोमे] अमर्ष, स्थैर्य और सेवा [आदि परिपोषक सामग्री] के अभावमे ह्रास दिखलाई देता है इसलिए [उपचयके स्थानपर उनका अपचय रूप] विपर्यय पाया जानेसे [उपचित स्थायिभाव रस होता है यह कहना उचित नही है]।

इस प्रकार शकुकने इस अनुच्छेदमे दी हुई आठ युक्तियोके द्वारा अपने पूर्ववर्ती व्याख्याता भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके मतका खण्डन कर दिया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भट्टलोल्लट आदि उपचित रत्यादिको रस मानते है वह उचित नही है। अब आगे ग्रन्थकार शकुकके अपने सिद्धान्तको प्रदर्शित करेंगे। उसके अनुसार उपचित रत्यादिके बजाय अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहा गया है।

तस्मात्, हेतुभिर्विभावाख्यै, [1]कार्यैरनुभावात्मभि, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभि प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानै, अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलत प्रतीयमान [2]स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूप । अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस ।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेया । अनुभावा शिक्षात । व्यभिचारिण कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात् । स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेय । 'रति शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति ।

---

३ शकुकका अपना सिद्धान्त—

अभिनव०—इसलिए [रसके] कारण रूप विभावो, [उसके] कार्य रूप अनुभावो [कटाक्षादि शारीरिक व्यापारो], तथा सहचारी रूप [निर्वेदादि] व्यभिचारी भावो [मानस व्यापार या चित्तवृत्ति] से [नटके द्वारा अपने शिक्षा अभ्यास आदि रूप] प्रयत्नसे जन्य होनेके कारण कृत्रिम होनेपर भी उस प्रकारके [कृत्रिमसे] न प्रतीत होने वाले [कारण कार्य सहकारी रूप पूर्वोक्त विभावादिसे] लिंगकी सामर्थ्यसे अनुकर्ता [नट] मे स्थित रूपसे [अनुमान द्वारा] प्रतीत होने वाला, मुख्य [अनुकार्य] राम आदिमे रहने वाले [रत्यादि] स्थायिभावका अनुकरण रूप [नटगत स्थायिभाव ही रस] होता है। और अनुकरण रूप होनेके कारण ही [स्थायिभाव नामसे न कहा जाकर] उससे भिन्न [रस इस] नामसे व्यवहृत 'रस' कहलाता है।

अभिनव०—[इस प्रकारसे रसकी अनुभूतिमे कारणभूत] विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते हैं। [कटाक्ष भुजाक्षेप आदि] अनुभाव [नटकी] शिक्षा [अभ्यासादि] से, और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावोके अर्जन द्वारा [उपस्थित होते है]। स्थायिभाव [इनमेसे किसी साधनसे उपस्थित नही होता है] काव्यबल से भी प्रतीत नही होता है। [पूर्वत स्थित रहता है। केवल विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव रूप लिंगोसे नटगत रूपमे अनुमित होता है। वह भी रामादिगत रत्यादिके अनुकरणात्मक रूपमे अनुमित होता है। इसलिए अनुकरणात्मक होने से स्थायिभाव नामके बजाय 'रस' नामसे कहा जाता है]। रति शोक आदि शब्द अभिधाशक्ति द्वारा [शाब्द प्रक्रियाके अनुसार परोक्ष रूपमें] रत्यादि को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनयके रूपमे बोधित नही करते है।

इसका अभिप्राय यह है कि अभिनय चाहे वाचिक हो या शारीरिक, वह अर्थको साक्षात्कारात्मक रूपमें उपस्थित करता है इसलिए उससे रसास्वाद बन जाता है। परन्तु शब्द

१ कार्यैश्च। २ स्थायीभावो।

न हि वागेव वाचिकमपितु तया निर्वृतम् । अङ्गैरिवाङ्गिकम् । तेन—

विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।
बाडवेनेव जलधि शोक क्रोधेन पीयते ॥ इति

तथा—

शोकेन [1]कृतस्तम्भ तथा स्थितो [2]योऽनवस्थिताक्रन्द ।
हृदयस्फुटनभयार्ते [3]रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवै ॥

इत्येवमादौ च न शोकोऽभिनेयो, अपि तु अभिधेय ।

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघ ।
स्वेदोद्गम इव करतलसस्पर्शादेष मे वपुषि ॥ [रत्नावली २, ११]

प्रमाणसे उपस्थित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नही अपितु परोक्ष ज्ञान होता है । रति आदि शब्दोसे जब स्थायी भावोका कथन किया जाता है तो उनसे रति आदिका परोक्ष ज्ञान होता है, प्रत्यक्षात्मक नही । अगोसे किया जाने वाला आगिक अभिनय तो साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार वाचिक अभिनय भी साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । परन्तु वाचिक अभिनय तथा शब्द द्वारा किसी अर्थका कथन करना दोनो भिन्न वस्तुए हं । वाणीसे कहना और वाचिक अभिनय एक बात नही हैं । इस लिए नट जो आगिक या वाचिक अभिनय करता है वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका जनक होनेसे रसानुभूतिका उत्पादक होता है परन्तु वह जो रति शोक आदि शब्दोका प्रयोग करती है उससे सीता राम आदिकी रतिका परोक्ष ज्ञान ही होता है । अत रसास्वादका जनक नही होता है । इसीलिए रसादिकी स्वशब्दवाच्यताको दोष माना जाता है ।

अभिनव०—[क्योकि] वाणी [का नाम] ही वाचिक [अभिनय] नही है । अपितु उस [वाणी] के द्वारा किया जाने वाला [अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता हे] जसे [अगोका ही नाम आगिक अभिनय नहीं है अपितु] अगोसे किया जाने वाला [अभिनय] आगिक होता है । इसलिए—

अत्यन्त बढा हुआ, अगाध एव अनन्त होनेपर भी जसे बाडवाग्नि समुद्रको पी जाता हे इसी प्रकार [अत्यन्त बढ़े हुए अगाध] शोकको क्रोध नष्ट कर देता हे ।

अभिनव०—यहा, और—

अभिनव०—शोकके कारण निश्चेष्ट एव निरन्तर रोते हुए [राजा उदयन] ऐसे पडा हुआ है कि कही इसका हृदय [शोकाधिक्यसे] फट न जाय इससे भयभीत हुए मन्त्री चुपचाप [बिना रोए चिल्लाए] उसकी रक्षाकी प्राथना [भगवान्से] कर रहे है ।

अभिनव—इत्यादिमे शोकका अभिनय नही हो रहा है अपितु वह अभिधेय [स्वशब्दसे वाच्य] है । [इसके विपरीत निम्न श्लोकमे वह अभिनेय हे अभिधेय नहीं]—

अभिनव०—[चित्र] बनाते समय उसके आसुओके जो कण उसपर गिरे, वे उसके हाथके स्पर्शसे मेरे शरीरमे आए हुए पसीनेके समान शोभित हो रहे है ।

---

१ कृत । २ म भ तथा स्थितो योऽवस्थिता । ३ रक्षितु ।

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगत सुखात्मा रति स्थायिभावो-ऽभिनीयते न तूच्यते । अवगमनशक्तिह्यभिनयन वाचकत्वादन्या । अत एव स्थायिपद सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम् ।

तेन 'रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार' इति तदात्मकत्व तत्प्रभवत्व चायुक्तम्[1] ।

अभिनव०—अपने वाच्यार्थको कहने वाले इस श्लोकसे तो [उसके वाच्यार्थसे भिन्न, श्लोकके वक्ता राजा] उदयनगत सुखस्वरूप रति स्थायिभावका अभिनय किया जा रहा है न कि [शब्दसे] कहा जा रहा है। [शब्दकी अभिधा शक्ति तो अर्थका बोध कराती ही है परन्तु] अभिनय भी शब्दकी वाचक शक्ति से भिन्न बोध कराने वाली दूसरी शक्ति है। [और वह वाचक शक्तिके समान परोक्ष रूपसे नही अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणके समान साक्षात्कारात्मक रूपसे अर्थका बोध कराती है]। इसीलिए [स्थायिभावकी प्रतीति काव्यबलादिसे न होकर केवल अभिनय द्वारा होनेसे सूत्रकारने रसके लक्षणमे जहा विभाव अनुभाव आदिका उल्लेख किया है वहा] स्थायी पदका भिन्न विभक्तिमे भी प्रयोग नही किया है।

अर्थात् रसके लक्षणसूत्रमे स्थायी पदका किसी रूपमें भी प्रयोग नही किया गया है। 'भिन्न विभक्तिकमपि नोक्त' इसके कहनेका आशय यह है कि भट्ट लोल्लटने रस सूत्रकी व्याख्यामें 'स्थायिन' यह अध्यारोप करके 'विभावादिभि सयोगो अर्थात् स्थायिन' इस प्रकारकी व्याख्या की थी। उसके खण्डनकी दृष्टिसे यहा 'भिन्नविभक्तिकमपि स्थायिपद नोक्त' यह कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायिभावकी उपस्थिति नाटकमे अभिनयके द्वारा ही होती है और अभिनय अनुकरणात्मक होता है। इसलिए उपचित स्थायिभावका नाम रस नहीं है अपितु अनुक्रियमाण स्थायिभावका नाम रस है। जहा कही उसको स्थायिभाव रूप या स्थायिभावसे जन्य कहा गया है वह सब गौण व्यवहार समझने चाहिए। वास्तवमें तो अनुक्रियमाण स्थायिभाव को ही रस कहते हैं। यह शकुकके मतका सार है। इसीको उपसहार करते हुए प्रतिपादन करते है—

अभिनव०—इसलिए अनुक्रियमाण [जिसका अभिनय द्वारा अनुकरण किया जा रहा इस प्रकारकी नटगत] रति [स्थायिभाव] शृगार रस होती है। इसलिए [रसको भट्टलोल्लटने जो तदात्मक अर्थात्] स्थायिभावरूप अथवा [उत्पत्तिवादी द्वारा] स्थायिभावजन्य [तत्प्रभव] माना है सो [वास्तविक रूपमे] युक्तिसगत नही है।

शकुक मतमे मिथ्या ज्ञानरूप अनुकृतिसे अर्थक्रियाका उपपादन—

इस प्रकार शकुकके मतमे उपचित रतिके स्थानपर अनुक्रियमाण रत्यादि ही रस माने गए हैं। इसपर यह शका हो सकती है कि अनुक्रियमाण रत्यादि तो वास्तविक रत्यादि रूप नही हैं। उनको रत्यादि विषयक मिथ्याज्ञान रूप कहा जा सकता है। तब उस भ्रान्त प्रतीति से आनन्दादि रूप वास्तविक रतिके कार्यकी अनुभूति कैसे होगी। इस शकाको मनमे रख कर ग्रन्थकार अगली पक्तिमें उसका समाधान यह करते हैं कि मिथ्या ज्ञानसे भी अर्थक्रिया देखी जाती है। रज्जुमें अन्धेरेके कारण सर्पभ्रान्ति हो जानेपर, उससे भय आदिकी उत्पत्तिके समान अनुकरणात्मक रत्यादिकी प्रतीतिसे भी वास्तविक रत्यादिके समान ही रसास्वाद होता है। इसी बातको एक श्लोक द्वारा पुष्ट करते हुए ग्रन्थकार शकुककी ओरसे कहते हैं—

---

१ च युक्तम् ।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

मणिप्रदीपप्रभयोमणिबुद्ध्याभिधावतो ।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति ।। इति ।

न चात्र नतक एव सुखीति प्रतिपत्ति । नाप्ययमेव राम इति । न चाप्यय न सुखीति । नापि राम स्याद्वा न वायमिति । नापि तत्सदृश इति । किन्तु सम्येङ्—मिथ्या-सशर्य-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, य. सुखी राम असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह—

अभिनव०—मिथ्याज्ञानसे भी [रसास्वादादि रूप] अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] देखी जाती हे ।

अभिनव०—मणिकी प्रभा तथा प्रदीपकी प्रभाको देख कर और [उनको] मणि समझकर [उनको उठानेके लिए] भागनेवाले दो व्यक्तियोमे मिथ्याज्ञानके समान होने पर भी अर्थक्रिया [अर्थात् फलप्राप्ति] मे भेद पाया जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कही दूरसे किसी वस्तुपर पडती हुई मणिकी प्रभा तथा दूसरी वस्तु पर पडती हुई प्रदीपकी प्रभाको मणि समझ कर दो व्यक्ति उनको लेने दौडे । उन दोनोने वास्तव किसी अन्य दूरस्थ वस्तुपर पडती हुई उनकी प्रभाको ही देखा है मणिको किसी ने नही देखा है । इसलिए उस प्रभाको मणि समझना दोनोका मिथ्या ज्ञान है । परन्तु जब वे जहा वह प्रभा पड रही है वहा जा कर देखते है तो उनको मालूम होता है कि यह तो प्रभा मात्र है । किन्तु साथ ही उनको उस प्रभाके आनेके मूलस्रोतका भी पता चल जाता है तब उनमेंसे एकको मणिकी, और दूसरेको प्रदीपकी प्राप्ति उस प्रभाके मूल कारणके रूपमें होती है । इस प्रकार मिथ्याज्ञानमें दोनोकी समानता होनेपर भी उनके फलप्राप्तिमें भेद रहता है । यह इस श्लोकका भाव है ।

इस प्रकारके उदाहरणोके द्वारा यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि मिथ्याज्ञान या भ्रान्तिसे भी यथाथ वस्तुके समान फलकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु शकुकके मतसे अनुक्रियमाण रतिको जो रस कहा गया है उसमे भ्रान्ति या मिथ्याज्ञानका अवसर नही है । नाटक देखने के समय जो नटमें राम सीतादिकी प्रतीति होती है उसको मिथ्या प्रतीति नही कहा जा सकता है । साथ ही उसको सम्यक प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता है । न वह सादृश्य प्रतीति है और न वह सन्देहात्मक प्रतीति ही मानी जा सकती है । वास्तव में वह सम्यक, मिथ्या, सादृश्य तथा सशयात्मक सभी प्रतीतियोसे भिन्न प्रतीति है । जसे घोडेके चित्रको देख कर यह घोडा है यह प्रतीति होती है । परन्तु उस प्रतीतिको भी सम्यक प्रतीति अथवा मिथ्या प्रतीति नही कहा जा सकता है । और न उसको सादृश्य प्रतीति अथवा सन्देहात्मक प्रतीति कहा जा सकता है । इसी प्रकार चित्रतुरगादि न्यायसे नटमे रामादिकी प्रतीति होती है वह भी सब प्रकारकी प्रतीतियो से विलक्षण होती है । यही बात शकुक मतका प्रतिपादन करते हुए अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

अभिनव०—और यहा (१)नट ही सुखी [शृगाररस युक्त राम] है यह प्रतीति नही होती है । और (२)न यही राम है इस प्रकारकी प्रतीति भी नहीं होती ।(३)न यह सुखी नही है यह प्रतीति होती है । और (४) नाही, यह राम है या नहीं इस प्रकारकी

प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्व, न विपर्यय ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लव ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभव कया ॥

सशयात्मक] प्रतीति होती हे । किन्तु चित्रतुरगादिन्यायसे [अर्थात् घोडेके चित्रको देख कर जिस प्रकारकी प्रतीति होती है उस प्रकारकी] सम्यक, मिथ्या, सशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियोसे भिन्न प्रकारकी, जो सुखी राम है वह ही यह [नट] हे इस प्रकारकी प्रतीति होती है । [अत एव उसको निश्चित रूपसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता है] । इसीसे [निम्न कारिकाओमे] कहा हे—

[नाटकमे नटको रामादिके रूपमे देखते समय] न सन्देहकी प्रतीति होती हे न यथार्थताकी, और न भ्रान्तिकी प्रतीति होती है । यह [नट] वह [राम रूप] है इस प्रकारकी बुद्धि होती हे और यह [नट वास्तवमे] वह [रामादि रूप] नही है इस प्रकारकी भी बुद्धि होती है ।

अभिनव०—इस लिए विरुद्ध प्रकारकी बुद्धियोके सम्मिश्रणके कारण पथक् रूपसे भ्रम आदिका निश्चय न हो सकनेके कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभवको किस प्रकारसे [भ्रम आदि रूपसे] कहा जाय [यह निश्चय नही किया जा सकता है] ।

इस प्रकार यहा तक ग्रथकारने भरतके रससूत्रकी व्याख्या करते हुए भट्ट लोल्लट तथा शकुक दो प्राचीन व्याख्याताओके मतोका उल्लेख किया है । इन दोनोके मतोका साराश यह हे कि भट्ट लोल्लटके मतमें विभावादिसे उपचित रत्यादि स्थायिभावका ही नाम रस है । 'तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस' । भट्ट लोल्लटके अनुयायी दण्डी आदि अन्य आचार्योका भी यही मत है । परन्तु शकुक इस मतसे सहमत नही हैं उनके मतमें वास्तविक स्थायिभाव रस नही है । अपितु 'रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार' अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायिभावको रस कहते हैं । और अनुकरणमे जो रामादि की प्रतीति होती है उसको मिथ्याज्ञानात्मक नही कहा जा सकता है । अपितु वह सम्यक, मिथ्या सादृश्य, सशयादि रूप समस्त प्रतीतियोसे भिन्न प्रकारकी प्रतीति होती है ।

काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशमें रससूत्रका विवेचन करते हुए अभिनवभारतीके ही आधारपर इन मतोका उल्लेख अपने ग्रथमें किया है । परन्तु वह इतना स्पष्ट नहीं है । शकुकके मतकी अन्य सब बाते तो उन्होने दी है, किन्तु अनुकरणात्मक रत्यादि ही रस है यह जो इस मतकी सबसे मुख्य बात है उसको उन्होने स्पष्ट रूपसे नही कहा है । इसलिए काव्यप्रकाशमें यह मत भली प्रकार समझमें नही आता है । शकुकके मतका प्राण ही रसकी अनुकरणात्मकता है । उसके स्पष्ट उल्लेख किए बिना काव्यप्रकाशकारका उल्लेख सर्वथा अपूर्ण है ।

शकुकके मतका खण्डन—

इसके आगे ग्रन्थकार शंकुकके इस मतका खण्डन करेंगे । यह खण्डन उन्होने 'उपाध्याय'के नामसे किया है । 'तदिदमन्तस्तत्त्वशून्यमिति उपाध्याया' यह 'उपाध्याय' कौन है यह स्पष्ट नही है । परन्तु इससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्तके आचार्य भट्टतोतका ग्रहण करना चाहिए । भट्टतोतकी व्याख्या पद्धतिका अवलम्बन कर ग्रन्थकार शकुकके रसानुकरणवादका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं—

तदिदमप्य तस्तत्त्वशून्य न विमदक्षममित्युपाध्याया[1]। तथाहि—'अनुकरणरूपो रस' इति यदुच्यते तत्कि १ सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत २ नटाभिप्रायेण। ३ कि वा वस्तुवत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुर्व्याख्यातार खल्वेव विवेचयन्ति' इति। ४ अथ भरतमुनिपक्षानुसारेण।

आद्य पक्षोऽसगत। किंचिद्धि प्रमाणेनोपलब्ध तदनुकरणमिति शक्यते वक्तुम्। यथा—'एवमसौ सुरा पिबतीति'। सुरापानानुकरणत्वेन पय पान प्रत्यक्षावलोकित प्रतिभाति। इह च नटगत कि तदुपलब्ध यदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीर, तन्निष्ठ प्रतिशीषकादि, रोमाचक-गद्गद्कादि-भुजाक्षेपवलनप्रभृति ? भ्रूक्षेपकटाक्षादिक च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति। जडत्वेन, भिन्नेन्द्रिय-ग्राह्यत्वेन, भिन्नाधिकरणत्वेन, च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्यामुख्यावलोकने च तदनु-करणप्रतिभास। न च रामगता रतिमुपलब्धपूर्विण केचित्। एतेन 'रामानुकारी नट' इत्यपि निरस्त प्रवाद।

अभिनव०—यह [शकुकका रसानुकरणवाद] भी साररहित [सिद्धान्त] है जो परीक्षामे टिक नही सकता है। क्योकि [रत्यादि स्थायिभावके] अनुकरण रूप रस है यह जो [शकुक महोदयकी ओरसे] कहा जाता है वह क्या १ सामाजिकके अभिप्रायसे कहा जाता है ? २ अथवा नटके अभिप्रायसे ? अथवा ३ वस्तुस्थितिके विवेचक व्याख्याताओके अभिप्रायसे कहा जा रहा है ? जसे कि कहा जाता है कि व्याख्याता लोग [रससूत्रकी] इस प्रकार विवेचना करते है। अथवा ४ भरतमुनिके वचनके अनुसार स्थायिभावके अनुकरणको रस कह रहे है ?

प्रथम विकल्प 'सामाजिकाभिप्रायेण' का खण्डन—

इस प्रकार उपाध्याय महोदयके मतानुसार ग्रथकारने शकुकके रसानुकरणवादके खण्डन के लिए चार विकल्प किए ह। अब आगे उनमेंसे प्रत्येकका अलग अलग खण्डन करेंगे। सबसे पहले विकल्पका यह अभिप्राय है कि सामाजिककी दृष्टिसे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहा जाता है। इस मतके खण्डनमें ग्रथकारने उपाध्याय पक्षसे जो युक्तिया दी हैं अगले अनुच्छेदसे उनका प्रारम्भ करते हैं—

अभिनव०—पहिला पक्ष असगत है। क्योकि किसी वस्तुके प्रमाणसे ग्रहण होनेपर [ही] वह [किसी अन्यका, या उसका कोई अन्य] अनुकरण है यह कहा जा सकता हे। जैसे यह [पुरुष, जसे कि मै दूध पी रहा हू] इस प्रकार शराब पीता है। यहाँ सुरापानके अनुकरण रूपमे दुग्धपान प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा हे। और यहा [रस के प्रसगमे] नटमें ऐसी क्या बात देखी जाती है जो अनुकरण रूपसे प्रतीत होती यह विचार करना होगा [परन्तु विचार करने परभी ऐसी कोई बात नही मिलेगी]। क्या उस [नट] का शरीर [अनुकरण रूप है] अथवा २ उस [नटके शरीर] पर स्थित मुकुट आदि [अनुकरण रूप रस है] अथवा ३ रोमाच गद्गद्, [कण्ठ भर जाना] आदि, अथवा भुजाक्षेप इत्यादि [अनुभाव]? और भ्रू कटाक्षादि [इनको ही अनुकरण

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते। तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयते इति चिन्त्यम्।

ननु प्रमदादिभिः कारणैः, कटाक्षादिभिः कार्यैः, धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिंगभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या, तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति।

हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणता वाचोयुक्तिः।

रूपमे कहा जा सकता है परन्तु इनमेसे कोई भी वस्तु] चित्तवृत्ति रूप रत्यादि [स्थायिभाव] के अनुकरण रूपमे किसीको प्रतीत नही होता है। [शरीर प्रतिशीषक से लेकर कटाक्षादि पर्यन्त सबके ही] जड होनेसे, भिन्न इन्द्रियसे ग्राह्य होनेसे [अर्थात् रत्यादि स्थायिभावका ग्रहण मनसे होता है तथा शरीरादिका ग्रहण चक्षु इन्द्रियसे होता है इसलिए रति तथा शरीरादि भिन्न इन्द्रियोसे गृहीत होनेके कारण एक नही हो सकते है। इसी प्रकार रत्यादिका अधिकरण आत्मा, तथा प्रतिशीर्षकादिका अधिकरण शरीर होनेसे] भिन्न आश्रय होनेके कारण [यह सब] उन [रत्यादि स्थायिभावो] से अत्यन्त भिन्न है। [इसलिए नटमे पाई जाने वाली जिन बातोको अनुकरण रूप मानकर रस कहा जा सकता था उनमेसे कोई भी रस कहलाने योग्य नहीं है तब शकुक महोदय किसको अनुकरणात्मक मान कर रस कहना चाहते है] ? दूसरी बात यह है कि मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] दोनोको देखनेपर यह उसका अनुकरण है यह प्रतीत होता है। परन्तु यहा रामगत रति [रूप मुख्य अनुकार्य] को [सामाजिकोमेसे] किसीने नही देखा है। अत अनुकरण रूप नही है ? इसलिए नट रामका अनुकरण करता है यह मत भी खण्डित हो जाता है।

अभिनव०—(२) [शकुककी ओरसे—] यदि यह कहा जाय कि—नटगत [रत्यादि रूप] चित्तवृत्तिका ही ग्रहण होनेपर, रतिके अनुकरण रूप शृ गार [रस] है। तो भी [उपाध्यायपक्ष] वह किस रूपमे प्रतीत होती इसका विचार करना होगा।

अभिनव०—[शकुक पक्ष]—प्रमादादि [विभाव रूप] कारणो, कटाक्षादि [अनुभाव रूप] कार्यो, तथा धृति आदि [व्यभिचारिभाव रूप] लिंग रूप सहकारियोके द्वारा [विभाव रूप कारणसे] कार्य रूप, [अनुभावादि रूप कार्योसे] कारण रूप, तथा [व्यभिचारिभाव रूप सहकारियोकी] सहचारी रूपसे जो लौकिक चित्तवृत्ति [रति] प्रतीति योग्य होती है उसी रूपसे नटगत चित्तवृत्ति प्रतीत होती है [और वह ही रस नामसे कही जाती है। यह शकुककी ओरसे कहा जा सकता है। इसके खण्डनमे कहते है कि]—

अभिनव०—तब तो वह रति रूपमें ही गृहीत होती है [रतिके अनुकरण रूपमे नहीं] इसलिए उसको रतिका अनुकरण कहना दूर रहा [वह तो रति रूप ही है। हन्त अव्यय हर्ष खेद दोनो अर्थोमे आता है]। यहाँ प्रसन्नता का सूचक है।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिका, इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेष ।

अस्त्वेव, किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचारिरूपा अपिकाव्यशिक्षादिबलोपकल्पिता कृत्रिमा सन्त किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैगृ ह्यन्ते न वा। यदि गृह्य ते तदा तै कथ रतेरवगति ।

नन्वत एव प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धे कारणम् ।

अभिनव०—[शकुक पक्षकी ओरसे प्रश्न]—अच्छा अनुकाय [रामादिमे रत्यादिकी जो वास्तविक प्रतीति होती है उस] मे वे [सीतादि रूप] विभाव आदि वास्तविक होते हैं और यहा [नाटकका प्रयोग करने वाले नट रूप] अनुकर्तामे वसे [अर्थात् वास्तविक विभावादि] नही होते यह दोनोका भेद है [इसलिए नटगत रत्यादिकी प्रतीतिको रति न कह कर रतिका अनुकरण अथवा अनुकरणात्मक रति कहा जाता है] ।

इसका उपाध्याय पक्षकी ओरसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

अभिनव०—यही सही। [आपका कहना ठीक है] परन्तु वे विभाव आदि उस [नट गत रति] के कारणरूप [विभाव] काय रूप, [अनुभाव] तथा सहचारी रूप [व्यभिचारिभाव] न होने हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदिके द्वारा कल्पित होनेसे कृत्रिम होते है। [यह निश्चयसे ठीक है, कि तु कृत्रिम होने पर भी] वे सामाजिकोके द्वारा कृत्रिम रूपसे ग्रहण किए जाते है अथवा नही। यदि [सामाजिकके द्वारा वे कृत्रिम रूपसे ही] ग्रहण किए जाते हैं तो उन [कृत्रिम साधनोसे वास्तविक] रतिकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? अर्थात् [उनसे वास्तविक या अवास्तविक किसी प्रकारकी रतिका ज्ञान नही होना चाहिए] ।

अभिनव०—[इस पर शकुक पक्षकी ओरसे फिर यह कहा जा सकता है कि]— इसीलिए तो [कृत्रिम साधनोसे] प्रतीयमान रति [वास्तविक रति नही होती है अपितु] अनुकरण बुद्धिका कारण होती है [अर्थात अनुकरणात्मक रत्यादिकी प्रतीति होती है। और उसी अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहा जाता है] ।

उपाध्याय पक्षसे आगे इसका खण्डन करेंगे। खण्डनमें दो युक्तिया दी गई हैं। पहिली युक्तिका अभिप्राय यह है कि यहा रतिकी प्रतीतिके दो प्रकारके कारण हैं एक प्रसिद्ध या वास्तविक विभावादि रूप कारण, और दूसरे अप्रसिद्ध एव कृत्रिम अवास्तविक विभावादि रूप कारण। जहा पर किसी पदाथके प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दो प्रकारके कारण होते ह वहा सामा य पुरुष तो कायको देखकर उसके प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान कर सकता है। अप्रसिद्ध कारणका अनुमान तो विशेष रूपसे उस विषयका ज्ञान रखने वाला ही कर सकता है। जसे एक रोग कई कारणोसे हो सकता है। साधारण लोग रोगको देखकर उसके साधारण रूपसे प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान करते हैं। कि तु उसका विशेषज्ञ वैद्य या डाक्टर विशेष कारणका भी अनुमान कर सकता हे। यदि साधारण पुरुष रोगके सामा य प्रसिद्ध कारणके बजाय अ य कारणकी कल्पना करने लगता है तो वह प्रामाणिक नही समझा जाता है। उसकी वह कल्पना भ्रान्तिमात्र मानी जाती है। इसी प्रकार

तन्न । कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमान तावद्युक्तम् । असुशिक्षतेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य । यथा वृश्चिकविशेषाद् वृश्चिकेस्येव गोमयस्यानुमान । तत्पर मिथ्याज्ञानम् ।

यहा रत्यादिके वास्तविक तथा कृत्रिम दो प्रकारके कारण हं । उनमेसे जो वास्तविक विभावादि हं वे ही रत्यादिके प्रसिद्ध कारण हं और कृत्रिम विभावादि रत्यादिके अप्रसिद्ध कारण हं । सामा य सामाजिक पुरुष रत्यादि कार्यों या कारणोके द्वारा प्रसिद्ध कारण आदिका ही अनुमान कर सकता है । इसलिए उस सामाजिककी दृष्टिमें प्रनीयमान रत्यादि अपने वास्तविक कारणोसे ही उत्पन्न हुई हैं और वास्तविक रति रूप ही है । रतिका अनुकरण रूप नही ।

इस स्पष्टीकरणमें हमने रोगके प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो प्रकारके कारणो की चर्चा की है । पर तु ग्र थकारने उसके स्थानपर [वृश्चिक] बिच्छूका उदाहरण दिया है । साधारण रूपसे बिच्छूसे बिच्छू पैदा होता है । पर तु इसके अतिरिक्त दही तथा गोबरके मिश्रणसे भी बिच्छू पदा होता है । ऐसा कहा जाता है । पर तु गोबरको बिच्छूका अप्रसिद्ध कारण ही कहा जा सकता है प्रसिद्ध कारण नही । इसलिए किसी बिच्छू विशेषको देखकर सामा य रूपसे वह बिच्छूसे ही उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है । न जानने वाला यदि उसको गोबरसे उत्पन्न बताने लगे तो वह केवल मिथ्या ज्ञान ही होगा । कोई विशेषज्ञ ही किसी विशेष बिच्छूको गोबरसे उत्पन्न बिच्छू कह सकता है साधारण आदमी नही । इसी प्रकार सामाजिक पुरुष रति आदिके प्रसिद्ध कारणोका ही अनुमान कर सकता है । अप्रसिद्ध कारणोका नही । इसलिए सामाजिक की दृष्टिमें नटगत रत्यादि अपने प्रसिद्ध कारण अर्थात वास्तविक विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण वास्वविक रत्यादि रूप ही है रत्यादिके अनुकरण रूप नही । इसलिए रत्यादिके अनुकरणको रस कहना उचित नही है । इसी बातको ग्र थकार अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

अभिनव०—यह ठीक नही है । [प्रसिद्ध कारणसे भिन्न] दूसरे कारणोसे उत्पन्न कार्योमे उनका [या उस प्रकारका] ज्ञान होनेपर सुशिक्षित [उस विषयके विशेषज्ञ] ही [प्रसिद्ध कारणको छोड कर] दूसरी वस्तु [अर्थात् अप्रसिद्ध कारण] का ठीक अनुमान कर सकते है । असुशिक्षित [साधारण] पुरुषके द्वारा तो उसी प्रसिद्ध कारण का [अनुमान किया जा सकता है] । जैसे किसी विशेष बिच्छू [को देख कर उस] से [उसके कारण रूपमे] बिच्छूके समान गोबरका अनुमान [यदि कोई सामान्य पुरुष करे तो] वह केवल मिथ्या ज्ञान होगा [इसी प्रकार सामाजिक पुरुष नटगत रत्यादिके कारण रूपमें प्रसिद्ध कारणोका ही अनुमान कर सकता हे । इसलिए सामाजिककी रत्यादि प्रतीतिको अनुकरणात्मक प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । और इसीलिए स्थायिभाव के अनुकरणको रस माननेका सिद्धान्त भी उचित नही है] ।

यह उदाहरण तो ऐसा दिया था कि जहाँ एक प्रकारका पदाथ अनेक कारणोसे उत्पन्न हो सकता है वहा सामा य रूपसे प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान किया जा सकता है । अब आगे ऐसा उदाहरण देते हैं जिसमें एक पदाथका एक ही कारण है । उस काय रूप पदार्थसे केवल उस कारण रूप पदाथका ही अनुमान हो सकता है । जैसे धूमसे केवल वह्निका अनुमान हो सकता है । इसी प्रकार यदि रत्यादिकी उत्पत्तिमे भी केवल वास्तविक विभावादिको कारण माना

१ गोमयस्येवानुमान वृश्चिकस्येव ।

यत्रापि लिंगज्ञान मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमान युक्तम्। न हि वाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिगात् तदनुकारानुमान युक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा ।

नन्वक्रुद्धोऽपि नट क्रुद्ध इव प्रतिभाति ।

सत्यम् । क्रुद्धेन सादृश्य च भ्रुकुट्यादिभि । गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति । नैतावतानुकार कश्चित् । न चापि सामाजिकाना सादृश्यमतिरस्ति । सामाजिकाना च न भावशून्या नतके प्रतिपत्तिरित्युच्यते । अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्ति ।

जाय कृत्रिम विभावादिको कारण न माना जाय तो भी अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहनेका शकुकका सिद्धात नही बनता है । क्योकि उस दशामें कृत्रिम रत्यादि अथवा रत्यादिके अनुकरणात्मक रूपका उपपादन ही नही किया जा सकता है । जसे धूमसे वह्निका अनुमान होता है । परतु यदि कोई धूलिपटलको या कोहरे आदिको धूम समझ कर अग्निका अनुमान करने लगे तो उसका वह अनुमान मिथ्या अनुमान या अनुमानाभास तो होगा । परतु उसे मिथ्या या कृत्रिम अग्नि या अग्न्याभासका अनुमान नही कहा जायगा । इसी प्रकार कृत्रिम विभावादि से रत्यादिका मिथ्या ज्ञान या भ्रांति तो हो सकती है परतु उसको कृत्रिम रति या रतिका अनुकरण नही कहा जा सकता है । इसी बातको शकुकके मतका खण्डन करते हुए ग्रथकार अगले अनुच्छेद उपाध्याय पक्षकी ओरसे मे कहते हैं—

अभिनव०—और जहा [धूलिपटल आदिमे] धूमादि लिंगका मिथ्याज्ञान होता है वहा भी [कृत्रिम वन्हि या] अग्न्याभासका अनुमान मानना युक्ति सगत नही है । क्योकि धूम रूपसे प्रतीत होने वाले वाष्पसे उसके धूमके समान प्रतीत होनेपर भी बनावटी वन्हि [वह्न्यनुकार] का अनुमान नही होता हे । अथवा धूमाकारसे प्रतीत होने वाले कोहरेसे अग्निके समान प्रतीत होने वाले जपापुष्प [गुडहलके लाल फूल] की प्रतीत नही होती है । [इसलिए कृत्रिम विभावादिसे भी कृत्रिम रत्यादि या रत्यादिके अनुकरणकी प्रतीति नही हो सकती है । इसलिए अनुक्रियमाण रत्यादिको रस मानने वाले शकुकका सिद्धान्त ठीक नही है । यह उपाध्यायका मत है] ।

अभिनव०—[पूवपक्ष—इस पर शकुक मतकी ओर फिर यह पूव पक्ष किया जा सकता है कि—] अच्छा क्रुद्ध न होने पर भी [अभिनय करते समय] नट क्रुद्ध-सा प्रतीत होता हे [उसीको क्रोधका अनुकरण कहा जा सकता है । इसलिए रत्यादिके अनुकरण या अनुक्रियमाण रत्यादिको रस माननेमे कोई दोष नही है] ।

अभिनव०—[उत्तरपक्ष—आपका कहना] ठीक है । [परन्तु वहाँ क्रुद्धका अनुकरण नहीं है अपितु] क्रुद्धके सदृश [प्रतीत होता] है । और वह सादश्य भ्रुकुटी आदिके द्वारा होता हे । जसे [यथा गौस्तथा गवय इत्यादि उदाहरणोमे] मुखादिके द्वारा गौका गवय [नील गाय] के साथ सादृश्य होता है । परन्तु इससे कोई अनुकरण-त्मकता नहीं सिद्ध होती है । और वास्तवमे सामाजिकको रामके सादृश्यकी प्रतीति ही

यच्चोक्त रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्ति । तदपि यदि तदात्वे इति निश्चित तदुत्तर-कालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथ न तत्त्वज्ञानम् । बाधकसद्भावे वा कथ न मिथ्या-ज्ञानम् । वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात् । तेन विरुद्धबुद्धि-द्वयसम्भेदादित्यसत् । नतकान्तरेऽपि च रामेऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति । ततश्च रामत्व सामान्यरूपमित्यायातम् ।

यच्चोच्यते विभावा काव्यादनुसन्धीय ते, तदपि न विद्म । न हि ममेय सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिनटस्य । अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्या क्रिय त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते । तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धान स्यात् । तस्यैव हि मुख्यत्वेन अस्मिन्नयमिति सामाजिकाना प्रतिपत्ति ।

नही होती है । [यदि सामाजिकको नटमे रामके सादृश्यकी प्रतीति हो जाय तो उसमे जो भावावेश होता है वह नही रह सकता हे] परन्तु सामाजिकोकी नटके विषयमे भावावेश रहित प्रतीति नही होती है फिर भी उस [रत्यादि] के अनुकरणकी प्रतीति होती है यह कथन सवथा सारहीन है ।

अभिनव०—और जो यह कहा है कि 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति [नट के विषयमे] होती है । वह भी यदि उस यह समय निश्चित प्रतीति है तो उत्तरकालमे बाधकका आभाव होनेसे उसको तत्त्वज्ञान क्यो नहीं कहा जाय ? और [४ उत्तर काल मे उसका] बाध होनेपर उसको मिथ्याज्ञान क्यो न माना जाया ? [तीसरा कोई माग नही है] । वास्तविक दृष्टिसे तो आख्यान वस्तु [वृत्त] मे बाधकके अनुपस्थित होनेपर भी वह मिथ्याज्ञान ही है । इसलिए [पृष्ठ ४५० पर उद्धृत कारिकामे जो यह कहा है कि नटमे यह राम है और यह राम नही है इत्यादि] दो विरुद्धबुद्धिके सम्बन्धके कारण [यह जो पृ० ४५० पर कारिकामे कहा था] यह कहना भी असगत है । अन्य नटोमे भी यह राम है इस प्रकार की प्रतीति होती है इसलिए रामत्व सामान्य रूप है यह परिणाम निकलता है ।

अभिनव०—और जो यह कहा था कि 'विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते हैं' वह भी समझमे नही आता [अर्थात् ठीक प्रतीत नही होता है] । क्योकि यह मेरी सीता है इस प्रकारकी नटको कोई प्रतीति नहीं होती है । यदि [आपके कहनेका यह अभिप्राय है कि काव्यके द्वारा विभावादि] सामाजिकके लिए उस प्रकारकी प्रतीतिके योग्य बनाए जाते है इसको काव्य बलसे उपस्थित होना [अनुसन्धान] कहते हैं तो [विभाव आदिकी अपेक्षा] स्थायिभाव [रत्यादि] के विषयमे वह अनुसन्धान और अधिक होगा । क्योकि उसी [स्थायिभाव रत्यादि] के मुख्य होने से इस [राम आदि] मे यह [रत्यादि स्थायिभाव] है यह सामाजिकोको प्रतीति होती है । [इसलिए रत्यादिको ही रस कहना उचित होगा न कि रत्यादिके अनु-करण को । यह खण्डन करने वाले उपाध्याय महोदयका आशय है] ।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसरम्भगर्भ-महीयान् अभिनयरूपताविवेक कृत स उत्तरत्र स्वावसरे चचयिष्यते (अ० १४)। तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरण रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थ प्रतिपत्ति —'राम तच्चित्तवृत्ति वानुकरोमि' इति। सदृशकरण हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्य कर्तुम्। अथ पश्चात् करणमनुकरण तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मकता प्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकार अपितूत्तमप्रकृते शोकमनुकरोतीति। तर्हि केनेति चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्। न चाप्यश्रुपातादिना शोकस्याऽनुकार, तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

अभिनव०—और [शकुक महोदयने] जो वाग् तथा वाचिकका भेद दिखलाते हुए अभिनयरूपताका महान् विवेक दिखलाया है [अर्थात हम अभिनय के विशेषज्ञ हैं इस प्रकारका जो प्रदर्शन शकुक महोदयने वाग् वाचिक का भेद दिखलाते हुए किया है] उसकी आगे चल कर [१४ वें अध्यायमे] अपने उचित अवसर ही आलोचना करेंगे। इसलिए सामाजिकके प्रतीतिके अनुसार 'स्थायिभावका अनुकरण रस है' यह कहना अनुचित है।

द्वितीय विकल्प 'नटाभिप्रायेण' का खण्डन—

शकुकके मतकी आलोचना प्रारम्भ करते समय प्रारम्भमे चार विकल्प किए थे कि सामाजिक, नट, व्याख्याता अथवा भरतमुनि इन चारोमेसे किसकी दृष्टिसे आप स्थायिभावके अनुकरणको रस कहना चाहते हैं। इन चारो विकल्पोमे से सामाजिककी दृष्टिसे स्थायिभावके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है यह कह कर यहा तक प्रथम विकल्पका खण्डन किया है। अब इसके बाद दूसरे विकल्पको लेते हैं। दूसरे विकल्पमे नटके अभिप्रायसे स्थायिभावके अनुकरणको रस माना गया है। उसका खण्डन करते हुए आगे उपाध्याय महोदय कहते हैं—

अभिनव०—और न नटको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि 'मै राम का अथवा उनकी चित्तवृत्तिका अनुकरण कर रहा हू।' [और वास्तवमे नट रामका अनुकरण कर भी नही सकता है। क्योकि] सदृश करना अनुकरण कहलाता है। वह अनुकार्य [प्रकृति] के जाने बिना नहीं किया जा सकता है [और उन मूल प्रकृतिभूत रामादिको नटने देखा ही नही है तब उनके सदृश वह कैसे कर सकता है]। और यदि पश्चात् करण अनुकरण माना जाय तो [नट ही नही सारा ससार ही रामादिके बाद रत्यादिका अनुभव करता है इसलिए न केवल नाटक देखनेके समय अपितु उससे भिन्न समयमे] लोकमे भी अनुकरणात्मकता अतिव्याप्त हो जायगी। [अर्थात् लौकिक रत्यादिको देख कर भी रसकी अनुभूति होने लगेगी]।

अभिनव०—और यदि यह कहा जाय कि [राम आदि] किसी नियत विशेष व्यक्तिका अनुकरण नहीं होता है अपितु [सामान्य रूपसे, नट] उत्तम प्रकृतिके [अपने] शोकका अनुकरण करता है तो किस [साधन] से [अनुकरण नट करता है] यह

इयत्तु स्यात्—उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावास्ताननुकरोमीति । तत्रापि कस्योत्तम-प्रकृते । यस्य कस्यचिदिति चेत् सोऽपि विशिष्टता बिना कथ बुद्धावारोपयितु शक्य । य एव रोदितीति चेत् स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृ भाव ।

किञ्च नट शिक्षावशात् स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसवादात् केवलमनुभावान् प्रदशयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृतिपुरस्कारेण पठश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीति नत्वनुकार वेदयते । कान्तावेषानुकारवद्धि न रामचेष्टित-स्यानुकार । एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभि ।

विचारना होगा है । (१) शोकसे [उत्तमप्रकृतिके शोकका अनुकरण नट करता है यह] नही कहा जा सकता है क्योकि उस [नट] को [वास्तवमे किसी प्रकारका] शोक नही होता है । (२) और न अश्रुपात आदिसे शोकका अनुकरण होता है [शोक मानस चित्तवृत्त्यात्मक' और अश्रुपातादिके दहिक व्यापार होनेके कारण] उस [अश्रु-पातादि] के उस [शोक] से अत्यन्त भिन्न होनेसे । यह बात पहिले ही कह चुके है ।

अभिनव०—केवल इतना तो कहा जा सकता है कि उत्तमप्रकृतिके जो शोकके अनुभाव है उनका 'मै [नट] अनुकरण करता हू' । परन्तु उसमे भी किस उत्तम प्रकृतिके [शोकानुभावोका अनुकरण करता है यह प्रश्न उपस्थित होता है । 'जिस किसीके' यह कहा जाय तो ['निर्विशेष न सामान्य' इस नियमके अनुसार] वह भी विशेषके बिना बुद्धिमे [समझ मे] कैसे आ सकता हे ? 'जो इस प्रकार [अर्थात् मुझ नटकी तरह] रोता है [मै उसका अनुकरण करता हू] यदि यह कहा जाय तो उस [प्रतीति] के बीचमे नटका अपना स्वरूप भी प्रविष्ट हो जाता हे इसलिए अनुकार्य और अनुकर्ताका भाव समाप्त हो जाता है ।

अभिनव०—और नट शिक्षाके कारणसे अपने [सीता रामादि रूप] विभावोके स्मरण द्वारा चित्तवृत्तिके साधारणीभावके कारण हृदयकी एकरूपतासे केवल [तदुचित] अनुभावोको प्रकाशित करता हुआ काव्यको [अनुभावानुरूप] उचित कण्ठध्वनि [काकु] से उच्चारण करता हुआ [तदनुरूप] चेष्टा करता है । केवल इतने अशमे होने वाली उसकी प्रतीति अनुकरणका बोध तो नही कराती हे । क्योकि जैसे स्त्रीके वेषका अनुकरण होता है इस प्रकार रामकी चेष्टाओका अनुकरण नही होता है । यह बात हम प्रथमाध्यायमे भी दिखला चुके है ।

तृतीय विकल्प 'व्याख्याकाराभिप्रायेण' का खण्डन —

इस प्रकार यहाँ तक द्वितीय विकल्पका खण्डन किया । अर्थात् द्वितीय विकल्पके अनुसार सामाजिक की दृष्टिसे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है । नटकी दृष्टिसे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है यह बात प्रथम विकल्पके खण्डनमें कह चुके थे । अब शकुकके रसानुकरणवादका तृतीय विकल्प आता है । इस विकल्पका खण्डन आगे करते हैं—

नापि वस्तुवत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तौ । यच्च वस्तुवृत्त तद्दशयिष्याम ।

[1]नापि मुनिवचनमेवविधमस्ति क्वचित् 'स्थाय्यनुकरण रस' इति। नापि लिगमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवा गान तालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादि विपयये लिगमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्याम । 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (१-११७) इत्यादि त्व यथापि शक्यगमनिकमिति ।

अभिनव०—और न वस्तुस्थितिके [विवेचक व्याख्याताओके] अनुसार उन [स्थायिभावो] का अनुकरण हो सकता है। क्योकि बादको प्रतीत होने वालेको वस्तुवृत्त नही कह सकते हे। और जो वास्तवमे वस्तुवत्त है उसको हम आगे चल कर कहेगे।

चतुथ विकल्प 'भरताभिप्रायेण' का खण्डन—

अभिनव०—और न भरतमुनिका ऐसा कोई वचन कही मिलता है कि 'स्थायिभावका अनुकरण रस है'। और न इस विषयमे [भरत] मुनिका कोई [अनुमापक] लिंग मिलता है [जिससे यह अनुमान किया जा सके कि भरतमुनि स्थायिभावके अनुकरणको ही रस मानते हैं]। इसके विपरीत ध्रुवा [टेक] गान, ताल, के वैचित्र्य, और लास्य [नृत्य] के अगोके द्वारा [अभिनयके] परिपोषणका निरूपण आदि विपरीत पक्ष [अर्थात् स्थायिभावका अनुकरण रस नही होता हे इस पक्ष] मे [अनुमापक] लिग है। इस बातको हम सन्ध्यगोका वणन करने वाले अध्यायके अन्तमे विस्तार पूर्वक कहेगे। [प्रथमाध्याय के १२० वें श्लोक 'सप्तद्वीपानुकरण नाट्यमेतद् भविष्यति' इस श्लोकमे जो नाट्यको सप्तद्वीपका अनुकरण रूप बतलाया है उस] सातो द्वीपोके अनुकरण आदिकी व्याख्या तो अन्य प्रकारसे भी हो सकती है।

शकुकमत—इस पर शकुक मतकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि जैसे कान्ताके वेषादिका अनुकरण सम्भव है। इसी प्रकार स्थायिभावोका भी अनुकरण सम्भव है। उसका उपाध्याय पक्ष की ओर से यह उत्तर है कि—उससे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह बात सिद्ध नही हो सकती है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि 'सप्तद्वीपानुकरण नाट्यमेतद भविष्यति' मे जब नाट्यको सभी चीजोका अनुकरण होना बतलाया गया है तो स्थायिभावोका भी अनुकरण हो सकता है। इसलिए स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह सिद्धान्त भरतमुनिके वचनसे सिद्ध होता है। तो इसका उत्तर उपाध्याय पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्षसे यह दिया गया है कि यदि स्थायिभावोका अनुकरण भी मान लिया जाय तो स्थायिभावकी जगह उसको रस किस आधारपर कहा जाता है। जैसे कान्ताके वेषका अनुकरण किया जाता है परन्तु उसका उससे भिन्न कोई अन्य नाम नही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यदि स्थायिभावका अनुकरण मान भी लिया जाय उसका 'रस' यह नया नामकरण करनेकी आवश्यकता तो प्रतीत नही होती है। यही बात अगली पंक्तिमे कहते हं—

---

१ न च

तदनुकारेऽपि च क्व नामान्तर कान्तावेषगत्यनुकरणादौ ।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभि सयुज्यमान एव गौरित्यादि । तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत् । न हि सिन्दूरादिभि पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव । किन्तु तत्सदृश समूहविशेषो निवर्त्यते । अत एव हि सिन्दूरादयो गवायवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृश इति प्रतिभासस्य विषय । नैव विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्य । तस्माद् 'भावानुकरण 'रस' इत्यसत् ।

अभिनव०—और उस [स्थायिभाव] का अनुकरण माननेपर भी [उसके लिए रस इस दूसरे नामका अवसर कहाँ है] कान्ताके वेष और गति आदिके अनुकरण आदिमे नामान्तर [का प्रयोग] कहा होता है [इसी प्रकार स्थायिभावका अनुकरण माननेपर भी उसके लिए 'रस' इस दूसरे नामका प्रयोग उचित नही है] ।

अभिनव०—और [शकुककी ओरसे] जो यह कहा जाता है कि [चित्रमे हरिताल आदिके रगोके मिलनेसे ही गौ इत्यादि प्रतीत होती हे [वसे ही विभावादिके सयोगसे रसकी उत्पत्ति होती है । और उसके अभिव्यक्त करने वाले विभावादिसे भिन्न उसका रस यह नया नाम भी हो जाता है] उसमे [हमारा कहना यह है कि यहा] यदि [सयज्युमान पदका] अभिव्यज्यमान [यह अर्थ] अभिप्रेत है तो वह ठीक नही है । क्योकि सिन्दूर आदि [रगो] से वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति नही होती हे । जैसे प्रदीपसे [तो विद्यमान वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति होती हे परन्तु सिन्दूर आदिसे रगोसे उस प्रकार गायकी अभिव्यक्ति नही होती है] किन्तु उसके सदृश [अवयवोके] समूहविशेषकी रचना होती है । इसीलिए [चित्रमे] सिन्दूर आदि गायके अवयवोके सन्निवेशके सदृश सन्निवेश विशेषमे स्थित होकर [यह आकृति] 'गायके सदृश है' इस प्रतीतके विषय होते है । किन्तु इस प्रकार विभावादि समूह रतिके सदृश है इस ज्ञानसे गृहीत नही होते हैं । इसलिए [रत्यादि स्थायी] भावोका अनुकरण रस यह है कहना असगत है ।

इस प्रकार यहा तक ग्रन्थकारने रस सूत्रकी भट्टलोल्लट तथा शकुक कृत व्याख्या की आलोचना की । इस आलोचनाके देखनेसे विदित होता है कि ग्रन्थकारने शकुकके रसानुकरणवादके खण्डनपर सबसे अधिक बल दिया है । उनकी दृष्टिमें शकुकके मतका सबसे मुख्य भाग यही अनुकरणात्मकता है । इसीलिए उन्होने इसके खण्डनमें इतना प्रयत्न किया है । काव्यप्रकाशकारने जो शकुकमतका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है उसमे इस अशपर इतना बल नही दिया गया है । इसलिए वहाँ प्रयुक्त किया विवरण शकुकके मतको पूर्ण रूपमे उपस्थित नही करता है ।

यहाँ तक शकुकके रसानुकरणवादका खण्डन करनेके बाद साख्य सिद्धान्तके अनुसार मानी गई रसकी सुखदुःख मोहात्मकताका खण्डन करते हैं—

---

१ रसा ।

येन त्वभ्यधायि सुखदु खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सारयदृशा सुख दु खस्वभावो रस । तस्या च सामग्र्या दलस्थानीया विभावा, सस्कारका अनुभाव व्यभिचारिण । स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदु खस्वभावा इति ।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' इत्यादावुपचारमगीकुवता ग्रन्थविरोध स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्यात् प्रामाणिको जन परिरक्षित इति किमस्योच्यते । [1]यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसगादि तत् [2]कियदत्रोच्यताम् ।

रसकी त्रिगुणात्मकताका खण्डन—

अभिनव—और जिस [व्याख्याकार] ने यह कहा कि [क्योंकि] सुख दु ख मोहको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे युक्त [रसकी विभावादि रूप] विषय सामग्री बाह्य ही होती है । इस साख्य सिद्धान्तके अनुसार [ससारके सभी पदार्थोंके त्रिगुणात्मक होनेके कारण] रस [भी] सुख दु ख मोहात्मक होता है । और उस सामग्रीमे [जैसे आगे दिए जाने वाले व्यजन आदिके उदाहरणमे दाल आदि व्यजनोमे छौंक आदिके द्वारा सस्कार करनेसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी प्रकार यहा] दाल आदिके स्थानपर विभाव और उनके सस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते है । और [विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव आदि] सामग्रीसे जन्य आन्तरिक सुख दु ख मोह रूप स्थायिभाव रत्यादि होते है ।

इस प्रकारकी व्याख्या किसी व्याख्याकारने की है । इसमें तीन बाते मानी हु ।(१) विभावादि को दाल आदि व्यजनके स्थानपर (२) अनुभाव व्यभिचारिभावोको सस्कारक छौकके स्थानपर, और (३) स्थायिभावोको बाह्य सामग्री ज य माना है पर तु यह ठीक नही है । भरतमुनिने 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' स्थायिभाव रसत्वको प्राप्त होते हु यह कहा है । इसमें आ तरिक स्थायिभाव पूवसे विद्यमान हैं वे विभावादिके द्वारा रसत्वको प्राप्त होते हैं । पर तु ऊपर दिखलाए हुए साख्य सिद्धा तके अनुसार स्थायिभाव बाह्य सामग्रीसे ज य हुए । इस विरोधको ध्यान मे रख कर उक्त व्याख्याताने जो स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इस पक्तिकी उसको औपचारिक प्रयोग मान कर व्याख्या की है । इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि उक्त व्याख्याकारका सिद्धा त भरतमुनिके सिद्धा तके विपरीत जाता है । इसीलिए भरतमुनिकी पक्तिको उ होने औपचारिक प्रयोग माना है । प्रकृतमे ग्रन्थकार उस व्याख्याताकी उस त्रुटिको पकड कर कहते हैं कि—

अभिनव—[जिसने उपयु क्त साख्य सिद्धान्तके आधारपर रसके सुख-दु ख-मोहात्मकत्वका प्रतिपादन किया है] उसने 'स्थायिभावोको रसत्वको प्राप्त करावेंगे' [स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम] इत्यादि [भरत मुनिके वाक्य] मे उपचार [लक्षणा] का अगीकार करके [रस] ग्रन्थके साथ [अपने मतके] विरोधको स्वय समझकर [हम जैसे] प्रामाणिक पुरुषोको [उस भरतमुनि विरोधी सिद्धान्तमे मूर्खोंको भी प्रतीत होने जाने वाले भद्दे] दोषके प्रदशन करानेकी मूर्खतासे बचा लिया इसलिए उसको क्या कहा [कितना धन्यवाद दिया] जाय ।

१ यत्त्वत्यस न । २ तत्कि यदत्रोच्यताम् ।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दु खित्व स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् । स्वकान्तास्मृत्यसवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलघनादेरसाधारण्यात् ।

इसके अतिरिक्त [रस प्रतीतिको सुख दु ख मोहात्मक माननेपर एक ही ज्ञानमे तीन विरुद्ध प्रकारकी प्रतीतियोका सम्मिश्रण होनेसे] प्रतीतिवषम्यादि दोष होगे इसलिए इस [मतकी अनुपयोगिता तथा अनौचित्यके] विषयमे कितना कहा जाय । [अर्थात् साख्य सिद्धान्तके अनुसार जो रसको सुख दु ख मोहात्मक मानना अनुचित हे] ।

यहा यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि ग्र थकार साख्य सिद्धा तके आधारपर मानी जाने वाली रसकी सुख दु ख मोहात्मकताका खण्डन कर रहे हैं । वैसे वे स्वय पृ० २१६ पर रसको सुख दु ख उभयात्मक सिद्ध कर चुके हैं । अत उभयात्मकताको मानने पर भी वे त्रिगुणात्मकताका खण्डन कर रहे हैं यह समझना चाहिए ।

भट्टनायकका मत—

इस प्रकार यहाँ तक ग्र थकारने रसके विषयमें भटटलोल्लट, शकुक तथा साख्यसिद्धान्तानुसारी व्याख्याताके मतका खण्डन किया है । इन तीनोके खण्डनके बाद अब चौथे व्याख्याता 'भटटनायक' के मतकी आलोचना करनेके लिए पहिले उनके मतका प्रतिपादन करगे । भटटनायक के मतमें शब्दमें अभिधा शक्तिके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व दो व्यापार और माने गए हं । अभिधा शक्ति वाक्यके अथका बोध कराती है । उसके बाद भावकत्व शक्तिसे राम सीता आदि के व्यक्तित्व रूप विशेषका परिहार होकर साधारणीकरण हो जाता है । उसके बाद भोजकत्व व्यापारसे उसका भोग या रसास्वादन होता हे । इसलिए भटटनायक रसकी न उत्पत्ति न प्रतीति और न अभिव्यक्ति मानते है । अपितु इन सबसे विलक्षण भावकत्व एव भोजकत्व व्यापार द्वारा उसका भोग मानते हैं । इस मतकी आलोचना करनेके पूव ग्र थकार उस मतको निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—[भरतसूत्रके चौथे व्याख्याता] भट्ट नायक तो [रससूत्रकी व्याख्या करते हुए] यह कहते है कि—रस न तो प्रतीत होता हे । न उत्पन्न होता हे, और न अभिव्यक्त होता है । [क्योकि यदि पर-गतत्वेन उसकी उत्पत्ति प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी मानी जाय सब ही व्यथ है । रसकी प्रतीति तो सामाजिकको होनी चाहिए । यदि सामाजिकमे उसकी अनुभूति न हो कर किसी अन्य नट आदिमे होती है तो वह सामाजिकके लिए व्यथ है । इसलिए परगतत्वेन उत्पत्ति आदिके विचारको छोड कर ग्रन्थकारने स्वगतत्वेन अर्थात् सामाजिकमे रसकी उत्पत्ति आदिके विषयमे विचार किया है] स्वगत [अर्थात् सामाजिकमे करुणादि रसोकी] प्रतीति माननेपर करुण रसमे [सामाजिकको] दु खी [प्रतीत] होना चाहिए । किन्तु वह प्रतीति युक्त नही है । [दु खके मूल कारण वास्तविक] (१) सीता आदिके विभाव [रूपमे उपस्थित] न होनेसे । (२) अपनी स्त्री आदिकी स्मृति [अभिनय कालमे] न होनेसे [दु ख आदिका होना युक्ति संगत नहीं है । क्योकि यदि सामाजिकमे करुण रसकी प्रतीति मानी जाय तो उसके अनुभव कालमे उसको दु ख होना चाहिए । इसलिए भट्टनायकके अनुसार सामाजिकगतत्वेन रसकी

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात् । न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लौकस्य सरसता [1]युक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादि-दिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदय । अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि[2] स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभव-स्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् ।

शक्तिरूपत्वेन पूव स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयाजनतारतम्यापत्ति । स्वगतपरगतत्वादि च पूववद विकल्प्यम् ।

प्रतीति नही बनती है। तीसरी बात यह है कि सीतादि अथवा पार्वती आदि] (३) देवता आदि [के विभाव होनेपर उन] के साधारणीकरणके अयोग्य होनेसे और [हनुमान् आदि जैसे विभावोके द्वारा किए गए] (४) समुद्र लघन आदि [का साधारणी-करण असम्भव होनेसे उन] के असाधारण होनेसे [सामाजिकको स्वगत रूपसे रस की प्रतीति होना सम्भव नही है] ।

अभिनव०—और न उस [रत्यादि] से युक्त राम [आदि विभावो] की स्मृति [रूप वह रस प्रतीति] है [क्योकि स्मृति, पूर्व उपलब्ध अर्थकी ही होती है। रत्यादि युक्त रामके] पहिले उपलब्ध न होनेसे [रसानुभूतिको रत्यादिमान् रामकी स्मृति रूप भी नही कहा जा सकता है] । शब्द अनुमान आदि [परोक्ष ज्ञानके जनक प्रमाणो] से उस [रस] की प्रतीति माननेपर [उस ज्ञान के परोक्ष रूप होने और साक्षात्कारात्मक न होनेके कारण उसमे] प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसी सरसता होती हे वसी सरसता नही हो सकती है। [इसलिए शब्द अथवा अनुमान प्रमाणसे भी रसका ज्ञान नही माना जा सकता है। यदि लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाणसे रसकी प्रतीति मानना चाहे तो वह भी युक्ति सङ्गत नही होता। क्योकि प्रत्यक्ष रूपसे सम्भोगादिमे रत] नायक नायिकाके देखनेपर [रसके स्थानपर लज्जा घृणा और इच्छा आदि अपने अपने स्वभावके अनुरूप] दूसरे प्रकारकी चित्तवृत्तियोका उदय होगा। इसके अतिरिक्त [लज्जा जुगुप्सा आदि अन्य वृत्तियो का उदय हो जानेसे अव्यग्रता अर्थात्] तन्मयता न होनेके कारण [आकाश पुष्प के समान आकाश रस अर्थात्] रस प्रतीतिका अभाव भी होगा। इसलिए [लौकिक प्रत्यक्षादि रूप] अनुभव, स्मृति [परोक्ष ज्ञान] आदि रूप रसकी प्रतीति मानना उचित नहीं है। [इसलिए भट्टनायकके मतमे 'रसो न प्रतीयते' यह कहा गया है] ।

अभिनव०—[और रसकी] उत्पत्ति माननेमे भी ये सब दोष समान ही है। [इसलिए रसकी स्वगत या परगत उत्पत्ति भी नही जा सकती है। अब तीसरा अभिव्यक्ति-पक्ष रहता जाता है। उसके विषयमे भट्टनायक आगे कहते है कि]—

अभिनव०—शक्ति रूपसे पहिलेसे स्थित [रस] की [बादको विभाव अनुभाव आदि द्वारा] अभिव्यक्ति माननेपर [जैसे मन्द प्रकाशमे वस्तु स्पष्ट नही

---

१ प्रयुक्ता। २ यथापि। अनेकरसत्वमाख्यापि।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना,

दिखाई देती है अधिक प्रकाशमें अधिक स्पष्ट हो जाती है इसी प्रकार विभावादि] विषयोंकी वृद्धि आदिसे [रसानुभूतिमें भी न्यूनाधिक्य रूप] तारतम्य होने लगेगा [जो कि रसके अखण्ड एकरस एवं आत्मस्वरूप होनेके कारण उचित नहीं है]। और [वह अभिव्यक्ति सामाजिकको] स्वगत रूपसे होती है अथवा परगत [अर्थात् नटादिनिष्ठ] रूपसे होती है यह पहिले [प्रतीति एवं उत्पत्ति पक्ष] के समान विचारना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि रसकी उत्पत्ति अथवा प्रतीतिको परगत अर्थात् नटनिष्ठ माना जाय तो उससे सामाजिकको कोई लाभ नहीं है। परगत प्रतीति अथवा उत्पत्तिसे सामाजिकको रसास्वाद नहीं हो सकता है। इसी प्रकार परगत रसकी अभिव्यक्ति माननेसे भी सामाजिकको उसकी अनुभूति नहीं हो सकती है। इसलिए परगत प्रतीति तथा उत्पत्ति माननेके समान रसकी परगत अभिव्यक्ति मानना भी व्यर्थ है। इसके विपरीत रसकी स्वगत अर्थात् सामाजिक निष्ठ प्रतीत तथा उत्पत्ति माननेमें यह दोष दिया था कि उस अवस्थामें करुणादि रसमें सामाजिकको दुःखकी अनुभूति माननी होगी। यही दोष अभिव्यक्ति पक्षमें भी आवेगा। अर्थात् यदि सामाजिकमें स्वगत रसकी अभिव्यक्ति मानेंगे तो करुण रसमें उसको दुःखकी अनुभूति होगी। इसलिए भट्टनायकके मतमें रस न तो स्वगत या परगत रूपसे प्रतीत होता है, न उत्पन्न ही और न अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार भट्टनायकने रस विषयक अन्य मतों अर्थात् (१) उत्पत्तिवाद, (२) प्रतीतिवाद तथा (३) अभिव्यक्तिवाद तीनों मतोंका खण्डन कर दिया। तब उनके मतमें रसकी प्रतीति कैसे होती है यह प्रश्न स्वयं उपस्थित होता है। इसकेलिए वे अगली पंक्तियोंमें अपने मतका प्रतिपादन करेंगे। उनके अपने मतका सारांश यह है कि शब्दमें अभिधाके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व शक्ति भी रहती है। अभिधासे शब्दार्थ वाक्यार्थ आदिकी प्रतीति होनेके बाद दूसरी भावकत्व शक्ति अथवा भावना शक्तिके द्वारा सीता राम आदिके विशेष व्यक्तित्वका निवारण अर्थात् साधारणीकरण किया जाता है। उसके बाद भोजकत्व शक्तिके द्वारा सामाजिकको रस का आस्वादन होता है। भट्टनायक अपने इसी सिद्धान्तको अगली पंक्तियोंमें प्रतिपादन करते हैं—

अभिनव०—इसलिए काव्यमें दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षणके कारण [अर्थात् दोष रहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थको काव्य कहा जाता है इस काव्य लक्षणके अनुसार] और नाटकमें [आंगिक, वाचिक सात्त्विक एवं आहार्य] चार प्रकारके अभिनय [सामाजिकके अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा के बाद [द्वितीय अंशपर] होने वाले भावकत्व व्यापारके द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] रस, अनुभव, स्मृति आदिसे भिन्न प्रकारके रजोगुण तथा तमोगुण

अभिधातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशान दमयनिजसविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यत इति ।

तत्र पूवपक्षोऽय भट्टलोल्लटपक्षानुभ्यपगमादेव नाभ्युपगम्यत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव ।

प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च ससारे को भोग इति न विद्म । रसनेति चेत सापि प्रतिपत्तिरेव । केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामा तर प्रतिपद्यताम्, दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत् ।

के मिश्रणके कारण द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास रूप, सत्त्वगुणके प्राधान्यसे प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कारमे विश्रान्ति रूप एव परब्रह्मके आस्वादके सदृश [भोग] भोजकत्व व्यापारके द्वारा अनुभव [भोग] किया जाता है। [यह भट्टनायक का अपना सिद्धान्त है] ।

भट्ट नायकके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [भट्टनायकका] पूवपक्ष [पहिले कहे हुए] भट्टलोल्लटके पक्षके खण्डन [अनभ्युपगम] से ही खण्डित हो जाता हे। इस लिए उसका निराकरण करनेकी आवश्यकता ही नही रहती हे। [अनुत्थानोपहतमेव] ।

जसा कि पहिले कहा जा चुका है भटटलाल्लटने विभावादिकेद्वारा उपचयको प्राप्त रत्यादि स्थायिभावको ही रस माना है। उसका खण्डन शकुकने अनेक युक्तिया देकर किया था। उ ही युक्तियोसे भटटनायकके इस मतका भी खण्डन हो जाता है। यही बात इन पक्तियोम कही गई है। इसके अतिरिक्त भटटनायकके मतमें कुछ और भी दोष आते है। उनको आगे दिखलाते हैं। जिनमे सबसे मुख्य दाष यह है कि भटटनायक शब्दके जो भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार मानते हैं वे किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होते और न किसी अ य आचायन मान हैं। इसलिए शब्दके इन दोनो व्यापारोकी कल्पना सवथा अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त भटटनायक रस की न उत्पत्ति मानते हैं न अभि यक्ति और न प्रतीति। ऐसा ससारमे काई पदाथ नही हो सकता हे। जिसकी न उत्पत्ति हो न अभिव्यक्ति और न प्रतीति हो उसकी सत्तामें ही क्या प्रमाण हो सकता है। इस प्रकारके अनेक अ य दोष भी भटटनायकके मतमें आते है। उनको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे दिखलाते हैं।

अभिनव०—और प्रतीति आदिसे भिन्न ससारमे भोग क्या हे यह भी पता नही चलता है। [अर्थात् विषयकी प्रतीतिको ही भोग कहा जा सकता है। किन्तु भट्टनायक रसकी प्रतीति नही मानते हैं तब उसका भोग किसको कहा जायगा] ? आस्वादन [रसना] ही भोग पदसे अभिप्रेत है यह कहो तो वह [रसना या आस्वादन] भी तो प्रतीति रूप ही हे। केवल उपायके भेद से ही उसका दूसरा नाम [रसनास्वादन आदि] भले ही रखलो। जैसे [भिन्न भिन्न साधनो या प्रमाणो द्वारा उत्पन्न होने के कारण] एक ही ज्ञानको प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध और उपमिति ज्ञान आदि भिन्न नामोसे कहा जाता है।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति, न तृतीया गति स्यात्[1]। न चाप्रतीत वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते प्रतीतिरस्य भोगीकरण, तच्च रत्यादिस्वरूपम।

तदस्तु, तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावत्य एव रसनात्मान प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावा। सत्त्वादिगुणाना चागागिवैचित्र्यमनन्त कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता।

अभिनव०--[भट्टनायकके मतमे चौथा दोष यह आता है कि रसकी] उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनो न माननेपर उस रसको या तो नित्य माना जाय अथवा असत् माना जाय। इसके सिवाय तीसरा माग नही रह जाता है। [इसलिए रसकी उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनो नही होती है यह नही कहा जा सकता है। इस प्रकार उसकी प्रतीतिका निषेध करना भी उचित नही है। क्योकि] बिना प्रतीति के कोई वस्तु व्यवहारके योग्य नही होती है।

भट्टनायक द्वारा स्वपक्ष समथन—

गत अनुच्छेदमें भट्टनायकके मतका जो खण्डन किया गया है उसमे सबसे अधिक बल भट्टनायक द्वारा कहे गए न प्रतीयते' इस अशके खण्डनपर दिया गया है और उसमे कहा गया है कि प्रतीतिके बिना व्यवहारादि ही कसे होगा। इसके उत्तरमे भटटनायकका यह कहना है कि हम रसकी प्रतीति नही मानते यह बात नही है। जब हम यह कहते ह कि 'रसो न प्रतीयते' तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह घटादि बाह्य पदार्थोंके समान बाह्य रूपसे प्रतीत नही होता है। आ तर भोगके रूपमें तो उसकी प्रतीति होती ही हे। और वह आ तर भोग रत्यादि रूप होता है। भटटनायकके इसी दृष्टिकोणको अगली पक्तिमे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अभिनव—[भट्ट नायककी ओरसे इसका यह उत्तर है कि]--इस रसकी प्रतीति [उसका] भोगीकरण ही हे और वह रत्यादि स्वरूप हे।

भट्टनायककी इस युक्तिका उत्तर—

भटटनायककी बातका ग्र थकार यह उत्तर देते हैं कि आपने इस दोषका समाधान कर दिया उसे ठीक भी मान ल तो भी आपके मतमे अकेला यही एक तो दोष नही है। और भी कई दोष हैं। जैसे आप अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व तीन व्यापार मानते हैं। सो ये तीन ही व्यापार कैसे कहे जा सकते हैं। इस प्रकारके तो अन त व्यापार मानने होगे। क्योकि—

अभिनव--तो वसा ही सही, किन्तु केवल वह एक ही तो दोष नहीं है [न तावन्मात्र] जितने [शृगार करुण आदि] रस हे उतनी ही प्रकारकी भोगीकरण रूप आस्वादनात्मक प्रतीतिया है। और उनके भी सत्त्व [रजोगुण तमोगुण] आदि गुणोके अगागिभाव [गुण-प्रधानभाव] के भेद [वैचित्र्य] से अनन्त [भेदो या] व्यापारोंकी कल्पना करनी होगी। तब [भट्टनायकने जो अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापार माने है वह] तीनकी सीमा ही कैसे रहेगी ?

आगे तीन शब्द-व्यापारोकी प्रतिपादक भटटनायक की दो कारिकाए देते हैं—

---

१ न ततीया गतिरस्याम।

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकरणमेव च ।
अभिधाधामता याते शब्दार्थालङ्कृती तत ॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत ।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरै[१] ॥ इति ॥

यत 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वाद-रूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावन तदभ्युपगम्यत एव ।

[२]यदुक्तम्—

सवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसवित्तिगोचर ।
आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थ उच्यते ॥ इति ॥

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते । अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम् ।

भट्टनायक ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी आचार्य हैं। उन्होने हृदयदर्पण नामका ग्रन्थ लिखा था । इस ग्रन्थमें ध्वनि सिद्धान्तका खण्डन किया गया था इसलिए इस ग्रन्थको 'ध्वनिध्वस' नामसे भी कहा जाता था। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है । उसके कुछ उद्धरण अभिनवगुप्तने उद्धृत किए है । आगे दी जाने वाली कारिकाए अभिनवगुप्तने उसी ग्रन्थसे ली हैं ।

अभिनव—(१) अभिधा, (२) दूसरी भावना तथा (३) उसका भोगीकरण [अर्थात् भोजकत्व ये तीन शब्दके व्यापार है। उनसे पहिले] वाच्यार्थ एव वाच्यालकार आदि अभिधाके विषय [वाच्य] रूप से उपस्थित होते है । उसके बाद—

अभिनव— दूसरे भावना नामक व्यापारसे [साधारणीकरण द्वारा] जो भावित होता है वह शृगारादि समूह भी उसके भोगीकरण रूप [तीसरे व्यापारके द्वारा] सिद्धि युक्त [अर्थात् प्राक्तन पुण्यशाली] पुरुषो [सहृदयो] के द्वारा विशेष रूपसे अनुभव किया जाता है । [व्याप्यते विशेषेण आप्यते साक्षात्क्रियते] ।

ये भट्टनायककी दोनो कारिकाए हैं। उनके द्वारा भावकत्व भोजकत्व व्यापारोका अनुवाद उनके खण्डनार्थ किया गया है । ये दोनो शब्दव्यापार प्रमाण सिद्ध नही हैं । इसलिए—

अभिनव—काव्यसे रसोकी भावनाकी जाती है 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' यह जो कहा जाता है उसमे विभावादिसे उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप ज्ञानको विषय बनाना ही यदि भावना शब्दका अर्थ है तो उसको हम स्वीकार करते ही है [परन्तु उससे भट्टनायकके भावकत्व व्यापारकी सिद्धि नही होती है] ।

और जो यह कहा है कि—

अभिनव०—'सवेदन' नामसे व्यङ्ग्य, [पर प्रधान] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिका विषय और आस्वादन रूप अनुभवभूत रस ही काव्यका प्रयोजन कहलाता है ।

अभिनव०—[यहाँ 'सवेदन' पद भावकत्व भोजकत्व द्वारा अर्थकी अभिव्यक्तिका बोधक नही अपितु] व्यज्यमान रूपसे व्यङ्ग्य [अनुभव कालमे प्रतीत होने वाले रस] का बोधक है । और अनुभव पदसे रस-विषयका [अनुभव] समझना चाहिए ।

---

१ सिद्धिमान्नर । २ यत्तूक्तम ।

नन्वेव कथ रसतत्त्वमास्ताम् ? कि कुम ?

आम्रायसिद्धे किमपूर्वमेतत् सविद्धिकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थ स्वयग्राह्यमहार्हहेतु—द्वन्द्वेन कि दूषयिता न लोक ॥

इस प्रकार रससूत्रके व्याख्याताओने जितनी भी व्याख्याए प्रस्तुतकी उन सबका खण्डन कर दिया गया है । ग्र थकारकी दृष्टिमे भट्टलोल्लट शकुक साख्यानुयायी तथा भटटनायक मेंसे किसीकी भी रससूत्रकी व्याख्या ठीक नही जान पडती है । तब यह स्वय प्रश्न होता कि आखिर आप चाहते क्या है ? आपने तो सबके मतोका खण्डन कर डाला तब रस कहाँ रहेगा यह प्रश्न उपस्थित होता हे । इस प्रश्नको पूछते हुए भटटलोल्लटकी ओरसे पूवपक्षी कहता है कि जब आप सभी मतोका खण्डन किए जाते हैं । तब फिर—

अभिनव—ऐसी दशामे [बिचारा] रसतत्त्व [कहा] कैसे रहेगा ?

इसपर सिद्धा तपक्षसे उसी प्रकारका उत्तर देत हैं कि रसतत्त्व कही रहे या न रहे पर किसीकी अप्रामाणिक बात ता नही मानी जा सकती है । सभी अप्रामाणिक मतोका खण्डन हो जानेस रसतत्त्व की स्थिति कही नही बनती हे तो इसके लिए—

अभिनव—हम क्या करे ?

यो कहने तो ग्र थकारने ऊपरकी पक्तिमें यह कह दिया रसतत्त्व कही रहे या न रहे इसमे हम क्या करे ? पर वास्तवमें तो ग्र थकारका यह अभिप्राय नही हा सकता है । और न है । ऊपरके मतोका खण्डन करनेमें ग्र थकारका अभिप्राय उन मतोका खण्डन करना मात्र नही है अपितु उनका अभिप्राय रसतत्त्वके वास्तविक स्वरूपका अनुस धान करना है । इन सब मतोकी आलोचना उ होने उसी रसतत्त्वके यथाथ स्वरूपके अनुस धान करनेके लिए की है । इसलिए उन्होने अपनी दृष्टिसे पूर्वाचार्योंके मतोका खण्डन नही अपितु शोधन किया है । अपने इसी अभिप्राय का ग्र थकार अगले चार श्लोको द्वारा प्रकट करते हैं । पहिले श्लोकका भाव यह हे कि यह ठीक है कि हमने प्राचीन सब व्याख्याताओके मतकी आलोचना कर डाली हे । पर तु उससे रसतत्त्वका खण्डन नही होता है । क्योकि रसतत्त्व तो आम्नायसे सिद्ध है । आम्नायसिद्ध अथका इस प्रकार की आलोचनासे लोप तो हो ही नही सकता है । अपितु उस प्रकारकी आलोचनासे क्रमश उसके स्वरूपका परिमाजन होकर अ तमे उसका प्रामाणिक स्वरूप सामने आ जावेगा । अ यथा यदि उस सबने आम्नाय सिद्ध अथके खण्डन करनेका प्रयत्न किया जायगा ता स्वत प्रमाण वेदसे सिद्ध अथका अपलाप करने वाला ही तो दूषित होगा । आम्नाय सिद्ध अथका तो कुछ नही बिगड सकता है । इसी बातको प्रथम श्लोकमे इस प्रकार कहा है—

अभिनव—वेद प्रतिपादित रसतत्त्वके विषयमे यह कोई नई बात नही है । [बहुतसे वैदिक सिद्धान्तोके खण्डन करनेका प्रयत्न लोग करते है । परन्तु उनसे नित्य वैदिक सिद्धान्तोका खण्डन तो होता नही अपितु क्रमश] बुद्धिका विकास होकर प्रामाणिक वस्तु-स्वरूप प्राप्त हो जाता है । अन्यथा इस प्रकार स्वत प्रमाण स्वरूप बहुमूल्य शब्द प्रमाण [स्वयग्राह्य स्वत प्रमाण, हेतु प्रमाण] के साथ विरोध [द्वन्द्व] करनेसे क्या [विरोध करने वाला] लौकिक प्रमाण [अथवा पुरुष] दूषित नही होगा ? [अर्थात् स्वत प्रमाण भूत वेदका विरोध करने वाला प्रमाण ही शब्द प्रमाणके सामने बाधित या दूषित होगा] ।

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्व धी पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
अल तदाद्यै परिकल्पिताना विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
चित्र निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ।
तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

तद्य च्यता परिशुद्धतत्त्वम् ।
उक्तमेव मुनिना, नत्वपूर्व किञ्चित् ।

दूसरे श्लोकका भाव यह है कि इस प्रकारकी परीक्षामे ज्यो ज्यो आगे बढते जाते हैं त्यो त्यो अर्थके यथार्थस्वरूपके पास पहुँचते जाते हैं । पहिली सभी विचारकी श्रेणियाँ उस अर्थतत्त्व की प्राप्तिकी सीढी मात्र हैं इसलिए उनके विषयमे अधिक चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है । श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

अभिनव—श्रान्तिका अनुभव न करनेवाली विवेचकोकी बुद्धि ऊपर ऊपर चढते हुए [अन्तमे] जिस अर्थ तत्त्वको देखती है [वही मुख्य उद्देश्य भूत अर्थतत्त्व है] । उस तक पहुचानेवाली परिकल्पित विवेककी प्रारम्भिक सीढी [परम्परा] विशेष महत्त्वकी नही है [तदाद्यै अलम] ।

तीसरे श्लोकका भाव यह है कि ससारके सभी प्रमेय पदार्थोंका यद्यपि कोई आधार दिखलाई देता है परन्तु उस आधारका कोई आधार नही होता है । 'मूले मूलाभावादमूल मूलम्' । मूलका मूल या जडकी जड नही होती है इसलिए आदि मूल बिना मूलके निराधार निरालम्बन होता है । परन्तु उस निरालम्बन आदि मूलके आधारपर सारे जगतका निर्माण हो जाता है । इसी प्रकार यद्यपि हमने रसके साधक आधारभूत समस्त सिद्धान्तोका निराकरण कर दिया है इसलिए रस सिद्धान्त निरालम्बन सा हो गया है । परन्तु उसी प्रथमावतार आदिमूलके आधारपर सारे साहित्यशास्त्र एव रसप्रासादका निर्माण हुआ है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

अभिनव—यह आश्चर्यकी बात है कि पदार्थोकी रचनाका प्रथम आधार निरालम्बनसा ही होता है किन्तु उसके द्वारा नीव पड जानेपर उसके ऊपर पुलोकी रचना तथा नगरोका निर्माण भी आश्चर्यजनक नही होता है ।

चौथे श्लोकमें प्राचीन व्याख्याओकी आलोचनाका उपसहार करते हुए कहते हैं—

अभिनव—इसलिए हमने प्राचीन सज्जन आचार्योंके मतोका [पूर्व आलोचनामे दूषण] खण्डन नही किया है अपितु [उन्हींका विशेष परीक्षा द्वारा] सशोधन किया है । क्योकि पूर्व आचार्यो द्वारा स्थापित सिद्धान्तोकी भली प्रकार सगति लगा देनेमे मौलिक सिद्धान्तोकी स्थापनाका-सा ही फल मिलता है ।

इसलिए हमारी पूर्व आलोचनासे प्राचीन आचार्योंके मतका खण्डन न समझ कर उसे रसतत्त्वके स्वरूप परिशोधनका प्रयत्नमात्र समझना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अभिनव—[प्रश्न] तब फिर परिशुद्ध [रस] तत्त्वका कथन कीजिए ।

अभिनव—[उत्तर] भरत मुनिने कह ही दिया है हमको नई बात नही कहनी है ।

तथाह्याह 'काव्यार्थान् भावयन्ति इति (अ० ७)। तत्काव्यार्थो रस ।

यथा हि [1]"सत्रमासत', 'तामग्नौ प्रादात' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिण प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमाप्रवृत्तादनन्तरमधिकैव उपात्तकालतिरस्कारेणैव 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपासक्रमणादिस्वभावा यथादशन प्रतिभा, भावना-विधि-[2]नियोगादिभाषाभिव्यवहृता प्रतिपत्ति । तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिका-रिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्ति ।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय । तस्य च 'ग्रीवाभगाभिरामम्' इति [शाकु १], 'उमापि नीलालक' इति [कुमार ३-६२], 'हरस्तु किंचित्' [कुमार ३-६७] इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहृसि-ततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते ।

अभिनव०—जैसाकि [भरतमुनिने] कहा है। 'काव्यके अर्थोको प्रकाशित करते हैं'। वही काव्यार्थ रस है।

अभिनव०—जैसे कि [ब्राह्मण ग्रन्थोमे 'वनस्पतय सत्रमासत', 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत तामग्नौ प्रादात्' आदि अर्थवाद-वाक्य आते हैं उनकी ओर सकेत करते हुए ग्रथकार कहते है कि] जसे [वनस्पति आदि] 'यज्ञमे बैठे' [प्रजापतिने अपनी चर्बी निकाली और] 'उसको अग्निमे डाला' इत्यादि [अर्थवाद वाक्यो] मे अर्थित्व [सामर्थ्यादि] से लक्षित, अधिकारीकी [अर्थित्व सामर्थ्यादि अधिकारीके लक्षण कहे गए है। जो जिसका चाहनेवाला और उसको करनेमे समर्थ हो वह उस कर्मके करनेका अधिकारी है। उस अधिकारीको उक्त वाक्योको सुनकर] पहिले पहिल होनेवाली, [अर्थवाद वाक्योके द्वारा] अत्यन्त प्रशसित, सामान्य प्रतीतिके बाद [उस वाक्यमे] ग्रहण किए गए [भूत] कालकी उपेक्षा करके [उसी प्रकार मै भी यज्ञमे] 'बैठू', 'देऊ', इत्यादि रूप [अर्थवाद वाक्योमे पढे हुए अर्थोंसे, अधिकारीमे] सक्रान्त होनेवाली [मीमासकमतमे] भावना, विधि, नियोग, आदि शब्दोके द्वारा व्यवहृत होनेवाली, अधिक ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक वाक्यसे भी [काव्यके] अधिकारी सहृदय व्यक्तिको [सामान्य वाक्यार्थ ज्ञानमात्रसे] अधिक ही [रसात्मक व्यग्यार्थकी] प्रतीति होती है।

अभिनव०—यहाँ निर्मल प्रतिभानशाली हृदय वाला [सहृदय] पुरुष [काव्यार्थ ज्ञानका] 'अधिकारी' है। और उसको [कालिदासके शकुन्तला नाटकमे आए हुए] 'ग्रीवाभगाभिराम', [कुमारसम्भवमें आए हुए] 'उमापि नीलालक' इत्यादि, तथा 'हरस्तु किञ्चित' इत्यादि श्लोक वाक्योसे वाक्यार्थकी प्रतीतिके बाद उस-उस वाक्यमे गृहीत कालादिके विभागकी उपेक्षा [साधारणीकरण] करने वाली, मानसी एव साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।

---

१ रात्रिमासत। २ उद्योग।

तस्या च यो मृगपोतकादिर्भाति¹ तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, ²त्रासकस्या पारमार्थिकत्वाद भयमेव पर देशकालाद्यनालिगित, तत एव 'भीतोऽह भीतोऽय शत्रुवयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो ³दु खसुखादिकृतबुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षण निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य, साक्षादिव हृदये ⁴निविशमान, चक्षुषोरिव विपरिवतमान, भयानको रस । तथाविधे हि भये नात्मात्यन्त तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखित । एव परोऽपि ।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् । व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योभयकम्पयोरिव⁵ वा । तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री । यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकालप्रमात्रादीना नियमहेतूनाम योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभाव सुतरा पुष्यति । अत एव सवसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ति सुतरा रसपरिपोषाय । सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसा वासनासवादात् । सा चाविघ्ना सवित् चमत्कार । तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिविकारश्चमत्कार । यथा—

अभिनव०—और उस प्रतीतिमे जो मृग शावक आदि विषय रूप से भासता है उसके [साधारणीकरण हो जानेसे] विशेष रूप न होनेसे [मृगपोत] विषयक 'यह भीत है', यह ज्ञान, तथा [भयके कारण] त्रासक [दुष्यन्तादि] के वास्तविक न होने [अर्थात् कल्पित होने]से, भय ही, देश काल आदिसे बिल्कुल असम्बद्ध, [रूपमे भासता हे], इसीलिए मै भीत हू, अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र, या मध्यस्थ है इत्यादि सुख दु ख आदिको देने वाले अन्य ज्ञानोको नियमसे उत्पन्न करने वाले, अत एव विघ्न बहुल ज्ञानोसे भिन्न, निर्विघ्न प्रतीतिसे [ग्राह्य भय रूप स्थायिभाव ही] साक्षात् हृदयमे प्रविष्ट होता हुआ सा, आखोके सामने घूमता हुआ सा, 'भयानकरस' होता हे। उस प्रकार के भयमे [सामाजिकका] आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता हे, और न विशेष रूपसे उल्लिखित होता हे। इसी प्रकार अन्य [रस] भी होते है।

अभिनव०—इसलिए उन विभावादि का उसी देश कालमे परिमित रूपसे ही साधारणीकरण नही होता है अपितु धूम और अग्निके व्याप्तिगृहमे, अथवा भय और कम्प आदिके व्याप्ति गृहके समान अत्यन्त विस्तृत रूपमे [साधारणीकरण] होता है। और इसमे साक्षात्कारात्मक रूपसे परिपोषिका नटादि सामग्री होती है। जिसमे वास्तवमे विद्यमान, और काव्यमे वर्णित, देश, काल, प्रमाता, आदिको नियामक हेतुओके [नियमके] बन्धनसे अत्यन्त अलग कर देनेपर वह साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकोको एकरूपसे ही प्रतीति होती है। जो रसकेलिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि सस्कारो द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकोकी एक जैसी वासना होनेके कारण [सबको एक जैसी ही रस प्रतीति होती है]। और वह विघ्नोसे सवथा रहित प्रतीति

१ भीति। २ ग्राहकस्य। ३ सुखदु खादि कृतहानादि। ४ निधीयमान। ५ रेव।

अज्ज वि हरी [1]चगकई कहविण मदरेण कलिआइ ।
चदकलाकदल सच्छहाइ लच्छीए अगाइ ।।
[अद्यापि हरे चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि[2] ।
चन्द्रकलाक्न्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अगानि ।। इति सस्कृतम्] ।

[3]स चावृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । भुञ्जानस्यादभुत-भोगास्प दाविष्टस्य च मनश्चमत्करण चमत्कार इति । स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा, सकल्पो वा, स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु । यदाह—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। [शाकु ५] इत्यादि ।

'चमत्कार' कहलाती है । और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प और रोमाञ्चोदय आदि [अनुभावात्मक] विकार भी 'चमत्कार' कहलाते है । जैसे—

अभिनव०—अब भी मन्दराचलने विष्णुके शरीरमे अपने स्पर्शसे [पुलक आदि रूप] 'चमत्कार'को उत्पन्न करने वाले, चन्द्रमाकी कलाके समान सुन्दर, लक्ष्मीके अगोको नहीं पहिचाना ज्ञान पडता है ।

अभिनव०—[यहाँ चमत्कार' शब्द रसानुभूति जन्य पुलकादिके लिए प्रयोग किया गया है] । और वह [अविघ्न सवित रूप चमत्कार] अतृप्तिसे भिन्न [अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप] भोगावेश कहलाता है । और [रसका] भोग करने वालेके, अदभुत भोगात्मक व्यापार [स्पन्द] से आविष्ट मनका, चमत्कृत हो जाना ही 'चमत्कार' कहलाता है । [अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनोको लिए चमत्कार शब्दका प्रयोग होता है] । और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या सकल्प, अथवा स्मृति, इस रूपसे प्रतीत हो सकता है । [अर्थात् उसके लिए स्मृति, सकल्प, मानस अध्यवसाय आदि शब्दोका भी प्रयोग होता है] । जैसा कि [निम्न श्लोकमे कालिदासने] कहा है—

सुन्दर विषयोको देख कर और मधुर शब्दोको सुनकर जो सुखी व्यक्ति भी [मानो] किसी प्रिय जनसे उसका वियोग हो गया हो इस प्रकार कभी व्याकुल हो उठता है सो वासना रूपसे मनमे स्थित, किन्तु समझ मे न आने वाले । पूवजन्मके परिचयोको 'स्मरण' करता मालूम होता है । इत्यादि ।

यह कालिदास के शकुन्तला नाटकका श्लोक है । शकुन्तलाका प्रत्याख्यान कर देने वाले दुष्यन्तने जब गानेकी मधुर ध्वनि आती हुए सुनी तो वे व्याकुल हो उठे । उसी प्रसगका यह श्लोक है । इसमें जो 'स्मरति' पद आया वह स्मरणके लिए नही आया अपितु पूर्वोक्त साक्षात्कारात्मक मानस व्यापार रूप 'चमत्कार' के लिए आया है । इसी बातको अगली पक्तियोमें कहते हैं—

---

१ चमत्कारोतीति कथयित्वा । २ दलितानि । ३ तथाहि— २ मन करण।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्या रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा ।

तथत्र चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणात् अनुकारोऽपि अस्तु भावानुगामितया करणाद । विषयसामग्र्यपि वा भवतु [1]वाह्या [2]विज्ञानवादानवलम्बनात । सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस । तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतय । तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता सवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन आस्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते ।

अभिनव०—यहाँ 'स्मरति' इस पदसे जो 'स्मृति' दिखलाई है वह न्यायमे प्रसिद्ध [ज्ञातविषय ज्ञान स्मृति] स्मृति नहीं है। क्योकि पहलेसे इस अर्थका अनुभव नही हुआ है । अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है इस प्रकारकी साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप ही यह [स्मृति] है। इसलिए यह आस्वादस्वरूप ऐसी प्रतीति अवश्य होती है जिसमे [निर्विघ्न रूपसे] रतिका ही भान होता है। इसी लिए अन्य विशेषो [भेदक धर्मो] से [अनुपहित] रहित होनेके कारण, आस्वाद योग्य होते हुए भी वह, न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिकके सदृश, या उसके आरोपादि रूप [कही जा सकती] है । [अपितु उन सब प्रतीतियोसे विलक्षण प्रतीति रूप है] ।

अभिनव०—ऐसे ही [विभावादिसे उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भटट लोल्लटके मतानुसार रत्यादिकी] उपचयावस्थाओमे देश काल आदिसे अनियन्त्रित होनेसे [रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है । उसी प्रकार अनुक्रियमाण स्थायिभावको रस मानने वाले शकुकके सिद्धान्तमे] अनुकरण भी भावोके अनुगामी रूपसे [पीछे] करनेसे वैसा ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] हो । तथा [भटट लोल्लट उपचित रतिको और शकुक अनुक्रियमाण रतिको रस मानते है । उन दोनोके मतोमे] विज्ञानवादका अवलम्बन न करने से वाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसी ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] रहे [उसमे कोई हानि नही] प्रत्येक दशामे [सवथा] आस्वादात्मक एव निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य 'भाव' ही रस है । उसमे आने वाले विघ्नोके अपसारक विभावादि होते है । जसे कि लोकमे होने वाली समस्त विघ्नोसे रहित वह प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दोसे कही जाती हे ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहा तक निर्विघ्नप्रतीतिसे ग्राह्य भावको ही रस माना है । इसलिए उसमें विघ्न उत्पादन करने वाले कारणो तथा उनके निराकरणके उपायोका वर्णन आगे करते हैं—

---

१ 'वाह्या' नहीं है । २ विज्ञानवादावलम्बानात ।

विघ्नाश्चास्य। सप्त[1]। १ प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम। २ स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश। ३ निजसुखादिविवशीभाव। ४ प्रतीत्युपायवकल्यम् ५ स्फुटत्वाभाव। ६ अप्रधानता। ७ सशययोगश्च।

१—तथाहि—असंवेद्यमसम्भावयमान संवेद्ये संविद विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्न।

तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषय। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपाय[2]। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूप्यते[3] न तु प्रहसनादौ। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्ता तावत।

अभिनव०—और उस [रस प्रतीति] मे सात विघ्न [निम्न प्रकार] होते है। १ ज्ञानके अयोग्य होना अर्थात् रसकी सम्भावनाका अभाव। २ स्वगत [सामाजिकगत] रूपसे अथवा परगत [अर्थात नटगत] रूपसे देश काल विशेषका सम्बन्ध। ३ अपने [व्यक्तिगत] सुखादिके वश [सामाजिकका] हो जाना। ४ प्रतीतिके उचित उपायोका अभाव। ५ स्फुट प्रतीतिका न होना। ६ अप्रधानता। तथा ७ संशयका योग।

इनमेसे पहिला विघ्न प्रतीतिकी अयोग्यता अथवा रसकी असम्भावना है। इस विघ्न का उल्लेख कर उसके निवारणके उपायका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

१ अभिनव०—जैसे कि—ज्ञानके विषय [संवेद्य] को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषयमे अपने ज्ञानको ही निश्चित नही कर सकता है उसमे विश्रान्ति [या आनन्दकी अनुभूति] की तो बात ही क्या है। [इस लिए रसकी सत्ता ही न मानना या असम्भवना मानना,] यह [रसास्वादका] पहिला विघ्न है।

अभिनव०—उसके निराकरणका उपाय अन्य सामाजिकोके साथ लौकिक सामान्य [विभाव अनुभावादि रूप] वस्तुओके विषयमे हृदयकी एकरूपता है। लोकोत्तर [समुद्रलघनादि रूप] व्यापारोमे [असम्भावना विघ्नके निराकरणकेलिए] अखण्डित प्रसिद्धिसे उत्पन्न एव बद्धमूल विश्वासको परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात राम आदि नामोका [नटादिमे] ग्रहण करना ही [असम्भावना दोषके निराकरणका उपाय] है। इसी लिए लोकोत्तर उत्कर्षका [प्रदर्शन एव उसके द्वारा सामाजिकको 'रामादिवत्प्रवर्तितव्य न रावणादिवत' रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नहीं इस प्रकारका] उपदेश तथा ज्ञान जिसका प्रयोजन है इस प्रकारके नाटक आदिमे नियमसे प्रख्यात वस्तु रूप, विषय [कथानक तथा नायक] आदिका निरूपण होता है। प्रहसनादिमे [प्रख्यात वस्तु या नायकादिका ग्रहण] नही किया जाता है। उसका अपने अवसर [अर्थात् नाटक प्रहसनादिके लक्षण करते समय] ही निरूपण करेंगे। इसलिए इस समय उसकी आवश्यकता नही है।

---

१ द्वि स मे नहीं है। २ परिग्रह। ३ निरूपयिष्यते। ४ दाविव।

२–स्वकगनाना च सुखदु खसविदामास्वादे यथासम्भव तदपगमभीरतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिरयापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारा तरेण वा, सवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्न ।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदु खाना सवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदु खमोहमाध्यस्थ्यादिसविदन्तरोदगमनसम्भावनादवश्यभावी विघ्न ।

'तदुपसारणे[1] 'कार्यो नातिप्रसगोऽत्र'[2] इत्यादिना, 'पूवरगविधि प्रति' इति पूवरगानिगूहनेन, 'नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च, यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सर प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपाय, अलौकिकभाषादिभेद-लास्याग रगपीठ मण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहित । तस्मिन् हि सति [3]अस्यैव, अत्रैव, [4]एतर्ह्येव, च सुख दु ख वेति न भवति । प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्, रूपा तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रा त्यभावात् । सत्ये [5]तदीयरूपचिह्नवमात्रे एव पयवसानात् ।

---

२ अभिनव०—[यदि सामाजिक]स्वगत सुख दु ख आदि प्रतीतियोका आस्वादन करता है तो, कभी उसके नष्ट होनेके भयसे, कभी उसकी रक्षाके लिए व्यग्र होजानेसे, अथवा उसके सदृश अन्य सुखकी प्राप्तिकी इच्छासे, अथवा उस [दु ख] के परित्याग की इच्छासे, अथवा उसको प्रकट करनेकी इच्छासे, या उसको छिपानेकी इच्छासे अथवा अन्य किसी प्रकारसे, अन्य ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही [रसास्वादका] महाविघ्न है ।

अभिनव०—और परगतत्वके नियमसे युक्त [नियमत नटगत रस] माननेपर भी सुख दु ख आदिका सवेदन होनेपर [सामाजिकको] अपने भीतर निश्चय रूपसे सुख, दु ख, मोह या माध्यस्थ्यादि अन्य ज्ञानोके उत्पन्न होनेसे [रसास्वादमे] विघ्न अवश्य होगा ।

अभिनव०—उसके निराकरणकेलिए [५-१५८ मे कहे हुए] 'कार्यो नातिप्रसगोऽत्र' इत्यादिके द्वारा, तथा 'पूवरग विधि प्रति' इत्यादि द्वारा [निर्दिष्ट] पूवरगके [अनिगूहन] दशन एव 'नटी विदूषको वापि' इस रूपमे लक्षित प्रस्तावनाके अवलोकन से जो नटरूपताकी प्रतीति होती है, उसके साथ [अनुकाय रामादिके वेष भूषाके अनुरूप] मुकुटादिके द्वारा अलौकिक भाषादिके भेद, नत्यादिके अग, रगपीठ तथा मण्डपगत कक्ष्यादिके परिग्रहरूप नाट्यधर्मी सहित, नटके स्वरूपप्रच्छादनका प्रकार, उपाय है । क्योकि उसके होनेपर इसी [नट] को, यहाँ ही, और इसीसे सुख या दु ख होता है यह नही कहा जा सकता है । [नट की] प्रतीतिके स्वरूपका [मुकुटादि द्वारा] आच्छादन हो जानेसे, दूसरे आरोपित रूप [रामादि] के प्रतिभानात्मक सविद्मे विश्रान्त न होनेसे, और अपने स्वरूपमे विश्रान्तिका अभाव होनेसे । [स्वरूपमे विश्रान्तिके] होने पर इसके[नट]के स्वरूपके आच्छादनमे ही पर्यवसान हो जानेसे ।

---

१ तदपाकरणे । २ ना शा ५, १५८ । ३ तस्यैव । ४ एतस्यव । ५ तदीय ।

[1]स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचवर्णोपयोगित्वेन परिकरबन्ध समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यति । तदिह तावन्नोद्यमनीयम्[2] । तत स एष स्वपर-नियततविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यात ।

३–निजसुखादिविवशीभूतश्च कथ वस्त्वन्तरे सविद विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय [3]प्रतिपदार्थनिष्ठसाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभि , शब्दादिविषयमयीभि , आतोद्य-गान विचित्रमण्डपपद विदग्धगणिकादिभिरुपरजन समाश्रित, येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते । उक्त हि 'दृश्य श्रव्य च' [ना० शा० १-११] इति ।

४–किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथ प्रतीतिभाव ?

५–अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिगसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीति-रूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाक्षत्वात ।

यथाहु —

अभिनव०—भरतमुनिने साधारणीकरणकी सिद्धि द्वारा रसास्वादनके उपयोगी इस सब कारण कलापका सग्रह कर दिया है यह बात यथास्थान वहा ही स्पष्ट होगी । इसलिए यहा उसके वर्णनकी आवश्यकता नही है । इस तरह यह नियत रूप से स्वगत या परगत [रसानुभूतिमे आने वाले] विघ्नोके निराकरणका प्रकार दिखलाया है ।

३ अभिनव०—अपने निजी [व्यक्तिगत] सुख दु ख आदिके विवश हुआ व्यक्ति [रसास्वाद रूप] अन्य वस्तुमे अपने ध्यानको एकाग्र कैसे कर सकता है ? इसलिए [रसानुभूतिमे यह तीसरा विघ्न है] उस विघ्नके निराकरणकेलिए [नाटक आदिमे] प्रत्येक पदार्थमे रहने वाले साधारणीकरणके प्रभावसे सबके भोग्य होने योग्य, शब्दादि विषयोसे युक्त, एव गाने बजाने और विचित्र प्रकारके नृत्य आदि [मण्डपपद] मे चतुर गणिकादिके द्वारा [सामाजिकके] मनोरजनका आश्रय लिया जाता है । जिससे शुष्क अरसिक व्यक्तिभी हृदयकी विमलता सरसता को प्राप्त कर सहृदय सा बन जाता है । [इसीलिए] 'दृश्य श्रव्य' आदि [दोनो प्रकारके काव्य नाटक आदि रसास्वादके उपाय होते हैं यह] कहा है ।

४ अभिनव०—और प्रतीतिके उपायोके अभावमे [रसकी] प्रतीति कैसे हो सकती है [यह रसप्रतीतिका चौथा विघ्न है] ।

५ अभिनव०—परोक्ष [अस्फुट] प्रतीतिके जनक शब्द तथा अनुमान के होनेपर भी साक्षात्कारात्मक [स्फुट] प्रतीति रूप प्रत्यक्षकी आकाक्षा बनी रहनेसे उस [शब्द या अनुमानसे उत्पन्न होने वाली परोक्ष] प्रतीतिकी विश्रान्ति नहीं होती है ।

अभिनव०—जैसा कि [वात्स्यायन भाष्यमे] कहा है—

---

१ तथाहि—आसीन पाठ्यपुष्पगन्धकादि लोके न दृष्टम । न च तत्र किंचित कथचित्सम्भाव्यमानत्वादिति । यह अधिक पाठ है । २ नोन्नयनीयम् । ३ प्रतिपदार्थनिष्ठ ।

'सर्वा चेय प्रमिति प्रत्यक्ष परा' इति । [न्याय सू० भा० १ ३] ।

स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्य न्थाभावस्यासवेदनात्[1] । अलातचक्रादौ [2]साक्षात्कारेणैव बलवता तत्प्रतीत्यवधारणादिति[3] लौकिकस्तावदय क्रम । तस्मात् तदुभयविघ्नविघाते, अभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृता समभिषिच्य न्ते। अभिनयन हि शब्दलिगव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्याम ।

६ अप्रधाने च वस्तुनि कस्य सविद्विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तर प्रत्यनुधावत स्वात्म यविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्व जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च सविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्त स्थाय्येव तथा चवणापात्रम ।

अभिनव०—[शब्द अनुमान उपमानादि प्रमाणोसे उत्प न होने वाली] 'यह सारी प्रमिति प्रत्यक्ष परक [प्रत्यक्षप्रधान] है' । [क्योकि शब्दसे ज्ञान होनेपर भी अनुमानसे जाननेकी अनुमानसे जाने हुए को भी प्रत्यक्षसे जानने की इच्छा होती हे । प्रत्यक्षके बाद इच्छा पूण होजानेसे सारे ज्ञानोमे प्रत्यक्ष की प्रधानता है] ।

अभिनव०—स्वय साक्षात्कार किए हुए अथमे सकडो शब्द तथा अनुमानो [के विरोध] से भी परिवतन नही होता हे। [जलती हुई लकडीको पकड कर जोरसे घुमानपर अग्निका गोल चक्र दिखलाई देता है इसको 'अलातचक्र' कहते है। इसमे गतिके वेगसे चक्रकी प्रतीतिमात्र होती है वास्तविक चक्र नही होता है फिर भी] अलातचक्रा आदिमे प्रबल साक्षात्कारात्मक ज्ञानके कारण ही उसकी प्रतीति होती है यह लौकिक [अलातचक्रादिकी प्रतीतिका] क्रम है। इसलिए [४ प्रतीत्युपाय वकल्प तथा ५ स्फुटत्वभाव] इन दोनोसे उत्पन्न विघ्नोके निराकरणकेलिए उन लौकिक धर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति [इनका वणन यथास्थान आया है] से युक्त अभिनयोका ही अभिषेक किया गया है [अर्थात् अभिनयके द्वारा उपायाभाव तथा स्फुटत्वाभाव निवारण होकर साक्षात्कारात्मक रसानुभूति होती है] । क्योकि अभिनय, शब्द तथा अनुमानसे भिन्न प्रकारका प्रत्यक्ष जैसा व्यापार है यह बात आगे सिद्ध करेगे।

६ अभिनव०—[गुणालकारादिकी अपेक्षा रस अप्रधान या गौण है ऐसी भ्रांति किन्हीको हो सकती है उस] अप्रधान वस्तुमे किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है ? [किसीकी नहीं] । दूसरे प्रधानकी ओर, दौडने वाली उसी [अप्रधान] प्रतीतिकी अपनेमे विश्रान्ति नही हो सकती है। [इसलिए रसकी अनुभूतिमे उसकी अप्रधानता छठा दोष विघ्न हो सकती है] । वह अप्रधानत्व अचेतन विभाव अनुभाव समुदायमे, और ज्ञान रूप होनेपर भी नियमसे दूसरे[स्थायिभाव] का मु ह ताकने वाले व्यभिचारिभावमेभी हो सकता है, इसलिए उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव] से अतिरिक्त स्थायिभाव ही [चवणा] आस्वादनके योग्य होता हे ।

---

१ अन यथाभावस्यस्य सवेदनात । २ साक्षात्कारा तरेणव । ३ तदवधारणात् ।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित्संविद एव प्रधानम् । तद्यथा रतिः कामतदनुषंगिधर्मार्थनिष्ठा । क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः । कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितः । तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।

यद्यपि चैषामन्योन्यं गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां लक्ष्यते । अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक् प्राधान्यम् ।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः । स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात् । तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः । अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् । अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम् । तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम् । रजोवृत्तितां वदद्भिः । इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकिमास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव । एवं रत्यादीनां प्राधान्यम् ।

अभिनव०—उनमेसे पुरुषार्थ सम्बद्ध कोई रसानुभूति ही प्रधान होती है। जैसे कि रति [मुख्य रूपसे] काम, तथा [गौण रूपसे] उसके साथ सम्बद्ध धर्म तथा अर्थसे सम्बद्ध होती है। क्रोधप्रधान व्यक्तियो क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। [मुख्य रूपसे] काम तथा धर्ममे पर्यवसित होने वाला उत्साह भी धर्मादि सबमे होता है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद प्रधान [मुनि आदि रूप] विभाव वाला [शान्त रस] मोक्षका उपाय है। इसलिए इन [रति, क्रोध, उत्साह, निर्वेद] की प्रधानता होती है।

अभिनव०—यद्यपि इन [चारो] का एक दूसरेके प्रति गुणभाव भी हो सकता है किन्तु उस उस रस प्रधान रूपकमे उस उसकी ही प्रधानता होती है। इसलिए रूपकोके भेदके क्रमसे इन सबकी प्रधानता होती है। और सूक्ष्म विवेचको [अदूरभागाभिनिविष्टदृश] के लिए तो एक रूपकमे भी [इनका] अलग अलग प्राधान्य हो सकता है।

अभिनव०—उनमे से ये सभी [रस] स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञानके आनन्दमय होनेसे सुखप्रधान [आनन्दमय] होते है। जैसे कि—केवल शोकानुभूतिके आस्वादनमे भी उसके निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होनेसे लोकमे [अत्यन्त सुकुमार हृदय] स्त्रियोको भी हृदयकी विश्रान्ति [आनन्द] प्राप्त होती है। [हृदयकी] अविश्रान्तिका नाम ही दुःख है। इसीलिए साख्य दर्शनके मानने वाले [कपिलके अनुयायियो] ने [दुःखको] रजोगुणकी वृत्ति कह कर, चचलता [अविश्रान्ति] को ही दुःखका प्राण कहा है। इसलिए [जब करुण रस तकमे हृदयकी विश्रान्ति प्राप्त होती है तो] सब रसोकी आनन्दरूपता ही है। किन्तु उपरञ्जक विषयोके कारण, वीररसके समान उनमे भी दुःखका स्पर्श रहता है। क्योकि वह [वीररस] क्लेश सहिष्णुतादि प्रधान होता है। इस प्रकार रति आदि [चार रसो] की [अन्योकी अपेक्षा] प्रधानता है।

हासादीना तु सातिशय सकललोकसुलभविभावतयोपरजकत्वमिति न प्राधान्यम् । अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्राय सर्वोऽपि हसति, शोचति, बिभेति, परनिन्दामाद्रियते । अल्पसुखभागित्वेन[1] च सवत्र विस्मयते । रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम् । एतदगुणप्रधानभावकृत एव दशरूपकादिभेद इति वक्ष्याम ।

स्थायित्व चैतावतामेव । जात एव हि जन्तुरियतीभि सविद्भि परीतो भवति । तथाहि—'दु खसश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादर' इति न्यायेन सर्वो रिरसया व्याप्त, स्वात्मन्युत्कषमानीतया, परमुपहसन, अभीष्टवियोगसन्तप्त, तद्धेतुषु कोपपरवश, अशक्तौ च ततो भीरु, किंचिदर्जिजीषुरपि, अनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्त, किंचिदनभीष्टतयाभिमन्यमान, तत्तत्स्वपरकतव्यदशनसमुदितविस्मय[2], किंचिच्च जिहासुरेव जायते ।

अभिनव०—और हास [शोक भय जुगुप्सा विस्मय] आदिका तो विशेष रूपसे सवसाधारण लोगोमे पाए जाने वाले विभावोके द्वारा उपरजकत्व होता है इसलिए [उन चारो रसो] का प्राधान्य नही माना जाता हे । इसीलिए उत्तम प्रकृति [के रामादि सदृश उच्च कोटिके नायकादि] मे हास आदि अधिक नही [वर्णित] होते हैं । और नीच सदृश सभी [नायकादि विशेष रूपसे| हसते है, [कुछ अत्यधिक] शोक करते हैं, [कभी| डरते हे, [कभी] दूसरे की निन्दा करते हे, और थोडा सुख प्राप्त करनेके कारण [दूसरोके अधिक सुख वैभव आदिको देख कर] विस्मित होते है । [ये पाचोकी प्रधान नही] । रति आदि के अङ्ग रूपमे तो इनकी पुरुषाथके प्रति उपयोगिता भी हो सकती हैं । इन [रसो] के गुणप्रधान भावके कारण ही [नाटकादि] दश प्रकारके रूपक आदिका भेद होता है यह आगे कहेगे ।

अभिनव०—स्थायिभाव तो इतने ही होते है क्योकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओसे युक्त उत्पन्न होता है । जैसे कि—'दु खके सम्पकसे द्वेष करने वाला तथा सुखास्वादमे तत्पर होता हे' इस नियमसे, १ प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कषको प्राप्त रमण करनेकी इच्छा से युक्त होता है [इससे रतिका स्थायिभावत्व सूचित होता है] २ रमणेच्छाके कारण दूसरेका उपहास करता है [इससे हासका], ३ प्रिय वस्तुके वियोगसे दु खी होता है [इससे शोकका], ४ उस [वियोग] के कारणोके प्रति क्रोध करता है [इससे क्रोधका], ५ शक्ति न होने पर उनसे डरता है [यह भयका], ६ किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है [इससे उत्साहका], ७ कभी अनुचित वस्तु रूप विषयके प्रति घृणासे भर जाता है किसीको अनभीष्टसा मानता है, [इससे जुगुप्साका], ८ अपने तथा दूसरोके उस उस प्रकारके [आश्चर्यजनक] कार्योको देखकर विस्मित होता है [इससे विस्मयका], और ९ किसीको त्याग करनेकी भी इच्छा करता हे [इससे निर्वेदका स्थायिभावत्व सूचित किया है] ।

---

१ भावित्वेन । २ तत्तत्स्वकतव्य ।

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य प्राणी भवति । केवल कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्ति काचिदूना । कस्यचिदुचित्तविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा । तत्काचिदेव पुमर्थापयोगिनीत्युपदेश्या । तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहार ।

ये पुनरमी ग्लानिशकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्म-[1] मध्येऽपि न भवन्त्येव । तथाहि—रसायनमुपयुक्तवतोमुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभतयो नोत्तिष्ठन्ति । यस्यापि वा भवति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणा सस्कार-शेपना तावत नावश्यमनुबध्नन्ति । उत्साहादयस्तु सम्पादितकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि सस्कारशेषता नातिवर्तन्ते । कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात । यथाह पतञ्जलि —

'न हि चैत्र एकस्या स्त्रिया रक्त इत्यन्यासु विरक्त'[2] इत्यादि ।

अभिनव०—इन चित्तवृत्तियोके [स्थायिभावात्मक] सस्कारोसे रहित कोई भी प्राणी नही होता है । केवल [इतना अन्तर होता है कि] किसी प्राणीकी कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है, और किसीकी कोई कुछ कम होती है । किसीकी [चित्तवृत्ति] उचित विषयमे नियन्त्रित होती हे और किसी इसके विपरीत [अर्थात् अनुचित विषयमे और अनियन्त्रित होती है] । इसलिए कोई-कोई ही पुरुषार्थ [धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि] मे उपयोगिनी होनेसे उपदेश करने योग्य होती है। और उन्हीके विभाव [रामादि] के कारण उत्तम प्रकृति आदि [नायक भेदो] का व्यवहार होता है ।

इस प्रकार इस अनुच्छेद में स्थायिभावोके स्थायित्वका प्रतिपादन करनेके बाद अगले अनुच्छेदमे व्यभिचारी भावोके अस्थायित्व या व्यभिचारित्वका प्रतिपादन करते हैं—

अभिनव०—और जो ये ग्लानि, शका आदि रूप विशेष प्रकारकी [व्यभिचारि-भावात्मक या अस्थायी] चित्तवृत्तियाँ है वे अपने योग्य विभावादिके अभावमे जन्म के भीतर भी [सदा विद्यमान] नही होती हे । जैसे कि—रसायन [औषधि] का सेवन करने वाले मुनियोको ग्लानि, आलस्य आदि उत्पन्न नही होते हे । [विभाव] कारणोके द्वारा जिसको [कुछ समयके लिए] होते भी हे उसके भी कारणके दूर हो जाने पर नष्ट हो जाते हे । सस्कार रूपसे अवश्य शेष बने रहे यह नही होता है । [अत वे व्यभिचारिभाव है । इसके विपरीत स्थायिभाव] उत्साहादि अपने आवश्यक कार्यको समाप्त कर चुकनेसे विलीन प्राय हो जाने पर भी सस्कार रूपसे अवश्य विद्यमान रहते है । क्योकि अन्य कार्योंके विषयमे उत्साहादि की समाप्ति तो नही होती है । जैसा कि पतजलिने [योगदर्शनके व्यासभाष्यमे] कहा है—

चैत्र किसी एक स्त्री प्रति अनुरक्तहै इसका यह अभिप्राय नही है कि वह अन्य स्त्रियोके प्रति विरक्त है' । अर्थात् [उनमे अव्यक्त रूप से राग हो सकता है] इत्यादि ।

---

१ जगन्मध्येऽपि । २ व्यासभा २-४ ।

तस्मात स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिण स्वात्मानमुदयास्त-मयवैचित्र्यशतसहस्त्रधर्माण प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूत[1] विरलभावोपलम्भन-सम्भावितभङ्गीसहस्त्रगभ स्फटिक-काच अभ्रक[2] पद्मराग-मरकत - महानीलादिमयगोलक-वत् तस्मिन् सूत्रे स्वसस्कारवैचित्र्यमनिवेशय तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भ विभ्रत[3] स्वय च विचित्राथस्थायिसूत्र च विचित्रयन्तोऽन्तरा तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्र प्रतिभा-सावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानय त प्रतिभा-स त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते ।

तथाहि—ग्लानोऽयमित्युक्ते, कुत इति हेतुप्रश्नेनास्थायितास्य[4] सूच्यते । न तु राम उत्साहशक्तिमान् इत्यत्र हेतुप्रश्नमाहु ।

अभिनव०—इसलिए स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिके सूत्रमे बधे हुए ही ये [ग्लानि आदि] व्यभिचारिभाव उदय अस्त रूप अनेको विचित्रताओसे युक्त अपने स्वरूपको प्राप्त कर, लाल, नीले आदि डोरोमे पिरोए हुए, अलग-अलग रूपसे पाए जानेके कारण, सहस्त्रो भेद सम्भव होनेसे, स्फटिक, काच, अभ्रक, पद्मराग मरकत और महानील आदि [मणियो] के दानोके समान उस [स्थायिभावात्मक] सूत्रमे अपने विचित्र सस्कारोका समावेश न कराते हुए भी, उस [स्थायिभाव रूप] सूत्रके द्वारा किए जाने वाले अनेक उपकारोको धारण करके स्वय अपनेको और विचित्र अर्थ वाले उस स्थायिभावात्मक सूत्रको भी नानारूपमे प्रकट करते हुए, और बीच बीच मे कही कही उस शुद्ध स्थायिभावात्मक सूत्रको भी प्रकाशित होनेका अवसर प्रदान करते हुए भी आगे पीछेके व्यभिचारिभाव रूप रत्नोकी छायासे अवश्य ही मिश्रित रूप [शबलिमान] से दिखलाते हुए प्रतीत होते हे । इसलिए व्यभिचारिभाव कहलाते है ।

यहा ग्र थकारने स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोको स्थितिका स्पष्टीकरण मालाके दृष्टा तसे किया है । मालामे अनेक रङ्ग बिरङ्गे दाने एक सूत्रमें पिरोए जाते हैं । उन दानोके द्वारा मालाको गु फित रखने वाले सूत्रके स्वरूपमे कोई वास्तविक अन्तर नही होता है । कि तु फिर भी उसमें एक वैचित्र्य प्रतीत होने लगता है । जहाँ जहा जिस रङ्गके दाने हैं वहाँ वहा सूत्र उसी विचित्र रूपका प्रतीत होता है । कि तु बीच बीचमें कही सूत्रका शुद्ध रूप भी प्रतीत होता है । इसी प्रकार रसानुभूतिके प्रसङ्गमें अनेक प्रकारके व्यभिचारिभाव एक स्थायिभाव रूपमें सूत्रमें गु फित होते ह । वे स्थायिभाव रूप सूत्रके स्वरूपमें कोई अ तर नही करते हैं । विविध प्रकारके स्थायिभावोको सूत्रित करने व ला स्थायिभाव एक रूप ही रहता है । फिर भी विविध व्यभिचारि भावो के कारण उसमे विचित्रता प्रतीत होती है । और बीच बीच में जैसे मालाका शुद्ध सूत्र भी दीखता रहता है इसी प्रकार शुद्ध स्थायिभावकी भी अनुभूति होती रहती है ।

अभिनव०—इसलिए 'इसको ग्लानि हो रही है' ऐसा कहनेपर किससे [ग्लानि हो रही है] इस प्रकारका हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] होनेसे इस [ग्लानि] की अस्थायिता [व्यभिचारिभावत्व] सूचित होती है । किन्तु 'राम उत्साह शक्तिसे

---

१ विरलभागोप । २ अमक । ३ विभुतम । ४ स्थायी तस्य ।

अत एव विभावास्तत्रोद्बोधका सन्त स्वरूपोपरञ्जकत्व विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति । न तु तदभावे सवथैव ते निरुपाख्या । वासनात्मना सवजन्तूना तन्मयत्वेनोक्तत्वात् । व्यभिचारिणान्तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति । वितनिष्यते चैतद्यथायोग व्याख्यावसरे । एवमप्रधानत्वनिरास स्थायिनिरूपणाया 'स्थायिभावान् रसत्वम्' [ना० अ० ६] इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृत ।

तत्रानुभावाना विभावाना व्यभिचारिणा च पृथक् स्थायिनि नियमो नास्ति । वाष्पादेरान दाक्षिरोगादिजत्वदशनात् । व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात । 'श्रम-

युक्त है' इस [कथन] मे [किससे उत्साह युक्त है इस प्रकारका] हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] नही होता है । [अत 'उत्साह' स्थायिभाव है । व्यभिचारिभाव नही] ।

अभिनव०—इसीलिए विभावादि उन [उत्साहादि]के उद्बोधक होकर [उनके] स्वरूपका उपरञ्जन करते हुए रति उत्साह आदि [स्थायिभावो] के उचित अनुचित रूपके ही कारण होते है । किन्तु उन [विभावादि] के अभावमे वे [रत्यादि स्थायिभाव] सवथा असत [अभाव रूप निरुपाख्य] नहीं हो जाते हैं । क्योकि वासना रूपसे सब प्राणी उत्साहदिमय [उत्साहदिसे सदा युक्त] रहते है यह बात कही जा चुकी है । व्यभिचारिभावोका तो अपने विभावो [कारणो] के अभावमे नाम भी शेष नही रहता है । यह उनके व्याख्यानके अवसरपर आगे विस्तार पूवक प्रतिपादन किया जायगा । इस प्रकार स्थायिभावोके निरूपणके अवसरपर 'स्थायिभावोको रस रूपता को प्राप्त करावेगें' इस [रसके] सामान्य लक्षणके शेष भूत [अगरूप शृगारादि रसोके] विशेष-लक्षणोके निरूपण द्वारा [विशेषलक्षणनिष्ठ या निरूपणया भरतमुनिने] अप्रधानत्व [रूप छठे विघ्न] का निराकरण किया है ।

७ सातवाँ विघ्न 'सशययोग' बतलाया था । उसका, तथा उसके निवारणके उपायका निरूपण अगले अनुच्छेदमे करते हैं—

अभिनव०—उनमे विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावका अलग अलग स्थायिभावो मे [नियत रूपसे रहनेका कोई] नियम नही है । क्योकि आँसू आदि [करुण रसके अनुभाव] आनन्द, तथा आखोके रोगादिसे भी उत्पन्न होते देखे जाते हैं [इसलिए आसू आदिको देख कर शोक या करुण रसको उसका कारण समझा जाय या अन्य किसीको इस प्रकारका सन्देह हो सकता है । इसी प्रकार] व्याघ्र आदि [विभाव रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोध, तथा [भयानक रसके स्थायिभाव] भयके हेतु देखे जाते हैं [इसलिए व्याघ्र आदिको देख कर रौद्र रसकी उत्पत्ति होगी या भयानक रसकी इस प्रकारका सन्देह उत्पन्न हो सकता है । इसी प्रकार] श्रम चिन्तादि [व्यभिचारिभाव] उत्साह तथा भय आदि अनेक [अनुभावादि] के साथ देखे जाते हैं [इसलिए उनको

१ भ्रम ।

चिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात्[1] । एव सशयोदये शङ्कात्मक–विघ्नशमनाय 'सयोग' उपात्त । सामग्री तु न व्यभिचारिणी । यथा हि–बन्धुविनाशो यत्र विभाव परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभाव, चि ता दैन्यादिर्व्यभिचारी[2] सोऽवश्य शोक एव ।[3]

तत्र लोकव्यवहारे कायकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभि[4]-र्लौकिकी कारणत्वादि-भुवमतिक्रान्तै विभावनानभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणै, अत एवालौकिकविभावा-दिव्यपदेशभाग्भि, प्राच्यकारणादिरूपसस्कारोपजीवनख्यापनाय[5] विभावादिनामधेयव्य-पदेश्य-र्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदै गु णप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योग सम्बन्धमैकाग्रय वासादितवद्भि, अलौकिकनिर्विघ्नसवेदनात्मक-चवणागोचरता नीतोऽथ चव्यमाणतकसारो, न तु सिद्धस्वभाव, तात्कालिक एव, न तु चवणातिरिक्तकालाव-लम्बी [6]स्थायिविलक्षण एव रस ।

देख कर उत्साहका अनुमान करना चाहिए या भयादिका] इस प्रकारका सशय होने पर सशयोदय रूप [शकात्मक सातवें] विघ्नके निराकरणके लिए [रससूत्रमे] 'सयोग' [पद] ग्रहण किया गया है । [उसके ग्रहण करनेसे इस सशयका निराकरण हो जाता हे क्योकि विभावा अनुभाव आदि अलग-अलग यद्यपि सशयके जनक हो हो सकते है, परन्तु उनकी सामग्री समाग्रता अर्थात्] 'सयोग' तो सशयजनक [व्यभिचारी] नही है । जैसे कि—जहा बन्धु [प्रियजन] का विनाश विभाव है, विलाप, रोदन आदि अनुभाव, तथा चि ता दैन्यादि व्यभिचारिभाव है वह अवश्य शोक ही है [इसमे किसी प्रकारका सन्देह नही होता हे । इसलिए 'सयोग' पदके उपादानसे सशय रूप सातवें विघ्नका निराकरण हो जाता है]

अभिनव०—लोकव्यवहारमे कार्य कारण सहकारी रूप लिङ्गो [अनुमापक हेतुओ] को देख कर [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्तिकी चित्तवृत्तिके अनुमानके अभ्यास की तीव्रताके कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष वीक्षण आदि [अनुभावो] के द्वारा [जो कि नाटकोमे] कारणत्व आदि रूपको छोड कर विभावना अनुभावना एव समुपरञ्जकत्व मात्र रूपको प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामोसे कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने सस्कारोके उपजीवित्व द्योतनकेलिए विभावादि नामसे निर्दिष्ट किए जानेवाले, और भावाध्याय [सप्तम अध्याय] मे भी जिनका स्वरूप आगे कहेगे इस प्रकारके [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-भावोके] सामाजिककी बुद्धिमे गुण प्रधानभावसे भली प्रकारसे योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभावको प्राप्त हुए [विभावादि] के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न सवेदन रूप चवणाका विषय बनाया गया हुआ [रत्यादि रूप] अथ जिसका चवणा ही

१ अचलोकत्व व्यभिचारिणि । २ व्यभिचारिण । ३ इत्येव सशयोदये ।
४ धृत्यादिभि । वृक्षादिभि । ५ म भ जीविन ख्यापनाय । ६ स्थायिभाव लक्षण एव ।

न तु यथा शकुकादिभिरभ्यधीयत—'स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते' इति । एव हि लौकिकेऽपि किं न रस । असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसत कथ न भविष्यति । तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या ।[1] न रस । अत एव सूत्रे स्थायिग्रहण न कृतम् । तत्प्रत्युत शल्यभूत स्यात् । केवलमौचित्यादेवमुच्यते 'स्थायी रसीभूत' इति ।

[2]औचित्यन्तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धाना, अधुना चवर्णोपयो-

---

एकमात्र सार है न कि [घटादिके समान पहिलेसे सिद्ध अर्थात] विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस [चवणाके] कालमे ही रहने वाला अर्थात् चवणासे अतिरिक्त कालमे न रहने वाला [इसलिए भट्टलोल्लट तथा शकुक आदिके रसाभिमत] स्थायिभावसे विलक्षण 'रस' होता है ।

इस प्रकार सिद्धा तपक्षमे स्थायिभाव' से विलक्षण रसकी सिद्धि की गई है । स्थायिभावसे रसकी भिन्नता यह दिखलाई है कि स्थायिभाव सदा व्यक्त या अव्यक्त रूपमे विद्यमान रहता है परतु रसकी स्थिति केवल उतने समय तक रहती है जब तक कि उसकी प्रतीति होती है । प्रतीतिके पूव भी उसकी सत्ता नही होती है और रसानुभूतिके समाप्त होनेके बाद भी उसकी सत्ता नही रहती है । यही रसकी स्थायिभावसे विलक्षणता है । इस प्रकार सिद्धा त पक्षसे शकुकादि मतका भेद दिखलाते हुए अगले अनुच्छेदमे उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भटटलोल्लट तथा स्थायिभावके अनुकरणको रस मानने वाले शकुक आदिके खण्डनका उपसहार करते हैं—

अभिनव०—न कि जैसा शकुक आदिने कहा था कि 'विभावादिके द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायिभाव ही रस्यमान होनेसे रस कहा जाता है' [इस प्रकारका रस है होता] । ऐसा माननेपर तो लौकिक [रति आदि अथवा नाटक आदिके द्रष्टा सामाजिकसे भिन्न साधारण पुरुष] मे भी रस [व्यवहार या अनुभूति] क्यो न होगी ? क्योकि जहा [सामाजिकमे] विद्यमान न होने पर भी [रत्यादि की] रसनीयता हो जाती है वहा [लौकिक पुरुषमे] वास्तवमे विद्यमान [रत्यादि] की रसनीयता क्यो नहीं होगी ? इसलिए [लोकमे होने वाली] स्थायिभावकी प्रतीति अनुमिति रूप होती है यह कहना चाहिए । वह रस नही कही जा सकती है । [स्थायिभाव किसीभी दशामे रस नही हो सकता है] इसीलिए [रससूत्रकार भरतमुनिने] सूत्रमे 'स्थायिभाव' का ग्रहण नहीं किया है । [यदि स्थायिभावका सूत्रमे ग्रहण किया जाता तो लाभदायक होनेके बजाय] वह उलटा कष्टदायक [असगत] हो जाता । [इसलिए स्थायिभाव वस्तुत रस नही है] केवल [औपचारिक रूपसे] औचित्यके कारण ही यह कहा जाता है कि 'स्थायि [भाव] रस हो गया है' ।

अभिनव०—उस स्थायी [भाव] के द्वारा कारण रूपसे प्रसिद्ध, एव इस [रसास्वादनके] समय चवणामे उपयोगी होनेके कारण विभावादिका रूपसे अवलम्बन

---

१ प्राच्या । २ अचित्य ।

गितया विभावत्वावलम्बनात् । [1]तदा हि लौकिकचित्तवृत्यनुमाने का रसता । तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वाद स्मृति अनुमान-लौकिकस्वसवेदन[2]विलक्षण एव ।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन सस्कृत, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते । अपि तु हृदयसवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादाकुरीभावेन अनुमान स्मृत्यादि-सोपानमनारुह्यै[3]व[4] तन्मयीभावोचितचवणाप्रवणतया[5] ।

न च सा चवणा प्राड्‌ मानान्तरात् । येनाधुना स्मृति स्यात् । न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापार । किन्त्वलौकिकविभावादिसयोगबलोपनतैवेय चवणा । सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधत, तथा योगिप्रत्यक्षजनित[5]-तटस्थपरसवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्य शुद्धपरयोगिगत-स्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते । [6]एतेषा यथायोगमजनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्य–अस्फुटत्व–विषयावेशवैवश्येन[7] च सौन्दर्यविरहात् ।

करनेसे [स्थायिभाव रस बनता है ऐसा कहा जाता है] यही औचित्य है । [अर्थात् रत्यादिके कारणभूत नायकादि विभावादि रूपसे रसचवणामे उपयोगी होते हे इसलिए उनके सयोगसे 'स्थायिभाव रस हो गया है' यह औपचारिक प्रयोग किया जाता है] । तब लौकिक [विभावादि रहित] चित्तवृत्तिके अनुमानमे रसत्व कहासे आ सकता है ? इसलिए अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद, स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादिसे भिन्न ही है ।

अभिनव०—क्योकि लौकिक अनुमानकी प्रक्रियासे सस्कृत [सामाजिक, नाटको में] प्रमदादि [विभावादि] को [लौकिक परगत रत्यादिके समान] तटस्थ रूपसे ग्रहण नही करता हे । अपितु हृदयसवादात्मक [समस्त सामाजिकोके हृदयकी एकरूपता रूप] सहृदयत्वके बलसे अखण्ड रसास्वादके अकुर रूपसे, अनुमान स्मृति आदिकी प्रक्रियामे आए बिना ही तन्मयीभावसे प्राप्त [उचित] चर्वणा के उत्पादक रूपसे [प्रमदादि विभावोका अनुभव करता है] ।

अभिनव०—और वह चवणा [उस रसास्वादसे] पहले किसी अन्य प्रमाणसे नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके । और न उसमे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणो का व्यापार होता है । किन्तु अलौकिक विभावादिके सयोगके बलसे ही यह चवणा प्राप्त होती है । और वह [रस-चवणा] (१) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाणसे उत्पन्न रत्यादिके ज्ञानसे, तथा (२) योगिप्रत्यक्षसे होने वाले [अर्थात् दूसरेके द्वारा अनुभव किए जाने वाले रत्यादिके] तटस्थ पर–सवेदनात्मक ज्ञानसे एव (३) समस्त विषयोंके प्रति वैराग्य युक्त [असम्प्रज्ञात समाधिमे स्थित] परम

---

१ तथा । २ म सवेदन । ३ आरुह्य व । ४ प्राणतया । ५ भ जनितपर ।
६ एतासां । ७ वेशमिवावश्य ।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशवैवश्यम्। स्वात्मा[1]-नुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्य-अस्फुटत्वे[2]। तद्विभावादिसाधारण्य-वशसप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीना सम्भव इत्यवोचाम बहुश। अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भव-प्रसङ्गात्।

योगीमे रहने वाले, स्वय केवल स्वात्मानन्दके अनुभव [रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान] से भिन्न प्रकारकी होती है। क्योकि इनमे यथायोग्य (१) [लौकिक प्रमाण जन्यमे] अजनादि रूप अन्य विघ्नोके आजानेसे (२) [प्रारम्भिक युञ्जान योगीके प्रत्यक्षमे परगत रत्यादिका प्रत्यक्ष करनेके कारण] ताटस्थ्य एव अस्पष्टता होनेके कारण तथा (३) [परयोगीके प्रत्यक्षमे आत्मनिष्ठता रूप] विषयावेशकी विवशताके कारण [सौन्दर्य] आह्लादकत्वका अभाव होनेसे [रसचवरणा इन सबसे भिन्न प्रकारकी है]।

अभिनव०—यहा [रसमे] तो साधारणीकरणके कारण परम योगीके ज्ञानके समान (१) केवल एक अपनेमे [अर्थात् केवल किसी एक सामाजिकमे] रहनेका नियम सम्भव न होनेसे विषयावेशकी विवशता नही होती है (२) [रसकी अनुभूतिमे सामाजिकके] अपने आत्माके भी सम्मिलित होनेसे और परगतत्व [केवल नटनिष्ठत्व] का नियम न होनेसे तटस्थता एव अस्पष्ट प्रतीति नही होती है। (३) उस [रस]के विभावादिके साधारणीकरणके कारण [सामाजिककी] अपनी रत्यादि वासनाके उचित [साधारणीकृत] रूपसे उद्बुद्ध हो जानेके कारण अन्य [अजनादिमे होने वाले परोक्षत्वादिविघ्नो] की सम्भावना नही रहती है यह बात अनेक बार [हम] कह चुके है। इसलिए विभावादि रसके उत्पत्तिके कारण [अर्थात् कारक हेतु] नही हैं। क्योकि [यदि विभावादिको रसका कारक हेतु माना जाय तो] उसके ज्ञानके समाप्त हो जाने पर भी रसकी उत्पत्ति सभव हो सकती है।

इसका अभिप्राय यह है कि कारक हेतुकी स्वरूप सत्ता ही कार्यके जननमें उपयोगिनी है उसका ज्ञान आवश्यक नही होता है। जैसे बीज अकुरका कारक हेतु है तो उसका ज्ञान किसीको हो या न हो बीज अकुरको उत्पन्न ही कर देता है। इसी प्रकार यदि विभावादिको रसका कारक हेतु माना जाय तो विभावादिके ज्ञानके बिना भी रसकी उत्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु विभावादि के ज्ञानके बिना उसकी उत्पत्ति नही देखी जाती है। इसलिए विभावादिको रसका कारक हेतु नही कहा जा सकता है।

हेतु दो प्रकारके माने जाते हैं। एक कारक हेतु और दूसरे ज्ञापक हेतु। विभावादि रसके कारक हेतु नहीं हो सकते हैं यह अभी दिखला दिया। तब वे रसके ज्ञापक हेतु हैं यह पक्ष रह जाता है। परन्तु वह पक्ष भी अभीष्ट नही है। प्रत्यक्षादि प्रमाण या दीपक आदि, पूर्वसे विद्यमान परन्तु अन्धेरेमें रखे होनेके कारण दिखलाई न देने वाले घटादिके ज्ञापक हेतु होते हैं।

---

१ स्वानुप्रवेश। २ ताटस्थ्यास्फुटत्वम् बाधगमेऽपि।

नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयु । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् ।

किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवाय चवणोपयोगी विभावादिव्यवहार ।

क्वान्यत्रेत्थ दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ । पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।

पर तु रस तो केवल चवणा का नाम है आस्वादनसे पूव या पश्चात् कालमे उसकी सत्ता ही नही मानी जाती है इसलिए विभावादिको रस का ज्ञापक हेतु भी नही माना जा सकता है । यही बात अगली पक्तियोमें कहते हैं—

अभिनव०—और न [विभावादि रसके] ज्ञापक हेतु हैं । कि जिससे वे प्रमाणों मे गिने जावें क्योकि [पूवसिद्ध घटादिके समान] प्रमेयभूत किसी पूवसे विद्यमान रसादिकी सत्ता नहीं है ।

अभिनव०—[प्रश्न] तो फिर ये विभावादि क्या है ?

अभिनव०—[उत्तर] चर्वणामें उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है । [लोक भाषामें उनकी ठीक स्थिति निर्दिष्ट नहीं हो सकती है] ।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि जैसे कारक और ज्ञापक दो प्रकारके ही हेतु होते हैं इसी प्रकार ससारके सारे पदाथ काय अथवा ज्ञाप्य इन दो ही वर्गोंमें समाविष्ट हो जाते हैं । जो पदाथ कारक हेतुओसे उत्पन्न होते हैं उनको 'काय' पदाथ कहा जाता है । और जो पदाथ पहिले विद्यमान रहते हुए भी दिखलाई नही देते हैं और दीपकादि रूप किसी कारणसे अभिव्यक्त हो जाते है उनको 'ज्ञाप्य' पदाथ कहते हैं । न्याय सिद्धान्तमें पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । परन्तु साख्य सत्कायवादको मानता है इसलिए उसके मतमें उत्पत्तिसे पूव भी पदाथ अपने कारणमें सूक्ष्म रूपसे इसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार कि तिलमें तेल, दूधमें घी आदि । इसलिए उसके मतमें कारणव्यापारसे पदार्थोंकी उत्पत्ति नही अपितु अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार पदार्थोंके ज्ञानके ये ही दो माग हैं । सो जब आप विभावादिको रसका न कारक हेतु मानते हैं और न ज्ञापक हेतु मानते हैं तो फिर यह तो बतलाइए कि क्या ससारमें कोई और भी ऐसा पदाथ है जो आपके रसके समान न काय हो और न ज्ञाप्य हो । ऐसा कोई पदाथ ससारमें नही हो सकता है । जिसका ज्ञान नही होता वह प्रमेय भी नही हो सकता है इसलिए आप जो यह कहते हैं कि विभावादि रसके न कारक हेतु हैं और न ज्ञापक हेतु सो आपका यह कथन असङ्गत है इसी प्रश्न को उठा कर आगे उसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—[आपके रसको छोडकर] इस प्रकारका [पदार्थ जो न काय हो और न ज्ञाप्य हो] अन्यत्र कहाँ देखा है ? यदि यह प्रश्न करो तो [ससारमे इस प्रकारके किसी अन्य पदाथका उपलब्ध न होना रसकी] अलौकिकत्व सिद्धिमे हमारे लिए भूषण ही है [दूषण नही] । और ठढाई आदि पानक द्रव्यमेका स्वाद [उसके अवयवभूत] गुड काली मिच आदिमे कहाँ देखा जाता है ? यही बात यहाँ [रसके विषयमे] भी समान है ।

नन्वेव रसोऽप्रमेय स्यात् ?

एव युक्त भवितुमर्हति । रस्यतैकप्राणो ह्यसौ, न प्रमेयादिस्वभाव ।

तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ?

नेय रसस्यापितु तद्विषयरसनाया । तन्निष्पत्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोष ।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापार । स्वय तु नाप्रामाणिकी स्वयसवेदनसिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो

इसका अभिप्राय यह है कि जसे ठडाई अथवा पना आदिका विशेष स्वाद उसके कारण भूत कालीमिच गुड आदिमें कही अन्यत्र दिखलाई नही देता है फिर भी ठडाईमे वह विशेष स्वाद पाया जाता है इसी प्रकार काय तथा ज्ञाप्यसे भिन्न कोई पदाथ अ यत्र नही देखा जाता है फिर भी रस इन दोनोमे भिन्न प्रकारका है इसके माननमे कोई हानि नही है। इसीसे हम रसको 'अलौकिक' मानते हैं ।

अभिनव०— प्रश्न तो फिर इस प्रकार तो रस प्रमेय नही रहेगा ?

अभिनव—[उत्तर] यह कहना ठीक हो सकता है। रस तो प्रमेय आदि स्वभाव वाला नहीं केवल रस्यमानता ही उसका प्राण हे। [इसलिए यदि वह प्रमेय कोटिमे नही जाता है तो भी कोई हानि नही है] ।

इसका यह अभिप्राय है कि जिस रूपमे घट पटादि पदार्थोंको प्रमेय माना जाता है उस रूपमे रस प्रमेय नही है। जसा कि पहिले कहा जा चुका है घटादि प्रमेय पदाथ या तो काय होते हैं अथवा 'ज्ञाप्य' होते है । 'काय' होनेपर उनकी 'उत्पत्ति' होती हे और ज्ञाप्य' होनेपर 'अभिव्यक्ति' । दोनो ही अवस्थाओमे वे स्थिर पदाथ हैं। ज्ञानके पहिले भी उनकी स्थिति रहती है, और ज्ञानके नष्ट हो जानेके बाद भी उनकी स्थिति विद्यमान रहती है। पर तु रसके विषयमें यह बात नही है। रस 'आस्वाद स्वरूप' है। उसकी स्थिति केवल उतनी ही देर रहती है जितनी देर कि उसका आस्वाद होता है। आस्वादके न पहिले रस है न बादको रहगा। इसलिए वह 'प्रमेय' कोटिमे नही आता'है।

अभिनव०—[प्रश्न] तो फिर सूत्रमे उसकी निष्पत्ति कैसे कही है ?

अभिनव०—[उत्तर रस सूत्रमे] यह रसकी निष्पत्ति नहीं कही गई है अपितु उसके विषयभूत आस्वादन [रसना] की निष्पत्ति कही हैं। और उस [रसना] की निष्पत्तिसे यदि केवल उस [रसना] के आश्रित रहने वाले रसकी निष्पत्ति [उपचारसे] कही जाती है तो इसमे कोई दोष नही है।

अभिनव०—वह रसना [आस्वादन] न [ज्ञापक हेतुरूप] प्रमाणोका व्यापार है और न कारक [हेतुओ] का व्यापार है। फिर भी स्वसवेदनात्मक होनेसे स्वय तो असत्य [अप्रामाणिकी] भी नही है। आस्वाद [रसना] प्रतीति रूप ही है किन्तु अन्य लौकिक ज्ञानोसे [उसके विभावादि रूप] उपायोके लौकिक प्रत्याक्षादि

विलक्षणैव । उपायाना विभावादीना लौकिकवैलक्षण्यात् । तेन विभावादिसयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पय सूत्रस्य ।

अयमत्र सक्षेप । मुकुटप्रतिशीषकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते । गाढप्राक्तन-सवित्सस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति । अत एवोभयदेश-कालत्याग । रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेश-कालानियमेन तत्र रति गमयन्ति । यस्या स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्ट । अत एव न तटस्थतया रत्यवगम न च नियतकारणतया येनाजनाभिषङ्गादिसम्भावना । न च नियतपरात्मैकगततया येन दु खद्वेषाद्युदय । तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा सविदी गोचरभूता रति शृङ्गार । साधारणीभावना च विभावादिभि-रिति ।

प्रमाण रूप उपायोसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न प्रकारका है । इसलिए क्योकि विभावादिके सयोगसे रसना [आस्वादन] की निष्पत्ति होती है अत एव उस प्रकारकी प्रतीतिका विषयभूत लोकोत्तर अर्थ [रस्यमान होनेसे] रस [कहलाता] है यह [पूर्वोक्त रस] सूत्रका तात्पय है ।

अभिनव०—[रससूत्रकी इस विस्तृत विवेचनाका साराश भूत] सक्षेप यह है कि—[नाटकमे अनुकार्यकी वेष भूषाके अनुरूप नटके द्वारा धारण किए गए] मुकुट पगडी आदिके द्वारा पहिले नटबुद्धि आच्छादित हो जाती है । और पूर्वकालके गाढ ज्ञान सस्कारो एव काव्यके द्वारा बल-पूर्वक कराई जानेपर भी राम बुद्धि उस [नट] मे स्थिर नही होती है । इस लिए [नट तथा रामादि] दोनो [से सम्बद्ध] देश कालादि का परित्याग हो जाता है । और [लोकमे जो व्यभिचारिभाव] बहुधा रतिकी प्रतीति कराने वाले रूपमे देखे गए हैं फिर भी वे व्यभिचारिभाव, रोमाञ्चादि [अनुभाव, नटमे] भी देश कालादिके नियमके बिना रतिका बोध कराते है । जिस [प्रतीति] मे [सामाजिकका] अपना आत्मा भी सस्कारयुक्त [सहृदयत्वशालि] होनेके कारण आजाता है । इसलिए [वह] रत्यादिका ज्ञान तटस्थ रूपसे नही होता है । और न [सीता रामादि रूप] निश्चित कारणोसे होता है कि जिससे [उसमे] अजन विषयावेश [अभिष्वङ्ग] आदि [विघ्नो] की सम्भावना हो । और न निश्चित रूपसे परगत [नटगत] रूपसे [उसकी प्रतीति होती है] जिससे [परगत रत्यादिको देखकर] दु ख, द्वेषादिकी उत्पत्ति हो । इसलिए [क्षणिकतावादी जो बौद्ध चित्तसन्तान, चित्तधारा मानते है उनके मत मे] साधारणीभूत चित्तवृत्ति प्रवाहकी, अथवा [स्थिरतावादी न्यायादिके मतमे] एक ही ज्ञानकी विषयभूत रति, शृङ्गार [रस कहलाती] है । साधारणीकरण विभावादिके द्वारा होता है ।

तत्र विभावप्राधान्येन[1] साधारणीभावो यथा—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुय वपुस्ते दृशो—
भङ्गीभगुरकामकामु कमिद भ्रू नर्मकमक्रम ।
[2]आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासव
सत्य सुन्दरि [3]वेधसस्त्रिजगतीसारा त्वमेकाकृति ॥

अत्र च विभावकृत तत्सौन्दर्य प्राधान्येन भाति । तदनुगतत्वेन केलीविभ्रम-भगुरनमवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गी-क्रम-विकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारि-वग प्रतिभातीति । अत एव नास्फुटत्वशङ्कात्र रसास्वादमये शृङ्गारे विधेया ।

अनुभावप्राधान्य यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्र सकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभाव-सम्पादनाद् द्विजराजस्ये दुराजस्य—

अभिनव०—उनमेसे विभावकी प्रधानताके कारण साधारणीभाव [का उदाहरण] जैसे—

अभिनव०—हे सुन्दरि ! तुम्हारा शरीर [रतिक्रीडादि रूप] केलिसे उत्पन्न [हाव-भाव रूप] विभ्रम रूप मधुको धारण करने वाला है, तुम्हारी भौहोका [नमकमक्रम] विलास, विशेष भङ्गीसे टूटने वाला कामदेवका धनुष है, और तुम्हारे मुखकमलसे उत्पन्न आसव पीनेसे नहीं, केवल सू घने मात्रसे [तनिकसे सम्पर्कसे] ही विकारको उत्पन्न करने वाला है इसलिए [हे सुन्दरि] तुम सचमुच ब्रह्माकी तीनो लोकोकी सारभूत अद्वितीय रचना हो ।

पाठसमीक्षा— यह इस श्लोकका भावाथ है । उसका पाठ ठीक नही है । 'वक्त्राम्बुज मासव ' मुखकमलसे उत्पन्न आसव यह अथ अभिप्रेत है । परन्तु उसमे अम्बुज' शब्द नही आया है केवल 'अम्बु' शब्द दिया गया है उससे तो मुखके जलसे उत्पन्न यह अथ होता है जो उचित प्रतीत नही होता है । और छन्दकी रचनामें अम्बु' के आगे 'ज' बढानेका अवसर भी नही है । इसलिए यह पाठ दोष नही अपितु कवि की अव्युत्पत्तिका सूचक है ।

अभिनव०—यहा [नायिका रूप] विभावकी प्रधानताके कारण उसका सौन्दय प्रतीत होता है । और 'केली', 'विभ्रम', 'भगुर', 'नम' आदि शब्दोके प्रभावसे अनुभाव-वग, एव 'भङ्गी', 'क्रम', 'विकार' आदि शब्दोकी सामथ्यसे व्यभिचारी-वर्ग उस [विभाव] के अनुगामी [उसकी अपेक्षा गौण] रूपमे प्रतीत होता है । इसलिए यहाँ रतिके आस्वादात्मक शृगारमे अस्फुटत्वकी शङ्का नही करनी चाहिए ।

अभिनव०—अनुभावके प्राधान्यमे [उदाहरण] जैसे—शुद्ध सरस्वतीके प्रवाहसे पवित्र [चन्द्रमाको देख कर समुद्रोमे ज्वार उठनेपर वह जैसे परिपूर्ण हो जाता है इस प्रकार] समस्त वाङमय रूप महार्णवको [अपनी कृतियोके द्वारा] परिपूर्ण करने वाले द्विजवर इन्दुराजका [बनाया हुआ निम्नाकित श्लोक है] ।

'इन्दुराज' पदमें श्लेष है वह चन्द्रमाकी ओर भी सकेत करता है । वैसे वह अभिनवगुप्तके गुरुओमें से एक गुरुका नाम है । इसीलिए उसका इतने गौरवके साथ उल्लेख किया है ।

---

१ प्राधान्यस्य धामणिमया । २ आपाते । ३ म भ बोधकास्त्र ।

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो नि स्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिन लूताब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयो
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थिति, ॥

इति । अत्र 'विश्रम्य' इति, 'बहुश' इति 'प्रतिदिनम्' इति च पदसमर्पितो व्यभिचारिगण,[1] 'कृष्ण' इत्यादिपदार्पितश्च विभावो, गुणत्वेन प्रतिभासते । विश्रान्ति-लक्षणस्तम्भ - विलोकनवचित्र्य गात्रतानवतारतम्य-पुलक वैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चय प्रधानतया ।

व्यभिचारिणान्तु प्राधान्य तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् । तत्राद्य यथा महाकवे कालिदासस्य[2]—

आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितु कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवगस्य वितक त्रास-शङ्कादे प्राधान्य, तद्विभावाना प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम् ।[3]'आत्त-आत्त' इत्याद्यर्पितानु-

---

अभिनव०—जो [गोपियोकी चचल] आखें कहीं रुक कर देखनेमे स्थिर नही हो पाती है, जो कटे हुए कमलिनीके नाल [मृणाल दण्ड] के समान [उन गोपियोके] अङ्ग प्रतिदिन दुबल होते जा रहे है और दूबके समान कपोलोपर जो गहरी सफेदी दिखलाई देती है सो कृष्णके तरुण होने और गोपवनिताओके तरुणी होनेके कारण उनके वेषका यही हाल होना है ।

अभिनव०—यह । यहा 'विश्रम्य', 'बहुश' तथा 'प्रतिदिन' इन पदोसे प्रतीत होने वाले व्यभिचारिभाव, तथा 'कृष्ण' इस पदसे प्रतीत होने वाला विभाव, अप्रधान रूपसे प्रतीत होते है । और विश्रान्ति रूप स्तब्धता, देखनेकी विचित्रता, कृशताका तारतम्य, रोमाञ्च तथा विवणता आदि अनुभाव समूह प्रधान रूपसे [प्रतीत हो रहा है] ।

अभिनव०—व्यभिचारिभावोका प्राधान्य विभावो और अनुभावोके प्राधान्यके द्वारा होता है । उनमेसे पहिला [अर्थात् विभाव प्राधान्यकृत व्यभिचारिभावके प्राधान्य का उदाहरण] जैसे महाकवि कालिदासके [निम्नाङ्कित श्लोकमे]—

अभिनव०—[जलक्रीडाके समय] प्रियतमके ऊपर फेंकनेकेलिए बार बार हाथमे लिए हुए, और अपने नेत्रोके प्रतिबिम्बसे युक्त जलको चञ्चल नेत्र वाली नायिका [इसके भीतर मछली है इस प्रकार] मछलीकी शङ्कासे छोड देती थी ।

अभिनव०—यहा सुकुमार और भोली-भाली स्त्रियोके अलङ्कार रूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारिवगका प्राधान्य, उसके विभावके प्राधान्यसे उनके सौन्दर्य के अतिशयके कारण प्रतीत होता है। 'आत्त आत्त' बार बार ग्रहण किया हुआ इत्यादि

---

१ व्यभिचारिण । २ कलशकस्य । ३ 'आत्त' ।

भाववर्गस्तु तदनुयायी । एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम् । किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादास्योत्कर्षः ।

तच्च प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामनः—

'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' । [काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०] ।

'तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' [काव्यालङ्कारसूत्र १ ३-३१] इति ।

'तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषा वेष प्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात् । तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते ।

तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति । अत एव तेषां काव्यमेव प्रीति-व्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाटचानामपि' । तेषामपि तु नाटचे 'निपतिता

[पदोंसे सूचित] अनुभाववर्ग उन [व्यभिचारिभावों] का अनुगामी [गौण] प्रतीत होता है। [ये तीन उदाहरण विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके पृथक्-प्राधान्यमें दिए हैं] इसी प्रकार दो दोकी प्रधानतामें भी उदाहरण समझ लेने चाहिए। किन्तु [उन दोनोंकी] तुल्य प्रधानतामें ही रसास्वादका उत्कर्ष होता है।

अभिनव०—और वह [समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष मुख्य रूपसे] 'प्रबन्ध काव्य' में ही होता है। [और 'प्रबन्ध-काव्य' में भी क्यों कहा जाय] वास्तवमें तो दशरूपक [अर्थात् नाटकादि] में ही होता है। जैसा कि वामनने [अपने काव्यालंकारसूत्रमें] कहा है—

अभिनव०—'प्रबन्ध काव्योंमें दश प्रकारके रूपक श्रेष्ठ होते हैं' [१ ३-३०]।

अभिनव०—'क्योंकि वे चित्रपटके समान समस्त विशेषताओंसे युक्त होते हैं' [१ ३-३१]।

अभिनव०—उस [नाटकादि दशरूपक] के [सदृश शब्दात्मक] रूपके समर्पक होनेसे भाषा, वेष, प्रवृत्तिके औचित्यादिकी कल्पना द्वारा प्रबन्ध काव्यमें, और उस [प्रबन्धकाव्य] के आश्रित [प्रबन्धकाव्यके समान पद्यबद्ध] होनेसे मुक्तक [काव्यों] में [रसानुभूति] होती है। क्योंकि उसमें सहृदय [पुरुष] पूर्वापर उचित [प्रसंग आदिकी कल्पना करके] यहां इस अवसरपर इस प्रकारका [इस श्लोकका] वक्ता है इत्यादि बहुत सी भूमिका बना लेते हैं।

अभिनव०—उसके कारण काव्यका अभ्यास करने तथा पूर्वजन्मके पुण्य [संस्कारों] के प्रभावसे जो सहृदय [पुरुष] होते हैं उनको [मुक्तक काव्यमें आये हुए] परिमित [स्वरूपमात्र] विभावादिके प्रकाशनसे ही स्पष्ट एवं साक्षात्कारात्मक काव्यार्थ [अर्थात् रस] की प्रतीति होती है। इसलिए नाट्यकी अपेक्षा न रखने वाले उन

१ तद्रूप रसचर्वणया । २ नाट्यमपि ।

स्फुरिता शशिरश्मय' इति यायेन सुतरा निर्मलीकरणम्। असहृदयाना च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्[1]।

[सहृदयो] केलिए [नाटकके स्थानपर] काव्य ही [रसकी] प्रतीति तथा [काव्यके प्रयोजन भूत कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी शिक्षा देने वाला] व्युत्पत्तिका कारण होता है। उनका भी, [दर्पण आदिपर] 'पडी हुई एव [प्रक्षिप्त होकर] चमकती हुई चन्द्रमा की किरणे [दर्पणादिको और भी अधिक उज्जल कर देती है]' इस सिद्धान्तके अनुसार [नाट्यके बिना केवल प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्योसे रसकी अनुभूति करनेमे समर्थ सहृदयोके लिए] नाट्य और भी अधिक निर्मल करने वाला [अधिक सहृदयताका उत्पन्न करने वाला] होता है। और जिनको कि नित्य प्रयोगके कारण गीत, वाद्य, गणिका आदिकी प्रतीति व्यसन रूप नही हो जाती है उन असहृदयोके लिए वही [नाट्य] अन्त करणके नैर्मल्य [अर्थात सहृदयत्व] का आधान करने वाला होता है।

इस प्रकार यहा तक ग्रन्थकारने यह प्रतिपादित किया कि रसानुभूतिका सबसे प्रधान साधन नाट्य ही है। किन्तु सहृदयोको प्रबन्धकाव्यो तथा मुक्तककाव्योसे भी रसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु नाट्य उन सहृदयोके अन्त करणको और अधिक निर्मल बना देता है। किन्तु जो सहृदय नही है, इसलिए प्रबन्ध काव्य या मुक्तक काव्योके द्वारा रसास्वाद नहीं कर सकते है उनको भी नाट्यके द्वारा रसास्वाद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणे सामान्य पदार्थोंपर पड कर उनका प्रकाशित करती हैं और यदि दर्पण आदि जसे भास्वर पदार्थोंपर पडती है तो उनकी भास्वरताको और भी अधिक बढा देती है। इसी प्रकार जो सहृदय पुरुष रसास्वादके लिए नाट्यकी अपेक्षा नही रखते हैं उसके बिना प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्योके द्वारा भी रसास्वादन कर सकते है उनको यदि नाट्यका सहारा मिल जाता है तो उससे उनकी सहृदयता एव रसास्वादन शक्ति और भी तीव्र हो जाती है। और जिनमें स्वभावत सहृदयता नही है उनको नाट्यके द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सहृदय तथा असहृदय दोनो के लिए नाट्य रसास्वादमे सहायक होता है यह यहा तक कहा है।

नाट्यमे नट व्यापारके अतिरिक्त गीत, वाद्य नृत्य गणिकादि सभीका समावेश माना जाता है। इसलिए नटव्यापारके समान गीत वाद्य नृत्य गणिकादिका प्रयोग भी सहृदयताका सम्पादक होता है। किन्तु नाट्यकी अपेक्षा गीत वाद्यादिका प्रयोग बहुत अधिक होता है। बहुतसे लोग गीत वाद्य आदिके व्यसनी होनेपर भी ऐसे देख जाते हैं जिनको सहृदय नही कहा जा सकता है। काव्यके रसका आस्वाद करनेकी क्षमता उनमे नही होती है। ऐसे लोगोके लिए भी नाट्य रसास्वादमें सहायक होता है।

इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने मूर्तिका उदाहरण लिया है। जिस प्रकार सामान्य लोग मूर्तिके द्वारा कृष्ण आदिका ध्यान करते हैं इसी प्रकार नटको देख कर रामादिका ज्ञान हो सकता है। मूर्तिमें वास्तविक कृष्ण आदिकी प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा देवता विशेषका ध्यान करनेसे उसके फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार नटमें वास्तविक रामादि

---

१ नाट्योपलक्षणात्। नाट्योपकरणात्।

तत्र च नटो [1]ध्यायिनामिव ध्यानपदम् । नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेव' इति [2]स्मरणीय-प्रतिपत्ति, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिना फलकृत्। [3]तद्वनाट्यप्रक्रिया द्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो[4] नियतदेशकालाद्यस्पृष्ट[5]विधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इद फलम्' इति व्युत्पत्ति वितरति। यत्र दृश्येऽभिनयादौ[6] चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदय । सम्यग्ज्ञानभूत ह्येवेद पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीति, न त्वय न रामो, अन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रत ।

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—

भरत०—को दृष्टान्त ? अत्राह–यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्य-सयोगाद्रसनिष्पत्ति, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति[7] ।

की प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा नाट्यके रसास्वाद तथा उससे प्राप्त होने वाली शिक्षा आदि रूप फलोकी प्राप्ति होती है। यह बात ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कही है—

अभिनव०—उस [नाट्य] मे नट, [मूर्ति आदिका] ध्यान करने वालोके समान कृष्णादिके रूपमे] ध्यानका पात्र होता है। [यद्यपि] वहाँ [सिन्दूर आदिसे लिप्त वासुदेव की मूर्तिमे] 'ये सिन्दूरादिमय वासुदेव ही हैं' इस रूपमे स्मरणीय [अर्थात् वासुदेव या अपने इष्ट देव] की प्रतीति नही होती है। अपितु उस [मूर्ति रूप] उपायके द्वारा अत्यन्त स्पष्टताको प्राप्त सकल्पका विषय होकर वह देवता विशेष ध्यान करने वालेको फलप्रदान करने वाला होता है। उसी प्रकार नाट्यकी प्रक्रियाके द्वारा उत्पन्न अत्यन्त स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञानका विषय, नियत देशकालादिका स्पर्श न करने वाला [नाटक द्वारा कवि जो शिक्षा देना चाहता है उस शिक्षाको देने वाला] विधिस्थानीय अर्थ 'इस [कर्म] का यह फल है' यह ज्ञान कराता है। [वैदिक विधि-वाक्य मनुष्यको कर्त्तव्यकी शिक्षा देते हे। इसी प्रकार नाटक द्वारा भी कर्त्तव्य अकर्तव्य की शिक्षा प्राप्त होती है। इसलिए उसे 'विधिस्थानीय अर्थ कहा है'] । जिसमे दृश्यमान अभिनयादि अथवा उससे उत्पन्न [व्युत्पत्तिरूप] चित्तवृत्त्यादिमे कोई बाधक नहीं होता है। इसलिए वह पूर्णतया सम्यग्ज्ञान रूप ही है। इसलिए [नटमे] 'राम हैं' केवल इस प्रकार की ही प्रतीति होती हे। 'यह राम नही हे [अथवा रामसे भिन्न] अन्य है' इस प्रकारकी नहीं। इस बातको आगे चल कर स्पष्ट करेंगे।

भरतमुनि द्वारा स्वय रसनिष्पत्ति का उपपादन—

अभिनव०—यह [रस रूप] अलौकिक अर्थ विना दृष्टान्तके ठीक तरहसे समझमे नही आता हे इस आशयसे [मूल ग्रन्थकार भरतमुनि] कहते हैं—

भरत०—[इस रसनिष्पत्ति प्रक्रिया मे] क्या दृष्टान्त है ? [उत्तरमे] कहते है कि—जिस प्रकार नाना व्यञ्जनो [उपसेचन पदार्थों] एव ओषधि आदिके सयोगसे [भोज्य द्रव्योमे] रसादिकी उत्पत्ति होती है इसी प्रकार [विभावादि] नाना भावोके सयोगसेरस की निष्पत्ति होती है।

---

१ ध्यायिनामिवेद ध्यानपदम्। २ स्मरणीय इति। ३ तद्वन्नाट्यप्रक्रियामपिवाभाविनट लक्षित। ४ विषयीकृतो। ५ 'अत इव फल' इतिविधिस्था। ६ युते दृश्याद्यनियभावौ।
७ अ यथा च मुद्गादिद्रव्यरौषधिविशेषश्च स्वाद्वादयो रसा निष्पद्य वे एव नानाभावोपगता अधि स्थापिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। न को दृष्टान्त इति चेदुच्यते। यथा नाना।

भरत–यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनै-रौषधिभिश्च[1] षाडवादयोरसा निवर्त्यन्ते तथा नानाभावोपपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति[2]।

'दृष्टान्त' इति । बहूना सयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमान क्व दृष्ट इत्यर्थ ? अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह 'यथा' इत्यादिना 'आप्नुवन्ति' इत्यन्तेन । व्यञ्जनमुपसेचन-द्रव्यम्। तच्च [3]नाना तिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि । ओषधयश्चिञ्चा गोधूम-दलहरिद्रादय । द्रव्य गुडादि । एषा पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात् कुशलसम्पद्यात् सयोगात् । षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्य परस्परविविक्तेभ्यो मधुर तिक्त अम्ल-लवण कटु-कषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षण षाडवशब्दवाच्य । तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्या क्रियन्ते । तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुपसमीप प्रत्यक्षकल्पता गता लोका पेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवित[4] रसत्व तत्र प्रतिपद्यते ।

भरत०—जसे कि गुड आदि द्रव्यो और उपसेचक [व्यञ्जन] तथा औषधि आदिसे षाडव [ठडाई या भोज्य पदाथ विशेष] आदिके रस उत्पन्न होते है उसी प्रकार नाना भावो [विभाव अनुभाव आदि] के सयोगसे स्थायिभाव रसको प्राप्त होते है । [भरत मुनिकी एक ही अभिप्रायकी पद पक्ति दो बार आजानेसे अटपटी प्रतीत होती है] ।

अभिनव०—'दृष्टान्त' इससे [यह अभिप्राय है कि] बहुतसे [पदार्थो] के सयोगसे अपूव रसकी उत्पत्ति होती हुई कहा देखी है ? यह [प्रश्नका] आशय है । इस प्रश्नके होनेपर [भरतमुनि अपने] भाष्य [रूप लेख] के द्वारा 'यथा' यहासे लेकर 'आप्नुवन्ति' पयन्त [लेख] से उत्तर देते हैं । व्यजनका अथ उपसेचन द्रव्य है । और वह तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदसे दही काजी आदि अनेक प्रकारके होते है । औषधिसे इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदिका ग्रहण होता है । द्रव्यसे गुड आदि लेना चाहिए । इन सबके, पाककी प्रक्रियासे भली प्रकार मिलाने रूप, कुशल [पाचक] के द्वारा किए जाने वाले [विशेष प्रकारके] 'सयोग' से [षाडव आदि रसकी उत्पत्ति होती है] । 'षाडवादि' इससे लोकमे प्रसिद्ध अलग-अलग मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कडवा और कसला आदिसे [भिन्न], तथा उनके मिश्रणसे भी भिन्न 'षाडव' शब्द वाच्य [विशेष प्रकारके रस] का ग्रहण होता है । वह [षाडव रस] जिनमे प्रधान है इस प्रकारके बहुतसे आस्वाद योग्य पदाथ बन जाते है । इसी प्रकार नाना प्रकारके विभावादिके द्वारा 'उप' अर्थात् 'समीप' अर्थात प्रत्यक्षकल्पताको प्राप्त हुए, लौकिक [अस्थायी भावो] की अपेक्षासे जो स्थायिभाव हैं वे, रस्यमानता ही जिसका प्राण है इस प्रकारके रसत्वको वहा [नाटकमे] प्राप्त होते है ।

---

१ औषधविशेषौ स्वाद्वादया । २ 'को दृष्टान्त' पाठ यहा दिया है ।

३ नानाम्लमधुर । ४ जीवित ।

एतदुक्त भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया [1]तावल्लौकिको रसो जायते । तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जन विभावस्थानीयम् । चिञ्चा हरिद्राद्यनुभावप्रायम् । [2]द्रव्य तु गुडादि । तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पम् । स्वात्मनि तदुपजीवनेन, परत्र च स्व-रस सक्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात् ।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्य स हि लौकिक । अय तु कुशलैकनिवर्त्यस्तद्विदा रसनीयो भवति । तेना [3]'अन्नस्य'त्यध्याहारो न युक्त । यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहण शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्त तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यवोपादान युक्तम् ।

एव सूत्र व्याख्याय लक्षणपद परीक्षितुमाक्षिपति 'रस इति क', इत्यादिना—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—पाचन रूप सुन्दर सयोगके द्वारा [षाडवादि रूप] लौकिक रसकी उत्पत्ति होती है । और उसमे प्रधान रूपसे जल, रसका अभिव्यञ्जक होता है । इसलिए व्यञ्जन [अर्थात जलादि रूप उपसेचन द्रव्य, काव्य के] विभावके स्थानपर समझना चाहिए । और इमली, हल्दी आदि [औषधियोको काव्यके] अनुभावके स्थानपर लेना चाहिए । द्रव्य गुड आदि हे । उ हे अपने खट्टे आदि रससे भिन्न, मधुर आदि रसका योग होनेसे वे व्यभिचारिभावके स्थानपर समझना चाहिए । वे [गुडादि द्रव्य] अपने भीतर उससे सम्बद्ध होनेके कारण और अन्य द्रव्योमे अपने रसके सक्रमण द्वारा विचित्रताके आधायक होनेसे [वे व्यभिचारिभाव सदृश होते] हे ।

अभिनव०—यहा [लौकिक रसोमे] तो [काव्यके] स्थायिभावके सदृश उसके मिश्रणके कालमे [अलग अलग द्रव्योमे] न रहने वाला, रस विशेष, विभाव सदृश व्यञ्जनो [उपसेचन द्रव्यो] से उत्पन्न समझना चाहिए । वह लौकिक रस है । यह [लौकिक रस] तो केवल कुशलो [चतुर पाचको] द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके समझने वालोके द्वारा आस्वादनीय होता हे । इसलिए [यहा] 'अन्न' इस [पद] का अध्याहार करना उचित नही है । [यह लौकिक रसकी प्रक्रिया दृष्टान्त रूपमे उपस्थित की गई है । आगे दार्ष्टान्तिक अर्थात् काव्यरसकी प्रक्रिया-द्वारा इसको पुष्ट करते है । इसलिए] जैसे कि दार्ष्टान्तिक [नाट्यरसकी प्रक्रिया] मे स्थायिभावका ग्रहण, बाधक [शल्य-कल्प] होता हे इसलिए [उसको छोड कर विभाव, अनुभाव व्यभिचारिभाव] तीनका ही ग्रहण किया हे इसी प्रकार दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक रसकी प्रक्रिया] मे भी [स्थायिभावके स्थानापन्न] अन्नको छोड कर [व्यञ्जन रूप जलादि विभावके स्थान पर, इमली आदि अनुभावके स्थानपर, तथा गुडादि व्यभिचारिभावके स्थानपर इन] तीनका ही ग्रहण करना उचित हे ।

अभिनव०—इस प्रकार [यहाँ तक रसका लक्षण करने वाले] सूत्रकी व्याख्या करके, लक्षण पदकी परीक्षा करनेकेलिए आक्षेप [प्रश्न] करते है—

१ तावदलौकिको । २ द्रव्याणि तु प्रडादीनि । ३ अदनीयस्य ।

भरत०—रस इति क पदार्थ ?

भरत०—उच्यते, [1]आस्वाद्यत्वात् ।

भरत०—कथमास्वाद्यते रस ?

भरत०—यथा हि नानाव्यजनसस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादीश्चाधिगच्छन्तीति, 'सुमनस' पुरुषा इत्यभिव्याख्याता । तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादीश्चाधिगच्छन्तीति प्रेक्षका 'सुमनस' इत्यभिव्याख्याता[3] । तस्मान्नाट्यरसा[4] ।

मधुरादौ, पारदे, विषये, सारे, जलसस्कारे अभिनिवेशे, क्वाथे, देहधातोर्निर्यासे, वाय प्रसिद्धो नत्वन्यत्र । तेन 'रस' इति पदस्य शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽथ ? कि प्रवृत्तिनिमित्त कथ्यते, स्वाभिधेयनियमनाय शब्देन, यदि वा तत्प्रयोक्तृ-पतिपत्तभि ? अथ प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

भरत०—[प्रश्न] रस इस [नाम] से कौन सा पदाथ कहा जाता है [अर्थात रस पदका प्रवृत्ति निमित्त क्या है, रसको रस क्यो कहा जाता है] ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते हैं, रस्यमान अर्थात आस्वाद्यमान होनेसे [रसको] रस [इस नामसे] कहा जाता है ।

भरत०—[प्रश्नकर्ता फिर पूछते है कि] रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है ?

भरत०—[इसका उत्तर देते हैं कि] जिस तरह नाना प्रकारके [जल, दधि, काजी आदि उपसेचन द्रव्य रूप] व्यञ्जनोसे सस्कृत अन्नको खाने वाले पुरुष, रसोंका आस्वादन करते हैं और आनन्दको प्राप्त करते हैं । इसलिए 'सुमना' इस शब्दसे कहे जाते है, इसी प्रकार नाना प्रकारके [विभाव अनुभाव आदि रूप] भावो और अभिनयोके द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक आङ्गिक तथा सात्त्विक [मानस] अभिनयोसे युक्त स्थायिभावोको सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और आनन्द आदिको, प्राप्त करते है इसलिए [सुमना] सहृदय इस नामसे कहे जाते हैं । इसलिए नाट्यसे अनुभूत होने वाले इनको नाट्यरस कहते है ।

रस पदका अथ क्या है ? इत्यादि । [प्रश्नका आशय यह है कि रस शब्द] मधुर आदि [रसो] मे, अथवा पारदमे, अथवा विषयमे, सारमे, जलके सस्कारमे, अभिनिवेश [आग्रह] मे, काढ़े, देह धातुके सार अथमे यह [रस शब्द] प्रसिद्ध है । अन्य अर्थोंमे तो [प्रसिद्ध] नहीं है । इस लिए शृङ्गारादिमे प्रयुक्त होने वाले इस 'रस' शब्दका क्या अर्थ है ? अर्थात् प्रवत्त होनेका क्या कारण है शब्दके द्वारा अपने अथके नियमित करनेके लिए अथवा उसके प्रयोग करने वाले या उससे ज्ञान प्राप्त करने वालोके द्वारा उसकी [उस अथमे] प्रवृत्तिका कारण किसको कहा जाता हे [यह प्रश्नका अभिप्राय है । प्रश्न वाक्यमे प्रयुक्त] 'अथ' शब्द प्रवृत्ति निमित्तका ग्राहक है ।

---

१ आस्वाद्यमानत्वात । २ सुमनस पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति ।
३ सुमनस प्रेक्षका हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति । ४ तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता ।

अत्रोत्तर, 'आस्वाद्यत्वात्'। प्रवृत्तिहेतोयत प्रश्नस्तेनोत्तर हेतुविभक्त्यैव दत्तम्। तेन क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्त भवति।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे रस इति कोऽय शब्द ? तत्रोत्तर 'पदाथ उच्यते' इति। तस्य 'अनेन' इत्यध्याहार बिना, प्रकृतपदाथवाचकोऽय शब्द इति च[1] तात्पयपरिकल्पन बिना, नातीवसङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण च 'आस्वाद्यत्वात' इत्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्त व्याक्षिपति-'कथमास्वाद्यते' इति। आस्वादन हि रसनेन्द्रियज[2] ज्ञान प्रसिद्धमिति भाव। अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह 'यथा नाना'इत्यादिना। यथा तथाशब्दाभ्या सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दशयति।

अभिनव०—[रस शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शृङ्गारादिकेलिए रस शब्द के प्रयोगका कारण क्या है ?] इस [प्रश्नके] विषयमे [भरतमुनि] उत्तर देते हैं—'आस्वाद्य होनेसे' [अर्थात रस्यमान होनेसे शृङ्गारादिको रस नामसे कहा जाता हे। प्रवृत्ति निमित्त क्या हे ? इस प्रकारका] प्रवृत्तिके हेतुका जो प्रश्न किया था उसका उत्तर हेतु सूचक ['आस्वाद्यत्वात्' पदमे प्रयुक्त पञ्चमी] विभक्तिके द्वारा ही दे दिया है। इसलिए [आस्वादन रूप] क्रिया ही इस [रस शब्द] का प्रवृत्तिनिमित्त है यह तात्पय निकलता हे।

रस इति क पदाथ ? उच्यते आस्वाद्यत्वात इस पक्तिकी अभिनवगुप्तने अपनी दृष्टिसे यह व्याख्या यहा तक कर दी है। दूसरे व्याख्याकारने इसकी व्याख्या अ य प्रकारसे की है। उसने 'रस इति क ?' इतने को प्रश्न परक अलग वाक्य माना है। और 'पदाथ उच्यते' को उत्तर परक अलग वाक्य माना है। यह व्याख्या अभिनवगुप्त को रुचिकर नही है। इसलिए अगले अनुच्छेदमे व इसका खण्डन करते हैं—

अभिनव०—जिस [व्याख्याकार] ने ['रस इति क ? पदाथ उच्यते' इस प्रकार का] विभाग करके [इस पक्तिकी] व्याख्या की है उसके मतमे ['उच्यते इसके बाद] 'अनेन इस [शब्द] के द्वारा' इसका अध्याहार किए बिना, और यह [पदार्थ शब्द अपने सामान्य अथको छोड कर विशेष रूपसे 'रस'] इस प्रकृत पदार्थका वाचक है इस प्रकारकी कल्पनाके बिना, उत्तर ठीक तरह से सङ्गत नहीं होगा। और प्रश्नसे सम्बद्ध हुए बिना 'आस्वाद्यत्वात्' यह [वाक्य भी] अधूरा रह जायगा। [अत यह व्याख्या ठीक नहीं हे।

अभिनव०—आगे [रस शब्दके] प्रवृत्ति निमित्तपर आक्षेप [या प्रश्न] करते है कि किस प्रकार [रसका] आस्वादन किया जाता है ? क्योकि रसना इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आस्वादन' नामसे प्रसिद्ध है [शृङ्गारादिका ज्ञान तो रसना इन्द्रियसे नही होता है तब उसको 'आस्वादन' कैसे कह सकते हैं ?] यह [आक्षेपकर्ता का] भाव है। औपचारिक [अर्थात् सादृश्य मूलक आस्वादन] क्रियाका आश्रय लेकर

---

१ न। २ जन्यम।

तत्र भोग्यस्य, भोक्तु, फलस्य च साम्यं दर्शयति । यथाहि व्यञ्जनसस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता, एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता, अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्, प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणा चास्वादफलता । तथाभिनयव्यञ्जितेऽपि चि त्या । स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते आस्वादयितृता । हृषप्रधानाना धर्मादिव्युत्पत्तिवदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति । कर्तृ-कम फलसादृश्याद्विभावादिज प्रतीतिविशेषो रसनाक्रिया इति व्यपदिष्ट इति तात्पयम् ।

'यदन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हृर्षादीश्च यान्ति तेन पुरुषा 'सुमनस इति 'अभिव्याख्याता' । अभित सवत्र, विशेषेण अन्यभोक्तविलक्षणतया, आ समन्तात् ख्याता प्रसिद्धा । यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि । तेन तेऽपि स्थायिन आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्येन व्याख्याता अस्माधिव्यवहृता । अत्रोपसहार, 'तस्मान्नाटचरसा इति ।

[मूल ग्रन्थमें] 'यथा' इत्यादिसे इसका उत्तर देते हैं । 'यथा' और 'तथा' शब्दोसे इस औपचारिक व्यवहारमे सादृश्य ही कारण है यह बात दिखलाई है ।

अभिनव०—उनमे १ भोग्य, २ भोक्ता तथा ३ फलकी समानताको दिखलाते है । जैसे कि [दधि काजी आदि उपसेचन रूप] नाना व्यञ्जन द्रव्योसे सस्कृत अन्नमे आस्वाद्यता, एकाग्र मन वाले खाने वाले [भोक्ता] मे आस्वादयितृता, होती है क्योकि [एकाग्रताके बिना] अन्यत्र चित्तके लगे होनेपर खाते हुए भी आस्वादनका अभिमान नही होता है । और प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि आस्वादनके फल होते है । इसी प्रकार [नाटकादिमे] अभिनयके द्वारा व्यक्त होनेवाले [रस] के विषयमे भी समझ लेना चाहिए । [जसे कि] स्थायिभाव नामसे कहे जाने वाले [शृङ्गारादि] रसमे आस्वाद्यता, एकाग्रचित्त और तन्मय हुए सामाजिकमे आस्वादयितृत्व तथा आनन्द प्रधान धर्मादिके ज्ञान एव [उसके देखनेसे प्राप्त होने वाले] नैपुण्य आदिकी प्राप्तिको फल कहा जा सकता है । इसलिए [आस्वादके] कर्त्ता, कम, तथा फलके सादृश्यके कारण विभावादिसे उत्पन्न प्रतीति विशेष यहाँ रसना क्रिया [आस्वादन क्रिया] रूपमे कही गई है यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—जैसे [व्यञ्जनोके रसको समझने वाले] सहृदय पुरुष अन्नको खाते हुए उनका आस्वाद लेते है और हृष आदिको प्राप्त करते हैं इसलिए ['सुमना' अर्थात्] सहृदय इस शब्दसे प्रसिद्ध होते हैं । [आगे 'अभिव्याख्याता' का अवयवाथ दिखलाते है] 'अभित' अर्थात् सवत्र 'विशेष' रूपसे अर्थात् अन्य भोक्ताओ की अपेक्षा भिन्न रूपसे 'आ समन्तात्' सब ओर, 'ख्यात' अर्थात प्रसिद्ध होते है । जिस प्रकार ये [अर्थात् लौकिक रसका भोग करने वाले सहृदय पुरुष है] इसी प्रकार [नाटक आदिके] ये प्रेक्षक भी है । [क्योकि] वे भी स्थायिभावोका आस्वादन

---

१ येन सुमनसो भुञ्जना हर्षादीश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन ।

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सग्रह । स च न युक्त । सामाजिकाना हि हर्षैकफल नाट्य न शोकादिफलम् । तथात्वे निमित्ताभावात् [1]तत्प्रङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षाश्चाविगच्छ तीति पठन्ति ।

एव ग्रन्थयोजनाया स्पष्टाया यत्कैश्चिदत्र चोदित दृष्टान्ते आत्मा, रसना, मनश्चेति त्रयम, प्रकृते तु रसनैवेति[2] । परिहृत च, आत्मन एवात्र स्थानान्तरसक्रान्तस्य मन स्थानीयता, मनसश्च रसस्थानीयतेति । तत्सव वृथा नाट्यमात्रम् । उपचारस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वात् । इत्यास्ताम् ।

करते है और हर्षादिको प्राप्त करते है इसलिए वे भी आभिमुख्येन अर्थात् सादृश्येन [लौकिक रसके भोक्ताओके सदृश होनेसे 'सुमनस' सहृदय इस पदसे] व्याख्याता [अर्थात् अस्माभिर्व्यवहृता] अर्थात् हमने उनके लिए सहृदय शब्दका व्यवहार किया है । [यह 'अभिव्याख्याता' इस पदका अभिप्राय है] । 'तस्मान्नाट्यरसा' इस [वाक्य] के द्वारा [भरतमुनिने] इसका उपसहार किया है ।

दूसरे किसी व्याख्याकारने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रकारसे की है । उसने 'हर्षादीश्चाधिगच्छति' के स्थान पर 'हृष चाधिगच्छति' इस प्रकारका पाठा तर माना है । उस व्याख्याकारका कहना है कि हर्षादीश्च' में 'आदि' पदसे शोकादिका ग्रहण होगा पर तु वह उचित नही है क्योकि नाटय शोकका जनक नही होता । आन दके लिए नाटचकी योजना की जाती है इसलिए यह टीकाकार शोकादिके ग्राहक 'आदि' पदको मूल भरत पाठमेंसे हटाकर हृष चाधिगच्छति' पाठ मानता है । उसीके मतको अगले अनुच्छेदमे दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याता] तो [हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति इसमे आए हुए] 'आदि' शब्दसे शोकादिका यहाँ सग्रह होता है, [यह कहते है] । परन्तु वह [शोकादिका सग्रह] उचित नही है । क्योकि नाटक सामाजिकोको केवल आनन्द देने वाला ही होना चाहिए शोकादि उसके फल नही होने चाहिए । उस [नाटकके दु खजनकत्व] मे कोई प्रयाण [निमित्त] न होनेसे और [यदि नाटकसे दु ख होता है यह मान लिया जाय तो सामाजिकको] उस प्रकारका [अनुभव] प्राप्त होने लगेगा [जो कि अभीष्ट नही है । सभी आचार्य तथा सहृदय पुरुष करुणादि रसोमे भी आनन्दका ही अनुभव करते है दु खका नहीं] ऐसा मान कर 'हृर्षाश्चाधिगच्छन्ति' ऐसा पाठ मानते हैं ।

अभिनव०—इस प्रकार [रससूत्र विषयक] ग्रन्थकी स्पष्ट योजना हो जानेपर भी जो किन्ही [व्याख्याताओ] ने यह दोष दिखलाया है कि दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक अन्न-रस स्थल] मे [भोक्ता वाले अशके तीन अवा तर विभाग है] १ आत्मा [आस्वादयिता] २ रसना [आस्वादन क्रिया] और [उसका साधन भूत] ३ मन ये तीन [अवान्तर विभाग] है, और यहाँ [दार्ष्टान्तिक अर्थात् नाट्य रसके प्रसगमे केवल एक] आस्वादमात्र है । [आस्वादयिताका विशेष विवेचन नही किया है । रसके समान आत्मा, मन और आस्वादन इन तीनोंकी स्थिति वहाँ भी मानी जा सकती है] यह दोनो

---

१. तत्परिहारप्रसङ्गाच्च । २ रसनेति

एव 'रसत्व केन वै तेषा' इति यत् प्रश्नित तत्प्रतिसमाहितम् ।

भरत०—अत्रानुवश्यौ श्लोकौ भवत –

भरत०—यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्[1] ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्त[2] भक्तविदो जना ॥१॥
भावाभिनयसम्बद्धान्[3] स्थायिभावास्तथा बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा[4] स्मृता ॥२॥

स्थलोमें वषम्य आता है इस प्रकारकी शङ्का उठा कर] और उन्ही [व्याख्याता महोदय] ने जो यह परिहार किया है कि यहाँ आत्मा ही [साधन रूपमे] स्थानान्तरमे सक्रान्त होकर मन स्थानीय हो जाता है और मन ही रसस्थानीय [आस्वाद्य] हो जाता है। वह सब [शङ्का तथा उसका समाधान आदि जो व्याख्याताओने किया है वह सब] व्यर्थ है। यहा केवल [रसोत्पत्तिमे] उपचार या सादृश्यका प्रधान रूपसे प्रतिपादन करना अभीष्ट हे। इसलिए [उन व्याख्याताओने जो शङ्का उठा कर समाधान करनेका प्रयत्न किया है वह सब अनावश्यक व्यापार है] इसलिए उसको छोड देना चाहिए।

अभिनव०—इस प्रकार [इस अध्यायके प्रारम्भमें रसके विषयमे जो यह प्रश्न किया गया था कि] किस कारणसे उन [रसो] का रसत्व होता है उसका समाधान [यहा तक] होगया।

भरत० —इस विषयमे वश परम्परासे प्राप्त [शिष्याचाय परम्परासे प्रसिद्ध 'अनुवश्यौ'] दो श्लोक पाए जाते हैं [जो कि निम्न प्रकार हैं]—

भरत०—जिस प्रकार अनेक द्रव्योसे तथा अनेक प्रकारके [दही काजी आदि व्यञ्जन अर्थात्] उपसेचक द्रव्योंसे युक्त भातको [उत्तम] भातके रसको जानने वाले पुरुष [सामा य रूपसे नहीं अपितु विशेष रुचिसे] खाते हुए उसका [रस] आस्वादन करते हैं—

भरत०—इस प्रकार [विभाव और व्यभिचारिभाव रूप] नाना भावो तथा [अनुभाव रूप] अभिनयोंसे सम्बद्ध स्थायिभावोको [बुध अर्थात् प्राक्तन सस्कारवान] सहृदय पुरुष मनसे आस्वादन करते हैं। इसलिए उनको 'नाट्यरस' नामसे कहा गया है।

ये दोनो श्लोक 'अनुवश्य' श्लोक हैं गुरु शिष्य परम्परासे भरतमुनिके भी पूवकालसे चले आरहे हैं। अर्थात् भरतमुनिके बनाए हुए नही हैं। भरतमुनिने यहा रससूत्रके स्वकृत भाष्यमें उ हें उद्धरण रूपमे प्रस्तुत किया है। इसलिए उनके ऊपर भरत कारिकाओकी सख्या नही डालनी चाहिए। पर तु नाट्यशास्त्रके सभी सस्करणोंमें इनके ऊपर ३२ ३३ सख्याए डाली हुई हैं। आगे भी इसी प्रकारके अनेक श्लोक आवेंगे जो भरतमुनि विरचित श्लोक नही हैं पर तु उन पर सभी सस्करणोंमे सख्या डाल दी गई है। हम सिद्धान्तत इस बातसे सहमत नही हैं। अत हम इन श्लोकोपर अनुवश्य श्लोको को अलग दिखलाने वाली १ २ सख्या डाल रहे हैं।

---

१ युक्त । त गुणै । २ भुक्त भुक्त । ३ सयुक्तान् । ४ नाट्ये रसा ।

अत्रेति भाष्ये। अनुवशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ। श्लोकाख्यौ वृत्त विशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवत । तौ पठति यथेत्यादि ।

मधुरादिभेदाद्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि । बहुभिरिति दधिकाञ्जिकादिभि । अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति । 'भुञ्जाना आस्वादयन्तीति' रसनाव्यापाराद् भोजनादधिको यो मानसो व्यापार स एवास्वादनमिति दर्शयति । एतदुक्तं भवति, न रसनाव्यापार आस्वादनमपितु मानस एव । स चात्राविकलोऽस्ति । केवल लोके रसना-व्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध, इत्युपचार इह दर्शित इति । १ ।

शुद्धतत्त्वस्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र 'भावा' विभावव्यभिचारिण । 'अभिनया' अनुभावा एव। इद पृथग् वचन प्राधान्यात्। तै[1] र्ये 'सम्यग्बद्धा' हृदयसंवादक्रमेण तन्मयी

अभिनव०—यहा [इस विषयमे] वश परम्परासे होने वाले अर्थात् शिष्य तथा आचार्योकी परम्परामे विद्यमान श्लोक अर्थात् वृत्तविशेष [अर्थात] सूत्रके अर्थको सक्षेपमे प्रकट करने वाले होनेके कारण 'कारिका' शब्दसे कहे जाने वाले [दो श्लोक] पाए जाते हैं। उनको [भरतमुनिने] 'यथा' इत्यादि [रूपसे] पढा है।

अभिनव०—मधुर आदिके भेद गुड आदि अनेक द्रव्य [कारिकामें 'बहुद्रव्य युतै' पदसे अभिप्रेत] है। बहुतसे [व्यञ्जनोसे यहाँ] दही काजी आदि [उपसेचन द्रव्यो] का ग्रहण होता है। इससे विभावोके भेदसे रसोका भेद होता है यह बात सूचित की है। 'भुञ्जाना आस्वादयन्ति' खाने वाले स्वाद लेते हैं इससे जिह्वाके [भक्षण रूप] व्यापारसे अधिक जो [स्वाद ग्रहण रूप] मानस व्यापार है वह ही आस्वादन कहलाता है यह दिखलाया है। इसका यह अभिप्राय है कि आस्वादन रसनाका व्यापार नही है अपितु मनका व्यापार है। और वह [मानस व्यापार रूप आस्वादन] यहाँ [शृङ्गारादि रसोके अनुभवमे भी] पूर्ण रूपसे विद्यमान रहता है। [इसलिए शृङ्गारादिकेलिए रस शब्दका प्रयोग उचित ही है। अर्थात शृङ्गारादिके लिए रस शब्दका प्रयोग लक्षणा अथवा उपचारसे नही अपितु मुख्य रूपसे ही किया जा सकता है। पहिले जो उसको औपचारिक प्रयोग कहा है उसका आशय यह है कि] लोकमे [अर्थात् मधुर आदि रसोमे] रसनाके व्यापारके बाद वह [आस्वादन रूप व्यापार] होता है यह प्रसिद्ध है केवल इसलिए यहाँ [शृङ्गारादि रसोमे रस शब्दके प्रयोगमे] उपचार दिखलाया गया है। १।

ऊपर उद्धत किए हुए दोनो अनुवश्य श्लोकोमेसे प्रथम श्लोककी व्याख्या यहा तक हो गई। अब आगे द्वितीय श्लोककी प्रतिपद व्याख्या करते हैं।

अभिनव०—[पहिले अनु० श्लो० २ मे आए हुए 'भाव' तथा अभिनय शब्दोके अर्थ करते हैं] यहाँ 'भाव' शब्द उनके [अर्थात् विभाव तथा व्यभिचारिभावके] शुद्ध स्वरूपके परिज्ञान रूप विभाव तथा व्यभिचारिभावकेलिए प्रयुक्त है। और 'अभिनय'

---

१ यै ।

भावापन्न-प्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्या 'स्थायिन' 'आ' समन्तात् साधारणी-भावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात् मनसेन्द्रियान्तरविघ्नसम्भावनाशून्येन 'स्वादयन्ति' स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात् प्रत्ययात्, उपार्जनादिविघ्नबहुलात् योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषात्, विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासना-नुवेधोपनतहृद्यतातिशयसविच्चवणात्मना भुञ्जते । 'बुधा' इति पूर्वोपयोगो लौकिकाना प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शित ।

एतदुपसहरति तस्मादिति । नाटचात् समुदायरूपाद्रसा, । यदि वा नाटचमेव रसा । रससमुदायो हि नाटचम् ।

[शब्दसे] अनुभाव ही [गृहीत होते] है । [यद्यपि विभाव तथा व्यभिचारिभावोके समान अनुभावोका अन्तर्भाव भी 'भाव' के भीतर हो सकता था कि तु] प्राधान्यके कारण [अनुभाव रूप अभिनयोका भावोसे] अलग सम्यक कथन, किया गया है । उन [विभाव व्यभिचारिभाव तथा अभिनय रूप अनुभाव] से भली प्रकारसे 'धद्ध' अर्थात् हृदयकी एकरूपताके क्रमसे तन्मयताको प्राप्त प्रमाताके स्वरूपसे अभिन्न, अनिवचनीय 'स्थायिभावो' को [आसमन्तात्] सब ओरसे अर्थात साधारणीभावके द्वारा निर्विघ्न प्रतीति रूप होनेके कारण । [मनसा अर्थात्] अन्य इन्द्रियोके द्वारा विघ्नोकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे रहित मनके द्वारा [सहृदय पुरुष] 'आस्वादन' करते है अर्थात् स्वगत या परगतके भेदसे रहित आस्वादके चमत्कारके कारण उपाजन आदि अनेक प्रकारके विघ्नोसे युक्त लौकिक [प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे उत्पन्न] ज्ञानसे [भिन्न], और विषयके आस्वादसे शून्य होनेसे शुष्क [पुरुष], योगिप्रत्यक्षसे भिन्न, विलक्षण प्रकारके सुख दु ख आदिकी भिन्न भिन्न प्रकारकी वासनाओके सम्पर्कसे प्राप्त होने वाली अत्यन्त आल्हादात्मक चवणा रूपसे सहृदय पुरुष [स्थायिभावोका] भोग करते है । 'बुधा' इस पदसे लौकिक प्रत्यक्षादिका पूव उपयोग यहाँ दिखलाया है ।

अर्थात् लोकमें विशेष प्रकारकी चेष्टाओको देख कर परगत चित्तवृत्तिका अनुमान किया जाता है । उसके द्वारा काव्य नाटक आदिमें विभावानुभाव तथा व्यभिचारिभावोके द्वारा रसा स्वादमे सहायता मिलती है यही लौकिक प्रत्यक्षादिका उपयोग यहा 'बुधा' शब्दसे सूचित किया है । क्योकि इस प्रकार चेष्टाविशेषसे चित्तवृत्तिविशेषका अनुमान कर सकनेमें कुशल पुरुष ही 'बुध' या विद्वान् कहलाते हैं । इसलिए 'बुध' शब्द उस प्रकारके लौकिक प्रत्यक्षादिकी यहा रसास्वादनमें उपयोगिताको सूचित करता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अभिनव०—'तस्मात्' ['तस्मान्नाट्यरसा'] इससे इसका उपसहार किया है । ['नाट्यरसा' इस पदकी अनेक प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते है—] नाट्य अर्थात् [विभावादिके] समुदाय रूपसे [अभिव्यक्त] होने वाले रस [नाट्यरस कहलाते हैं] । अथवा नाट्य रूप ही रस [नाट्यरस कहलाते है] । क्योकि रससमुदाय रूप ही नाट्य होता है ।

न नाट्य एव च रसा काव्येऽपि नाट्ययमान एव रस । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया । यदाहु 'काव्यकौतुके—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भव । इति ।
'वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता ।
उद्यान-कान्ता चन्द्राद्या भावा प्रत्यक्षवत् स्फुटा ॥ इति ॥

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृत रसचवणमाहु । वयन्तु ब्रूम — काव्य ताव मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव । तत्र ह्युचितैर्भाषा वृत्ति काकु-नेपथ्यप्रभृतिभि पूयते रसवत्ता । सगबन्धादौ हि नायिकाया अपि सस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचित केवल शक्तिरहितत्वाद व्यावण्यते । तावतैव³ हृद्यमिति न्यायेनानौचित्य न प्रतिजहाति ।

अभिनव०—केवल नाटकमे ही रस नही होते अपितु नाटकके सदृश प्रतीत होने वाले काव्यमे भी रस होता है । काव्यार्थके विषयमे [भावनाबलसे] प्रत्यक्षकल्प [साक्षात्कारात्मक] ज्ञानके उत्पन्न होनेपर रसकी प्रतीति होती है यह [ग्रन्थकार के साहित्य गुरु भट्टतौत] उपाध्यायका मत है । जसा कि [उन्होने अपने ग्रन्थ] काव्यकौतुकमे कहा है कि—

अभिनव०—अभिनय [प्रयोग] को प्राप्त हुए बिना [सर्गबन्ध रूप] काव्यसे [भी रसका] आस्वाद सम्भव है ।

अभिनव०—[क्योकि] वर्णन शैलीके विस्तार एव प्रौढताके कारण सुन्दर रूपसे अङ्कित किए उद्यान, कान्ता, चन्द्रमा आदि [रूप आलम्बन उद्दीपन विभाव आदि काव्यमे भी] प्रत्यक्षके समान स्पष्ट प्रतीत होते है ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्यातागण सगबन्ध रूप] काव्यमे भी गुण तथा अलङ्कारोके सौन्दर्यातिशयके द्वारा रसकी चवणा होती है यह कहते हे । और हमारा तो यह कहना है कि काव्य तो मुख्य रूपसे दशरूपकात्मक ही होता है । क्योकि उस [दशरूपकात्मक मुख्य काव्य] मे उचित भाषा, व्यापार, ['काकु'] उच्चारणशैली, एव वेषभूषा आदिके द्वारा रसवत्ता पूर्णताको प्राप्त हो जाती है । सगबन्धादि [महाकाव्यो] मे तो नायिका आदि [स्त्री पात्रादि सभी पात्रो] के कथनोपकथन भी [उनके अनुरूप प्राकृतादि भाषाके बजाय] सस्कृत मे ही होने आदि रूप अनेक प्रकारका अनौचित्य पाया जाता है । जो केवल [कविमे नाटक रचनाकी] शक्तिके अभावके कारण ही उस रूपमे वर्णित होता है । [वह महाकाव्योका वणन] 'उस रूपमे भी सुन्दर [लगता] है' इस युक्तिसे पूर्वोक्त अनौचित्यका वारण नही किया जा सकता है । [अर्थात् महाकाव्योमे अभिव्यञ्जना सौन्दर्यके होनेपर भी नाटककी अपेक्षा जो न्यूनताए पाई जाती है उनका निराकरण नहीं किया जा सकता है ।

१ काव्य कौतुकपर अभिनवगुप्तने विवरण नामक टीका लिखी थी । परन्तु मूल ग्रन्थ और टीका दोनोंमेसे कोई भी उपलब्ध नहीं है । २ वर्णनोत्कलिता । ३ तावतैव ।

तत एवोच्यते 'स दर्मेषु रूपकमिति'। [वामन का० १-३-३०]। तेन तदशसन्ध्यादिसघटनमुद्धत्य सगबन्धादि यावन्मुक्तम्। यत्तु दशरूपक तस्य योऽथस्तदेव नाट्यम्। यद्वच्यते 'नाट्यस्यैषा तनूरिति'। [ना० शा० १४-२] तस्य हृदयसवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृ-प्रतिपत्तृस्फुरण स्फुटास्फुटत्वेनातिविचित्रम्।

तत्र ये स्वभावतो निमलमुकुरहृदयास्त एव ससारोचितक्रोध-मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषा तथाविधदशरूपकाकरणनसमये साधारणरसनात्मकचवणाग्राह्यो रसञ्चयो नाट्यलक्षण स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषा प्रत्यक्षोचिततथाविधचवणालाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहक हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यथ। काव्य च नाट्यमेव।

अभिनव०—इसीलिए [वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्रमे] कहा गया है कि 'रचनाओमे दश प्रकारके रूपक [ही सवश्रेष्ठ होते है]' उन [दश प्रकारके रूपको] के [मुख सन्धि आदि] सन्ध्यादिकी रचना रूप अशोको छोड कर सगबन्ध [महा काव्यो] से लेकर मुक्तक तक [काव्य] हैं। [इस प्रकार दशरूपक, सर्गबन्ध तथा मुक्तक तीन प्रकारके काव्य होते है] उनमेसे जो दशरूपक है उसका जो अर्थ [विषय] है वही नाट्य कहलाता है। जैसा कि आगे [ना० १४ २ मे] कहा जायगा कि 'यह [दशरूपकका अथ ही] नाट्यका शरीर है'। हृदयकी अनुरूपताके तारतम्यके कारण उस [नाटक] के सुनने तथा समझने वालोकी अनुभूति स्फुट अस्फुट आदि भेदसे अत्यन्त विचित्र प्रकार की होती है।

अभिनव०—उन [सुनने समझने वालो] मे जो लोग स्वभावसे ही दपणके समान निमल हृदय वाले होते है वे ही [नाटक आदिको देख या सुन कर] सांसारिक [साधारण] पुरुषोके समान क्रोध, मोह, अभिलाष आदिके परवश नही होते हैं। उनको उस प्रकारके दशरूपकके सुनने [अथवा पढने] के समय भी [अर्थात् नाटकको देखे बिना केवल पढने अथवा सुननेसे] असाधारण रसनात्मक चवणासे ग्राह्य नाट्य रूप रसकी प्रतीति स्पष्ट ही होती है। और जो उस प्रकार [निर्मल हृदय वाले या सहृदय] नही है उनको साक्षात्कारात्मक चर्वणाकी प्राप्तिकेलिए ही नट आदिकी प्रक्रिया, और [दूसरोके रत्यादि व्यापारोको देख कर] अपने भीतर उत्पन्न होने वाले क्रोध, शोक आदिके साङ्कर्यसे जन्य हृदयकी ग्रन्थियोके नाश करनेकेलिए गान आदिकी प्रक्रियाका निर्माण भरतमुनिने किया है। क्योकि [नाट्य] शास्त्र [सहृदय असहृदय] सबका ही उपकारक है। इस युक्तिसे [नाटकसे साधारण पुरुष भी रसास्वादन कर सकते है]। इसलिए नाट्यमे ही रस [का आस्वादन] होता है लोकमे नही [अर्थात् लौकिक रत्यादि व्यापारोका अवलोकन लज्जा, आदिका उत्पादक होता है]। और काव्य [सन्ध्यङ्गादिसे रहित] नाट्य ही होता है। [इसलिए काव्योसे भी रसकी अनुभूति होती है]।

अत एव च नटे न रस । कुत्र तर्हि ? विस्मृतिशीलो न बोध्यते । उक्त हि देशकालप्रमातृभेदानियन्त्रितो[1]रस इति, केयमाशङ्का ? नटे तर्हि किम् ? आस्वादनोपाय । अत एव च पात्रमित्युच्यते । न हि पात्रे मद्यास्वादोऽपि तु तदुपायक । तेन प्रमुखपात्रे[2] नटोपयोग इत्यलम् ।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवाथभागाभिष्यन्दो यथा सगबन्धादि शब्दभागाभिष्यन्द । एतच्च 'योऽर्थो हृदयसवादी' [अ० ७-१०] इत्यत्र वितत्य वक्ष्याम ।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमय बहिर्दृश्यमान नाट्य नटधम कमरूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहु । स्मृता इति सम्प्रदायाविच्छेद दशयति । २ ।

अभिनव०—इसलिए नटमे रस नहीं होता है । [प्रश्न] तो फिर [रस] कहाँ होता हे ? [उत्तर—यह तो हम पहिले ही बतला चुके हैं] भूल जाने वालेको [बार-बार] नही बतलाया जाता है । [किन्तु फिर भी तुमको एक बार और बतलाए देते है कि]—रस देश काल तथा प्रमाताके भेदसे नियन्त्रित नही होता है [अर्थात् नियत देश काल या प्रमातामे ही रसकी उत्पत्ति नहीं होती है] यह बात कही जा चुकी है । इस लिए [रस कहाँ होता है] यह शङ्का कसी हे ? [अर्थात् यह शङ्का करना उचित नहीं है । प्रश्न] तो फिर नटमे क्या होता है ? [उत्तर] उसके आस्वादनका उपाय । इसीलिए [नटको] 'पात्र' कहा जाता है । पात्रमे मद्यका आस्वादन नही होता है अपितु उसके द्वारा [होता है । इसी प्रकार नटमे रसास्वाद नहीं होता है अपितु नटके द्वारा होता है] । प्रमुखपात्रके [अर्थात प्रमुख उपायके] रूपसे [रसज्ञानमे] नटका उपयोग होता है । इतना [कथन इस विषयमे] पर्याप्त हे ।

अभिनव०—चित्र तथा शिल्प आदि [मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चमणा । लोहरत्नै कृत वापि पुस्तमित्यभिधीयते] भी नाट्यके अथ भागके सार रूप है । जिस प्रकार सर्गबन्ध आदि [महाकाव्य नाट्यके] शब्दभागके सारभूत है । इस बात को [सप्तमाध्यायमे] 'योऽर्थो हृदयसवादी' [इत्यादि कारिकाकी व्याख्या] के प्रसगमे विस्तार पूवक कहेगे ।

इस प्रकार यहा तक ग्रन्थकारने 'नाटचरस इस पदकी अपने मतानुसार व्याख्या की है । आगे वे इस विषयमें अन्य व्याख्याताओंके मत दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याता तो अभिनयादि सामग्रीमय बाहर दिखलाई देने वाला नटका कम रूप धर्म ही नाट्य होता है इस अभिप्रायसे नाट्यसे उत्पन्न रस 'नाट्यरस' होते है यह कहते है । [पृष्ठ ५०१ पर दिए हुए द्वितीय अनुवश्य श्लोकके अन्तमे आए हुए] 'स्मृता' इस पदसे परम्पराकी अविच्छिन्नताको सूचित किया है । २ ।

---

१ देश काल प्रमातृ भेदानियन्त्रितो ।　　२ प्रमुखमात्रे ।

ये तु रत्याद्यनुकरणरूप रसमाहु, अथ चोदयन्ति शोक कथ सुखहेतुरिति ? परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगताना विशेष इति । तत्र चोद्य तावदसत् । शोको हि प्रतीयमान न[1] स्वात्मनि प्रत्येतुदु ख वितनोतीति नियम[1] शत्रुदु खे प्रहर्षात्, अन्यत्र च मध्यस्थयत्वात् । उत्तरन्तु तु भावाना स्वभावमात्रे[?]इति, न [2]किञ्चिदत्र तत्त्वम् ।

अस्मन्मते तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दु खाशङ्का । केवल तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुदबोधने चाभिनयादिव्यापार ।

यदेतदुक्त रसतत्त्व तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते 'अत्राह' इत्यादिना चोद्यमुखेन—

अभिनव०—जो [शकुक आदि व्याख्याता] रत्यादिके अनुकरणको ही रस कहते हे और उसपर यह शङ्का करते हैं कि शोक [अर्थात करुण रस] सुखका हेतु कैसे हो सकता है ? और [फिर स्वय ही उस शङ्काका] समाधान करते है कि नाट्य मे आए हुए [शोकादि] मे कुछ अपूर्व विशेषता [विभावनादि व्यापारके कारण] हो जाती हे [जिससे नाट्यमे शोक भी आनन्दात्मक करुण रसका जनक हो जाता है] । उस व्याख्या पक्षमे पहिले तो शङ्का [चोद्य] ही असङ्गत है । क्योकि प्रतीयमान शोक ज्ञाता [सामाजिक] के अपने आत्मामे दु खको उत्पन्न करता है यह नियम नही है । शत्रुके दु खमे [देखने वालेको] हर्ष होनेके कारण [प्रतीयमान शोक सामाजिक मे नियमसे दु खको उत्पन्न करे यह नियम नहीं माना जा सकता है] । और अन्यत्र [सामाजिकसे भिन्न व्यक्तिमे शोकसे दु खकी उत्पत्ति माननेपर सामाजिकके] उदासीन होनेसे [शोक दु खका कारण नही माना जा सकता है । इसलिए पहिले तो जो शङ्का उठाई गई है वही अनुचित है । फिर उसका जो उत्तर दिया गया है वह अनावश्यक है । क्योकि] उत्तर तो वस्तुके स्वभाव मात्रसे दिया गया है [कि नाट्यगत शोकादिमे कुछ ऐसी विशेषता हो जाती है कि जिससे वे आनन्दके ही जनक होते हैं । यह तो वस्तुके स्वभावमात्रका कथन किया गया है । उसके उपपादनके लिए यहाँ कोई युक्ति नही दी गई है] इसलिए इस [शङ्का—समाधान] मे कुछ भी तत्त्व नही है

अभिनव०—हमारे मतमे तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप [आत्मा] का ही आस्वादन [रस रूपमे] होता है । उसमे दु खकी शङ्का ही कैसे हो सकती है ? केवल उस [आनन्दमय विज्ञानस्वरूप] की विचित्रताके सम्पादनके लिए रति शोक आदि सस्कारो [स्थायिभावो] का व्यापार होता है । और उन [रति शोकादि रूप स्थायिभावो] के उद्बोधनके लिए अभिनयादि [रूप नटका] व्यापार होता है ।

अभिनव०—इस प्रकार जिस रसतत्त्वका वर्णन [यहाँ तक] किया गया हे उसीका [और अधिक] शोधन करनेकेलिए [भरतमुनि आगे] 'अत्राह' इत्यादिसे प्रश्न या शङ्का करते हुए [नए प्रकरणका] आरम्भ करते हैं—

---

१ किं । २, किञ्चिदेतत् ।

भरत०—अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति[1] ?

उच्यते—केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति ।

नतकगतेभ्यो रसेभ्यो भावा सामाजिके[2] । यथा करुणाच्छोक ततो विभावाद्युपचिते सामाजिके करुण इति रसाद् भावो भावाद्रस इति सन्देह । अत एव परस्परमपि[3] जन्म कालभेदेनेति तृतीय पक्ष । यदि वा नट एव राम एव [4]वा पूर्व भाव । तत उपचये रस, ततोऽप्यपचये[5] भाव । इत्येव पक्षत्रयोत्थानम् । इद चासत् । एव भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात् ।

श्रीशकुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसानास्वादयतो[6]ऽनुकार्ये भावप्रतीति प्रयोगे ।

भरत०—यहा प्रश्न होता है कि [अत्राह]—(१) क्या रसोसे भावोंकी उत्पत्ति होती है ? (२) अथवा भावोसे रसोकी ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते है कि—कि हींके मतमे [न रसोसे भावोकी, और न भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है । अपितु] एक दूसरेके सम्बन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—नटमे रहने वाले रसोसे सामाजिकमे भावो [की उत्पत्ति होती है] जैसे [नटगत] करुण [के अभिनय] से [सामाजिकगत] शोक [रूप स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है] । और उस [शोक] के विभावादिकेद्वारा उपचित होनेपर सामाजिकमे करुण [रसकी उत्पत्ति या पुष्टि होती है । इस प्रकार पहिले नटगत या नट द्वारा रसके अभिनयसे सामाजिकगत शोकादि स्थायिभावकी, और फिर सामाजिकगत भावकी पुष्टिसे सामाजिकगता रसकी उत्पत्ति होती है] इसलिए [क्या] रससे भाव [उत्पन्न होता है ? अथवा भावसे रस [उत्पन्न] होता है ? यह सन्देह होता है । इसलिए कालभेदसे एकसे दूसरेका भी परस्पर जन्म होता है यह तीसरा पक्ष बनता है । [कालभेदका अभिप्राय यह है कि पहिले नटगत रसके अभिनयसे भावकी उत्पत्ति होती है और बादको सामाजिकगत भावसे सामाजिक गत रसकी उत्पत्ति होती है । इस बातको ऊपर कह चुके है] । अथवा पहिले [अनुकर्ता] नटमे ही अथवा [अनुकार्य] राममे ही भावकी उत्पत्ति होती है । फिर [उसका] उपचय हो जानेपर उससे ही [अनुकर्ता नटमे अथवा अनुकार्य राममे] रस और, उसका अपचय होनेपर [रससे फिर] भाव होता है । इस प्रकार [(१) रससे भाव, (२) भावसे रस, (३) तथा एक दूसरेसे परस्पर दोनोकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वोक्त] तीन पक्ष बनते है । [यह उपचित रत्यादिको रस मानने वाले भट्टलोल्लटका मत है । परन्तु इस मतका खण्डन पहिले किया जा चुका है इसलिए] इस प्रकारके रस स्वरूपका खण्डन हो जानेके कारण यह पक्ष ठीक नहीं है ।

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रके दूसरे व्याख्याकार] श्रीशकुकका यह कहना है

---

१. मिति उच्यते । २ सामाजिक । ३ मिव । ४ वा पूर्वं । ५ प्युपचये । ६ येते ।

लोके 'प्रकृत रस निष्पादयतीति द्वितीयपक्षो नाट्याचार्याभिप्रेतशिक्षानुसारेण । अत एव च तृतीयोऽपि सम्भवति ।

एतदप्यसत् । न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृ विभागमवैति । 'दूषितश्चानुकरणवाद ।

तस्मादित्थमेतत्—कि रसेभ्यो भावा, उत विपयय ? आहोऽन्योन्यजनकतेति त्रय प्रश्ना । आहो-शब्दो भिन्नक्रम । विभावादिभ्यस्तावद्रस निष्पत्तिरुक्ता । स एव द्वितीय पक्षोऽभ्युगत पूवम्' ।

एतच्च कथ ? न हि लोके विभावानुभावादय केचन भवन्ति । हेतु-काय-अवस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम् । अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपता प्रतिपद्यन्ते ।

कि—अनुकर्ता [नटगत अभिनयमे] रसोका आस्वाद करने वाले [सामाजिक] को नाटकमे अनुकाय [रामादि] मे [रत्यादि] भावोकी प्रतीति होती है। वह [सामाजिक] लोगोमे प्रकृत रसको उत्पन्न करती है। इसलिए भावोसे रसकी उत्पत्ति होती हे यह दूसरा पक्ष नाट्याचाय [भरतमुनि] के अभिमत सिद्धातके अनुसार होता हे । इसीलिए [पहिले अनुकायगत भावसे नटगत रसकी, और उसके बाद नटगत रससे सामाजिकगत भावकी उत्पत्ति होनेसे] तीसरा पक्ष भी बन जाता है।

अभिनव०—यह [शकुकका कथन] भी असङ्गत है। क्योकि सामाजिकको अनुकाय तथा अनुकर्ताके भेदका ज्ञान नही होता है। और [शकुकके अभिमत] अनुकरणवाद [अर्थात् रत्यादिका अनुकरण रस है इस सद्धान्त] का खण्डन किया जा चुका है।

अभिनव०—इसलिए यह [प्रकृति पक्तिकी व्याख्या] इस प्रकार है—क्या रसोसे भावोकी उत्पत्ति होती है अथवा उसका उल्टा होता है [अर्थात भावोसे रसोकी उत्पत्ति होती है] अथवा दोनो एक दूसरेको उत्पन्न करते हैं ये तीन प्रश्न है। 'आहो' शब्द भिन्नक्रम है [अर्थात् जहाँ पढा गया है उससे भिन्न स्थानपर उसका अन्वय होता है। इन तीनोमेसे पहिले] विभावादिसे रसकी उत्पत्ति [होती है यह बात] कही जा चुकी है। वही दूसरा पक्ष पहिले [मुख्य सिद्धान्त रूपसे] स्वीकृत हो चुका है। [अर्थात् विभाव अनुभाव आदि भावोसे रसोकी उत्पत्ति होती है यह दूसरा पक्ष ही मुख्य सिद्धान्तपक्ष है। इस पर पूवपक्षी अर्थात् शकुक मतानुयायी फिर यह शका करता है कि—]

अभिनव०—[प्रश्न] यह कैसे हो सकता है ? क्योकि लोकमे तो विभाव अनुभाव आदि कोई नही होते है। [काव्यमे ही विभाव अनुभावादि व्यवहार होता है] लोकमे उनको केवल कारण या कार्य रूप ही माना जाता है। यदि यह कहो कि वे [लौकिक कारण तथा काय] ही [काव्य नाटक आदिमे प्रयुक्त होनेपर] आस्वादन

---

१ प्रकृति । ति । २ दूषित स्वानुकरणवाद । ३ अभ्युपगत पूवमेवच्च कथम ।

तर्हि रसप्रसादाद् भावा विभावादय । अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्त प्राक्, रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम् । तर्हि परस्पराश्रयत्वम् । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते इत्याक्षेप ।

भरत०—तन्न। कस्मात्, दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्ति, ननु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

भरत०—भवन्ति चात्र श्लोका –

भरत०—नानाभिनयसम्बद्धान्[1] भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ।। ३ ।।
नानाद्रव्यै बहुविधैर्व्यञ्जन भाव्यते यथा ।
एव भावा भावयन्ति रसानभिनयै सह ।। ४ ।।

मे उपयोगी होनेसे विभावादि रूपको प्राप्त हो जाते है । तो फिर यह मानना होगा कि [काव्य नाटक आदिमे] रसकी कृपासे ही विभावादि [उन शब्दोसे व्यवहारके योग्य] होते हे [इसलिए रसोसे भावोकी उत्पत्ति होती हे यह सिद्धान्त मानना होगा] । और यदि यह कहो कि उन विभावादिके प्रसादसे रसकी उत्पत्ति होती है । जैसा कि पहिले कह चुके है [कि रसकी उत्पत्ति होनेके पहिले विभावादि रूपत्व रहता है और रसानुभूति कालमे वे सब मिल कर रसरूप हो जाते हे] तो अन्योन्याश्रयत्व आ जाता है क्योंकि विभावादि व्यवहार रसके कारण होता है और रसकी उत्पत्ति विभावादि से होती है । और एक दूसरेके आश्रित रहने वाले काय नही हो सकते हें यह भावोसे रसकी उत्पत्ति होती है इस स्वीकृत किए हुए सिद्धान्त पक्षके ऊपर आक्षेप है ।

भरत०—यह [(१) रसो और भावोंके परस्पर सम्बन्धसे दोनोकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष तथा (२) रसोसे भावोंकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष, ये दोनो] ठीक नहीं है । क्योंकि [रस सूत्रके अनुसार विभाव अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि] भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति देखी जाती है । रसोसे भावोकी [उत्पत्ति] नहीं [देखी जाती है] ।

भरत०—इस विषयमे [भावोसे रसोकी उत्पत्तिके प्रतिपादक अनुवश्य] श्लोक भी है–

भरत०—क्योंकि ये [विभावादि] नाना प्रकारके अभिनयोसे सम्बद्ध रसोको उत्पन्न [भावित] करते है इसलिए नाटकका प्रयोग करने वाले इनको ['भावयन्ति इति भावा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'भाव' [नामसे] कहते हैं । ३ ।

भरत०—बहुत प्रकारके भिन्न भिन्न पदार्थोंसे जसे व्यजनोकी भावना [सस्कार या उत्पत्ति] होती है । इसी प्रकार [विभाव अनुभाव आदि] 'भाव' अभिनयोके साथ मिल कर रसोंको निष्पन्न करते है । ४ ।

---

१ त सम्बन्धा । म सम्बन्धान् । भ सम्बद्धा ।

न भावहीनोऽस्ति रसो[1] न भावो रसवर्जित ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये[2] भवेत्॥ ५ ॥

व्यञ्जनौषधिसयोगो[3] यथान्न स्वादुता नयेत् ।
एव भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥ ६ ॥

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्प फल यथा ।
तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥ ७ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह दृश्यते हीति । प्रमदादय प्रतीता सन्तो रसास्वाद विदधते यथोक्त प्राक । अतो न रसेभ्यो भावा ।

भरत०—[क्योकि] भावोके बिना रस नही रहता है [इसलिए भावोसे रसकी उत्पत्ति होती हे यह सिद्धान्त पक्ष यहा तक है । अगले चरणमे प्रतिब धी पूव पक्ष देते है] और रसोके बिना भाव नहीं रहता है । [इसलिए रसोंसे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए । यह पूवपक्षीका कथन हे । इसके आगे सिद्धान्त पक्षसे उत्तर करते है—] अभिनयमे एक दूसरेके सहारे इनकी सिद्धि होती है । ५ ।

इससे आपातत यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार भाव और रस दोनोकी एक दूसरेके सहारे उत्पत्ति मान कर अन्योन्याश्रय वाले तीसरे पक्षका समथन कर रहे हैं । परन्तु वास्तवमें यह बात नही है । ग्रन्थकारका आशय यह है कि यदि भावोसे रसकी और रससे भावोकी उत्पत्ति मानी जाय तब तो क्रियाकी समानताके कारण अन्योन्याश्र दोष हो सकता है । किन्तु यहा भावोसे तो रसकी उत्पत्ति मानी जाती है । किन्तु रससे भावोकी उत्पत्ति नही, विभावादि शब्द व्यदेश्यता मानी जाती है । अत दोनोकी क्रियाओके भिन्न होनेसे अन्योन्याश्रय दोष नही है । इसी अभिप्रायसे अभिनवगुप्त इनकी व्याख्या करेगे । और उसमें ७ वे अनुवश्य श्लोककी व्याख्यामे इस अन्तरका स्पष्टीकरण करगे ।

भरत०—जसे व्यञ्जन [उपसेचन द्रव्य] तथा औसधि [गेहू आदि] का सयोग [अन्न अर्थात्] खाद्य द्रव्यको स्वादिष्ट बना देता है । इसी प्रकार भाव और रस एक दूसरेको भावित करते है । ६ ।

भरत०—जसे बीजसे वृक्ष होता है और जसे वक्षसे पुष्प तथा फल होते है । इसी प्रकार सारे रस मूल है, और उनके द्वारा ही भावोकी स्थिति होती है । ७ ।

अभिनव०—इस [शङ्का या आक्षेपके होने] पर सिद्धान्त [रूपसे ग्रन्थकार भरतमुनि पृ० ५१० के मूल गद्यमे] कहते है कि— 'दृश्यते हीति' इसका अभिप्राय यह है कि— प्रमदादि [विभावादि] की प्रतीति ही रसास्वादको उत्पन्न करती हे । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है । इसलिए रसोसे भावोकी उत्पत्ति नही होती है ।

---

१ त भावो वा रसवर्जित । २ त नयो । ३ अ सयोगाद्यथान्नमुप पादयेत् ।

भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह 'नानाभिनय सम्यग बद्धान् हृदयङ्गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसास्तस्माद् भावा' ।। ३ ।।

'नन्वेतद् भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्त, तन्न प्रकृत किञ्चिदुक्तमित्याशक्य प्रकृते योजयितुमाह 'नानाद्रव्यै' इति ।

व्यज्यत इति व्यञ्जन चानुपानादिरसोऽत्राभिप्रेत । 'बहुविधै' इति व्यञ्जन-स्योपलक्षण, अभिनयैरित्यस्य वा विशेषणम् ।। ४ ।।

अभिनव०—भाव शब्दके अर्थका विवेचन करनेसे भी यही बात युक्तिसगत प्रतीत होती है । इस बातको 'नानाभिनय सम्बद्धान्' इत्यादि [तीसरे अनुवश्य] श्लोकमे कहा हे । नाना प्रकारके अभिनयोसे सम्यग् प्रकारसे सम्बद्ध अर्थात हृदयङ्गम [रसो] को 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं इसलिए 'भाव' कहलाते है ।।३।।

अभिनव०— [प्रश्न]—यह तो भावशब्दके प्रयोगका निमित्त आपने बतलाया । उससे [भाव ही रसोकी उत्पत्तिके कारण है इस विषयमे कोई युक्ति तो नही दी है इसलिए वह] प्रकृत [विषयके निणय] मे कुछ भी नही कहा हे [इस प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है] इस प्रकारकी आशङ्का करके [अनुवश्य श्लोकके निर्माताने स्वय ही उस व्युत्पत्यथ को] प्रकृतमे योजना करते हुए 'नानाद्रव्यै' इत्यादि अगला श्लोक कहा हे ।

अभिनव०— अनेक द्रव्योके योगसे जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन [होता] है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार [ठडाई आदि] अनुपानका रस यहा 'व्यञ्जन' [शब्दसे] अभिप्रेत है । 'बहुविध' यह पद व्यञ्जन का उपलक्षण है । अथवा 'अभिनय' इसका विशेषण है ।

उपलक्षण तथा विशेषणका अन्तर यह है कि जो विद्यमान होकर अन्यव्यावतक होता है वह 'विशेषण' कहलाता है और जो अविद्यमान होकर अन्यव्यावतक होता है वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे काली गाय इस प्रयोगमें काली पद गायका 'विशेषण' है । क्योकि काला रूप गायमे विद्यमान रहता है और उसको श्वेत आदि अन्य रगोकी गायोसे भिन्न करता है । इसलिए विद्यमान होकर अन्य व्यावतक होनसे 'काली' पद विशेषण' कहा जाता है । इसके विपरीत जो विद्यमान न होकर भी अन्यका व्यावतन करे, अन्यसे भेद करे वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' कौए वाला देवदत्तका घर है । इस प्रयोगमे 'काकवत' पद 'गृह' का विशेषण नही अपितु उपलक्षण है । किसी समय दो व्यक्ति कही जा रहे थे । किसी पर बैठे हुए कौओकी ओर उनका ध्यान गया । परन्तु वे आगे चले गए । किसी अन्य समय देवदत्तके घरका प्रसग आया । उन दोनो व्यक्तियोमेसे एक तो यह जानता था कि यह देवदत्तका घर है । दूसरा व्यक्ति इस बातको नही जानता था । कालान्तरमे जब देवदत्तके घरकी चर्चा आई तो जानने वाले व्यक्तिने न जानने वाले व्यक्तिको देवदत्तके घरका परिचय देनेकेलिए कहा कि वह 'कौए वाला' ही

---

१ नन्वेतद्भावशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम् । न तद्, प्रकृत किञ्चिदुक्तम् ।

एव स्थितपक्षमुपसहरति—न 'भावहीनोऽस्ति रस ' इति ।

अथ चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति 'न भावो रसवर्जित ' इति । लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इति भाव ।

अथोत्तरमाह—'परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्' । अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धि सा भद्र भवेदिति सम्भाव्यते । एवम्भूतमितरेतराश्रयज न दूषणमित्यर्थ ॥ ५ ॥

अत्रव दृष्टा तमाह 'व्यञ्जनौषधिसयोग ' इति—व्यञ्जनौषधिसयोगोऽन्न च कर्तृ यथा परस्परमन्योऽन्य कमभूत स्वादुता नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योऽन्य भावयन्ति ।

देवदत्तका घर है । यहाँ काकवत्' पद देवदत्तके घरका अ य गृहोसे भेद दिखलाता है । पर तु परिचय कराते समयमें उस घर घर कौए बठे हो यह आवश्यक या सम्भव नही है । इसलिए अविद्यमान होनेपर भी अ यव्यावतक होनेसे काकवत पद गृहका 'उपलक्षण' है 'विशेषण' नही । इसी प्रकार 'बहुविध ' पदको 'अभिनय ' का विशेषण या व्यञ्जनका 'उपलक्षण' माना जा सकता सकता है । अभिनयोमे बहुविधत्व विद्यमान रहता है इसलिए वह अभिनयका 'विशेषण' हो सकता है । पर तु ठडाई आदि पेय द्रव्योमे अनेक द्रव्योको मिला कर एक रस बन जाता है । उसमे बहुविधत्व विद्यमान नही रहता है इसलिए उसको व्यञ्जनका 'उपलक्षण' कहा जा सकता है ।

अभिनव०—इस प्रकार सिद्धान्त पक्षका उपसहार 'न भावहीनोऽस्ति रस ' इत्यादिसे करते है—'भावके बिना रस नहीं होता है' [इसलिए भावसे रसकी उत्पत्ति माननी चाहिए] ।

अभिनव०—इस पर शङ्का करने वाला अपने अभिप्रायको 'न भावो रसवर्जित ' इत्यादिसे प्रकट करता है—[जैसे आपके मतानुसार] भावके बिना रस नही होता है [इसी प्रकार दूसरी ओर] 'भाव भी रसके बिना नहीं होता है' । [अर्थात] लोकमे [रसके सम्बन्धके बिना] विभावादिका कोई व्यवहार नही होता है [विभावादि शब्दो का प्रयोग रसके सम्बन्धसे ही नाटकादिमे होता है इसलिए रससे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए ।]

अभिनव०—इसपर उत्तर देते है—उन दोनोके परस्पर योगसे होने वाली सिद्धि ही 'अभिनय' कहलाती है । अभिनयमे [रसका] साक्षात्कार होनेपर उसके सहायक होनेसे [रसके कारणादिको] विभावादि कहा जाता है । इसलिए जो उन दोनोके परस्पर योगसे अभिनय रूप सिद्धि होती हे, यह वह ही ठीक है ऐसा प्रतीत होता है । इस प्रकारका अन्योन्याश्रयसे उत्पन्न होने वाला दोष नही आता है । यह अभिप्राय है । [इसका उपपादन आगे एक अनुच्छेदके बाद करेंगे] ॥५ [अनुवश्य] ॥

अभिनव०——इसीमे उदाहरण देते हैं व्यञ्जन [दही काजी आदि द्रव्य] तथा औषधियोका सयोग, एव अन्न ये [दोनो क्रमश कर्ता तथा कर्म दोनो होते है] कर्ता रूपसे [क्रमश] स्थित होकर जैसे कमभूत एक दूसरेको परस्पर स्वादुता को प्राप्त कराते है इसी प्रकार रस और भाव एक दूसरेको परस्पर भावित करते है ।

भावा रसान् भावयन्ति निष्पादयन्ति । रसास्तु भावान् भावयन्ति, भावान् कुर्वन्ति भावादिव्यपदेश्यान् कुर्वन्तीत्यर्थ ।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे । यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याम्लादिरसवत्ता[1]क्रियते । अन्नेन [2]वाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते । एवं भावैः रस्यमानता, रसैश्च भावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम् । यथा पटापेक्षया तन्तवः कारणमिति व्यपदेश्या, तन्त्वपेक्षया पटः कार्यो, न चेतरेतराश्रयत्वं, तथा प्रकृतेऽपीति ॥ ६ ॥

अर्थात भाव रसोको भावित या उत्पन्न करते है और रस भावोको भावित करते हैं, भाव बनाते है, अर्थात् भाव पदसे कथन करने योग्य बनाते हैं । यह अभिप्राय है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—एक विषयमे एक क्रिया होनेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है [जैसे बीज अकुरका उत्पादक और अकुर बीजका उत्पादक है । यहाँ उत्पादन रूप समान क्रिया होनेसे अन्योन्याश्रय कहा जा सकता है] । किन्तु क्रियाका भेद होने पर नही । जैसे यहाँ [व्यञ्जन] दधि कढ़ी आदि उपसेचन द्रव्य आदिके सयोगसे अन्नमे अम्लादि रस उत्पन्न होता है [परन्तु अन्नसे व्यञ्जनमे रस उत्पन्न नहीं होता अपितु] आधारभूत अन्नसे व्यञ्जन [भूत रस] को आस्वाद योग्य बनाया जाता है । इसी प्रकार भावोके द्वारा [स्थायिभावकी] रस्यमानता होती है, और रसोके द्वारा कारणादि [रूप सीता रामादि] को विभाव पदसे व्यपदेश्य बनाया जाता है । [इसलिए क्रियाभेदके कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नही होता है] । जसे पटकी अपेक्षासे तन्तु, 'कारण' इस नामसे कहे जाते है और तन्तुकी अपेक्षासे पट 'कार्य' कहलाता है परन्तु अन्योन्याश्रय दोष वहा नही होता है । इसी प्रकार यहाँ भी [क्रियाभेदके कारण अन्योन्याश्रय दोष नही होता है] यह समझना चाहिए ॥ ६ [अनुवश्य श्लोक] ॥

इस प्रकार यहाँ तक रसकी उत्पत्तिके विषयमें भावोसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी पक्षको सिद्धान्त पक्षके रूपमे स्थापित किया गया है । परन्तु इसी अध्याय में रस प्रकरणके प्रारम्भमें मूल ग्रन्थमें सबसे पहिले रसोकी विवेचना प्रारम्भ करनेका समर्थन करते हुए यह लिखा था कि 'रसके बिना अन्य किसी अर्थकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए सबसे पहिले रसोका निरूपण करते हैं' । इसका यह अर्थ भी होता है कि रसके बिना विभाव आदिकी भी प्रवृत्ति नही होती है । इस लिए रसोसे भावोकी उत्पत्ति माननी चाहिए । तब इन दोनो कथनोमें परस्पर विरोध आता है । इसलिए ग्रन्थकार इस आपतत प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारकेलिए अगला श्लोक देते हैं । फिर भी उसमे रससे भावोंकी उत्पत्तिके सिद्धान्तका समर्थनसा प्रतीत होता है । इसलिए वृत्तिकारने आगे चल कर तीनो सिद्धान्तोको कथंचित् स्वीकार किए जाने की बात लिखी है ।

---

१ म्लादिरसवत्ता । २ आश्रय ।

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्त 'नहि रसादते कश्चिदप्यर्थ प्रवतते तेन पूर्व त एवोद्देश्या' इत्याशक्याह यथेत्यादिना—

बीज यथा वृक्षमूलत्वेन स्थित तथा रसा। तन्मूला हि[1]प्रीतिपूर्विका [2]प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरिति। [3]त एव च व्याख्यानार्हा। कविगतसाधारणीभूतसविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापार। सैव च सवित् परमार्थतो रस। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति। तदेव [4]मूलबीजस्थानीय कविगतो रस। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्त "[5]शृङ्गारी चेत् कवि' [ध्वन्यालोक ३-४२] इत्यादि, आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापार। तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद। तेन रसमयमेव विश्वम्।

अभिनव०—[प्रश्न]—यदि भावोसे रसोकी उत्पत्ति होती है [इस सिद्धान्त को माना जाय] तो आपने [पहिले] यह कैसे कहा है कि 'रसके बिना कोई अर्थ प्रवृत्त नही होता है इस लिए पहिले उन्हींका कथन करना चाहिए' [इस प्रकार का प्रश्न कोई भी उठा सकता है] ऐसी आशका करके [उसका समाधान] 'यथा' इत्यादि [७वे अनुवश्य श्लोक] से कहते हैं—

अभिनव०—जैसे बीज वृक्षके मूल [कारणरूप] मे स्थित होता है इसी प्रकार [कविगत] रस [काव्य रूप वृक्षके मूल रूपमे स्थित होते है]। इसलिए उसीके द्वारा आनन्दास्वाद [प्रीति] पूवक [रामादिवत् प्रवर्तितव्य न रावणादिवत्' इत्यादि रूप उपदेशका] ज्ञान होता है। इसीलिए वे [रस सबसे पहिले] ही व्याख्यान करने योग्य है। उसी कविगत साधारणीभूत रससविन्मूलक काव्यके द्वारा नटका व्यापार होता है। और वही [कविगत] संवित् वास्तवमे [मूलभूत] रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस [कविगत रससे प्रभावित] सामाजिकको अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय व्यतिरेक आदिके द्वारा बादको विभावादिकी प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल बीजके स्थानपर कविगत रस [भावादिका मूल कारण] है। कवि सामाजिकके समान ही है। इसीलिए [ध्वन्यालोककार] श्री आनन्दवधनाचार्यने कहा है कि—'यदि कवि शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है' इत्यादि। उस [बीजस्थानीय कविगत रस] से वृक्षस्थानीय काव्य [उत्पन्न] होता है। उसमे पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नटका व्यापार होता है। उसमे फलस्थानीय सामाजिकका रसास्वाद होता है। इसलिए [सामाजिकके लिए सारा काव्य—] जगत् रसमय ही होता है।

१ मूलादि। २ 'प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च' इतना पाठ पूवसस्करण मे दो पक्तियो के बाद आए हुए 'विभावादिप्रतीतिरिति' के बाद दिया गया था। ३ त [क] तरे च व्याख्यानार्हात। ४ मूलबीज स्थानीयात। ५ शृङ्गारी चेत्कवि काव्ये जात रसमय जगत्। स एव वीतरागश्चेत् नीरस सवमेव तत्॥ ध्व या० पृ० ४२२

अत्र च विज्ञानवादो, द्विधाभिधान, स्फोटतत्त्व, सत्कायवाद, एकत्वदशन-मित्यादि च द्रष्टव्यम्। वयन्तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दशनमिथ्याप्रयाससश्रयमशिक्षित-पूर्विण इत्यास्ताम् ।

अन्ये तु बीजादिव भावाद्रसवृक्ष । ततोऽभिनयकुसुमसुन्दरात् फलमिव भाव प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते । तै प्रकृतविरुद्ध सव व्याख्यातम् । एव हि भावस्यैवो-पक्रमपयवसानवर्तित्वमुक्त स्यादित्यास्ता चैतत् ।

एव त्रयोऽपि पक्षा कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पयम् ॥ ७ ॥

एवमुद्दिष्टाना विभक्ताना च रसाना सामान्यलक्षण परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूवक विशेषलक्षण वक्तु पीठब ध दशयति तदेषामित्यादिना—

भरत०—तदेषा रसानामुत्पत्ति-वण-देवत-निदर्शनान्यभिव्याख्यास्या ।

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् इस रसके प्रसङ्गमे] विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोट-वाद, सत्कायवाद और अद्वैतवाद आदि [नाना दाशनिक सिद्धान्तोका वणन प्राचीन टीकाकारोने किया है उसको उन्ही ग्रन्थोमे] देखना चाहिए । हमे तो प्रकृतमे अनुप-योगी [उन विषयोमें] चञ्चुप्रवेशके प्रदशनके मिथ्या ढोग बनानेका अभ्यास नही है इसलिए उसकी चर्चा नही करेगे ।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करते है कि] बीजके समान भाव [अर्थात् बीजस्थानीय भाव] से रसरूप वृक्ष [उत्पन्न] होता है और अभिनय रूप कुसुमोसे मनोहर उस [रस रूप वृक्ष] से फल के समान [फलस्थानीय] भाव, प्रतीतिके द्वारा भोगा जाता है इस प्रकारकी व्याख्या करते है। [यह मत 'भोगेन भुज्यते' कह कर भोजकत्व व्यापार मानने वाले भट्टनायक का प्रतीत होता है। 'भोगेन भुज्यते' के स्थानपर यहाँ 'प्रतीत्या भुज्यते' प्रयोग किया गया हे] । उन्होने यह बिलकुल प्रकरणके विरुद्ध व्याख्या की है। क्योकि इस प्रकार [भावसे रस वृक्षकी उत्पत्ति और उसके फल रूपमे भावका भोग मानने पर] तो आदि और अन्त दोनो स्थानोपर भाव ही आता है [जो कि सम्भव नही है] । इसलिए [इस मतके भी असङ्गत होनेसे] इसको भी छोडना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार यद्यपि भावसे रसकी उत्पत्ति होती है यही मुख्य रूपसे सिद्धान्त पक्ष है परन्तु अभिप्राय भेदसे [पूर्व व्याख्याकारो द्वारा] तीनो पक्ष कथञ्चित् स्वीकृत किए गए हैं। [परन्तु सिद्धान्त पक्षको छोड शेष दोनो पक्षोका खण्डन अभिनवगुप्तने किया है] ॥ ७ [अनुवश्य श्लोक] ॥

अभिनव०—इस प्रकार उद्दिष्ट [नामात्रेण कथित] और विभक्त किए हुए रसोंके परीक्षा द्वारा शोधित सामान्य लक्षणको कह कर उसका अनुवाद करते हुए विशेष लक्षण कहनेके लिए 'तदेषां' इत्यादिसे भूमिका बाँधते है—

भरत०—अब इन रसोंकी उत्पत्ति, वण, देवता, उदाहरण आदिकी व्याख्या करेंगे ।

यत सामान्यलक्षणमेतेषा कृत तस्माद्विशेषलक्षणाशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्याम । तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्याना च विशेषलक्षणमन्योऽन्यतो व्यवच्छेदात् । उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्व, उत्पादका तराद्विलक्षण[1] उत्पाद्यकृतमेव । उत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम् ।

वर्ण श्वेतादिरिति तु सुस्पष्टम्[2] । निदर्शन तु श्रृङ्गारो नाम इत्यादिना । विभावादिविशेषसयोगे[3] उत्पत्तिलक्षणे ह्यन्योन्याश्रयशङ्का । वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वमिति स्फुटम् । निश्चयदर्शनोपायत्व उत्पत्त्यादीना न सम्भवति, विभावादिविशेषसयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम् ।

तत्रोत्पत्तिं तावदाह तेषामित्यादिना—

भरत०—तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसा । तद्यथा—श्रृङ्गारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति । अत्र—

भरत०—श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥ ३२ ॥

अभिनव०—[क्योकि] इनका सामान्य लक्षण कर चुके है इसलिए विशेष लक्षणके पूरक उत्पत्ति आदिकी व्याख्या करेंगे । उनमेसे उत्पत्ति उत्पादको [अर्थात् हास्यादिरसोके उत्पादक श्रृङ्गारादिरसो] एव उत्पाद्यो [अर्थात् श्रृङ्गारादिसे उत्पन्न हास्यादि] का एक दूसरेसे भेद होनेसे [उत्पादक श्रृङ्गार और उत्पाद्य हास्य इन दोनोका] विशेष लक्षण है । [इसी प्रकार] उत्पादको [अर्थात् श्रृङ्गार, रौद्र, वीर, वीभत्स इन चार रसो] का यह उत्पादकत्व भी दूसरे [अर्थात् परस्पर एक दूसरे] उत्पादकोसे विलक्षण [या व्यवच्छेदक] होता है। और वह उत्पाद्य [हास्यादि के भेद] के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्पाद्योका [उत्पाद्यत्व भी दूसरे उत्पाद्योकी अपेक्षा भिन्न अर्थात व्यवच्छेदक तथा] उत्पादक कृत ही होता है ।

अभिनव०—वर्ण श्वेतादि तो स्पष्ट ही है। इसी प्रकार श्रृङ्गार आदि नाम निदर्शन [पदसे अभिप्रेत] है। विभावादिके सयोगविशेष रूप उत्पत्तिके लक्षण [मानने] में अन्योन्याश्रयकी शङ्का होती है। वर्ण तथा देवता तो आगममे वर्णित है अत [उनमे शङ्का न होनेसे] यह स्पष्ट है। [निश्चयेन दर्शन येन तन्निदर्शनम् इस व्युत्पत्तिके अनुसार] निश्चयसे दर्शनका उपायत्व उत्पत्ति आदिमे नही बनता है। इस लिए उनसे भिन्न विलक्षण होनेके कारण विभावादिका सयोगविशेष 'निदर्शन' कहा जाता है ।

अभिनव०—उनमेसे पहिले 'तेषा' इत्यादिसे उत्पत्तिका वर्णन करते है—

भरत०— उनमे चार रस [शेष रसोकी] उत्पत्तिके हेतु [अर्थात् सूचक] होते हैं। जसे कि १ श्रृङ्गार २ रौद्र ३ वीर तथा वीभत्स [रसोके उत्पत्तिके कारण होते हैं] इनमे [भी]—

भरत०—श्रृङ्गारसे हास्यकी, रौद्रसे करुणकी, वीरसे अदभुत रसकी, तथा बीभत्ससे भयानककी उत्पत्ति होती है। ३२ ।

---

१ वलक्षण्यम् । २ श्वेतादि तु सुस्पष्ट विलक्षणादि । एव । ३ सयोग

तथा रसानामुत्पत्तौ हेतव सूचकाश्चत्वार । रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स श्चतुर्भिरेव सूचित इति यावत् ।

(१)तथा हि तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्व शृङ्गारेण सूचितम् । यतो विभावाभासादनुभावाभासाद व्यभिचार्यभासाद रत्याभासे प्रतीते चवणाभाससार शृङ्गाराभास । कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावो न स्थायी । तस्य तु स स्थायिकल्पत्वन भाति । तद्वशाद्विभावाद्याभासता । अतश्च स्थाय्याभासत्व रते । यतो रावणस्य सीता द्विष्टा' वाप्युपेक्षिका वेति हृदय नैव स्पृशतीति । तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या विलीयत एव । 'मयीयमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी कामजमोहसारत्वात्, शुक्तौ रूप्याभासवत् ।

अभिनव०—१ उन रसोकी उत्पत्तिमे हेतु अर्थात् ज्ञापक चार प्रकारके होते है । अर्थात रसोका [परस्पर] जितना भी उत्पाद्य उत्पादक भाव भेद हो सकते है वे सब [आगे कहे जाने वाले] चार [प्रकारोसे ही सूचित हो जाता है] । जैसे कि—

अभिनव०—(१) तदाभास रूपसे अथवा तदनुकृति रूपसे [कोई रस किसी अन्यसे उत्पन्न हो सकता है इस प्रकारका] हेतुत्व शृङ्गार [रस] के द्वारा सूचित होता है । क्योकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्यभासके द्वारा रत्याभासके प्रतीत होनेपर [रतिका वास्तविक परिपाक न हो कर जो] केवल चवणाभास मात्र होता है वह शृङ्गाराभास [कहलाता] हे । उस [शृङ्गाराभासकी चर्वणा] मे रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती हे जो कि स्थायिभाव नही अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है । किन्तु उस [शृङ्गारभासका अनुभव करने वाले] को स्थायिभावके समान-सी प्रतीति होती है । उसी [रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति] के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं । इसीलिए [परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक] रति स्थाय्यभास [रूपमे उपस्थित होती] है । [उदाहरणार्थ रावण सीताको चाहता है । यह रावणकी सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं अपितु रत्याभासमात्र है] । क्योंकि सीता रावणके प्रति द्वेष युक्त अथवा उपेक्षा युक्त है [रागवती नही है] । इसी लिए वह [रावणके] हृदयका आलिङ्गन नही करती है । यदि उस [रावणके हृदय] का स्पर्श करे तो उसका [पातिव्रत्य धर्मका] अभिमान ही विलीन हो जाय । [रावण जो यह समझता है कि] यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम जन्य मोह मात्र रूप होनेसे [रसोत्पत्तिमे] अनुपयुक्त और शुक्तिमे रजताभासके समान [भ्रममात्र] है ।

---

१ मय्युपेक्षिका ।

यद्यपि—

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुति
चेत कालकलामपि प्रसहते नावस्थिति ता विना ।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गै रनङ्गातुरै
सम्पद्येत कथ तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासैतैव । न तु हास स्फुरति । तथापि सीतालक्षणविभाव-रावणवय प्रकृतिविरुद्ध च चि ता दैन्य मोहादिको व्यभिचारिगण, अश्रुपात-परिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूप सद्धास्यविभावरूपम्। तद्वक्ष्यते 'विकृतपरवेषालङ्कार' इत्यादि । एव तदाभासतया प्रकार शृङ्गारेण सूचित ।

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्व सर्वेषु मन्तव्यम । अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्य सवरसाना विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता। अत एव सवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रस-भाव-तदाभासव्यवहारस्तत्र क्रियते ।

अभिनव०—यद्यपि—

अभिनव०—दूरसे ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्रके समान उस [सीता] के नामको सुनते ही चित्त एक क्षणके लिए भी उसके बिना रह सकनेमे असमर्थ हो जाता है। [किन्तु] व्याकुल और बेचैन, मेरे इन काम सतप्त अङ्गोके द्वारा उसकी प्राप्ति [आलिङ्गन] का सुख कसे प्राप्त हो यह ठीक तरहसे समझमे नहीं आता है।

अभिनव०—इत्यादि रावणके वाक्यमे प्रारम्भमे रत्याभास ही प्रतीत होता है हास नहीं [प्रतीत होता है]। फिर भी [रावणका सीताके प्रति यह अनुराग प्रदर्शन] सीता [रूप आलम्बन] विभावके [विपरीत], रावणकी आयुके और प्रकृतिके विरुद्ध [प्रकट होने वाले] चिन्ता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारि गण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होनेसे तदाभासात्मक होकर हास्यके विभाव रूप बन जाते है। जैसा कि आगे 'दूसरोके विकृत वेष अलङ्कारादिके होनेपर' [हास्य रस होता है] यह कहेंगे इस प्रकार तदाभास रूपसे [रसान्तरोत्पत्तिका] प्रकार-शृङ्गारके द्वारा सूचित किया गया है।

अभिनव०—इस [उदाहरण] से करुणाभास आदि सभी [रसाभासो] में हास्यत्व समझना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्तिके कारण ही [कोई व्यक्ति] हास्य का विभाव बनता है। और वह अनौचित्य सभी रसोके विभाव अनुभाव आदिमें हो सकता है। इसी प्रकार व्यभिचारिभावोका भी यही हाल है। इसीलिए अनुभूतिके तत्त्वको समझने वाले विद्वानोके द्वारा [अनुभूतिमे सूक्ष्म भेदके आधारपर ही] भिन्न-भिन्न दशाओमे रस, भाव, तदाभास [रसाभास] आदि व्यवहार किया जाता है।

अमोक्षहेतावपि तदाभासताया शान्ताभासो हास्य एव। प्रहसनरूपस्यानौचित्यस्य[1] त्याग सवपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्य । एतच्च लक्षणे वक्ष्यते ।

तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यस्त्वत्र हास्यमुखरस्त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

एव यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सवत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम् । एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना 'यथा'ग्रहण कृतम् ।

अभिनव०—[निर्वेद रूप शान्तरसका स्थायिभाव] मोक्षका हेतु न होनेपर भी [जहाँ तदाभास] मोक्षहेतु-सा प्रतीत होता है वहा शान्तभास हास्यरूप ही होता है। [प्रहसन] उपहास रूप अनौचित्यका त्याग सभी पुरुषार्थोंमे निवाहना चाहिए। यह बात [हास्यरसके] लक्षणके प्रसङ्गमे कहेगे ।

अभिनव०—उनमे हास्याभासका उदाहरण जैसे हमारे चाचा श्री वामनगुप्तका [निम्नाङ्कित पद्य हास्याभासका उदाहरण है]—

अभिनव०—हे महापुरुष [अङ्ग] ! यदि ये लोग आपके लोकोत्तर कामोको [अर्थात् आप अपनी वीरताकी जो अलौकिक बातें इनको सुनाते है उनको] नहीं मानते हैं तो हम [उनको] क्या कहे, [लेकिन आपसे इतना अवश्य कह सकते है कि आप इधर तो अपनी वीरताकी ऐसी डींग मारते है उधर जब अपने शत्रु या अधिकारीके सामने जाते हैं तो खुशामदके रूपमे सदा फटकारा खाकर भी हसते हुए जाते हैं। सो] जो आप उनके सामने [खुशामद रूपमे] हसते हैं इससे कौन ऐसा है जो जिसका हसते-हसते पेट न दुखने लगता हो ।

यहाँ अपनी वीरताकी कोरी गप्पें हांकने वाले किसी व्यक्तिका उपहास करते हुए जो 'प्रहसन' अत्यन्त हसनेका वर्णन किया गया है इसलिए यहाँ हास्य रस न होकर हास्यभास हो गया है। जैसा कि आगे हास्य रसके प्रकरण में अतिहसन अथवा प्रहसन हास्याभास कोटिमे बतलाया जायगा।

अभिनव०—इसी प्रकार जो जिसका प्रिय जन [बन्धु] नहीं है उसके शोकमे [प्रदर्शित] करुण [रस] भी [अनौचित्य युक्त होनेके कारण] हास्य ही है। इस प्रकार सब [रसोमे अनौचित्यका प्रयोग होनेपर सब] जगह [हास्य ही होता है यह] समझ लेना चाहिए। [यहा तक कि हास्य रसमे भी अनौचित्यका योग होनेपर वह भी 'हास्याभास' रूप हो जाता है जैसे कि 'लोकान्तराणि चरितानि'] यही उदाहरण है। इसी प्रकार इस [उदाहरण] से अन्योका अनुमान कर लेना चाहिए। इसी लिए [भरत] मुनिने 'यथा' शब्दका ग्रहण किया है।

---

१ रूप स्वनौचित्य ।

(२) यदीयफलानन्तर द्वितीयो रसोऽवश्यम्भावी तस्योदाहरण रौद्र । रौद्रस्य हि फल बधबन्धादि । तद्विभावकेनावश्य करुणेन भाव्यम् । यथा वेणीसहारे—

अद्यैवावा रणमुपगतौ तातमम्बा च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्या शिरसि विनतोऽह च दु शासनश्च ।
तस्मिन् बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्था
पित्रो पार्श्वं व्यपगतघृण किन्नु वक्ष्यामि गत्वा ॥

एव रौद्रानन्तर नियमेन भयानक । शृङ्गारानन्तर नियमेन करुण । व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य ।

ननु तत्र रतेरविच्छेदात् बन्धुताकृत शोक ?

अभिनव०—[(२) द्वितीय प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व] जिसके फलके अनन्तर दूसरा रस अवश्य उत्पन्न हो उस [प्रकारके उत्पाद्य-उत्पादक भाव] का उदाहरण रौद्र रस है । क्योकि रौद्र [रस] का फल बध बन्ध आदि होता है । [उसके बाद] उन्ही [बध-बन्धादि रूप उद्दीपन] विभावो वाला करुण रस अवश्य होता है । जैसे वेणीसहारमे—

अभिनव०—आज ही प्रात काल हम दोनो अर्थात मै [दुर्योधन] और दु शासन पिता [धृतराष्ट्र] तथा माता [गान्धारी] से मिल कर युद्ध भूमिमे आए थे और नमस्कार करनेपर उन्होने [माता-पिताने] मेरे और दु शासनके सिरको [चिरायुकी कामनाकेलिए] सूघा था । उस बालक [दु शासन] की शत्रु [भीम] के द्वारा [उसको मार कर और छातीका खून पीकर] वह दुदशा हो जानेके बाद, मै निलज्ज माता पिताके सामने जाकर क्या उत्तर दूगा ?

इस प्रकार एक ओर रौद्र रसका प्रदशन होता है, उससे जिसका बधादि होता है उसके सम्बन्धियोंमें करुण रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—इसी प्रकार रौद्रके बाद नियमसे भयानक [रस] होता है । और शृङ्गारके बाद [दोनोमेसे किसी एकके मरने पर] नियमसे करुण होता है । और [कभी-कभी] उसी जन्समे [अर्थात् दोनोके जीवित रहते भी एककी मृत्युका भ्रमवश निश्चय-सा होजानेपर] भी इस [करुण रस] का व्यापार होता है । जैसे तापस-वत्सराजचरितमे । [वासवदत्ताके वस्तुत जीवित होनेपर भी मन्त्री आदिके द्वारा उसकी आगमे जलकर मृत्यु हो जानेका निश्चय करा देनेपर] वासवदत्ताके जल कर मर जानेसे वत्सराज उदयनके [करुण रसका व्यापार देखनेमे आता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] वहा [अर्थात् तापसवत्सराजचरित नाटकमे आगे चल कर फिर वासवदत्ताकी प्राप्ति हो जानेसे] रतिका विच्छेद न होनेसे [शृङ्गारसे सम्बद्ध वह परिपाकको प्राप्त न होनेके कारण] करुण रस ही नहीं है अपितु केवल बन्धु-भावके कारण होने वाला [साधारण] शोक है ?

नैतत्, करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि [1]क्रोधस्या विच्छेद एव । यदाह—

निर्वाणवैरदहना प्रशमादरीणा

नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन । [वेणीस० १–७]

इति । न च बन्धुतामात्र हेतु । एव हि सति—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता

ते लोचने प्रतिदिश विधुरे क्षिपन्ती ।

क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा

धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ।। [तापस० २-१६]

इत्यत्र 'ते' इति प्राणभूत पद निरुपयोगिता गमित स्यात् ।

अभिनव०—[उत्तर] यह [कहना कि तापसवत्सराजमे करुण रस नही अपितु बन्धुताकृत शोक मात्र है] ठीक नही है । क्योकि [प्रकारान्तरसे अर्थात् रौद्ररस के फल रूपमे] करुण रसकी उत्पत्ति होनेके समय भी [पारमार्थिक रूपसे रौद्ररसके स्थायिभाव] क्रोधका विच्छेद हो जाता है । जैसा कि कहा है—

अभिनव०—शत्रुओ [अर्थात् कौरवो] का नाश हो जानेसे जिनकी वैराग्नि शान्त हो गया है इस प्रकारके पाण्डुपुत्र —पाण्डव लोग— कृष्णके सहित आनन्द मनावें । [और रक्तसे पृथ्वीको रग देने वाले तथा घायल शरीर वाले कौरव लोग स्वर्गको मृत्युको प्राप्त हो] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे क्रोधका विच्छेद हो जानेपर रौद्रके फल रूपमे करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है इसी प्रकार रतिका विच्छेद हो जानेपर भी उसी जन्ममें अर्थात दोनो प्रेमियोके वस्तुत जीवित रहते हुए किसी एकको किसी कारण विशेषसे दूसरेकी मृत्युका निश्चय हो जानेपर करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है । यह सिद्धान्त पक्ष इस पक्तिमें प्रतिपादित किया गया है । इसी आधारपर तापसवत्सराजवसितमें करुण रसका समथन करनेके लिए ग्रन्थकार दूसरी युक्ति भी आगे देते हैं कि—

अभिनव—[और तापसवत्सराजचरितमे] बन्धुतामात्र [अर्थात् सामान्य सम्बन्धमात्र उदयनके दु खका] कारण नही है । ऐसा होनेपर तो—

अभिनव०—भयसे कापती हुई [अपने चारो ओर लगी हुई अग्निके] डरसे जिसके वस्त्र [इधर-उधर] गिरे जा रहे हैं इस प्रकारकी और 'उन' [पूर्वानुभूत चपलतादि युक्त सुन्दर] नेत्रोको चारो ओर दौडाती हुई [वासवदत्ता] को धुएसे स्वय अन्धे हुए अग्निने बडी निर्दयताके साथ सहसा भस्म ही कर डाला, [धुएसे अन्धे हो जानेके कारण] उसको देख नही पाया ।

अभिनव०—इत्यादिमें [इस पद्यका] प्राणभूत 'ते' यह पद अनुपयुक्त हो जायगा ।

इसलिए 'तापसवत्सराजचरित' में शृङ्गारसे करुण रसकी उत्पत्ति होती है यही पक्ष मानना चाहिए ।

---

१ क्रोधस्य विच्छेद ।

रतिप्रलापेषु च 'कुमारसम्भवे शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम् ।

हृदये वससीति मत्प्रिय यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपद न चेदिद त्वमनङ्ग कथमक्षता रति ॥ (कुमार ४-९)

इत्याद्युक्तिषु ।

एव वीराद् भयानकोत्पत्ति । यथा—

कर्णस्यात्मजमग्रत शमयतो भीत जगत् फाल्गुनात् । (वेणीसहार ५-५)

अभिनव०—[इसी प्रकार कुमार सभवमे वर्णित] रतिके प्रलापोमें शृङ्गार रस ही करुणका प्राण स्वरूप है । [जसे]—

अभिनव०—तुम [रति] मेरे [कामदेवके] हृदयमे रहती हो यह जो मेरी प्रिय बात तुम कहते थे सो वह मुझे झूठ ही मालूम होता है । यदि यह केवल दिखावटी बात न होती [और मै रति सचमुच तुम्हारे –कामदेवके– हृदयमे बैठी होती] तो तुम तो शरीर रहित हो गए [तुम्हारा शरीर तो भस्म हो गया परन्तु उसके भीतर तुम्हारे हृदयमें बैठी हुई] रतिका कुछ भी नही बिगडा [वह वैसे ही जीवित है] यह कैसे हो सकता था ।

अभिनव०—इत्यादि वाक्योमें [शृङ्गार रस ही करुणका प्राणभूत होता है]

अभिनव०—इसी प्रकार वीरसे भयानक उत्पन्न होता है । जैसे—

अभिनव०—कर्णके पुत्र [वृषसेन] को [कर्णके] सामने ही मार देने वाले [फल्गुनात् अर्थात] अर्जुनसे जगत् भयभीत हो रहा है ।

यह वेणी सहार नाटकके पचमाकका ५वाँ श्लोक है । धतराष्ट्र दुर्योधनको युद्धसे निवत्त करनेकेलिए समझा रहे हैं । कि जिन भीष्म और द्रोणके बलपर तुमने पाण्डवोकी पर्वाह न की और उनके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया वे भीष्म और द्रोण युद्धमें मारे जा चुके हैं । उनके बाद कर्णकी शक्तिपर तुम्हे बडा अभिमान था सो अर्जुनने कर्णके देखते देखते उसके सामने ही उसके पुत्र वृषसेनको समाप्त कर दिया इससे वह आशा या अभिमान भी चूर हो जाता है । दु शासन आदि वीरोके मारे जानेके बाद अब केवल तुम बच रहे हो । इसलिए हे पुत्र ! मेरी प्राथना है कि तुम शत्रुओके प्रति मानको छोड कर उनके साथ सन्धि कर लो और हम अ धे माता पिताका पालन करो । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

दायादा न ययोबलेन गणितास्तौ भीष्म द्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रत शमयतो भीत जगत् फल्गुनात ।
वत्साना निधनेन मे त्वयि रिपु शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मान वरिषु मुञ्च तात ! पितराव धाविभौ पालय ॥

इसमे अर्जुनके द्वारा कर्णके पुत्रके मारे जानेसे जगत्के भयभीत होनेका जो वर्णन किया गया है इसीसे वीर रससे भयानककी उत्पत्ति दिखलानेकेलिए यह उदाहरण दिया है ।

भरत मुनि ने जो 'वीराच्चैव भयानक' लिख कर वीर रससे भयानककी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है १ उसके विषयमें भरतके टीकाकार शकुकने यह आपत्ति उठाई है कि भयानक

---

१ द्वितीय सस्करणे कुमार सम्भवे इति पद नास्ति ।

यत्त्वत्र शकुकेनोक्त 'नात्रोत्साहस्य व्यापार' इति, तदसत । एव हि निर्विषय एवोत्साह स्यात कर्तव्याननुसन्धानात् । युद्धवीरे च पराजयजनित प्रतापापरपर्याय शत्रुहृदयदाहदायी युद्धनितादिषु भयानक एव जीवितम् ।

यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्या स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् । नियमश्चकारेणोक्तो रौद्रादित्यानन्तय-सूचकपञ्चम्यनन्तर प्रयुक्तेन ।

रसकी उत्पत्तिमें वीर रसके स्थायिभाव उत्साहका कोई व्यापार नही होता है तब वीरसे भयानककी उत्पत्ति कसे कहते हैं । २ इसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—यहा [अर्थात] भयानक रसकी उत्पत्तिमे वीर रसके स्थायिभाव] उत्साहका कोई व्यापार नही दीख पडता है [इसलिए वीर रसको भयानक रसकी उत्पत्तिका कारण नही मानना चाहिए] यह जो शकुकने कहा है–[इसका खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते है कि]—यह [शकुकका मत] ठीक नही है [क्योकि बीर रस तो सदा शत्रुमे भयानक रस या उसके स्थायिभाव भयको उत्पन्न करता ही है। यदि भय अथवा भयानक रसकी उत्पत्तिमे वीर रस अथवा उसके स्थायिभाव उत्साहका व्यापार न माना जाय तो] इस प्रकारसे तो [उत्साहका शत्रुनिष्ठ भयोत्पादनके अतिरिक्त अन्य कोई] काय [कतव्य] प्रतीत न होनेसे उत्साहका कोई विषय ही नही रहेगा [उत्साह निर्विषय ही हो जायगा] । और युद्धवीरमे तो [विशेष रूपसे] शत्रुकी पराजयसे उत्पन्न शत्रुके हृदयको दग्ध करने वाला प्रताप नामसे व्यवहृत होने वाला, भयानक [रस] ही प्राणभूत होता है ।

जैसे—

अभिनव०—जिस [विष्णु] के द्वारा मारे गए [दैत्यो] मेसे बचे हुए दैत्य उस [कृष्ण] के वणके समान अञ्जनसे युक्त अत एव लावण्य युक्त अपनी स्त्रियोके नेत्र रूप नीलकमलो [को देख कर उनके सदृश कृष्ण वर्ण कृष्णका स्मरण कर उन नेत्रो] से भी भयभीत हो उठते है उन [कृष्ण] की जय हो ।

अभिनव०—[इत्यादि उदाहरणो] मे नियमसे [वीर रससे उत्पन्न भयानक रस ही वीर रसका प्राणस्वरूप] होता है यह कहना चाहिए । यह नियम ['रौद्राच्च करुणो रस ' इस बादमें आए हुए] पञ्चम्यन्त 'रौद्रात्' पदके बाद आए हुए 'चकार' से सूचित होता है । [अर्थात् भयानक रसकी उत्पत्तिमे 'उत्साह' नियमसे अवश्य कार्य करता है । अत शकुकका कथन ठीक नही है] ।

(३) यस्तु रसो रसान्तर फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवतते तस्योदाहरण वीर । महापुरुषेत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव । यथा—

दोदण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुदण्डावभङ्गोद्यत [वीरचरिते २-५४] इत्यादि ।

रौद्रस्तु परविनाशन फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवतते न करुणामिति विशेष । विदूषकहासस्तु नायिकहास फलत्वेनाभिसन्धत्ते इति मन्तव्यम् ।

अभिनव०—[(३) तृतीय प्रकारका उत्पत्तिहेतुत्व] जो रस दूसरे रसको फल रूपसे मान कर प्रवृत्त होता है उसका उदाहरण वीररस है। क्योंकि महापुरुषोका उत्साह [वीररसका स्थायिभाव] जगत्को विस्मित करनेको फल मान कर ही प्रवृत्त होता है [अर्थात् वीर रससे अद्भुतरसकी उत्पत्ति होती है।] जसे कि—

यहाँ उदाहरण रूपमें महावीर चरित नाटकके प्रथमाङ्कके ५४व श्लोकका प्रथम चरण उद्धत किया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

दोदण्डाञ्चितच द्रशेखरधनुदण्डवभङ्गोद्यत—
टङ्कारध्वनिरायबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिम ।
द्राक् पयस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ।।

अभिनव०—[रामचन्द्र के] बाहुदण्डके द्वारा खीचे गए शिव धनुषके दण्ड [के टूटने] से उत्पन्न और आय]रामचन्द्र] के बालचरित की प्रस्तावना [आरम्भ] की घोषित करने वाला, [धनुषके टूटनेके साथ ही गिर कर मिले हुए] कपाल-सम्पुटो के समान [अत्यन्त सकीण] ब्रह्माण्ड रूप भाण्डके भीतर घूमनेके कारण जिसकी उग्रता और भी अधिक बढ़ गई है इस प्रकार का यह [धनुषके टूटनेसे उत्पन्न] टकार-शब्द अब तक भी शान्त नही हो रहा है यह कितने आश्चय की बात है।

अभिनव०—इत्यादि [मे वीर रसका फल अदभुत रस होता है]।

रौद्ररससे यद्यपि करुण रसकी उत्पत्ति होती है पर तु वह इस श्रेणीमें नही आता है क्योकि रौद्र रससे साक्षात् तो परविनाशकी उत्पत्ति होती है और उस परविनाशके द्वारा परम्परया करुण रस उत्प न होता है। इसी प्रकार विदूषकके हाससे नायिकाके हासकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह रसा तर नही होता है। इसलिए वह भी इस प्रकारका उदाहरण नही है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें कहते हैं—

अभिनव—रौद्र रस तो दूसरेके नाशको ही फल मान कर प्रवृत्त होता है करुण को नही [इसलिए वह इस श्रेणीके उदारहणोमे नहीं गिना जा सकता है] यह विशेष समझना चाहिए। और विदूषकका हास तो नायिकाके हासको फल मानता है [अर्थात् नायिकाका हास विदूषकके हासका फल होता। वह रसान्तर नही है]।

(४) यस्तु रसस्तुल्याविभावत्वान्नियमेन रसान्तर हि परमाक्षिपति तस्योदाहरण वीभत्स । तस्य हि ये भावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्य भयहेतव । तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्या, तदनुभावास्तु मुखविकूणनादय । यथा वेणीसहारे—

"सस्तम्भयन्ता निहतदु शासनपीतशेषशोणितस्नपितवीभत्सवृकोदरदशनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि" । इति ॥

भरत०—शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु कीर्तित ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय करुणो रस ॥ ३३ ॥

एव तदाभासद्वारेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम् । तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र 'तु' शब्दो वीप्सायाम् । द्वितीयो हेतौ । तेनैव योजना–या अनुकृति स हास्यो, यत प्रकीर्तित । एव विभावको हास्य इति शेष । तद्यथा शृङ्गार आद्य, शृङ्गारवत्यनुकृतिरित्यथ ।

चतुथ प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व—

अभिवन०—जो रस समान विभाव वाला होनेसे दूसरे रसका आक्षेप कराता है उसका उदाहरण वीभत्स रस है । उस [वीभत्स रस] के जो रुधिर आदि विभाव है वे अवश्य ही भयके हेतु [अर्थात् भयानक रसके भी विभाव] होते हैं । इसी प्रकार उस [वीभत्स रस] के व्यभिचारिभाव मरण, मोह, अपस्मार [मूर्छा मिरगी] इत्यादि, तथा उस [वीभत्स रस] के मुख सिकोडना आदि अनुभाव [अवश्य ही भयानक रसके व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव] होते है । जैसे वेणीसहारमे—

अभिनव०—मारे हुए दु शासनके [छातीके रक्तको पीकर] पीनेसे बचे हुए रक्तको शरीरमे मल लेनेसे भयकर दिखलाई देने वाले भीमको देखकर घबराहटके मारे जिनके अस्त्र शस्त्र गिरे जा रहे हैं इस प्रकारकी रणभूमिसे भागती हुई सेनाओको रोको ।

पूर्वोक्त उदाहरणोंमे काय कारणभावके व्यवस्थापक चार नियम—

भरत०—शृङ्गारका जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता हे । और रौद्रका जो काय है वह करुण रस माना जाता है । ३३ ।

अभिनव—इस प्रकार [हास्यको शृङ्गारकी अनुकृति कह कर] तदाभास द्वारा दूसरे रसका आक्षेप करानेमे शृङ्गार[को] उदाहरण [माना जा सकता] है । इसलिए [कारिकामे आए हुए] 'शृङ्गारानुकृति' [या तु] इसमे 'तु' शब्द वीप्सामे [अर्थात् पौन पुन्य बार-बारकी अनुकृतिका सूचक] है । और दूसरी बार का तु शब्द हेतु अर्थमे है । इसलिए जो [शृङ्गारकी] अनुकृति है वह हास्य है । 'क्योकि' [ऐसा कहा जाता है । अर्थात् इस प्रकारके [शृङ्गारानुकृति रूप] विभावो वाला हास्य [रस] होता है । जैसे कि शृङ्गार अर्थात् प्रथम रस, है । और शृङ्गार रससे युक्त अनुकरण [हास्य कहलाता है] यह अभिप्राय हुआ ।

---

१ शृङ्गारस्यानुकृति ।

¹या त्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृश पृथुतरीकृता' [रत्नावली २-१५] इत्यादौ ²सा निमूलैव। ³उदयने हि शृङ्गारो ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना। सा च न तात्कालिकत्वेन, नोत्तरकालिकत्वेन। किन्तु पूवतरमेवेति न किञ्चिदेतत्।

शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोने शृङ्गारसे अदभुत रसकी भी उत्पत्ति मानी है और उसके लिए रत्नावलीका निम्न श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है—

दृश पथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष—
श्चतुर्भिनरपि साधु साध्विति मुखै सम व्याहृतम्।
शिरासि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुव वैधसो
विधाय ललना जगत्प्रयललामभूताभिमाम्॥

रत्नावली २ १५।

एकान्तमें सागरिका कुमारीको देखकर राजा उदयन तथा विदूषक उसके सौन्दयकी प्रशसा करते हुए कह रहे हैं कि इस को बना कर निश्चय स्वय ब्रह्मा भी आश्चयमे पड गए होगे कि इतनी सुन्दर रचना मैने कैसे बना ली है। पहिले इस भावको विदूषकने व्यक्त किया है। उसके बाद राजा भी उसी भावका अनुमोदन करते हुए यह श्लोक कह रहे हैं। श्लोक का भाव यह है कि—

तीनो लोकोकी अलकार भूत इस सागरिका रूप ललनाकी रचना करके विस्मयके कारण ब्रह्माकी अपने आसनके कमलोंकी कान्तिको जीत लेने वाली आंखे आश्चयसे फैल गई, चारो मुखोसे एक साथ साधुवाद निकलने लगे और सिर हिलने लगे।

यहा शृङ्गारसे अद्भुत रसकी उत्पत्ति शकुक आदिके मानी है। परन्तु अभिनव गुप्त इससे सहमत नही हैं। उनका कहना यह है कि यहा शृङ्गार या रति तो राजा उदयनमे है और विस्मय ब्रह्माको हो रहा है और वह भी शृङ्गारकी उत्पत्तिके पहिले है। अर्थात् जब ब्रह्माने सागरिकाकी रचनाकी उसी समय उनको अपनी अद्भुत रचनापर विस्मय हुआ। परन्तु राजाके मनमें सागरिकाके प्रति रति या अनुरागका भाव बहुत बाद को उत्पन्न हुआ। इसलिए उत्तरवर्ती शृङ्गारको पूववर्ती अदभुत रसका कारण मानना उचित नही है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें कहते हैं—

जो यहा 'दृश पृथुतरीकृता' इत्यादि [रत्नावली २-१५] मे [शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकार] शृगारसे अदभुत रसकी उत्पत्तिकी शका करते हैं, वह ठीक नही है। क्योकि वहाँ उदयनमे शृङ्गार [की भावना] है और विस्मय ब्रह्माने है। और वह [विस्मय] भी उस समय [अर्थात् शृङ्गार-भावनाकी उत्पत्तिके समय] नही [उत्पन्न हुआ है] और न उसके बाद [उत्पन्न हुआ है] अपितु [शृङ्गार से] पूवकालमे उत्पन्न हुआ है। इसलिए [उस उत्तरवर्त्ती शृङ्गारको पूर्ववर्ती विस्मयके प्रति कारण मानना] 'यत्किञ्चित्' अर्थात् सवथा असङ्गत है।

(५) तैतीसवी कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या यहा तक समाप्त करने के बाद अब आगे उसी कारिकाके उत्तरार्द्धकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उत्तरार्द्धमें रौद्ररससे करुण रसकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है। इसको ग्रन्थकार परम्पराफलत्वेन रसान्तरके आक्षेपका उदाहरण

१ यस्त्वत्र। २ सा निमूला। ३ उदयनेन हि।

(५) [1]परम्पराफलत्वेन रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम् । रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मक बधादि, चकारात् तस्य यत्कर्म फलरूप स एव करुण । एवकारेणात्यन्तव्यवहिता परम्परा पराकरोति ॥ ३३ ॥

भरत०—वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुत परिकीर्तित ।
बीभत्सदर्शन यत्र ज्ञेय स तु भयानक ॥ ३४ ॥

(६) समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरण त्वस्यासन्नयोगो वीर । 'वीरस्यपीति' वीरस्य सम्यङ् निकट यत्फल सोऽद्भुत । परित समन्तात् या कीर्ति यश प्रतापरूपा ततो हेतो । अपि-शब्दात् शृङ्गारोऽपि वीरस्यानन्तर फल द्रौपदी-स्वयम्बरादौ ।

मानते हैं । क्योकि रौद्र रससे साक्षात् करुण रसकी उत्पत्ति नही होती है । रौद्र रससे साक्षात् तो दूसरेके बधादिकी उत्पत्ति होती है और वह शत्रुवधादि उसकी स्त्रियो आदिमें करुण रसकी विभावता का कारण बन कर करुण रसको उत्पन्न करता है । इस प्रकार रौद्र रस करुणरसकी उत्पत्तिमें परम्परया कारण होता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे लिखते हैं—

अभिनव०—(५) परम्पराफलके रूपमे दूसरे रसका आक्षेप करानेमें रौद्र [रस] उदाहरण है । रौद्ररसका जो काय अर्थात् वधादि रूप फल, [कारिकामे आए हुए] चकारसे उसका [भी] जो [प्ररम्परागत] काय, अर्थात् फल, वह करुण रस होता है । ['रौद्रस्यैव च यत्कम'मे आए हुए] एवकारसे अत्यन्त व्यवहित परम्पराका निराकरण किया है । ३३ ।

पिछली ३३वी कारिकामें शृङ्गार रसकी हास्यके प्रति, और रौद्र रसकी करुणके प्रति कारणताका निरूपण किया था । इस कारिकामे वीर रससे अद्भुतकी तथा वीभत्ससे भयानककी उत्पत्तिका वर्णन करेंगे । इनमेसे समनन्तरफलत्वेन रसान्तर का आक्षेप कराने वाला वीररस है और तुल्यविभावत्वेन रसान्तरका आक्षेप कराने वाला वीभत्स रस है । इस रूपमे इन दोनोके द्वारा दो प्रकारकी कारणताका प्रतिपादन किया है ।

भरत०—वीर रसका भी जो काय है वह अदभुत रस कहलाता है । और जहा [समान विभावादिकोके कारण] वीभत्सका दर्शन होता है वह भयानक रस समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

अभिनव०—(३) उनमेसे अव्यवहित फलके रूपमे दूसरे रसका आक्षेप करानेमे इस [अद्भुत रस] के समीप स्थित [आसन्नयोगो] वीर रस उदाहरण है । वीरका सम्यक् अर्थात् निकट [अव्यवहित] जो फल है वह अद्भुत रस है । ['परिकीर्तित' की विशेष प्रकारकी हेतु-परक व्याख्या करते है कि] 'परित समन्तात्' सब ओरसे जो कीर्ति, यश प्रताप आदि रूप कीर्ति उसके कारण । [उत्पन्न अर्थात् वीर रससे महापुरुषोकी यश प्रताप आदि रूप कीर्ति सब ओर फैलती है और वह जगत्के विस्मयका कारण होती है । कारिकामे 'वीरस्यापि' इस भागमे आए हुए] अपि शब्दसे [कभी कभी] शृङ्गार भी वीरका अव्यवहित फल होता है [यह सूचित किया है] । जसे द्रौपदी स्वयम्बर आदिमे ।

---

१ त्वस्ययोग वीरस्य ।

(७) सहभावेन रसा तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम्। यदेव वीभत्सस्य दशन विभावादिरूप स एव भयानकस्तद्विभावत्वात्। उपचारस्य सहभावप्रतीति[1] फलम्। तमेव 'च' शब्दो द्योतयति। 'तु' पूवतो[2] विशेषमाह। [3]इम एव चाक्षेपप्रकाशत्वेन सम्भाव्यन्ते[4] न त्वधिक इति।

ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते [5]यथास्व पुरुषाथचतुष्कव्याप्ता। [6]ते हि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपा[7]। रञ्जकाभासादयस्तनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीया।

एतावन्त एव रसा इत्युक्त पूवम् तेनानन्त्येऽपि पाषदप्रसिद्धचा, एतावता प्रयोज्यत्वमिति यद भट्टलोल्लटेन निरूपित तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम्॥ ३४॥

भरत०—अथ वर्णा –

अभिनव०—(७) [४० वी कारिकाके उत्तरार्द्ध भागकी व्याख्या करते है]—सहभावसे [तुल्यविभावादिकके कारण] अन्य रसका आक्षेप करानेमे बीभत्स रस उदाहरण है। जो कि वीभत्सका विभावादि रूपमे दशन है वह ही उन्हीं विभावो वाला होनेसे भयानक रस है। [कारिकामे जो वीभत्स दशन होता हे वह भयानक है' इस प्रकार जो बीभत्स तथा भयानकके अभेदका प्रयोग किया गया है वह औपचारिक प्रयोग है क्योकि वस्तुत वीभत्स तथा भयानक एक रस तो नही है। वे दोनो वास्तवमे तो अलग अलग रस हे। किन्तु उनका जो औपचारिक अभेद कहा गया हे उस] उपचार का फल दोनोकी सहभावकी प्रतीति हे। उसीकी [कारिकामे आया हुआ] च-शब्द सूचित [वात] करता हे। तु शब्द पहले [अर्थात् वीभत्स रस] से [भयानक रसके] भेदको बतलाता है। आक्षेपके द्वारा प्रतीत होने वाले ये ही [चार रस] हो सकते हैं। [अधिक] नही।

अभिनव०—और यहा जो [शृङ्गार आदि चार, हास्यादि चारके] उत्पत्तिके कारण बतलाए गए है वे यथा योग्य [धम अथ काम मोक्ष रूप] पुरुषाथ-चतुष्टयसे व्याप्त हे। वे ही [चार रस] सौन्दर्यातिशयके जनन रूप है। रञ्जकाभास [रसाभास] आदि उन [रसो] के अनुगामी रूपमे रूपकोमे समाविष्ट किए जा सकते हैं।

अभिनव०—इतने ही [आठ या शान्तको मिला कर नौ] "रस है यह पहिले कह चुके है। इसलिए भट्टलोल्लटने जो यह कहा है कि [रसोके] अनन्त होनेपर भी नटोमे प्रसिद्ध होनेके कारण [नाटकमे] इतनोका [आठ रसोका] ही प्रयोग करना चाहिए" सो [उन्होने] अभिमानवश बिना विचारे कह दिया है [इसलिए उचित नहीं है] अत एव उसका अधिक खण्डन करनेकी आवश्यकता नही है। ३४।

(२) वर्ण निरूपण—

भरत०—अब वर्णोंका कथन करते हैं।

---

१ प्रतीत। २ पूव पक्षमाह। ३ अयमेव चाक्षेपप्रकाशत्वात् सम्भाव्यते।
४ सा त्वस्यापि सम्नोक्त। ५ यथा स्वय। ६ तद्धि।
७ तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपम।

भरत०—श्यामो भवति शृङ्गार सितो हास्य प्रकीर्तित ।
कपोत करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ॥ ३५ ॥

भरत०—गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानक ।
नीलवणस्तु बोभत्स पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ॥ ३६ ॥

वर्णाभिवान पूजादौ ध्याने उपयोगि । मुखरागेऽपीत्यन्ये । "स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ" इति शान्तवादिना पाठ ॥ ३५-३६ ॥

भरत०—अथ दैवतानि—

भरत०—शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो[1] हास्य प्रमथदैवत ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्य[2] करुणो यमदैवत ॥ ३७ ॥

तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । विष्णु कामदेव । प्रमथा भगवतो गणा क्रीडापरा । रुद्रस्त्रैलोक्यसहारकर्ता । अत एव [3]चोदयति यमम् । यमेन बधादिके सम्पादिते करुण ॥ ३७ ॥

भरत०—शृङ्गार रस श्याम वणका होता है । हास्य रस श्वेत माना जाता है । रौद्र रस कपोत वण [कबूतरकेसे रगका] और रौद्र रस लाल रगका कहा गया है । ३५ ।

भरत०—वीर रस गौर [वणका], और भयानक रस कृष्ण वणका समझना चाहिए । वीभत्स रस नील वणका और अदभुत रस पीले रगका माना गया है । ३६ ।

अभिनव०—[इस प्रकार रसोके] रगोका कथन [उनकी] पूजा आदिके अवसरपर उनके ध्यान [करने] मे उपयोगी होता है । दूसरे व्याख्याकारोके मतमे [उस उस रसके अभिनयके समय तदनुरूप] मुखके राग [रगने] मे भी [उपयोगी होता है । इसमे शान्त-रसका वण नही दिखलाया गया है इसलिए जो लोग शान्त-रसको भी मानते है उनके मतमे ४३ वीं कारिकाके अन्तिम चरणमे 'पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ' के स्थानपर] 'स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ' इस प्रकारका शान्तरस मानने वालोका [अभिमत] पाठ है । [उसके अनुसार शान्तरसका वण पीत माना जाता है] । ३५-३६ ।

(३) देवता निरूपण—

भरत०—अब देवताओका वणन करते हैं ।

भरत०—शृङ्गार रसका देवता विष्णु [कामदेव] है, [शिवजीके] गण हास्यके देवता है । रौद्ररसका अधिष्ठातदेव रुद्र, और करुणका देवता यम है । ३७ ।

अभिनव०—उस उस रसकी सिद्धिकेलिए उस उस देवताकी पूजा करनी चाहिए इसके [बतलानेके] लिए देवताओंका निरूपण किया गया है । [कारिकामे आए हुए] विष्णु [का अर्थ यहा] कामदेव है । [वह कामदेव रूप विष्णु शृङ्गार रसका देवता है] । प्रमथ [पदसे शिव] भगवानके, क्रीडा करने वाले गण [गृहीत

१ न व अ देवत्तु । भ व देवश्च । २ देवस्तु ।
३ चोदयतीतिनिय [च यमयतीति] मेन ।

भरत०—बीभत्सस्य महाकाल कालदेवो भयानक ।
वीरो महेन्द्रदेव स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवत ॥ ३८ ॥

महाकालोऽधिदैवतमिति शेष । स हि तद्विभाव कङ्काल श्मशानादि सेवते । महेन्द्रस्त्रैलोक्यराज । ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा । 'बुद्ध शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति शान्तवादिन केचित् पठन्ति । बुद्धो जिन परोपकारैकपर प्रबुद्धो वा ॥ ३८ ॥

भरत०—एवमेतेषा रसानामुत्पत्ति-वर्ण-दैवतान्यभिव्याख्यातानि ।

भरत०—इदानी विभावानुभाव-व्यभिचारिसयुक्ताना लक्षणनिदर्शना-न्यभिव्याख्यास्याम स्थायिभावाश्च रसत्वमुपनेष्याम ।

होते] हैं । [वे हास्य रसके देवता हैं] । रुद्र तीनो लोकोका सहार करने वाले है [वे ही रौद्र रसके देवता है । वे त्रैलोक्यके सहार कर्ता हैं] इसलिए वे ही यमराजको [प्राणियोके बध आदिकेलिए] प्रेरित करते है । [उन रुद्रकी प्रेरणासे] यमके द्वारा बध आदिके सम्पादित हो जानेपर करुण रस [उत्पन्न] होता है [इसलिए करुणरसके देवता यमराज है] ॥ ३७ ॥

भरत०—बीभत्स रसका देवता महाकाल, और भयानकका काल देव है । वीररसका महेन्द्र देवता है और अद्भुत रसका देवता ब्रह्मा है । ३८ ।

अभिनव०—बीभत्सरसके महाकाल अधिष्ठातृदेव है यह शेष समझना चाहिए । क्योकि वह [महाकाल रूप शिव] ही उस [बीभत्सरस] के विभाव कङ्काल श्मशान आदिका सेवन करता है । [भयानकरसके विभाव भी बीभत्सरसके समान होते हैं इसलिए उसका देवता कालदेवको बतलाया है । वीर रसका देवता महेन्द्रको माना गया है उस महेन्द्र शब्दसे] महेन्द्र अर्थात् त्रैलोक्यके राजाका ग्रहण होता है । [अदभुत रसका देवता ब्रह्माको बतलाया है क्योकि] ब्रह्मा अचिन्त्य [जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता है इस प्रकारके] आश्चर्यजनक पदार्थोंका रचयिता होता है । [इन रस देवताओमे भी शान्तरसके देवताका उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए 'स्यादद्-भुतो ब्रह्मदैवत' इसके स्थानपर] कुछ शान्तरसको मानने वाले 'बुद्ध शान्तेऽब्ज-जोऽद्भुते' इस प्रकारका पाठ मानते हैं । [उनके मतमे] बुद्ध अर्थात् परोपकारमे ही लगे रहने वाले अथवा ज्ञानी [बुद्धदेव शान्तरसके देवता हैं । 'और अब्जज' अर्थात् कमलयोनि ब्रह्मा अद्भुतरसके अधिष्ठातृ देव माने जाते है] ॥ ३८ ॥

भरत०—इस प्रकार इन रसोंकी उत्पत्ति वर्ण तथा देवताओंकी व्याख्या हो गई ।

भरत०—अब विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावोसे सयुक्त इन [रसो] के [सामान्य तथा विशेष] लक्षण और उदाहरणोंका वर्णन करेंगे । और स्थायिभावोको रसत्वको प्राप्त करावेगें ।

इस प्रकार यहाँ तक रसोंके उत्पत्ति, वर्ण तथा देवताओका वर्णन किया गया है । परन्तु रसोका परिज्ञान केवल इनके द्वारा नही हो सकता है । क्योकि उत्पत्तिमें तो शृगारादि रसो को हास्यादि दूसरे रसोका कारण माना है इसलिए उसमें अन्योन्याश्रय दोष आजानेसे यह रसोके स्वरूपका निश्चयात्मक ज्ञान नही करा सकती है । इसी प्रकार वर्ण तथा देवताओका आगमानुसार

तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि, वर्णदेवतात्मकमप्यागमसिद्ध-त्वात्, इत्येकप्रघट्टकेनोपसहरति एवमित्यादिना । एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थः ।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयति इदानीमित्यादिना । विशेषलक्षणं सजातीयाद् व्यवच्छेदकम् । न विजातीयाद व्यवच्छेद विना सजातीयत्वम् । न चासौ सामान्यलक्षण विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितु सामान्यलक्षणमनुवदति अनुभावेत्यादिना ।

लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि । तेन प्रत्येक लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थ ।

नाम मात्रका वर्णन कर दिया गया है उनसे भी रसोके स्वरूपका परिज्ञान नही हो सकता है। इसलिए आगे रसके सामान्य लक्षण तथा शृगारादि विशेष रसोके अलग अलग विशेष लक्षण मूल ग्रन्थमे दिखलाए गए हैं। उनकी अवतरणिका करते हुए अभिनवभारतीकार इसी बातको अगली पंक्तियोमें लिखते हैं—

अभिनव०—इन [पूर्ववर्णित उत्पत्ति, वर्ण तथा देवता] मेसे उत्पत्ति लक्षणमें [शृङ्गार आदि कुछ रसोसे ही दूसरे रसोकी उत्पत्तिका वर्णन होनेसे] अन्योन्याश्रय [दोष] हो जानेसे वह [रसोके स्वरूपकी] निश्चयकारक नही हो सकती है। इसी प्रकार वर्ण तथा देवता भी आगम सिद्ध होनेसे [रसोके स्वरूपके परिचायक नही हो सकते है] इसलिए एक ही साथ 'एवम्' इत्यादि [गद्यात्मक मूलग्रन्थ] से उनका उपसहार करते है। 'एतेषा' अर्थात् इन सब [रसो] के [उत्पत्ति, वर्ण, तथा देवता का वर्णन हो चुका]।

अभिनव०—अब [रसोके] विशेष लक्षणोको कहनेलिए [ग्रन्थकार] 'इदानी' इत्यादिसे भूमिका बनाते है। विशेष लक्षण सजातीयसे भेदक होता है। परन्तु विजातीयसे भेद हुए बिना सजातीयत्व [का ज्ञान] नहीं होता हे। और वह [विजातीयसे व्यवच्छेद] सामान्य लक्षणके बिना नहीं होता है। इसलिए विशेष लक्षण उस [सामान्य लक्षण] के बाद होता हे इसके दिखलानेके लिए [ग्रन्थकार पहिले 'विभावानुभावव्यभिचारिसयुक्ताना', इत्यादिसे [रसके] सामान्य लक्षणका अनुवाद करते हैं।

अभिनव०—लक्षण रूप जो निदर्शन अर्थात विशेष लक्षण ['लक्षण-निदर्शनानि' हुए। उनकी व्याख्या करेगें] इससे प्रत्येक रसके विशेष लक्षण कहेगे यह यह अभिप्राय निकलता है।

मूल ग्रन्थमें जो 'लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्याम' आया है उसमे लक्षणानि निदर्शनानि च लक्षण और निदर्शन इस प्रकारका द्वन्द समास न करके लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च' इस कर्मधारय समास द्वारा उसकी विशेष प्रकारकी व्याख्या करते हैं। इस समासके भेद द्वारा व्याख्याकार निदर्शन पदका उदाहरणके स्थानपर, 'विशेष लक्षण' यह अर्थ करना चाहते हैं। क्योकि विशेष लक्षणोके बिना सामान्य लक्षणोका 'निदर्शन' या 'समन्वय' नही किया जा सकता है। इसलिए

विशेषलक्षणानि वा सामान्यलक्षणस्य निदशनानि। येषु सामान्यलक्षण निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च। तद्विना तस्योदाहतु मशक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तर-तयादर सूचयति। ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसव-निबन्धनकतृव्यताप्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्व विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्याम। विभावान् यथायोगमुदाहरद्भि कविनटैर्हि ते रसता नीयन्ते। यदाह—

'या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित् कवीना नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्व्य विश्वमनिश निवणयन्तो वय
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन [1] त्वद्भक्तितुल्य सुखम्॥

विशेष लक्षण सामान्य लक्षणके निदशक होते हैं। अत एव आगे रसके सामान्य लक्षण और उनके निदशन रूप विशेष लक्षण कहेंगे यह अर्थ उक्त पक्तिका करना चाहिए यह व्याख्याकारका भाव है। इसी बातको वे अन्तिम पक्तियोमें कहते हैं—

अभिनव०—अथवा विशेष लक्षण, सामान्य लक्षणके उदाहरण होते हैं [यह अर्थ भी निकलता है क्योकि] जिन [उन] मे सामान्य-लक्षणका निर्देश अथवा योजना की जाती है अर्थात् उदाहरण दिया जाता है। उस [विशेष लक्षण] के बिना उस [सामान्य लक्षण] को नहीं दिखलाया जा सकता है [क्योकि 'निर्विशेष न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार हर सामान्यका पयवसान किसी न किसी विशेष व्यक्तिमे होना अनिवाय है। जसे मनुष्य सामान्य या जातिवाचक सज्ञा है परन्तु उससे किसी न किसी मनुष्य व्यक्तिका ग्रहण अवश्य होता है। इसलिए विशेषको सामान्यका निदशन कहा जा सकता है। मूलग्रन्थमे आए हुए 'स्थायिभावाश्च' इस अशमे] 'चकार' [स्थायिभावोके विषयमे] लोकोत्तर रूपसे आदर सूचित करता है। जो स्थायिभाव लोकमें [सामान्य रूपसे] चित्तवृत्ति रूप होते हैं और नाना प्रकारके परिश्रमसे सिद्ध होने वाले [नाटकादि रूप निबन्धन अर्थात्] प्रयोजकोके व्यापारके बोधन करने वाले हैं उनको भी उपदेश द्वारा विश्रान्तिके परम धाम रूप रसत्वको प्राप्त करावेंगे। क्योकि यथोचित विभावादिको उपस्थित करा कर कवियो और [अभिनय कालमे] नटोके द्वारा वे [स्थायिभाव] रसत्वको प्राप्त कराए जाते है। [यह मूल ग्रन्थके 'स्थायिभावाश्च रसत्वमुपनेष्याम' का अर्थ है]। जैसा कि [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने ध्वन्यालोक पृ० ४४३ पर] कहा है कि—

हे समुद्रशायिन्! [विष्णु भगवान्] रसोके आस्वादनकेलिए [शब्द योजनादिमे] प्रयत्नशील कवियोकी [प्रतिपलनवोन्मेषशालिनी] जो कुछ अपूर्व दृष्टि है और प्रमाणसिद्ध अर्थोंको प्रकाशित करने वाली जो विद्वानों [दार्शनिको] की 'वैपश्चिती' दृष्टि है उन दोनोके द्वारा [अर्थात् कविभावना तथा दार्शनिक भावना दोनो] से इस

1 ध्वन्यालोक ३ ४३।

नटाना तु तदुपजीवित्वा न नवा दृक् पश्यति न रसयत्यतो 'नवा' इति । तस्माद्रसनोपयोगि विभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भि स्थायिनो रसता नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फल दर्शयति ।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम् ।

भरत०—तत्र [1]शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक । तथा च यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वल दर्शनीय[2] वा भवति तच्छृङ्गारेणोपमीयते । यस्तावदुज्ज्वलवेष स शृङ्गारवानित्युच्यते ।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसवादित्वाच्च तत्प्रधान शृङ्गार लक्षयति

ससारको रात दिन देखते देखते हम थक गए परन्तु आपकी [अर्थात भगवान्की] भक्तिके सुखके समान सुख अन्यत्र कही भी नही मिला ।

इस श्लोकके प्रथम चरणमें कवियोकी अपूर्व दृष्टि रसास्वादन करानेमें व्यापारवती होती है यह कहा गया है । इसका अर्थ यह हुआ कि कवि यथोचित रीतिसे विभावादिकी आयोजना द्वारा रसास्वादकी सामग्री उपस्थित करते हैं । इसीलिए कवि स्थायिभावोको आस्वादयोग्य रस बनाते हैं यह कहा है । इसी प्रकार नट भी अभिनय द्वारा नाना प्रकारके परिश्रम साध्य उपायोसे विभावादिको प्रस्तुत कर स्थायिभावोको आस्वादयोग्य बनाते हैं । इसीलिए ग्रन्थकारने यहा 'कविनट' यह पद प्रयुक्त किया है । परन्तु नट कविके आश्रित होता है कवि निर्मित नाटक आदि का अभिनयमात्र करता है । इसलिए उसका महत्त्व कविकी अपेक्षा कम है । यही भेद अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—नटो [अभिनेताओ] के तो उन [कवियो] के आश्रित होनेसे उनकी दृष्टि नवीन [नही होती अर्थात् नवीन अपूर्व अर्थको] न देखती है और न आस्वादन करती है । इसीलए [नटोसे कविकी विशेषता दिखलानेकेलिए कविकी दृष्टिके साथ] 'नवा' यह [विशेषण] दिया है । इसलिए रसोके आस्वादन योग्य बनानेमे उपयोगी उचित विभावादिका उपदेश करके [कवियो और नटोके समान] हम [नाट्यशास्त्रकार] भी स्थायिभावोको रस रूपताको प्राप्त कराते हैं । इससे [रस तथा विभावादिके] लक्षण रूप [इस ग्रन्थ] का फल [रसास्वाद है यह] दिखलाया है ।

अथ शृङ्गाररस प्रकरण ।

भरत०—उनमेसे रति रूप स्थायिभावसे उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक शृङ्गार रस होता है । क्योंकि ससारमे जो कुछ शुद्ध पवित्र उज्ज्वल और दर्शनीय होता है उसकी शृङ्गारके साथ उपमा दी जाती है । और जो उज्ज्वल वेष (बन ठन कर रहने वाला) होता है वह शृङ्गारवान् (शृङ्गारी पुरुष) कहलाता है ।

अभिनव०—उन [सब रसो] मेसे कामके [पुरुषार्थ रूप] फल होनेसे और

---

१ च व वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस । त हृद्योज्ज्वल वेषस्वभाव. । २ य त दर्शनीय भवति तत्सर्वम् ।

'तत्र' इत्यादिना 'उज्ज्वलवषात्मक' इत्यन्तेन सूत्रेण । तत्रेति क्रमनिर्धारणे, एव सति इत्यर्थे वा । एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्त यल्लक्ष्यपद शृङ्गारो नामेति व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना । 'वस्तुसौष्ठवादिमण्डित[1] शृङ्गार, तेन शुचिमेध्याद्युपगीयते[2]' । तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्द । न चातिप्रसङ्ग आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरतना ।

तदनुपपन्न, उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात् तथा । तस्माद यमत्राथ —रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्य श्रङ्गार । रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपर 'शृङ्गारी' इत्युच्यते ।

सब [मनुष्य या प्राणियो] के हृदयके अनुकूल [प्रिय] होनेसे [सबसे पहिले] काम-प्रधान श्रङ्गारका लक्षण [निरूपण] 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मक'—तक [ग्रन्थभागसे] से करते है। 'तत्र' यह पद क्रमके निर्धारणमे है, अथवा 'ऐसा होने पर' [अर्थात् रसका सामान्य लक्षण हो चुकनेके बाद] इस अर्थमे है। इस सूत्रके भाष्यसे व्यक्त होने वाला जो लक्ष्यपद है उसको 'शृङ्गारो नाम' इससे कहा है। उसीकी 'यत्किञ्चित्' इत्यादिके द्वारा व्याख्याकी गई है। वस्तुके सौन्दर्यादिसे अलकृत शृङ्गार होता है उसीके साथ [मूल ग्रन्थमे] शुचि मेध्य आदिका सादृश्य दिखलाया गया है। इसलिए उज्ज्वल वेषात्मकके लिए श्रङ्गार शब्द [प्रयुक्त होता] है [उसके उपयोगी समझा जाता है]। और आप्तोपदेशके नियामक होनेसे [श्रङ्गार शब्दके प्रयोगमें] अतिव्याप्त नहीं होती है यह [शकुकादि] प्राचीन [व्याख्याताओका] मत है।

अभिनव०—परन्तु वह असङ्गत है। [वास्तवमे यहाँ] उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वल वेष तथा शृङ्गार रस] के अलग-अलग विशेष विषयकी प्रतीति नहीं होनेसे [अर्थात् उपमान उपमेयका अभेद मान कर] उस प्रकारका व्यवहार होता है। इसलिए ['शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभव उज्ज्वलवेषात्मक' इसका] यहा यह अर्थ होता है कि आस्वादनकी जाती हुई रति ही मुख्य रूपसे शृङ्गार [शब्दका अर्थ] है। रतिका आस्वादन करने वालो [सामाजिको] के द्वारा उस [रतिके उपभोग] मे विशेष रूपसे आसक्त [नायकादि] को 'शृङ्गारी' कहा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने यहाँ शृङ्गार रसको 'उज्ज्वलवेषात्मक' कहा है और लोकमे जो कुछ शुचि मेध्य उज्ज्वल एव दर्शनीय है तच्छृङ्गारेणोपमयते' उसको शृङ्गार के समान बतलाया है। भरतमुनिके इस लेखपर यह शङ्का हो सकती है कि शृङ्गार रस तो वस्तुत आस्वादात्मक है। वह न तो उज्ज्वल वेषात्मक है और न उज्जवल वेषके समान। फिर भरत मुनिने जो उसको उज्ज्वल वेषात्मक तथा उज्ज्वल वेषके समान कहा है उसकी सङ्गति कैसे लग सकती है। इस प्रकारकी नीतिका अवलम्बन किया जाय तो फिर तो प्रत्येक शब्दका मन चाहे अर्थमें प्रयोग किया जा सकेगा। इसी दोषको यहाँ अतिप्रसङ्ग दोष कहा गया है। इस 'अति प्रसङ्ग का निराकरणके लिये शकुक आदि प्राचीन टीकाकारोने आप्तोपदेश 'आर्ष प्रयोग' के

---

१ हस्त पुष्ठतादि मण्डित । २ सूचो मध्याद्युपभीपते ।

[1]या तु तज्जनकादिपरे 'तदव्यसनिता' सा [2]रसास्वादनदशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि [3]यथास्व विभावादि। तथा शास्त्रानिषिद्ध, अजुगुप्सित, [4]सुस्फुट, मनोहर च यत् तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह—'उपमीयते' तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत्। क्व तथेति दर्शयति यस्तावदिति। 'तावद' ग्रहणेनावधारणवाचिना श्रृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति। श्रृङ्गारवानिति [5]तदुज्ज्वलवेषे श्रृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह।

ननु मुख्यतया रत्यास्वादे श्रृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याह [6]यथा चेत्यादि—

भरत०—यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि

सिद्धान्तकी शरण ली है। अर्थात् उन्होंने इसे 'आर्ष प्रयोग' मान कर अतिव्याप्तिके निवारणका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यहां 'आर्ष प्रयोग' की शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। शास्त्रोंमें कार्य कारण विषय विषयी आदिका अभेद मानकर 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' आदि औपचारिक प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यह शास्त्रोंकी सामान्य प्रक्रिया है। इसी प्रकार यहां उपमान तथा उपमेयका अभेद मानकर यह औपचारिक प्रयोग किया गया है।

अभिनव०—परन्तु उस [रति] के जनक [विभाव रूप स्त्री] आदिमें आसक्त पुरुषमें जो उस [श्रृङ्गार] की व्यसनिता [आसक्ति] पाई जाती है वह रसका आस्वादन होनेकी दशा लोकमें विद्यमान होते हुए भी [अनास्वाद्य होनेसे] बहुत काल तक स्थिर नहीं रहती है। [इसलिए मुख्य रूपसे आस्वाद्यमान रति ही श्रृङ्गार-शब्दसे ग्रहण की जाती है] और उस [रति] के आस्वादनमें यथायोग्य विभावादि उपयोगी, होते हैं। शास्त्रमें अनिषिद्ध, अनिन्दित और मनोहर जो [उज्ज्वल वेषादि रूप वस्तु] है वह भी गौण रूपसे श्रृङ्गार शब्दसे कहा जाता है। यही बात [मूल ग्रन्थमें] 'उपमीयते' [इस शब्द] से कही है। [यहां उपमीयते शब्दका यह अर्थ है कि शुचि मेध्यादि विभावादि रूप वस्तु] उस [रतिके आस्वादन] में उपयोगी रूपसे, उस रूपमें [मीयते] बोधित या लक्षित होता है। जैसे कहां [लक्षित होता है] यह [मूल ग्रन्थमें] 'यस्तावत्' इत्यादिसे दिखलाते हैं। अवधारणार्थक 'तावत्' शब्दके ग्रहणसे श्रृङ्गार शब्दका मुख्य [रस रूप] वाच्यार्थ उस [उज्ज्वल वेष] में नहीं है यह सूचित किया है। इसलिए [वह उज्ज्वल वेष वाला] श्रृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगमें उज्ज्वलवेषमें श्रृङ्गार-शब्द औपचारिक [रूपसे प्रयुक्त होता] है।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो फिर मुख्य रूपसे श्रृङ्गार शब्दकी प्रवृत्तिका क्या कारण या प्रयोजन होता है? ऐसी आशंका करके [उसके समाधानार्थ मूल ग्रन्थमें आगे] 'यथा च' इत्यादि कहा है।

भरत०—जैसे गोत्र कुल तथा आचार आदिसे उत्पन्न तथा आप्तोपदेशसे सिद्ध पुरुषोंके

---

१ यस्तु स तज्जनादिपर एव। तद्व्यसनिता। २ रसनास्वादशलोके। ३ यथास्व।
४ सस्फुट, यत् स्फुट। ५ तदनुज्ज्वल। ६ तथा च।

भवन्ति तथैवैषा रसाना भावाना च नाटचाश्रिताना चार्थानामाचारोत्पन्ना-न्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति । एवमेष ह्याचारसिद्धो हृद्योज्ज्वल-वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस ।

गोत्र पितसन्तानादि । कुल मातृसन्तान सूचयति । आचारो व्यवहार । तत उत्पन्नानि लोके प्ररुढानि । मूले तु[1] आप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि । पु सामिति मनुष्यजाते, नराणा नारीणा च । नराणा हि पितृस तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि । स्त्रीणान्तु मातृवशानुसारि कनकप्रभा च द्रप्रभेति ।

एव रसादीना तच्छास्त्रवेदिवद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्त-प्रणीतानि नामानि। तदेवोपसहरति । एव शृङ्गारो रस । स आचार-न्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्ध । कुतो हेतो ? हृद्यादिवेषात्मकत्वात् ।

एतदुक्त भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते । यथा 'साख्यपुरुषोऽय न किञ्चित्

नाम होते हैं इसी प्रकार इन रसो भावों और नाटचाश्रित अर्थोके व्यवहारके द्वारा उत्पन्न एव आप्तोपदेशसे सिद्ध नाम होते है। इस प्रकार यह मनोहर और उज्ज्वलवेषात्मक होने से व्यवहार सिद्ध शृङ्गार रस होता है।

अभिनव०—[मूलमे आए हुए] 'गोत्र' शब्दका अर्थ पितृकुलकी परम्परा है। कुल शब्द मातृस तान [मातकुलकी परम्परा] का वाचक है। आचारका अर्थ व्यवहार है। उनसे उत्पन्न और लोकमे प्रसिद्ध । मूल रूपमे तो नामकरण रूप आप्तोपदेशके नियमसे सिद्ध। 'पु सा' का अभिप्राय [केवल पुरुष नही अपितु] मनुष्य जातिके अर्थात् स्त्री और पुरुषो [दोनो] के [नाम होते हैं। उनमेसे] पुरुषोके [नाम] पितकुलकी परम्पराके अनुसार विष्णुशर्मा इत्यादि होते है और स्त्रियोके नाम तो मातृकुलकी परम्पपराके अनुसार कनकप्रभा चन्द्रप्रभा इत्यादि [होते है]।

अभिनव०—इसी प्रकार रस आदिके नाम उनको समझने वाले वृद्ध-पुरुषोके व्यवहारसे [लोकमे] प्रसिद्ध और [मूल रूपमे] प्राचीन ब्रह्मा आदिके द्वारा रखे गए नाम होते है। इसी बातका उपसहार 'इस प्रकारका शृङ्गार रस होता है' इससे करते हैं। और वह आचार अर्थात व्यवहारसे [गौण रूपसे उज्ज्वल वेषकेलिए] लोकमे भी प्रसिद्ध हो जाता है। क्यो होता है ? [यह कहते है कि] मनोहर वेषादिके कारण।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय होता है कि—प्रत्येक शास्त्रके सिद्धान्तो [समय] के अनुसार [मुख्य रूपसे विशेष अर्थमे] प्रयुक्त होने वाले शब्द भी उन [विशेष शास्त्रो] के वृद्ध जनोके व्यवहारसे लोकमे प्रसिद्ध होकर उपचारसे अन्य अर्थों मे भी व्यवहृत होते है। जसे (१) 'यह सांख्यका पुरुष कुछ नही करता है' (२) 'उसने मेरे लिए भूमिका बना दी' (३) 'इन दोनोमेसे इसकी अधिक महत्ता है।' [तीनो

---

१ तु न आद्य ।

करोति,' 'पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचित ' 'अत्र 'महत्ता अन्योऽन्यमस्य'। तद्वदमी शृङ्गारादि शब्दा इहैव विषये मुख्या, लोके तु साख्यपुरुषादिशब्दवत्।

वाक्योमे प्रयुक्त १ 'पुरुष', २ 'पूर्वरङ्ग' तथा ३ 'महत्ता' शब्द क्रमश साख्य, नाट्य-शास्त्र तथा वैशेषिक दशनके विशेष शब्द है परन्तु उनका प्रयोग लोकमे अन्य अर्थोमे भी होता है]। इसी प्रकार ये शृङ्गारादि शब्द इस [रसके] विषयमे ही मुख्य [रूपसे प्रयुक्त होते] है। लोकमे [अर्थात् उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अथमे] तो साख्य-पुरुषादिके समान [औपचारिक रूपसे ही प्रयुक्त होते] हे।

साख्य दशनमे विश्वको प्रकृति तथा पुरुष दो भागोमे विभक्त किया गया है। चेतन सत्ताका नाम पुरुष तथा अचेतन सत्ताका नाम प्रकृति रखा गया है। याय दशनमें चेतन सत्ताके भी जीवात्मा तथा परमात्मा ये दो भेद माने गए हैं। उनमेंसे जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मोका करने वाला तथा उनके फलोका भोगने वाला होता है। इस प्रकार यायमें आत्माको कर्ता तथा भोक्ता माना गया है। पर तु साख्य दशनके अनुसार कत त्व तथा भोक्तृत्व सब अ त करण या प्रकृतिके धम हैं। पुरुष उनके यहा न कर्ता है न भोक्ता। इसीलिए लोकमे अकमण्य यक्तिकेलिए व्यङ्ग्य रूपमे 'साख्य पुरुष' शब्दका प्रयोग होता है। इसी प्रकार नाटयशास्त्रके 'पूवरङ्ग' शब्दका लोकमे भूमिका' अथ में, तथा वैशेषिक दशनके परिमाणवाचक 'महत्' शब्दका वडप्पन आदि अर्थोमें लोकमें प्रयोग होता है।

इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द मुख्य रूपमे शृङ्गार रसके वाचक होते हैं। लोक व्यवहारसे औपचारिक रूपसे उज्ज्वल वेष आदि अर्थोमें भी उनका प्रयोग हो जाता है। पर तु उज्ज्वल वेष आदि रूप अथ शृङ्गारादि शब्दोके मुख्याथ नही है। यह ग्र थकारका अभिप्राय है।

शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोमे से किसीने 'अस्मायामेधास्रजो विनि' ५ २ १२१ इस पाणिनि सूत्रके अ तगत आए हुए 'शृङ्गवृ दारकाभ्यामारकन्' इस वार्तिकसे मत्वर्थीय प्रत्यय मान कर 'प्रशस्त शृङ्ग यस्यास्तीति शृङ्गार' इस प्रकार शृङ्गार पदकी व्युत्पत्ति की है। पर तु अभिनवगुप्त इस व्युत्पत्तिसे सहमत नही हैं। उनका कहना यह है कि इस सूत्रसे 'आरकन प्रत्यय' करनेपर तो 'शृङ्गार' शब्दके स्थानपर 'शृङ्गारक' शब्द बनेगा। जसे वृ द' शब्दसे इस सूत्रके द्वारा आरकन् प्रत्यय करनेपर प्रशस्त वृ द येषामस्तीति वृ दारका' यह पद बनता है। इसी प्रकार 'प्रशस्त शृङ्ग यस्यास्तीति शृङ्गारक' यह पद बनेगा, शृङ्गार' पद नही बनेगा। शृङ्गार पद तो तब बनता जब 'आरकन्' प्रत्यय न होकर 'आरच' या आरक्' प्रत्यय होता है। पर तु वह वार्तिक 'आरच्' प्रत्ययका विधान तो नही करता है। 'आरकन्' प्रत्ययका विधान करता है। आरकन् प्रत्ययमें से अन्तिम हल 'न' की इत्सज्ञा तथा लोप होकर 'वृ दारक' शब्द बन जाता है। पर तु 'न' का लोप हो जानेके बाद क' का भी लोप हो जाय यह बात सम्भव नही है। अत आरकन् प्रत्यय होनेपर 'वृ दारक के समान 'शृङ्गारक' पद बनता है। इसलिए उस सूत्रके द्वारा शृङ्गार-पदकी सिद्धि या उसके आधारपर शृङ्गार पदकी व्युत्पत्ति करना अनुचित है। इसीलिए व्याकरण शास्त्रमें इस वार्तिकसे 'शृङ्गार' शब्दकी सिद्धि न मान कर उसे उणादिमें निपातित माना गया है। अत एव प्राचीन व्याख्याकारो द्वारा की गई शृङ्गार पदकी व्युत्पत्ति ठीक नही है। वे उस सूत्रके आधार पर व्युत्पत्ति करते समय इस बातको भूल गए हैं कि यहाँ 'शृङ्गार' शब्द है शृङ्गारक नही। इसी बातको ग्र थकार अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कहते हैं—

---

१ अत्र महत्ता मन्योन्यमस्य।

यस्तु शृङ्गारशब्दस्य 'मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम्। 'आरकन्' हि प्रत्ययोऽत्र आरब्ध,[2] 'वृन्दारक' इति यथा। अत एव उणादिषु निपातितोऽयं शब्द।[3]

[4]यस्त्वपृथग्भावेन गोत्रादिनामानि [5]तत्तदीक्षितानि व्याचष्टे तस्य व्यावर्त्याभावात् प्रकृते न किञ्चिदुपपुज्यते। न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोपदेशो लोके, इत्यास्तामेतत्।

अथ रतिस्थायीति सूत्रभाग भाष्येण स्पष्टयति 'स च' इत्यादिना—

अभिनव०—जो [शकुक आदि कोई प्राचीन व्याख्याकार] मत्वर्थीय [आरकन् प्रत्यय] से शृङ्गार-शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं उनको तो [शृङ्गार-पदका] स्वरूप भी ध्यानमे नहीं रहा है। [क्योकि उस 'शृङ्ग वृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिकके द्वारा तो] इस [शृग शब्द] से 'आरकन्' प्रत्यय [का विधान] किया गया है, [शृङ्ग शब्दसे आरकन् प्रत्यय करनेपर तो शृङ्गार-शब्द नही अपितु शृङ्गारक-शब्द बनेगा] जैसे ['वृन्द' शब्दसे उसी वार्तिकके द्वारा आरकन प्रत्यय करनेपर] 'वृन्दारक' [शब्द बनता है। अत एव उस वार्तिकके द्वारा शृङ्गार-शब्दकी सिद्धि नहीं हो सकती है] इसीलिए ['शृङ्गार-भृङ्गारौ' उ० सू० से] उणादिमे इस शब्दको निपातित माना गया है।

प्राचीन टीकाकारोमेसे शकुकादि किसी टीकाकारने भरतकी 'गोत्र कुलाचारोत्पन्नानि आप्तोदेशसिद्धानि पुसा नामानि' इस मूल पक्तिमें गोत्रोत्त्र न नाम कुलोत्पन्न नाम और आचारोत्प न नाम इस प्रकारकी अलग अलग व्याख्या न करके 'अपृथाभावेन' सम्मिलित रूपसे गोत्राचारोत्प न नाम' ऐसा अर्थ कर दिया है। अभिनवगुप्तको यह व्याख्या रुचिकर नही है। उनके मतमें भरतमुनिने गोत्र कुल और आचार तीनो पदोका प्रयोग अलग अलग [यावत्य] अर्थोको लेकर किया है। यदि इनके अलग अलग [व्यावत्य] अर्थ न होते तो गोत्रोत्प न या आचारोत्प न' एक ही शब्दका प्रयोग किया होता। ऐसा नही किया है इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिको तीनो शब्दोका अलग अलग [व्यावत्य] अर्थ अभिप्रेत है। पूव टीकाकारकी व्याख्यामें इन शब्दोका अलग [व्यावत्य] अर्थ नही रहता है इसलिए वह व्याख्या ठीक नही है। इसी लिए उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जिसने 'गोत्रादिनामानि' [अर्थात् 'गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि नामानि' इस भरत वचन] की सम्मिलित रूपसे उस उस रूपमे पाए जाने वाले 'गोत्राचार मूलक नाम' इस प्रकारकी व्याख्या की है उसक मतमे [अर्थात् उसकी व्याख्यामे गोत्र कुल तथा आचार इन तीनो पदोका व्यावर्त्य अर्थात्] अलग-अलग अर्थ न होनेसे उस [व्याख्या] का यहा प्रकृतमे कोई उपयोग नहीं है। [इस व्याख्यामे दूसरा दोष यह भी है कि] लोकमे गोत्राचारसे उत्पन्न नाममे आप्तोपदेशको नियामक भी नहीं माना जाता है। इसलिए इस [व्याख्या] को छोड देना चाहिए।

अभिनव०—अब [पृ० ५३४ पर 'शृङ्गारो नाम रतिस्थायिप्रभव' मे आए

---

१ स्यामीयेन। २ शृङ्ग वृन्दारकाभ्यामारकन, अष्टा ५-२-१२१ वार्तिक।
३ शृङ्गारभृङ्गारौ उ० सू०। ४ पृथग्भावेन। ५ व्यावर्त्याभावात् तत्तदीक्षितानि।

भरत०—स च स्त्री-पुरुषहेतुक , उत्तमयुवप्रकृति ।

स्त्री-पुरुषशब्देन परस्पराभिलाष सम्भोगलक्षणया लौकिक्या 'अस्येय स्त्री-इति, धिया'। तेनाभिलाषमात्रसाराया कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिरूपिणी[1] या तया विलक्षणैवेय स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलावाप्तिपयन्तव्यापिनी[3] परिपूर्णसुखैकफला रति-रुक्ता भवति हेतुरस्य। कवि हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति [4]नटश्च तथानुभावयति यथा रत्यास्वाद शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक कक्ष्याया रत्यवगम उपयोगीत्युक्त[5] प्राक्।

एतदुक्त भवति—रति [6]क्रीडा सा च परमाथत कामिनोरेव, तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्ते। अपरस्य ऋतु-माल्यादिविषयसौन्दयस्य [7]कविना कृतस्य [8]सङ्कल्पसवेदनात्। द्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोग। सविद एव प्रधानत्वात्, अन्यस्य[9] तु जडस्य भोग्यत्वात्। अत एवाह—

हुए] 'रतिस्थायि' इत्यादि सूत्र भागको 'स च' इत्यादिसे स्पष्ट करते है—

भरत०—और वह उत्तम युवक तथा युवतियोमे स्त्री पुरुष भाव मूलक [अर्थात् परस्परानुरक्त स्त्री-पुरुष भावके कारण] होता है।

अभिनव०—स्त्री पुरुष शब्दसे परस्पर अभिलाष तथा सम्भोगकी लक्षणा द्वारा 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकारकी लौकिक बुद्धिका ग्रहण होता है। इसलिए [केवल एकपक्षीय, सम्भोग रहित] अभिलाष मात्रसे युक्त कामावस्थामे [विद्यमान स्त्री अथवा पुरुष किसीमे] रहने वाली [एकपक्षीय अत एव स्थायिभाव रूप न होकर] व्यभिचारिभाव रूपिणी जो रति उससे भिन्न [परस्परानुरक्त दम्पतिकी सम्भोग युक्त] यह स्थायिभाव रूपा, प्रारम्भ [अर्थात अनुराग] से लेकर [सम्भोगादि रूप] फल-पर्यन्त रहने वाली, परिपूर्ण सुखको देने वाली रति इस [शृङ्गार रस] का हेतु होती है। [काव्य नाटक आदिमे इस शृङ्गार रसको उपस्थित करने वाला] कवि स्वय लौकिक रतिकी वासनासे युक्त होकर विभावादिको इस प्रकारसे उपस्थित करता है और नट उसको इस प्रकारसे अनुभव कराता है कि जिससे रतिका आस्वादन होनेपर शृङ्गाररस अनुभूत होने लगता है। आस्वादयिता [अर्थात् सामाजिक] का भी पूर्व-कालीन रति-सस्कार [शृङ्गारकी अनुभूतिमे] उपयोगी [आवश्यक] होता है यह पहिले कह चुके हैं। [अर्थात यदि सामाजिकमें रति-वासना न हो तो शृङ्गारप्रधान काव्य या नाटकादिसे भी उसको रसानुभूति नही होगी]।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि सुरत-क्रीडा रति [कहलाती] है। और वह वास्तवमे [परस्परानुरक्त दम्पति रूप] कामियोमे ही होती है। क्योकि

---

१ या। २ व्यभिचारिरूपाणीतिया (पानीताया)। ३ फलप्राप्ति पर्यन्ता व्यापिनी।
४ नाटय च नुभावान् यथा। ५ इत्युक्ता। ६ क्रीडासार्थं। ७ तद्विना।
८ सकल्पत्वात्। ९ अन्यत्र तु।

"श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणा पुनर्जानकी" । इति

अत एव यत् कैश्चिदचोद्यत—'रतेराधारभेदेन भेदात् कथमेको रस ' इति, तदनभिज्ञतया । एकैव ह्यसौ तावती रति यत्रान्योन्यसविदकवियोगो न भवति ।

अत एवोत्तमयुवप्रकृति । उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ, एव युवानौ । अत्रोत्तमयुवशब्देन तत्सविदुच्यते, न तु काय । चैतन्यस्यैव हि परमाथत उत्तमयुवत्व विशेष । स चावस्थावान्, तत्र तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकति । सा सविदास्वादयोग्यत्वात्

उन्हीमे [सम्भोग द्वारा] सुखकी धाराकी विश्रान्ति होती है । अन्य [अर्थात सामाजिक आदि] को तो कविके द्वारा प्रस्तुत किए गए ऋतु माल्यादि [उद्दीपन विभावादि] विषयके सौन्दयके [सकल्प अर्थात्] मानसिक भावनाके द्वारा अनुभव करनेसे [उसमे वास्तविक रति नही रहती है । परन्तु अनुकाय राम-सीतादि दम्पति तथा सामाजिक] दोनोके तादात्म्य [अन्योन्यनिमज्जन] रूप अभेद [मीलन] से परम भोग [अर्थात् रसास्वाद] होता हे । अनुभूति [सवित्] के ही प्रधान होनेसे [अनुभूति या 'सवित' ही परम भोग रूप है । सवित अर्थात् अनुभूतिके अतिरिक्त] अन्य जडोके भोग्य होनेसे [अनुभूति ही वस्तुत रस रूप है] । इसीलिए कहा है कि—

अभिनव०—शरीरमे श्वास प्रश्वासका व्यापार तो विडम्बना मात्र है शरीरमे वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] है ।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें यह प्रतिपादन किया गया कि काव्य नाटकादिमे अनुकाय सीता रामादि और सामाजिक दोनोके साधारणीकरण द्वारा तादात्म्य या अभेदके कारण ही सामाजिकको रसानुभूति होती है । इसलिए जो लोग यह समझते हैं कि सीता रामादि अनुकाय की रति, और सामाजिककी रति, आधारभेदके कारण भि न भि न है इसलिए उससे रसकी अनुभूति सामाजिकको नही होनी चाहिए उनका खण्डन हो जाता है । क्योंकि साधारणीकरण द्वारा उनका अभेद हो जाता है । इसी बातको ग्र थकार अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—इसलिए कि ही [व्याख्याकारो] ने जो आशङ्का की है कि आधारके भेदसे रतिका भेद होनेके कारण एक रस [की प्रतीति] कसे होता है, वह अज्ञानवश ही की है । [वास्तवमे तो 'तावती' अर्थात् दोनोमे रहने वाली] यह सारी रति एक ही हे । जहा एक दूसरेके ज्ञानके द्वारा [परस्पर तादात्म्य साधारणीकरणके द्वारा एकवियोग अर्थात] परस्पर भेद नही होता है [उन अनुकाय तथा सामाजिकमे रहने वाली रति एक ही होती है] ।

अभिनव०—इसीलिए [मूलग्रन्थमे रसको] उत्तमयुवप्रकृति [अर्थात् परस्परानुरक्त युवक दम्पति विषयक] कहा है । [उत्तमयुवप्रकृति शब्दका अथ] उत्तम पुरुष तथा उत्तमा स्त्री दोनो मिल कर दो उत्तम हुए । इसी एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिल कर दो युवक ['युवानौ' हुए] । इस प्रकार 'उत्तमश्च उत्तमा च

शृङ्गाररसी भवति। अनुत्तमत्वे तु न दाढ च, अयुवत्वे चेति। न सा रतिसविद्वियो-गस्य सम्भावनात्। अवियुक्तसवित्प्राणस्तु शृङ्गार[1]।

वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिम यत्र ज्ञापनया सक्रामयतीति वेषो विभावानु-भावात्मा। वेषयति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति वेषा व्यभिचारिण। ते उज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन्, तथाभूत आत्मा यस्येति।

उत्तमौ' और 'युवा च युवती च युवानौ' इस प्रकार द्वन्द्व समासमे एक शेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ प्रकृतिर्यस्य' इस प्रकारका समास होकर 'उत्तमयुवप्रकृति', शब्द बनता है। उससे उत्तम युवक तथा उत्तम युवति दोनोका ग्रहण होता है]। और यहा उत्तम युव शब्दसे उन दोनो की सवेदन शक्तिका ग्रहण होता है न कि शरीरका क्योकि 'वस्तुत उत्तमत्व रूप विशेष धम चतन्य [सवित] का है। और वह [यौवन-कालका] अवस्थावान [अर्थात् नवयौवनयुक्त काय] शरीर सवत्र [तत्र तत्र यौवनके शरीरमे ही युवक] व्यवहारके होनेसे उस [रति] का कारण [उत्तम युवक] होता है। और वह [उत्तम युवक-युवतिकी रति] सवित [अनुभूति] आस्वादयोग्य होनेसे शृङ्गाररस बन जाती है। [स्त्री पुरुषके] उत्तम न होनेपर वह रति स्थिर नहीं होती है [दोनो क्षणिक सुखभोगके बाद एक दूसरेको छोड देते है]। इसी प्रकार युवक न होनेपर भी [रति स्थिर नहीं होती है] इसलिए [अनुत्तम अथवा अयुवक स्त्री पुरुषोकी] वह [क्षणिक आवेशकी स्थिति] रतिसवित् नही कहलाती है [उन दोनोमे शीघ्रही] वियोगकी सम्भावना होनेसे। [इसलिए अनुत्तम, अथवा अयुवक स्त्री-पुरुषोके क्षणिक कामावेशको रति या शृङ्गार नही कहते है क्योकि] रतिकी सतत रहने वाली [चिरस्थायिनी प्रतीति ही शृङ्गार रसका प्राण है।

ऊपरके शृङ्गाररसके वर्णनमें शृङ्गारको 'उज्ज्वलवेषात्मक' कहा है। इसमे वेष शब्द साधारण वस्त्रालङ्कारादि रूप वेषका वाचक नही है अपितु वह रसकी विभाव अनुभाव रूप सामग्रीका बोधक है इसलिए अगली पक्तियोमें ग्रन्थकार वेष शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं जिससे वह विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप रस सामग्रीका बोधक हो सके। इसमें 'वेष' शब्द जुहोत्यादिगणके विष्लृ व्याप्तौ' धातुसे बनाया गया है। और उस धातुके णिजन्तके प्रयोगसे वेष शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—

अभिनव०—जो चित्तवृत्तिको अन्यत्र व्याप्त करता है अर्थात् [अपने] बोधन द्वारा [रस रूपमे] सक्रान्त करता है वह विभाव अनुभाव रूप 'वेष' होता है। और जो [रत्यादि रूप] स्थायिभावमे समा जाते है अर्थात् व्याप्त होते हैं वे व्यभिचारिभाव भी 'वेष' कहलाते हैं। [इस प्रकार 'वेष' शब्दका अर्थ विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-

---

१ इसके आगे यथा—वारिसिणि० वरिहिआवि हिल० गणाहुकहविएक।
हुहिमुलजमरणिमअलहुतोतिहविप सि। इति
व्याख्याता परस्पर जीवितसबस्वाभिमानरूपा। इतना पाठ अस्पष्ट है।

सूत्रे सक्षिप्य यद्विभावादि निरूपित तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गार-स्यावस्थाभेदमाह 'तस्य द्वे' । इत्यादिना—

भरत०—तस्य द्वे अधिष्ठाने, सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

अधिष्ठाने अवस्थे इत्यथ । अधिष्ठीयतेऽवस्थाऽत्र श्रृङ्गाररूपेण । तेन श्रृङ्गार-स्य [1]नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शाबलेयत्व बाहुलेयत्वे । तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या रतिरास्वा दनात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमान रूप श्रृङ्गार ।

यदाहु —

> एतस्मान्मा कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
> मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भू ।
> स्नेहानाहु किमपि [2]विरहध्वसिनस्ते त्वभोगा—
> दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति ।। इति [मेघ २–३५]

भाव होता है यह दिखलाया । अब उसके साथ जुडे हुए उज्ज्वल शब्दकी उपयोगिता दिखलाते है] वे जिसमे उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट हैं उस प्रकारका स्वरूप जिसका है वह 'उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार' हुआ ।

अभिनव०—इस प्रकार [रसका लक्षण करने वाले 'विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस] सूत्रमे जिन विभावादिका सक्षेपसे निरूपण किया था उनकी अलग-अलग व्याख्या करनी चाहिए इस अभिप्रायसे 'तस्य द्वे' इत्यादिसे शृङ्गार रसके [दो] अवस्था भेदोको कहते है—

भरत०—उस [श्रृङ्गाररस] की दो अवस्थाए होती है एक सम्भोग और दूसरा विप्रलम्भ ।

अभिनव०—'अधिष्ठाने' का अथ दो अवस्थाए है । यहा शृङ्गार रूपसे अधिष्ठित होती है इसलिए अवस्था [अधिष्ठान कहलाती] है । इसलिए जैसे गोत्वके 'शाबलेयत्व' [अर्थात् दुरगापन] और बाहुलेयत्व [अर्थात् बहुरगापन] के समान ये दोनो [अर्थात् सम्भोग शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार] शृङ्गाररसके भेद नहीं हैं, अपितु उन दोनो दशाओमे समान रूपसे विद्यमान जो आस्वादात्मक रति है उसका आस्वाद्यमान रूप शृङ्गाररस होता है । जैसा कि [कालिदासके मेघदूतमे] कहा है—

अभिनव०—इस [मेघ द्वारा] दिए गए चिह्नसे मै कुशल पूर्वक [अर्थात् जीवित] हूँ ऐसा समझ कर हे काली आखो वाली [प्रिये] लोकापवाद [अर्थात् लोगो के कहने] से मेरे [जीवन] के प्रति अविश्वासिनी न बनना [अर्थात् अब तक तो तुम्हारा पति मर भी गया होगा इसलिए उसकी आशा छोड दो । इस प्रकार लोगोके कहनेसे मेरे जीवनके विषयमे सन्देह न करना । और इतने दिन अलग रहनेसे तुम्हारा पति तुमको भूल गया होगा यह भी न समझना क्योकि] प्रथम वियोग कालमे प्रेम नष्ट

---

1 शृङ्गारस्येमौ । नाट्यदर्पण का० ११२ की वृत्ति । 2 विरहह्रासिन ।

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्व, विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनोराज्यानुवेध इति। इयच्छृङ्गारस्य वपु। अभिलाष ईर्ष्या प्रवासादिदशास्त्वत्रैवा तभू ता सत्यामास्थाबन्धात्मिकाया रतौ। तेन सम्भोगश्रङ्गार इत्यादि व्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एव एलद्दशाद्वयमेलन एव सातिशयश्चमत्कार। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो—
रन्योन्य हृदयस्थितेऽप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्यो शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
भग्नो मानकलि सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥ [अमरुक श० २३]

तत्र हीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मकैव एकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया रसानुभूति।

हो जाता यह बात लोग यो ही [किमपि] कहते हे [पर वास्तवमे तो वह नष्ट न होकर बहुत कालसे] भोग न हो सकनेके कारण प्रियजनके प्रति तृष्णा बढजानेसे वे प्रेम धनीभूत बन जाते हैं।

अभिनव०—इसी लिए सम्भोगमे विप्रलम्भकी सम्भावनासे भय रहता है और विप्रलम्भमे सम्भोगकी कामनाका सम्बन्ध रहता हे। इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ] ही शृङ्गारका स्वरूप है। अभिलाष, ईर्ष्या, प्रवास, आदि [जो विप्रलम्भ-शृङ्गारके पाच भेद कहे है। उन] का रतिकी स्थिरता होनपर [सत्यामास्थावन्धात्मिकाया रतौ] इन्हींमे अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए [प्रेम होनेपर] भोग के न होने पर भी सम्भोग शृङ्गार आदि व्यवहार गौण रूपसे होता है। अत एव इन सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनो दशाओके मिश्रणसे ही विशेष रूपसे चमत्कार [प्रतीत] होता है। जसे—

अभिनव०—[परस्पर कुछ झगडा हो जानेके कारण] एक ही पलग पर मु ह फेर कर लेटे हुए, एक दूसरेसे न बोलने [वीतोत्तर] के कारण दु खी, दोनोके हृदयमे एक दूसरेको मना लेनेकी इच्छा होनेपर भी अपने गौरवकी रक्षा करते हुए, दम्पतिके धीरेसे कन-अखियोके चलानेसे आँखोके मिल जानेपर हस कर तुरन्त एक दूसरेके गले मे चिपट जानेसे उनका मान कलह भग हो गया।

अभिनव०—यहा ईर्ष्याविप्रलम्भ और सम्भोगके सम्मिलनसे एक प्राण रूप [पति पत्नी] दोनोके विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावोके द्वारा इन दोनोको अत्यन्त रसकी अनुभूति होती है।

'शृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक होता है' यह जो कहा गया है उसमें वेष' शब्द विभावानुभावादिका ग्राहक है यह बात अभी बतला चुके हैं। परतु किसी प्राचीन व्याख्याकारने वेष' शब्दका सामान्य अथ लेकर यह शका उठाई है कि विक्रमोवशीय नाटक में शृङ्गार रस होते हुए भी उन्मादावस्थामे पुरूरवाके अनुज्ज्वल वेषका और तापसवत्सराजचरितमें वासवदत्ताके मर जानेका

तेन यच्चोदित श्रीशकुकेन पुरूरवस उन्मादे, वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वल-वेषत्व विप्रलम्भशृङ्गारेऽपि इति। तदनवकाशमेव भोगस्य रसत्वाभावात्, स्नानाद्य-वस्थानस्येव[1]।

यत्त्वत्रोत्तर तावद्दत्त, स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमा न विजहातीति, तद्यक्षभाषित, प्रकृतचोद्यापरिहारात्। न हि चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथ शृङ्गार इति।

तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्? न वचनस्यानिभारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्त सत्युज्ज्वलवेषे शृङ्गार इति[2] न तु विपर्यये, इत्यास्तामेतत्।

विश्वास दिला दिए जानेके बाद तापस वत्सराज उदयनके अनुज्ज्वलवेषका वर्णन पाया जाता है। इन दोनोमें अनुज्ज्वल वेषकी उपलब्धि होनेसे शृङ्गाररसकी सङ्गति वहाँ कैसे होगी? इस शङ्का को उठाकर उन्ही व्याख्याकारने इस शङ्काका यह समाधान किया है कि यद्यपि पुरूरवा तथा वत्सराज उदयनका उज्ज्वल वेष वहा नही रहता है फिर भी उनके भीतरकी उत्तम रति विद्यमान रहती है इसलिए वहा शृङ्गाररसके माननमें कोई दोष नही आता है।

अभिनवगुप्त इस शका और समाधान दोनोको व्यर्थ मानते हैं। उनका कहना है कि यहा वेष शब्दका अर्थ तो विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव है। उन्हीके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। वस्त्रालङ्कारादि रूप वेष तो रस नही है। जैसे स्नानावस्था यद्यपि उज्ज्वल होती है। परन्तु वह रस नही है। इसी प्रकार उज्ज्वल वस्त्राभूषण आदिका रस नही कहा जाता है। अत एव अनुज्ज्वल वस्त्राभरणात्मक वेषके होनेपर भी रस मानने कोई बाधा नही होती है। इसी विषयकी चर्चा ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमे निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इस लिए श्रीशकुकने जो यह शका की है कि पुरूरवाके उन्माद [काल] में, और वत्सराजके तापसत्व [काल] मे विप्रलम्भ शृङ्गारमे भी अनुज्ज्वल-वेष पाया जाता है यह कैसे सङ्गत होगा? परन्तु [उनकी] वह [शङ्का वस्त्रालङ्कारादि रूप] भोगके रस न होनेसे अनुचित है। स्नानादि अवस्थाके समान [अर्थात् जिस प्रकार स्नानादि अवस्था उज्ज्वल होनेपर भी रस नही होती है इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते, और न रसमे बाधक होते हे]।

अभिनव०—और [शकुकने ही] जो [इस शङ्काका] यह उत्तर दिया है कि उज्ज्वल वेषके न रहनेपर भी [पुरूरवा या वत्सराज उदयन] क्योकि उत्तम रतिका परित्याग नही करते है इसलिए वहा शृङ्गार रस रहता हे वह भी असगत [यक्ष-भाषित] हे क्योकि उससे प्रकृत शङ्काका परिहार नही होता है। यहा [इस समाधानमे] यह शङ्का तो नहीं है कि अनुज्ज्वल वेषमे शृङ्गार क्यो रहता है? [अपितु इसके विपरीत अर्थात् शृङ्गारमे अनुज्ज्वलवेष क्यो पाया जाता है यह शङ्का की गई हैं। उसका समाधान उन व्याख्याकारोने नही किया है। इसलिए वास्तविक शङ्काका परिहारक न होनेसे यह उत्तर 'यक्षभाषित' भूतोके कथनके समान व्यर्थ है]।

अभिनव०—यदि वही शङ्का मान ली जाय [अर्थात् अनुज्जलवेषमे शृगार कैसे बनेगा यही शङ्काका रूप मान लिया] तो क्या हानि है? यह प्रश्न करें तो

---

१ स्नानाद्यवस्थानमिव। २ अपितु।

भरत०—तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु-माल्य-अनुलेपन-अलङ्कार-इष्टजन-विषय-वरभवनोपभोग-[1]उपवनानुभवन श्रवण-दशन-कीडा लीलादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते ।

तत्रेति द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते । तत्रेह् वस्तुत स्त्री पु सौ परस्पर विभावौ, तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि । उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात् ।

तदाह्—

[3]असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विन ।
अनाक्रम्य जगत्सर्व नो सन्ध्या भजते रवि ॥ इति ॥

ऋतुवसन्तादि । माल्य कुसुमादि । अनुलेपन समालम्भन, यद्यत् कामस्योद्दीपकम् । अलङ्कार कटकादि । इष्टजनो विदूषकादि । [2]एतदुभयत्रोत्तमत्वसूचकम् ।

[उसका उत्तर यह है कि] कहनेको आप कुछ भी कहलें उसमे कोई बोझ [अतिभार] थोडे ही पडता हे। किन्तु भरत मुनिने उज्ज्वल वेष होनेपर शृङ्गार होता है इसका उल्टा [अर्थात् अनुज्ज्वल वेष] होनेपर [शृङ्गार] नहीं होता है यह नहीं कहा है। [अत अनुज्जवल वेषमे शृङ्गार कसे होगा यह शङ्का नही की जा सकती है। इसलिए इस विषयको नही छोड देना चाहिए।

भरत०—उक्त [सम्भोग तथा विप्रलम्भात्मक दो भेदों] मेसे सम्भोग [शृङ्गार] ऋतु माल्य, सुगन्धित अगराग, अलङ्कार, प्रियजन, [गीत आदि रूप] विषय, सुन्दर भवन आदिका उपभोग उपवन गमनका, अनुभव, अथवा [घरमे बठ कर भी] श्रवण, दशन [जलावगाहनादि रूप] क्रीडा और [हाव भाव रूप] लीला आदिके द्वारा उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'तत्र' उनमे अर्थात् [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप पूर्वोक्त] दोनो अवस्थाओमेसे पहिले सम्भोगावस्थाको कहते है। उसमे वास्तवमे स्त्री पुरुष दोनो एक दूसरेके प्रति कारण [आलम्बन विभाव] होते है। और ऋतु आदि उन दोनोके उत्कर्षाधानमे उपयोगी [उद्दीपन सामग्री रूप] होते है। क्योकि उत्तम [प्रकृति] को अनवसरमे रतिका उदय नही होता है।

अभिनव०—जैसा कि कहा है—विजय कामनाको पूरा किए बिना मनस्वी पुरुष स्त्रीकी चिन्ता नही करते हे। सारे ससारको आक्रान्त [विजय] किए बिना सूर्य सन्ध्याका सेवन नहीं करता है।

ऋतु [से] वसन्त आदि माल्य पुष्पादि है। अनुलेपन अर्थात् अङ्गराग [इतर फुलेल आदि] जो जो कामका उद्दीपक है। अलङ्कार अर्थात् कटक आदि। इष्टजन अर्थात् विदूषक आदि। ये [सब, स्त्री-पुरुष] दोनोके उत्तमत्वके सूचक हैं।

---

१ उपवनगमन। २ एतदुभयमुत्तमत्व। ३ पूव सस्करणोंमें यह श्लोक इस पाठके अन्तिम पाठके बाद छपा है। वहाँ पर वह असङ्गत है।

विषया गीतादय । तद तभू तमपि मात्यादि प्राधान्यात् पृथगुक्तम् । वरभवन हर्म्यादि । एतद्देशविशेषोपलक्षणम् । एषामुपभोग । उपवनस्योद्यानस्यानुभवन, श्रवण वा वरभवनस्थस्यापि । एतत् सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम् । क्रीडा जलावगाहनादिका । लीला जनस्याकृति[1] । आदिग्रहणादन्यदपि हृद्य हसयुगलक चित्र-पुस्तदशनादि[2] । एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन म तव्यम् ।

यावान् कश्चिदय विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णताया सत्यामुत्तमस्य रत्युदय । अत एव रत्नावल्या हर्म्यवर्णन, उद्यानगमन, कामदेवपूजा, वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र सगृहीत, 'राज्य निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना । एव च सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिक आलम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति । अत एव मुनिना नाय क्वचिद्विभाग उक्त सूचितो वा । युक्त चैतत् । यथैकत्रैव रूपके उद्यानतु-माल्यादीना सर्वेषा दर्शनादेको रस स्याद्विभावाभेदात् ।

अभिनव०—विषय [से] गीत आदि [गृहीत होते] है । उनमे अन्तभू त होने पर भी माल्य आदिका प्राधान्य होनेसे अलग ग्रहण किया है । उत्तम भवन अर्थात महल आदि । यह देश विशेषका उपलक्षण है । इन सबका उपभोग । उपवन अर्थात् उद्यान का अनुभव करना, या उत्तम घरमे बैठ कर भी श्रवण करना । यह [उपवनके दर्शन आदिके] सकल्पादिका भी उपलक्षण है । क्रीडाका अर्थ जलावगाहन आदि है । लीला अर्थात् [हाव-भाव रूप] लोक की आकृति । आदि ग्रहणसे हसका जोडा, चित्र, कला कौशल [पुस्त] आदिका दर्शन आदि मनोहर वस्तुओका ग्रहण होता हे । ये सब ही [मिल कर] शृङ्गारके विभाव रूप समझने चाहिए ।

अभिनव०—यह जितना सुन्दरतम विषय समूह है उसके पूर्ण होनेपर ही उत्तम प्रकृतिमे रतिका उदय होता है । इसी लिए रत्नावली [नाटिका] मे महलका वर्णन, उद्यानमे जाना, कामदेवकी पूजा, और वसन्त इत्यादि सबका ही 'शत्रु रहित राज्यको योग्य मन्त्रीको सौप कर' इत्यादि [वाक्यो] से सग्रह दिखलाया गया है । इस प्रकार ये सब मिल कर ही [शृङ्गार रसके] विभाव होते हैं । इसलिए आलम्बन विभाव उद्दीपन विभाव यह भेद काल्पनिक है । इसीलिए [भरत] मुनिने [आलम्बन उद्दीपन विभावका] यह भेद न कही [स्पष्ट रूपसे शब्दत] कहा है और न [प्रकारान्तरसे] सूचित किया हे । और यह [विभावोके भेद न करना] उचित भी है । जिससे कि एक रूपकमे उद्यान, ऋतु, माल्यादि सबके एक साथ देखनेसे विभावोका भेद न होनेसे एक रसकी उत्पत्ति हो सके ।

अगले अनुच्छेदमें ग्र थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि कभी कभी उत्तमत्व सूचक माल्यादि सामग्रीके बिना केवल विभावमात्रके दर्शन या वर्णनसे भी जो रसकी उत्पत्ति देखी जाती है वह क्यो हो जाती है । उनका कहना यह है कि रसोत्पत्तिका मुख्य स्थान रूपक है । रूपकमें प्राय ऐश्वर्य सम्पन्न राजा आदि ही नायक होते है । ऐसे रूपकोमें यदि कही उद्यान आदि सामग्रीका वर्णन

---

१ अनुकृति । २ पुस्तकदर्शनादि ।

ननु प्रथम प्रमदामात्रदशने नोद्यानभवनादिसम्भव ?

क एवमाह ? ऐश्वयपूणस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसस्कारावगमात्[1] पूणतैव विभाववगस्य स्यात् । तत्प्रधान हि रूपक तत्र तत्रोदाहरणम् । तेन पृथ-गुदाहरणादानमनुपपन्नम् ।

या तु मुक्तकादौ पथक्तयाऽभावेऽपि रससवित् तत्रोत्तमत्वे [2]तदनुसन्धानाच्च-मत्कार । [3]यस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते [4]तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्य न तु तदभावकृता चमत्कृति ।

किए बिना केवल प्रमदा रूप आलम्बन विभावके वर्णनमात्रसे रसोत्पत्ति दीखती है तो वहाँ ऐश्वय प्रिय नायकके अपने सस्कारोसे ऋतु माल्यादि सामग्रीकी स्वय उपस्थिति हो जाती है । और जहा कही मुक्तक आदिमें इस प्रकारकी सामगीके बिना रसकी प्रतीति होती है वह उस सामगीके अभावके कारण नही अपितु आलम्बन विभावके विशष सौभाग्य या सौ दयके कारण होती हे ।

अभिनव०—[प्रश्न]–पहिले केवल प्रमदामात्र [आलम्बन विभाव] के देखने पर उद्यान भवन आदि [उत्तमत्व सामगी] की सम्भावना नही होती हे । [तो वहाँ रस की उत्पत्ति कसे होगी] ?

अभिनव०—[उत्तर] ऐसा कौन कहता हे [अर्थात् यह कहना उचित नही है] क्योकि—ऐश्वयसे परिपूण [रूपकोके नायक] को तो अपनी समृद्धि बाहुल्यके सस्कार से [उद्यान-भवन आदि उत्तमत्व सामग्रीके कहे बिना भी] विभाववग [अर्थात् सभी विभावो] की पूणता ही होती है [उत्तमत्व सूचक सामग्रीके न कहनेपर भी उसकी न्यूनता नहीं रहती है । इस प्रकारके काव्योमे] ऐश्वय-प्रधान रूपक ही [इस विषय मे] सवत्र उदाहरण है । इसलिए [उद्यानादि सामगीके अभावमे रसोपत्तिके] अलग उदाहरण देने अनावश्यक है [अर्थात् रूपकोमे यदि कही उद्दीपन सामग्रीके बिना भी रसकी प्रतीति होती है तो वहाँ नायककी अपनी समृद्धिका ज्ञान रहनेसे बिना कहे भी उद्दीपन सामग्री उपस्थित ही रहती है] ।

अभिनव०—और जो मुक्तक आदिमे अलग रूपसे [उद्दीपन सामग्रीके] न होनेपर भी रसकी प्रतीति होती है उसमे उत्तममे तो [बिना कहे भी आक्षेप द्वारा] उसकी उपस्थिति हो जानेसे चमत्कार प्रतीत होता हे । और जो अनुत्तम [मुक्तक] मे उद्दीपनके परिपूण न होनेपर भी चमत्कार दीखता है वहाँ एक अग [अर्थात् केवल आलम्बन विभाव] के सौन्दय [सौभाग्य] के प्रधान होनेसे चमत्कार प्रतीत होता है यह तात्पर्य है । न कि उन [उद्दीपन-सामग्रियो] के अभावके कारण चमत्कार होता हैं ।

---

१ सस्कारानवगमात् । २ तापस [तावत्] स्तत्रानुस धानाच्चमत्कार । ३ इयांस्तु ।
४ यथाहि—वधते लुनाहि पणी लुविसिगमिहा
अमहह भुव हच बुधरी वुल्लए लधा । इति
तथा—'कम सुपे रज्ज' इत्यादि । इतना पाठ अस्पष्ट है ।

एतै कविनोपनिबद्धै नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतै सम्यगित्यविघ्नभोगात्मक सम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव । न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते अपितु प्रथम एवावसरे । स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव ।

भरत०——तस्य नयनचातुरी-भ्रूक्षेप-कटाक्षसचार ललितमधुराङ्गहार-वाक्यादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य ।

तस्य तु [1]प्रथमकक्षायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभि[2] अभिनय प्रयोक्तव्य । यतस्तै रसनाद्याभिमुख्य नीयते रस । अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च । आभिमुख्यनयन अनुभावन च तत् । रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम् । अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कार । रसनायास्तत्राभावात् ।

अभिनव०— कविके द्वारा उपनिबद्ध, और नटोके द्वारा साक्षात्कारकल्प बनाए गए इन [विभावादि] से सम्यक् अर्थात् निर्विघ्न, भोग रूपसे सम्भोग [अर्थात् शृङ्गार] रस तुरन्त ही उत्पन्न होता है । [विभावादिके अनुभवके समकाल ही रसकी उत्पत्ति होती है] न कि गमन क्रियाके समान अन्तमे [फलप्राप्ति रूप] रसनक्रिया होती है । अपितु पहिले ही अवसरपर [रसन क्रिया होती है] और वह [प्रथम अवसर] विभावादिका साक्षात्कार रूप ही होता है ।

इसका आशय यह है कि देवदत्त गावको जाता है यहाँ गमन क्रियाके फलकी प्राप्ति, अन्तमे, अर्थात जब देवदत्त गावमें पहुँच जाता है तब होती है । जब वह चलना प्रारम्भ करता है उस समय नही । परन्तु रसकी प्रतीति विभावादिकी प्रतीतिके समकाल ही होती है । गमनक्रिया के फलके समान अन्तमें नही ।

भरत०—और उस [सम्भोग शृङ्गार] का नेत्रोंके चातुर्यसे, भौंहोंको चलाते हुए कटाक्ष से जा सचालन करना उसके द्वारा और [ललित मन्थर] धीरे धीरे मधुर नयनाभिराम बना कर जो अङ्गोंका सञ्चालन [उसके द्वारा तथा ललित अर्थात्] सुकुमार अथ वाले तथा मधुर [अर्थात्] सुननेमे प्रिय लगने वाले जो वाक्य आदि रूप अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए [इसमे 'ललित' पद तथा 'मधुर' पद ये अङ्गहार तथा वाक्य दोनोके विशेषण होते हैं] ।

अभिनव०—प्रथम अवसरपर ही रसनीय रूपसे अभिमत उस [सम्भोग शृङ्गार रस] का नेत्रोके चातुर्य इत्यादिसे अभिनय करना चाहिए । क्योकि उनके द्वारा रसको रसना [आस्वादन] के योग्य बनाया जाता है । इसलिए उन नयनोके चातुर्य इत्यादि] को 'अभिनय' तथा 'अनुभाव' [कहते] हैं । क्योकि वे ही आभिमुख्य नयन [अर्थात् अभिनय] और अनुभावन [अर्थात् अनुभावरूप] है । और रसको आस्वादनमे योग्य बनाना उद्दीपन [विभाव कहलाता] है । इसलिए उन [अभिनय तथा अनुभावो] के बिना विभावादिके वर्णनका प्राधान्य जिनमे रहता है उन [श्रव्य] काव्योंमे [नाटकके समान] चमत्कारकी प्रतीति नही होती है । क्योकि उसमे [नाट्यके समान] आस्वादन नहीं होता है ।

---

१ कक्ष्यायामेव । २ नयनचातुर्यादिभी रसै ।

यथा कवौ दोभट्टेन्दुराजस्य—

उपपरिसर गोदावर्या परित्यजताध्वगा
सरणिमपरो मागस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोक कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाकुरकञ्चुक । इति ।

एवमन्यत्राप्युपमपद्यत इति । तस्याभिनयादियोजनीयम् ।

ननु विभावाना 'साधारण्ये कथ नियनेन एव न हिनाट्ये ?

'इयास्त्वत्र कविप्रयत्नसमप्यमाणो विशेष [३] । तद्भावात् प्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाशविशिष्टरसवलात्[४] प्रमुख एव विशेषविश्रान्तता याति । तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रि ' इत्येव श्रुते एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शक्या । एतेन 'कुणप कामिनी', इत्यादिसम्भावन प्रत्युक्तम् ।

अभिनव०—जैसे कविराज भट्ट इन्दुराजके [निम्नाङ्कित श्लोकमे]—

अभिनव०—हे पथिको ! गोदावरीके समीपवर्ती तटके मागको छोड कर आप लोग कोई दूसरा माग निकाल ले क्योकि यहाँ किसी निराश स्त्रीने अपने चरण कमलोके प्रक्षेपसे रक्ताशोक वृक्षमे नवीन किसलयोका परिधान कराया है ।

अभिनव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी होता है । उसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो [अनेक रसोमे] विभावोके साधारण [एक जैसे] होनेपर भी नाट्यमें नियमसे ऐसा ही [साधारणत्व] क्यो नहीं होता है ?

अभिनव०—[उत्तर] यही तो कविके व्यापार [अर्थात् नाट्य रचना] की विशेषता है कि जिससे उस [नाट्यजन्य अनुभावनादि रसानुकूल व्यापार] के होजाने पर [रसके] प्रयोजक धर्मोंके आविर्भाव द्वारा प्रकाशित रसके प्रभावसे [विभिन्न रसो के समान अनुभावादिकी] प्रमुख रसमे ही विश्रान्ति होती है । [साधारण्य अर्थात् अनेक रसोके साथ सम्बन्ध नहीं होता है] । जैसे—'हा प्रिये जनकराज पुत्रि ' इस प्रकार [रामचन्द्रके वचनको] सुनते ही [रामचन्द्रकी सीता विषयिणी] रतिको छोड कर अन्य किसी भावकी शङ्का नहीं होती है । इससे [प्रमदादिमे] ['कुणप ' अर्थात् * मृतक शव], या कामिनी इस प्रकारकी [विपरीत] शङ्काका निराकरण किया है ।

परिव्राट्-कामुक शुना एकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणप कामिनी भक्ष्या इति तिस्रो विकल्पना ।

* इस श्लोकका भाव यह है कि एक ही प्रमदा शरीरसे परिव्राजकको वैराग्यजनक मृतक शरीरवत् बुद्धि होती है । कामुक पुरुष उसी प्रमदा शरीरको 'कामिनी' रूपमें देखता है और कुत्ता उसीको अपना भक्ष्य बनाना चाहता है । जैसे यहा एक ही प्रमदा शरीरसे सस्कारो द्वारा विशेष प्रकारकी बुद्धि होती है इसी प्रकार अनेक रसोमें विभावादिके एक समान होनेपर भी कविव्यापार द्वारा समर्पित विशेषताके कारण नाट्यमें प्रमुख रसमें ही उनकी विश्राति होती है।

१ साधारण्य कथम् । २ इयात्र । ३ समर्प्यमाणस्तेन । ४ विशिष्टरसबलात् ।

तत्र नयनचातुर्यादिना 'कान्ता' दृष्टिर्लक्ष्यते [८-४१] ।[1] सभ्रूक्षेपेण चोक्त 'भ्रुवोमूलसमुत्क्षेपात् चतुरम्' इति लक्ष्यते [८-१२१]। 'विवर्तन कटाक्ष' इति ताराकम [८-१००]।

एव च योजना—नयनाना, चातुर्येण, सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्सचारण, ललित मन्थर, मधुर नयनाभिराम कृत्वा यान्यङ्गाना हरणानि स्वकर्तव्यकाले, ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि वाक्यानि, इत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षित । अत एव सामान्याभिनयाध्याय—[अ० २२] वक्ष्यमाणा-शेषचेष्टाऽलङ्कारलाभ, इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्। आदिग्रहणात् सात्त्विको मुखराग-पुलकादि गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहार। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरास । एवमुत्तरत्रापि ।

अभिनव०—यहा [मूल आए हुए] नयन-चातुय आदिसे [८-४१ मे वर्णित] 'कान्ता' दृष्टिका लक्षणासे बोध होता है। 'भ्रूक्षेप' से [८-१२१ में] कथित भोहोके नीचेसे ऊपर उठानेकी [विशेष शैली] का ग्रहण होता है। आखोको घुमाना कटाक्ष [कहलाता] है। और वह पुतलीका काय [८-१०० मे वर्णित] है।

अभिनव०—[मूल वाक्यके अर्थकी] योजना इस प्रकार होती है—नेत्रोका चातुयसे, भोहोको चलाते हुए कटाक्षसे जो सचालन [उसके द्वारा], और ललित अर्थात् मन्दगतिसे, अपने करनेके उचित अवसरपर मधुर अर्थात् नयनाभिराम बनाकर, जो अङ्गोका हिलाना—डुलाना [अगहार उसके द्वारा], और ललित अर्थात सुकुमार अथ वाले तथा मधुर अर्थात् सुननेमे प्रिय लगने वाले जो वाक्य [उनके द्वारा इस प्रकार ललित मधुर शब्दोका 'अङ्गहरण' तथा 'वाक्य' दोनोके साथ सम्बन्ध होता है] इससे आङ्गिक तथा वाचिक [चक्षु तथा वाणी रूप] उपाङ्गोके अभिनयको सूचित किया गया है। इससे ही सामान्य अभिनयके [निरूपण करने वाले २२वें] अध्यायमें कहे गए चेष्टा और अलङ्कार आदिका ग्रहण हो जाता है। इसलिए [अन्य व्याख्याकारोने] जो 'ललित' और 'मधुर' शब्दोको जो उन [चेष्टा अलङ्कार]का वाचक माना है वह ठीक नहीं है। ['वाक्यादिभिरनुभावै' मे] 'आदि' शब्द का ग्रहण होनेसे मुखकी लालिमा या रोमाञ्च आदि सात्त्विक [भावो] का ग्रहण होता है। [मूल ग्रन्थमे इन नयनचातुरी आदिको 'अनुभाव' कहा है इस] अनुभावकत्वसे [उनकी तटस्थता अर्थात्] औदासीन्यका परिहार हो जाता है। और [उनको जो 'अभिनय' कहा है उस] आभिमुख्य नयन [रूप अभिनय] से केवल अपने [अर्थात् केवल अनुकार्य सीता राम आदि अथवा केवल नट] मे [रसकी] विश्रान्तिकी शङ्का का निराकरण है [सामाजिकको रस प्रतीतिका प्रतिपादन] होता है। इसी प्रकार अन्यत्र [अर्थात् आगे कहे जाने वाले अन्य रसोंमे] भी समझ लेना चाहिए।

---

१ यन्तु भ्रुवोर्मूल समुत्क्षेपश्चतुरमिति वक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम्।

एव विभावसमय एव रसनीयस्य, अनुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद् व्यभिचारिण स्वात्मेव रसनीयता चित्रय त तदतिशय पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते व्यभिचारिणश्चास्येति—

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्या ।

आलस्य-औग्र्य जुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिण । अस्येति दशाद्वयमयस्य इत्यर्थ । जुगुप्सा स्थायि यपीह निषिद्धा [1]न्यायसिद्धस्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति । आलस्यादि च स्वविभाव प्रमदाविषयमेव निषिद्धम् । तेन 'वपुरलसलसद्वाहु लक्ष्म्या' [वेणी १–२] इति, तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षण तस्या' [विक्र० ५–६] इत्यादिनामपि रूपकत्व[2] मन्तव्यम् । एव प्रयोगे काव्ये च विभावादीना क्रम एव समाश्रयणीय । [3]उत्पन्नस्य लब्धप्रतिष्ठता, तथाभूतस्य परिवारसघटनमिति हि प्रतीतिक्रम ।

अभिनव०—इस प्रकार विभावोके [ग्रहणके] समय ही रसनीयताको प्राप्त, [उसके बाद] अनुभावोके अवसरपर [उत्पन्न] दशा विशेषके कारण [कभी कभी] विरसताको प्राप्त होने वाले [रस] की अपनी ही रसनीयताको विचित्र बनाते हुए व्यभिचारिभाव बादको उसको विशेष रूपसे पुष्ट करते है इसलिए 'व्यभिचारिणश्च' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से उनका निरूपण करते है—

भरत०—इस [शृ गाररस] के व्यभिचारिभाव [पूर्वोक्त ३३ व्यभिचारिभावोंमेसे] आलस्य औग्रय और जुगुप्साको छोड कर [शेष ३०] होते हैं ।

अभिनव०—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा जिनसे पृथक कर दी गई है ऐसे सब [अर्थात् शेष ३० शृङ्गार रसके] व्यभिचारिभाव है । [मूलमे आए हुए] 'अस्य' इसका अभिप्राय [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप] दशाद्वयसे युक्त [शृगार] के, यह है । जुगुप्सा [वीभत्स रसका] 'स्थायिभाव' होनेपर भी यहाँ [शृगाररसमे] निषिद्ध मानी गई है इससे न्यायसिद्ध स्थायिभावोके भी [अन्य रसोमे] व्यभिचारित्वको बोधित करती है । [और यहाँ जो आलस्यका निषेध किया गया है वह] अपनी विभावभूत प्रमदादि विषयक आलस्यका ही निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए । आलस्य मात्रका निषेध नहीं किया गया है] इसलिए 'अलसाई हुई बाहुसे युक्त लक्ष्मी का शरीर' तथा 'कुछ दिनो तक उस [नायिका] का शरीर केवल अलसाई हुई आँखोसे युक्त रहा' इत्यादिको [शृगारमे आलस्यका वर्णन होनेपर भी निर्दोष] रूपक समझना चाहिए । इस प्रकार नाटक तथा काव्यमे विभावादिके [कथित] क्रमका ही ग्रहण करना चाहिए । [क्योकि] पहिले उत्पन्न हुई वस्तु लब्धप्रतिष्ठ [अर्थात् स्थिर] होती है और उस प्रकारकी [अर्थात् स्थिर हुई] वस्तु अपने परिवारका सगठन [अपने सहायकोका सग्रह] करती है यह प्रतीतिका क्रम है ।

---

१ न्यायसिद्धा ।　२ इत्यादिनापि रूपक ।　३ उत्पन्नस्य ।

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशङ्क्याह विप्रलम्भकृतस्त्विति—

भरत०—विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानि-शङ्का-असूया-श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य-निद्रा-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।

तु शब्दो विशेषं द्योतयति । वाक्यैकवाक्यतया दुःखप्रायनिर्वेदादि मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन सम्भोगे उपन्यस्ता इति प्रकटयति । परस्पराशोपजीवनं चात्र जीवितमिति दर्शयितुं 'अस्य' इत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम् ।

तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनाहृतम् ।

अभिनव०—निर्वेद आदि [दुःखप्रधान] व्यभिचारिभाव सम्भोग [शृङ्गार] में व्यभिचारी [भाव] नहीं होते हैं [उनको आपने शृंगाररसका व्यभिचारिभाव कैसे बतला दिया है ?] इस प्रकारकी शंका [कोई कर सकता है ऐसी सम्भावना] करके [उसके समाधानार्थ] कहते हैं कि विप्रलम्भ कृत [शृंगारका अभिनय] तो [उन दुःख-व्यञ्जक निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंके द्वारा करना चाहिए। अर्थात् निर्वेदादि विप्रलम्भ शृंगारके व्यभिचारिभाव होते हैं] ।

भरत०—विप्रलम्भ कृत [शृंगार] का तो निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण, आदि अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—'तु' शब्द [सम्भोग शृंगारकी अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगारके] विशेष [भेद] को सूचित करता है । [और वह भेद यह है कि यहां गिनाए हुए निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी विप्रलम्भके प्रतिपादक] वाक्य के साथ एकवाक्यता होनेसे [विप्रलम्भसे सम्बन्ध रखने वाले] दुःख-प्रधान निर्वेदादिको छोड़कर और [शृंगारमें वर्जित कहे हुए पहिले] आलस्यादिसे भिन्न [शेष] सुख-प्रधान धृति आदि ही यहाँ सम्भोग [शृंगार] में व्यभिचारित्वेन रखे गए हैं यह प्रकट करता है । इन दोनोंमें [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगारमें] एकका दूसरेपर अंशतः आश्रित रहना अपरिहार्य है इस बातको सूचित करनेकेलिए मूलमें 'अस्य' यह दोनोंके बोधक अस्पष्ट पदका प्रयोग किया गया है ।

अभिनव०—इसी लिए भगवती [सरस्वती] के अनुग्रहसे पवित्र वाणी वाले कालिदासने रघुवंशमें सम्भोग तथा विप्रलम्भके मिश्रित रसास्वादनकेलिए [लङ्का विजयके बाद विमान मार्गसे लौटते समय] उल्टे क्रमसे [अर्थात् बादकी हुई घटनाओंका पहिले वर्णन करते हुए] रामचन्द्रजीके अपने कर्म और पूर्वावस्थाके वर्णन को प्रस्तुत किया है ।

निद्रान्तर्भूतोऽपि स्वप्न प्राधान्यादुपात्त ।
'क्व नीलकण्ठ व्रजसि' इति [कुमार० ५-५४] ।
'सिविणवए विहुदोसुजपउसुमरा विउतरूढसखुआसि पुअगलगाल विउत्ति' ।
तथा—'आहूतोऽपि सहायै' इत्यादौ स एव प्राण ।

इसका अभिप्राय यह है कि रघुवशके तेरहवें सगमे विमान मागसे लौटते हुए रामच द्रजी सेतुब धसे प्रारम्भ कर अपने जीवनसे सम्बद्ध भागो तथा स्थानोका जो परिचय विमानमे बैठी हुई सीताको कराते जा रहे हैं उससे सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गारकी व्यामिश्र प्रतीतिका अद्भुत रसास्वाद होता है ।

अभिनव०—निद्राके अन्तर्गत होनेपर भी [सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति करानेकेलिए] प्रधान होनेसे स्वप्नका [व्यभिचारिभावोमे पृथक्] ग्रहण किया है ।

(१) हे [नीलकण्ठ] शिवजी ! आप [मुझे छोडकर] कहा जा रहे है । इसमें

(२) सिविणवए [इत्यादि प्राकृत गाथामे] तथा—

(३) 'साथियोके द्वारा बुलाए जानेपर भी' इत्यादि [उदाहरणो] में तो वह [सम्भोग और विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति] ही प्राणस्वरूप है ।

१ इनमें पहिला उदाहरण कुमारसम्भवसे लिया गया है । पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षण निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुब धना ।। कुमार ५ ५४ ।

शिवकी प्राप्तिकेलिए तपस्या करती हुई पार्वती रात्रिमे सोते समय स्वप्नमें शिवजीको अपने पास देखती है । स्वप्नमे ही वे मुझे छोडकर जा रहे हैं ऐसा देख कर उनके कल्पित गलेमें हाथ डाले हुए वह सहसा जग जाती है और 'हे नीलकण्ठ मुझ छोड कर कहा जा रहे हो' यह कहती हुई आँखे मलती हुई उठ बैठती है । इस प्रकार इसमे सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित अनुभूति होती है ।

२ दूसरा उदाहरण प्राकृत गाथा अपूर्ण है ।

३ तीसरा उदाहरण भी अपूर्ण दिया गया है । यह पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिक सकोच नैव शिथिलयति ।।

कोई पथिक अपनी प्रियतमाके साथ सो रहा है । दूसरे दिन प्रात काल अपने साथियोके साथ उसे यात्रापर जाना है । सवेरे आकर उसके साथी उसे चलनेकेलिए आवाज देते हैं । उस समयकी उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए कवि उसका निम्नाङ्कित शब्दचित्र उपस्थित करता है—

साथियोके द्वारा [यात्रापर चलनेकेलिए] बुलाया गया, 'आ रहा हूँ' कह कर जागा हुआ, और जानेकी इच्छा वाला भी पथिक [तनिक देर और साथ रह लें इस लोभमें अपने हाथ पैरके आलिङ्गन कृत] सङ्कोचको नही छोडता है ।

इन श्लोकोमें सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति ही इनका प्राण है ।

सम्भोगदशायान्तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद् विवोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथापि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते। विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनाभेद[1]। अत एव, निद्राबाहुल्यापेक्ष चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापस्मारव्याधीना या नात्यन्त कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धा। वयं तु ब्रूम—तादृश्या दशाया स्वजीवितनिन्दात्मिकाया तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकास्थाबन्धोऽपि[2] विच्छिद्यत एवेति। सम्भाव्यमेव[3] मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।

अभिनव०—सम्भोग दशामे तो [स्त्री रूप] विभावादिके समीपस्थ होनेके कारण [वास्तवमे] निद्रादिका अभाव होनेसे विवोध भी व्यभिचारिभाव होता है। सम्भोगमे भी सुरत-श्रमके कारण यद्यपि [अल्पकालिक] निद्रादि भी होती है किन्तु उससे रति [के स्वरूप] मे कोई वचित्र्य उत्पन्न नहीं होता है [इसलिए सम्भोगमे निद्राको अनुभाव नहीं माना है]। विप्रलम्भमे तो उसके कारण रति भावनामे भेद होता है इसलिए, और निद्राके बाहुल्यकी दृष्टिसे इस प्रकार [निद्राके अनुभावत्व] का कथन किया गया है।

अभिनव०—उन्माद, अपस्मार और व्याधि [भी विप्रलम्भ शृङ्गारके अनुभाव होते है परन्तु उन] की जो अत्यन्त कुत्सित दशा न हो उसको काव्य या नाटकमे दिखलाना चाहिए। कुत्सित [मृत्यु] दशा तो सम्भव होनेपर भी नहीं दिखलानी चाहिए यह प्राचीन आचार्योका मत है। हमारा [अभिनवगुप्तका] तो [इस विषयमे] यह कहना है कि उस प्रकारकी अपने जीवनकी निन्दात्मक दशामे तो, उस देहके द्वारा [विषयोका] उपभोग ही जिसका सार तत्त्व है इस प्रकारकी आस्थाबन्धात्मक रतिका भी विच्छेद हो जाता है [इसलिए शृङ्गारका क्षेत्र ही वहा समाप्त हो जाता है]। अत एव [यदि मरणका वर्णन किया जाय तो] मरणकी सम्भावना मात्रका अथवा शीघ्र ही जिसमे फिर मिलन हो सके इस प्रकारके मरणका वर्णन करना चाहिए। जिससे शोककी स्थिति ही न हो पावे।

यदि शोक स्थिर हो जाता है तब तो विप्रलम्भ शृङ्गारकी सीमा समाप्त होकर करुण रसकी सीमा आ जाती है मृत्यु करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारकी सीमा रेखा है। मृत्युके पूर्व वियोग मैं प्रेमियोकी कोई भी अवस्था हो जाय वह विप्रलम्भ शृङ्गारके अन्तर्गत रहती है। उनमेसे किसी एककी वास्तविक मृत्यु हो जानेपर विप्रलम्भ शृङ्गारकी सीमा समाप्त हो जाती है और करुण रसकी सीमा प्रारम्भ हो जाती है इसलिए मरणका वर्णन काव्य या नाटकमें रसविच्छेदका जनक होनेसे नही करना चाहिए। यदि किया भी जाय तो इस प्रकारसे करना चाहिए कि उससे रस विच्छेद न होने पावे। इसके दो भाग है कि या तो मरणकी सम्भावना मात्रका वर्णन हो या फिर इस प्रकारसे वर्णन करना चाहिए कि जिसमे मरणके बाद शीघ्र ही दोनोके पुनर्मिलनकी स्थिति आ जाय। उससे शोक स्थिर नही हो पाता है। इसलिए रसका विच्छेद नही होता है।

१　तद्रतिभावनापरस्परोऽत्त नापरम्।　२　अवस्थाबन्धोऽपि।　३　सम्भव एव।

यथा—

> तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जन्हुकन्यासरय्वो
> देहत्यागादमरगणनालेखमासाद्य सद्य ।
> पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गत कान्तयाऽसौ
> लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।। [रघु० ८-९५]

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरण नाख्यातम्[1] । प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धान[2] दर्शितम् । पुनर्ग्रहणेन स एवाथ सुतरा द्योतित[1] ।

अन्ये त्वाहु—मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते अपितु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका । या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावत्वेनेति[3] । सुलभोदाहरणमेतदिति ।

आदिशब्देन दैन्यमोहादय । एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति तस्मात् 'अनुभावै' इत्युक्तम् ।

अभिनव०—जसे—

अभिनव०—गङ्गा और सरयूके जलोके सङ्गमसे बने हुए तीथपर [अर्थात् गङ्गा और सरयूके सङ्गमपर] देह त्याग करनेके कारण तुरन्त ही देवताओको कोटि मे सम्मिलित हो जानेसे, पूव आकारसे भी अधिक सौन्दय वाली [अप्सरा रूपिणी] कान्ता इन्दुमतीको प्राप्त कर [स्वगके उद्यान] नन्दन वनके भीतर स्थित क्रीडाभवनो [अज] फिर रमण करने लगे।

इसलिए सुकवि [कालिदास] ने यहाँ प्रकारान्तरसे [देहत्यागका वणन करके] भी मरण नही कहा [अपितु अमरत्वकी प्राप्तिका ही कथन किया है] । और [देहत्याग से होने वाली शोकात्मक] प्रतीतिके विश्रान्ति-स्थान [अर्थात् स्थायित्व] के परिहार करनेके लिए तृतीय चरणमे [इन्दुमती रूप] विभावकी प्राप्तिका वर्णन कर दिया है । और [चतुथ चरणमे] 'पुन' शब्दके ग्रहणसे फिर वही [सम्भोग रूप] अर्थ प्रतिपादित किया है । [इस प्रकार अचिरकाल-प्रत्यापत्ति रूपमे ही मरणका वणन हो सकता है] ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस विषयमे] यह कहते हैं कि [विप्रलम्भ शृङ्गारके व्यभिचारिभावोमे जो मरण शब्द आया है उस] मरणसे जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नही है अपितु इससे प्राणत्याग कर्तृत्ता रूप चैतन्यावस्था ही अभिप्रेत है। जो सम्बन्ध और अवसरके अनुरूप व्यभिचारिभाव रूपसे समझनी चाहिए । [अर्थात् प्राणत्याग करनेके लिए उद्यत हो जाने रूप मरणका ही वर्णन विप्रलम्भमे किया जा सकता है] इस प्रकारके उदाहरण बहुत मिल सकते हैं।

अभिनव०—आदि शब्दसे दैन्य मोह आदि [का ग्रहण होता है] । ये व्यभिचारी [भाव] भी अपने अनुभावोके द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भका अनुभव कराते हैं । इसलिए ['मरणादिभिरनुभावै में] 'अनुभावै' यह कहा है ।

---

१. मरणमाख्यातम् । २ अनुसन्धानक । चोदित । ३ व्यभिचारिभावेनेति ।

अन्ये तु आदिशब्द करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान् प्राधान्येन दशयन्ति । एकशेषेण द्वयमप्यन्ये ।

'विप्रलम्भे विडम्बन सिद्धम् । इह तूपचारात्तदीय फल विरहात्मक गृह्यते । न हि परस्पर रतिमतोर्विडम्बनमस्ति । तेन विरहेण कृता सुष्ठुता[२] दशयन् मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बते इति दशयति । तथाहि सम्भोगेऽप्येकघनशकरास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्य गोत्रस्खलित, स्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूत कवयो निबध्नन्ति । 'वामो हि काम' [काम० २ ७-१] इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम् । मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वमिति' । [२२ २०७]

एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष-निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरो दधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिरा । यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिर, तथापि सस्कार रूपतया, धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैव क्षणमपि भवन्ति । सस्कारमपि स्वक स्थायिसस्कार एव प्रौढयन्ति । तथैव स्मरणाच्च ।

अभिनव०—दूसरे लोग आदि शब्दको करुणवाचक मान कर [विप्रलम्भमे भी] उसके अनुभावोको प्रधान रूपसे प्रदर्शित करते हैं । अन्य [तीसरे व्याख्याकार] लोग [आदि शब्दसे] एकशेष मान कर दोनोका ग्रहण मानते है ।

अभिनव०—विप्रलम्भमें [विडम्बन] हताश करना सिद्ध ही होता है किन्तु यहा [सम्भोग शृङ्गारमे लक्षणा] उपचारसे उसका फल अर्थात् विरहका ग्रहण होता है । क्योकि एक दूसरेसे प्रेम करने वालोमे [वास्तविक] हताश करना सम्भव नहीं है । इसलिए उस विरहके द्वारा उत्पन्न [शृङ्गार रसके] सौन्दयको दिखलाते हुए [भरत] मुनि उस [विरह] के बिना शृङ्गार रस न काव्यमे हृदयग्राही होता है और न नाटकमे । इस बातको सूचित करते हैं । इसलिए सम्भोगमे एक दम मीठे ही मीठे की समानताके परिहारके लिए गोत्रस्खलन आदि जन्य ईर्ष्या अथवा अन्य प्रकारके कलह विप्रलम्भके कारण स्वरूप वैषम्यकी रचना कवि लोग करते हैं । इसलिए वात्स्यायन आदिने भी 'काम उलटा होता है' यह कहा है । और [भरत] मुनि भी [अ० २२-१२३ मे] कहेंगे कि [काम उलटा] 'वामाभिनिवेशी' होता है ।

अभिनव०—ये व्यभिचारिभाव बिजलीके चमकने और लुप्त हो जानेके समान स्थायिभाव रूप सूत्रमे प्रकट होते और अस्त होते हुए ही उस [स्थायिभाव] के सौन्दयके आधायक होते है, स्थिर रूपसे नहीं । यद्यपि स्थायिभाव भी सदा रहने वाला [स्थिर] नही होता है, फिर भी सस्कार रूपसे, और धारावाही सजातीय प्रवाह रूपसे स्थिर ही होता है । किन्तु व्यभिचारिभाव तो इस रूपमे भी तनिक देर भी स्थिर नही रहते हैं । और अपने सस्कारको भी उसी प्रकार स्मरण होनेसे भी स्थायिभावके संस्कारमें ही [विलीन कर उसीको] पुष्ट करते है ।

---

१ विप्रलम्भो । २ सुष्ठुतमां प्रोषित इति ।

तेन व्यभिचारिषु पृथक्पृथग् यै कैश्चिदुदाहृत तन्न तन्त्रन्यायानुपाति ।

तथाहि—धृतौ यदुदाहृत "असम्भाव्य दैवात्" इत्यादि तत्रापि हर्ष विस्मय-गर्व मतिप्रभृतीना च तातेति मामिति वलितेत्यादिसूचिताना सम्भार एव । 'किमपर त्रैलोक्य' इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभि सर्वत्र भाव्यम् । अन्यथा हि धृत्यैकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत् । "अस्या सर्गविधौ" [विक्रमोर्वशीयम् १ १०] इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसमाप्तौ धृति-हर्ष विस्मयादयो भवन्त्येव । अत एव विच्छिद्य विच्छिद्य वितर्कान्तर समुदेति । न तु व्यभिचारी क्षण-मप्यवतिष्ठते । 'चल हि गुणवृत्तम्' इति हि तत्रभवन्त । अत एव प्रयोगवैचित्र्यम् । अन्यथाऽवैचित्र्यात् स एव प्रयोग स्यात् । मध्येऽन्ते चाश्रया स्फुटा । ते च [1]विस्मय धतिप्रभृतीश्च द्योतयन्ति । इत्यास्तामेतत् ।

अभिनव०—इसलिए जो कि ही [व्याख्याकारो आदि] ने व्यभिचारिभावोके अलग-अलग उदाहरण दिए है वह [कार्य] शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार नही है ।

अभिनव०—जैसे कि [धृतिके उदाहरण रूपमे] जो 'असम्भाव्य दैवात्' इत्यादि [पद्य] दिया गया है उसमे भी [केवल धृति ही नही है अपितु उसके साथ] 'तात', इस 'माम', इस और 'वलित' इत्यादि पदोसे सूचित हर्ष, विस्मय, गर्व, मति इत्यादि [अनेक व्यभिचारिभावो] का समुदाय ही विद्यमान है । 'किमपर त्रैलोक्यम्' इत्यादिमे अवान्तर वाक्यके आरम्भमे भी स्मृति आदि [अनेक व्यभिचारिभाव] सर्वत्र उपस्थित होने चाहिए । अन्यथा यदि केवल एक मात्र धृतिका ही कथन हो तो सारे श्लोकके अर्थमे चित्रलिखित सी सदा एक ही [अर्थ विषयक] दृष्टि रहेगी । [उसमे जो अनेक अर्थोंकी प्रतीति होती है वह नहीं हो सकेगी] । 'अस्या सर्गविधौ' इत्यादि [विक्रमोर्वशीयके १-१०वें श्लोक] मे भी अवान्तर वाक्योकी समाप्तिपर धृति, हर्ष, विस्मय, आदि होते ही है । इसीलिए [धृति, विस्मयादि मेसे एक एक भाव] टूट-टूट कर दूसरे वितर्कका उदय होता है । किन्तु कोई व्यभि-चारी [भाव] क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता हे । [सत्त्व रज और तमोगुण रूप] गुणोका स्वभाव चल [प्रतिक्षण परिवर्तनशील] है यह [सांख्य शास्त्रके] आचार्यों का मत है । इसीलिए प्रयोगमे भेद होता है अन्यथा [यदि इन व्यभिचारिभावोमे भेद न हो तो] भेद न होनेसे उसी [एक] प्रकारका अभिनय [प्रयोग] हो । [ऊपर उद्धृत 'असम्भाव्य दैवात्' इत्यादि श्लोकके] मध्य और अन्तमे [धृति, विस्मय आदि व्यभिचारिभावोके] आश्रय स्पष्ट हैं और वे विस्मय एव धृति आदि को सूचित करते हैं ।

यहा एक ही श्लोकमें अनेक व्यभिचारिभावोके सकरके दिखलानेकेलिए जो उदाहरण दिए ह उनमें से 'असम्भाव्य दैवात्' और 'किमपर त्रैलोक्य' इत्यादि प्रथम श्लोक कहाँसे लिए गए

---

१ विस्मयधृतिप्रभृतीत्यास्तामेतत् ।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्यूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितु पूवपक्षयति अत्राहेति—

भरत०—अत्राह–यद्यय रतिप्रभव शृङ्गार कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ?

करुणाविषये आश्रयण विद्यते येषा भूम्ना । 'अत एव 'न कमधारयान्मत्वर्थीय' इतीह बाधक नाश्रितम् । भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम् ।

हैं यह पता नही चलता है और न पूरे श्लोक यहा उद्धत किए गए हैं । 'अस्या सगविधो' इत्यादि श्लोक विक्रमोवशीय नाटकसे लिया गया है ।

अभिनव०—[सम्भोग शृङ्गार तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके प्रतिपादक पूर्वोक्त] वाक्योकी एकवाक्यता [परस्पर सम्बन्ध] से दोनो अवस्थाओमे रहने वाले शृङ्गारका जो स्वरूप कहा है उसीको और स्पष्ट करनेके लिए 'अत्राह' इत्यादिसे पूव पक्ष उठाते है—

भरत०—यहापर यह शङ्का होती है [अत्राह] कि यदि यह शृगार रतिसे उत्पन्न होता है तो करुण रसमे रहने वाले [निर्वेदादि] भाव इसमे कसे होते हैं ?

अभिनव—करुण विषयमे जिनका अधिकतर आश्रय रहता है वे [करुणाश्रयी होते हैं यह 'करुणाश्रयिण' पद का विग्रह करना चाहिए] इसलिए [सिद्धान्त पक्षमे कमधारय और उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय की प्रक्रिया का निषेध करने वाले] "न कमधारयान्मत्वर्थीय, [बहुव्रीहिश्चेत् तदथप्रतिपत्तिकर]" इस नियमको यहा ['करुणाश्रयिण' पदकी रचनामे] बाधक नही माना गया है । क्योकि [कमधारय से मत्वर्थीय-प्रत्यय द्वारा सूचित करुणरसके अनुभावोका] 'अधिक्य' पूवपक्षके प्राणोको ही भस्म कर देता है ।

इस अनुच्छेदका 'करुणाश्रयिण पद व्याकरणकी दृष्टिसे विशेष महत्वका है । इस पदकी सिद्धिमें दो प्रक्रियाओका अवलम्बन करना होता है । पहिले तो करुणश्चासौ आश्रय करुणाश्रय' इस प्रकार कमधारय किया जाता है । फिर उससे 'सोऽस्यास्तीति' इस विग्रहमे मत्वर्थीय—इनि प्रत्यय करके 'करुणाश्रयी' पद बनाया जाता है ।

पर तु यह पद्धति सामा य रूपसे व्याकरणके अनुसार उचित नही है । क्योकि न कमधारया मत्वर्थीय बहुव्रीहिश्चेत् तदथप्रतिपत्तिकर' यदि बहुव्रीहि समाससे उसी अथकी प्रतीति हो जाय जो कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर प्रतीत होता है तो कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नही करना चाहिए । यह व्याकरणका सामान्य नियम है । इसी आधारपर यहाँ यह पूव पक्ष उठाया गया है कि यहा कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नही करना चाहिए क्योकि उसके करनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है वही अथ बहुव्रीहि समाससे भी प्रतीत हो सकता है । बहुव्रीहि समासका रूप यह होगा कि 'करुण आश्रयो यस्य स करुणाश्रय' । कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर

---

१ 'अतएव कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यामितीह नाश्रितम् । भूम्ना दहति ह्यत्र [दहतीत्यत्र] पूव पक्षस्य प्राणितम् ।

भरत०—अत्रोच्यते—[1]पूर्वमेवाभिहित सम्भोगविप्रलम्भकृत शृङ्गार इति। [2]वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहित। [3]ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्याम।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्क्याह वैशिकेत्यादि। वेशो वेश्यावग करण च सम्भोगात्मकम्। तत्प्रयोजन शास्त्र कामसूत्र ये कृतवन्तस्तै। शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिमरणान्ताभिरवस्थाभियुक्तो दर्शित।

'करुणाश्रयी पद बनता है और बहुब्रीहि समास करनेपर 'करुणाश्रय पद बनता है। अथ दोनो का एक ही होता है। इसलिए 'करुणाश्रयिण' पदका प्रयोग न करके करुणाश्रया' पदका प्रयोग करना चाहिए। यह पूवपक्षका आशय है।

सिद्धा तपक्षका कहना यह है कि कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेका निषेध उसी अवस्था में किया गया है जब बहुब्रीहि समाससे भी ठीक वही अथ निकल सकता हो जो कमधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर होता है। पर तु यहा मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर जो अथ प्रतीत होता है वह बहुब्रीहि समाससे उपस्थित होने वाले अथकी अपेक्षा अधिक है। बहुब्रीहि समासमे करुण आश्रयो येषा' इस विग्रहसे तो केवल करुण रस और भावोका आश्रयाश्रयिभाव मात्र ही बोधित होता है। परन्तु कमधारयसे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करनेपर नित्ययोगेऽतिशायने भवन्ति मतुबादय' इस नियमके अनुसार 'भूमा' या अतिशय अधिक बोधित होता है। इसी अधिक्यके द्योतनकेलिए 'करुणाश्रयिण' पदका प्रयोग किया गया है। 'भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम् इस पक्तिका आशय यही है कि कमधारय समासके बाद मत्वर्थीय इनि प्रत्यय द्वारा बोधित 'भूमा' या अधिक्य ही पूवपक्षको निष्प्राण बना कर समाप्त कर देता है।

भरत०—उसका [आपके पूछे हुए प्रश्नका] उत्तर यह हे कि शृ गार सम्भोग तथा विप्र लम्भकृत [दो प्रकारका] होता है यह पहिले ही कह चुके हें। [इनमेसे जो विप्रलम्भ या विरहकृत शृ गार है उसमे करुण रसके समान निर्वेदादि व्यभिचारिभाव भी होते है। यह न केवल हमही नही मानते है अपितु] कामशास्त्रके आचाय [वात्स्ययान आदि] ने भी [कामकी] दश अवस्थाओ का कथन किया है। [उनमे करुण सम्ब धी अवस्थाओका भी उल्लेख शृङ्गाररसमे पाया जाता है] उन [दश कामावस्थाओ] को सामा यभिनयके प्रसगमे आगे कहेगे।

अभिनव०—[शायद पूवपक्षी यह कहे कि] तुम्हारी कही हुई बात अप्रामाणिक ही हो, ऐसी आशङ्का करके [उसके समाधानाथ] 'वैशिक' इत्यादिसे [कामशास्त्रकारोका प्रमाण इस विषयमें] कहते है [वैशिक' शब्दका विग्रह 'वेश करण प्रयोजन यस्य शास्त्रस्य तत् वैशिक कामशास्त्रम्' यह होता है। इसमे] वेश [शब्दका अथ] वेश्या-वर्ग है। और करण [का अथ] सम्भोगात्मक है। वह जिसका प्रयोजन है वह वैशिक शास्त्र [कामशास्त्र हुआ]। उस कामशास्त्रकी जिन्होने बनाया है उन [काम शास्त्रके प्रणेताओ] ने अभिलाषसे लेकर मरण पर्यन्त दश अवस्थाओसे युक्त शृगाररस को दिखलाया है।

---

१ ननु पूर्वं। २ म व वशेषिक। व वशेषिकशास्त्रकारेण। म शास्त्रैश्च। त अ इव वाक्य नास्ति। म ताश्चावस्था।

अवस्थाग्रहणेन तावन्तो बहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्का निराकरोति। तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुज्ञाता इति तात्पर्यम्। चकारेणेदमाह परस्परास्थाबन्धात्मके रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम्। यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनत प्रभृति।

ननु तत्रापि रति क्व 'तद्विषयस्यानवगमात् ?

न हि चित्रमात्र, नलिनीसस्तरादे साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात्। यदि पर नाम तज्ज्ञास्तत्कुत्रोपयोगीति।

कामशास्त्रमे कही हुई कामकी निम्नाकित दश दशाए मानी जाती हैं—

नयनप्रीति प्रथम चित्तासगस्ततोऽथ सकल्प ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश ॥
उन्मादो मूर्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्यु ।

अभिनव०—अवस्था पदके ग्रहणसे उतने बहुतसे [अर्थात् दश प्रकारके] विप्रलम्भ [शृङ्गार अलग अलग] होते हैं इस शङ्काका निराकरण किया गया है। इसलिए उन्होंने [अर्थात कामशास्त्रके आचार्योंने] चिन्तादिको भी रतिके व्यभिचारिभावके रूप रूपमे स्वीकार किया है यह तात्पर्य है। [वैशिकशास्त्रकारैश्च मे] चकारके ग्रहणसे परस्पर आस्थाबन्ध रूप रतिके विद्यमान होनेपर उस [रति] की अङ्गभूत दश अवस्थाए विप्रलम्भका अङ्ग होती है यह बात कही है। जैसे रत्नावली [नाटिका] मे [सागरिका के] चित्रको देखनेसे प्रारम्भ करके उदयनकी [दश दशाओका वर्णन है]।

अभिनव०—[प्रश्न]—वहाँ [अर्थात् रत्नावलीके द्वितीय अङ्क के इस प्रसङ्गमे] भी उस [रति] के विषय [वास्तविक सागरिका] के उपलब्ध न होने से रति कहाँ है? [अर्थात् राजा उदयन को तो कदली कुञ्जमें केवल चित्रफलक ही प्राप्त हुआ था सागरिका तो उसने देखी नही थी उसको चित्रमात्रसे रति कैसे उत्पन्न हो सकती है यह प्रश्न का आशय है। इसका उत्तर देते हैं कि]—

अभिनव०—[उत्तर] वहा केवल चित्रमात्र ही नहीं है अपितु [सागरिकाकी काम सन्तप्तावस्था और कुछ देर पूर्व उस कदली कुञ्जमे उपस्थितिके] साक्षी रूप कमलिनीके [पत्तोसे बनाए गए] बिस्तर आदिके विद्यमान होनेसे। और [उस बिस्तरपर बनी हुई कामसन्तप्त सागरिकाके शरीर आदि की] आकृतिसे [सगरिक की] काम्यमानताके औचित्यकी सिद्धि हो जानेसे [सागरिकाके विषयमें उदयनकी रतिका उदय उचित है। क्योकि यह सब सामग्री] किस कार्यमे उपयोगी हो सकती है इस विषयमे केवल उसको जानने वाले ही प्रमाण हो सकते हैं।

रत्नावली नाटिकाकी आख्यान वस्तु उदयन, वासवदत्ता और सागरिका की प्रेम कथा है। उदयन राजा इस कथाके नायक हैं। वासवदत्ता उनकी पत्नी हैं। और यौगन्धरायण उनके

---

१ तस्यविषयस्य।

यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वातन्त्र्य यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतोतेन—"स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सवप्राणिषु सम्भव ।" इति।

मन्त्री हैं। राजा उदयन अपने शत्रुसे हार जाते हैं और उनके राज्यपर शत्रुका अधिकार हो जाता है। ज्योतिषियोने उनको बतलाया कि सागरिकासे विवाह होनेपर राजा उदयनका भाग्य फिरेगा। यौग धरायण आदि मन्त्रियोके बहुत आग्रह करनेपर भी राजा उदयन वासवदत्ताके प्रेम के कारण दूसरा विवाह करनेको तैयार नही होते हैं। तब यौग धरायण एक ब्राह्मणके रूपमे सागरिकाको अपनी बहिन बता कर कुछ दिनकेलिए राजमहलमें वासवदत्ताकी रक्षामे छोड जाते हैं। कुछ दिन बाद सागरिका राजा उदयनको देख कर मुग्ध हो जाती है। उसने राजाका एक चित्र बनाया और उसकी सहेली सुसङ्गता उसी चित्र फलकपर उदयनके साथ सागरिकाका भी चित्र बना देती है। इस चित्रको लेकर सागरिका तथा सुसङ्गता कदली कुञ्जमें बठी बाते कर रही हैं। सागरिका अत्यन्त काम सन्तप्त हो रही है। इसी बीचमे एक पालतू बन्दर छूट कर उपद्रव मचाता हुआ उधर आ निकलता है और वे दोनो डर कर कुञ्जसे निकल कर चली जाती हैं। चित्र वही छूट जाता है। राजा उदयन विदूषकके साथ उसी उद्यानमे नवमालिका-लताको देखने केलिए आते हैं। सागरिकाके साथ पिंजडेमें एक मैना भी थी जो उन लोगोकी बात सुन रही थी। इस बीच वह मना पिंजडेसे निकल गई और पेडपर बैठी हुई सागरिकाकी बातोको दोहरा रही है। उदयन और विदूषक उस सारिकाके मुखसे सागरिकाकी सारी कथाका सुनते हैं। फिर कदली कुञ्जमे जानेपर विदूषकको उस चित्रकी प्राप्ति हो जाती है। इस दशामें वह चित्रमात्र भी रतिका जनक हो सकता है। उसके साथकी सारी सामग्री निश्चित रूपसे रतिजनक है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसमें सारिकाके मुखसे सुना हुआ सागरिकाका यह कथन कि—

दुलभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषम प्रेम मरण शरण नु वरमेकम् ॥

और कदली कुञ्जमें कमलिनी पत्रोकी शय्याको देख कर राजा उदयनका निम्न कथन—

परिम्लान पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत
तनोमध्यस्यान्त परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इद व्यस्तन्यास श्लथभुजलताक्षेपवलनै
कृशाङ्ग्या सन्ताप वदति विसिनीपत्रशयनम् ॥ २ रत्ना० २, १२।

इत्यादि सब ही सामग्री रतिकी उद्बोधिका है।

साधारणत कामकी दश अवस्थाए कही गई हैं। जब दोनो ओरसे अनुराग होता है तब रतिके वस्तुत विद्यमान होनेसे ये दशो दशाए विप्रलम्भ-शृङ्गारका अङ्ग होती है। परन्तु जब दोनो ओरसे रति नही होती है तब उनको विप्रलम्भका अङ्ग नही कहा जा सकता है। उस समय उनकी स्वतन्त्र स्थिति होती है। जैसे बालरामायणमें रावणकी दश दशाओका वर्णन है। इसी बातको अगली पक्तिमें कहते हैं—

अभिनव०—जब [दोनो ओरसे रति न होनेके कारण दश दशाओको] विप्रलम्भका अङ्ग नहीं होती हैं तब उनको स्वतन्त्रता भी होती है जैसे [बालरामायणमे] रावणकी [दश दशाए विप्रलम्भका अङ्ग न हो कर स्वतत्र ही है] यही बात हमारे [अर्थात् ग्रन्थकार अभिनवगुप्तके] गुरु भट्टतोतने कही है—"स्वतत्र रूपसे प्रवृत्त होने पर तो सब प्राणियोमे [कामकी दश दशाओका होना] सम्भव है।"

नन्वेव व्यभिचार्यभेदात् करुण कथ विप्रलम्भाद् भिद्यत इत्याशक्याह करुणस्त्विति—

भरत०—करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विभवनाश-बध-बन्ध-समुत्थो निरपेक्षभाव ।

अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भ स्थाय्यभावात् । तदभावो विभावसामग्री-वैकल्यादिति । तत्र तावत् करुण पृथक लब्धप्रतिष्ठ एव ।

उत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीत शोक करुणे स्थायी । अत एवाह 'निरपेक्ष' बन्धुजनादिविषये यापेक्षा रताविवालम्बन यथोक्तम्—

'आशाबन्ध कुसुमसदश प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इति [मेघ—१०]

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ दोनोमे] व्यभिचारि-भावोके अभिन्न [समान] होनेसे करुणका विप्रलम्भ शृङ्गारसे भेद कैसे होता है इस प्रकारकी आशंका [हो सकती है ऐसा समझ] करके [उसके समाधानार्थ करुण तथा विप्रलम्भका भेद अगली पक्तियोमे] 'करुणस्तु' इत्यादिसे कहते है—

भरत०—शाप के क्लेशमे पडे हुए इष्ट जनके विभवनाश 'बध' अथवा बन्धन आदिसे उत्पन्न निरपेक्षाभाव वाला तो करुण होता है ।

अभिनव०—अधम प्रकृतिमे [स्त्री पुरुषके वियोगके बाद रति रूप] स्थायि-भावके न रहनेसे विप्रलम्भ शृङ्गार नही होता है । [प्रेयसीत्वादि रूप] विभाव सामग्री का अभाव होनेसे उस [रत्यादि रूप स्थायिभाव] का अभाव होता है । [अर्थात् अधम पुरुषका स्त्रीके साथ स्थायी सम्बन्ध नही होता इसलिए उनमे रति रूप स्थायिभाव वियोग कालमे न रहनेसे विप्रलम्भ शृङ्गार नही होता है परन्तु] उनमे [शोक स्थायि-भाव वाला] करुण रस अलगसे प्रतिष्ठित होता ही है । [इसलिए भी करुण रस विप्रलम्भसे भिन्न होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

अभिनव०—और उत्तम प्रकृति [के पुरुषो] मे भी रतिसे विपरीत शोक करुण रसमे स्थायिभाव [के रूपमे विद्यमान] रहता है । इसीलिए [करुण तथा विप्रलम्भके भेदका स्पष्टीकरण करनेकेलिए मूल ग्रन्थमे 'करुणका] 'निरपेक्षभाव' कहा है । [निरपेक्षभाव का अर्थ यह है कि] बन्धु जनादिके विषयमे जो [अपेक्षा अर्थात] आशा जैसे रतिमे आलम्बन विभाव [सीतादि] की अपेक्षा रहती है । [वह शृङ्गार रसका 'सापेक्षभाव' है । करुणमे प्रियकी मृत्यु हो जानेसे वह आशा नहीं रहती है अत उसे 'निरपेक्षभाव' कहा है] जैसा कि [मेघदूतमे कालिदासने आशा या अपेक्षाका उल्लेख करते हुए] कहा है कि—

अभिनव०—स्त्रियोका आशा सूत्र प्राय कुसुमके समान [कोमल] होता है ।

यह आशातन्तु विप्रलम्भमे तो विद्यमान रहता है । परन्तु करुण रसमें वह पुनर्मिलनका आशातन्तु सवथा भग्न हो जाता है । इसलिए करुणको 'निरपेक्षभाव' अर्थात् अपेक्षा या आशासे रहित नैराश्य प्रधान भाव कहा है । और विप्रलम्भको 'सापेक्षभाव' कहा है ।

ततो निष्क्रान्तो भाव शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो, बधो, बन्धो वा तत समुत्थान यस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकायत्वे सत्युत्तम-प्रकृते शोकोदयस्थानमेतदिति दशयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्व स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तु कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस उवशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितत्वेन निबद्धा।

एव विभाव स्थायिविभेदो दर्शित। ये चते निर्वेदादयस्तेऽपि वस्तुतो रत्यननु-गृहीता निरपेक्षाच्छोकाद् भवन्तो, अन्ये एव। ततोऽप्याह 'निरपेक्ष' इति।

एव प्रसङ्गात् करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति औत्सुक्यचि तेति।

अभिनव०—उस [सापेक्षभाव] से निष्क्रान्त [अर्थात् रहित] शोक रूप भाव जिसमे है [वह निरपेक्षभाव रूप करुण है]। शापके क्लेशमे पडे हुए इष्टजनका जो विभवनाश, बध, अथवा बन्धन उससे जिस [निरपेक्षभाव या नैराश्य] की उत्पत्ति होती है [उस प्रकारका निरपेक्षभाव या नैराश्यपूर्ण करुण रस होता है]। शापके ग्रहण करनेसे उसके प्रतीकारका कोई मार्ग सम्भव न होनेसे उत्तम प्रकृतिकेलिए वह केवल शोकोदयका ही कारण हो सकता है यह बात सूचित की हे। अन्यथा [इष्टजन का वह बध, बन्धादि शाप-जन्य न होता और किसी प्रकारसे उसका प्रतिकार सम्भव होता तो शोकका उदय न होकर] वह [बध बन्धादि वीर रसके स्थायिभाव] उत्साह अथवा [रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोधका विभाव बनता। [विक्रमोर्वशीयमे करुणकी नही विप्रलम्भ शृङ्गारकी स्थिति रखनी है इसी लिए उवशीके स्वर्गको चले जानेपर] पुरूरवाके शोकको हटानेकेलिए ही कविकुलचक्रवर्ती महाकवि कालिदासने उर्वशीके शाप प्राप्तिका [पुरुरवाको] पता न चल सके इस प्रकारसे उल्लेख किया है।

अर्थात् उवशी वस्तुत शापवश भूलोकमें आकर कुछ समय पुरूरवाके साथ रही। शाप की अवधि समाप्त हो जानेपर वह स्वग चली गई। उसके चले जानेके बाद पुरूरवा उसके वियोगमे उन्मत्त हो उठते हैं। इसी रूपमें विप्रलम्भका चरम परिपाक होता है। यदि पुरूरवाको उवशीके शापका ज्ञान हो जाता तो उस वियोगको अप्रतीकाय मान कर शोकके अतिरिक्त अन्य कोई माग न रहता और उस दशामे विप्रलम्भका परिपाक न हो सकता था। इसीलिए शोकको बचानेके लिए महाकवि कालिदासने अनुपलक्षित रूपसे उवशीके शापका उल्लेख किया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव०—इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके] विभावो तथा स्थायिभावोका भेद दिखलाया है। और जो [करुण रसमे] ये निर्वेदादि [व्यभिचारि-भाव] होते हैं वे भी रतिसे असम्बद्ध [अननुगृहीत] निरपेक्ष [नैराश्यमय] शोकसे होनेके कारण भिन्न ही होते हैं। इसलिए भी [करुण रसको] 'निरपेक्षभाव' कहा है।

अभिनव०—इस प्रकार प्रसङ्गसे करुण रसके स्वरूपको कह कर [करुण तथा विप्रलम्भका भेद दिखलानेकेलिए] 'औत्सुक्य' इत्यादि [अगली पंक्ति] से प्रकृतमे उसकी योजना करते हैं—

भरत०—औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थ सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत । एवमन्य करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति । एवमेष सर्वभावसयुक्त शृङ्गारो भवति ।

चि ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम् । औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्य सम्यगुत्थान विजृम्भो यस्य । अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भाव । ते च सापेक्षाद् रत्याख्याद् भवन्ति । न हि विप्रलम्भे विभाव स्थायी च सम्भोगाद् भिद्यते । एक एवासाविति बहुश उक्तम् ।

एतदुक्त भवति—औत्सुक्य विषयौन्मुख्यम् । तच्च नष्टे विषये न सम्भवति । एव परीक्ष्य, परीक्षाफलमुपसहरति 'एवमेष' इति । शृङ्गार इत्येकवचनेन एक एव शृङ्गार इत्युपसहृतम् ।

एव सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात् सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात् कारिकामधुना पठति 'अपि च' इति । न केवल सूत्र परीक्षापि

भरत०—औत्सुक्य और चिन्तासे उत्पन्न सापेक्षभाव [आशामय भाव] विप्रलम्भके कारण होता है । इस प्रकार करुण रस अलग है और विप्रलम्भ अलग है [अर्थात करुण तथा विप्रलम्भ दोनों बिल्कुल अलग अलग रस हैं] । इस प्रकार [आलस्य, उग्रता और जुगुप्साको छोड कर] सब भावोसे युक्त यह शृङ्गार होता है ।

अभिनव०—यहाँ चिन्ता शब्द निर्वेदादि [विप्रलम्भके] समस्त [व्यभिचारि-भावोका उपलक्षण है । औत्सुक्य प्रधान जो चिन्ता आदि उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह 'औत्सुक्यचिन्तासमुत्थ' हुआ] । इसीलिए [अर्थात् औत्सुक्य तथा चिन्तासे उत्पन्न होनेके कारण] जिसमे रति रूप भाव सापेक्ष [आशान्वित] होता है [वह विप्रलम्भ शृङ्गार है] । और वे [चिन्तादि] सापेक्ष [आशान्वित] रतिसे होते हैं । इसलिए विप्रलम्भमे स्थायिभाव और विभाव सम्भोग [के स्थायिभाव तथा विभावो] से भिन्न नही होते है । अपितु [सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनोके स्थायिभाव तथा विभाव] एक ही होते हैं यह बात अनेक बार कह चुके हैं ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि औत्सुक्य [का अर्थ] विषयके प्रति उन्मुख होना है । वह विषय [आलम्बन विभाव] के नष्ट हो जानेपर नही हो सकता है । [इसलिये आलम्बन विभावके नष्ट हो जानेपर विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं रहता है, अपितु करुण रस बन जाता है] । इस प्रकार [विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण रसके भेदकी] परीक्षा करके, 'एकमेष' इत्यादिसे परीक्षाके फलका उपसहार करते है । ['सर्वभावसयुक्त शृङ्गारो भवति' इसमे] 'शृङ्गार' इस एक वचनसे [सम्भोग विप्रलम्भको मिला कर] एक ही शृङ्गार रस होता है यह उपसहार किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार परीक्षा करके सूत्र [अर्थात् रससूत्र] के अर्थकी स्थापना हो जानेपर विवरण रूपसे और सूत्रके समीपमे [सूत्रार्थके] विस्तृत पाठ [रूप] होनेसे अब [सूत्रकी व्याख्यानभूत] कारिकाको 'अपि च' इत्यादिसे पढते हैं । यह जो कारिका है यह न केवल सूत्र [के अर्थको ही कहती] है

यावदिय कारिकेति समुच्चयाथ । एव सवत्र मन्तव्यम् । तामेव कारिका पठति सुखेत्यादि—

भरत०—अपि च—

भरत०—'सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवक[2]।
[3]पुरुषप्रमदायुक्त शृङ्गार इति सज्ञित ।। ३९ ।।

पुरुष इति भोक्ता सवेदनात्मकोऽभिप्रेत । भोक्तैव च स्थायिसविद्रूप । व्यभिचारिणस्तु भोगस्वभावास्तेन रतिरेव पुरुष । तथा चोक्त 'श्रद्धामयोऽय पुरुष' इति । एव प्रमदा अपि ।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्य, प्रमदायास्तु भोग्यत्वम । प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानि । भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम् । अत एव न स्थायिभेद शङ्कनीय । 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादि पुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्व दशयति । विभावादयो [4]रसोदयेनास्वादैश्च भोक्तरि निमग्ना[5] इति भोक्तृप्राधान्य च दशयन्ति।

अपितु परीक्षा रूप भी है यह ['अपि च' मे] चकारका अथ है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। उसी कारिकाको 'सुख' इत्यादिसे पढते है—

भरत०—और भी [कहते हैं]—

भरत०—सुखमय इष्ट [सामग्री] से सम्पन्न [वसन्तादि] ऋतु तथा माल्यादि [उद्दीपक] का सेवन करने वाला, तथा स्त्री पुरुष से युक्त [रस] शृङ्गार इस नामसे कहा जाता है । ३९ ।

अभिनव०—'पुरुष' इस पदसे अनुभव करने वाले भोक्ताका ग्रहण होता है। और भोक्ता ही स्थायिभाव [रत्यादि] की सवित् [अनुभूति] रूप है। व्याभिचारिभाव तो भोग्यस्वरूप होते है। इसलिए [स्थायिसवित्] रति रूप ही पुरुष है। जैसे कि [उपनिषदादिमे कहा भी है] कि 'यह पुरुष श्रद्धामय है'। [जैसे उपनिषद्मे पुरुष को 'श्रद्धामय' कहा गया है इसी प्रकार यहाँ शृङ्गार रसकी अनुभूतिमे पुरुष 'रतिरूप' है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। इसी प्रकार प्रमदा [स्त्री] भी [रति रूपिणी] है।

अभिनव०—इनमेसे भोक्तृत्वमे पुरुषकी प्रधानता है और स्त्री तो भोग्य होती है। प्रधान होनेसे ही वह [पुरुष] भोग्य [स्त्री] के अधीन नही होता है। इसीलिए [पुरुषके स्वतन्त्र होनेसे] दूसरी नायिकाके साथ [पुरुष नायकका] सम्बन्ध होनेपर भी शृङ्गार रसकी हानि नहीं होती है। और भोग्य [स्त्री] के तो परतन्त्र [नायकाधीन] होनेसे [उसका] दूसरेके साथ सम्बन्ध होनेपर शृङ्गारकी हानि होती है यह बात [पहिले भी दिखलाई जा चुकी है]। इसलिए स्थायिभावके भिन्न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। [मूलकारिकामे] 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादिके पुरुषके विशेषण रूपसे अभिप्रेत होनेसे सबको मिला कर [शृङ्गार रसका] विभावत्व होता है यह दिखलाया है। और विभावादि, रसके उदय द्वारा, और आस्वादनके द्वारा भोक्तामें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए भोक्ताका प्राधान्य सूचित होता है।

---

१ सुखप्रायेषु । २ माल्यानु । ३ पुरुष. प्रमदायुक्ता । ४ रसोदय विना । ५ निमग्नत्वे ।

विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता। एतदर्थमेव 'जस अह तादेण दिण्णेदि' 'ईरिसव्स कण्णूरदसणव्स' इति च। एतत्सवसम्पन्नत्वमेव नायिकाया दर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्व स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रति 'पुरुषाथरूपत्वा-भावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सवस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तरसम्भावनमिति श्लोकस्य तात्पर्याथ।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते 'तेषा भ्रान्तिकारणमय श्लोक। स चेत्थ व्याख्यातो न भ्रान्तिजनक। 'सज्ञित'[3] इत्यनेनान्वथता पराकरोति। तथा हि उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

अभिनव०— आवश्यक सामग्री [विषयसम्भार] की पूणताका निश्चय होने पर ही रति उचित होती है इसीलिए [रत्नावली नाटिकामें उदयनके प्रति जो सागरिकाकी रतिका वर्णन आया है उसमे सागरिकाको जब यह निश्चय हो गया है कि इन्ही राजा उदयनके साथ मेरा विवाह करनेकेलिए मेरे पिताने मुझे भेजा था तभी उसकी रति उचित प्रतीत होती है इसीलिए नाटिकामे कविने सागरिकाके मुखसे यह कहलाया है कि ये वे ही राजा उदयन है] 'जिनको पिताजीने मुझे समर्पित कर दिया है' और 'इस प्रकारके कर्णपूरके दर्शनसे' [इससे नायिका सागरिकाके उत्तम कुलादिका बोध होनेसे रतिका औचित्य सिद्ध होता है]। इस सबसे नायिका [सागरिका] का सर्वसम्पन्नत्व [अर्थात राजा उदयनके प्रति उसकी रतिके औचित्यको सिद्ध करने वाली सामग्रीकी पूणता] ही दिखलाई गई है। अन्यथा [इस सामग्रीके अभावमे सागरिकाकी रति] उत्तम नहीं होती। क्योकि अपने जाति और कुलके अनुरूप सम्पत्तिके अभावमे [असदृश, अननुरूप स्त्री पुरुषकी] रति पुरुषाथ रूप न होनेसे नहीं कहनी चाहिए। [उस प्रकारका प्रेम अधम पुरुषोका होता है] इसलिए उस [अननुरूप स्त्री पुरुषकी रति] मे सब [सहृदयो] को प्रतीतिमे अन्य प्रकारकी विरसताकी सम्भावना रहती है। यह इस श्लोकका तात्पर्याथ है।

अभिनव०—[शकुक आदि] जो लोग विषय सामग्रीकी पूर्णताको ही रस मानते हैं उनकी भ्रान्तिका कारण यह श्लोक ही है। परन्तु इस प्रकार व्याख्या करने पर भ्रान्तिजनक नहीं रहता है। [श्लोकमें आए हुए] 'सज्ञित' इससे [शृङ्गार शब्दकी 'प्रशस्त शृङ्ग यस्मिन् स शृङ्गार' इस प्रकारकी] अन्वथताका निराकरण कर दिया गया है। [क्योकि शृङ्ग शब्दसे 'शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्' इस सूत्रसे आरकन्' प्रत्यय करके] शृङ्गार शब्द निपातित किया गया है। [अत वह रूढ शब्द है। यह 'सज्ञित' पदका भाव है उसमे 'प्रशस्त' शृङ्ग विद्यते यस्मिन स शृङ्गार इस प्रकार अन्वर्थताकी खोज नहीं करनी चाहिए]।

---

१. पुरुषाथरूपत्वात्। २ तेषामभ्रान्ति। ३ सञ्चीयत इति।

न केवल श्लोकवृत्तमिद सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपि, इति 'अपि च' इति भिन्नक्रमस्याथ ॥ ३६ ॥

भरत०—अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवत —

भरत०—ऋतुमाल्यालकारै प्रियजन-गान्धर्व-काव्यसेवाभि ।
उपवनगमनविहारै शृङ्गाररस समुद्भवति ॥
नयनवदनप्रसादै स्मित-मधुरवचो-धृति-प्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चागविहारैस्तस्याभिनय प्रयोक्तव्य ॥

'प्रियोजनो' विदूषकादि । 'गान्धव'–शब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम् । 'काव्यसेवा' शब्देन विषयसङ्कल्प विभावत्वेन लक्षयति ।

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद् रसात् काव्याथविदो भावान्तर प्रादुभवति । अत सुखजनकत्वात् काव्यार्थो रस इति, स प्रत्युक्त । नहि विषयसामग्री रस इति पूर्वं दर्शितम् । धृतिप्रमोद शब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति । एक एव च परमार्थत शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादौ अवस्थोपलक्षणद्वारेण सव एवोपसहृतो मन्तव्य ।

इतिशृङ्गाररस प्रकरणम् ।

अभिनव०—'अपि च' इस भिन्नक्रम वाले पदका अभिप्राय यह है कि यह केवल [हमारे नाट्यशास्त्रके] श्लोकका ही अथ [अर्थात् यह केवल हमारा ही मत] नही है अपितु इस विषयमे सूत्राथका समर्थन करने वाली दो आर्या [आर्या छन्दमे लिखे गए श्लोक] भी है ।

भरत०—ऋतु, माल्य, अलङ्कार प्रियजन, सङ्गीत, काव्यके सेवन, उद्यान गमन और वन विहार आदिसे शृङ्गाररस उत्पन्न होता है ।

भरत०—आखों और चेहरेकी प्रसन्नतासे, मुस्कराहट, मधुर वचन, धृति, प्रमोद तथा सुन्दरताके साथ अङ्गोंके सञ्चालनके द्वारा उस [शृङ्गार] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[इनमे] 'प्रियजन' का अर्थ विदूषक आदि है । 'गान्धर्व' शब्द सङ्गीत आदि रूप मनोहर विषयोका उपलक्षण है । 'काव्यसेवा' शब्दसे विभाव रूपसे विषय [भोग] के सङ्कल्पको सूचित किया है ।

अभिनव०—जो कहते हैं कि 'काव्यके द्वारा प्रतिपादित रससे काव्यार्थको समझने वाले सहृदयके हृदयमे दूसरे रस [भाव] का उदय होता है । इसलिए सुखका जनक होनेसे काव्यका अर्थ भी रस [रूप ही] है' उसका खण्डन [हमारी की हुई व्याख्यासे] हो जाता है । क्योकि हम पहिले लिख चुके है कि रस विषयसामग्री रूप नहीं होता है । [इस दूसरी आर्यामे आए हुए] 'धृति' तथा 'प्रमोद' शब्दोसे व्यभिचारिभावोंको सूचित किया है। प्रारम्भमे कही हुई [शृङ्गारकी] दो अवस्थाओके द्वारा वस्तुत शृङ्गार रस एक ही होता है । इस प्रकार सबका उपसहार किया है ।

शृङ्गाररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हास्यरसप्रकरणम्

अथ हास्य लक्षयितुमाह अथेति ।

भरत०—अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मक ।

हास्यरस-प्रकरण

अभिनव०—इसके बाद हास्य रसका लक्षण करनेकेलिए 'अथ' इत्यादि से [हास्य रसका लक्षण] कहते हैं—

भरत०—अब आगे हास रूप स्थायिभाव वाला हास्यरस [लक्षणादिके द्वारा निरूपित किया जाता] है ।

शृङ्गाररसके निरूपणके बाद ग्रन्थकार हास्यरसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । भरतमुनिने हास्य रसका लक्षण, 'हासो नाम हास्यस्थायिभावात्मक' यह किया है । इसके पूव शृङ्गार का लक्षण, शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव' यह किया था । इसी प्रकार आगे करुण का लक्षण 'करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव' यह किया है । इन लक्षणोमें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि शृङ्गार तथा करुण रसको ग्रन्थकारने 'रतिप्रभव' और 'शोकप्रभव' अर्थात् 'स्थायिभावप्रभव' स्थायिभावसे उत्पन्न होने वाला कहा है । परन्तु हास्य रसको 'स्थायिभावप्रभव' न कह कर स्थायिभावात्मक' कहा है । इसी प्रकार शृङ्गार तथा करुणको छोड कर अन्य सब रसोको भी स्थायिभावात्मक माना है । केवल शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' माना है । इस अन्तरका क्या कारण है अभिनवगुप्तने हास्य रसके विवेचनमे सबसे पहिले इसी प्रश्न को उठा कर उसकी विवेचना करनेका यत्न किया है । उनका कहना यह है कि हास्यादि रसोके स्थायिभाव, सजातीय हासात्मक प्रतीतिको ही उत्पन्न करते हैं किन्तु शृङ्गार तथा करुणके स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न नही करते हैं । शृङ्गार रसका स्थायिभाव रति है परन्तु उससे जो रस प्रतीति उत्पन्न होती है वह रतिरूप नही अपितु सुख रूप होती है । इसी प्रकार करुण रसका स्थायिभाव शोक है परन्तु उससे जो प्रतीति उत्पन्न होती है वह शोकात्मक नही अपितु दुखात्मक होती है । इस प्रकार रति तथा शोक ये दो तो विजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावात्मक' न कह कर 'स्थायिभावप्रभव' कहा गया है । और शेष हास आदि स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते है इसलिए उनको 'स्थायिभावात्मक' कहा गया है । यह भेदका एक कारण है ।

भेदका दूसरा कारण विभावादिके असाधारण्य तथा साधारण्य को माना है । शृङ्गार तथा करुण रसके विभावादि असाधारण हैं । अर्थात् काव्य नाटकमें ही वे उस रस प्रतीतिके कारण होते हैं लोकमें नही । जैसे लोकमें दो प्रेमियोकी रतिलीलाको देख कर रसानुभूति न होकर लज्जादि की प्रतीति होती है परन्तु काव्य नाटक आदिमें वही रसानुभूतिका कारण बन जाता है । इसलिए करुण तथा शृङ्गारके विभावादि लोकसाधारण न होकर अलौकिक या असाधारण होते है । परन्तु हास्यादि रसोके विभाव आदि लोक साधारण होते है । जिन विकृतवेषादिसे काव्य नाटकादिमें हास्य रसकी उत्पत्ति होती है वे लोकमें भी हास्यजनक होते हैं । इस प्रकार भरतमुनिने शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' और हास्यादि शेष रसोको 'स्थायिभावात्मक' कहा है यह अभिनवगुप्त का अभिप्राय है । अपने इसी अभिप्रायको ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमे विस्तार पूवक निम्न प्रकारसे अभिव्यक्त करते हैं—

आत्मशब्देनेदमाह्—रतिरास्वादनाख्या प्रतीति विदधाना न ता रतिरूपामेव विधत्ते, प्रमुखे विभावादावसाधारण्यात्[1]। हासे तु य आस्वाद सोऽपि—विकृतवेषादीना सामाजिकान् प्रति लोकवत्तेन हासहेतुतेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति, हासात्मकरसनाख्यचवरणाचवणीयत्वाच्चास्य। रतिशोकावेव परमतज्जातीयसविदा-स्वादौ धारारूढसुखदु खरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्व नियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्यते यत, अतोऽनयो मुनिना प्रभवग्रहण कृतम्। अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात् तदात्मकग्रहणम्।

अनय-अविनयादेरन्यायकारिण समान कालादेरपूववस्तुनश्च सर्वान् प्रति उत्साह-क्रोध-भय-जुगुप्सा-विस्मयहेतुत्वेन साधारणविभावत्वात्। इत्यल बहुना।

अभिनव०—[लक्षणमे आए हुए] आत्म-शब्दका यह अभिप्राय है कि—रति, अस्वाद रूप प्रतीतिको उत्पन्न करते समय [सजातीय] रति रूप प्रतीति को ही उत्पन्न नही करती है [अपितु विजातीय सुखात्मक प्रतीतिको उत्पन्न करती है] उसके मुख्य विभावादिके असाधारण [लोकसे विलक्षण काव्यमात्रमे आस्वाद जनक] होनेसे। [इसके विपरीत] हास्यमे जो आस्वाद होता है वहा तो विकृत वेष आदिके सामाजिकों प्रति लोकके अनुसार ही हासके हेतु होते है इसलिए [काव्य तथा लोक दोनोमे] विभावोके साधारण होनेसे [हास्य रसका आस्वाद] उस [लोकके हास्य]के समान ही होता है। इसलिए, और [हास्य रसमे] रस कहलाने वाला [हासप्रभव नही अपितु] हासात्मक रस चर्वणाके द्वारा ही इस [हास्य]का आस्वाद होनेसे [उसे 'हासस्थायिभावात्मक कहा है]। [रसके सब भेदोमेसे] केवल रति और शोक [अर्थात् शृङ्गार तथा करुण रसके स्थायिभाव] ही चरमानुभूतिको प्राप्त (१) सुख दु ख रूपसे विजातीय प्रतीतिका आस्वादन कराने वाले और (२) अपने असाधारण विभावादि हेतुओके द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसीलिए [भरत] मुनिने उन दोनो [के लक्षणो] मे 'प्रभव'-पदका ग्रहण किया है। और अन्य [सब रसों] मे विभावोमे लोक-साधारणताकी सम्भावनासे [अर्थात् अन्यरसोमे लौकिक विभावादिके समान ही विभावादिके होनेसे] 'तदात्मक' ['स्थायिभावात्मक'] पदका ग्रहण किया हैं। [अर्थात् इन दो भेदोके कारण शृङ्गार तथा करुण रसको भरत मुनिने 'स्थायिभाव-प्रभव' तथा शेषको 'स्थायिभावात्मक' कहा है]।

अभिनव०—काल और अदृष्ट-तत्त्वके समान अन्यायकारीकी अनीति और दुष्टता आदि सबके प्रति उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, और विस्मयका हेतु होती है इसलिए [शृङ्गार और करुणको छोड कर सबके] विभावोके [लोकवत्] साधारण होनेसे [अन्य सब रस स्थायिभावात्मक है शृङ्गार और करुण 'स्थायिभाव प्रभव' है]। इसलिए अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

---

१ विभावादौ साधारण्यात्। १ नयविनयादे।

भरत०—स च विकृतपरवेषालकार-धार्ष्टच-लौल्य-कुहक-असत्प्रलाप व्यङ्गदर्शन-दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्र वेष केशादिरचना। अलङ्कार कटकादि । स चोभयोऽपि विकृतो देशकाल-प्रकृतिवयोवस्थादिविपरीतो हास्यस्य विभाव । एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम् । अथ विदूषकोऽपि तद्वेष विदधद्धास्याभास प्रथयतीति। एतच्च प्रोगेवोक्तम् ।

परस्य सम्बन्धी पर । एवभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वेति, उद्धट्टक—[४–१८७] भाण्डनृत्तादौ दश्यमानो हास करोति । वेषालङ्कारौ गतगदितादेरप्युपलक्षणम् । धाष्टच निलज्जता । लौल्य विषयेष्वनियतता । कुहक कक्षग्रीवादिस्पशन विस्मापनविधिप्रसिद्ध बालानाम् । अङ्गविगमो विखुनादि व्यङ्गम् । एषा दशनमिति समास । दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादय, अकायकरणादयश्च । विकृतवेषादय एव वा । तेषामुदाहरण वणनम् । आदिग्रहणात् सङ्कल्पस्मृत्यादि ।

भरत०—और वह [हास्यरस] दूसरेके विकृत वेष, [विकृत] अलकार, निलज्जता, लालचीपन आदि तथा गदन बगल आदिके छूने, असङ्गत भाषण एव [नकटापन आदि रूप] अङ्गहीनता के देखने तथा [असङ्गत] दोषोंके कथन आदि विभावोसे उत्पन्न होता है ।

अभिनव—उनमेसे वेष [का अथ] केशरचना आदि हे । अलङ्कार [से] कटक [बाजूबन्द] आदि [गृहीत होता] है । ये दोनो [अर्थात् वेष और अलङ्कार] विकृत अर्थात् देश, काल, स्वभाव, आयु तथा दशाके विपरीत होनेपर हास्य [रस] के विभाव होते हैं । इससे [जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, शृङ्गार आदि] सारे रस [शृङ्गाराभासादिके रूपमे] हास्यमे अ तभू त हो जाते है यह बात दिखलाई है । विदूषक भी उस [हास्यजनक] वेषको बनाते समय हास्याभासको ही प्रदर्शित करता है यह बात पहिले ही दिखला चुके है।

अभिनव०—[मूलके विकृतपरवेष शब्दमे] पर-शब्द परके सम्बन्धी [अर्थात् दूसरेसे सम्बन्ध रखने वाले] इस अथका बोधक है । इस प्रकारका जो यह देवदत्त आदिका वेष अथवा अलङ्कार वह, [अ० ४-१८४ में कहे हुए] 'उद्धट्टक' [अङ्गहारविशेष] तथा भाडोके नृत्यमे आदिमे दिखलाए जानेपर हास्यका जनक होता है। वेष तथा अलङ्कार-शब्द चलने-फिरने और बोल बाल आदिके भी उपलक्षण है। 'धार्ष्टच' का अथ निर्लज्जता है । विषयोमे अनियतता [अर्थात् कभी किसी विषयकी ओर, कभी किसीकी ओर मन दौडाना यह] 'लौल्य' कहलाता है । बालकोको हसाने की विधिमे प्रयुक्त होने वाले [प्रसिद्ध] बगल गर्दन आदिके छूनेका 'कुहक' शब्दसे ग्रहण होता है । व्यङ्गका अथ नकटापन आदि रूप अङ्गहीनता है । इन सबका दर्शन यह [मूल ग्रन्थके दशनान्त पदका] समास है । दोषसे जो वैसी [अर्थात् डरपोक] प्रकृति का नहीं है उसके भय आदिका ग्रहण होता है । अथवा अनुचित कार्योका करना । अथवा विकृत वेष आदि ही [दोष हैं] । उनका उदाहरण अर्थात् कथन करना । 'आदि' शब्दसे [उनके] सङ्कल्प, स्मृति आदिका ग्रहण होता है ।

भरत०——तस्यौष्ठनासाकपोलस्पन्दन दृष्टिव्याकोशाकुञ्चन-स्वेदास्य-राग-पार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य अवहित्था-आलस्य-तन्द्रा-स्वप्न-प्रबोध-असूयादय ।

ओष्ठादे स्पन्दनशब्देन सम्बन्ध । व्याकोशन विकासो निमीलन च । आकुञ्चन त्वीषत् । एतद् दृष्ट्या योज्यम् । आस्यरागो मुखराग । पाश्वर्याग्रहण पीडनम् । तन्द्राशब्देन मोह । एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रयभेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोग योजनीया ।

भरत०——द्विविधश्चायं, आत्मस्थ परस्थश्च । [1]यदा स्वय हसति तदा आत्मस्थ । यदा [2]तु पर हासयति तदा परस्थ ।

द्विविधश्चायमिति । आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषक स्वय हसति स तस्यात्मस्थ । देवी च हासयतीति तस्या परस्थ । तदिदमसत् । एव हि विभावानामात्मस्थत्वादिविभाग स्यात्, न हासस्य ।

भरत०——उस [हास्य रस] का होठ, नाक और गालो के फडकाने [स्पन्दन], आखो [दृष्टि] को फलाने, बन्द करने और थोडा मींचने, पसीना मुखकी लालिमा और पेट पकडने [पार्श्व ग्रहण] आदि अनुभावोके द्वारा अभिनय करना चाहिए । अवहित्था [आकारगोपन] आलस्य तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि उसके व्यभिचारिभाव होते है ।

अभिनव०——'ओष्ठ' [नासा कपोल] आदिका, 'स्पन्दन' शब्दके साथ सम्बन्ध है । 'व्याकोशन' का अर्थ [आखोका] खोलना और बन्द करना है । 'आकुञ्चन' का अर्थ थोडा-सा मीचना है । इनका दृष्टिके साथ सम्बन्ध करना चाहिए । 'आस्यराग' का अर्थ मुखका राग [लालिमा] है । 'पार्श्वों' [छातीके दोनो ओर पसलियो] का 'गृहण' अर्थात दबाना [गृहीत होता है] 'तन्द्रा' शब्दसे मोह [मूर्च्छा] का गृहण करना चाहिए । ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृतियोके भेदसे जो स्मित आदि आगे कहे जावेंगे उनके साथ यथोचित रीतिसे सम्बद्ध कर लेने चाहिए ।

भरत०——यह [हास्यरस] दो प्रकारका होता है । [१] आत्मस्थ और (२) परस्थ । जब स्वय [हास्य विभावोके देख कर] हसता है तब आत्मस्थ और जब [स्वयं हास्य विभावोंको न देखने वाले] दूसरेको [अपने हास्यसे] हसाता है तब परस्थ [हास्य] कहलाता है ।

अभिनव०——[यह हास्य रस] दो प्रकारका है यह कहते है । अपने भीतर रहने वाले विकृत वेष आदि विभावोंसे जो विदूषक स्वयं हसता है वह उसका [अर्थात् देवीका] आत्मस्थ [हास्य] है । और जो देवी [महारानी] को हसाता है वह उसका परस्थ [हास्य] है [ऐसा भेद शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोने किया है] वह ठीक नही है । क्योंकि इस प्रकारसे तो विभावोंका आत्मस्थ तथा परस्थ [दो तरहका] विभाग होता है, हास्यका नहीं ।

---

१ म त तत्र यदा । २ भ ग यदा परम् ।

किञ्च स्वामिन शोकोऽनुजीविषु शोक करोतीत्ति परस्थता सवत्र स्यात्। स्वयम्भूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्त परस्थ इति चेद् गम्भीरस्य प्रभोरनुजीविगतानुभावव्यक्त क्रोधोऽपि परस्थो भवेत्।

तद्विभावक आत्मस्थ, 'अतद्विभावकस्त्व य इत्यप्यसत्। परहासोऽपि तद्धासे विभाव स्यात्। एतच्च रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति।

तस्मादयमत्राथ —पर हसन्त दृष्ट्वा स्वय विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्ट। तथा विभावादिदशनऽपि गाम्भीर्यादनुदितहासेऽपि परकीयहासावलोकने तत्क्षण हासविशेष सम्पद्यत एवेति स्वभाव। यथाम्लदाडिमादिरसास्वाद सक्रमणस्वभावोऽ य त्रापि दन्तोदकविकारान्[2] दर्शनादेव सक्रामयति। एव हास स्वभावत सक्रमशीलो याति [3]काष्ठभूयिष्ठताम्।

अभिनव०—और दूसरी बात यह भी है कि—स्वामीका शोक अनुजीवियोमे शोकको उत्पन्न करता है इसलिए [आपकी व्याख्याके अनुसार] सवत्र [अर्थात् करुण रसमे भी] परस्थता होने लगेगी। दूसरी जगह अर्थात देवी आदि अन्यमे स्पष्ट रूपसे स्वय उत्पन्न होने वाला [हास्य] परस्थ है यदि यह कहो तो, गम्भीर प्रकृतिके स्वामीमें अनुजीविगत अनुभावोसे उत्पन्न होने वाला क्रोध [अर्थात् रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा। [इसलिए आत्मस्थ और परस्थकी यह व्याख्या असङ्गत है]।

अभिनव०—स्वय जिसमे विभाव है [तद्विभावक] वह [हास्य] आत्मस्थ, और दूसरा जिसमे विभाव हो वह परस्थ [हास्य] होता है। [यह व्याख्या दूसरे टीकाकारने की है। किन्तु] यह [भी] ठीक नहीं है। क्योकि दूसरेका हास्यभी उस [आत्मस्थ हास्य] मे विभाव होता हे। और [इस रूपमे आत्मस्थ तथा परस्थ हास्यका भेद करने पर तो] यह रति आदि सबमे ही हो सकता है। [इसलिए सभी रसोमे आत्मस्थ और परस्थ विभाग होने लगेगा। अत यह व्याख्या भी ठीक नहीं है]।

अभिनव०—इसलिए इस [आत्मस्थ परस्थ विभाग] का अभिप्राय है कि—स्वय विभावोको न देखनेपर भी दूसरेको हसते हुए देख कर लोग हसने लगते हे यह बात लोकमे देखी जाती है। और [कभी स्वय] विभावादिको देख कर भी गम्भीर होनेके कारण जिसको [साधारणत] हसी नहीं आती हे वह भी दूसरेको हसते देख कर तनिक देरके लिए मुस्करा जाता है। ऐसा स्वभाव ही पाया जाता है। जैसे खट्टे अनार [नीबू] आदिके रसका स्वाद सक्रमण शील है और [उन अम्ल पदार्थोके] दर्शनमात्रसे दूसरे व्यक्तिके मुखमे पानी आ जाने [दन्तोदक] आदि विकारोको सक्रान्त करा देता है। इसी प्रकार हास भी स्वभावत सक्रमणशील है इसलिए काष्ठ [मे स्थित अग्नि] के समान [अन्योमे भी] फैल जाता है। [इस प्रकार जो हास स्वगत रूप है वह आत्मस्थ और जो अन्यत्र सक्रान्त रूप है वह परस्थ हास्य है यह आत्मस्थ तथा परस्थ भेदोका अर्थ लेना चाहिए]।

---

१ असो विभावकस्त्वन्य। २ अनुरूप सक्रम। ३ काष्ठभूयिष्ठता।

भरत०—अत्रानुवश्ये आर्ये भवत —

भरत०—विपरीतालकारैं-र्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
　　विकृतैरथविशेषैर्हसतीति रस स्मृतो हास्य ॥
　　विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
　　हासयति जन यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्य ॥

नानाभेदा इत्याह—

भरत०—स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठ दृश्यते रस ।
　　षड् भेदाश्चास्य विज्ञेया-स्ताश्च वक्ष्याम्यहं पुन ॥ ४० ॥
स्मितमथ हसित विहसितमुपहसित चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ । ॥ ४१ ॥

षड् भेदाश्चेति द्वौ द्वौ इति यथाक्रम [1]विभावतारतम्यादिति केचित् तत् त्वसत्, भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात् । तस्मात् सक्रमणाभिप्रायेणैतत् । स्मित हि यदुत्तमप्रकृतौ तत्सक्रान्त हसित सम्पद्यते । अत एव त्र्यवस्थो हास इति वक्ष्यते । षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात् । स्मित ईषत्तायाम् हसितम् ततो विशेषेण । विहसित ततोऽपि [2]पर, समीपगतमुपहसित च । अन्यदपहिसत, अतिशयेन च अतिहसितम् । इत्युपसर्ग भेदादथभेद ॥ ५१—५१ ॥

भरत—इस विषयमे परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक पाए जाते] हैं—

भरत०—विपरीत अलङ्कारों विकृत आचार, नाम और वेषोके द्वारा, विकृत अर्थ विशेषोके द्वारा [उनको देखने वाला सामाजिक पुरुष] जो हसता है वह [आत्मस्थ] हास्य रस होता है ।

भरत०—विकृत आचारण तथा वाक्योसे, अङ्गविकारो तथा विकृत वेषोंसे [नट या विदूषक आदि] लोगोको हसाते हैं इसलिए वह भी [परस्थ] हास्य रस माना जाता है ।

अभिनव०—इसके अनेक भेद होते हैं वह बात कहते है—

भरत०—यह [हास्य] स्त्री तथा नीच पुरुष आदिमे अधिकतर पाया जाता है । और इसके छ भेद जानने चाहिए जिनको मै आगे कहता हूँ । ४० ।

भरत०—स्मित और हसित [उत्तम प्रकृतिमे], विहसित और उपहसित [मध्यम प्रकृतिमे], तथा अपहसित एव अतिहसित [अधम प्रकृतिमे] इस प्रकार उत्तम मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषादि] मे [हास्य रसके] दो दो भेद समझने चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—छ भेद होते हैं इनमे दो-दोमे यथाक्रम विभावादिका [तारतम्य] न्यूनाधिक्य होता हे यह किन्ही का कहना है । वह ठीक नहीं है क्योकि [उस प्रकारसे विभावतारतम्य माननेपर तो] अन्य भेद भी हो सकते हैं । इसलिए यह [सब भेद] सक्रमणके अभिप्रायसे ही हैं । उत्तम प्रकृति [के पुरुषो] में जो स्मित

---

१ विभावतारतम्यमित्यादीति । २ ततोऽपि परस्य गत समीपगतमन्यत् । अपहसितमतिशयेन ।

भरत०—तत्र—

भरत०—स्मित-हसिते ज्येष्ठाना मध्यमाना विहसितोपहसिते च।
अधमानामपहसित ह्यतिहसित चापि विज्ञेयम् ॥४२॥

भरत०—अत्र श्लोका भवन्ति—

भरत०—ईषद्विकसितैगण्डै कटाक्षै सौष्ठवान्वितै ।
अलक्षितद्विज धीरमुत्तमाना स्मित भवेत् ॥ ४३ ॥
उत्फुल्लानननेत्र तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्त च हसित तद्विधीयते ॥ ४४ ॥

सौष्ठवमनुल्वणता । द्विजा दन्ता । धीरमिति मन्थर कृत्वा, ईषत्वनिर्वाह । विकसितैरिति अथेति स्मितानन्तर सक्रमणकाले इत्यथ । तदिति स्मितमेव सक्रान्त सदेव रूपताम्पेतीत्यथ ।

[मुस्कराहट] है वही सकान्त [अधिक व्यापक] होकर 'हसित' बन जाता है। इसीलिए [स्मित हसितको मिला कर एक, विहसित और उपहसितको मिला कर एक, तथा अपहसित अतिहसितको मिला कर एक, इस प्रकार] हासकी तीन अवस्थाए [आगे ५१वीं कारिकामे] कही जावेंगी। अन्यथा छ प्रकारका हास होता। [हासकी] मन्दता होने पर 'स्मित' कहा जाता है। उसके बढ़ जानेपर [अधिक व्यापक होने पर] 'हसित' हो जाता है। उसके बाद आगे बढ़ा हुआ [हास्य] 'विहसित' और [उससे भी आगे बढ़ कर दूसरोके] समीपगत 'उपहसित' हो जाता है। अन्य भेद अपहसित तथा अतिहसित [कहलाते] है। इस प्रकार उपसर्गोंके मेलसे अथमे भेद हो जाता है ॥५२॥

भरत०—उनमेसे—

भरत०—[ज्येष्ठ अर्थात्] उत्तम पुरुषोंमे स्मित, तथा हसित, मध्यमोमे विहसित तथा उपहसित, और अधमोमे अपहसित तथा अतिहसित [ये दो दो भेद] समझने चाहिए। ४२।

भरत०—इस विषयमे [उत्तमादिनिष्ठ स्मित हसित आदिके लक्षण करने वाले निम्नाङ्कित] श्लोक पाए जाते हैं—

भरत०—थोडेसे खिले हुए गालो और सुन्दर कटाक्षोसे युक्त जिसमे दात दिखलाई न पड़ें इस प्रकारका उत्तम पुरुषोका गम्भीरता पूर्ण [हास्य] 'स्मित' [मुस्कराहट] कहलाता है।४३।

भरत०—प्रसन्न मुख तथा नेत्रोसे युक्त, गालोके और अधिक विकसित होनेपर जिसमे दात थोड़े दिखलाई पड़े उसको हसित' कहते हैं। ४४।

अभिनव०—'सौष्ठव' अर्थात् उज्ज्वलता। 'द्विज' अर्थात् दात। 'धीर' अर्थात् धीरे-धीरे इससे स्वल्पताका निर्वाह किया है। 'विकसितैरथ' इसमे 'अथ' पदसे स्मितके बाद, अर्थात् सक्रमण कालमे। 'तत्' इससे स्मित ही बढ़कर इस प्रकारका [हसित रूप] हो जाता है यह अभिप्राय है।

भरत०—अथ मध्यमानाम्–

भरत०—आकुञ्चिताक्षिगण्ड यत् सस्वन मधुर तथा ।
कालागत सास्यराग तद्वै विहसित भवेत् ।। ४५ ।।
उत्फुल्लनासिक यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसित भवेत् ।। ४६ ।।

जिह्माख्याया भाविन्या दृष्टचा निरीक्षण यत्र । काले उचित तेन सस्थानादौ ।।५७।।

भरत०—अधमानाम्–

भरत०—अस्थानहसित यत्तु साश्रुनेत्र तथैव च ।
उत्कम्पितासकशिरस्तच्चापहसित भवेत् ।। ४७ ।।
सरब्धसाश्रुनेत्र च विकुष्टस्वरमुद्धतम् ।
करोपगूढपार्श्व च तच्चातिहसित भवेत ।। ४८ ।।

अस्थाने इत्यकाले शोकाद्यवसरे । विकृष्ट श्रवणकटु ।

भरत०—हास्यस्थानानि यानि स्यु कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेव तानि प्रयोजयेत् ।। ४९ ।।

नाटके इति—नाटकशब्दो रूपकमात्रवृत्ति ।

भरत०—और मध्यम पुरुषोंके—

भरत०—जिसमें गाल तथा आखें सिकुड जाय मुख लाल हो जाय इस प्रकारका, [उचित] समयपर होने वाला, आवाज सहित मधुर [हास्य] 'विहसित' कहलाता है । ४५ ।

भरत०—और जिसमे नाक फूल जाय, टेढ़ी दृष्टिसे जिसमे देखना हो सके, और अङ्ग तथा सिर झुक जाय वह [हास्य] 'उपहसित' होता है ।४६।

अभिनव०—वक्र कही जाने वाली भावपूर्ण दृष्टिसे जिसमे निरीक्षण किया जाय । समयपर जो उचित हो इससे सभा आदिमे [उचित समझना चाहिए] ।

भरत०—अधमोंके—

भरत०—अनुचित अवसरपर इस प्रकारका हास्य जिसमे आँखोंमे आँसू आ जांय, और क धे तथा सिर हिलने लगें वह अपहसित [नामक नीचजनोंका हास्य] होता है ।४७।

भरत०—आँखोमे आँसुओसे युक्त, सुननेमे बुरा लगने वाला [विकृष्टस्वर], हाथोसे पसलियोको दबा कर अत्यन्त जोरसे [उद्धत], लगातार [सरब्ध] होने वाला [अधम पुरुषोंका हास्य] 'अपहसित' कहलाता है ।४८।

अभिनव०—स्थानमे अर्थात् अनुचित अवसरपर, शोकादिके समय । विकृष्ट अर्थात् सुननेमे बुरा लगने वाला ।

भरत०—नाटकमे कार्यवश जो हास्यके अवसर प्राप्त हों उनमे उत्तम मध्यम अधमोंके [अनुरूप] इस प्रकारसे दिखलाए हुए रूपमे उन [हास्यभेदों] का प्रयोग करावे ।४९।

अभिनव०—'नाटकमे' यह नाटक शब्द रूपकमात्रका बोधक है ।

भरत०—इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेय ।
द्विविध त्रिप्रकृतिगत त्र्यवस्थभावो रसो हास्य ॥ ५० ॥

स्वसमुत्थ इत्यसक्रान्तस्मित विहसित अपहसितलक्षण । परसमुत्थ सक्रा तो हसित-उपहसित अतिहसितरूप । हसितादिरूपसक्रमणया उत्कृष्टप्रकृतौ स्मितादिरूप ।

रति क्रोध शोकादेस्तु न सक्रमण भवतीत्युक्तमेव। तत्र हि युगपदेव 'स विभाव-स्तच्चित्तवृत्तिमये[1] पुरुषे विश्रा ततामेति न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृत्ति प्रस्तूय सक्रम त्यन्यत्र[3] प्रस्तुतवतो हासमिव। सर्वेषामात्मस्थ-परस्थभेदोपलक्षणमेतदित्य ये। एतच्चासत्। अनुभवसिद्धमेव हीद हास सक्रमतीति।

अन्यस्त्वाह—तिसृषु प्रकृतिषु त्र्यवस्थो विभावतारतम्याद् द्विरूप । पुनरा-त्मस्थ परस्थत्वेन द्विविधश्चेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यम्। अत्र च पृथग् विभावनमपि भवति। तत्तु अतिप्रसङ्गावह तन्मतमिति नोदाहृतम्।

इति हास्यरसप्रकरणम्

भरत०—इस प्रकारका यह [हास्य] स्वसमुत्थ और परसमुत्थ दो प्रकारका [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृति वाला इसलिए तीन अवस्था वाला हास्यरस होता है ॥५०॥

अभिनव०—स्वसमुत्थसे सक्रा त न होने वाले [तीनो प्रकृतियोके प्रथम भेद] स्मित विहसित तथा अपहसित [का ग्रहण होता है] और परसमुत्थसे [तीनो प्रकृतियोके] सक्रा त होने वाले हसित, विहसित, तथा अतिहसित [का ग्रहण होता] है। हसितादिके रूप सक्रमण होनेसे उत्कृष्ट प्रकृतिमे [असक्रान्त रूपमे] स्मित आदि रहता है।

अभिनव०—रति क्रोध शोक आदिका तो अन्यत्र सक्रमण नही होता है यह बात कह चुके है। उनमे तो वह विभाव एक साथ ही उस प्रकारकी चित्तवृत्तिसे युक्त पुरुषमे विश्रान्तिको प्राप्त हो जाता है। न कि वह विभाव उसकी चित्तवृत्तिको प्रस्तुत करके हासके समान फिर प्रस्तुत करनेवालेसे अन्यत्र सक्रान्त कराते है। दूसरे व्याख्या-कारोका यह मत है कि आत्मस्थ, परस्थ भेदसे यह सबका उपलक्षण है। परन्तु यह मत ठीक नहीं हे। क्योंकि हास अन्यत्र सक्रान्त होता है यह अनुभवसिद्ध है [अन्य स्थायिभावोके विषयमे ऐसा अनुभव नही है]।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार कहते है कि—तीन प्रकारकी प्रकृतियोमे तीन अवस्था वाला हास्य विभावोके तारतम्यसे दो प्रकारका [कुल छ प्रकारका हुआ]। और फिर आत्मस्थ तथा परस्थ भेदसे दो प्रकारका होकर यह बारह प्रकारका हो जाता है यह इस कारिकाका तात्पर्य है। और इन [बारहो भेदो] मे पृथक-पृथक विभावन [व्यापार] भी होता है किन्तु उसमे तो अतिप्रसग प्राप्त होता है इसलिए वह मत प्रस्तुत नही किया है।

हास्यरसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१ वा स एव। २ वृत्तिमान् वा पुरुषो विभावतामेति। ३ सक्रमयत्यन्यत्र।

अथ करुणरसप्रकरणम्

इदानीमवसरप्राप्त करुण लक्षयति 'अथ करुणो नाम' इति—

भरत०—अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभव । स च शापक्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोग-विभवनाश-वध-वन्ध - विद्रव-उपघात-व्यसनसयोगादिभि-र्विभावै समुपजायते ।

अथेति क्रमे । तत्र चाय क्रम —सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षित । विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारित्वात करुण इति टीकाकार । एतच्च पूर्वापरविरुद्धम् । अस्माभिस्तु उद्देशविभाग एव क्रमो दर्शित ।

भरत०—तस्य, अश्रुपात परिदेवन-मुखशोषण वैवर्ण्य स्रस्तगात्रता-निश्श्वास-स्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य ।

तस्याभिनय प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेश ।

करुणरस प्रकरण

अभिनव०—अब अवसर प्राप्त करुण रसका 'करुणो नाम' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते हैं—

भरत०—शोक [नामक] स्थायिभावसे उत्पन्न [रस] करुण नामसे कहा जाता है। और वह शापक्लेशमे पतित, प्रियजनके वियोग, विभवनाश, वध बन्ध [क़ैद] देशनिर्वासन [विद्रव] अग्नि आदिमे [जल कर] मर जाना अथवा व्यसनोंमे फस जाने आदि विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'अथ' यह शब्द क्रमके बोधनके लिए है। [शृङ्गारके बाद हास्य और उसके बाद करुणका जो निरूपण किया है उसका] यह क्रम [रखनेका कारण] है कि—सम्भोग [शृङ्गार] में अङ्ग-रूपसे हास्यकी आवश्यकता होती है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्यका निरूपण किया गया है] और विप्रलम्भ [शृङ्गार] दोनोके व्यभिचारिभावोके समान होनेसे करुणकी [अपेक्षा रखता है इसलिए उसके बाद करुणका निरूपण किया गया है] यह [प्राचीन] टीकाकार [रसोके क्रमका कारण] मानते है। [परन्तु] यह पूर्वापर विरुद्ध है। हमने [अभिनवगुप्तने] तो [रसोके] उद्देश्य विभागके अवसरपर ही क्रमका निर्देश कर दिया है।

भरत०—आँसू गिराने, विलाप करने मुख सूख जाने, विवर्णता, अङ्गोकी शिथिलता, लम्बी साँसें भरने, स्मृतिके लोप आदि अनुभावोके द्वारा अभिनय उसका करना चाहिए।

अभिनव०—[इन अनुभावोके द्वारा] उसका अभिनय करना चाहिए कि जिस का आस्वादन होनेपर 'करुण' यह नाम होता है

इस पक्तिका अभिप्राय यह है कि करुण रसका इन अनुभावोमे अभिनय करना चाहिए यह जो कहा गया है इससे ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि करुणरस अलगसे विद्यमान है उसका अभिनय किया जाना चाहिए। परन्तु वास्तवमें यह बात नही है। करुणरस तो अन्य रसोके समान अनुभूति-स्वरूप ही है। जिस समय उसका आस्वादन होता है उतने ही समय रसकी स्थिति

सदय-हृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा । सा लिङ्गै[1]रनुकर्तरि शोक प्रतियता सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेश इति श्रीशकुक ।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य । यत '[1]शोकानुकृतिस्तस्य करुणा, दया च नाम परत्राणेच्छा । सा कथ शोकानुकरणम् ? किम्प्रति च तेषा दयेति न विद्म ।

तस्मात् करुण इति '[2]शोकस्य सवसाधारणत्वेन प्राक्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य सज्ञा । तदथमेव नामशब्द । तत्प्रभवत्व शृङ्गारवद् व्याख्येयम् ।

रहती है । इसलिए 'करुण रसका अभिनय करना चाहिए' इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि जिसका आस्वादन होनेपर करुण सज्ञा होती है उसका अभिनय करना चाहिए ।

भरतके प्राचीन टीकाकार श्री शकुकने करुण रसकी अ वथनाका उपपादन करते हुए यह लिखा है कि करुण रसमें करुणा अर्थात् दयाका अनुकरण किया जाता है इसलिए इस रसका नाम करुणरस' रखा गया है । अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नही है । शकुकके मतमें अनुकर्ता नटके हृदयमें रहने वाले शोकको करुणा सामाजिको को शोकका अनुभव कराती है इसलिए इसको करुणरस कहा जाता है । इस मतका उल्लेख करके ग थकार उसका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—सदय हृदयता लोकमे 'करुणा' नामसे प्रसिद्ध है । वह [अपने दृश्यमान रोदन बिलपन आदि] लिङ्गो द्वारा अनुकर्ता [नट] मे रहने वाले शोकको अनुभव करने वाले सामाजिकोमे रहती है इसलिए [इस रसका] 'करुण' यह [सार्थक] नाम है । यह श्री शकुकका मत है ।

अभिनव०—परन्तु यह [कथन] पूर्वापर [बातोको] भूल जानेका परिणाम [परस्पर विरोधी] है । क्योकि उनके मतमे करुणा, शोकका अनुकरण ठहरती है । परन्तु दया [दूसरोकी] रक्षा करनेकी इच्छाको कहते है । वह शोकका अनुकरण रूप कैसे हो सकती है ? और किसके प्रति उन [सामाजिको] की दया [करुण रसकी जनक] होगी यह कुछ समझमें नहीं आता है । [अत यह मत ठीक नही है] ।

अभिनव०—आगे अपना सिद्धान्तपक्ष देते हैं—इसलिए पूर्वोक्त युक्तिसे [साधारणीकरण व्यापार द्वारा] सवसाधारण रूपसे आस्वाद्यमान शोक [रूप स्थायिभाव] का नाम करुण रस है । इसीलिए [मूल ग्रन्थमे] 'नाम' शब्द दिया गया है । [करुण रस शोकप्रभव है] शोकसे उत्पन्न होता है यह बात शृङ्गारके समान समझ लेनी चाहिए ।

पृष्ठ ५७० पर ग थकार इस विषयपर विचार कर चुके हैं कि शृङ्गार और करुण रसके स्थायिभाव रति तथा शोक सजातीय रति या शोकको उत्पन्न न करके क्रमश सुख और दु ख रूप विजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं । इसलिए शृङ्गार और करुण रस 'स्थायिभाव प्रभव' हैं । 'स्थायिभावात्मक' नहीं । शेष हास्यादि रसोमे स्थायिभाव सजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शेष रस 'स्थायिभावप्रभव' न होकर 'स्थायिभावात्मक' होते हैं । इस युक्तिक्रमके अनुसार शृङ्गार और करुण दोनो रस 'स्थायिभाव-प्रभव' होते हैं । इसी बातको यहा 'तत्प्रभवत्व शृङ्गार वद् व्याख्येयम्' इस पक्ति द्वारा ग थकार स्मरण दिला रहे हैं ।

---

१ शोकप्रतिकृति । २ शोक ।

अशक्यप्रतीकारहेतूपलक्षण शापग्रहणम् । शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादय । तत्र विप्रयोगोऽसगम[1] । विभवनाशादि प्रसिद्धम् । विद्रवो देशादुच्चाटनम् । तच्च विप्रयोगेऽपीति विशेष । उपघातोऽग्न्यादिमरणम् । अग्न्यादिकृतो 'विद्रव', चोरादिकृत 'उपघात' इति त्वसत् । विभवनाशेन गतार्थत्वात्[2] । व्यसनेन मृगयाक्षादिनाऽनर्थजनकेन सयोग । विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृते शोक कुयु । मध्यमाधमप्रकृतीना तु कुयु रेव इति आदिग्रहणम् । परिदेवनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भ । निश्श्वासशब्देन यदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽपि ऊर्ध्वश्वसनरूपो लक्ष्यते । स्मृतिलोपेन स्तम्भप्रलयौ लक्ष्येते ।

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-आवेग-भ्रम मोह-श्रम-भय-विषाद-दैन्य व्याधि-जडता-उन्मद-अपस्मार-त्रास-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु वैवर्ण्य-अश्रु-स्वरभेदादय ।

अभिनव०—शाप पदका ग्रहण अशक्यप्रतीकार अर्थात् जिनका प्रतीकार करना सम्भव न हो इस प्रकारके हेतुओंका उपलक्षण रूप है । शापके क्लेशमे पडे हुए इष्टजनके जो विप्रयोग आदि [उनसे करुण रस उत्पन्न होता है] । उनमेसे 'विप्रयोग' का अर्थ वियोग [असग, न मिलना] है । विभवनाशादि प्रसिद्ध ही है । 'विद्रव' का अर्थ देशनिर्वासन है । वह [देशनिर्वासन केवल करुण रसमें ही नही अपितु] विप्रलम्भ [शृङ्गार] मे भी होता है यह बात विशेष है । 'उपघात' का अर्थ अग्नि आदि से मरण है । [प्राचीन व्याख्याकार शकुक आदिने 'विद्रव' तथा 'उपघात' का अर्थ भिन्न प्रकारसे किया है । अभिनवगुप्त उससे सहमत नही है इसलिए उसका उल्लेख करके निम्न प्रकार उसका खण्डन करते है] अग्नि आदिके द्वारा किए जाने वाला [सम्पत्तिनाशादि] 'विद्रव' कहलाता है, और चोर आदिके द्वारा किया गया 'उपघात' होता है । [शकुकादि कृत] यह व्याख्या तो असगत है । क्योकि वे विभवनाशमे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । 'व्यसन' अर्थात् मृगया [शिकार खेलना] या जुआ आदि किसी अनर्थजनकके साथ सम्बन्ध हो जाना । अपनेमें रहने वाले विभवनाश आदि भी उत्तम प्रकृतिके पुरुषोमे शोकको उत्पन्न नहीं करते हैं । मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषों] मे तो करते ही हैं इसलिए 'आदि' पदका ग्रहण किया है । अपने आपको, भाग्यको अथवा अन्यको उलाहना देना 'परिदेवन' [कहलाता] है । 'निश्श्वास' शब्दसे उसके बाद होने वाले ऊर्ध्व-श्वास रूप उच्छ्वासका भी ग्रहण होता है । 'स्मृतिप्रलोप' [शब्द] से स्तम्भ तथा प्रलयका भी लक्षणाके द्वारा ग्रहण होता है ।

भरत०—निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, कम्पन [वेपथु], विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि इस [करुण रस] के व्यभिचारिभाव होते हैं ।

---

१ विप्रयोगोऽप्यमसगम । २ गतत्वात् ।

'ववण्य अश्रुस्वरभेदा' अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो गृह्यन्ते। तथाहि वक्तारो भवति 'अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न च नयनजल दृष्टम्' इति। एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैत्र मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम, वक्ष्यामश्च। तेन न पौनरुक्त्यम् एवमन्यत्रापि। व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्याम।

भरत०—अत्रार्ये भवत—

इष्टबधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य सश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषै करुणरसो नाम सम्भवति॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेय करुणरसो देहायासाभिघातैश्च॥

बधशब्दो बन्यादेरप्युपलक्षणम्। विप्रियमिष्टजनबधादि, येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात। तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमान श्रूयमाण वा कविभि करुणविभावत्वेनोपनिबन्धनीयमिति तात्पयम्। एभिरित्येवप्रकारै। भावशब्दोऽत्रार्याया विभाववाची।*

---

* अभिनव०—ववण्य, अश्रु और स्वरभेद से [सात्त्विक भावोमे होनेसे वस्तुत] चित्तवृत्ति रूप ही है परन्तु यहाँ [अनुभाव रूप मे] बाहर प्रकाशित हो जाने वाले ग्रहण किए जाते हे। जसे कि कहने वाले कहा करते है कि 'इसका गला आसुओसे भर आया है परन्तु आँखोमे आसू दिखलाई नही दिए'। [यहा अश्रु सूक्ष्म चित्तवृत्ति रूप है, जो स्थूल रूपमे बाहर प्रकाशित होते है]। ये अश्रु आदि यहाँ व्यभिचारिभावत्व [तथा इसके पूवकी पक्तिमे] अभिनेयत्वके प्रदशनके लिए ही बीचमे [दो बार] निर्दिष्ट किए गए है यह बात कह भी चुके है और आगे कहेगे भी। इसलिए [इनके एक बार 'अनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य' के साथ और दूसरी बार व्यभिचारिभावोके साथ कथन होनेपर भी] पुनरुक्ति नही होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार व्याधिसे भिन्न हैं यह आगे कहेगे।

भरत० — इस विषयमे दो आर्या [छ दके श्लोक] भी है—

भरत०—इष्टजनके वध को देखनेसे अथवा अप्रिय वचनके सुननेसे भी [अर्थात्] इन विशेष भावोसे करुण नामक रस उत्पन्न होता है।

भरत०—जोर जोरसे रोने, मूर्छित होने कोसने और विलाप करने, शरीरको गिराने, और छाती पीटने आदिके द्वारा करुण रसका अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—'बध' शब्द बन्ध आदिका भी उपलक्षण है। 'विप्रिय' शब्दका अर्थ इष्टजनका बध आदि, जिस वाक्यसे कहा जाय उस [विप्रियवचन] के श्रवणसे भी [करुण रस उत्पन्न होता हे]। इसलिए इष्टजनके दृश्यमान अथवा श्रूयमाण विभवनाश आदिको करुण रसके विभाव रूपमे कवियोको अङ्कित करना चाहिए यह तात्पर्य है। 'एभि' इसका अर्थ 'इन प्रकारोसे' यह हे। इस आर्या [छन्द] मे आया हुआ भावशब्द विभावका वाचक है।

अनुभावास्तदद्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपन्नक्षयितुमार्यान्तर सस्वनेत्यादि । बहुवचन प्रकृति-देश-काल-दशा हेत्वादिभेदेनानेकप्रकारकत्वज्ञापनार्थम् । मोहो जडता । तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते । देहस्यायासन पातनवेष्टनादि । अभिघात उरस्ताडनादि । एते चानुभावा प्रकृतिभेदेन यथायोग विभजनीया । करुणो रौद्रादित्युक्तम् । स कीदृग रौद्र इति क्रम् केचिदाहु ।

इति करुणरसप्रकरणम्

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

अधुना रौद्ररस लक्षयति 'अथ रौद्रो नाम' इति ।

भरत०—अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धत-मनुष्यप्रकृति सग्रामहेतुक ।

आत्मग्रहणस्यायमाशय अन्यायकारिता प्राधा येन क्रोधस्य विषय । तादृशि च जने सर्वेऽपि मनोरथैरपि रुधिरपानमपि नामाद्रियन्ते । तथा चाह लोक—'तादृशो यदि लभ्यते तत्तदीय रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते । महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्धे उक्तम्—

अभिनव०—अनुभावो तथा उनके द्वारा व्यभिचारिभावोको लक्षित करनेके लिए 'सस्वन' इत्यादि दूसरी आर्या है— [इस आर्यामे आए हुए] बहुवचन, प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु, आदिके भेदसे अनुभावादिके अनेक प्रकारत्वके ज्ञापनकेलिए है । 'मोह' का अर्थ जडता है । उससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते है । देहका आयासन अर्थात् गिराना मरोडना आदि । अभिघात अर्थात् छाती पीटना आदि । ये अनुभाव उत्तम, मध्यम, अधम रूप प्रकृतियोके भेदसे यथा योग्य विभक्त करके प्रयुक्त करने चाहिए । ['रौद्राच्च करुणो रस' इत्यादि कारिका ६ ३२ मे] करुण रस रौद्रसे [उत्पन्न] होता है यह कहा था । [इसलिए करुण रसके निरूपणके बाद करुणका हेतुभूत] वह रौद्ररस कसा है [यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है] । इस प्रकारका क्रम कोई [व्याख्याकार] मानते है ।

करुणरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

रौद्ररस प्रकरण

अभिनव०—अब करुणके बाद अथ 'रौद्रो नाम' इत्यादिसे रौद्र रसका लक्षण करते है—

भरत०—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्योके आश्रित, युद्धजन्य क्रोध रूप स्थायिभावात्मक रौद्र रस होता है ।

अभिनव०—[रौद्ररसके लक्षणमे] 'आत्म' पदके ग्रहणका यह आशय है कि—प्रधान रूपसे अन्यायकारिता प्रधान रूपसे क्रोधका विषय होती है । और उस प्रकार के [अन्यायकारी] पुरुषके विषयमे सब लोग उग्र भावना रखते है यहाँ तक

त्रेतायुग तद्धि न मैथिली सा,
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेत ।
लब्धा जनस्तु यदि रावणमस्य काय,
प्रोत्कृत्य त`नु' तिलशो न वितृप्तिगामी ।

तेन हास्यवत् साधारणविभावत्वात् चवणापि क्रोममय्येवेति 'तद्रसनाचवणे रौद्र क्रोधात्मक एव। उद्रिक्त हन्तृत्व येषा त उद्धता । तद्वेषधारिणो ये नटास्ते प्रकृति चवणोदयहेतुरस्य।

अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुकोद्धतमनुष्येषु भीमसेनादिषु रुधिरपानादिलक्षण । रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति ।

कि [उस अन्यायके प्रतीकार के लिए] मनमे [मनोरथै] उसका खून पी जाने तकको तयार हो जाते है । जैसे कि [क्रोधके अत्यन्त आवेशमे आनेपर] लोग कहा करते है कि—'ऐसा दुष्ट व्यक्ति यदि मिल जाय तो उसका खून पीकर भी तृप्ति नही होगी'। महाकवि भासने भी अपने नाटकमे कहा है कि—

• अभिनव०—आज न वह त्रेतायुग है। न रामचन्द्रजी की अनुराग भूमि वे जानकी है, और न उन [रामच द्रजी] का सा कोमल चित्त हे। आज तो यदि लोग रावणको पा जांय तो उसके तिल भरके टुकडे कर डालनेपर भी तृप्त न होगे।

अभिनव०—इस लिए हास्यरसके समान [लोकमे तथा काव्यमे रौद्र रसके भी] समान विभाव होनेके कारण [रौद्ररसकी] चवणा भी क्रोधमयी ही होती है। इसलिए उसका आस्वादन करनेपर रौद्र रस भी क्रोधात्मक ही होता है। जिनमे हिसा का भाव उत्कट होता है वे मनुष्य 'उद्धत' कहलाते हैं। उन [उद्धतो] का वेष धारण करने वाले नट [भी उद्धत हुए] वे जिसके आस्वाद [चवणोदय] की प्रकृति अर्थात् हेतु हैं [वह रौद्र रस होता है यह 'रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृति' इस लक्षण भागकी व्याख्या हुई]।

हास्यरसके प्रकरणमे यह दिखलाया था कि हास्यरस 'स्थायिभावप्रभव' नही अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है। और उसका कारण यह बतलाया था कि लोकमें जिन कारणोसे हास्य की उत्पत्ति होती है उ हीसे काव्यमे भी हास्य उत्पन्न होता है। इसलिए समान विभाव होनेसे काव्यमे हास्यका रसास्वाद भी हास्यात्मक ही होता है। इसी प्रकार यहाँ रौद्र रसमें भी लोक तथा काव्यके विभावादिके समान होनसे रौद्र रसकी चवणा भी क्रोधात्मक ही होती है यह ग्र थकारका अभिप्राय है। इसलिए रौद्ररस भी 'स्थायिभाव प्रभव' नही अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है।

अभिनव०—[प्राचीन व्याख्याकार] इस विषयमे ['सग्रामहेतुक' पदके सम्बन्धसे] इस प्रकारकी व्याख्या करते हैं कि—युद्धके कारण उद्धत हुए भीमसेन आदि मनुष्योमे रुधिरपान आदि रूप [रौद्ररस सग्राम हेतुक होता हे। राक्षस और दानव आदि तो स्वभावसे रौद्र होते है। उनमे सग्रामहेतुक रौद्रता नही होती है]।

---

१ तत्र। २ तद्रसनाचरणो।

तदसत्। भीमस्य रुधिरपान न युद्धहेतुक, अपितु विपययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवश सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञानवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसहारे वर्णितम्। तस्मात् सव एवैते स्वभावात् क्रोधना। तदनुकारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृति।

सग्रामहेतुक इति चायमथ—युद्धस्य कविनटप्रदश्यमानस्य हेतुक कुत्सित-हेतुधीरोहित। तस्योचितो हेतुन क्रोध। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

न वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते ? ओमित्याह स चेति।

भरत०—स च क्रोध-आधषण-आधिक्षेप-[1]अनृतवचन-उपघात वाक्य-पारुष्य अभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

क्रोधादि परकतृ कम्। आधषण दारादिखिलीकरणम्। अधिक्षेपो देश जाति अभिजन-विद्या कम-निन्दा। अनृतस्य कस्याप्यसत्यस्य वचनमनृतवचनम्। उपघातो [2]गृहभृत्याद्युपमदनम्। वाक्यपारुष्य वधाद्युप यासेन तजनम्। अभिद्रोहो जिघासा।

अभिनव०—यह [व्याख्या] असङ्गत है। क्योकि भीमसेनके द्वारा किया गया रुधिरपान युद्धके कारण नही अपितु उसके विपरीत [स्वाभाविक औद्धत्यके कारण] है। उद्धतस्वभाव होनेके कारण ही क्रोधके परवश होकर [भीमने] अनुचित होनेपर भी [रक्तपानकी] प्रतिज्ञा करली थी। उसके निर्वाहकेलिए ही वेणीसहार नाटकमे कविने उसके ऊपर राक्षसके आवेशका वणन किया है। इसलिए ये सभी स्वभावसे क्रोधी होते हैं। उनका अनुकरण करने वाले नटमे रौद्र रस पाया जाता है अत उसको मनुष्य प्रकृति कहा गया है।

अभिनव०—'सग्राम हेतुक का' [मे कुत्सितार्थक क प्रत्यय] का यह अभिप्राय है कि कवि या नट द्वारा प्रदर्शित सग्रामका, [क्रोध] कुत्सित हेतु प्रतीत होता है। उस [सग्राम] का उचित हेतु क्रोध नही [अपितु वीर रसका स्थायिभाव उत्साह] है। इसीलिए युद्धसे प्रधानतया वीर रसका ही ग्रहण होता है।

अभिनव०—[प्रश्न] क्या ये स्वभावसे क्रोधी भी उद्दीपनकी अपेक्षा करते है ? [उत्तर] हा, इसीको 'स च' इत्यादिसे कहते है—

भरत०—और वह क्रोध, आधषण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सय आदि [उद्दीपन] विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'क्रोधादि' [सभी] दूसरेके द्वारा किए जाने वाले [लेने चाहिए]। है। स्त्रियों आदिका तिरस्कार करना 'आधर्षण' [कहलाता] है। देश, जाति, कुल, विद्या, कर्म आदिकी निन्दा 'अधिक्षेप' [कहलाता] है। अनृत अर्थात् किसी झूठ बातका कहना 'अनृतवचन' [कहलाता] है। घरके भृत्य आदिके पीडनको 'उपघात' [कहा जाता] है। मार डालने आदिके बहानेसे धमकाना 'वाक्पारुष्य' [पदसे अभिप्रेत] है।

---

१ अनृतवचन नास्ति। २ ग्रहभूतयादि।

मात्सय गुणेष्वसूया । आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि । एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानै ।

भरत०—तस्य च ताडन-पाटन-पीडन-छेदन-भेदन प्रहरण-आहरण-शस्त्र-सम्पात-सम्प्रहार-रुधिराकषणाद्यानि कर्माणि । पुनश्च रक्तनयन-भ्रुकुटी-करण दन्तोष्ठपीडन-गण्डस्फुरण हस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनय प्रयो-क्तव्य ।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि, रक्तनयनादयोऽनुभावा, इति पथड् निरूपण तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषरयपनाथम् । विशेषस्तु पूर्वेषा वचनमात्रेण व्यावणन, रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदशनीयत्वात् । यद्वक्ष्यते—

युद्ध राज्यभ्रशो मरण नगरोपरोधन त्रैव ।

अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकै सविधेयानि ॥ इति । [ना० ना० १८–३८]

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम् । प्रहरणाहरणन्तु पूवत्र प्रमादपठितमिति केचित् । इदन्तु पृथगभिधाने तुच्छ प्रयोजनम् ।

अयं चात्राशय —रक्षोदानवोद्धतमनुष्यादय उद्दीपनहेतुभिर्विनापि चेष्टितमात्र

मार डालनेकी इच्छा 'अभिद्रोह है । गुणोमे दोषदशन [असूया] 'मात्सय' है । 'आदि' ग्रहणसे राज्यके अपहरण आदिका ग्रहण होता है। कविके द्वारा [उद्दीपन] विभावके रूपमे प्रस्तुत किए गए इन [विभावो] से [रौद्ररस] उत्पन्न होता है ।

भरत०—मारना फाडना, मसलना काटना [मित्रोमे] कर देना शस्त्र उठाना, [काट देने वाला] शस्त्र पातन, [न काटने वाला] शस्त्र प्रहार खून निकाल देना, आदि उस [रौद्र रस] के कम [अनुभाव] है । और फिर लाल लाल नेत्रोंसे भ्रुकुटी चढ़ाने, दाँतोके किटकिटाने, होंठोके चबाने, गालोंके फडकाने हाथोंको रगडने आदि अनुभावोके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—ताडन आदि उसके काय हैं । और लाल नेत्र आदि अनुभाव है इसलिए [इन दोनोमे] अनुभावत्वके समान रहते हुए भी भेद दिखलानेकेलिए अलग अलग कथन किया है । भेद यह है कि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष रूपसे दशनीय न होनेसे पहिले [अर्थात् ताडन रुधिराकर्षण आदि अनुभावो] का केवल वचन मात्रसे [नाटकमे] वणन किया जाता है जसे कि आगे कहेगे–

अभिनव०—युद्ध, राज्यभ्रश, मरण, नगरका घेरा आदि प्रत्यक्ष रूपसे प्रदर्शित न किए जाने वाले कार्योको प्रवेशकोके द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अभिनव—[बादमे जो अनुभाव कहे है वे] रक्तनयन आदि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष किए जा सकते है [यही इन दोनोमे भेद है । इनमेसे पहिले वगमे प्रहरण और आहरणका पाठ प्रमाद वश हो गया है ऐसा कुछ [व्याख्याकारो] का मत है । [दोनो प्रकारके अनुभावोको] अलग-अलग कहनेका यह प्रयोजन तो तुच्छ है । [वास्तवमे तो दोनोको अलग दिखलानेका प्रयोजन आगे कहते है] ।

अभिनव०—यहां यह आशय है कि—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य उद्दीपन

यदपि कुर्वते नमगोष्ठ्याद्यपि च तत्र ताडनादि प्रधानम् । तद्वक्ष्यति—'यच्च किञ्चित् भारभन्ते' [पृ० ५८७ पंक्ति ९] इति । उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्ते एव रक्तनयनाद्यधिकी भवति । अत एव पुन शब्द तत्र ।

ताडन तलाद्यभिघात । पाटन द्विधाकरणम् । पीडन मदनम् । छेदन कतनम् । भेदन परस्परवियोजनम् । भावे ल्युडन्ता । प्रहरणानामासम ताद्धरणम् । शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि सम्प्रहरण, विदारयत पातनम् । तेन रुधिरस्याकषणम् । रक्ष प्रभृतयो हि नमणापि प्रहरन्ति किन्तु रुधिरागमनमात्रफल न त्वधिकम् ।

रक्ते च ते नयने । भ्रुवोमूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी । दन्तोष्ठस्य यथायोग पीडनम् । हस्ताग्रयोरन्योन्यनिष्पेष सङ्घषणम् ।

भरत०—भावाश्चास्य असम्भोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चपलता-औग्र्य-गर्व-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्च गद्गदादय ।

कारणोके बिना भी जो कुछ चेष्टा करते हैं उसमे, यहा तक कि जो नमगोष्ठी [सम्भोग पूववर्ती वार्तालाप] आदि तकमे, ताडन आदिकी प्रधानता रहती है । यही बात [अगले पृष्ठ ५८७, प० ९ मे] 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' 'जो कुछ भी काय करते हैं' इत्यादिसे कहेगे । इसलिए उद्दीपनके होनेपर ताडनादिसे ग्रस्त [पुरुष] मे ही रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते है । इसीलिए वहाँ 'पुन' शब्द [दिया गया] है ।

अभिनव०—[आगे मूलमें आए हुए ताडन आदि शब्दोकी व्याख्या करते है] । उनमेसे ऊपरके तल आदिपर चोट करना ताडन [कहलाता] हे । पाटनका अथ दो टुकडे कर देना । पीडनका अथ दबाना मलना है । छेदन काटनेको और भेदन एक दूसरेसे अलग करनेको कहते हैं । [ये सब शब्द] भावमे 'ल्युडन्त' है । प्रहरणो [अर्थात् शस्त्रोका] चारो ओरसे आहरण करना [प्रहरणाहरण हे] । शस्त्र का इस प्रकारसे प्रयोग कि जिससे [अङ्ग आदि विदीर्ण अर्थात्] कटे नहीं 'सम्प्रहार' कहलाता है और विदीर्ण कर देने वाला [शस्त्रप्रयोग] 'पातन' कहलाता है [अर्थात् शस्त्रका प्रहार जब शरीरका विदारण कर देता है तो उसको 'शस्त्रपातन' कहते है । और विदारण न करने पर शस्त्र सप्रहार कहलाता है । यह सम्प्रहार और शस्त्रपातन की भेद है] । उस [शस्त्र पातन]से रक्त निकलता है । राक्षस आदि तो हसी मजाकमें भी प्रहार करते है । किन्तु केवल इतना ही कि जिससे रक्त निकल आवे अधिक [अर्थात् अगविच्छेद कर देने वाला] नहीं । लाल-आँखे [यह रक्त नयनका अर्थ है] भौंहोंको नीचेसे ऊपरको उठाना भ्रुकुटी [कहलाती] है । दाँतों और होठों का यथायोग्य पीडन [अर्थात् दातोका किटकिटाना और होठोका चबाना दन्तोष्ठपीडन कहलाता] है । दोनों हाथोके अगले भागको एक दूसरेसे मसलना 'सघर्ष' कहा जाता है ।

भरत०—और इस [रौद्ररस] के व्यभिचारिभाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, कम्पन, रोमाञ्च और गद्गद स्वर आदि होते हैं ।

भावा इति व्यभिचारिण । असम्मोह सम्भोहविपरीत । विरोधे नञ । तत्र अवृत्तिरसगृहीत सम्यग् बोध । उत्साहोऽत्र व्यभिचारी, क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात् । स्वेदादयो वाह्या, आभ्यन्तरसात्त्विकाभावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति । ततोऽनैकान्तिका । आन्तरा अनुद्रिक्ता । व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ता । वाह्यै स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपा पठिता ।

भरत०—अत्राह–यदभिहित रक्षो-दानवादीना रौद्रो रस, किमन्येषा नास्ति ?

भरत०—उच्यते–अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रस, किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्रा । कस्मात् बहुबाहवो, बहुमुखा प्रोद्धत-विकीर्ण-पिङ्गल-शिरोजा, रक्तोद्वृत्तविलोचना, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित् समारमन्ते स्वभावचेष्टित वागङ्गादिक तत्सर्व रौद्रमेवैषाम् । शृङ्गारश्च तै प्रायश प्रसभ सेव्यते । तेषा चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सग्राम-सम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्य ।

अभिनव०—[मूलमे आए हुए] 'भाव' शब्दसे व्यभिचारिभावोका अभिप्राय है। असम्मोह [सम्मोह अपरिज्ञान] के विपरीत [अर्थात् भली प्रकारसे परिज्ञान असम्मोह कहलाता है] । यह विरोधाथमे नञ् [का प्रयोग] है। उस [समोह] मे न रहने वाला, उससे असगृहीत [असम्मोह] यथाथ ज्ञान है। [उत्साह वीर रसका स्थायिभाव है किन्तु] यहा [रौद्ररसमे] क्रोधके प्रधान रूपसे आस्वाद्य होनेके कारण उत्साह व्यभिचारिभाव होता है। वाह्य स्वेदादि आभ्यन्तर [अर्थात् वास्तविक सात्त्विक] भावके बिना भी विषके स्पर्श अथवा ज्वर आदिके कारण हो सकते हैं इसलिए [अनैकान्तिक] व्यभिचारिभाव है। अव्यक्त होनेपर आन्तर [सात्त्विक भाव कहलाते है] पखाके ग्रहण आदिसे व्यक्त [प्रतीत] होते है। वाह्य स्वेदादिसे व्यभिचारिभावके रूपमे व्यक्त [सात्त्विकभाव] यहाँ पढ़ गए है।

भरत०—[प्रश्न] इसपर शङ्का करते हैं कि—रौद्र रस राक्षस दानवादिमे होता है [यह जो कहा है] सो क्या अन्योंमे नही होता है [यह आपका अभिप्राय है] ?

भरत०—[इस प्रश्नका] उत्तर देते है कि अन्योमे भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहाँ विशेष रूपसे [राक्षस आदिके ही] अधिकारका ग्रहण किया जाता है। क्योकि वे स्वभावसे ही क्रोधी होते हैं [इसलिए मुख्य रूपसे उन्हींका अधिकार है]। क्यो ? क्योंकि वे अनेक बाहुओ वाले अनेक मुख वाले, काँपते हुए फले हुए, और पीले केशोंसे युक्त, लाल लाल चढ़ी हुई आखों वाले, और भयंकर काले रगके होते है। और वे वाचिक या आङ्गिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूपसे भी आरम्भ करते है उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। [यहाँ तक कि] वे प्राय शृङ्गारका सेवन भी बलात्कारसे ही करते हैं। उनकी चाटुकारी [सेवा, खुशामद] करने वाले जो मनुष्य होते हैं उनमे भी सग्राम या सम्प्रहार आदिके कारण रौद्र रस मानना चाहिए।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्राय गृहीत्वा चोदक आह—'यदभिहितमिति'। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो रसो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह 'अन्यषा' इति—अ येषा कवि-नटाभ्या प्रयुज्य-मानाना सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्ति। अत्रेति राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति 'ते हीति'। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण 'भवन्त्येव' इत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचित। स्वय तेषा भवन तत इत्यथ। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽपि अविरुद्ध। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिनेय स्यात्। न बहुबाहुमुखदि।

तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीय ते इत्याशयेनाह 'कस्मादिति'। अत्रोत्तर 'बहुबाहव' इति। लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकार। तत्र च परविनाशनाभिसंधिजनित तपश्चर्यादिक, दृष्ट वा कर्म तेषा व्याप्रियते। अत स्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसंधिगम्यत इति सामाजिकाना तु दृश्यते रौद्रास्वाद।

अभिनव०—इन्ही [राक्षस आदि] मे ही रौद्ररस रहता हे [मूल ग्रथका] इस प्रकारका अभिप्राय मान कर पूवपक्षी 'यदभिहितम इत्यादिसे शङ्का करता है [कि राक्षसादिमे रौद्ररस जो कहा हे सो क्या मानवादि अन्योमे नही होता हे? सिद्धान्ती तो इन मे [अर्थात् मानवादि अन्योमे भी] रौद्ररस होता ही है इस अभिप्रायसे 'अन्येषा' इत्यादिसे समाधान करता है। अन्योमे अर्थात् कवि अथवा नटो द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले [राक्षस आदि] के [सादृश्यादि सम्बन्धके कारण] सम्बन्धिजन्य होनेसे [अन्य मनुष्यादिमे भी रौद्र रस रहता हे यह तात्पय है]। 'अधिकार' पदका अथ यहाँ अनुवृत्ति है। 'अत्र' का अथ 'राक्षस आदिमे' यह है। इसी बातको ते हीति' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'स्वभाव' शब्दके बाद 'एव' शब्दके प्रयोगसे [इन राक्षस आदिमे रौद्रत्व अवश्य] होता ही है इस प्रकार 'अयोगव्यवच्छेद' [असम्बन्धका अभाव अर्थात् अवश्य-सम्बन्ध] सूचित किया है। ['स्वभावत शब्दका अथ करते हे] उनका जो अपना स्वरूप [स्वय भाव], उससे होता है [वह स्वभावत शब्दका अथ हे] यह अभिप्राय है। इसलिए [उनमें] आङ्गिक रौद्र रसका वणन करना भी अनुचित नही है। अन्यथा लाल आखो आदि [के कथन] से स्वाभाविक रौद्रका ही अभिनय होगा, अनेक बाहुमुखादि [के द्वारा आङ्गिक रौद्र] का [अभिनय] नहीं होगा।

अभिनव०—[प्रश्न] वे राक्षस आदि भी अपने सेवक आदिके प्रति सदा क्रुद्ध ही नहीं देखे जाते हे [फिर उनको स्वभावरौद्र क्यो कहा है?] इसका उत्तर [मूलग्रन्थमें] 'बहुबाहव' इससे देते है। [इसका अभिप्राय यह हे कि] उनका आकार लोकप्रसिद्ध मनुष्यादिके आकारसे भिन्न प्रकारका होता है। और उसका कारण दूसरे के नाश करनेके अभिप्रायसे की हुई तपश्चर्या अथवा कोई दृष्ट कर्म होता है। इस लिए इस प्रकारके [राक्षसादिके] दीखने पर वही क्रोधात्मक अभिप्राय प्रतीत होता है। इसलिए उससे सामाजिकोके भीतर रौद्ररसका आस्वादन होता है।

तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्ट तत् सदव तेषाम । 'रक्ते तारकयोरुद्वृत्ते च विलोचने येषा ते रक्तोद्वृत्तविलोचना । अत एव भीम असित कृष्ण च सदैव रूप येषाम् । नित्ययोगे इनि । अत एव [2]बहुव्रीहिरत्र न कृत ।

न केवल कायस्तदीय इत्थ यावच्चेष्टितमपि तदीय दृश्यमान रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति 'यच्चेति' । स्वभावेनेति चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टित वाचिक कायिक वा तदेषा ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमान काव्ये प्रयोगे च रौद्रास्वादहेतु । वागङ्गे [3]आदी कारणे यस्य । मानस तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम् ।

अभिनव०—और उसीसे उनमे रागके समान क्रोधकालमे जो [रक्तनयनादि चिन्ह] दिखलाई देते है वे [स्वाभाविक होनेके कारण] सदैव विद्यमान रहते है। लाल, और उठी हुई पुतलियो वाले नेत्र जिनके होते है [वे 'रक्तोद्वृत्त विलोचना' हुए]। इसलिए भयङ्कर और काला रूप ['भीमासितरूप' यह कर्मधारय समासका रूप बना। फिर उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके] वह जिनका सदैव रहता है [इस प्रकारके राक्षसादि होते है यह 'भीमासितरूपिण' पदका अर्थ हुआ। राक्षसोमे इस प्रकार के रूपका] नित्य सम्बन्ध द्योतन करनेकेलिए [इस पदमे] इनि प्रत्यय है। इसीलिए इसमे बहुव्रीहि समास [द्वारा बने हुए 'भीमासितरूपा' इस रूपका प्रयोग] नही किया गया है।

इसका यह अभिप्राय है कि 'भीम असित च रूप येषा विद्यते ते भीमासितरूपा' इस प्रकारका रूप बहुव्रीहि समासमें रूप बनता है। उसका प्रयोग न करके भीमासितरूपिण पदका प्रयोग किया गया है। इसमे पहिले 'भीम असित च तद्रूप भीमासितरूप' इस प्रकारका कर्मधारय समास करके फिर 'तदस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके 'भीमासितरूपिण' यह शब्द बनाया गया है। पहिले कहे हुए 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत तदर्थप्रतिपत्तिकर' इस नियमके अनुसार मत्वर्थीय प्रत्यय करनेमे होने वाली बाधा यहाँ इसलिए नही होती है क्योकि इनि प्रत्यय 'नित्ययोग' रूप अधिक अर्थको बोधित करता है जो बहुव्रीहि समाससे बोधित नही होता है।

अभिनव०—उनका न केवल शरीर ही इस प्रकारका होता है अपितु उनके दिखलाई देने वाले कार्य भी रौद्ररसका आस्वाद कराने वाले ही होते है इस बातको [मूल ग्रन्थमे] 'यच्चेति' से दिखलाया है। [मूलमे आए हुए] 'स्वभावेन' इस पदका यह तात्पर्य है कि चित्तमे [क्रोधजन्य] विकारके न होनेपर भी उनका जो वाचिक अथवा कायिक व्यापार होता है वह सब ताडनादि प्रधान होता है। इसलिए काव्य या नाटकमे दिखलाई देनेपर वह रौद्ररसके आस्वादनका कारण होता है। [मूलमे आए हुए 'वागङ्गादिक' पदका अर्थ करते है] वाणी और शरीर 'आदि' अर्थात् 'कारण' है जिसके [अर्थात् कायिक और वाचिक व्यापार रौद्ररस प्रधान होता है]। मानस व्यापार प्रत्यक्ष न होनेसे नहीं कहा है [पर वह भी रौद्ररस प्रधान ही होता हे यह तात्पर्य है]।

---

१ उद्वृत्त तारकयो रक्तविलोचनम्। २ बहुवचन बहुव्रीहिरत्र कृत। ३ आदि।

सवमिति यदुक्त तत्स्फुटयति 'शृङ्गारश्चेति'। शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभाव प्रमदोद्यानादि । सोऽपि तै प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते, यत्र औगयस्य वजनमुक्त, किं पुनर यदिति च शब्दस्याथ । तथा हि—"आ सीते ! पतिगवविभ्रमभरभ्राम्यद्" इत्याद्युदाहरणम । "गाढाश्लेड मलयमरुत शृखलादाम दत्त' इति रौद्ररसत्वेन । कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति 'प्रायश' इति ।

ननूद्धतमनुष्येषु तर्हि कथ रौद्रादिविकार न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशक्य आह 'तेषा चेति'। राक्षसादीनामनुकारिण इति । तामसप्रकृतिरूपतया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यथ । कथमित्याह 'सग्रामेति'। सम्प्रहारग्रहणेन पूर्वोक्त ताडनपाटनादि गृह्यते । तेन बहुबाहुत्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते । एव रक्षोदानवेत्यादावयोगव्यवच्छेदो निश्चित । अन्ये तु वीरप्रधाना अश्वत्थाम-जामदग्न्यादयस्तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वाद-योग्य ।

अभिनव०—[मूलमे] 'सब' यह जो कहा है उसको 'शृङ्गारश्च' इत्यादिसे स्पष्ट करते ह । 'शृङ्गार' शब्दसे यहा उसके विभाव प्रमदा, उद्यान आदिका ग्रहण होता हे । उसको भी वे बलात अर्थात् भयङ्कर आकार द्वारा ही सेवन करते हैं । जहा कि [अर्थात् जिस शृङ्गारमे] उग्रताका निषेध किया गया है [उसको भी जब वे क्रूरता पूर्वक सेवन करते हैं] तब अन्योकी तो बात ही क्या है । यह 'च' शब्दका तात्पर्य हे । जैसे 'आ सीते' इत्यादि वचन उदाहरण है । कभी कभी कभी अनुनयसे भी वे शृङ्गार रसका सेवन करते हैं यह बात 'प्रायश' पदसे सूचित की गई हे ।

अभिनव०— प्रश्न—अच्छा तो फिर उद्धत मनुष्योमे रौद्र रसका आस्वादन कैसे होता है । वे तो बहुत सी बाहु आदिसे युक्त नही होते ह ? ऐसी आशका करके [उसके समाधानके लिए मूलमे] 'तेषा च' इत्यादि कहते है । उसका आशय यह हे कि उन राक्षसोके अनुकरण करने वाले अर्थात् तामस प्रकृति होनेसे [मनुष्य भी] उनके अनुगामी होनेसे उनके सदृश समझने चाहिए । [कथम् उनमे रौद्र]रस कसे उत्पन्न होता है इस बातको 'सग्राम' इत्यादिसे कहते हैं । सम्प्रहार पदके ग्रहणसे पूर्वोक्त ताडन पाटन आदिका ग्रहण होता है । इसलिए बहु बाहुत्व आदिके अभावमे भी उद्धत मनुष्य क्रोधोचित वाचिक तथा शारीरिक व्यापारसे रौद्रप्रकृति ही होते हैं यह सूचित किया है । इस प्रकार राक्षस दान व इत्यादिमे [रौद्र रसका] अयोग-व्यवच्छेद [असम्बन्धका अभाव अर्थात् निश्चित सम्बन्ध] प्रतीत होता है । [उन उद्धत मनुष्योंसे भिन्न] अन्य अश्वत्थामा परशुराम आदि वीररसप्रधान है, उनमें कारण विशेषके प्रभावसे [कभी-कभी] रौद्ररसके आस्वादन-योग्य क्रोध पाया जाता है । [परन्तु उनमे नित्यसम्बन्ध नही है] ।

---

१ तथा च नानादेवाविगाढाश्लेड मलयमरुता मेखलादाम दत्ते ति ।

राक्षसादीनामपि च हासशोकादि स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोध । हास्यकरुणादेश्च इह योगो भवत्येव । तेनैषा न रौद्र एव रस ।

ननु सामाजिकाना तथाभूतराक्षसादिदशने कथ क्रोधात्मक आस्वाद ? उच्यते-हृदयसवाद आस्वाद । क्रोधे च हृदयसवादस्तामसप्रकतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषय क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चदवद्यम् ।

भरत०—अत्रानुवश्ये आर्ये भवत —

भरत०—[1]युद्धप्रहार-घातन[2]-विकृतच्छेदन-विदारणैश्चैव ।
सग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभि[3] सञ्जायते रौद्र[4] ।।
नानाप्रहरणमोक्षै[5] शिर कबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
[6]एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनय[7] प्रयोक्तव्य ।।

विकृत यच्छेदन व्यङ्गादिकरणम् । युद्धादिति परेण क्रियमाणौचित्यम् । तन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम् । सग्रामाय सम्भ्रम शस्त्राहरणे त्वरा ।

अभिनव०—[इसी प्रकार] राक्षस आदिमें भी अपने कारणसे उदय होने वाले और उस कालमे क्रोधका अभिभव कर देने वाले हास्य करुण आदि [रस रूपमे] होते हैं। इसलिए इन [राक्षसादि] मे केवल रौद्र रस ही नहीं रहता है [अपितु हास्य करुण आदि अन्य रसोका भी यथावसर आस्वाद होता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] उस प्रकारके राक्षस आदिको देखनेपर सामाजिकोको क्रोधात्मक कसे होता है ? [इसके उत्तरमे] कहते है कि-हृदयका तादात्म्य [सवाद] ही आस्वाद है। क्रोधमे [मुख्य रूपसे] तामस प्रकृति वाले सामाजिकोका ही तादात्म्य होता है इसलिए दानव आदिके समान तन्मय होकर वे अन्यायकारी विषयक क्रोध का आस्वादन करते हैं इसलिए इसमे कोई दोष नहीं होता है ।

भरत०—इस विषयमे परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक] मिलते हैं—

भरत०—युद्धप्रहार, मारने बुरी तरहसे [सिर आदिके] काटनेसे, और सग्रामके लिए शस्त्रादि ग्रहणकी शीघ्रता आदि इन कारणोंसे रौद्ररस उत्पन्न होता है ।

भरत०—नाना प्रकारके शस्त्रोंके चलानेसे सिर, धड़, भुजा, आदिके काटनेसे, इस प्रकार के [रौद्रव्यञ्जक] विशेष कार्योंसे इस [रौद्र रस] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—विकृतच्छेदनका अथ अगहीन करना आदि है। युद्ध इस पदसे दूसरे के द्वारा किए जाने वाले [छेदनादि] का औचित्य सूचित किया है । इसलिए युद्धादिसे अनुमित दूसरेके क्रोधादिका विभावत्व सूचित किया है । सग्रामकेलिए घबराहट अर्थात् शस्त्र ग्रहणकी जल्दी [सग्रामसम्भ्रम है । इनसे रौद्ररस उत्पन्न होता है] ।

---

१ ड म सत्त्व । २ ब पात । म घातौ विच्छेद विदारणश्चय । ३ अ सम्भवाथरेभि । म सम्भ्रमोत्थरेभि । ४ ल रौद्ररसो नाम सम्भवति । ५ अ भ सकुल शिर । ६ त अ एभिस्त्वथ । ७ ल भ अ तस्याभिनय ।

अनुभावानाह 'नानेति'। मारणप्राधान्य नानाप्रहरणेन दर्शयति। शिर कतनादि [1]मृतशरीरस्यापि क्रोधातिशयात सूचयन वीराद भेदमाह। युद्धवीरे हि तन्नास्ति। इह तु वक्ष्यते-उग्रकर्मेति।

भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसहरति 'इति रौद्र रस' इति—

भरत०—इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टित ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मक ।।५१।।

उग्राणि औग्र्यप्रधानानि यानि शिर कतनादीनि तेषा या क्रिया अभिनीति सा आत्मा प्रधान यस्येति।

इति रौद्ररसप्रकरणम् समाप्तम्।

अभिनव०—[दूसरी 'आर्या' मे आए हुए] 'नाना' इत्यादि [पद] से रौद्ररसके अनुभावोको कहा है। नाना प्रहरणोसे [रौद्र रसमे] मरणकी प्रधानता सूचित की है। क्रोधातिशयके कारण शत्रुके मृतशरीरके भी सिर काटने आदिके सूचनसे वीर-रससे [रौद्ररसका] भेद दिखलाया है। क्योकि युद्ध वीरमे वह [शत्रुके मृत शरीरका सिर काटना आदि रूप] नही होता है और यहाँ रौद्ररसमे तो 'उग्रकर्मा' इत्यादि [अगली कारिका] से [मृतशरीरके शिरश्छेदन आदिको] कहेगे।

अभिनव०—[अनेक अनुवश्य आर्याओके देनेके बाद अब] भरतमुनि तो एक ही श्लोकसे [रौद्ररसका] उपसहार करते हे—

भरत०—इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारोसे युक्त अतिमात्रामे शस्त्रप्रहारसे युक्त, और [क्रोधातिशयके कारण मृतशरीरसे भी सिर काटने आदि रूप] भयानक कर्मोके अनुष्ठानसे परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है।५१।

अभिनव०—उग्र अर्थात् भयङ्करतासे पूर्ण जो सिर काटना आदि रूप कार्य उनकी क्रिया अर्थात् अभिनय जिसका आत्मा हे ऐसा [रौद्ररस होता हे]। ५१।

पूर्व सस्करणोमें रौद्ररसके इस अन्तिम श्लोककी सख्या ६६ है। हमारी सख्या ५१ है। बीचमे १५ श्लोक 'अनुवश्य आर्या' के रूपमे आए हैं। उनपर हमने सख्या नही डाली है। इस अध्यायमें ३१वी कारिकाके बाद गद्यमें रसोका विवेचन प्रारम्भ किया गया है। उसमें बीचमे 'अनुवश्ये आर्ये भवत' की अवतरणिका देकर जो श्लोक दिए गए हैं वे भरतमुनिके अपने बनाए श्लोक नही ह अपितु पूर्व परम्परागत श्लोकोको उन्होने उद्धृत किया है। ३२ ३३, ३४ ३८, ४६-५०, ५४ ५५, ६२ ६३, ६४ ६५, ये सब इसी प्रकारके श्लोक हैं। उनपर वस्तुत सख्या नही डालनी चाहिए। यहाँ पर ६६वें श्लोककी अवतरणिका रूपमें अभिनवगुप्तने 'भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसहरति—इति रौद्र रस इति' इस ५१वें श्लोकको 'अनुवश्य' आर्याओसे भिन्न भी किया है। 'भरतमुनिस्त्वेकेन' इत्यादि यह पक्ति श्लोकका अवतरणिका भाग है इसलिए व्याख्या भागके पहिले आना चाहिए। पूर्व सस्करणोमे उसे व्याख्या भागके अन्तमें अस्थानमे छापा गया है। यह ठीक नही है। हमने उसे अवतरणिका रूपमे ठीक स्थानपर लगा दिया है।

रौद्ररसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१ हुतशरीरस्यापि।

अथवीररसप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्त वीर लक्षयति—

भरत०—अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक । स चासम्मोहा-ध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तस्य स्थैर्य धैर्य-शौर्य-त्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । सञ्चारिभावाश्चास्य धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्ष स्मृतिरोमाञ्चप्रतिबोधादय ।

युद्धवीरे हि सग्राम-सम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति, आनन्तर्य 'अथ' शब्देनाह। उत्तमाना प्रकृति स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा । यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृतिर्हेतुर्यस्य । उत्तमवर्णाना हि सवत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति । अत एव चतुष्वपि नायकेषु धीरत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरादात्त इत्यादि । तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता।

वीररस प्रकरण

अभिनव०—क्रमप्राप्त वीररसका लक्षण करते है—

भरत०—इसके बाद [अर्थात् रौद्ररसके बाद] उत्तम प्रकृति वाला और उत्साहात्मक वीररस होता है। उसकी उत्पत्ति भ्रमादिके अभाव [असम्मोह] से निश्चय [अध्यवसाय] नीति, इन्द्रियजय [विनय] सेना पराक्रम सामथ्य प्रताप और प्रभाव आदि विभावोंसे होती है।

भरत०—स्थिरता, धय, शौय, त्याग, निपुणता आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। धृति मति, गव, आवेग, उग्रता, अमष, स्मृति, रोमाञ्च, और प्रतिबोध आदि इसके सञ्चारिभाव हैं।

अभिनव०—युद्धवीरमे सग्राम और सम्प्रहार आदि होता है, वह रौद्रमे भी होता है [यह रौद्र तथा वीररस दोनोकी समानता है। इसलिए रौद्रके बाद वीररस का स्थान आता है]। इस आनन्तयको 'अथ' शब्दसे कहा गया है। ['उत्तमप्रकृति' पदकी दो प्रकारकी व्याख्या करते हैं] क्योकि [वीररसका स्थायिभाव] उत्साह उत्तमजनो की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है इसलिए वीररस भी उसी प्रकारका [उत्तमप्रकृति] होता है। अथवा काव्य और नाटकमे प्रयुक्त उत्तम [पुरुष] जिसकी प्रकृति अर्थात् कारण है। क्योकि उत्तम वर्णोंका उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य [आनन्ददायक] होता है [इसलिए उत्तम पुरुषोको वीररसकी प्रकृति अर्थात् कारण कहा जा सकता है]। इसीलिए [धीरोदात्त धीरोद्धत धीरललित और धीरप्रशान्त रूप] चारो नायकोमे [धीर शब्द] अनुगत रूपसे कहा जायगा जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि। उन [उत्तम वर्णों] मे [प्राय] सभी लोग [किसी न किसी प्रकारके] उत्साहसे युक्त होते है किन्तु [कविके द्वारा विवक्षित न होनेसे] जो विषय नही होते उनके चरित्र का वर्णन नहीं किया जाता है।

---

१ 'वीरे जिघांसेति' इत्यधिक. पाठ ।

यदीय तु चरितमुपदेशार्ह तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्ति । उचितत्व चावसरस्यासम्मोहादिसंपत्तिरिति सैव विभावत्वेनोपदिष्टा । असम्मोहेन अध्यवसायो हि वस्तुतत्त्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता । असद्वस्तुतत्त्वाभिनिवेश सम्मोहो[1] रावणादिगत उत्साहकारी इत्यसत् । अशब्दार्थत्वात् । तत्रापि च पराक्रम नयादिरेव विभाव ।

सन्ध्यादिगुणाना सम्यक् प्रयोगो 'नय' । इन्द्रियजयो 'विनय' । 'बल' हस्त्यश्वरथ पादातम् । 'पराक्रम' परकीयमण्डलाद्याक्रमणेनावस्कन्द । युद्धादिके सामर्थ्य शक्ति । 'प्रताप' शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धि । 'प्रभावो'ऽभिजन धन मन्त्रिसम्पत् । आदिग्रहणेन यश प्रभृति । एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवन्ति । उत्तमस्य कदाचित् कश्चिदाधिक इति पृथक पृथगुदाहरणमसत्[2] ।

अभिनव०—जिनका चरित्र वर्णनीय [उपदेशार्ह] है उनके उत्साहकी अभिव्यक्ति उचित अवसरपर ही होनी चाहिए। और असम्मोह आदिकी स्थिति ही अवसर की औचिती रूप है। इसलिए उसीको विभाव रूपसे कहा गया है। सम्मोहके बिना जो 'अध्यवसाय' अर्थात् वस्तुके तत्त्वका निश्चय [वह 'असम्मोहाध्यवसाय' शब्दका अर्थ हुआ]। इससे मन्त्रशक्ति [विचारसामर्थ्य] प्रदर्शित की है। [इस प्रकार असम्मोहसे अर्थका निश्चय वीर रसका जनक होता है यह बात कही है। इसपर पूर्वपक्षी यह शङ्का करता है कि रावणादिमे तो असम्मोह नही अपितु] असद्वस्तुका आग्रह [अभिनिवेश] रूप सम्मोह भी उत्साहका जनक देखा जाता है। [तब आप असम्मोहको ही उत्साहका कारण कैसे कहते है ? यह प्रश्न करें तो उत्तर यह है कि यह बात अर्थात् सम्मोहको उत्साहका कारण मानना] यह ठीक नही है। [क्योंकि वह ग्रन्थकारके] शब्दोसे अभिप्रेत न होनेसे [अर्थात् ग्रन्थकार तो 'असम्मोहाध्यवसाय' को ही उत्साहका जनक मानते है सम्मोहको नही। दूसरी बात यह भी है कि जहा आप सम्मोहको उत्साहजनक समझ रहे है वहाँ भी सम्मोह नही अपितु] वहाँ भी पराक्रम और नीति आदि ही उत्साहके [जनक] विभाव है।

अभिनव०—सन्धि आदि [अर्थात् सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव रूप राजनीतिके छ] गुणोंका उचित रूपसे प्रयोग 'नय', कहलाता है। इन्द्रियोका विजय 'विनय' कहलाता है। हाथी घोडे रथ तथा पैदल आदि सेना 'बल' कहलाती है। शत्रु सैन्य आदिको आक्रमण द्वारा पराजित कर देना 'पराक्रम' कहलाता है। युद्ध आदिकी सामर्थ्य यहा 'शक्ति' [पदसे अभिप्रेत] है। शत्रुको सन्ताप देने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' कहलाती है। कुल धन मन्त्री आदिकी सम्पत्ति [पूर्णता] 'प्रभाव' कहलाती है। [मूल ग्रन्थमे] 'आदि' पदके ग्रहणसे यश आदि [का ग्रहण करना चाहिए]। ये सब मिल कर ही [वीररसके जनक] विभाव होते हैं। उत्तम पुरुषोमे इनमेसे कभी कोई अधिक हो सकता है। इसलिए इन सबके अलग-अलग उदाहरण देना अनुचित है।

---

१ असम्मोह । २ उदाहरणम् ।

वस्तुतो ह्यत्रोदाहरण सवमेव रामादिचरितम् । सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराज-प्राये नायके यथायोग सचिवगता अप्येते मन्तव्या । प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोग व्यस्त समस्तभेदकल्पन कविना कायम् ।

'स्थय'अचलनम् । गम्भीयकृत सवरण 'धैयम्' । 'शौर्य' युद्धादिक्रिया । 'त्यागो' दानम् । 'वैशारद्य' सामाद्युपायचतुष्कस्य एक द्वि त्रि-चतुरादिभेदैर्यथाविषय नियोजनम् ।

भरत०—अत्रार्ये भवत '—

उत्साहोऽध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादथविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥

विविधधर्मादिलक्षणमथनीय विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चय । स च 'उत्साहयतीत्युत्साह' ।

एतदुक्त भवति—आपद्यादिनिमग्नता, स्वल्पे सन्तोष, मिथ्याज्ञान चापास्य यस्तत्त्वनिश्चय स एवोत्साहहेतु प्रधानतया । रौद्रे तु तम प्राधान्यादनुचिताशास्त्रीय-बन्धाद्यपीति मोह-विस्मयप्राधान्यम ।

---

* अभिनव०—वास्तवमे रामचन्द्र आदिका सम्पूण चरित्र ही इसका उदाहरण होता है । और [वत्सराज] उदयन सदृश सचिवायत्तसिद्धि [नायक वाले काव्य नाटक आदि] मे म त्रीमे भी ये [गुण] हो सकते हैं । और प्रतिनायकमे रहने पर भी वे उत्साहके व्यञ्जक हो सकते है । इसलिए कविको इनके अलग-अलग अथवा सम्मिलित आदि भेदोकी यथोचित कल्पना स्वय करनी चाहिए ।

अभिनव०—'स्थैय' [शब्दका अथ] अविचल रहना हे । गम्भीरताके कारण [अपने मनोभावोका] गोपन करना 'धैय' [कहलाता] है । युद्ध आदिकी क्रिया 'शौय' है । दान 'त्याग' कहलाता हे । साम [दान दण्ड भेद] आदि चारो उपायोका आवश्यकतानुसार एक दो तीन या चारोका प्रयोग 'वैशारद्य' [कहलाता] है ।

भरत०—इस विषयमे दो आर्या [छन्दके श्लोक] भी पाए जाते हैं—

भरत०—निश्चय, अखिन्नता, विस्मयराहित्य और मोहशून्यता एव नाना प्रकारके विशेष अर्थोंसे 'उत्साह' रूप वीर रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—धर्मादि [अर्थात धम अथ काम और मोक्ष] रूप विभिन्न पुरुषार्थोको लक्ष्यमे रख कर विषाद, विस्मय तथा मोहसे रहित होकर जो अध्यवसाय अर्थात् निश्चय है वह भी उत्साहका जनक होता हे इसलिए 'उत्साह' कहलाता है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—आपत्तिग्रस्तताको छोड कर थोडेमे सन्तोषको छोडकर और मिथ्याज्ञानको छोडकर जो तत्त्वका निश्चय होता है वह ही मुख्यरूपसे उत्साहका कारण होता है । रौद्र रसमे तो तमोगुणकी प्रधानता होनेके कारण अनुचित और शास्त्रविरुद्ध बन्धादि भी हो सकता है इसलिए वहाँ मोह तथा गर्व [विस्मय] की प्रधानता रहती है ।

---

१ रसविचारमुखे ।

भरत०—स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररस सम्यगभिनेय ।।

स्थिति स्थयम । वीय शौयम् । गवपदेन तदनुभावो लक्ष्यते । उत्साहनमुत्साहोऽबलस्य विषण्णप्रायस्योत्तेजनम् । यथा सेतुबन्धकाव्ये । पराक्रम पराक्रमरणा । इत्थमत्र भवद्भिरासितव्य योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकतव्यताना भृत्याना प्रभावना प्रभावसम्पादनम् । आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनम् । तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानि इति गम्भीरदुरवगाहथत्व वाक्यानामित्युक्तम् ।

इति वीररसप्रकरणम् ।

भरत०—स्थिरता, धय, शौय, गव, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव और अपमानजनक वाक्योके द्वारा वीररसका भली प्रकार अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है । 'वीय' पद शौयका वाचक है । 'गव' पदसे उस वीर रसके अनुभावका ग्रहण करना चाहिए । निबल धा निराश व्यक्तिको उत्साहित करना 'उत्साह' [पदसे अभिप्रेत] है । जैसे सेतुबन्ध काव्यमे [किया गया है] । पराक्रमण पराक्रम [कहलाता] है । आपलोगोको इस प्रकार खडे होना और इस प्रकार युद्ध करना चाहिए इस तरहसे सेनाको [कार्यमे] लगानेके द्वारा और सेवकोकी [इतिकत्तव्यता अर्थात्] काय-पद्धतिको प्रभावित करना प्रभावसम्पादन [कहलाता] है । [अपने प्रतिपक्षीमे वीरतासे भिन्न कायरता छल आदि रूप] अन्य वस्तुओको सूचित करना 'आक्षेप' [कहलाता] है । उस [आक्षेप] से [प्रयुक्त] किए, अर्थात् आक्षेपप्रधान जो वाक्य [उनसे भी वीर रस उत्पन्न होता है] । इससे [आक्षेपकारी] वाक्योके गम्भीर और दुर्ज्ञेय [व्यङ्ग्य] सूचित किया है ।

आक्षेप वाक्योसे भी वीररसकी उत्पत्ति और अभिनय करनमे सहायता मिलती है जसे वेणीसहारके तृतीय अकमें जब भीमसेन दु शासनको पकड कर यह घोषणा करता है कि—

कृष्टा येन शिरोरुहे नृपशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्या परिधानमप्यपहृत राज्ञा गुरूणा पुर ।
यस्योर स्थलशोणितासवमह पातु प्रतिज्ञातवान्
सोऽय मद्भुजपजरे निपतित सरक्ष्यता कौरवा ।।

जिसने पाञ्चालराजकी पुत्री द्रोपदीके बाल पकड कर खीचे और राजाओ एव गुरुजनो के सामने उसके वस्त्रोका भी अपहरण किया और जिस दुष्टकी छातीका खून पीनेकी मैंने प्रतिज्ञा की थी वह दुष्ट आज मेरे पजेमे आ गया है । हे कौरवो, तुम बचा सको तो बचा लो ।

भीमकी इस घोषणाको सुन कर अश्वत्थामा सेनापति पदपर अभिषिक्त होने वाले कर्णके ऊपर आक्षेप करता हुआ कहता है कि—

'अङ्गराज ! सेनापते ! जामदग्न्यशिष्य ! द्रोणोपहासिन् ! भुजबलपरिरक्षितसकललोक ! रक्षन साम्प्रत भीमाद्दु शासनम् ।

ये सब वाक्य आक्षेपपूर्ण हैं । उनसे कर्णकी अशक्तता आदि गम्भीर अथ व्यङ्ग्य है । और वह कर्णको युद्धके लिए उत्साहित कर वीररसके जनक होते हैं ।

वीररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ भयानकरसप्रकारणम्

वीरस्य भीताभयप्रधानत्वाद् भयानक लक्षयति 'अथ' इति ।

भरत०—अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मक । स च विकृत-रव-सत्त्वदर्शन शिवोलूक त्रासोद्वेग-शून्यागारारण्यगमन स्वजनवधबन्धदर्शन-श्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च प्रवेपितकरचरण-नयनचापल-पुलक मुखवैवर्ण्य-स्वरभेदादिभिरनुरभावैरभिनय प्रयोक्तव्य ।

भरत०—भावाश्चास्य स्तम्भ-स्वेद-गद्गद्-रोमाञ्च वेपथु-स्वरभेद-वैवर्ण्य-शका-मोह-दैन्य-आवेग-चापल-जडता-त्रास-अपस्मार-मरणादय ।

विकृतो रवोऽट्टहासादि । सत्त्वाना पिशाचाना दशनम । त्रासोद्वेगौ परगतौ । शू यागारस्यारण्यस्य च गमन प्राप्ति । स्वजनस्य यौ बध-बन्धौ तयोदशन प्रत्यक्षेण, श्रवणमागमेन ।[1]कथादि अतिक्रान्तयोरपि पुनरनु धानेन स्मरणम् ।

भयानकरस प्रकरण

अभिनव०—वीररस मुख्य रूपसे भयभीत पुरुषको अभयप्रदान कराने वाला होता है इस लिए [वीररसके बाद उससे सम्बद्ध] भयानक रसका 'अथ' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते है—

भरत०—भयानकरस भयस्थायिभाव स्वरूप होता है। और वह [अट्टहासादि रूप] विकृत शब्दसे, पिशाच [भूत प्रेत] आदिके देखनेसे शृगाल उल्लूक आदिसे, [दूसरोके] भय, घबराहटसे, शू य मकानो, और शू य वन आदिमे जानेसे अपने सम्बन्धियोंके बध ब धन आदिके देखने, सुनने या [अतीत कालके वध ब धकी] चर्चा आदि कारणों [विभावों] से उत्पन्न होता है।

भरत०—कांपते हुए हाथ पर नेत्रोकी चञ्चलता, रोमाञ्च, मुखके रग उड जाने और आवाजके बदल जाने आदि कार्यो [अनुभावो] के द्वारा उस [भयानक रस] का अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—[हाथ पर आदिकी] जकडाहट, पसीना गदगद हो जाना रोमाञ्च, कम्पन, आवाजका परिवतन [मुखका] रग उड जाना, शङ्का मोह दीनता, घबराहट, चञ्चलता, जडता, मृगी मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

अभिनव०—विकृत शब्द अर्थात् अट्टहास आदि । सत्त्वोका अर्थात् भूत प्रेत पिशाच आदिका दिखलाई देना । दूसरेमे रहने वाले भय और घबराहट [भी भयानक रसके जनक कारण होते है] । खाली मकानो और बनोमे गमन अर्थात् पहुचना । अपने सम्बन्धियोंका जो बध तथा बन्ध उसका प्रत्यक्ष रूपसे देखना, अथवा शब्द प्रमाण [आगम विश्वस्त व्यक्ति] के द्वारा सुनना । 'कथादि' अर्थात् [स्वजनोके] बीते हुएं [बध-बन्धादि] के फिर चिन्तन करनेसे स्मरण होने आदि [कारणो] से भयानकरस की उत्पत्ति होती है] ।

---

१. न त स्थायिभावप्रभव ।

वेगितु प्रवृत्त यत्करचरणम् । आदिकर्मैव भयव्यञ्जक, व्याध्यादिवैलक्षण्य-सूचनात् । पुलको रोमकूपो नति । स्वरस्य भेद स्वभावविपयय ।

भरत०—अत्रार्या —

भरत०—विकृतरव-सत्त्वदशन सग्रामारण्य-शून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेय ॥
गात्र-मुख-दृष्टिभेदैरुरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगै ।
सन्नमुखशोष हृदयस्पन्दन-रोमोद्गमैश्च भयम् ॥
एतत् स्वभावज स्यात सत्त्वसमुत्थ तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावै कृतक मृदुचेष्टित कायम् ॥

'गुरुनपयो' इति, अयमाशय —भय तावत स्त्रीनीचबालादिषु वक्ष्यते नोत्तममध्यम-प्रकृतिषु । तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भय दशयेयु । तद्भावेऽप्येव सुनरामुत्तमत्व भवति । अप्रभुत्व चामात्यानाम । यथाह 'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि' इति [र० १ ७]।

अभिनव०—जो हाथ पैर कापना प्रारम्भ हो जाय [वह 'प्रवेपित' है और वह भयके अनुभाव होता है । इस प्रकार 'प्रवेपित' पदमे] आदि कम [अथमे 'आदिकर्मणि क्त' इस सूत्रके द्वारा किया हुआ क्त प्रत्यय] ही व्याधि आदि [द्वारा होने वाले कम्प] से भिन्नताके सूचन द्वारा भयका व्यञ्जक है । पुलकका अथ रोए खडा होना है । स्वरका भेद अर्थात् [स्वरके] स्वभावका परिवर्तन [भी भयका अनुभाव है] ।

भरत० – इस विषयमें [प्राचीन आचार्यों की वशपरम्परासे प्राप्त पद्यरूप निम्नाङ्कित तीन] आर्याएं पाई जाती हैं –

भरत० – विकृत शब्द भूत प्रेत आदि [सत्त्वों] का दशन, युद्धभूमिमे वनमे अथवा सूने घरोंमे जानेसे गुरु और राजाके अपराधसे कृतक [बनावटी] भयानक रस उत्पन्न होता है ।

भरत० – [हाथ पर आदि] अङ्गों मुख तथा दृष्टिके परिवतनसे उरुस्तम्भ [अर्थात अङ्गाओंके जकड जाने] से [अभिवीक्षण अर्थात् डर जानेके कारण रक्षाके लिए] इधर उधर ताकनेसे घबराहट [के प्रदशन] से सन्नता [अर्थात् निर्जीवता] मुखके सूखने हृदयके धडकने तथा रोमाञ्चके द्वारा भय [का अभिनय] होता है ।

भरत०—यह स्वाभाविक [भयके अभिनयका प्रकार है । इसी प्रकार [सत्त्वसमुत्थ अर्थात्] मनसे उत्पन्न [भयका अभिनय] करना चाहिए । और इन्ही अनुभावोके द्वारा [कृतक अर्थात्] बनावटी भय मृदु चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रथम आर्यामे आए हुए] गुरु और राजाके [प्रति किए हुए अपराधसे भय उत्पन्न होता है] इसका यह आशय है कि—स्त्री नीच अथवा बालक आदिमे [स्वाभाविक] भय होता है यह बात आगे कहेंगे । उत्तम, मध्यम प्रकृतियोंमे [स्वाभाविक भय] नही होता है । [किन्तु] उनको भी गुरुओसे और राजासे [कृतक बनावटी] भय दिखलाना चाहिए । उस [भय] के होनेपर भी इस प्रकारसे [गुरुओं और राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] भी उत्तमत्व [सूचित] होता ही है [उत्तमत्व

अनुभावाश्च तथा श्लिष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीना प्रतीतिर्भवति। अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकत्वम्। बहुनरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम्। न च व्यभिचारित्वम्। तद्धि तदा स्यात यदि स्वभावत एव न किञ्चित् काललवमुत्पाद्यते।

गात्रादीना भेदो वर्णकर्मसस्थानादिविपर्यय। वीक्ष्यमतिक्रम्य अभिवीक्षण कान्दिशीकत्वेन निलक्षचक्षु कृतम्। उद्वेग चलनम्। सादो गात्राणा स्रस्तता। मुखस्य तालुनि शोष। हृदयस्पन्दनमतिवेगेनेह। 'भय' इति, 'अभिनेयम्' इति वीररस आर्याति सम्बध्यते।

की हानि नही होती है]। और मन्त्रियोका [राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] अप्रभुत्व [अर्थात विनय] सूचित होता है। जैसा कि [यद्यपि राजाने मुझे राज्यका सारा कायभार सौंप रखा है। मै जैसा चाहूँ कर सकता हूँ। फिर भी] "स्वेच्छाचार करते हुए मे [मन्त्री, राजासे] डरता ही हूँ' यह [रत्नावली १ ७] नाटकमे मन्त्रीने कहा है।

अभिनव०—यहा [भयके प्रदर्शन करनेमे] लोकमे इस प्रकार सुसगत रूपसे काय [अनुभाव] किए जाते हे जिससे कि यह सचमुच ही डर रहा है इस प्रकारकी प्रतीति गुरु आदिको होती है। अस्वाभाविक होनेसे इसको 'कृतक' कहा गया है। बहुत काल तक विद्यमान रहनेसे और आस्वाद योग्य होनेसे उस [भय] को 'रस' कहा जाता हे। [भयानक रस मे यह भय] व्यभिचारिभाव नही है। वह [व्यभिचारिभाव] तो तब हो यदि स्वभावसे ही तनिक देर भी न ठहरे। परन्तु भय बहुत काल तक रहता है इसलिए वह व्यभिचारिभाव नही है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

आगे दूसरी आर्या की वृत्ति लिखते हैं—

अभिनव०—गात्र अर्थात् मुख और दृष्टि आदिका भेद अर्थात् उनके रग 'काय' और स्थिति आदिका परिवतन। [इसी कारिकामे आगे कहे हुए अभिवीक्षण शब्दका अर्थ करते है—] वीक्ष्य [अर्थात् जिसको देख रहे हैं उस] को छोडकर [डरके मारे] इधर-उधर देखना 'अभिवीक्षण' [कहलाता] है। [कान्दिशीको भयद्रुत] भयग्रस्त होनेसे किसी एक स्थानपर न टिकने वाले चक्षुसे किया हुआ [वीक्षण अभिवीक्षण कहलाता है। यह 'निर्लक्षचक्षु कृतम्' का भाव है। आगे कारिकामे आए हुए 'उद्वेग' शब्दकी व्याख्या करते हैं] विचलित हो जाना उद्वेग होता है। अङ्गोकी शिथिलता 'साद' [सन्नता] है। मुखका सूखना तालुमे होता है। [अर्थात् मुखशोषका अर्थ तालूका सूखना है]। हृदयकम्पसे यहाँ अतिवेगसे [हृदय के कम्पका ग्रहण करना चाहिए क्योकि सामान्य रूपसे हृदयका कम्पन तो प्रत्येक व्यक्तिमे सदा होता ही रहता हे]। [कारिकामे आए हुए] 'भय' इस पदका सम्बन्ध वीररसकी [अर्थात पृ० ५९६ पर वीररसके प्रकरणमे आई हुई] आर्यासे [अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त 'सम्यगभिनेय' इस अशका लिङ्ग विपर्यय करके 'अभिनेय' इस पद] के साथ होता है।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता । मुनिना तु सुखसग्रहाय यथा स्थान निवेशिता ।

सत्त्वसमुत्थमिति सत्त्व मन समाधान । तज्ज न्मकमिति । नटस्येय शिक्षा । सा च सर्वविषयेति टीकाकार । तदिदमसत् । कविनटशिक्षार्थमेव सर्वमिद प्रकरणम् । लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात् ।

तस्मादयमत्रार्थ—एतत् तावद् भय स्वभावज रजस्तम प्रकृतीना नीचानामित्यर्थं । येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषा सत्त्वसमुत्थ प्रयत्नकृत एभिरनुभावै कार्यम् । किन्तु मदुचेष्टितैर्यतस्तत् कृतकम् । पुन शब्दो विशेषद्योतक ।

अभिनव०—ये सब आर्याए पूर्व आचार्योने [भयानक रसके] लक्षण रूपमे [वीररसके साथ मिलाकर] एक साथ पढ़ी थीं भरत मुनिने उनको सुबोध करनेकेलिए [वीररससे अलग करके यहा भयानक रसके प्रकरणमे] उचित स्थान पर उनका समावेश कर दिया है । [इसलिए मूलरूपमे उन कारिकाओके वीर रसके साथ पठित होने से 'वीररस सम्यगभिनय' इत्यादि कारिकासे 'अभिनेय' पदका सम्बन्ध 'भय' पदके साथ इस कारिकामे आ जाता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

आगे तृतीय कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव०—[तृतीय आर्यामे 'सत्त्वसमुत्थ' मे 'सत्त्व' का अर्थ मनकी एकाग्रता है । उससे उत्पन्न होने वाला [भय 'सत्त्वसमुत्थ' या कृत्रिम भय होता है । उस का अभिनय भी स्वाभाविक भयके अनुभावोके द्वारा ही करना चाहिए] । यह नटके लिए उपदेश दिया गया है । [शकुक आदि प्राचीन] टीकाकारका मत यह है कि यह शिक्षा [केवल नटकेलिए ही नही है अपितु दर्शक सामाजिक आदि] सबके लिए है । [परन्तु उन लोगोका] यह कथन असङ्गत है क्योकि यह सब प्रकरण [अर्थात् सारा नाट्यशास्त्र] कवि तथा नटकी शिक्षाके लिए ही रचा गया है । [दूसरी बात यह भी है कि] लोकमें विभाव, अनुभाव, अभिनय आदिका व्यवहार नहीं होता है [ये सब शब्द नाट्यशास्त्रमे ही आते है । इसलिए यह शिक्षा केवल नटोके लिए ही है कि अमुक प्रकारसे अमुक रसका अभिनय करना चाहिए । सर्वसाधारणसे उसका सम्बन्ध नही है । इसलिए प्राचीन टीकाकार शकुक आदिने जो इस शिक्षाका सर्वसाधारणके साथ सम्बन्ध माना है वह अनुचित ही है] ।

अभिनव०—इसलिए इस सबका यहा यह अभिप्राय है कि—यह स्वाभाविक भय, राजस एव तामस प्रकृति वालोमे अर्थात् नीचोमे होता है । और जो सत्त्वप्रधान अर्थात् सात्त्विक प्रकृतिके लोग होते हैं उनमे [स्वाभाविक भय नहीं होता है अपितु] सत्त्व अर्थात् मनसे कल्पित कृत्रिम [प्रयत्नकृत भय] होता है । उसका अभिनय भी इन्हीं अनुभावोके द्वारा करना चाहिए । किन्तु मृदु चेष्टाओ द्वारा करना चाहिए क्योंकि वह कृत्रिम भय है । 'पुन' शब्द [कृत्रिम भयके स्वाभाविक भयसे] भेदका बोधक है ।

ननु राजादि किमिति गुर्वादिभ्यो भय कृतक दर्शयति ? दशयित्वा किमिति भद्रून् गात्रकम्पनादीन् प्रदशयति ? किमिति च भयानक एव कृतकत्वमुक्तम् ? सवस्य हि कृतकत्वमुक्त भवति । यथा वेश्या धनार्थिनी कृतका रतिमादशयति । इत्याशक्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कायमिति । भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीत जानाति । मदुचेष्टिततया चाधमप्रकृतिमेन[1] न गणयति । कृतकशृङ्गाराद्वेश्योपदष्टाना[2] न काचित् पुरुषाथसिद्धि । तेनैव ह्युक्तेन प्रकारेण काय पुरुषाथविशेषो लभ्यते । यत्र तु राजा कृतकान्[3] परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन् दशयति तत्र व्यभिचारितैव तेषा न स्थायिता ।

इत्येतदथसूचिकामेव गुरुवशान्तरप्रसिद्धामार्या पठति करचरणेति—

भरत०—करचरणवेथुस्तम्भगात्रसकोचहृदयप्रकम्पनेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैभयानको नित्यमभिनेय ॥

नित्यमिति कृतकत्वेऽकृतकत्वे च ।

इति भयानकरसप्रकरणम्

अभिनव०—[प्रश्न] राजा आदि [शक्तिशाली व्यक्ति] गुरु आदिसे कृत्रिम भय क्यो दिखलाता हे ? और दिखलानेपर भी मृदु गात्रकम्पन आदिको क्यो प्रकट करता हे ? और केवल भयानक रसको ही कृत्रिम क्यो कहा है ? क्योकि ऐसे तो सभी रस कृत्रिम हो सकते है । जसे कि धन चाहने वाली वेश्या बनावटी प्रेमका प्रदशन करती हे इस प्रकारकी आशङ्का की जा सकती है ऐसा मानकर साधारण [सबमे लग जाने वाला] उत्तर देते है 'उसी प्रकार [अभिनय] करना चाहिए यह' । क्योकि [गुरुके सामने] भय प्रदर्शित करनेपर गुरु [राजाको] विनयशील समझते है । और मृदु चेष्टाओ द्वारा [भयके प्रदर्शित किए जानेसे] उसको अधम प्रकृति नहीं [उत्तम प्रकृतिका] समझते है । [इस प्रकार कृत्रिम भयसे विशेष प्रयोजनकी सिद्धि होती है] कृत्रिम शृङ्गारसे वेश्यासक्तोको किसी किसी पुरुषाथकी सिद्धि नही होती है । अपितु उसी कहे हुए प्रकारसे [अर्थात् वास्तविक रूपसे 'कार्य' अर्थात अभीष्ट पुरुषार्थविशेषकी प्राप्ति होती है । और जहापर राजा दूसरोके अनुग्रहके लिए कृत्रिम, क्रोध आदिका प्रदर्शन करता है । वहा वे [क्रोध आदि चिरकाल स्थायी न होनेसे] व्यभिचारिभाव ही होते है स्थायिभाव नहीं ।

अभिनव०—इसी अर्थको सूचित करने वाले अपने गुरुकी वशपरम्परामे प्रसिद्ध 'कर-चरण' इत्यादि [तृतीय] आर्याको पढते हैं—

अभिनव०—'नित्य' इस पदसे [भयके] कृत्रिम होनेपर और अकृत्रिम [स्वाभाविक] होनेपर [एक ही प्रकारसे अभिनय करना चाहिए] ।

भयानकरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

1 अधमप्रकृतिमेनं गणयति । 2 पदिष्टानां । 3 न कृतक ।

अथ वीभत्सरसप्रकरणम्

अवसरप्राप्त वीभत्सरस लक्षयत्यथेति—

भरत०—अथ वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक । स [1]चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च [2]सर्वाङ्गसहार-[3]मुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेग मोह-व्याधिमरणादय ।

[4]हृद्यमपि किञ्चित् कस्यचित् निसगतोऽप्रिय[5] लशुनमिव द्विजानाम् । अप्रिय [6]धात्वादिदोषात् यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम् । अचोष्य[7] स्वरूपेणादुष्टमपि मलाद्युपहितम् । अनिष्ट यत्रानिश भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता । सहार पिण्डीकरणम । मुखस्येति तदङ्गाना सङ्कोचनम् । उल्लेखनमुल्लाघ । निष्ठीवन कफनिरसनम[8] । उद्वेजन गात्रोद्धूननम ।

वीभत्सरस प्रकरण

अभिनव०—अब आगेसे अवसर प्राप्त वीभत्स रसका लक्षण करते है—

भरत०—अब जुगुप्सा [घृणा] रूप स्थायिभावात्मक वीभत्स रस होता है। और अहृद्य अप्रिय अपवित्र एव अनिष्ट [वस्तुओ] के देखने, सुनने और उद्वेजन [अर्थात] शरीरके हिलाने आदि रूप विभावोंसे उसकी उत्पत्ति होती है।

भरत०—समस्त अङ्गोके सङ्कोचन, मुखके अवयवोके सिकोडने, उल्लेखन थूकने [निष्ठीवन] और [उद्वेजन अर्थात] शरीर धुनने आदि विभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। अपस्मार [मृगी] जी मिचलाना वमनादि रूप आवेग, मूर्छा, रोग, मरण आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।

अभिनव०—[किसीकेलिए] हृद्य होनेपर भी कोई वस्तु किसी [दूसरे] केलिए स्वभावसे ही अत्यन्त अप्रिय [अग्राह्य] होती है जैसे ब्राह्मणोके लिए लहसुन। [लक्षणमे दिए हुए] अप्रिय अर्थात् [वात पित्त कफ रूप] धातुओके दोषसे [अप्रिय लगने वाली वस्तु]। जैसे कफके रोगीके लिए दूध [कफवर्धक होनेसे अप्रिय होता है]। अचोष्य अर्थात् स्वरूपसे दूषित न होनेपर भी मल आदिसे युक्त। अनिष्ट अर्थात जिस का निरन्तर भोग करनेसे [और भोग करनेकी] इच्छा नही रही है। [अनुभावो में 'सर्वाङ्गसहार' शब्दका प्रयोग हुआ है उसका अर्थ करते हैं]। सब अङ्गोका] सहार अर्थात इकट्ठा करना सिकोडना। मुखका [विकूणन] अर्थात् उसके [नाक भोंह आदि] अवयवोका सङ्कोच करना। उल्लेखन का अर्थ छर्दि [वमन] रूपसे है। कफका निकालना [थूकना] निष्ठीवन [कहलाता] है। उद्वेजन अर्थात् शरीरको हिलाना।

---

१ ड चाहृद्याप्रियापेक्षानि। व म हृद्याप्रशस्ताप्रियावेक्ष्य। २ म सर्वाङ्गसम्प्रहार। च सर्वाङ्ग सङ्कोच। ३ म मुखनेत्र विकूनेत्र। ४ हृदयस्यापि। ५ अप्रयतं। ६ जात्यादि। ७, अचोक्ष। ८ निरासन।

भरत०—अत्रानुवश्ये आर्ये भवत —

'अनभिमतदर्शनेन च [2]गन्ध-रस-स्पर्श शब्ददोषैश्च ।
[3]उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरस समुद्भवति ॥
मुख-नेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यै ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सरस सम्यगभिनेय ॥

नासाप्रच्छादन दुर्गन्धप्राये दृष्टम् । प्रतिघाताद्व्यक्तानि पादयो पतनानि । यदि वा अस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति ।

इति बीभत्सरसप्रकरणम् ।

अथाद्भुतरसप्रकरणम्

'सर्वत्रान्तेऽद्भुत ' इत्युक्त लक्षयितुमाह 'अथ' इति—

भरत०—अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मक । स च दिव्य-जनदर्शन ईप्सितमनोरथावाप्ति उपवनदेवकुलादिगमन-सभा - विमान-मायेन्द्र-जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत० — इस विषयमे वंशपरम्परासे प्राप्त दो आर्याए हैं—

भरत० अनभिमत [वस्तु] के देखनेसे गन्ध रस स्पर्श और शब्दके दोषोसे और नाना प्रकारके उद्वेग जनक अर्थोसे बीभत्स रसकी उत्पत्ति होती है ।

भरत०—मुख और नेत्रोके टढ़ करनेसे, नाकके दबानेसे, सिर झुका लेनेसे और [व्यक्त अर्थात् अलग अव्यक्त अर्थात् अलग अलग नहीं अपितु परस्पर] टकराते हुए परोंके पडनेसे बीभत्स रसका भली प्रकारसे अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त स्थलमे नाक दबाना देखा जाता है । परस्पर टकरानेके कारण अव्यक्त जो पैरोका पडना [उससे बीभत्सरसका अभिनय करना चाहिए] । अथवा हड्डी और कङ्कालोसे भरे हुए श्मशानमे घूमते हुए पुरुषके जो अस्पष्ट अर्थात् कही बहुत लम्बे और कहीं छोटे क़दमोका पडना [अव्यक्तपादपतन शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है] ।

बीभत्सरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अद्भुतरस प्रकरण

अभिनव०—'सब जगह [सब नाटकोमे] अन्तमे अद्भुत [रस रखना चाहिए]' इस प्रकार कहे हुए अद्भुत रसका लक्षण करनेके लिए 'अथ' इत्यादि कहते है—

भरत०—विस्मय स्थायिभाव स्वरूप अद्भुत रस कहलाता है। वह दिव्यजनोंके दर्शन [जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारकी] मनोवाञ्छित और [जिसकी प्राप्ति सामान्य रूप से सम्भव न हो इस प्रकारके] मनोरथकी प्राप्तिसे, उपवन देवमन्दिर आदिमे गमन, सभा विमान माया, इन्द्रजाल आदिकी सम्भावना आदि रूप विभावोसे उत्पन्न होता है ।

---

१. अनभिहित । २ रसगन्ध । ३ उद्वेजन ।

भरत०—तस्य नयन विस्तार-अनिमिषप्रेक्षण-रोमाञ्च अश्रु-स्वेद-हर्ष-साधुवाद-दान-प्रबन्धहाहाकार-बाहु-वदन-चेलागुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य ।

भरत०—भावाश्चास्य स्तम्भ-अश्रु-स्वेद-गद्गद-रोमाञ्च-आवेग-सम्भ्रम प्रहर्ष-चपलता-उन्मादश्धृति-जडता-प्रलयादय ।

दिव्या गन्धर्वादय । ईप्सित शक्यप्राप्तिरथ । अन्यो मनोरथ । तयो प्राप्तिरुपचयनम् । देवकुले च गमनम् । तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्य सरसनिवेशादि न क्वचिद् दृष्टम् । सभा गृहविशेष । विमानादीनि दिव्यरथा । माया रूपपरिवतनादिका । इन्द्रजाल मन्त्र द्रव्यवस्तु युक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदशनम् ।

तस्य इत्यद्भुतस्य । हृषशब्देनात्र तदनुभावा । साध्वितिवदन साधुवाद । दान धनादे । प्रबन्ध सतत कृत्वा हाहाशब्दस्य करणम् । चेलस्यागुलेश्च भ्रमणम् ।

भरत०—आखें फाडने, अपलक देखते रहने, रोमाञ्च अश्रु, स्वेद हष, साधुवाद, दान, निरतर हा हा शब्द करने हाथ मुख वस्त्र अगुली आदिके घुमाने, आदि कार्यो [अनुभावों] के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—स्तम्भ अश्रु स्वेद गदगद रोमाञ्च आवेग सम्भ्रम, प्रहष, चपलता, उन्माद, धति, जडता मूर्च्छा आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं ।

अभिनव०—दिव्य [जन अर्थात्] गन्धव आदि । जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारका अथ 'ईप्सित' [अथ कहलाता] है । उससे भिन्न [अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो इस प्रकारका अर्थ] 'मनोरथ' [कहलाता] हे । उन दोनोकी प्राप्ति अर्थात समीपमे आ जाना । देवकुल [मन्दिर] मे गमन, उसकेलिए अद्भुत रसका विभाव होता है जिसने वहाके जैसे सुन्दर भवन आदि नहीं देखे है । सभा विशेष प्रकारके मण्डपको कहते हैं । विमान आदि अर्थात् दिव्यरथ । रूप परिवतन आदि [की कला] माया होती है । मन्त्र, द्रव्य या वस्तु [के रखने आदि] की युक्तिसे असम्भव मालूम होती हुई वस्तुका प्रदर्शन करना इन्द्रजाल [कहलाता] है ।

अभिनव०—['तस्य अभिनय प्रयोक्तव्य' मे] 'तस्य' इस पदसे 'अद्भुत का' [ग्रहण करना चाहिए] । 'हृष'शब्द से यहां उस [अद्भुत रस]के अनुभावो [कार्यों] का ग्रहण होता है । साधु साधु इस प्रकार कहना [अर्थात् शाबाशी देना] साधुवाद है । दान अर्थात् धन आदिका दान [भी विस्मयका अनुभाव या कार्य है । क्योकि अत्यन्त अद्भुत कार्य देख कर देखने वाला राजादि प्रसन्न होकर इनाम आदि भी देता है । साधुवाद तो मिलता ही है] । निरन्तर हा हा शब्द करना [प्रसन्न और दु ख दोनोमे हा हा शब्द किया जा सकता है । यहाँ अद्भुत वस्तुको देख कर प्रसन्नतासे किए गए हा-हा शब्दका ग्रहण करना चाहिए] । वस्त्र या अगुली आदिका घुमाना [भी अद्भुत रसके अनुभाव या कार्य होते हैं] ।

भरत०—अत्रानुवश्ये आर्ये भवत —

भरत०—यत्त्वतिशयार्थयुक्त वाक्य शिल्प च कमरूप वा ।
तत्सवमद्भुतरसे विभावरूप हि विज्ञेयम् ॥
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनै स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥

अतिशेत इत्यतिशय । अन्यापेक्षया योऽथ उत्कृष्ट, तेन वाच्यभूतेन युक्त यद्वाक्य, यच्च शिल्प, कमरूप कर्मात्मक प्रशसाया 'रूपप्' । सवमित्येव प्रकार इति यावत् । स्पशग्रहशब्देन तद्विभावादय । अभिनयो वक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।
तथासगण्डयो स्पर्शात् स्पशमेव विनिक्षिपेत । २२ ८३ इति ।

गात्रस्योर्ध्व साल्हाद धूननमुल्लुकसनम् । बहुवचन प्रकृतिभेदेन प्रकारवचित्र्य सूचयति ।

इत्यद्भुतरसप्रकरणम ।

भरत०—इस [अद्भुत रसके] विषयमे वशपरम्परासे प्रसिद्ध [निम्नलिखित] दो आर्याए भी पाई जाती है—

भरत०—जो वाक्य, कला, अथवा उत्तम काय अन्योकी अपेक्षा उत्कृष्ट [लोकोत्तर] होता है वह सब अदभुत रसमे विभाव [कारण] रूप समझना चाहिए ।

भरत०—स्पशग्रहण, [२२ ८३ मे कथित स्पशसे उल्लुकसन अर्थात्] उछलने कूदने के द्वारा [प्रसन्नताके अतिरेकमे किए गए] हा हा शब्दसे साधुवाद [के वचनो] से कम्पन, गदगद वचनो और स्वेद आदिके [प्रदशन] द्वारा उस [अद्भुत रस] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—जो अन्योका अतिक्रमण कर जाय वह अतिशय [कहलाता] है । अर्थात् जो अर्थ अन्योकी अपेक्षा उत्कृष्ट हो । उसका प्रतिपादक वाक्य [तथा अतिशय युक्त] जो कला अथवा उत्तम कार्य ['कर्मरूप' इस पदमे] प्रशसा अथमे 'रूपप्' प्रत्यय हुआ है । वह सब अर्थात् इस प्रकारका सब [अद्भुत रसका विभाव होता है] यह अभिप्राय है । 'स्पर्शग्रह' शब्दसे उस [अद्भुत रस] के विभाव रूपमे आगे [२२-८३ मे] कहे जाने वाले अभिनयका ग्रहण करना चाहिए । [वह अभिनय निम्न श्लोकमे दिखलाया गया है]—

अभिनव०—आखोको तनिक सिकोड कर और भौहोको चढ़ा कर और गाल को कन्धेसे लगा कर इस प्रकार 'स्पर्श' का प्रयोग करे ।

अत्यन्त प्रसन्नतासे शरीरका ऊपर उछालना [अर्थात् उछलना कूदना] उल्लुकसन [कहलाता] है । ['उल्लुकसनै' आदि पदोमे] बहुवचनोसे भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगोमे प्रकारोंका भेद सूचित किया है ।

अद्भुतरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्रधानभूतविभावानुगुणभावप्रतिपादन भेदप्रदशनव्याजेन करोति 'शृङ्गार' इत्यादिना—

भरत०—शृङ्गार त्रिविध विद्याद् वाड-नैपथ्य-क्रियात्मकम् ।
अगनैपथ्य वाक्यैश्च हास्य-रौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ।। ५२ ।।

वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्रइति व्यवहरिष्यते । स्वभावानुसारित्वाद् वाक्यस्य ।

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भव ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविध स्मृत ।। ५३ ।।

धर्मोपघातज उत्तमानामपि, शोभनहेतुत्वात् । शोकशब्देन स्वजननाशादिज[1] । तत्रैते त्रयो विभावा । धमशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया[2] ।

दानवीर धमवीर युद्धवीर तथव च ।
रस वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ।। ५४ ।।

त्रिगुणात्मक प्रधानके अनुरूप रसोके तीन तीन भेद—

अभिनव०—'शृङ्गार' इत्यादि [४ कारिकाओ] के द्वारा [रसोके] भेद दिखलानेके बहानेसे ग्रन्थकार साख्याभियत सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप त्रिगुणात्मक प्रधानभूत [विभाव] कारणके अनुरूप तीन तीन भावोका प्रतिपादन करते हैं—

भरत०—वचनात्मक वेषात्मक तथा क्रियात्मक भेदसे शृङ्गाररस तीन प्रकारका समझना चाहिए । इसी प्रकार हास्य तथा रौद्र रस भी अङ्गोसे, वेषसे, तथा वाक्योसे [व्यक्त होनेके कारण] तीन तीन प्रकारके होते है ।। ५२ ।।

अभिनव०— रौद्र रसके भेदोमे जो 'वाक्यरौद्र' कहा है वह स्वभाव रौद्र कहा जायगा । क्योकि वाक्य तो स्वभावके अनुसार ही होता है ।। ५२ ।।

भरत०—धर्मके नाशसे, अर्थकी हानि होनेसे और [स्वजनादिके नाश रूप] शोकसे उत्पन्न होनेके कारण करुण रस तीन प्रकारका माना गया है ।५३।

अभिनव०—[५३वी कारिकाके करुणरसके भेदोमे] 'धर्मोपघातज' उत्तम कारणसे उत्पन्न होनेके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियो] मे भी होता है । [यहाँ धम नाश तो नाश तो उत्तम नहीं है परन्तु उसका मूल भूत धम रक्षाका भाव उत्तम है इसलिए इसको शोभनहेतु कहा है] । शोक शब्दसे स्वजनके नाश आदिसे उत्पन्न [करुण] का ग्रहण करना चाहिए । ये तीनो करुण रसके विभाव [कारण] होते है । धम शब्दसे अग्निष्टोम आदि क्रियाका ग्रहण होता है ।। ५३ ।।

भरत०—दानवीर, धमवीर, और युद्धवीर भेदसे ब्रह्माने वीररसके भी तीन ही प्रकार का कहा है ।५४।

---

१ शोकशब्देन स्वजनादिनाशौ चेते त्रयो विभावा । २ इसके बाद 'अत एतद्यजनादीनि नियमानुभावात्मक प्रतिनायकगत तु विभावरूपमपि' इतना पाठ अस्पष्ट है ।

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ५५ ॥

व्याजादिति कृतक इत्यथ । अनेनानुभावमादव दर्शितम । अपराद्धच तीति 'अपराधा', चोरादय । यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयाना स्त्रीबालादीना तृणेऽपि कम्पमाने भय तद्वित्रासितकम् । विशेषेण त्रास्यते इति वित्रासितो बालादि । तत्प्रकृतित्वाद् भय तथोक्तम् । तत सज्ञाया कन । गुर्वाद्यपराधात् परमाथतोऽप्युत्तमाना भयावेग इति त्वसत् । भय हि विनाशशङ्कात्मक नोत्तमेषु सम्भवति । तथा च भय नाम स्त्रीनीच-प्रकृतिकमिति सामान्येन वक्ष्यते ।

भरत०—बीभत्स क्षोभण शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयक ।
विष्ठाक्रिमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिज ॥ ५६ ॥

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्स स क्षोभणत्वाच्छुद्ध । यस्तु विष्ठादिभ्य स उद्वेगी । हृदय चालयति । सोऽशुद्ध अशुद्धविभावकत्वात् ।

भरत०—१ बहानेसे [प्रदर्शित अर्थात् कृत्रिम] २ अपराध करने वाले [चोर आदि] से तथा ३ [बाल स्त्री आदिमे] वित्रासितक इस प्रकार भयानक रस भी तीन तरहका समझना चाहिए ।५५।

अभिनव०—व्याजसे अर्थात् बहानेसे [होने वाला भय अर्थात] बनावटी । इस से अनुभावकी मदुता सूचित की है । अपराध करने वाले [अर्थात् सताने वाले] चोर आदि [यहा] 'अपराध' [कहलाते] हे । और जो स्वभावसे डरपोक स्त्री बालक आदिकोको तिनकेके हिलनसे भी भय [होने लगता] है वह वित्रासितक [नामका भयका तीसरा भेद] हे । जो विशेष रूपसे भयभीत हो जाता है वह बालक आदि 'वित्रासित' हुआ । उसमेरहने वाला होनेसे भी 'वित्रासित' हुआ । उस ['वित्रासित' शब्द] से सज्ञा अथमे ['सज्ञाया कन्' इस सूत्रसे] कन् प्रत्यय [हो कर 'वित्रासितक' शब्द बनता हे] हे । [प्राचीन टीकाकारोने लिखा है कि] गुरु आदिके प्रति अपराधके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियो] मे भी वास्तविक भयका आवेग होता हे यह कहना ठीक नही हे । क्योकि अपने विनाशकी शङ्का ही भयका स्वरूप है । वह उत्तम-प्रकृतियोमे नही हो सकता है । इसलिए स्त्री और नीचप्रकति आदिमे भय होता हे यह सामान्य रूपसे कहा जायगा । ५५ ।

भरत०—बीभत्स रस क्षोभण अर्थात् शुद्ध और उद्वगी अर्थात् अशुद्ध दो प्रकारका होता है । उनमेसे विष्ठा कृमि आदिसे [उत्पन्न होने वाला] उद्वेगी [अशुद्ध] और रुधिर आदिसे [उत्पन्न] क्षोभण [तथा शुद्ध कहलाता] है ।५६।

अभिनव०—रुधिर या आतो आदिको देखनेसे जो बीभत्स रस [उत्पन्न] होता है वह क्षुब्ध करने वाला होनेसे 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता हे । और जो विष्ठा आदिके देखनेसे उत्पन्न होता है वह उद्वेग कारक हृदय को विचलित करने वाला होता है इसलिए अशुद्ध विभावसे उत्पन्न होनेके कारण वह अशुद्ध है ।

उपाध्यायस्तत्वाह—बीभत्सस्तावद्द्विभावविशेषात् तत्र तु ससारनाट्यनायक-रागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधकस्तत्र मोक्षसाधनत्वाच्छुद्ध । यदाहु—"शौचात् स्वाङ्ग-जुगुप्सा" [योग सूत्र २-४०] इति । तथा 'विपक्षवाधने प्रतिपक्षभावनम्' [योग सूत्र २-३३] इति । तेन सोऽपि परमाथतस्त्रिविध एव । द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुलभत्वेना-प्राचुय सूचयति ॥ ५६ ॥

भरत०—दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रस ।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दज स्मृत ॥ ५७ ॥

दिव्य इति यत्र सभाविमानादयो विभावा । आनन्दयति इति 'आन द' मनोरथा-

---

अभिनव०—उपाध्याय [अर्थात् हमारे गुरु श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि [ये दोनो ही प्रकारके बीभत्स रस तो वस्तुत अशुद्ध ही हे । शुद्ध बीभत्स इन दोनोसे भिन्न होता है जो] बीभत्स रस ससारका सञ्चालन करने वाले राग [द्वेष] आदिका विरोधी होनेसे मोक्षका साधक होता हे वह शुद्ध [बीभत्स रस कहलाता] हे । [बीभत्स रस या उसका स्थायिभाव 'जुगुप्सा' भी मोक्ष साधनमे उपयोगी हे इसके सिद्ध करनेकेलिए ग्रन्थकार योग दशनके दो सूत्र उद्धृत करते है] जैसा कि [पतञ्जलि मुनिने अपने योगदशनमे] कहा हे कि 'शौच' [नियमके सिद्ध होने] से अपने शरीरसे भी घृणा हो जाती है [यह शौच, योगाङ्गोमे गिनाया गया हे । इसलिए शौचसे सम्बद्ध होनेसे जुगुप्सा भी जो कि बीभत्सरसका स्थायिभाव है मोक्षसाधनमें उपयोगी है] । और [हिसादि रूप] वितर्कोंके द्वारा [योगसाधनमे] 'बाधा उपस्थित होनेपर प्रति-पक्षकी भावना चाहिए' । इसलिए वास्तवमे वह [बीभत्सरस] भी [उक्त दो भेदोके अतिरिक्त मोक्ष साधक बीभत्स रूप तृतीय भेदके होनेसे] तीन ही प्रकारका होता हे । [कारिकामे आए] 'द्वितीयक' इस पदसे उस [मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्स रसके] दुर्लभ होनेसे न्यूनताको सूचित किया गया है ॥ ५६ ॥

योग दशनके इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जब किसी सु दरीके रूपपर साधकका मन विचलित हो तब उसके रोकनेके लिए उस सु दरीके शरीर परके चमडेको हटा देनपर जो बीभत्स रूप बन जाता है उसकी भावना करनेसे मनसे रागका नाश हो जाता है । इस प्रकार बीभत्स रस योग साधनमे अथवा मोक्ष प्राप्तिमें सहायक होता है । यह जो मोक्षमें साधक बीभत्स रस है इसको शुद्ध बीभत्स रस मानना चाहिए । और पहिले कहे हुए रुधिर दशनसे उत्पन्न तथा विष्ठादिके दशनसे उत्पन्न क्षोभण एव उद्वेगी दोनो प्रकारके बीभत्स रसोको अशुद्ध हतुओसे उत्पन्न होनेके कारण अशुद्ध ही मानना चाहिए यह ग्रन्थकारके गुरुदेव भट्टतोतका मत है । इस प्रकार पहिले दो प्रकारके 'क्षोभण' एव 'उद्वेगी' बीभत्स रसोके साथ मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्सको मिला देने पर बीभत्स रसके भी तीन भेद हो जाते हैं । इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर कहा है ।

भरत०—(१) दिव्य और (२) आनन्दज भेदसे अद्भुत रस भी दो प्रकारका कहा गया है । उनमेंसे दिव्यको देखनेसे उत्पन्न दिव्य तथा हर्षसे उत्पन्न आनन्दज [अद्भुत रस] होता है ।५७।

अभिनव०—दिव्यसे जिसमे सभा विमान आदि विभाव [अनुभाव] होते हैं

वाप्त्यादि । स एव हृषयतीति हृष ।

एषु च 'शृंगारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु 'चकारा' विभावानुभावान्तरनिरासशङ्का पराकर्तुम् । 'एवकारा' इयन्त एव तेषा मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्था । 'तथा' शब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोग योज्यम् ॥ ५७ ॥ [८२]

इत्यद्भुतरस-प्रकरणम् ।

अथ शान्तरसविचार

भरत०—अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तक । स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावै समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्म-ध्यान-धारणोपासन-सर्वभूतदया-लिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति धृति-शौच स्तम्भ-रोमाञ्चादय । अत्रार्या श्लोकाश्च भवन्ति—

भरत०—मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसयुक्त ।
नै श्रेयसोपदिष्ट शान्तरसो नाम सम्भवति ॥

[उसका ग्रहण होता है] जो आनन्द प्रदान करते है वे मनोरथ सिद्धि आदि आनन्द कहलाते है । और वे ही हर्ष प्रदान करते है इस लिए हर्ष कहलाते है ।

अभिनव०—इन 'शृङ्गार' इत्यादि श्लोकोमे आए हुए सारे चकार अन्य विभावो और अनुभावोके अभावकी शङ्काके निराकरणके लिए [अर्थात इनके अतिरिक्त अन्य विभाव उस रसके नहीं हो सकते हैं इस शङ्काके निराकरणकेलिए, अर्थात् अन्य विभाव भी हो सकते है इसके प्रतिपादन करनेकेलिए प्रयुक्त हुए] हैं । तथा उन [सब विभावो] मेसे मुख्य रूपसे इतने ही यहाँ सङ्गत होते है इस बातके दिखलानेकेलिए [चकारके बाद] 'एव' शब्दोका प्रयोग किया गया है । और यहाँ न कहे हुए [अनुक्त] विभावोका भी सग्रह करनेके लिए 'तथा' शब्दोका प्रयोग किया गया है यह बात यथायोग समझ लेनी चाहिए ॥ ५७ [८२] ॥

यह अद्भुत रसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ शान्तरसविचार

भरत०—शम स्थायिभाव स्वरूप और मोक्षका सम्पादक शान्त रस होता है । वह तत्त्वज्ञान वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावो [कारणों] से उत्पन्न होता है । यम, नियम, अध्यात्म-ध्यान धारणा, उपासना, सब प्राणियोपर दया, [लिङ्गग्रहण अर्थात्] सन्यास धारण, आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । निर्वेद, स्मृति, धृति शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि उसके व्यभिचारिभाव है इस विषयमे [निम्नाङ्कित] आर्या और श्लोक भी [परम्परासे प्रसिद्ध] हैं ।

भरत०—मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कारका जनक [मोक्षाध्यात्मयो समुत्थान यस्मात् स मोक्षाध्यात्मसमुत्थ] तत्त्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, मोक्ष प्राप्तिकेलिए उपदिष्ट शान्त नामका [नवम] रस होता है ।

---

१ अ म ब पुस्तकेषु शान्तरस प्रकरण नास्ति ।

भरत०—बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियसरोधाध्यात्मसरिथतोपेत ।
सर्वप्राणिसुखहित शान्तरसो नाम विज्ञेय ॥
यत्र न दुख न सुख न द्वेषो नापि मत्सर ।
सम सर्वेषु भूतेषु स शान्त प्रथितो रस ॥
भावा विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिमत ।
विकार प्रकृतेर्जात पुनस्तत्रव लीयते ॥
स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद भाव प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
एव नवरसा दृष्टा नाटयज्ञैलक्षणान्विता ॥

ये पुनर्नवरस रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । यत्र केचिदाहु

भरत०—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके निरोध करने वाले और आत्मनिष्ठ [साधक] के द्वारा प्राप्य, समस्त प्राणियोके लिए सुखकर एव हितकर शान्त रसको समझना चाहिए ।

भरत०—जहा न दुख रहता है न सुख न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या रहती है । समस्त प्राणियोमे समभाव वाला वह शान्त रस प्रसिद्ध माना गया है ।

भरत०—[शृङ्गार आदि अन्य सब रसोके] रत्यादि स्थायिभाव विकार रूप हैं और शान्त रस [उन सबका] प्रकृति रूप है । विकार [अर्थात् शृङ्गार आदि अन्य सब रस] प्रकृति [अर्थात् शान्त रस] से उत्पन्न होते हैं और अन्तमे फिर उसीमे लीन हो जाते हैं ।

भरत०—अपने अपने [अनुरूप विभावादि] निमित्तोके प्राप्त होनेपर शान्त रससे ही [रत्यादि] भाव उत्पन्न होते है और निमित्तका अभाव हो जानेपर फिर शान्तमे ही लीन हो जाते है ।

भरत०—इस प्रकार नाट्यशास्त्रके जानने वालोंने [शान्त रसको मिलाकर] नौ रस माने है ।

इस प्रकार मूल ग्रन्थमें भरतमुनिने 'शान्तरस' का विवेचन किया है । इस शान्तरसके विषयमे प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । कुछ लोग शान्तरसको मानते ही नही है । कुछ लोगोका मत है कि शान्तरस हो भी तो नाटकमें उसका अभिनय नही किया जा सकता है इसलिए काव्यमे भले ही शान्तरस मान लिया जाय पर नाटकमे उसका मानना उचित नही है । जो लोग शान्तरसको मानते हैं उनमें भी उसके स्थायिभावके विषयमे कुछ मतभेद पाया जाता है। इसी सब विषयके स्पष्टीकरणके लिए अभिनवभारतीकारने विशेष रूपसे 'शान्तरस विचार' नामसे इस प्रकरणका आरम्भ किया है । पहिले वे शान्तरसके मानने वालोके पक्षका सामान्य रूपसे निरूपण करेंगे । उसके बाद पूर्वपक्षियोकी ओरसे शान्तरसका खण्डन करेंगे । उसके बाद फिर सिद्धान्त रूपसे शान्तरसकी स्थापना करेंगे । फिर उसके बाद शान्तरस के स्थायिभावके विषयमें बहुत विस्तारके साथ विवेचना करेंगे । यह इस प्रकरणकी विषय योजना है । सबसे पहिले शान्तरस का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जो लोग नौ रस मानते है उनके मतसे [नवम] शान्तरसका स्वरूप कहते हैं—उनमेसे कुछ यह कहते हैं कि—शान्तरस शमस्थायिभाव स्वरूप है ।

शान्त शमस्थायिभावात्मक । तपस्या-योगिसम्पर्कादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य काम-क्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनय । व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिरिति ।

एतदपरे न सहन्ते । (१) शम शान्तयो पर्यायत्वात् । (२) एकोनपञ्चाशद् भावा इति सख्यात्यागाच्च । (३) किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्तत्समनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम् । तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य शमस्य हेतव ।

तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्, पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीना शमविभावता त्यक्ता स्यात् । कामाद्यभावोऽपि नानुभाव, [1]शान्तविपक्षाद्व्यावृत्ते, अगमकत्वात् ।

तपस्या और योगिसम्पर्क आदि रूप विभावोसे उत्पन्न होता है । काम क्रोध आदिके अभाव रूप अनुभावोसे उसका अभिनय करना चाहिए । धृति, मति आदि उसके व्यभिचारिभाव होते है ।

अभिनव०—[शान्तरस विरोधी] दूसरे लोग इसको नहीं मानते हे । [शान्त-रसको न माननेमे वे निम्न हेतु प्रस्तुत करते है] (१) शम और शान्त दोनो समानार्थक शब्द है [परन्तु शान्तरसवादी उनमेसे 'शम' को स्थायिभाव और 'शान्त' को रस मान कर उनमे भेद करते हे । यह उचित नही है । यह शान्त रस विरोधियोकी उसके खण्डनमे प्रथम युक्ति है] । (२) [दूसरी युक्ति वे यह देते है कि जहाँ भावोकी गणना की गई हे उनमे उननचास ४९ भावोका प्रतिपादन किया गया हे । अब यदि शान्त रसको भी मानते है तो उसका एक स्थायिभाव 'शम' और बढ़ कर ५० भाव हो जाते हे । जिससे] उननचास [भाव है] इस सख्याका परित्याग हो जानेसे भी ['शम' को स्थायिभाव और शान्त रसको रस मानना उचित नही है] । (३) [और तीसरा हेतु यह भी हे] कि ऋतु माल्य आदि विभाव अपने बादमे उत्पन्न होने वाले शृङ्गार आदि [रस] मे [कारण रूपसे] प्रतीत होते है किन्तु तप और स्वाध्याय आदि [उत्तरवर्ती] शान्त या शममे [कारण रूपसे] प्रतीत नही होते है ।

अभिनव०—[तप अध्ययन आदि] तत्त्वज्ञानके साक्षात् समनन्तर भावी हेतु है । यह कहो तो [शमसे] पहले उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानके प्रति कारण होनेसे शमके प्रति तप और अध्ययन आदिकी विभावता नहीं रहती हे । [शम या शान्त रसके प्रति साक्षात् कारण न होनेसे तप स्वाध्याय आदिको शम या शान्त रसका विभाव नहीं कहा जा सकता है] । और कामादिके अभावको [शान्तरसका] अनुभावभी नही कहा जा सकता है । शान्तसे भिन्न [शान्तके विपक्ष वीर आदि अन्य रसोमे भी काम आदिके अभावके विद्यमान होनेके कारण उन] से व्यावृत्त [अलग] न होनेसे [शान्तरसका] बोधक न होनेके कारण [कामादिका अभाव शान्त रसका अनुभाव नहीं हे] ।

---

१ शान्ताद्विपक्षात् ।

(४) प्रयोगासमवायित्वाच्च । न हि चेष्टाव्युपरम प्रयोगयोग्य । सुप्तमोहाद-योऽपि नि श्वासोच्छ्वास-पतन-भूशयनादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्य ते । (५) धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपभोग कथ शान्ते स्यात् । (६) न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपायो[1] व्युत्पाद्यते । (७)[2]विनेयाश्चैते परदु खदु खितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दशनसमावस्था प्राप्ता अपि तु ससारे । तन्न शान्तो रस इति ।

इसका यही अभिप्राय हुआ कि कामादिके अभावका शा त रसका अनुभाव माननेका अथ उनको शा तरसका काय मानना है । पर तु उनको शा तरसका काय तब माना जा सकता है जब कि शा तरसके साथ उनका अ वय व्यतिरेक बन सके । अर्थात् शा तरसके होनपर ही कामादिका अभाव हो और शा तरसके न होने पर कामादिका अभाव न हो । इस प्रकारका अ वय व्यतिरेक घटनेपर ही शा तरसको कामादिके अभावका कारण माना जा सकता है । इनमेस शा तरसके होनेपर कामादिका अभाव हो यह अ वय तो बन जाता है । पर तु शा तरसके न होनेपर कामादिका अभाव न हो यह व्यतिरेक नही बनता है । क्योकि शा तरसके न होनेपर भी वीर आदि रसोमें भी कामादिका अभाव विद्यमान रहता है । इसलिए विपक्ष व्यावृत्ति नै होनेके कारण अनुमापक न होनेसे कामादिके अभावको शा तरसका अनुभाव नही कहा जा सकता हे । इसलिए विभाव अनुभाव आदि सामग्रीका उपपादन न हो सकनेके कारण शा तरसको स्वीकार करना अनुचित है ।

इसके समथन मे आगे चौथी युक्ति और भी देते हैं—

अभिनव०—(४) [शान्त रसका प्रयोग अर्थात] अभिनयमे समावेश नही किया जा सकता हे । क्योकि [किसी प्रकारका व्यापार चेष्टा आदि न करना ही 'शम' कहलाता है परन्तु] चेष्टाके अभावका अभिनय करना सम्भव नही है । सोना और मूर्छा आदि [जिनको लोकमे चेष्टा रहित स्थिति कहा जाता हे उन] का भी श्वास प्रश्वास [द्वारा शयनका] और गिरने या पृथ्वीपर सोने आदि रूप चेष्टाओके द्वारा ही [नाटकमे] अनुभव कराया जाता है । [इसलिए व्यापार शून्यता रूप 'शम' का अभिनय सम्भव नही है । अत शान्त रस नही मानना चाहिए] । (५) [इसके समर्थनमें पाचवी युक्ति यह भी है कि शान्त रसके जो धृति आदि व्यभिचारिभाव कहे गए हैं वे भी नहीं बन सकते हैं । क्योकि] विषयोका उपभोग करनेसे उत्पन्न तृप्ति रूप धृति शान्तरसमे कैसे हो सकती है ? (६) [छठी युक्ति यह है कि शम प्रधान पुरुष तो चेष्टा रहित हो कर बैठे रहेगा । उस] अकिञ्चित्कर पुरुषके द्वारा तत्त्वज्ञानके उपायोंका अनुष्ठान भी सम्भव नही है [इसलिए तत्त्वज्ञानके न होनेसे शान्त रस मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति भी उसको नहीं हो सकती है] । (७) [इसीके समर्थनमे सातवी युक्ति यह देते हैं कि आप शान्तरसको सुख दु खसे रहित मानते हैं परन्तु शान्तरसके] 'एते विनेया.' ये साधक तत्त्वज्ञानकी स्थितिको प्राप्त हो चुकनेपर भी ससारमें दूसरोके दु खसे दु खी होते हुए देखे जाते हैं । इसलिए शान्तरस नही [माना जा सकता] है ।

---

१. उपाये ।　　　२ विनेये ।

अत्रोच्यते—इह तावद् धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थ शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम् । यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्या कविनटव्यापारेण अस्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसवादवत सामाजिकान् प्रति रसत्व श्रृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्ति किमिति रसत्व नानीयते इति वक्तव्यम् ? या चासौ तथाभूता चित्तवृत्ति सैवात्र स्थायिभाव ।

शान्तरसवादी सिद्धान्त पक्ष—

इस प्रकार विगत अनुच्छेदमें शान्तरसको न मानने वालोके पक्षकी सात युक्तियोका उल्लेख कर ग्रन्थकारने पूर्वपक्षको प्रस्तुत किया था। अब अगले अनुच्छेदमे सामान्य रूपसे शान्तरस की सत्ता सिद्ध करनेका प्रयत्न करते है—

अभिनव०—इस [शान्तरस विरोधी पूर्वपक्षके उपस्थित होने] पर [उसके समाधानार्थ] कहते है कि—इस ससारमे जैसे धम आदि तीन [अर्थात धम, अर्थ, और काम] पुरुषार्थ माने जाते हैं इसी प्रकार शास्त्रोमे स्मृतियो एव इतिहास आदिमे मोक्ष भी [चौथा] पुरुषार्थ उपायोके द्वारा बतलाया जाता है यह प्रसिद्ध है। और जसे काम आदिके योग्य रति आदि शब्दोसे निर्दिष्ट चित्तवृत्तिया कवियो और नटोके व्यापार द्वारा उस प्रकारकी हार्दिक भावनाओ वाले [सहृदय] सामाजिकोके प्रति श्रृङ्गार आदिके रूपमे आस्वादन योग्य बनाई जा कर रसत्वको प्राप्त होती है। इसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थके योग्य [शम रूप] चित्तवृत्ति [आस्वादयोग्य] रसत्वको क्यो प्राप्त नही कराई जायगी यह बतलाना चाहिए ? और यह जो [मोक्ष रूप पुरुषार्थकी साधक] चित्तवृत्ति है वही यहाँ [शान्त रसमे] स्थायिभाव है।

अर्थात् कामादि पुरुषार्थोके अनुरूप, रत्यादि चित्तवृत्तियाँ कवियो और नटोके व्यापारसे सहृदयोके आस्वादन योग्य होकर श्रृङ्गारादि रसके रूपमें अनुभूत होती हैं। इसी प्रकार मोक्ष रूप परम पुरुषार्थकी साधक 'शम' रूप चित्तवृत्ति भी कवि और नटके व्यापारके द्वारा आस्वाद योग्य होकर रसत्वको प्राप्त होती ही है। इसलिए शान्तरसको भी अवश्य ही मानना होगा।

शान्तरसका स्थायिभाव—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने शान्तरसके विरोधियोके मतका खण्डन करके शान्तरसकी सत्ता सिद्ध की है। परन्तु अभी इस प्रकरणका सबसे मुख्य प्रश्न शेष रह जाता है। वह प्रश्न यह है कि शान्तरसका स्थायिभाव कौन है ? ग्रन्थकार इसकी विवेचना आगे करेंगे। इसीलिए इस अनुच्छेदके अन्तमें शान्तरसके स्थायिभावका स्पष्ट रूपसे नाम न लेकर ग्रन्थकारने 'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्ति सैवात्र स्थायिभाव' यह सामान्य रूपसे शान्तरसके स्थायिभावका निर्देश किया है। अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार इस विषयकके अनेक मतोका उल्लेख करनेके बाद अपने मतकी स्थापना करेंगे। (१) तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायिभाव है यह मत सबसे अधिक मान्य मत है। परन्तु ग्रन्थकार उससे सहमत नही है। इसलिए उन्होने सबसे पहिले इस मतको प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। (२) उसके बाद रति आदि आठो स्थायिभावोमेंसे कोई भी एक शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है इस मतका उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। (३) उसके बाद वे आठो स्थायिभाव ठण्डाई आदि के मिले जुले पानकरसके समान एक साथ मिल कर

एतत्तु चिन्त्य किन्नामासौ । तत्त्वज्ञानोत्थितो 'निर्वेद' इति केचित् । तथाहि—(१) दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेद स ततोऽन्य एव । हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदथमेनाय पठित । अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत् । जुगुप्सा च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावाना सर्वेषामेव स्थायित्व-सञ्चारित्वेऽनुजानाति[1] ।

शान्तरसके स्थायिभाव होते हैं इस मतका उल्लेख तथा खण्डन किया गया है । अन्तमे ग्रन्थकारने स्वय साक्षात् मोक्षका साधक होनेसे शम को ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद को शान्तरसका स्थायिभाव सिद्ध करनेके लिये दो युक्तिया दी हैं । उनकी पहिली युक्ति यह है कि भरतमुनिने व्यभिचारिभावो के आरम्भमें जो सबसे पहिले निर्वेदको स्थान दिया है वह उसके स्थायिभावत्वके सूचनके लिए है । दूसरी युक्ति यह है कि तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद अन्य सब स्थायिभावोका उपमर्दन कर देता है । इसलिए वह सबसे बडा मुख्यतम स्थायिभाव है । इन्ही युक्तियोको आगे दिखलाते हैं—

निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन—

अभिनव०—विचारना तो यह है कि इस [शान्तरसके स्थायिभाव] का क्या नाम है । कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायिभाव है ? (१) क्योकि दारिद्र्य आदिके कारणसे उत्पन्न जो निर्वेद है वह उस [शान्तरसके स्थायिभाव रूप] निर्वेद से भिन्न ही होता है । तत्त्वज्ञान रूप कारणके भिन्न होनेसे । [वही तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद मोक्षका कारण है] इसीलिए भरत मुनिने उसे स्थायी तथा सञ्चारी भावोके बीचमे पढा है । [अर्थात् स्थायिभावोके बाद जब व्यभिचारिभावोकी गणना कराई है तब ३३ व्यभिचारिभावोमे भरतमुनिने सबसे पहिले 'निर्वेद' को गिनाया है । इसका कारण यही है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तरसका स्थायिभाव तथा मोक्ष साधन है । इसीसे भरतमुनिने व्यभिचारिभावोमे उसको सबसे पहले स्थान दिया है । यदि तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद दरिद्रयादि जन्य निर्वेदसे भिन्न और मोक्षका साधन न होता तो] अन्यथा मङ्गलकी कामना करने वाले भरतमुनि [illegible] [व्यभिचारिभावोके आरम्भमे निर्वेदको] न पढ़ते । [इसपर शङ्का यह हो सकती है निर्वेद तो अन्य रसोमे व्यभिचारिभाव माना गया है और मुनिने स्वय भी व्यभिचारिभावोमे ही उसकी गणना की है तब आप उसको स्थायिभाव कैसे कह सकते है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्तिमे इस प्रकार देते है कि बीभत्स रसके स्थायिभाव रूप] जुगुप्साका शृङ्गारमे व्यभिचारिभावत्वका निषेध करते हुए मुनि सभी स्थायिभावोका [अपने रसमे] स्थायिभावत्व तथा [अपनेसे भिन्न अन्य रसोमे] व्यभिचारिभावत्व [रूप दोनो स्थितियो] को स्वीकार करनेकी अनुमति देते है ।

१ स्थायित्वसञ्चारित्वयोश्चित्तानतावत्वानुभावस्थत्वाभियोग्यत्वोपनिपतिता निषद्धार्थ-बलाकृष्टान्यानुजानाति ।

(२) तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेद स्थाय्यन्तरोपमदक । भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो य परमस्थायिशील स एव हि स्थाय्य तराणामुपमदक ।

इदमपि पयनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्त स्यात् । वैराग्यबीजादिषु कथ विभावत्वम् । तदुपायत्वादिति चेत्, कारण,-कारणेऽय विभावताव्यवहार, स चातिप्रसङ्गावह ।

किञ्च निर्वेदो नाम सवत्रानुपादेयता प्रत्ययो वैराग्यलक्षण । स च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तोपयोगी । विरक्तो हि तथा प्रयतते यथास्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते । तत्त्वज्ञानाद्धि

अर्थात् एक रसका स्थायिभाव भी दूसरे रसमे व्यभिचारिभाव हो सकता है इस बात को भरतमुनिने भी स्वीकार किया हे । इसीलिए उ होन यह कहा है कि शृङ्गार रसमें जुगुप्साको व्यभिचारिभावके रूपमे अङ्कित नही करना चाहिए । अ यथा जुगुप्साका शृङ्गाररसमें व्यभिचारि भावके रूपमे निषेध करना ही सङ्गत नही हो सकता था । इसलिए निर्वेद को स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव दोनो माननेमे कोई हानि है । फलत तत्त्वज्ञान ज य निर्वेद ही शा त रसका स्थायिभाव है । यह इस मतके मानने वालोका सिद्धा त है ।

अभिनव०—(२) और तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद [केवल स्थायिभाव ही नहीं है अपितु वह रत्यादिरूप] अ य स्थायिभावोका मदन करने वाला भी है । व्यभिचारिभावोके वचित्र्यको सहन करने वाले रति आदिसे भी जो अधिक स्थायी स्वभाव वाला है वही [निर्वेद] अन्य स्थायिभावोका विमदक होता है । [इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद ही शा त रसका स्थायिभाव है यह सिद्ध हुआ] ।

इस मतका खण्डन—

अभिनव०—[दूसरे लोग] इसपर भी आक्षेप करते हैं—[उनका कहना यह है कि] तत्त्वज्ञानसे ज य निर्वेद इस [शा तरस] का स्थायिभाव है यह कह कर तत्त्वज्ञान ही उसका [एकमात्र] कारण हे यह मानलिया गया है । [मोक्षका कारण वैराग्य है । तत्त्वज्ञान वैराग्यका कारण या बीज है । उस वैराग्यके मूलभूत तत्त्वज्ञानको मोक्षका साक्षात् कारण नही माना जा सकता है यह अभिप्राय है । इसी बातको कहते है] वैराग्यके बीज [तत्त्वज्ञान] आदिमे [शान्तरसका] विभावत्व [कारण] कसे बनेगा ? [परम्परया] उसका उपाय होनेसे [वैराग्यबीज तत्त्वज्ञान आदिमे विभावत्व होता हे] कहो तो, कारणके कारण [अर्थात् परम्परित कारण] मे यह विभावत्व व्यवहार होता है और वह अतिव्याप्ति दोषका जनक है [इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेदको स्थायिभाव नही मानना चाहिए] ।

अभिनव०—दूसरी बात यह भी है कि सब विषयोमे अग्राह्यता बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य स्वरूप हे । वह तत्त्वज्ञानका विलोम रूपसे उपयोगी है । [अनुलोम रूपसे नही] क्योकि विरक्त [पुरुष] ऐसा यत्न करता हे जिससे उसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है । और तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है । [इस प्रकार पहिले वैराग्य होता है फिर तत्त्वज्ञान] न कि तत्त्वको जान कर [अर्थात् तत्त्व-

मोक्षो, न तु तत्त्व ज्ञात्वा निर्विद्यते, निर्वेदाच्च मोक्ष इति।

'वैराग्यात् प्रकृतिलय' इति तत्रभवन्त । [सांख्य का० ४५]

ज्ञान होनेके बाद] निर्वेदको प्राप्त होता है और निर्वेदसे मोक्ष होता है। [अर्थात् निर्वेदसे या वैराग्य तत्त्वज्ञानका कारण होता है कार्य नही। वैराग्यसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है न कि तत्त्वज्ञान से वैराग्यकी उत्पत्ति होती है। अत तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य या निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव कहना सङ्गत नही है]।

अभिनव०—[इसीलिए आत्मज्ञान रहित केवल] वैराग्यसे प्रकृतिलय प्राप्त होता है यह परमपूज्य [ईश्वरकृष्ण] ने कहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य योग आदि दर्शनोमे जहाँ मोक्षका वर्णन आया है उसके साथ वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्व की दो अन्य दशाओका भी उल्लेख मिलता है। सासारिक विषयोके दोषोको देख कर साधक उधरसे विरक्त होकर योगमार्गकी साधनामें प्रवृत्त होता है। और तप आदिका अनुष्ठान करता है। जिस साधकको सद्गुरुके उपदेशसे तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म साक्षात्कार हो जाता है वह अपनी इस साधनाके फल रूपमे मोक्षको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो अज्ञानवश आत्माके बजाय मूल प्रकृतिको या उससे बने किसी विकार रूप अनात्म वस्तुको आत्मा मान कर उपासना या साधना आदि करने लगता है उसको तत्त्वज्ञान न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती है। ऐसा व्यक्ति मरनेके बाद अपनी साधनाके कारण विदेह या प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मूल प्रकृतिको आत्मा मान कर साधना करता है वह मरनेके बाद 'प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। और जो व्यक्ति महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, पञ्च स्थूलभूत अथवा इन्द्रिय आदि विकारोको आत्मा मानकर चलता है वह मरनेके बाद 'विदेह' नामसे कहा जाता है। यह विदेह' तथा प्रकृतिलीन' का लक्षण किया गया है। जीवन कालमें जिस प्रकारकी साधना मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषने की है उसी प्रकारकी साधना 'विदेह' तथा प्रकृतिलीन' पुरुष भी करते हैं। परन्तु उन दोनोके फलोमे इस कारण भेद रहता है कि उनमेंसे एकको तत्त्वज्ञान हो गया है और शेष दो को तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म साक्षात्कार नही हुआ है। इसलिए जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है या जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है वह मोक्षका अधिकारी हो जाता है। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है अपितु किसी अनात्मा वस्तुको ही अज्ञान वश आत्मा मानकर जिसने साधना की है वह मोक्षका अधिकारी नही होता है। फिर भी उस साधनाके कारण उस मोक्षसे कुछ भिन्न नियत काल तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव होता है। 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' पुरुष निर्धारित समय तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव करके फिर ससारमे आते हैं। ऐसा सांख्य आदिमें वर्णन मिलता है। इन तीनोको प्रारम्भमें वैराग्य होता है। उसके बाद जिसको वैराग्यसे तत्त्वज्ञान हो जाता है उसको मोक्ष हो जाता है। और जिसको तत्त्वज्ञान नही होता वह 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' अवस्था को प्राप्त होता है इसलिए सांख्यादिमें तत्त्वज्ञानसे रहित केवल वैराग्यको 'प्रकृतिलय' का कारण बतलाया है। इसी बातको यहा ग्रन्थकारने "वैराग्यात् प्रकृतिलय इति हि तत्रभवन्त" इस पंक्तिके द्वारा कहा है।

इसपर तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेदको ही शांत रसका स्थायिभाव माननेवाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि—

ननु तत्त्वज्ञानिनि सवत्र दृढतर वैराग्य दृष्टम् । तत्रभगवद्भिरप्युक्त—'तत् पर पुरुषख्यातेगु णवैतृष्ण्यम्' इति । [योगसूत्र १–१६] ।

भवत्येव, तादृश तु वैराग्य ज्ञानस्यैव परा काष्ठा इति, भुजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि [योग व्यासभाष्य १–१६] । ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेद तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेद स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत् । यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये 'तत् सम्यग ज्ञानम् । यथा—

> वृथा दुग्धोऽनडवान् स्तनभरनता गौरिति पर
> परिष्वक्त षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहित ।
> कृता वदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
> मया मूढेन त्वा कृपणमगुणज्ञ प्रणमता ॥

अभिनव०—[प्रश्न] तत्त्वज्ञानीको सवत्र ही दृढतर वैराग्य होता देखा जाता हे । इसीलिए पूज्य पतञ्जलि मुनिने [अपने योगदशनमे] कहा है कि—आत्माका ज्ञान हो जानेपर गुणो [अर्थात प्राकृतिक पदार्थो] के प्रति जो तृष्णाका अभाव होता हे वह 'पर वराग्य' कहलाता है । [अत तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वराग्यको मोक्षका कारण, एव शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई दोष नही है] ।

अभिनव१—[उत्तर—] यह बात ठीक है किन्तु उस प्रकारका वराग्य तो ज्ञानकी ही पराकाष्ठाका नाम हे यह बात भी स्वय [भुजगविभु, नागराज, शेषनागके अवतार, अर्थात] पतञ्जलि मुनिने कही है । इसलिए तत्त्वज्ञानकी शृङ्खला द्वारा परिपोषित होने वाला तत्त्वज्ञान ही यह परवैराग्य होता है इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नही हे । किन्तु तत्त्वज्ञान ही [शान्तरसका] स्थायिभाव है । और जो व्यभिचारिभावोकी व्याख्याके प्रसङ्गमे [सप्तमाध्याय बडोदा सस्करण पृ० ३६५ पर तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्तिकी बात] कहेगे वह चिरकाल तक भ्रान्तिके कारण धोखा खाने वालेकी [विषयभोगादिमे] उपादेयता बुद्धिके दूर करनेकेलिए ही उसको [निर्वेदके कारणको] तत्त्वज्ञान कहाहै । जैसे कि—

अभिनव०—गुणोको न पहिचानने वाले और कृपण आपको [फलकी आशासे प्रतिदिन] अपनी मूखतावश प्रणाम करके मेने अयनके भारसे झुकी हुई गाय समझ कर [अब तक] व्यथ ही बैलको दुहनेका यत्न किया, लावण्य रहित नपु सकको युवती समझकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणोको प्रतिफलित करने वाले काचके टुकडेमें व्यर्थ ही वैदूर्यमणिकी आशा की ।

---

१ वद् ।

इति । तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य [1]विभावत्वेन । एतच्च तत्रैव वक्ष्याम ।

ननु मिथ्यज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात् प्रशाम्यतीति दु खजन्म–सूत्रेण अक्षपादैर्वदद्भि । मिथ्याज्ञानापचयकारण तत्त्वज्ञान वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम् ।

ननु तत किम् ?

ननु वैराग्य निर्वेद ।

अभिनव०—यह [जो गौण रूपसे तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण बतलाया है] वह [मोक्षके साधक निर्वेदके प्रति नही अपितु] खेद रूप निर्वेदके विभाव [कारण] रूपमे ही कहा है। यह बात वही [व्यभिचारिभावोके व्याख्यानके प्रसङ्गमे बडोदा सस्करण पृ० ३६५ पर] कहेगे। [इसलिए तत्वज्ञान जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव मानना उचित नही है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है]।

इसपर तत्वज्ञान जन्य निर्वेदको ही शान्तरसका स्थायिभाव मानने वाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है। पहिले उसने योग दर्शनके 'तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इस सूत्रके आधार पर तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण सिद्ध करनेका यत्न किया था। उसका समाधान ग्रन्थकारने यह कर दिया कि वहा 'ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम' अर्थात ज्ञानकी परा काष्ठाको ही वैराग्य कहा गया है। इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद नही अपितु स्वय तत्त्वज्ञान ही मोक्षके प्रति कारण है। अबकी बार पूर्वपक्षी न्यायदर्शनके 'दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग' इस सूत्रके आधारपर तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण सिद्ध करनेका यत्न करता है। इस सूत्रका अर्थ यह कि तत्त्वज्ञानसे पहिले मिथ्याज्ञानका नाश होता है। उस मिथ्याज्ञानके नाश होने राग द्वेष आदि दोषोका नाश होता है। उसके बाद प्रवृत्ति अर्थात् धर्म अधर्मका नाश और उससे जन्मका नाश होनपर दु खका नाश होता है वही मोक्ष होना है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से मिथ्यज्ञानका नाश और उससे जो दोषका नाश रहा है इसीसे तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण माना जा सकता है। क्योकि मिथ्याज्ञानका नाश रूप तत्त्वज्ञान है और दोषनाश रूप वैराग्य है। अत तत्त्वज्ञान को वैराग्यका कारण मानना सर्वथा उचित ही है। इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्यको मोक्षका कारण एव शान्तरसका स्थायिभाव माननमे कोई दोष नही आता है। पूर्वपक्षीके इसी भावको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि—

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य माननेवाले पूर्वपक्षका प्रश्न] मिथ्यज्ञान मूलक विषयोके साथ सम्बन्ध [रागादि] तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है यह बात कहते हुए अक्षपाद [गौतममुनि] ने 'दु खजन्मप्रवृत्ति' इत्यादि [१ १-२] सूत्रमे मिथ्याज्ञानके विनाशक तत्त्वज्ञानको दोषाभाव रूप वैराग्यका कारण कहा है।

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य न माननेवाले सिद्धान्तीका प्रतिप्रश्न] उससे क्या हुआ ?

अभिनव०—[पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि] वैराग्य ही तो निर्वेद है [इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई दोष नही रहता है]।

---

१ भावत्वेन ।

क एवमाह ? निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेष । वैराग्य तु रागादीना प्रध्वस ।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदस्तथापि तस्य स्वकारणवशात् मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयता । इति प्रतिपादितचरम्[1] ।

किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेद 'निर्वेद' इति नाम कृत स्यात् । शमशान्तयो पर्यायत्व तु हासहास्याभ्या व्याख्यातम् । सिद्ध साध्यते लौकिकालौकिकत्वेन । साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्य शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेद स्थायीति ।

अभिनव०—[सिद्धान्तीका प्रति प्रश्न] यह कौन कहता है ? [कि निर्वेद और वैराग्य एक ही बात है । ये दोनो बिल्कुल अलग अलग है क्योकि] शोक प्रवाहके प्रसार रूप चित्तवृत्ति विशेषका नाम 'निर्वेद' है [वह भावरूप है] और वैराग्य तो रागादिका प्रध्वस [अभाव] रूप है [अत निर्वेद तथा वैराग्य एक बात नही अपितु बिल्कुल भिन्न पदार्थ है] ।

अभिनव०—अथवा [यदि दुर्जनतोषन्यायसे] वैराग्यको ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण [अर्थात मिथ्याज्ञानके नाश] से उत्पन्न उस [दोषाभाव रूप वैराग्य] के [तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिमे दुख जन्म प्रवृत्ति-दोषके नाशकी जो शृङ्खला उक्त सूत्रमे दिखलाई गई है उस शृङ्खलाके] बीचमे [मिथ्या ज्ञानके नाशके बाद] होने वाले उस [वैराग्य] को मोक्ष रूप फलकी सिद्धिमे [सूत्रस्थानीयता अर्थात] साक्षात् कारण नही माना जा सकता है । यह बात कही जा चुकी है ।

शान्तका स्थायिभाव 'शम'—

अभिनव०—और [इसमे यह दोष भी आजाता है कि] 'तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्ति होती है' ऐसा कहनेसे 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' हो जाता है । [इसलिए 'निर्वेद' के बजाय 'शम' को ही शान्त रसका स्थायिभाव मानना चाहिए । यह सिद्धान्त पक्ष है] । शम और शान्त दोनो पर्यायवाचीशब्द है यह [दोष यदि उठाया जाय तो] हास्य और हास शब्दोकी [पर्यायता] से ही उसका परिहार हो चुका है । [अर्थात् जैसे 'हास' को अपने समानार्थक 'हास्य' का स्थायिभाव माननेमे कोई आपत्ति नही है । इसी प्रकार 'शम' को उसके समानार्थक शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए] । सिद्ध साधनता [पिष्ट पेषण नामक दोषका निराकरण स्थायिभावके] लौकिक तथा [रसके] अलौकिक होनेसे हो जाता है । [इन दोनोमेसे एक अर्थात् स्थायिभावके] असाधारण तथा [दूसरे अर्थात रसके] साधारण [अर्थात् सामाजिकमात्र द्वारा आस्वादन-योग] होनेसे शम और शान्तमे वैलक्षण्य [अर्थात् भेद] भी है । इसलिए निर्वेद [शान्तरसका] स्थायिभाव नही है [अपितु 'शम' शान्तरसका स्थायिभाव है] ।

1 तात्पर्याचारीव ।

अन्ये मन्यन्ते—रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ता । त एव कथितविभाव-[1]विविक्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत । ततश्च तन्मध्यादेवा-न्यतमोऽत्र स्थायी । (१) [2]तत्राव्याहतानन्दमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव[3] शान्ते स्थायिनीति । यथोक्तम्—

> यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
>
> आत्मन्येव च स तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते । इति [गीता ३–१७]

(२) एव समस्तविषय वैकृत पश्यतो, (३) विश्व च शोच्य विलोकयत,

रत्यादि अन्यतमके शान्तके स्थायिभावत्वका उपपादन—

अभिनव०—दूसरे लोगोका यह कहना है कि—रति आदि रूप आठ प्रकारकी चित्तवृत्ति विशेष [स्थायिभाव] ही पहिले कहे है। वे ही पहिले कहे हुए [शृङ्गारादिमे उपयोगी] विभावोसे भिन्न, श्रुत [अध्यात्मचर्चा] आदि रूप [शान्तरसोपयोगी] अलौकिक विभावविशेषके सहारेसे [शृङ्गारादिमे उपयुक्त होनेवाले रत्यादिसे] भिन्न प्रकारके होते है। [वे ही विलक्षण रत्यादि, शान्त रसके स्थायिभाव होते है। अर्थात् स्त्री-पुरुषादि रूप विभावोसे परिपोषित रति जहा शृङ्गार रसकी जनक होती है वहा अध्यात्मचर्चा आदि जैसे विभावोसे परिपोषित होकर वही रति शान्त रसकी जनक हो जाती है। इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहिले कहे हुए विभावोके बजाय श्रुतादि रूप अन्य विभावोके द्वारा भिन्न प्रकारकी अनुभूतिके जनक भी हो सकते है]। इसलिए उनमेसे ही कोई एक यहा [अर्थात शान्तरसमे] स्थायिभाव होता है। इसलिए (१) अखण्डानन्दस्वरूप आत्मविषयक रति ही क्योकि मोक्षका साधन होती है अत एव वही यहा शान्तरसमे [स्थायिनी अर्थात] स्थायिभाव रूप है। जैसा कि [गीता ३-१७ मे] कहा है—

अभिनव०—जो आत्मामे ही रति रखने वाला, आत्मामे ही आनन्दका अनुभव करने वाला, एव अपनेमे ही सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नही रहता है।

इस कथनसे यह सिद्ध किया गया है कि रति ही शान्तरसका स्थायिभाव हो सकती है। इसी प्रकार हास्यादि अन्यरसोके स्थायिभाव भी शान्त रसमें स्थायिभाव बन सकते हैं यह बात अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि विकृताकार आदिके दर्शनसे हासकी उत्पत्ति होती है। और शोच्यादि वस्तुओको देख कर करुणादि अन्य रसोकी उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार उन हास्यादि रसोके स्थायिभाव, शान्तरसके भी जनक होते हैं यह बात अगले अनुच्छेद में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—इसी प्रकार (२) समस्त वस्तुओंके विषयमे विकारको देख कर [विकृत दर्शन-जन्य हास्य रसका स्थायिभाव हास, शान्त रसको उत्पन्न करता है]। (३) समस्त ससारको शोचनीय रूपमे देखने वाले [साधक] को [करुण रसका

---

१ विविक्तया। २ तत्रानाहतानन्दमय। ३ शान्ते।

(४) सासारिक च वता तमपकारित्वेन पश्यन, (५) सातिशयमसम्मोहप्रधान 'वीय-माश्रितवत, (६) सत्रस्माद्विषयसार्थाद्विभ्यत², (७) सत्रलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादे-जु गुप्समानस्य, (८) अपूवस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य, मोक्षसिद्धिरिति रतिहासा-दीना विस्मया तानाम-यतमस्य स्थायित्व निरूपणीयम् ।

न चतन्मुनेन सम्मतम् । यावदेव हि³ विशिष्टान विभावान् परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवा यान् सगह्लीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनताना रत्यादीनामनुजानात्येवापवगविषयत्वम् ।

स्थायिभाव शोक शान्तरसकी अनुभूतिमे सहायक होता है], (४) सासारिक वृतान्तको [आत्माके लिए] अपकारी रूपमे देखने वालेको [अपकारित्व जन्य रौद्र रसका क्रोध रूप स्थायिभाव], अत्यन्त ज्ञान प्रधान [वीय] उत्साहको स्वीकार करने वाले [साधक]को [वीररसका स्थायिभाव उत्साह],(५) समस्त विषय समूहसे भयको अनुभव करनेवालेको [भयानक रसका स्थायिभाव भय], (७) सब लोगोके स्पृहणीय कामिनी आदिसे भी घृणा करने वालोको [बीभत्स रसका स्थायिभाव जुगुप्सा], (८) और अपने अपूव आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके कारण [अद्भुतरसके स्थायिभाव] विस्मयको प्राप्त [साधक] को मोक्षकी प्राप्ति होती है इस लिए हाससे लेकर विस्मय पयन्त [समस्त रसोके आठो स्थायी भावो] मे से किसी एकको [शान्तरसका] स्थायिभाव माना जा सकता है [यह दूसरे लोगोका मत हे] ।

अभिनव०—यह मत भरतमुनिको सम्मत न हो यह बात भी नही है [अर्थात् भरतमुनि भी इस मतको मानते हुए प्रतीत होते है । क्योकि] जब वे [भिन्न भिन्न रसोके] विशिष्ट विभावोको गिनाते है और [उनके अन्तमे दिए हुए] 'आदि' शब्दसे उसी प्रकारके अन्य विभावोका भी सग्रह करते हैं तो उसीसे उन [सामान्य हेतुओं] से भिन्न [श्रुतादि रूप] अलौकिक हेतुओसे उत्पन्न रत्यादिकी मोक्ष साधनताको भी स्वीकार ही करते हैं [यह समझना चाहिए] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रत्यादि आठ स्थायिभावोमेसे कोई भी एक शा त रसका स्थायिभाव हो सकता है इस दूसरे मतके मानने वाले रति, हास आदि सभी स्थायिभावोके दो रूप मानते हैं । एक रूप अपने अपने मुख्यरसकी अनुभूतिमें काम आता है और दूसरा रूप मोक्ष सिद्धिमे उपयोगी होता है । रति आदिका जो रूप अपने स्त्री पुरुष आदि रूप मूल विभावोसे उत्पन्न होता है वह शृङ्गारादि रूप मुख्य रसका जनक होता है । और जो श्रुतादि अर्थात् अध्यात्म चर्चा आदि रूप अलौकिक साधनोसे आत्माके विषयमे रतिकी उत्पत्ति होती है वह मोक्ष सिद्धिमे उपयुक्त होती है । अपने इस मतके समथनकेलिए उन्होने भरत मुनिको भी रत्यादिके द्विविध स्वरूपका समथक सिद्ध करनेका यत्न किया है । भरतमुनिने जहा रत्यादि स्थायिभावोके विभावो की गणना की है वहा उनके अन्तमें प्राय 'आदि' शब्दका प्रयोग भी किया है । इस आदि' शब्द से श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोंसे उत्पन्न मोक्ष साधक, भिन्न प्रकारके रत्यादिका ग्रहण करना भरत मुनिको अभिप्रेत है यह दूसरे मतके समथकोका अभिप्राय हे ।

---

१ विनय । २ वाह्यत³। ३ म भ विशेषाद्विभावात् ।

एववदिना तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्व विशीयत एव । तदुपाय-भेदात् तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानमप्रगुणमेव[1] । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुष [2]रसस्याप्यान त्यापत्ते । मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, [3]धमकफलत्वे वीररौद्रयो-रप्येकत्व स्यात् ।

अन्ये तु—पानकरसवदविभाग प्राप्ता सव एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहु । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात, अन्यो य च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम् ।

रत्यादि अन्यतमके शान्तस्थायित्वका खण्डन—

अभिनव०—इस प्रकार [सब ही रसोके स्थायिभाव शान्तरसके स्थायिभाव हो सकते है यह] कहने वालोमे तो परस्पर विचार करनेपर ही [कभी रतिको कभी शोकादिको शान्त रसका स्थायिभाव बतलानेपर तो] किसी एकका स्थायिभावत्व खण्डित हो जाता है । उस उस प्रकारके [भिन्न भिन्न] उपायोके भेदसे उस उस [रति शोक आदि] का [शान्त रसमे] स्थायिभावत्व होता है यह कहना भी अनुचित ही है । क्योकि प्रत्येक पुरुषमे भिन्न भिन्न स्थायिभाव माननेपर [शान्त] रसके भी अनन्त भेद होने लगेगे । [इस दोषके निवारण करनेके लिए] यदि यह कहा जाय कि [उन स्थायिभावोमे भेद रहनेपर भी] मोक्षरूप फलके एक [अभिन्न] होनेसे रस भी अभिन्न ही रहेगा तो, वीर तथा रौद्र रसका भी [पुरुषार्थ चतुष्टयमेसे] धर्म रूप अभिन्न फल होनेसे उनका भी अभेद होने लगेगा । [इसलिए रति आदि आठोमेसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है यह मत असङ्गत है] ।

रत्यादिकी समष्टि शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन और खण्डन—

दूसरे मतमे रत्यादि स्थायिभावोके अनेक रूप स्वीकार कर उनमेसे श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोसे उत्पन्न रत्यादिका मोक्षसाधक मान कर उनमेसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है, इस पक्षकी स्थापना की गई थी । उसका सिद्धान्त पक्षकी आरम्भ ग्रन्थकारने खण्डन कर दिया । अब इस विषयके तीसरे मतका उल्लेख कर उसका खण्डन करगे । तीसरा मत भी इस दूसरे मतका ही रूपान्तर मात्र है । दूसरे मतमें रत्यादिमेसे किसी एकको शान्तरसका स्थायिभाव माना था । इस तीसरे मतमें उन सबकी समष्टिको शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इतना अन्तर है । जैसे ठण्डाई आदि पानक द्रव्योमे शक्कर मिर्च आदि अनेक द्रव्योका स्वाद मिल कर एक विचित्र आस्वादनका उत्पन्न करता है । इसी प्रकार शान्त रसमे रत्यादि समस्त स्थायिभाव पानकरस-न्यायमे मिलकर एक विचित्र प्रकारके शान्त रसास्वादके जनक होते है यह इस मतका आशय है । इसीको अगली पङ्क्तियोमे प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—दूसरे विचारकोका यह कहना है कि—पानक-रसके समान सभी स्थायिभाव मिलकर यहाँ [शान्त रसमे] स्थायिभाव बनते है । [अगली पङ्क्तिमे इसका खण्डन करते हैं] किन्तु [रत्यादि विषयक अनेक प्रकारकी] चित्त वृत्तियोका एक साथ होना सम्भव न होनेसे, तथा [हास और क्रोध, वीर और भयानक आदि चित्तवृत्तियोंमे] एक दूसरेका विरोध होनेसे यह मत ठीक नही है ।

१ प्रगुणमेव । २ आनन्त्यापत्तौ । ३ धर्मैक ।

कस्तह्य त्र स्थायी ?

उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्त्वज्ञान च नाम आत्मज्ञानमेव । आत्मनश्च 'इन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्यैव ज्ञानम् । परो ह्य`वमात्मा अनात्मनैव[2] स्यात् । विपञ्चित चैतदस्मद्गुरुभि । अस्माभिश्चान्यत्र[3] वितन्यत इतीह नातिनिबन्ध कृत । तेनात्मव ज्ञानान दादिविशुद्धधमयोगी परिकल्पित-विषयभोगरहितोऽत्र स्थायी ।

निर्वेद और रत्यादिकी समष्टि शा तरसके स्थायिभाव हैं इन दोनो मतोका खण्डन ग्र थकार पहिले कर चुके ह और अब पानकरस यायसे सभी स्थायिभाव मिल कर शा तरसके स्थायिभाव बनते हैं इस मतका भी उ होने निराकरण कर दिया तब यह प्रश्न उत्प न होता हे कि अ य सबके मतोका खण्डन तो आपने कर दिया पर अब आप ही बतलाइए कि आपके मतमे शा तरसका स्थायिभाव क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए ग्र थकार अगले प्रकरणका आरम्भ करते हैं । उनका कहना है कि तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शा तरसका स्थायिभाव है । आत्मा इ द्रियादिसे अतिरिक्त है । उस आत्माका साक्षात्कार होनपर ही शा तरस की उत्पत्ति होती है । इसलिए उस आत्माको या आत्मज्ञानको आत्मसाक्षात्कारको ही शा तरसका स्थायिभाव मानना चाहिए । इसी आत्मज्ञानको तत्त्वज्ञान भी कहते हैं इसलिए तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शा तरसका स्थायिभाव कहा जा सकता है । इस मतका उपपादन करते हं ।

आत्मज्ञान ही शा तरसका स्थायिभाव है [सिद्धा त पक्ष]—

अभिनव०—[प्रश्न] तब फिर [शान्तरसका] स्थायिभाव कौन सा हे ?

अभिनव०—[उत्तर] कहते हे कि—इस विषयमे सबसे पहिली बात तो यह हे कि तत्त्वज्ञान ही मोक्षका साधन होता है इसलिए उसीको स्थायिभाव मानना उचित है । तत्त्वज्ञान आत्मज्ञानका ही नाम हे । और इन्द्रियादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है । इस रूपमे आत्मा, अनात्मा [अर्थात् देहादि] से भिन्न होता है । [उस आत्माका ज्ञान आत्म साक्षात्कार अथवा तत्त्वज्ञान ही शा तरसका स्थायि-भाव हो सकता है] इस बातको हमारे गुरु श्री भट्टतोतने विस्तार पूवक प्रतिपादन किया है । और हमने भी अन्यत्र [भगवद्गीताकी व्याख्यामे] इसका विस्तार पूवक निरूपण किया हे । अत एव यहाँ उसके विशेष रूपसे वर्णनका आग्रह [अथवा यत्न] नही किया हे । इसलिए ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मोसे युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदिसे रहित आत्मा ही यहा [शा त रसमे] स्थायी [भाव रूप] है ।

अ य रसोमे आत्माका स्थायिभावत्व क्यो नही ?

इसपर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आप आत्माको स्थायिभाव मानते हैं तब आत्मा तो सभी रसोमे स्थायिभाव हो सकता है । फिर रति, हास आदि किसीको भी स्थायि भाव माननेकी आवश्यकता नही रहती है । वे सभी आत्माके सामने अस्थायी भाव बन जाते हैं । इसका उत्तर अगली पक्तियोमे ग्र थकार यह दते हैं कि यह ठीक हे कि तु फिर भी रति आदिका स्थायिभाव मानना ही चाहिए क्योकि अ यरसोंकी स्थितिमे उस प्रकारका आत्मसाक्षात्कारात्मक

---

१ व्यतिरिक्तमिन्द्रियस्यैव । २ अनात्मैव । ३ भगवद्गीताव्याख्यायाम् ।

न चास्य [1]स्थायितया येषामस्थायित्व वचनीयम् । रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदय—प्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवत्तय कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसश्रया [2]स त स्थायिन इत्युच्य ते। तत्त्वज्ञान तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीय सवस्थायिभ्य स्थायितम सर्वा रत्यादिका स्थायिचित्तवृत्ती व्यभिचारीभावयत् निसगत एव सिद्धस्थायिभावमिति[3]। अत एव पथगस्य गणना न युक्ता । न हि [4]रण्डमुण्डयो मध्ये तृतीय गोत्वमिति गण्यते । तेन एकोनपञ्चाशद् भावा इत्यव्याहतमेव ।

ज्ञान नही होता है जसा शा तरसकी स्थितिमे होता है । योगशास्त्रके अनुसार केवल समाधिकालमे आत्माका साक्षात्कार होता है। 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् । योग १ ७ मे बतलाया गया है कि समाधिकी स्थितिमें आत्माका अपने स्वरूपमे अवस्थान होता है। उसी समय आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता हे । समाधिकी स्थितिको छोडकर अन्य समयोमे या व्युत्थानकाल में 'वत्तिसारूप्यमितरत्र वत्तियाके समान रूपमें, वत्तिकलुषित रूपमे आत्माका ज्ञान होता है। अर्थात रत्यादिके अनुभव कालमे आत्माके विशुद्ध स्वरूपका भान नही होता है इसलिए वहा आत्माको स्थायिभाव नही माना जा सकता है । यदि वहाँ आत्माका साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादिका उपयोगी या पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अत रत्यादिके प्रसङ्गमे आत्माको स्थायिभाव नही माना जा सकता है। उसे केवल शा तरसमे ही स्थायिभाव माना जा सकता है। आत्माको स्थायिभाव माननेका अथ यह भी नही लेना चाहिए कि उसके कारण रति आदि सबको अस्थायिभाव कह दिया जाय । रति आदि भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव हैं। वे भी परम स्थायी आत्मा रूप भित्तिके आश्रित कुछ काल तक स्थायी रूपस रहते हैं इसलिए वे भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव होते ही हैं। इसी बातको ग्र थकार अगल अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अभिनव०—इस [आत्मतत्त्व] के स्थायी [भाव] होनेसे अन्यो [अर्थात् रत्यादि] को अस्थायिभाव नही समझना चाहिए । क्योकि रति आदि [अपने अपने] अन्य कारणोके उपस्थित अथवा अनुपस्थित होनेके कारण उत्पन्न तथा निरुद्ध होते हुए भी आत्मा रूप स्थायी भित्तिके आश्रित होकर [व्यभिचारिभावोकी अपेक्षा कुछ अधिक काल तक स्थिर रहते हे । इसलिए] स्थायी कहलाते है । और तत्त्वज्ञान तो अन्य सब [रत्यादि] भावोका आश्रय भूत अन्य सब स्थायिभावोकी अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सब वृत्तियोको [अपनी अपेक्षा] व्यभिचारिभावत्वको प्राप्त कराता हुआ स्वभावत स्थायिभाव रूप स्वय सिद्ध है। इसीलिए इस [आत्मा या आत्म विषयक तत्त्वज्ञान रूप, शान्त रसके स्थायिभाव] की [स्थायिभावो मे] अलगसे गणना नही की गई है। क्योकि शिर और धड दोनोके बीचमे [विद्यमान होनेसे] गोत्वको अलग नही गिना जाता है। [पृथक् गणना न करने पर भी उसका स्थायिभावत्व स्वत सिद्ध है और इसकी अलग गणना न करनेके कारण भावोकी जो ४९ सख्या मानी गई है उसमे कोई अन्तर नहीं आता है] । इस लिए ४९ भाव हैं यह कहना ठीक ही है।

---

१ न चास्यास्थायितया स्थायित्व वचनीयम । २. षट । ३ तन्त्रवचनम् । ४ तण्डमुण्डयो ।

अस्यापि कथं पृथग् गणनेति चेत् ? पृथगास्वादयोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादिय 'इवेतरासम्पृक्तवपुषो तथाविधमात्मस्वरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरम। स्वगतमप्यविकल्परूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवावभाति।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक यह सिद्ध किया कि शान्तरसमें आत्मा या आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान ही स्थायिभाव होता है। वह आत्मा ही सब भावोंमें सबसे अधिक स्थायी है सबका आधारभूत भित्तिस्थानीय तत्त्व है। इसलिए स्थायिभावोंकी गणना करते समय उसकी अलग गणना नहीं की गई है। इसलिए भावोंकी ४९ संख्या ठीक ही है।

शान्तरसकी पृथग गणना क्यों ?—

इस पर पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि जब शान्तरसके स्थायिभावके रूप में तत्वज्ञान' की अलग गणना नहीं की गई है तो फिर शान्तरसकी ही गणना अलग क्यों की जानी चाहिए। इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि शान्तरसका आस्वाद रत्यादिके आस्वादसे विलक्षण होता है इसलिए उसकी पृथक गणना करना उचित ही है।

अभिनव०—इस [शान्त] रस की पृथक् गणना क्यों की गई है ? यह पूछो तो [इसके उत्तरमें] हम यह कहते हैं कि—[उन अन्य रसोंके समान शान्तका] भिन्न प्रकारका आस्वाद होनेसे [उसकी पृथक् गणना की गई है। इसी बातको स्पष्ट करनेकेलिए रत्यादिकी प्रतीति तथा शान्त रसकी अनुभूतिमें यह भेद दिखलाते हैं कि रति हास आदि अन्य स्थायिभावोंकी अनुभूति बिल्कुल पृथक् पृथक असङ्कीर्ण रूपमें होती है। इसलिए उनकी पृथक गणना की जाती है परन्तु] रत्यादिके समान अन्य [भावों] के साथ अमिश्रित [रूपसे शान्तरसमें अनुभूत होने वाला] आत्माका स्वरूप लौकिक प्रतीतिका विषय नहीं होता है। और [समाधि कालमें] निर्विकल्प रूपसे स्वरूपावस्थ होनेपर भी व्युत्थान कालमें [अर्थात् समाधिका भङ्ग होनेपर] अन्य चित्तवृत्तियोंसे कलुषित रूपमें ही प्रतीत होता है। [इस लिए लोकमें आत्माके स्वरूपतः अलग प्रतीत न होनेसे, और शान्तरसमें उसके पृथग्रूपसे आस्वाद्य होनेसे शान्त रसकी गणना की गई है]।

यह बात ग्रन्थकार योगदर्शनके आधारपर लिख रहे हैं। योग दर्शनमें 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। वृत्तिसारूप्यमितरत्र' [योग सूत्र प्रथम पाद १ ३ सूत्र] ये तीन सूत्र आए हैं। इनका अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम योग या समाधि है। उस समाधिके समयमें अन्य किसी प्रकारकी वृत्ति न होनेसे द्रष्टा अर्थात् आत्माकी अपने स्वरूप में स्थिति होती है। और उस समाधिसे भिन्नकालमें वृत्तिसारूप्य' होता है। अर्थात् सुख दुःखादि रूप जिस प्रकारकी चित्तवृत्ति होती है उसी प्रकारका आत्माका स्वरूप भासता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इन पंक्तियोंमें कहा है। लौकिक अनुभवोंके कालमें चित्तवृत्तियोंका सारूप्य होनेसे विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है। निर्विकल्पक समाधिके कालमें विशुद्ध आत्मस्वरूपकी अनुभूति

---

१ इतरा सवृत्तेन।

मासता वा लोके तथा। तथापि न सम्भावनामात्रात स्थायिना गणन, रसेपूवतेषु अनुपयोगात्। अपि तु [1]व्यभिचारित्वम अलक्षणीयत्व, चेति विज्ञायते। तथा हि एकोनपञ्चाशता भावैरित्येत प्रघट्टकोपपत्ति।

न चास्यात्मस्वभावस्य व्यभिचारित्वासम्भवादवैचि-याग्रहत्वादनौचित्याच्च [2]शमशब्दो मुनिना व्यपदिष्ट। यदि तु स एव [3]शम शब्देन व्यपदिश्यते निर्वेद शब्देन वा तन्न कश्चिद बाध। केवल शमश्चित्तवृत्य-तरम्। निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिभावा-तरोत्थित निर्वेदतुल्यजातीयो न भवति। तज्जातीये एव हेतुभेदेऽपि तद व्यपदेशो रतिभयादावपि।

होती है परन्तु युत्थान कालमे अर्थात् समाधिसे उठनेपर फिर वत्तिसारूप्य अर्थात् चित्तवत्तियासे कलुषित रूपमें ही आत्माकी प्रतीति होती है। वत्तिशून्य रूपमे अलग प्रतीति नही होती है। इसलिए स्थायिभावके रूपमे आत्मामें गणना अलग नही की गई है। किन्तु शान्तरसमें आत्माका पृथक आस्वाद होता है। अत शान्तरस अलग माना है। यह ग्रन्थकारका आशय है।

अभिनव०—अथवा [दुजनतोष न्यायसे] लोकमे उस प्रकारकी [चित्तवृत्तियो से अकलुषित विशुद्ध आत्माके स्वरूपकी] प्रतीति [सम्भव] भी हो तो भी सम्भावनामात्रसे स्थायिभावोकी गणना नही की जाती है क्योकि [सम्भावित स्थायिभावोका] रसो [की उक्त निष्पत्ति] मे कोई उपयोग नहीं है। अपितु [सम्भावित मात्र अर्थका] व्यभिचारिभावत्व, और [स्थायिरूपमना] अलक्षणीयत्व ज्ञात होता है। इसलिए '४९ भावोके द्वारा' इत्यादि प्रकरणकी सगति ठीक हो जाती है।

अभिनव०—और इस आत्मस्वरूपको भरत मुनिने (१) [शम तथा निर्वेदादिके समान अन्य रसोमे उसके] व्यभिचारित्वका सम्भव न होनेसे (२) विभिन्न अनुभूतियोके जनक न होनेसे और (३) अनुपयुक्त होनेसे 'शम' शब्दसे नही कहा है। यदि उसी [विशुद्ध आत्मस्वरूप] को 'शम' शब्दसे या 'निर्वेद' शब्दसे कहा जाय तो उसमे कोई आपत्ति नही है। केवल इतनी बात है कि 'शम' [तथा 'निर्वेद' दोनो एक] विशेष प्रकारकी चित्त वृत्ति है [आत्माका स्वरूप नही है। शान्तरसका स्थायिभाव रूप] निर्वेद भी दारिद्र्य आदि रूप अन्य कारणो [विभावो] से उत्पन्न निर्वेदके समानजातीय नही होता है [अपितु उससे भिन्न प्रकारका ही होता है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब दारिद्र्यादिसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न दोनो प्रकार के खेदको 'निर्वेद' नामसे ही कहा जाता है तब उन दोनोको विजातीय क्यो कह रहे है? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पंक्ति मे देते है कि—] कारणका भेद होने पर भी समानजातीय पदार्थको उसी नामसे कहा जाता है। यह बात रति भयादिमें भी समान रूपसे देखी जाती है।

---

१ व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्व विज्ञायते चेति। २ शमात्स्वभावस्य शमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्ट। ३ शमशब्दे।

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञान शमता च। यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादय। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधान समाधिबलादधिशय्य [1]व्युत्थानेऽपि [2]प्रशान्तता भवति। यथोक्त 'तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्' इति [योग० ३-३०]।

तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च [3]स्थायिन [4]समस्तोऽय लौकिकालौकिकचित्तवत्तिकलापो[5] व्यभिचारितामभ्येति। तदनुभवा एव च यमनियमाद्युनुकृता अनुभावा[6]। [7]आगिकाध्यायत्रये च ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते त अत एव [8]एतद्विषया एव। अयमेव स्वभाव। विभावा अपि [9]ईश्वरानुग्रहप्रभृतय [10]प्रक्षयोन्मुखाश्च रत्यादयोऽत्रास्वाद्या[11]।

इसका यह अभिप्राय है कि जसे विभिन्न प्रकारके कारणोसे उत्पन्न होने वाला भय भिन्न भिन्न स्वरूपका होता है। या भिन्न कारणोसे उत्पन्न रति हास आदि भी भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं परन्तु वे सब भय या रति या हास आदि एक शब्दसे कहे जाते हैं। इसी प्रकार दारिद्र्यादि कारणोसे और तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद भिन्न प्रकारके होनेपर भी एक ही निर्वेद नामसे कहे जाते हैं। परन्तु ये निर्वेद या शम आत्माके स्वरूप नही अपितु चित्तवत्ति रूप है। अत एव वे शान्तरसके स्थायिभाव नही हं अपितु आत्मा ही शान्तरसमे स्थायिभाव है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर की पक्तियोमें कहा हं।

अभिनव०—इसलिए यह आत्माका स्वरूप ही तत्त्वज्ञान या शमता रूप है। जिसके कालुष्योपराग रूप आत्माके रत्यादि भाव होते है। [अर्थात् शृङ्गारादिरसोमे आत्माके विशुद्ध स्वरूपकी नही अपितु चित्तवृत्तियोसे कलुषित रूपकी अनुभूति होती है। इस लिए] उन [रत्यादि] के विद्यमान होनेपर भी समाधिके द्वारा उसके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूपका अनुभव करके व्युत्थानकालमे भी चित्तकी [कुछ काल तक] प्रशान्तवाहिता ही रहती है। जैसा कि [योगदर्शनमे] कहा है कि [समाधिके बाद भी] 'उस [चित्तकी] सस्कारोके कारण प्रशान्तवाहिनी स्थिति रहती है'। [इसलिए आत्मस्वरूप या तत्त्वज्ञान ही शान्त रसका स्थायिभाव हे]।

अभिनव०—और यह सारा लौकिक या अलौकिक चित्तवृत्तियोका समुदाय तत्त्वज्ञान रूप स्थायिभावका व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है। उस [तत्त्वज्ञान] के 'अनुभव' ही यम नियम आदिके द्वारा उपकृत होकर उस [शान्तरस] के 'अनुभाव' होते है। और आङ्गिक अभिनयके प्रतिपादक [९,१०,११,] तीन अध्यायोमे जो स्वभावाभिनय कहे जावेगे वे भी इसी [शान्तरस] विषयक होते हैं। यही [विशुद्ध शान्तरस] 'स्वभाव' कहा जाता है। [अर्थात् शान्तरस ही स्वाभाविक है शेष रस विकृति रूप है] और ईश्वरानुग्रह आदि [शान्तरसके] विभाव [होते है] तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि का भी इस [शान्तरस] मे [अनुभव] आस्वादन होता है।

१ अतिशय्य। २ प्रशान्तिता। ३ स्थायिणस्यावस्था। ४ म भ समस्ततोऽयम्। ५ म भ कलोपाध्या। ६ म भ भावादुपा। ७ उपाङ्गाभिनयस्य। ८ तद्विषया। ९ अपि कथम्। १० प्रक्षयाश्च। ११ आस्याद्या केवलम्।

केवल यथा विप्रलम्भे औत्सुक्य, सम्भोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम' [तापसवत्सराज १-१७] इति, यथा च रौद्रे औग्र्य, यथा च करुण वीर-भयानक अद्भुतेषु निर्वेद धृति त्रास-हर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनाभान्ति, तथा न जुगुप्सायाम्। सर्वथैव रागप्रतिपक्षत्वात्। तथाहि महाव्रते कपालादिधारण मधु भार्यादि-सम्मदादिविस्तार-सक्षेपादिकर्मीकृति हि धर्म जुगुप्साहेतुत्वेनैव। 'घृताभ्यक्तात्‌ च देवरात् पुत्रजन्माप्युपदिष्टम।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकार विषयेच्छा प्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्ग। अत एव तत् केचित दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राण शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्याद तद्विरोधात्मक ?
व्यभिचारित्व हि विरुद्धस्यापि 'नानुचित रत्तादाविव निर्वेदादे।

अभिनव०—केवल इतनी बात है कि जैसे विप्रलम्भ शृङ्गारमे, अथवा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' इस कथनके अनुसार सम्भोग शृङ्गारमे भी 'औत्सुक्य' [व्यभिचारिभाव होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होता है] अथवा जैसे रौद्र रसमे उग्रता, या करुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसोमे [क्रमश] निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होते है उस प्रकार जुगुप्सा [अर्थात वीभत्स रस] मे उसके रागके सर्वथा विपरीत होनेसे यह बात [अर्थात् अन्य व्यभिचारिभावो की प्रधान रूपसे प्रतीति] नही होती है। जैसे कि [शिव सम्बन्धी] महाव्रतमे कपालादिका धारण, मद्य, स्त्री आदि, [सम्मद] नशा आदिका अधिक या कम रूपमे सेवनादि, धर्ममें [धार्मिक प्रवृत्तिके लोगोमे] जुगुप्साका कारण ही बनता है। और घृताभ्यक्त देवरसे [नियोग द्वारा विधवाके लिए] जो पुत्रोत्पादन का विधान [स्मृति ग्रन्थोमे] किया गया है [वह भी जुगुप्साका ही जनक होता है]।

शान्तरसके नामान्तर—

अभिनव०—और अपने आपमे कृतकृत्य पुरुषका परोपकार करनेका ही उद्योग रहता है। इसलिए परोपकार विषयक इच्छा एव प्रयत्न रूप उत्साह जिसे दया भी कहते है इस [शान्तरस] का विशेष रूपसे अन्तरङ्ग होता है। इसी लिए कोई उसे दयावीर रूपसे और कोई धर्मवीर नामसे व्यवहृत करते है।

अभिनव०—[प्रश्न] उत्साह तो अहङ्कार मूलक होता है और शान्तरसमे अहङ्कार शैथिल्य होता है इसलिए [शांतरस उत्साहसे] भिन्न विरुद्ध होता है [तब आप उत्साह को शान्तरसका अन्तरङ्ग कैसे कहते है] ?

अभिनव०—[उत्तर] विरुद्ध भावका भी व्यभिचारिभाव रूपमे वर्णन अनुचित नहीं माना जाता है। जैसे शृङ्गाररसमे निर्वेदादि [का वर्णन अनुचित नहीं है।

---

१. निजाभ्यर्णे च। २ द्वैविध्यात्मक। ३ न नोचितम्।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः,
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने,
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ।। [नागानन्द ४ २]

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः । यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते, अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीर-सर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि ।

'आत्मानं गोपायेत' [गौतम धर्मसूत्र ९ ३५] इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं शरीररक्षणमुपदिश्यते । संन्यासिना तद्रक्षादितात्पर्याभावात् । तथाहि—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान् निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ।। [हितोपदेश १ ८३]

अभिनव०—हरी हरी घासका मैदान [शाद्वल] ही शय्या है, पवित्र शिलातल [उत्तम] आसन, वृक्षोंके नीचे घर, झरनोंका शीतल पानी पीनेकेलिए, खानेकेलिए कन्द और मृग मित्र होते हैं। इस प्रकार बिना मांगे ही सब प्रकारका वैभव जहां प्राप्त हो सकता है उस वनमें केवल एक यही महान् दोष है कि धनकी प्राप्ति कठिन होनेसे परोपकार करनेमें असमर्थ होकर रहना व्यर्थ हो जाता है।

अभिनव०—इत्यादि [नागानन्दके ४ २ श्लोक] में परोपकार करनेकेलिए उत्साहका ही अतिरेक दिखलाई दे रहा है। [उत्साहको शान्तरसका विरोधी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि] उत्साहसे शून्य कोई भी अवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि इच्छा एवं प्रयत्नके बिना तो [व्यक्ति जड] पत्थर बन जावेगा। [परन्तु शान्तरसकी स्थितिको प्राप्त व्यक्ति पत्थरके समान जड तो नहीं होता है] और क्योंकि [पर आत्मा अर्थात्] ब्रह्म और अपर आत्मा अर्थात्, जीव [अथवा प्रकृति और पुरुष] का परम ज्ञानप्राप्त कर चुकनेके कारण अपने उद्देशसे दूसरा कोई कर्तव्य [करने योग्य काम] शेष नहीं रह जाता है, इसलिए शान्तहृदय वाले साधकोंको दूसरोंके उपकारकेलिए अपने शरीर और सर्वस्वका दान कर देना भी शान्तरसका विरोधी नहीं है। 'आत्मानं गोपायेत्' अपनी रक्षा करो इत्यादिसे अकृतकृत्य [अर्थात् जिनको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उन] पुरुषोंके लिए ही अपने शरीरकी रक्षाका उपदेश दिया गया है। संन्यासियोंके लिए उस की रक्षामें कोई प्रयोजन नहीं रहता। क्योंकि—

अभिनव०—मनुष्यका जीवन [प्राण] धर्म अर्थ काम और मोक्ष की रक्षाकेलिए ही होता है। उनको नष्ट करने वालेने क्या नष्ट नहीं किया और उनकी रक्षा करने वालेने क्या नहीं बचाया [अर्थात् सब कुछ बचा लिया]।

इति सुप्रसिद्धचतुवर्गसाधकत्वमेव देहरक्षाया निदान दर्शितम । कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्यासित्वे श्रवणात् । तद्यथाकथञ्चित त्याज्य शरीर यदि परार्थ त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादित भवति ।

जीमूतवाहनादीना न यतित्वमिति चेत ।

किन्तेन ? न तत्त्वज्ञानित्व तावदवश्यमस्ति । अन्यथा देहात्ममानिना देह एव सवस्वभूते धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात ।

युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यम परपराजयोद्देशेनैव प्रवृत्ते । भृगुपत-नादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिक विजम्भते । तत्स्वार्थानुद्देशेन पराथसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टित देहत्यागपयन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिन ।

अभिनव०—इस श्लोकमे सुप्रसिद्ध चतुवर्गका साधकत्व ही देहरक्षाका कारण बतलाया गया है । कृतकृत्य [अर्थात तत्त्वज्ञानी] केलिए 'पानीमे अग्निमे या गढ़ेमे गिर पडे' [अर्थात जलमें अग्निमे, या गढेमे गिर कर अपने शरीरका अन्त कर दे] यह सन्यास [के प्रकरण] मे कहा गया है । इसलिए [सन्यासी तथा तत्त्वज्ञानीकेलिए] किसी न किसी प्रकार शरीर त्याग करना ही है । उसको यदि परोपकारकेलिए त्यागा जाय तो इससे बढ कर और क्या हो सकता है [किमिव न सम्पादित भवति] ?

अभिनव०—[प्रश्न] जीमूतवाहन आदि तो यती नहीं है ? यह कहो तो—

अभिनव०—उससे हमारा क्या [विगडता है] ? [क्योकि शान्तरसकेलिए आवश्यक] उसमे तत्त्वज्ञानित्व अवश्य ही हे । अन्यथा देहको ही आत्मा समभने वाले [आत्मज्ञान रहित अतत्त्वज्ञानियो] को देह ही सवस्वभूत होता हे । धर्मादिके उद्देश्यसे दूसरेके लिए उसका त्याग करना उनकेलिएसम्भव नही होता है । [जीमूतवाहनने पराथकेलिए अपने शरीरका परित्याग कर दिया था इसलिए उसको तत्त्वज्ञानी अवश्य मानना चाहिए] ।

अभिनव०—[इसपर यह शङ्का की जा सकती हे कि अतत्त्वज्ञानी लोग भी युद्धमे परोपकारकेलिए अपने शरीरका त्याग कर देते है इसलिए यह शरीरत्याग तत्त्वज्ञानी होनेका हेतु नही हो सकता है । इस प्रसङ्गका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे इस प्रकार देते है कि] युद्धमे भी शत्रुको पराजित करनेकेलिए प्रवृत्त होनेसे [परोपकारकेलिए] शरीरके परित्यागका प्रयत्न नही किया जाता है । [इसी प्रकार दिव्यदेहकी प्राप्तिकेलिए भृगुपतन अर्थात् पर्वत शिखरसे गिर कर प्राण देनेका जो उल्लेख पुराणो आदिमे मिलता है उस] भृगुपतन आदिमें भी उत्तम दूसरे शरीरकी प्राप्तिकी इच्छा ही प्रधान रूपसे रहती है । इसलिए परोपकारकेलिए उपदेश दानसे लेकर शरीर त्याग पर्यन्त जितनी भी चेष्टाए हैं वे बिना तत्त्वज्ञानके सम्भव नहीं हो सकती है । इसलिए वे [जीमूतवाहन आदि] भी तत्त्वज्ञानी ही हैं ।

'तत्त्वज्ञानिना सवष्वाश्रमेषु मुक्ति' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च । यथोक्तम्—

देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय ।

श्राद्ध कृत्वा ददद द्रव्य गहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ इति ॥

केवल परार्थाभिसधिजाद्धर्मात्, परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीना तत्त्वज्ञानिनामपि ।

मोक्ष और तत्त्वज्ञानकेलिए सन्यास आवश्यक नहीं—

ज्ञानमागके समथक वेदान्तियोका यह सिद्धान्त है कि मोक्षकी प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है । और तत्त्वज्ञानके अधिकारी केवल सयासी ही हो सकते हैं । अभिनवगुप्त इस सिद्धातसे सहमत नही है । अत उसका खण्डन करनेकेलिए इस प्रश्नको उठाते हैं कि—

जीमूतवाहन आदिको तत्त्वज्ञानी माना जाय तो उनको मोक्षकी प्राप्ति भी होनी चाहिए । परन्तु मोक्ष बिना सयासके नही हो सकता है । जीमूतवाहन आदि गृहस्थोको मोक्ष प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर ग्रथकार अगली पक्तिमे यह देते हैं कि—

अभिनव०—तत्त्वज्ञानियोको सब आश्रमोमे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । यह बात स्मतियोमे और श्रुतियोमे भी पाई जाती है । जैसा कि कहा गया है ।

अभिनव०—देवताकी अर्चनामे सदा लगा रहने वाला, तत्त्वज्ञानको प्राप्त, अतिथि सेवा करने वाला, श्राद्ध करके द्रव्यका दान करने वाला गृहस्थ भी मोक्षको प्राप्त होता है ।

अभिनव०—[इस प्रकारके वचनोके अनुसार गृहस्थोकी भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है । अन्तर केवल इतना है कि] परोपकार रूप फलकी कामनासे [अर्थात सकाम कम द्वारा] किए गए एव परार्थसाधन के अभिप्राय उपार्जित धमके द्वारा बोधिसत्व आदि तत्त्वज्ञानियोको फिर दुबाराभी उनके अनुरूप शरीर आदिकी प्राप्ति देखी जाती है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी साधक कुछ समय तक जीवित रहता है । उस समय वह जो कुछ काय करता है वह प्राय निष्काम भावसे ही करता है । इसलिए उससे नवीन कर्माशय या भोगजनक सस्कार उत्पन्न नही होता है । इसलिए इस शरीरका नाश होनेके बाद नवीन जन्मके उत्पादक सस्कार आदिके न रहनेसे वह सदाके लिए मुक्त हो जाता है । परन्तु तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी जब साधक परोपकारकी कामनासे सकाम कम करता है तब उस सकाम कमसे उत्पन्न धमके कारण उसके अगले जन्मकी उत्पादक सामग्री सगृहीत हो जाती है । अत एव इस प्रकारके साधकोको जिनको कि बौद्ध धममें बोधिसत्त्व' कहा जाता है फिर दुबारा जन्म धारण करना होता है । इसलिए गृहस्थ एव सयासियोके मोक्षमे केवल इतना अन्तर है । सन्यासियोको तत्त्वज्ञानके बाद सकाम कम करनेकी आवश्यकता नही होती है इसलिए वे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं । गृहस्थ साधक तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी परोपकार आदिकी भावनासे सकाम कम भी कर जाते हैं जिसके कारण कुछ समय तक उनको मोक्ष जैसा सुख तत्त्वज्ञानके कारण प्राप्त होता है परन्तु सकाम कम जन्य सस्कारके कारण फिर दुबारा देह धारण करना होता है । साख्यादिमें ऐसे लोगोको 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' कहा है ।

[1]अन्येष्वपि विश्रान्तिलाभ [2]स्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य [3]वीराङ्ग पितुराज्ञा पालयत । एव शृङ्गाराद्येष्वपि मन्तव्यम् । अत एव शान्तस्य स्थायित्वे ऽप्यप्राधान्य जीमूतवाहने । त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानाया फलत्वात । अनेनैवाशयेन नाटक-लक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुण' [१८ ११] इति । अत्रैव हि ऋद्धिविलास प्रधानमर्थकामोत्तर सर्व चरित सकललोकसवादसुन्दरप्रयोजन नाटके विनिवेशयितव्यमित्युक्तम । एतच्च तत्रैव वर्णयिष्याम । अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन मुनिना ऋद्ध्यङ्गको विनियोक्ष्यते । तेन 'ऋद्ध्यङ्गकविनियोगाभावात तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम ।

अन्ये तु जीमूतवाहन 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' इति [नागा० ४ ६] शरणार्थिनी वृद्धामेव त्रातवान । शक्तिश्चास्य न काचित्, परहिसा च न काचिदित्येवमाहु ।

अभिनव०—[इसी प्रकार] अन्यो [अर्थात अन्यरसो] मे भी [कर्तव्यभावनासे अपने कर्तव्यका पालन करने वालोको कर्तव्य पालनके बाद अपने कार्यके] स्वभावके औचित्यके कारण सुखकी प्राप्ति होती है। जैसे वीररसकी अगभूत पिताकी आज्ञा पालन करने वाले रामको [बनवासके सारे कष्टोके उठानेपर भी शांति एव सुखकी प्राप्ति हुई थी] । इसी प्रकार शृङ्गार आदिमेभी [आसक्तिहीन होकर केवल कर्तव्य भावनासे उनका भोग करनेसे विशेष प्रकारके सुख एव शातिकी प्राप्ति हो सकती है] यह समझना चाहिए। इसलिए [नागानन्द नाटकके नायक] जीमूतवाहनमे परोपकार प्रधान [धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी प्राप्ति ही फल रूपसे अभीष्ट होनेसे [और मोक्षके फलत्वेन अभीष्ट न होनेसे] शान्तका स्थायित्व होनेपर भी उसका प्राधान्य नही है। इसी अभिप्रायसे नाटकके लक्षणमे 'ऋद्धि विलास आदि गुणोसे' इत्यादि कहा जायगा यहा [१८-११ मे] ही ऋद्धि एव विलास प्रधान अर्थ तथा काममय सब सहृदयोके हृदयकी भावनाके अनुसार सुन्दर प्रयोजन वाले सब चरित्रोको नाटकमे प्रस्तुत करना चाहिए यह कहा गया है। इस बातको वही [नाटकलक्षणके प्रसङ्गमे १८-११ की व्याख्यामे] कहेगे । और [नाटकके लक्षणसे ही शान्तरसमेभी ऋद्धिके अङ्ग आजाते है] इसी अभिप्रायसे भरत मुनिने शान्तरसमे किन्ही ऋद्ध्यङ्गोका विनियोग नही किया है। इसलिए [शान्तरसमे] ऋद्धिके अङ्गोका विनियोग न किए जानेसे [शान्तरसमे] उनका अभाव है यह [कथन] इस युक्तिसे खण्डित हो जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि परोपकार विषयक इच्छा एव उत्साह ही शान्तरसका अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए इसको दयावीर या धर्मवीरके नामसे भी कहते हैं। अब अन्य आलोचकोका मत देकर उसका निराकरण करते हैं

अभिनव०—[उत्साहको शान्तरसका अन्तरङ्ग सहायक न मानने वाले] दूसरे लोग यह कहते हैं कि [नागानन्द नाटकमे गरुडके आहारके लिए आए हुए नागकी

१ तत्त्वज्ञानिनामपि । २ विश्रान्तिलाभस्वभाव । ३ वीर्योऽङ्ग । ४ पालयितु ।
५ जात्यङ्गक । ६ चेविति ।

तच्चानुमतमेव । न हि बोधिसत्त्वाना पुनरप्युत्थानात्मकजीवितमभिसन्धानानु प्रविष्ट शक्तिश्चेति ।

तत्सिद्ध दयालक्षणो ह्यु्त्साहो ऽत्र प्रधानम् । अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोग भव न्तीति । यथोक्त 'तच्छिद्रेषु प्रत्यया तराणि सस्कारेभ्य' [योगसूत्र ४–२७] इति । अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम् । यदा तु पय तभूमिकालाभे हेतु भावाभावस्तदास्याप्रयोज्यत्वम् ।

माता कहती हे] 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' हे पुत्र ! जब तुम्हारे राजाने ही तुम्हारी रक्षा न की और तुम्हे गरुडके आकारकेलिए भेज दिया तब] हे पुत्र ! तेरी रक्षा [अब और] कौन करेगा इस प्रकार कह कर शरणकी प्राथना करने वाली वृद्धा [नाग माता] की ही जीमूतवाहनने रक्षाकी है और उस [रक्षा काय] मे इस [जीमूत वाहन] की कोई शक्ति [अर्थात बलसम्पन्न काय] दिखलाई नही देती है और न कोई शत्रु बधादि [रूप परहिंसा] दिखलाई देती हे। [शक्तिका प्रयोग एव शत्रुबधादि रूप परहिसा ये दोनो बाते तो वीर रसमे अवश्य होनी चाहिए । नागानन्दमे ये दोनो बाते नही हे तब उसे धमवीर या दयावीर नाम क्यो दिया जा रहा है । यह प्रश्न है] ।

अभिनव॰—[इसका उत्तर ग्र थकार यह देते है कि] यह बात हम भी मानते हे परन्तु बोधिसत्त्वोके मनमे [शत्रुबध करके] पुन अभ्युदय प्राप्त करनेका भाव नही रहता हे। [इसलिए] शक्तिका प्रयोग भी उनको अभीष्ट [अभिस धानानुप्रविष्ट] नही होता हे। [इसलिए जीमूतवाहनके व्यवहारमे ये दोनो बातें नही पाई जाती हे तो कोई अनुचित या असगत बात नही है] ।

अभिनव॰—इसलिए यह सिद्ध हो गया कि यहाँ [नागान द या शा तरसमे दया रूप उत्साह ही प्रधान हे । और अन्य व्यभिचारिभावभी यथायोग रहते ही है । जसा कि [योगदशन ४-४७ सूत्रमे] कहा है कि 'उस समाधिके छिद्रोमे [अर्थात् समाधिके खुलनेपर बीच बीचमे] सस्कारोके कारण अन्य ज्ञानभी होते रहते हे'। इसलिए [शान्तरसके] व्यापार शून्य होनेके कारण [उसमे] अनुभावोका अभाव हे [अर्थात शान्तरसके अनुभाव आदि नही बनते है यह जो कहा गया था] इसका भी खण्डन हो जाता है । [जीमूतवाहनकी मन स्थितिमे जो शान्तरस पाया जाता है वह उत्साह शू य निश्चेष्ट शान्तरस नहीं है। अपि तु उसके भीतर दूसरेकी रक्षाकेलिए अपने प्राण तक दे डालनेका प्रबल उत्साह हे और उसके अनुसार वह व्यापार भी करता हुआ दिखलाई दे रहा है । यह बोधिसत्वोके शा त रसकी स्थिति हे] और जब [मोक्ष प्राप्तिकी] अन्तिम भूमिकामे पहुच जानेपर [उत्साह आदि सभी] भावोका अभाव हो जाता हे तब यह [शान्तरस] अप्रयोज्य [अर्थात अनभिनेय] हो जाता हे ।

---

१ न च काकतालीयगत्या शास्त्रमुपदिशति ।

रति-शोकादावपि पय तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात् । हृदयसत्रादोऽपि तथा-विधतत्त्वज्ञानबीजसस्कारभाविताना भवत्येव । तद्वक्ष्यति—'मोक्षे चापि विरागिग' । [ना० २७ ५८] इति[1] ।

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वाद ?

उच्यते—यत्राय •निबध्यते तत्रावश्य पुरुषार्थपयोगि शृङ्गारवीराद्य यतमोऽस्त्येव तन्निष्ठस्तेषामास्वाद । यत्रापि प्रहसनादौ हास्यादे प्रधानता तत्राप्यनु-निष्पादितरसान्तरनिष्ठ एवास्वाद[2] ।

इस पर शा तरसके विरोधियोकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि हम भी तो यही कहते हैं कि शा तरसका अभिनय सम्भव नही है इसलिए उसका मानना व्यथ है। इस शङ्काको मनमे लाकर ग्र थकार उसका अगली पक्ति यह समाधान करते हैं कि पय त भूमिकामे केवल शा त रस ही व्यापार शू य और अनभिनेय नही होता है अपितु—

अभिनव०—पयन्त दशामे रति और शोक आदिका भी अनभिनेयत्व ही उचित होता है। [अर्थात् सम्भोग शृङ्गारकी चरम परिणति भी एक दम व्यापार शू यता मे ही होती है इसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण आदि अन्य रसोकी चरम परिणति भी व्यापारशू यतामे ही होती है। इसलिए उस स्थितिमे उनका भी अभिनय सम्भव नही है। जब उनको रस मानते हो तो शा त रसको न माननेका कोई हेतु नहीं हो सकता है]। हृदयकी तन्मयता भी [जसे रति आदिके सस्कारोके कारण शृङ्गारादि अन्य रसोमे होती है इसी प्रकार] उस तरहके तत्त्वज्ञानके बीजभूत सस्कारो से सस्कृत अ त करण वालोकी [शा तरसमे भी] होती ही है। जसा कि आगे कहेगे कि [शान्तरसकी चरम स्थितिमे] 'मोक्षके विषयमे भी वैराग्य युक्त हो जाते हे'।

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकारके [शान्तप्रधान] नाटकोमे वीर रसके आस्वाद की क्या सङ्गति होती है ?

अभिनव०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते हैं कि—जहाँ इस [शा तरस] का प्रयोग किया जाता हे वहा पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गार वीरादिमेसे कोई एक अन्य रस अवश्य रहता है। और उसी [प्रधान भूत शान्तरस] मे उन [शृङ्गार या वीर रस रस]-का भी आस्वाद होता है। जैसे कि जिन प्रहसन आदिमें हास्यादिकी प्रधानता होती है वहा भी [हास्यादिके] बादमे [चरमानुभूतिके रूपमे] प्रतीत होने वाले अन्य रसमे ही [मुख्य रूपसे] आस्वाद होता है। [इसी प्रकार जहा शान्त रस और उसके साथ शृङ्गार वीर आदिमेसे कोई अन्य रस भी रहता है वहा अन्तमें निष्पन्न होने वाले शृङ्गार या वीर रसमे ही काव्य या नाटकका चरमास्वाद होता है]।

१. सर्वस्य त्वित्यत्र हृदयसवाद [दो] भयानके वीरप्रकृतेरभावात् ।

२ एवास्वादभिन्नाविकार्यम् धिकादोऽप्युद्देशे वव रूपकभेदचिन्तन निमित्तमिति केचित ।

तस्मादस्ति शान्तो रस । तथा च चिर तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्व-मुपनेष्याम' इत्यन तर 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक' इत्यादि शा तलक्षण पठ्यते ।

तत्र सवरसाना शान्तप्राय एवास्वादो [1]विषयेभ्यो विपरिवृत्या, त मुख्यता लाभात् । केवल वासनान्तरोपहित इति । अस्य सवप्रकृतित्वमभिधाय पूवमभिधानम् ।

लोके च पृथक पृथक सामान्यस्य न गणनमिति स्थाय्यस्य पृथङ् नोक्त[2]। सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिकास्वादलक्षण-प्रतीतिविषयतया स पथग्भूत एव ।

अभिनव०—इसलिए शान्तरस है यह बात सिद्ध हो गई । इसीलिए [भरत नाट्यशास्त्रकी] प्राचीन पुस्तकोमे [पृष्ठ २९९ पर 'स्थायिभावाश्च रसत्वमुपनेष्याम'] स्थायिभावोको रसत्वको प्राप्त करनेका वरणन करेंगे इसके बाद 'शम रूप स्थायिभावात्मक रस शान्त रस होता है' इस रूपमे शान्त रसका लक्षण किया गया है ।

अभिनव०—उनमेसेसब रसोका चरम आस्वाद मे विषयोसे विमुखता द्वारा उस [शान्तरस] को प्रमुखता प्राप्त हो जानेके कारण प्राय शान्तरूप [निर्व्यापार रूप] ही मे होता है । [इसका अभिप्राय यह है कि जसे सम्भोगकी चरमावस्थामे समस्त कामव्यापारोकी उपरति हो जाती है । कामव्यापारोकी उपरति होने पर ही चरमास्वाद होता है इसी प्रकार सभी रसोका चरमास्वाद विषयोसे नहीं अपितु विषयोकी उपरतिमे ही होता है । इसलिए सभी रसोका आस्वाद प्राय शान्त के रूपमे ही होता है] केवल [अन्तर इतना होता है कि] उन [अन्य रसो]की मुख्यता होनेके कारण अन्य वासनाओसे उपहित रूपमे होता है। इसीलिए इस [शान्तरस] को सब रसोकी प्रकृति [मूलभूत] बतला कर सबसे पहिले [शान्तरस] कहा गया है ।

शान्तरसके विषयमें विद्वानोकी विचारधारामे बडा वषम्य पाया जाता है । एक ओर जहा कुछ लोग शान्तरसका अस्तित्व भी स्वीकार नही करना चाहते हैं वहा अभिनवगुप्त उसको सब रसोमें प्रधान 'रस राज' मानते हैं । उनके मतमे सारे रसोकी उत्पत्ति शान्तरससे ही होती है और उसीमें सब रसोका लय होता है । उनके अनुसार भरत नाटयशास्त्र की प्राचीन पुस्तकोमे उसे सब रसोकी प्रकृति बतलाकर सबसे पहिले उसका निरूपण किया गया था । वतमान पुस्तकोमे वह उपलब्ध नही है । शान्तरसके स्थायिभावके अलग न गिनाए जानेका कारण आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[सब रसोमे रहने वाले] सामान्यकी लोकमे बार बार अलग-अलग गणना नही की जाती हे । इसलिए इस [शान्तरस] का स्थायिभाव वहा अलग नहीं कहा गया है । किन्तु विवेचक पुरुषको तो सामान्यको भी अलग समझना ही चाहिए इस लिए विवेचकके अभिप्रायसे सामाजिकगत आस्वाद रूप प्रतीतिके विषय रूपमें वह [शान्तरसका स्थायिभाव] अलग होता ही है ।

---

१ न विषयेभ्यो । २ पृथगुक्त ।

इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसा श्रूयन्ते। श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेऽपि। तथा चोक्तम्—

"अष्टानामिह देवाना शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्त रूप प्रकल्पयेत ॥" इति।

तस्य च वैराग्यससारभीरुतादयो विभावा। स हि तदुपनिबन्धैर्विज्ञायते। मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावा। निर्वेद मति स्मृति धृत्यादयो व्यभिचारिण। अत एव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टे[1] अन्यथाङ्गमिति न तयो पृथग रसत्वेन गणनम। अत्र सग्रहकारिका—

मोक्षध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसयुक्त।
नि श्रेयसधर्मयुत शान्तरसो नाम विज्ञेय ॥

शान्तरसके समर्थनमे प्रमाण—

इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध हो गया कि पूर्वोक्त आठ रसोके अतिरिक्त नवा शान्तरस भी अवश्य मानना चाहिए। इसी बातको अन्य शास्त्रोके वचनके आधारपर सम्पुष्ट करते हैं—

अभिनव०—इतिहास, पुराण, अभिधान कोश [धातुकोश और नामकोश दो प्रकारके कोश हो सकते है। उनमे यहाँ नामकोशका ग्रहण अभीष्ट होनेसे 'अभिधान-कोश' शब्दका प्रयोग किया गया है] आदिमे नव रसोका वर्णन पाया जाता है। और श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र [अर्थात् हमारे गुरुदेव श्री उत्पलपादाचार्यके प्रत्यभिज्ञादर्शन] मे भी [नव रसोका सिद्धान्त माना जाता है]। जैसा कि कहा है—

अभिनव०—यहाँ आठो देवताओके शृङ्गारादिका प्रदर्शन करे और उनके बीचमे [उन आठोसे भिन्न] महादेवके शान्त रूपकी रचना करे।

अभिनव०—[इससे सिद्ध होता है कि शान्तरसका मानना शास्त्रकारोकोभी अभिमत है]। वैराग्य और ससारसे पलायन आदि उस [शान्तरस] के विभाव है। उन [वैराग्य आदि] के [उपनिबन्धन] वर्णनसे उस [शान्तरस] का ज्ञान होता है। मोक्ष शास्त्र [उपनिषदादि] का विचार आदि उसके अनुभाव [कार्य] है। निर्वेद स्मृति धृति आदि व्यभिचारिभाव है। इसलिए स्मृति धति उत्साहादिसे युक्त ईश्वर प्रणिधान विषयक भक्ति तथा श्रद्धा भी इसी [शान्तरस] के अङ्ग रूप है। इस कारण उनकी अलग रस रूपमे गणना नही की गई है। [अर्थात् भक्तिरसको अलग नही माना गया है। शान्तरसमे ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है] इस विषयमें सग्रह कारिका [निम्न प्रकार] है—

अभिनव०—मोक्ष रूप अध्यात्म [की प्राप्ति] का कारण [अथवा मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्यसे प्रवृत्त] तत्त्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, और नि श्रेयस् रूप फलसे युक्त शान्तरस समझना चाहिए।

---

१ स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवागम।

विभावस्थाय्यनुभावयोग क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शित ।

स्व स्व निमित्तमासाद्य शा न्ताद् भाव प्रवतते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शा न्त एव प्रलीयते ॥

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसहृतम् ।

अभिनव०—[इस कारिकामे आए हुए 'मोक्षाध्यात्मनिमित्त' इस पदसे] विभाव, ['तत्त्वज्ञानाथहेतु सयुक्त' इस पदसे] स्थायिभाव, तथा [नि श्रेयसधमयुत' इस विशेषण के द्वारा शान्तरसके] अनुभावोका सम्बन्ध क्रमसे तीन विशेषणो द्वारा दिखलाया गया है ।

अब अगली कारिकामे फिर शा तरस ही अ य सब रसो की प्रकृति है इस बातको कहते हैं—

अभिनव०—अपने अपने अनुरूप कारणको प्राप्त करके शान्त [रस] से ही [रत्यादि अन्य सब] भाव उत्पन्न होते है और उस निमित्तके समाप्त हो जानेपर [अर्थात रत्यादिके कारणोके निवृत्त हो जानेपर] फिर शान्तमे ही [रत्यादि सारे भाव] लीन हो जाते हे ।

अभिनव०—इत्यादि [कारिका] से [शा न्त रस ही] अन्य सब रसोका मूलभूत [प्रकृति] है इस बातका उपसहार [निणय] किया गया है । [इसलिए शा न्त रस का न केवल मानना ही अनिवाय हे अपितु उसको अन्य सब रसोकी अपेक्षा प्रधान रस मानना चाहिए । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है] ।

इस पर शा तरसके माननेके विरोधियोकी ओरसे यह शङ्का की जा सकती है कि रूपको के भेदोमें 'डिम' नामक एक भद भी माना गया है । उसका लक्षण नाटचशास्त्रके १७वे अध्यायमे आगे किया गया है । सूत्रकारने उसको दीप्तरस काव्ययोनि' कहा है । अर्थात् उसमे रौद्ररसका प्राधा य रहता है । उसके साथ ही हास्य तथा शृङ्गारको छोड कर उसे षडरसयुक्त बतलाया है । अब यदि शा तरसको भी माना जाय तो हास्य शृङ्गार दो को छोड देनेपर डिम' में सात रस रहने चाहिए । पर तु भरतमुनिने शृङ्गार तथा हास्यको छोड कर डिम' मे केवल छ रसोको माना है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुल रसोकी सरया आठ ही होनी चाहिए नौ नही । अत एव शा तरसको अलग रस नही माना जा सकता है ।

शा तरसको मानने वाले अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें इस शङ्काका उत्तर देनेका यत्न करते हं । उनका कहना यह है कि रौद्ररसप्रधान डिममें बलात् सेव्यमान शृङ्गार और उसका सहवर्ती हास्य ये दोनो रस तो सम्भावित हो सकते हैं पर तु शा तरस तो उससे सवथा विपरीत है इसलिए उसकी 'डिम' में कोई सम्भावना ही नही है । शृङ्गार और हास्यकी रौद्ररस—प्रधान डिम' में सम्भावना हो सकती है पर तु उसका रहना अभीष्ट नही है इसलिए शृङ्गार और हास्यका डिम' के लक्षणमें निषेध किया गया है । शा तकी उसमे कसे भी सम्भावना नही है इसलिए उसका निषेध अलगसे करनेकी आवश्यकता नही थी । इसलिए नामग्राह पूवक उसका निषेध नही किया गया है । पर तु षड रसयुक्त कहनेसे ही उसका निषेध हो जाता है । अत रसोकी नौ सरया या शा तरसको अलग रस माननेमे कोई दोष नही आता है ।

यत्तु डिमे हास्यशृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्व च वक्ष्यते तत्राय भाव —'दीप्तरस-काव्ययोनि , [१८–८३] इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावद् डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न, किं निषेधेन । शान्तासम्भवे तु, 'दीप्तरसकाव्ययोनि ' इत्यनेन कि व्यवच्छेद्यम् । 'शृङ्गारहास्यवजम् षड्रसयुक्तम्' इति ह्युक्ते कस्तत्र प्रसङ्ग ?

उनका यह भी कहना है कि डिम' का लक्षण शा तरसकी सत्ता माननेमें बाधक नही अपितु साधक ही है । क्योकि डिम' के लक्षणमें जो दीप्तरसका ययोनि कहा गया है उससे शान्तरसका ही व्यवच्छेद हो सकता है अ य किसीका नही । इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि उस पदसे करुण अद्भुत आदि रसोका व्यवच्छेद किया जाता है तो यह कहना उचित नही होगा । इसके दो कारण हैं । पहिला तो यह कि डिम' के लक्षणमे उसको सात्वती' तथा आरभटी' वत्तियोसे युक्त माना गया है । परन्तु करुण अद्भुत आदि रसोमे इन दोनामेंसे कोई वत्ति नही रहती है । इसलिए डिम' के 'सात्वती' तथा आरभटी' वत्ति सम्पन्न होनेसे ही उसमें करुण अद्भुत आदि रसोका व्यवच्छेद हो जाता है । शान्तरसमे यद्यपि 'आरभटी' वत्ति नही होती है कि तु सात्वती' वृत्ति तो रहती ही है । इसलिए उसका व्यवच्छेद करनेकेलिए इस दीप्तरस काव्ययोनि ' विशेषणकी उपयोगिता है । यह विशेषण किसी अन्यका व्यवच्छेदक न होकर शा तरस का ही व्यवच्छेदक होता है । इसलिए 'डिम' का लक्षण शा तरसका साधक ही है बाधक नही । तीसरी बात यह भी है कि यदि उस पदसे किसी अ यरसका व्यवच्छेद मान तो डिम को जो षड रसयुक्त' माना गया है वह नही बनता है । क्योकि उसमें शृङ्गार और हास्यरसका तो शब्दत निषेध कर दिया गया है । शृङ्गारहास्यवज' इस विशेषण के अनुसार शृङ्गार और हास्यकी सम्भावना तो वहा समाप्त ही हो जाती है । अब यदि 'दीप्तरसकाव्ययोनि इस विशेषणसे करुण अद्भुत आदि किसी अ य रसको भी निकाल दिया जाता है और शा तरसकी सत्ता नही मानी जाती है तब डिममें ६ रस नही बनते हैं उनकी सख्या पाँच या और कम भी रह जाती है । इसलिए भी डिम' का लक्षण शान्तरसकी सत्ता का साधक है बाधक नही । इसी बातको ग्र थकार अगली पक्तियोमे कहते हैं—

अभिनव०—और जो 'डिम' मे हास्य तथा शृङ्गारको छोडकर 'षड् रसत्व' आग कहा जायगा उसका यह अभिप्राय है कि—'दीप्तरसकाव्ययोनि ' इत्यादि आगे किए जाने वाले ['डिम' के] लक्षणके अनुसार रौद्ररसप्रधान 'डिम' मे उसके विरोधी शान्तरसकी सम्भावना ही नही है इसलिए उसका निषेध करना भी व्यथ है । [इस-लिए उसका निषेध नही किया गया है । हास्य और शृङ्गारके साथ निषेध्य रूपमे शान्तरसका नाम न लेनेका यही कारण है । शान्तका नाम न लेनेसे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए । क्योकि] शान्तरसका अभाव होनेपर तो 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस [विशेषण] से किसका व्यवच्छेद किया जायगा ? [अन्य किसीका व्यवच्छेद इस विशेषणसे सम्भव ही नहीं है । क्योकि] 'शृङ्गार तथा हास्यसे रहित और छ रसोसे युक्त' [डिम होता है] ऐसा कहने पर उसमे और किसकी प्राप्ति होती है ? [जिसका निषेध करनेकेलिए 'दीप्तरसकाव्ययोनि , यह विशेषण दिया है] ।

ननु 'करुणाद्भुतप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते। नैतत्, 'सात्त्वत्यारभटी वृत्तिसम्पन्न' [१८-८८] इत्यनेनैव तन्निरासात्। शा ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तदव्यवच्छेदकमेवैतत्। तेन डिमलक्षण प्रत्युत शा तरसस्य सद्भावे लिङ्गम्।

शृङ्गारस्तु प्रसभ सेव्यमान सम्भाव्य एव तदङ्ग च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेध कृत। प्राप्तत्वात् सवसाम्याच्च। विशेषतो वणदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पित-मिति ज्ञेयम्। उत्पत्तिस्तु शा तस्यापि दर्शितैव। 'अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वर-प्रणिधानाद्युपदेशेऽनुयोगितया[3] महाफलत्व, सवप्राधा य, इतिवृत्तव्यापकत्व चोपपन्न मित्यलमतिप्रसङ्गेन।

अभिनव०—[इसपर पूवपक्षी यह शका करता है कि] अच्छा इस पदसे करुण अदभुत रसके प्राधान्यका निवारण किया जाता है [यह मानें तो क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं कि] यह ठीक नही है। [क्योकि 'डिमके' लक्षणके अनुसार] 'सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियोसे युक्त' इस [विशेषण] के कारण ही [इन दोनो वृत्तियोसे रहित] उन [करुण अद्भुत रसो] का ['डिम' मे] निवारण हो जानेसे ['दीप्तरसकाव्य योनि' विशेषणसे उनके निवारण करनेकी आवश्यकता नही रहती हे] शान्तरसमे तो सात्त्वती वृत्ति ही रहती है [इसलिए] उसका ही व्यवछेदक यह ['दीप्तरसयोनि' आदि विशेषण] है। इसलिए 'डिम' का लक्षण शान्तरसका साधक ही होता है।

अभिनव०—बलात्कार पूवक सेवन किया जानेवाला शृङ्गार ['डिम' मे] सम्भावित ही हो सकता है। और हास्य उसका अङ्ग है। इसलिए उन्ही दोनोका ['शृङ्गारहास्यवज' इस पदसे शब्दत] निषेध किया गया है। [ऊपर कही हुई युक्तिसे 'डिम' मे] उनकी प्राप्ति होनेसे और [शृङ्गार हास्यके] सब [रूपको] मे समान होनेसे [भी 'डिम' मे भी उनकी प्राप्ति होनेसे उनका निषेध शब्दत किया गया है। और शान्तरसका निराकरण 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इत्यादि विशेषण द्वारा अथत किया गया हे। शान्तरसका नामत निषेध न होनेसे उसका अभाव नही मानना चाहिए। अत एव शान्तरस मानना चाहिए। आत्माके स्थायिभाव होनेके कारण शा तरसके] रग और देवता आदिकी कल्पना अनुचित होने पर भी [अन्यरसोकी समानताके प्रसगमे] कर ली गई हे। शान्तरसकी सत्ता मे युक्ति तो पहिले दिखला ही चुके है। इसलिए (१) इस [शान्त] रसके यम नियम ईश्वरप्रणिधान आदि [रूप योगाङ्गो] के उपदेशमे [अनुयोगी अर्थात्] आश्रय होनेसे, [उनके द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष रूप फलके द्वारा] (२) महाफलत्व (३) सब रसोमे प्रधानता तथा (४) सारे इतिहासमे [इस शान्तरसकी] व्यापकता युक्तिसङ्गत है। इसलिए इसकी [सिद्धि करनेके लिए] अधिक चर्चा व्यथ है।

---

१ करुण वीभत्स भयानकप्राधान्यमनेन। २ संस्वाभावो हि हास्य सहविभावत्वेन चास्य वीर-वीभत्सौ। ३ उपदेश अनुपयोगितया।

तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृश ?

उच्यते—उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरपरक्त यदात्मस्वरूप तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानमिततरसूत्रवदाभातस्वरूप, सकलेषु रत्यादिषूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति यायेन भासमान परान्मुखतात्मकसकलदुःखजालहीन परमानन्दलाभसविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्या साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयन तथाविधहृदय विधत्ते ।

एव ते नवैव रसा । पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् । तेन रसान्तरसम्भवेऽपि चाप्रसिद्धचा सख्यानियम इति यद यरुक्त तत्प्रत्युक्तम् । भावाध्याये ऽपि चतद्वक्ष्यते ।

इस प्रकार अत्यन्त विस्तारके साथ यहा तक ग्रन्थकारने शान्तरसकी सत्ता सिद्ध कर उसकी अन्य रसोकी अपेक्षा प्रधानताका सिद्धान्त स्थापित किया । अब उसका रसास्वाद किस प्रकार होता है इसका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमे करते हैं ।

अभिनव०—इस [शातरस] के तत्त्वका आस्वाद किस प्रकार होता हे ?

अभिनव०—[इस प्रश्नका उत्तर] बतलाते है—[उपरागदायी अर्थात्] आत्माके स्वरूपको आच्छादित करने वाले उत्साह, रति आदिसे अच्छादित जो आत्माका स्वरूप है वही [मालामे] दूर दूर पर पिरोई हुई मणियोके बीचमेसे चमकते हुए उज्ज्वल सूत्रके समान [कभी कभी थोडी देरकेलिए] भासित हो जानेपर रत्यादि रूप सारे उपरञ्जकोके उस रूपमे रहनेपर भी [सकृद्विभात त्वजमेकमक्षर इत्यादि वाक्योके अनुसार] यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःखोके जालसे रहित और परमानन्दकी प्राप्तिके साथ अभिन्न रूपसे काव्य तथा नाटक आदिके द्वारा समान रूपसे प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्थाभेदसे लोकोत्तर आनन्दका प्रापक होकर हृदयको भी उस प्रकारका [आनन्दमय बना देता हे ।

नौ से अधिक अन्य रसोंका खण्डन—

इस प्रकार यहा तक शान्तरसको मिला कर नौ रसोकी सिद्धि की गई । अब इसके आगे ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि इन नौ रसोके अतिरिक्त स्नेह, वात्सल्य, भक्ति, लौल्य आदि अन्य रसोका माननेकी आवश्यकता नही है ।

अभिनव०—इस प्रकार वे [पूर्वोक्त] नौ ही रस होते है । क्योकि पुरुषार्थमे उपयोगी होनेसे अथवा रञ्जनकी विशेषता [अधिकता] के कारण इतने ही रसोको मानने योग्य कहा जा सकता है । इसलिए जो किन्ही [शकुक आदि व्याख्याकारो] ने यह कहा है कि [स्नेह भक्ति आदि] अन्य रसोंके सम्भव होनेपर भी प्रसिद्धि होनेके कारण ही सख्याका [अर्थात् आठ या नौ ही रस है यह] नियम हैं, उसका खण्डन हो जाता है । [अर्थात् वास्तव मे उक्त नौ रसोके अतिरिक्त अन्य कोई भी रस नहीं है] 'भावाध्याय' [अर्थात् अगले सातवें अध्याय] में भी यह बात कहेंगे ।

आद्रतास्थायिक स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो ह्यभिषङ्ग, स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पयवस्यति । तथाहि—'बालस्य मातापित्रादौ, यूनोर्मित्रजने, लक्ष्मणादौ भ्रातरि च स्नेहोदयो रतौ विश्रान्त । एव वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम् । एषव ग धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिमन्तव्या । हासे वा रतौ वान्यत्र वा पयवसानात् । एव भक्तावपि वाच्यमिति ।

अध्यायाथमुपसहरन् भाविनो ऽवकाश ददत् सगति प्रकटीकतु माह—

भरत०—एवमेते रसा ज्ञेया नव[2] लक्षणलक्षिता ।
अत ऊध्व प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥३२॥[८३]॥

इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे
रसाध्याय षष्ठ ।

वात्सल्य रसका खण्डन—

अभिनव०—आद्र ता रूप स्थायिभावसे युक्त स्नेह [नामक दशम] रस होता है यह कहना उचित नही है । क्योकि स्नेह एक प्रकारके आकषणका नाम है । वह सब [ही प्रकारका आकषण या स्नेह] रति या उत्साहादिमे ही समा जाता है । जसे कि बालकका माता पिता आदिके प्रति, युवकोका मित्रोके प्रति, और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयोके प्रति स्नेहका उदय, रतिमे ही समाविष्ट हो जाता है । इसी प्रकार वृद्ध जनो का पुत्रादिके प्रति स्नेह [जिसको अन्य रसोको मानने वाले वात्सल्यरस नामसे कहते है उस] के विषयमे भी समझना चाहिए [अर्थात् उसका भी अन्तर्भाव रतिके भीतर ही हो जाता है] । गन्ध रूप स्थायिभाव वाले लौल्यरसके खण्डनमे यही पद्धति समझनी चाहिए । क्योकि हासमे अथवा रतिमे अथवा अन्य किसी रसमे उसका अन्तर्भाव हो सकता है । इसी प्रकार भक्तिरसके विषयमे भी समझना चाहिए [अर्थात् भक्तिरस अलग नहीं है । उसका भी रति मे अथवा भावमे अन्तर्भाव हो सकता है] ।

अभिनव०—अब इस अध्यायके विषयका उपसहार करते हुए, और अगले अध्यायकी अवतारणाका अवसर देते हुए [पूर्वोत्तर अध्यायोकी] सङ्गतिको प्रदर्शित करते हुए [भरतमुनि] कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार [अपने अपने] लक्षणोंसे लक्षित ये नौ रस समझने चाहिए । इसके आगे [अगले सातवे अध्यायमे रसोंके पूरक होनेसे] भावोके भी लक्षण कहेगे ।

भरतमुनि प्रणीत नाटघशास्त्रमे
रसाध्याय नामक षष्ठाध्याय समाप्त हुआ ।

---

१. बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्त । यूनोर्मित्रजने रतौ । लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धममय एव । २ ज्ञेयास्त्वष्टौ ।

एवमेते रसा ज्ञेया नवेति । समूला एवोपचारा इति दशयति लक्षणलक्षिता । भावादिलक्षणेन रसलक्षणमेव पूयते । रतिस्थायिभावप्रभव । ऋतुमात्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक श्रृङ्गार इत्युक्तमपि साकाक्षमेव । कीदशी हि रति, कश्च विभाव कश्चानुभाव । तेन यद्यप्यापाततो भावाना लक्षणमिद प्रतिभाति वाक्यात्, तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमेवेदमिति अपि शब्दस्याथ । इति शिवम् ।

रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवत्ति यस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्य ।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वत्ति कृता रसाध्याय इह क्रमेण ॥

इति श्री महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिताया नाटचवेदविवतौ
अभिनवभारत्या रसाध्याय षष्ठ समाप्त ।

अभिनव०—'एवमेते' रसा इत्यादि [मूल कारिकाका प्रतीक भाग हे] । 'लक्षण लक्षिता' इस पदसे यह सूचित किया है कि रस आदिका व्यवहार सहेतुक ही है । भाव आदिके लक्षणोसे रसके लक्षणकी ही पूर्ति होती हे । रति स्थायिभावसे युक्त, ऋतु माल्यादि विभावोसे युक्त और नयनचातुय [कटाक्ष] आदि अनुभावोसे युक्त श्रृङ्गार रस होता हे ऐसा कहनेपर भी [श्रृङ्गार रसका लक्षण] साकाक्ष ही रहता है [अर्थात् पूरा नही होता है] । क्योकि रति कैसी होती है, विभाव किसको कहते है, और अनुभाव क्या है [इसका ज्ञान उस श्रृङ्गार-लक्षणसे नही होता हे] । इसलिए यद्यपि वाक्यसे सरसरी दृष्टिसे वे भावोके ही लक्षण प्रतीत होते हे किन्तु वाक्यैकवाक्यतासे [अर्थात् पूर्वोत्तर अध्यायोको मिला कर विषयकी विवेचना करनसे] ये भी रसके ही [पूरक] लक्षण हे । यह [मूल श्लोकमे प्रयुक्त हुए] 'अपि' शब्दका अभिप्राय है । 'इति शिवम' [यह अध्यायकी समाप्तिका सूचक हे] ।

अभिनव०—रति आदि आठो शक्तियोके मध्य रहने वाले और अपने हृदय-मण्डलमे प्रेरणा देने वाले शिव जिस [अभिनवगुप्त] के हृदयमे स्थायी [स्थायी भावके] रूपसे रहते है उस [अभिनवगुप्त] ने क्रमसे रसाध्यायकी वृत्ति बनाई हे ।

परम शिवभक्त श्री अभिनवगुप्त विरचित नाटयशास्त्रकी
'अभिनवभारती' नामक वत्तिमें
रसाध्याय नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

— (०) —

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डला तगत 'मकतुल' ग्रामनिवासिना
श्री शिवलाल बख्शी महोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थ गुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचायपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, विद्यामातण्डेन
श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना विरचिते
'अभिनवभारती सञ्जीवनभाष्ये' षष्ठोऽध्याय समाप्त ।
समाप्तश्चाय ग्रन्थभाग ।

परिशिष्ट [१]

अभिनवभारती के १, २, ६ अध्यायो में आए हुए उद्धरणो का अकारादि क्रम से, आकर ग्रन्थो सहित सूचीपत्र

पृष्ठ सख्या	उद्धरण	आकर ग्र थ	स्थान
४७२	अञ्जवि हरी चमक्कइ		
५२१	अद्यैवावा रणमुपगतो	वेणीसहार	४ १६
४३२ ४८	अधिरुह्य परा कोटि	काव्यादश	२,२८३
३६१	अ तर्नेपथ्यगृह	वार्तिककृत्	
४६७	अभिधाभावना चान्या		
५४६	अममासजिगीषस्य	राजतरगिणी, शिशुपालवध	४ ४४२
५५८	गप्रयुक्ते दीघ सम्भवत	मीमासायाम्	
५५३	अस्या सग विधौ	विक्रमोवशीयम्	१ १०
६३६	अष्टानामिह देवानाम्	सिद्धा तशास्त्रम्	
४६१	आत्तमात्तमधिका तमुक्षितु	कालिदास [कलशक]	
६२९	आत्मान गोपायेत्	गोतमधम सूत्र	६ ३५
२१४	आत्मारामा विहितरतयो	बेणीसहार	१ २३
४६८	आम्नायसिद्धे	अभिनवभारती	
२१६	आलीढस्थितटङ्कितस्य		
२१५	आविलै पयोधराग्रम्	विक्रमोवशी	५ ८
५६३	आशाब ध कुसुमसहश	मेघदूत	१ १०
५६०	आ सीतै पतिगव		
५५४	आहूतोऽपि सहायै		
५६७	ईरिसस्स कणपूरदसणस्स		
५२२	उत्कम्पिनी भयपरिस्खलिताशुका ता	तापसवत्सराज	२ १६
५०४	उद्यान का ता चन्द्राद्या	काव्यकौतुक	
५५०	उपपरिसर गोदावर्य्या	भट्ट दुराज	
४६८	ऊध्वोध्वमारुह्य	अभिनवभारती	
५४४	एकस्मिन् शयने	अमरुक	२३
५४३	एतस्मा मा कुशलिनभिज्ञान	मेघदूत	२ ४५
५५२	कतिचिदहानि वपुरभूत	विक्रमोवशी	५ ८
५२३	कणस्यात्मजमग्रत	वेणीसहार	५ ५
२८,३६	कामजो दशको गण	मनुस्मृति	७ ४७
४६०	केली क दलितस्य		

परिशिष्ट [२]

अभिनवभारतीके प्रथम द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायोमे आए हुए आचार्यो तथा ग्रन्थोके नामोकी सूची